भारतीय दर्शन का इतिहास

(Bhartiya Darshan Ka Itihas)

भाग–३

लेखक

डॉ० एम० एन० दासगुप्त

अनुवादक

ए० ग्र० बमावडा

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर–४

प्रस्तावना

भारत की स्वतन्त्रता के बाद इसकी राष्ट्रभाषा को विश्वविद्यालय शिक्षा के माध्यम के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रश्न राष्ट्र के सम्मुख था। किन्तु हिन्दी में इस प्रयोजन के लिए अपेक्षित उपयुक्त पाठ्य-पुस्तकें उपलब्ध नहीं होने से यह माध्यम-परिवर्तन नहीं किया जा सकता था। परिणामतः भारत सरकार ने इस न्यूनता के निवारण के लिए वैज्ञानिक तथा पारिभाषिक शब्दावली आयोग' की स्थापना की थी। इसी योजना के अन्तर्गत १९६९ में पांच हिन्दी भाषी प्रदेशों में ग्रन्थ अकादमियों की स्थापना की गयी।

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी हिन्दी में विश्वविद्यालय स्तर के उत्कृष्ट ग्रन्थ-निर्माण में राजस्थान के प्रतिष्ठित विद्वानों तथा अध्यापकों का सहयोग प्राप्त कर रही है और मानविकी तथा विज्ञान के प्रायः सभी क्षेत्रों में उत्कृष्ट पाठ्य ग्रन्थों का निर्माण करवा रही है। अकादमी चतुर्थ पंचवर्षीय योजना के अन्त तक दो सौ से भी अधिक ग्रन्थ प्रकाशित कर सकेगी, ऐसी हम आशा करते हैं।

प्रस्तुत पुस्तक इसी क्रम में तैयार करवायी गयी है। हमें आशा है कि यह अपने विषय में उत्कृष्ट योगदान करेगी। इस पुस्तक की परिवीक्षा के लिए अकादमी डा. नारायण शास्त्री द्रविड़ अध्यक्ष, दर्शन विभाग नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर के प्रति आभारी है।

खेतसिंह राठोड
अध्यक्ष

गौरीशंकर सत्येन्द्र
निदेशक

प्राक्कथन

इस ग्रन्थ का दूसरा खण्ड कई वर्ष पूर्व सन १६३२ में प्रकाशित हुआ था। इस खण्ड के विलम्ब से प्रकाशित होने के अनेक कारणो मे, एक यह भी है कि लेखक को अत्यधिक शिक्षण तथा शासन कार्य करना पड रहा है, और वह लगातार बीमार रहे हैं। साथ ही साथ दुःखपूर्ण घटना यह रही है कि अविश्रान्त कार्य करने से एक आँख की ज्योति लुप्त हो जाने के कारण उन्हे बहुधा दूसरो की सहायता के अधीन रहना पडता है। प्रकाशन स्थान और कलकत्ता के बीच अधिक दूरी भी विलम्ब का एक कारण रही है। हर्षपूर्वक कहना है कि चतुर्थ खण्ड की पाण्डुलिपि अब तैयार हो गई है।

दक्षिणात्य ईश्वरवाद के विकास का शृंखलाबद्ध वर्णन प्रस्तुत किया जा सके, इसलिए लेखक ने इस खण्ड मे पाण्डुलिपियो को प्राप्त करने का अत्यधिक कष्ट किया है। अभी तक इस विषय मे जो भी ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं वे बहुत ही कम सख्या मे हैं और यह वर्णन इन अप्राप्य ग्रन्थो को बारबार देखे बिना नही हो सकता था क्योकि सामग्री इन्ही ग्रन्थो से प्राप्त की जा सकती थी। वैष्णव सम्प्रदाय के शृंखलाबद्ध इतिहास की खोज तथा व्याख्या पर प्रकाश डाल सके ऐसा कोई भी ग्रन्थ अभी तक लिखा नही गया है। यह अधिक अच्छा होता कि वैष्णव धर्म के इतिहास का आलेखन करने मे तमिल तथा तेलगु ग्रन्थो का उपयोग भी किया जाता जिसमे प्रचलित भाषा के आधार पर यह इतिहास सस्कृत ग्रन्थ की कमी को पूरा कर सके। किन्तु लेखक ने जहा तक हो सका सस्कृत ग्रन्थो का ही आधार लिया है। यह मर्यादा तीन कारणो से माननी पडी, प्रथम तो यह था कि लेखक को दक्षिण भारत की सभी विभिन्न भाषाओ का ज्ञान नही है दूसरा इन सभी ग्रन्थो का यदि अवलोकन कर सामग्री का उपयोग भी किया होता तो यह ग्रन्थ इच्छित लक्ष्य से कही अधिक बड़ा हो जाता, तीसरा, प्रचलित भाषा के ग्रन्थो की सामग्री का यदि उपयोग कर भी लिया जाता तो भी आस्तिक दार्शनिक सिद्धान्तो की मूलभूत समस्याओ मे जो कि प्रस्तुत ग्रन्थ मे लिए गए विवेचन है कोई महत्त्वपूर्ण वृद्धि नही होती। विशुद्ध दार्शनिक दृष्टि से यदि देखा जाय तो इस ग्रन्थ मे प्रस्तुत की गई कुछ सामग्री अनवसर कही जा सकती है। किन्तु इस ग्रन्थ मे तथा प्रकाशित होने वाले दूसरे ग्रन्थ मे भक्ति-ज्ञान से सम्बन्धित धार्मिक विकृति की अवगणना करना अशक्य था क्योकि वह दक्षिण भारत मे प्रमुख रूप से प्रचलित थी और इस विकृतावस्था ने मध्ययुग के ही निकटतम भूतकाल के मानव के मानस पर भी प्रभाव डाला है और आज भी वह भारतीय धर्मों का एक महत्त्वपूर्ण अग है। भारत मे नैतिकता ही नही किन्तु धर्म भी दर्शन का अग रहा है। मान्यताओ से सम्बन्धित भाव या सवेग, धर्म का एक महत्त्वपूर्ण गुण है इसलिए, दक्षिण भारत मे

प्रभूत प्रधान दर्शन प्रणाली का विवेचन करते समय भक्ति के इस विकृत विकास पर बल दिए बिना नहीं रहा जा सकता था। लेखक इसलिए आशा करता है कि जो लोग भक्ति या धार्मिक भावना के अंग के विशेष विवेचन की अपेक्षा नहीं करते या वे जो वैष्णव धर्म के सार रूप भक्ति के मवेगों पर अत्यधिक बल दिया देखना चाहते हैं वे दोनों उसे क्षमा प्रदान करेंगे। लेखक ने दर्शन के हित को सामने रखकर मध्य मार्ग अपनाने का प्रयत्न किया है जो अवश्य ही, इस ग्रन्थ में वर्णित विचारधाराओं में अनुस्यूत वैष्णव प्रणाली की धार्मिक भावना में व्याप्त है।

लेखक ने आलवारों—को जिनकी रचनाएँ तामिल में हैं—वर्णन कर इस ग्रन्थ की मर्यादा का अतिक्रमण किया है किन्तु यहाँ भी उसे यह महसूस हुआ कि आलवारों के भक्ति दर्शन का विवेचन किए बिना रामानुज तथा उनके अनुयायियों का वर्णन ऐतिहासिक दृष्टि से त्रुटिपूर्ण रहता। यद्यपि आलवारों के अध्ययन के लिए मौलिक रचनाएं तामिल भाषा में प्राप्त हैं किन्तु सौभाग्यवश इन रचनाओं का संस्कृत अनुवाद पाण्डुलिपि में या प्रकाशित रूप में प्राप्त है। तामिल लेखकों के वर्णन में हमने इन्हीं ग्रन्थों का आधार लिया है।

पंचरात्र रचनाओं के वर्णन में कठिनाईयां आई क्योंकि इस प्रणाली के अधिकांश ग्रन्थ अप्रकाशित ही हैं किन्तु सौभाग्य से इस प्रणाली का एक बृहत् ग्रन्थ लेखक को पाण्डुलिपि में मिल गया। पंचरात्र सम्प्रदाय पर श्रोडर के सिवाय किसी ने महत्त्वपूर्ण कुछ भी नहीं लिखा है। यद्यपि रामानुज भाष्य के अनुवाद प्राप्य हैं किन्तु उनके सम्पूर्ण दर्शन का उनके सम्प्रदाय के अन्य महत्त्वपूर्ण दार्शनिकों के साथ सम्बन्ध बताने वाला कोई भी वर्णन प्राप्त नहीं है। रामानुज सम्प्रदाय के महान विचारक वेंकट मेघनादारि तथा अन्य विद्वान जिनकी रचनाएँ अभी तक अप्रकाशित हैं—इनके सम्बन्ध में लगभग कुछ भी नहीं लिखा गया है। इसी प्रकार विज्ञान भिक्षु के दर्शन पर भी कुछ नहीं लिखा गया है और यद्यपि निम्बार्क भाष्य अनुवाद में प्राप्त है किन्तु निम्बार्क और उनके अनुयायियों के विचारों का सम्बन्ध बताने वाला कोई वर्णन प्राप्त नहीं है। लेखक को इसलिए व्याख्या करने के लिए तथा कालक्रम शोधन के लिए पूर्णतया प्रकाशित तथा अप्रकाशित अनेक ग्रन्थों पर निर्भर रहना पड़ा है। कालक्रम शोधन आन्तरिक प्रमाण पर आधारित है यद्यपि इस विषय पर जो भी प्रबन्ध इत्यादि प्रकाशित हुए हैं, लेखक ने हमेशा उनका उपयोग भी किया है। वर्णन का विषय अत्यन्त विस्तृत है विद्वान् पण्डित ही यह बता सकेंगे कि त्रुटियां रहते हुए भी कुछ सफलता प्राप्त हुई है या नहीं।

एकेश्वरवादी विचार तथा भक्ति सिद्धान्त के महत्त्व को यद्यपि, ऋग्वेद की कुछ ऋचाओं तथा गीता, महाभारत और विष्णु पुराण जैसे पुरातन धार्मिक साहित्य में पाया जा सकता है, तो भी आलवारों—यामुन और रामानुज से लेकर तदनन्तर कालीन दाक्षिणात्य दार्शनिक लेखकों के दृष्टिगत गीता में ही हमें ईश्वर से भावात्मक सम्बन्ध का एक विशिष्ट दर्शन मिलता है। विभिन्न वैष्णव लेखक तथा सन्तों की रचनाओं तथा

अनुभवा म इस भावात्मक सम्बन्ध या भक्ति का अनवधा स्वरूप प्रकट होना है। अपने-अपने दार्शनिक परिप्रेक्ष्य म इन्हीं विभिन्न भक्ति के प्रकारो को प्रस्तुत ग्रन्थ म तथा प्रकाशित होने वाले ग्रन्थ मे प्रधान रूप स अध्ययन किया गया है। इस दृष्टि से प्रस्तुत ग्रन्थ तथा चतुर्थ खण्ड को भारत के ईश्वरवाद का दर्शन माना जाय। यही दर्शन अन्य रूप से विभिन्न शव और शाक्त ईश्वरवाद के वर्णन मे जारी रहेगा।

चतुर्थ खण्ड म शंकर तथा उनके अनुयायियो और मध्व तथा उनके अनुयायियो के दर्शन के कटु सम्बन्ध का विवेचन प्रस्तुत किया जायगा। साथ ही साथ भागवत पुराण तथा वल्लभ तथा चैतन्य के अनुयायियो के ईश्वरवाद का वर्णन भी किया जायगा। *आस्तिक दार्शनिको के मध्य मध्व के अनुयायियो म जयतीर्थ तथा व्यासतीर्थ का सूक्ष्म* विचारक तथा तार्किक रूप मे एक महान स्थान है। पाँचवे खण्ड म शैव तथा शाक्त विचारको क अलावा तन्त्र, उनका दर्शन, व्याकरण हिन्दू सौन्दयशास्त्र तथा हिन्दू धर्मशास्त्र का वर्णन किया जायगा। इस प्रकार यह आशा की जाती है कि पाचवें खण्ड की समाप्ति कर लेने पर लेखक, सस्कृत भाषागत हिन्दू विचार का सम्पूर्ण सर्वेक्षण कर चुकेगा और जो काय आज से २० साल पहले उसने प्रारम्भ किया था, उसकी समाप्ति भी कर सकेगा।

उपसहार के रूप म चार्वाक भौतिकवादियो पर एक अध्याय जोड दिया गया है क्योंकि पहले खण्ड म इसका वर्णन लगभग छूट गया था।

लेखक डॉ० एफ० डब्लू० थॉमस के अतीव कृतज्ञ है जो आक्सफोड म सस्कृत के भूतपूर्व प्रधान अध्यापक तथा लेखक के सम्माननीय मित्र हैं, जो वृद्धावस्था के बावजूद विभिन्न कार्यों मे व्यस्त होते हुए भी और लेखक के ज्ञानबधु बने रहकर उन्ह पाण्डुलिपि तयार करने म तथा वर्ण विन्यास, वाक पद्धति और विराम चिह्नों के विषय म अनेक उपयोगी सलाह देते रहे। उनकी अनवरत सहायता के बिना प्रस्तुत ग्रन्थ म अनेका त्रुटियाँ रही होतीं। लेखक अपनी धर्म पत्नी डा श्रीमती सुरमादास गुप्त एम ए पी एच डी (कलकत्ता तथा केम्ब्रिज) की अनवरत सहायता के लिए उनका विशेष रूप से आभारी हैं उन्होने इस पुस्तक क तयार करने के लिए अनेक पाण्डुलिपियाँ पढी। लेखक के नेत्र ही नेत्र के सक्षम होने से जो कठिनाई बनी हुई थी उसे ध्यान मे रखते हुए यह खण्ड इस सहायता के बिना सम्पूर्ण होना असंभव था।

डॉ सतीन्द्रकुमार मुखर्जी एम ए पी एच डी से समय समय पर प्राप्त सहायता के लिए लेखक उनका भी आभारी है।

जून १९३९

—सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त

१२	ज्ञान के स्वत प्रामाण्य का सिद्धात	२३०
१३	वेंकटनाथ के अनुसार रामानुज सम्प्रदाय के सत्तामूलक पदार्थ	२३३
१४	रामानुज दर्शन म ईश्वर का स्थान	२७४
१५	शकर मत का द्वन्द्वात्मक तर्कानुसार खण्डन	२८२
१६	मेघनादारि	३१६
१७	स्वत प्रामाण्यवाद	३१६
१८	काल	३२२
१९	कर्म और उनके फल	३२२
२०	वात्स्यवरद	३२३
२१	रामानुजाचार्य द्वितीय या वादिहस नवाम्बुद	३२५
२२	जाति	३२७
२३	स्वत प्रामाण्य	३२६
२४	स्वप्रकाशत्व	३३०
२५	रामानुज या महाचार्य	३३३
२६	लोकाचार्य के 'श्रीवचन भूषण म प्रपत्ति सिद्धात का प्रतिपादन और सौम्य जामातृ की उस पर टीका	३४५
२७	कस्तूरी रगाचार्य	३५१
२८	शैल श्री निवास	३५५
२९	रगाचार्य	३६८

अध्याय इक्कीसवाँ

निम्बार्क सम्प्रदाय की दर्शन-प्रणाली

१	निम्बार्क सम्प्रदाय की गुरु शिष्य परम्परा	३६६
२	निम्बार्क के दर्शन का सामान्य विवेचन	३७४
३	माधव मुकुन्द का अद्वैतवादियो के साथ विवाद	३८४
४	माधव मुकुन्द के अनुसार प्रमाण	३९२
५	रामानुज और भास्कर के मतो की आलोचना	३९५
६	जगत की सत्ता	३९९
७	वनमाली मिश्र	४०८

अध्याय बाईसवा

विज्ञान भिक्षु का दर्शन

१ विज्ञान भिक्षु के दर्शन का विहगावलोकन ४०६
२ विज्ञानामृत भाष्य के अनुसार ब्रह्म और जगत् ४१६
३ जीव ४२१
४ ब्रह्मानुभव और अनुभव ४२६
५ स्वप्रकाशता और अज्ञान ४२८
६ भिक्षु के अनुसार वेदान्त और साख्य मे सम्बन्ध ४३०
७ माया और प्रधान ४३५
८ साख्य और योग की भिक्षु द्वारा आलोचना ४३८
९ ईश्वर गीता और उसका दर्शन विज्ञानभिक्षु के प्रतिपादनानुसार ४४०

अध्याय तेईसवा

कुछ चुने हुए पुराणो के दार्शनिक विचार

४५३

परिशिष्ट

१ लोकायत नास्तिक और चार्वाक ४६८

विषय-सूची

अध्याय-१५

भास्कराचार्य का सम्प्रदाय

		पृष्ठ
१	भास्कर का समय	१
२	भास्कर और शकर	३
३	भास्कराचाय के भाष्य म उपलब्ध दशन	७

अध्याय-१६

पचरात्र मत

१	पचरात्र की प्राचीनता	१२
२	पचरात्र साहित्य का स्थान	१३
३	आगम साहित्य तथा उसका दाशनिक स्वरूप	१६
४	शिव नान-बोध	२३
५	अहिबुध्न्य सहिता का तत्त्वदशन	३१

अध्याय-१७

आलवार

१	आलवारा का कालक्रम	५८
२	आलवारा का तत्व दर्शन	६४
३	आलवार और श्री वैष्णवा के बीच कुछ धार्मिक मता का विरोध	७८

अध्याय-१८

विशिष्टाद्वैत सप्रदाय का ऐतिहासिक एव साहित्यिक सर्वेक्षण

१	अर्गीयस, नाथमुनि से लकर रामानुज तक	८८

२ रामानुज ६४
३ विशिष्टाद्वैत मत के पूवगामी और रामानुज के समकालीन एव शिष्य ६६
४ रामानुज साहित्य १०७
५ आलवारो का रामानुज के अनुयायियो पर प्रभाव १२५

अध्याय–१६

यामुनाचार्य का दशन

१ अन्य मतो की तुलना म यामुन का आत्म सम्बन्धी सिद्धान्त १३१
२ ईश्वर और जगत १४२
३ रामानुज वेंकटनाथ और लोकाचाय के अनुसार ईश्वर का स्वरूप १४५
४ रामानुज और वेंकटनाथ के अनुसार जीव का विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त १४८
५ अचित या अतिप्राचीन द्रव्य प्रकृति और उसके विकार १५१

अध्याय बीसवाँ

रामानुज सम्प्रदाय का दर्शन

१ निगु ण या सगुण सत्ता पर रामानुज और शकर क मत १५३
२ शकराचाय की अविद्या का खण्डन १६२
३ रामानुज का भ्रम विषय मे मत—समस्त ज्ञान सत्य है १६६
४ ईश्वरवादी प्रमाणो की विफलता १७५
५ भास्कर और रामानुज १७८
६ रामानुज दर्शन का सत्ता ज्ञान विषयक पक्ष १८०
७ वेंकटनाथ का प्रमाण निरूपण १८६
८ वेंकटनाथ का सशय निरूपण १९१
९ वेंकटनाथ के अनुसार भ्रम और सशय १९५
१० रामानुज सम्प्रदाय के उत्तरकालीन अनुयायियो द्वारा किए गए स्पष्टीकरण की दृष्टि स प्रत्यक्ष २०५
११ वेंकटनाथ का अनुमान पर विवचन २०६

अध्याय १५

भास्कराचार्य का सम्प्रदाय

भास्कर का समय

उदयनाचाय ने अपनी न्याय कुसुमांजलि की टीका म भास्कराचाय के विषय मे उल्लेख करते हुए कहा है कि उन्होन वेदान्त की त्रिदड शाखा के मतानुसार वेदान्त ग्रन्था की टीका की है। उनकी मान्यतानुसार ब्रह्म म विकासात्मक परिणाम होता है।[1] भट्टाजी दीक्षित ने भी अपने तत्त्व विवेक टीका विवरण नामक ग्रन्थ मे, भास्कर भट्ट के विषय मे कहा है कि वे भेदाभेद सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं।[2] भास्कराचाय शकराचाय के बाद हुए यह निर्विवाद सत्य है यद्यपि उन्होने अपने ग्रन्था मे शकराचाय के नाम का उल्लेख नही किया है फिर भी व जिस प्रकार मे उनका उल्लेख करते हैं इसस यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि उन्होने अपनी टीका शकराचाय की ब्रह्मसूत्र की टीका के कुछ मुख्य सिद्धान्ता क खण्डन के हेतु लिखी है। वे टीका के प्रारम्भ मे ही कहते हैं कि टीका लिखने का मुख्य हेतु उन मता का खण्डन करना है जा सूत्रा के सच्चे अथ को छिपा कर केवल अपने व्यक्तिगत मता का मण्डन करत हैं। अन्य स्थाना पर भी वे मायावाद का स्वीकार करने वाले टीकाकारा के विरुद्ध कडी भाषा का उपयोग कर कहते है कि यह टीकाकार बौद्ध है।[3] वे शकराचाय का विराध

---

[1] त्रिदड का अथ तीन दडा से है। मनु के अनुसार कुछ ब्राह्मणा मे एक तथा कुछ म तीन दडा का धारण करने का नियम था।

प० विन्ध्येश्वरीप्रसाद द्विवेदी ब्रह्मसूत्र पर भास्कर की टीका की प्रस्तावना मे यह कहत हैं कि रामानुज, टक गुहदेव भारुचि तथा यामुनाचाय, जो रामानुज के गुरु थे उनके पहले क सभी ब्रह्मसूत्र क वष्णव टीकाकार त्रिदडी थे। यह कथन अत्यत रोचक है किन्तु अभाग्यवश व यह नही बतात कि उन्होने यह किस प्रमाण के आधार पर कहा है।

[2] "भट्ट भास्करस्तु भेदाभेदवेदान्त सिद्धान्तवादी

प० विन्ध्येश्वरीप्रसाद ने अपनी भास्कर की टीका की प्रस्तावना म भट्टाजी दीक्षित रचित वदान्त तत्त्व टीका विवरण स उद्धत किया है।

[3] सूत्राभिप्राय सवृत्यास्वाभिप्रायाप्रकाशनात्।
व्याख्यात यैरिद शास्त्र व्याख्येय तन्निवृत्तय। —भास्कर की टीका, पृ० १।

अवश्य करते थे किन्तु यह विरोध केवल शकराचाय के मायावाद–अर्थात् जगत् माया से उत्पन्न है और वह ब्रह्म का परिणाम नही है–तक ही सीमित था। किन्तु शकराचाय और भास्कराचाय दोना ब्रह्म को उपादान और निमित्त कारण मानने मे एक मत हैं। शकराचाय इस सिद्धान्त का मण्डन इसलिए करते हैं, कि उनकी मान्यतानुसार ब्रह्म के सिवाय दूसरी सत्ता है ही नही, किन्तु वे दृढतापूवक कहते हैं कि जैसा पहले स्पष्ट किया जा चुका है, जगत् की उत्पत्ति ब्रह्म मे अनिवचनीय और असत् माया के सयोग से हुई है, और ब्रह्म जगत् से वस्तुत भिन्न नही है तो भी जगत् ब्रह्म का मायोपहित विवत है माया रूप इस जगत् का ब्रह्म बीज रूप सत्य है। भास्कराचाय का कहना है कि माया है ही नही, ब्रह्म ही अपनी शक्ति द्वारा जगत् रूप से परिवर्तित होता है। पचरात्र म भी इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन है, उनकी मान्यतानुसार, वासुदेव जगत् का निमित्त और उपादान कारण है भास्कराचाय का यहाँ भागवत धम से भी ऐकमत्य है। पचरात्र के इस सिद्धान्त से उनका व कोई विरोध नहीं पाते है।[1] वे केवल उनके जीववाद से सहमत नही ह क्योकि पचरात्र के मतानुसार जीव ब्रह्म से उत्पन्न है।[2]

यद्यपि हम निश्चित रूप से तो नही कह सकते, किन्तु यह सभव है कि भास्कराचाय ब्राह्मणो के उस सप्रदाय के अनुयायी हैं जो अन्य ब्राह्मणो के समान एक दड का धारण न कर तीन दड धारण करते थे, इसलिए उनका वेदान्त सूत्र की टीका त्रिदडी ब्राह्मण सप्रदायानुवर्ती कही जा सकती है। साधन चतुष्टय पर विवेचना करत हुए वे कहत हैं कि ब्रह्म ज्ञान प्राप्त करने के लिए आश्रम धम उसकी रूढियो और उसके कमकाड का त्याग करना आवश्यक नही है। वे यह भी कहते हैं कि वेद भी तीन दड धारण करन का आदेश देते हैं।[3]

और भी ये तु बौद्ध मतावलबिनो मायावादिनस्तेऽपि अनेन न्यायेन सूत्र कारेणव निरस्ता।' —वही २, २–२६।

अन्य स्थान पर शकर महायान बौद्धवाद के ही विचारा का प्रतिपादन करते हैं ऐसा कहा गया है।

विगति विच्छिन्नमूल माध्यमिक बौद्धगायित मायावाद व्यावणयन्तो लोकान् व्यामा हयन्ति। —वही १४२५।

[1] वासुदेव एव उपादान कारण जगतो निमित्तकारण चेति ते मन्यन्ते तदेतद् सर्वश्रुति प्रसिद्ध एव तस्मान्नात्र निराकरणीय पश्याम। —भास्कर भाष्य २, २–४१।

[2] वही।

[3] वही ३, ४–२६ और भी देखो प० विन्ध्येश्वरीप्रसाद की प्रस्तावना।

माधवाचाय अपने शकर विजय ग्र थ मे शकराचाय और भास्कर भट्ट की भेंट का उल्लेख करते हैं किन्तु यह कितना विश्वसनीय है यह कहना कठिन है।[1]

भास्कराचाय ने शकर मत का खण्डन किया, और उदयनाचाय ने भास्कर का उल्लेख किया है इससे यह निश्चित है कि भास्कराचाय आठवी और दसवी शताब्दी के बीच रहे हाग। पडित विन्ध्येश्वरी प्रसाद महाराष्ट्र म नासिक के पास डा० भाऊदासजी द्वारा पाए हुए ताम्र पत्र के आधार पर कहते हैं कि शाडिल्य गात्र मे उत्पन्न कवि चक्रवर्ती त्रिविक्रम के पुत्र, कोई भास्कर भट्ट थे जिन्हें विद्यापति की उपाधि मिली हुई थी और वे शाडिल्य गोत्रोत्पन्न भास्कराचाय के छठे पूवज थ, जा एक ज्यातिषी और सिद्धा त शिरामणि के रचयिता थे। वे ऐसा मानत हैं कि ज्येष्ठ विद्यापति भास्कर भट्ट ब्रह्म सूत्र के टीकाकार थे।[2] किन्तु उनका यह कथन साधक प्रमाण क अभाव मे स्वीकार नही किया जा सकता। दाना के नाम म समानता हाने के अलावा कोई ऐसा निश्चित प्रमाण नही मिलता जा यह सिद्ध कर सके कि इन्ही विद्यापति भास्कर भट्ट ने ब्रह्म सूत्र की टीका लिखी है।[3] जा कुछ हम समान्य निश्चय क साथ यह कह सकत है वह इतना ही है कि भास्कराचाय का काल मध्य आठवी शताब्दी और मध्य दसवी शताब्दी क बीच का है, बहुत सभव है कि उनका काल नवमी शताब्दी रहा हा क्याकि व रामानुजाचाय से अनभिज्ञ थे।[4]

भास्कर और शकर

ब्रह्म सूत्र २ १ १४ का अथ स्पष्ट करते हुए शकराचाय और भास्कराचाय,

---

[1] शकर विजय १५ ८०।

[2] प० विन्ध्येश्वरीप्रसाद की प्रस्तावना।

[3] हम सस्कृत साहित्य मे अनेका भास्कर के नाम सुनते हैं जसेकि लोक भास्कर, आ त भास्कर हरिभास्कर मदन्त भास्कर भास्कर मिश्र, भास्कर शास्त्री, भास्कर दीक्षित, भट्टभास्कर पडित भास्कराचाय भट्ट भास्कर मिश्र त्रिकाड मडन, लागाक्षी भास्कर शाडिल्य भास्कर वत्स भास्कर भास्कर देव, भास्कर नृसिंह भास्करारण्य, भास्करानन्दनाथ भास्कर सेन।

[4] वे अन्य लेखका के विषय मे बहुत कम उल्लेख करते हैं। उनका कथन है कि शाडिल्य भागवत सप्रदाय के महान् ग्रन्थाकार हैं। वे पाशुपत, शव, कापालिक और काठक सिद्धान्ती तथा पचाध्यायी इन चार प्रकार के महेश्वरा का वणन करते हैं। शास्त्र को उनका मुख्य ग्रन्थ मानते हैं। वे पचरात्रिका का भी उल्लेख करते है जिनसे वे अधिकतर सहमत हैं।

छान्दोग्य उपनिषद् ६ १ १ प्रपाठक का दो भिन्न दृष्टिकोण से विवरण प्रस्तुत करते हैं।[1] वाचस्पति शंकराचार्य की उपरोक्त टीका को समझाते हुए कहते है कि, मिट्टी को मिट्टी रूप म जान लेने से मिट्टी से बना सब जान लिया जाता है इसलिए नहीं–कि मिट्टी की वस्तुएँ मिट्टी ही हैं क्योंकि वास्तव मे हर एक वस्तु भिन्न है। अगर ऐसा है तो हम मिट्टी की एक वस्तु जान लेने पर मिट्टी की दूसरी वस्तु को कैसे जान सकते हैं ? मिट्टी की वस्तुएँ वास्तव म है ही नही, वे तथा जो, विकार रूप से दीखते हैं, शब्द प्रयोग मात्र (वाचारम्भणम्) हैं केवल कोरा नाम हैं (नामधेयम्), उनके अनुरूप कोई लक्ष्य पदार्थ या विषय है ही नहीं, उनका अस्तित्व ही नही है।[2]

भास्कराचार्य के अनुसार इस पाठ का अर्थ यह है कि मिट्टी ही केवल सत्य है। भाषा की सार्थकता दो बातो पर आश्रित है विषय और उनसे सूचित तथ्य तथा नाम पर, जो उन्ह सूचित करते हैं। कार्य हमारे व्यावहारिक आचरण तथा तत्सबंधित वस्तु और विषय का अधिष्ठान है भाषा और नाम उन्हीं का निर्देश करते हैं। कार्यकारण फिर कैसे एक हो सकते हैं ? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि भाषा कार्य को ही निर्देश करती है और इसी से हमारा व्यवहार संभव है यह सत्य है किन्तु कार्य वस्तुत कारण के आविर्भाव, परिणाम और सत्ता की अवस्थाएं मात्र हैं। अतः इस दृष्टि से कि कार्य आता जाता है उसका आविर्भाव और तिरोभाव होता है जबकि कारण निरन्तर एकसा ही रहता है और अपने सारे सत्य परिणामों का अधिष्ठान है, अत यह कहा जा सकता है कि कारण ही केवल सत्य है–मिट्टी ही केवल सत्य है।

---

[1] तदन यत्वमारम्भण शब्दादिभ्य ब्र० सू० २–१–१४।
यथा सौम्य एकेन मृत्पिण्डेन सर्व मृण्मय विज्ञात स्याद् वाचारम्भण विकारो नामधेय मृत्तिकेत्येव सत्यम्।

–छान्दोग्य ६–१–१।

[2] भामती, ब्रह्म सूत्र २–१–१४।

राहु एक राक्षस है जो शरीर रहित केवल शीश ही है। उसका सारा शरीर मस्तक ही है। तो भी भाषा की सुविधा के लिए हम राहु का सिर (राहो शिर) ऐसा प्रयोग करते हैं। ठीक उसी प्रकार मिट्टी ही केवल सत्य है और मिट्टी के बर्तन, घडा, सकोरा इत्यादि भाषा के प्रयोग मात्र हैं ऐसी कोई यथार्थ वस्तु या सत्ता ही नहीं जिनका कि वे नाम हो सकते हैं। उनकी सत्ता ही नही है वे विकल्प मात्र हैं, वाचा केवल आरभ्यते विकार जात न तु तत्त्वतोऽस्ति यतो नामधेयमात्र एतत् यथा राहो शिर शब्द ज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्प इति, तथा चावस्तुतया अनृत विकार-जातम्।

कार्य कारण की ही एक अवस्था है और कारण से भिन्न और अभिन्न दोनों है।[1] कार्य अर्थात् नाम (नामधेय) सत्य है और श्रुति भी ऐसा ही कहती है।[2]

भास्कराचार्य शंकराचार्य के मत का खंडन इस प्रकार करते हैं, मायावादी नाना रूप जगत् की सत्ता मानने वालों के विरोध में जो दलील देते हैं वे ही उनके विरोध में भी दी जा सकती है क्योंकि वह अद्वैत की सत्ता मानते हैं। जो व्यक्ति श्रुति का श्रवण और तत्वचिंतन करता है वह स्वयं प्रथम अविद्या से अभिभूत होता है और अगर इस अविद्या के कारण उसका द्वैत ज्ञान मिथ्या है तो उसका अद्वैत ज्ञान भी उसी कारण वश मिथ्या माना जा सकता है। समस्त ब्रह्म ज्ञान मिथ्या है, क्योंकि यह भी जगत् के ज्ञान की तरह मिथ्या ज्ञान है। वे आगे फिर ऐसी दलील देते हैं कि जिस प्रकार स्वप्नार्थ और शब्द के मिथ्या ज्ञान द्वारा, अच्छे बुरे का किसी और अर्थ का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है ठीक उसी प्रकार अद्वैत मतवादी उपनिषद् ग्रंथों के शब्दार्थों के मिथ्या ज्ञान द्वारा ही सच्चा ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। किन्तु यह तर्क मिथ्या सादृश्यानुमान पर आधारित है। जब कोई कुछ स्वप्नों के भले बुरे परिणाम के बारे में निर्णय करता है तब वह बिना किसी आधार के ऐसा नहीं करता, क्योंकि उसके निर्णय का आधार विशेष प्रकार के स्वप्नों के अनुभव ही हैं। और स्वप्नानुभव तथ्य हैं जो अपनी विशेषता रखते हैं। शश विषाण (खरगोश के सींग) की तरह केवल मिथ्या नहीं हैं। शश विषाण के दृष्टान्त के आधार पर कोई किसी निर्णय पर नहीं पहुँच सकता। वर्णों का भी अपना आकार और रूप है और इनका सर्वसाधारण की मान्यतानुसार, विशेष ध्वनि से सम्बन्ध है। यह भी मानी हुई बात है कि भिन्न देशों में भिन्न भिन्न वर्णों का उपयोग एक ही ध्वनि के सूचन में किया जा सकता है। पुनः अगर कोई किसी भूल से भय का अनुभव करके मर जाता है तो वह केवल असत् या मिथ्या वस्तु के कारण नहीं मरता, क्योंकि वह सचमुच डरा था उसकी मृत्यु का कारण भय था, जो किसी यथार्थ वस्तु की स्मृति से उत्तेजित हुआ था। भय के अनुभव में मिथ्यात्व केवल इतना ही था कि डराने वाली जिस वस्तु का भय हुआ वह उस समय उपस्थित नहीं थी। इस प्रकार हम ऐसा कोई भी दृष्टान्त नहीं प्रस्तुत कर सकते, जिससे हम यह सिद्ध कर सकें कि मिथ्या ज्ञान या केवल

---

[1] वागिन्द्रियस्य उभयमारम्भणं विकारो नामधेयम् उभयमालम्ब्य वाग् व्यवहारः प्रवर्तते घटेन उदकं आधारेऽति मृण्मयं इत्यन्य इति व्याख्यानं कारणमेव कार्यात्मना घटवदवतिष्ठते कारणस्यावस्थामात्रम् कार्यं व्यतिरिक्ताव्यतिरिक्तं शुक्ति रजत-वदागमापायिधर्मित्वाच्च अनृतम् अनित्यमिति च व्यपदिश्यते।

—भास्कर भाष्य, २–१–१४।

[2] अथ नामधेयं सत्यस्य सत्यमिति इत्यादि। —वही।

मिथ्यात्व से सच्चाई या सच्चे ज्ञान तक पहुँच सकते हैं। पुन शास्त्र जगत् का मिथ्यात्व कैसे प्रतिपाद कर सकते हैं ? अगर श्रवण से प्राप्त सारा ज्ञान मिथ्या है तो सारी भाषाएँ भी मिथ्या हो जाती है और तब शास्त्र का भी मिथ्या ही मानना होगा।

इसके अतिरिक्त यह अविद्या भी क्या है यदि कोई इसका वर्णन नही कर सकता तो कोई इसे दूसरे को कैसे समझा सकता है ? और यह कथन कि अविद्या विविध आचार व्यवहार से पूर्ण आनुभविक जगत् के ठोस एव मूर्त रूप मे अभिव्यक्ति पाकर भी अनिर्वचनीय बनी रहती है अत्यन्त निरर्थक है।[1] जो इस प्रत्यक्ष तथा अनुभव व्यावहारिक जगत् के रूप मे अभिव्यक्त होगा वह अनिर्वचनीय है यह कथन कितना अर्थहीन विपर्यय है।[2] अगर वह अनादि है तो वह नित्य अवश्य है और तब मोक्ष प्राप्ति असभव है। वह सत् और असत् दोनो नही हो सकती क्योकि ऐसा कहना परस्पर विरोधी है। वह केवल अभाव रूप भी नही हो सकता क्योकि जो असत् है वह बधन का कारण भी नही हो सकता है। अगर वह बधन का कारण है तो वह भाव रूप अवश्य है, और तब ब्रह्म में द्वैत उत्पन्न होने का दोष आए बिना नही रह सकता। इसलिए मायावादी का सिद्धान्त मिथ्या प्रमाणित होता है।

सत्य तो वास्तव मे यह है कि जिस प्रकार दूध दही के रूप मे जमता है वसे ही ईश्वर ही स्वय अपनी इच्छा ज्ञान और अनन्त से अपने आपको जगत् रूप म परिणमित करता है। ईश्वर निरवयव होते हुए भी जगत् के रूप से परिणमित होता है इस कथन मे कोई असगति नही है क्योकि वह अपनी विभिन्न शक्तियो को अपनी इच्छा से रूपातरित कर ऐसा परिणाम ला सकता है। ईश्वर की दो शक्तियां हैं। भोग्य शक्ति द्वारा वह भोग्य सृष्टि बना है और भोक्त शक्ति द्वारा भोक्ता जीव बना है। यह सब होते हुए भी वह स्वय अपने आप मे अपरिणामी और निर्मल है। केवल अपनी शक्ति के रूपातरण से वह भोक्ता और भोग्य रूप जगत मे परिणमित होता है। सूर्य अपने बिम्ब मे से जैसे किरणो को प्रसारित कर फिर अपने मे समेट लेता है फिर भी सूर्य ही बना रहता है ठीक उसी प्रकार ईश्वर जगत् का निर्माण और समाहरण करता है।[3]

---

[1] यस्या सर्वमिद कृत्स्न व्यवहाराय कल्पते
निर्वक्तु सा न शक्येति वचन वचनार्थकम्।

—भास्कर भाष्य।

[2] यस्या कार्य इदङ्कृत्स्न व्यवहार्य कल्पते।
निर्वक्तु सा न शक्यऽति वचन वचनार्थकम्।

—भास्कर भाष्य।

[3] भास्कर भाष्य, २ १ २७ तथा १ ४ २५।

भास्कराचार्य के भाष्य में उपलब्ध दर्शन

उपरोक्त कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भास्कराचार्य के मतानुसार, जीव और जड जगत्, स्वयं ब्रह्म की अपनी विभिन्न शक्तियों द्वारा उसके परिणाम मात्र है। यहाँ एक प्रश्न स्वाभाविक रूप से उत्पन्न हो जाता है कि जगत् और जीव ब्रह्म से भिन्न हैं या अभिन्न ? भास्कराचार्य उत्तर देते हैं कि भेद में अभेद धर्म विद्यमान है (अभेदधर्मश्च), लहर समुद्र से भिन्न भी है और अभिन्न भी। लहरें समुद्र की शक्ति की अभिव्यक्ति हैं इसलिए जो सागर अपनी शक्ति की अभिव्यक्ति की दृष्टि से भिन्न दीखता है वस्तुतः वह अपनी शक्ति से अभिन्न है। ठीक इसी प्रकार एक ही अग्नि प्रकाशक या दाहक के रूप में भिन्न भिन्न हैं। इसलिए जो एक है वह नाना रूप भी है जो है वह न तो नितान्त एक रूप है न नितान्त भिन्न रूप है।[1]

जीव ईश्वर से वस्तुतः भिन्न नहीं है वरन् उसका मात्र अंश है, जैसे अग्नि स्फुलिंग अग्नि के अंश हैं। किन्तु ईश्वरांश जीवों की यह विशेषता है, कि वे ब्रह्म से एक होते हुए भी अनादिकाल से अविद्या इच्छा और कर्मों के प्रभाव में रहे हैं।[2] जिस तरह आकाश सब जगह एक सा ही है तो भी मठ या घर के अन्तर्गत आकाश, महत् आकाश नहीं है। एक दृष्टिकोण से वह अखंड आकाश का अंश कहा जा सकता है अथवा जिस प्रकार वायु पंच प्राण के रूप में भिन्न भिन्न जैविक में व्यापार करती है, ठीक इसी प्रकार जीव भी एक अर्थ में ईश्वर के अंश कहे जा सकते हैं। शास्त्र, जीव को ज्ञान और मुक्ति प्राप्त करने का आदेश देते हैं वह युक्ति संगत है और योग्य भी है क्योंकि जीव की परमात्मा, ब्रह्म, या ईश्वर प्राप्ति की इच्छा ही मुक्ति का कारण है तथा सांसारिक वस्तुओं की अभिलाषा ही बंध का कारण है।[3] जीव, अविद्या, इच्छा और कर्म से अभिभूत होने के कारण अणुरूप है और जिस प्रकार चंदन लेप का एक अंश सारे वातावरण को सुगंधित बना देता है इसी प्रकार जीव भी स्वभाव में रहते हुए सारे शरीर को चेतन कर देता है। वह स्वभाव से चेतन है केवल

---

[1] अभेद धर्मश्च भेदो यथा महोदधेरभेदः स एव तरंगाद्यात्मना वर्तमानो भेद इत्युच्यते, नहि तरंगादयः पाषाणादिषु दृश्यन्ते तस्यैव ताः शक्तयः शक्तिशक्तिमतोश्च अनन्यत्वमन्यत्व चोपलक्ष्यते यथाग्नेर्दहन प्रकाशनादिशक्तयः तस्मात् सर्वम् एकानेकात्मकं नात्यन्तमभिन्नं भिन्नं वा।

—भास्कर भाष्य २–१–१८।

[2] वही, १–४–२१।

[3] रागोहिपरमात्म विषयो यः स मुक्तिहेतुः विषय विषयो यः सः बंधहेतुः।

भास्कर भाष्य।

अय विषयो के ज्ञान के सबध मे ही उन की उपस्थित पर वह निमर है।[१] जीव का स्थान हृदय म है और हृदय के चम द्वारा वह सारे देह के सम्पक मे रहता है। यद्यपि वह ब धनयुक्त है, अविद्या इत्यादि से प्रभावित है और अणुरूप है, तो भी अततोगत्वा वह अणुरूप नही है क्याकि वह ब्रह्म से अभिन्न है। बुद्धि, अहकार, पच इद्रियाँ और पच प्राण से प्रभावित होकर जीव पुनज म के चक्र मे फँसता है। अणुरूप होना और बुद्धि इत्यादि के सम्पक मे रहना जीव का स्वभाव नही है कि तु जहाँ तक वह सम्बध विद्यमान है वहा तक जीव के कत त्व पूणतया सत्य है, कि तु इन कत त्व का मूल, अत मे ईश्वर स्वय ही है। ईश्वर ही हम से सारे कम कराता है, वही हम से सत्कम कराता है और हमारे अतर म रहता हुआ हमारे सारे कर्मों का नियत्रण भी करता है।

मनुष्य का प्रत्येक आश्रम मे शास्त्रोक्त कम करना चाहिये वह कभी भी उस अवस्था पर नही पहुच सकता जहा वह शास्त्रोक्त कम के बधन से ऊपर उठ जाता हो।[२] अत शकराचाय का यह कथन ठीक नही है कि उच्च ज्ञान का अधिकारी जीवन के धम तथा शास्त्रोक्त कम और आचार स परे है या जिन लोगो के वास्ते शास्त्रा म जो कमकाड निर्दिष्ट किये गये वे उच्च ज्ञान के अधिकारी नही हैं। दूसरे श दो मे शकराचाय का यह कथन कि कम और ज्ञान मे कही भी समुच्चय नही है यह असत्य है। भास्कराचाय यह अवश्य मानते हैं कि नित्य नमित्तिक कम, ब्रह्म को परम सत्य का दशन नही करा सकते, तो भी ज्ञान समुच्चित कम परम श्रेय ब्रह्म ज्ञान की प्राप्ति करा सकते हैं। ब्रह्म ज्ञान की प्राप्ति हमारा धम है। हम शास्त्र के आदेशानुसार ही इसे स्वीकारते हैं क्योकि शास्त्र यहा पर हम विधि देता है, आत्मा जानने योग्य है इत्यादि (आत्मा वा अरे दृष्ट य), इसलिये शकराचाय का यह कथन ठीक नही है कि शास्त्रोक्त नित्य नैमित्तिक कम हम अधिक से अधिक पापरहित बनाकर

---

[१] वही २–३–१८ २२ २३।

[२] भास्कर भाष्य, १–१–१।

ब्रह्म सूत्र एक ग्रथ म मीमासा सूत्र से ग्रथित है जिसका अनुकरण करना आवश्यक है क्याकि कमकाण्ड का पालन करने के पश्चात् ही ब्रह्म ज्ञान उत्पन्न हो सकता है इसलिये ब्रह्म ज्ञान कमकाण्ड की आवश्यकता हटा नही सकता तथा ब्रह्म सूत्र कोई उच्च तथा भिन्न लोगा के ही लिये है इस विचार का माय रखते हुए भास्कर उपवष या उपवर्षाचाय का अनुसरण करते हैं तथा उ ही की मीमासा सूत्र की टीका का उल्लख करते हैं तथा उ हे इस प्रणाली के सस्थापक कहते हैं।

—वही १–१–१ तथा २–२–२७ और भी देखो १–१–४। आत्म ज्ञानाधि कृतस्य कमभिर्विनापवर्गानुपपत्ते ज्ञानन कम समुच्चीयते।

यहा यह भी ध्यान मे रखना चाहिये कि वेदा त परिभाषा के रचियता धमराजाध्वरीद्र के मत से विपरीत भास्कराचाय, मनस को ज्ञानेन्द्रिय मानते हैं।[१] ज्ञान के स्वत प्रामाण्य के विषय में भास्कराचाय का यह मत है कि सत्य ज्ञान स्वत प्रमाणित है, मिथ्या ज्ञान परत प्रमाणित है।[२]

जसा कहा गया है, तदनुसार भास्कराचाय के मत से मुक्ति केवल ज्ञान से प्राप्त नही होती है, ब्रह्म ज्ञान प्राप्त करते हुए हमे शास्त्रोक्त धम का आचरण करना आव श्यक है क्योकि ज्ञान और कम म विरोध नही है। धम को त्याग देंगे तो मुक्ति नहीं मिलेगी।[३] मुक्तावस्था में अखड निरतर सुख का ज्ञान होता है।[४] मुक्त चाहे तो शरीर इद्रिय आदि से सम्पक रखे या न रखे।[५] वह सवज्ञ सव-शक्तिमान है और सब जीवा से और ईश्वर स्वय से अभिन्न है।[६] मुक्त होने के लिये ब्रह्म के प्रति राग आव- श्यक है जिसका स्वरूप विशद करते हुए उसे (समाराधना) भक्ति कहा है और भक्ति का अथ ईश्वर का ध्यानादि से परिचर्या करना कहा है। भक्ति किसी प्रकार का ईश्वर के प्रति प्रेम या भाव नही है जसाकि वैष्णव सप्रदाय मे माना है, किन्तु वह ध्यान है।[७] यहा एक प्रश्न उठ खडा हो सकता है कि अगर ब्रह्म ही जगत रूप मे परिणत हुआ है तो ध्यान किसका किया जाय ? क्या हम जगत् का ध्यान करें ? भास्कराचाय उत्तर में कहते हैं कि ब्रह्म जगद् रूप म परिणत होने पर विलीन नही होता एव जगत ब्रह्म का ही परिणाम है इसका अथ केवल यही है कि जगत् ब्रह्ममय है, जड नही है। जगत् चिन्मय अभिव्यक्ति है और चिन्मय परिणाम है, जो जड रूप से दीखता है वह वास्तव मे चिन्मय है। जगत् रूप मे परिणत ब्रह्म, जो अनेक शक्ति सम्पन्न है और इसके अलावा भी जो निष्प्रपच ब्रह्म है वह अपने अतर्यामी रूप से परे है, भक्ति ध्यान इसी का करना चाहिये। नानात्व रूप से अभिव्यक्त जगत्, अन्त मे अपने मूल स्रोत निष्प्रपच ब्रह्म मे वापस मिल जाएगा, शेष में कुछ भी नहीं बचेगा। जड रूप जगत् चतन्य मे पानी के नमक के कण की तरह घुल मिल जायगा।[८] यह

---

[१] वही २-४-१७।
[२] वही १-४-२१।
[३] वही ३-४-२६।
[४] वही ४-४-८।
[५] वही ४-४-१२।
[६] मुक्त कारणात्मान प्राप्त तद्वदेव सवज्ञान सवशक्ति।

—भास्कर भाष्य ४-४-७।

[७] वही ३-२-२४।
[८] वही २-२-११, १३, १७।

पर ब्रह्म, जिसका ध्यान करना कहा गया है, वह सद्-लक्षण और बाघ लक्षण है।[1] वह अनन्त और असीम है। ब्रह्म को सत्, चित् और अनन्त रूप कहा गया हैं किन्तु ये उक्त पद किन्ही तीन भाव पदार्थों को सूचित नही करते, ये ब्रह्म के गुण है और अन्य सभी गुणा की तरह अपने द्रव्य से अलग नहीं रह सकते। क्याकि द्रव्य गुण बिना नही रह सकता और न गुण द्रव्य के बिना। द्रव्य गुण अपने धम के कारण भिन्न पदाय नहीं बन जाता।[2]

भास्कराचाय जीवनमुक्त स्थिति को नही मानते, क्याकि जहा तक शरीर है वहा तक सचित कर्मानुसार गति और आश्रम धम पालन करना ही पडता है। साधारण बद्ध पुरुष से ज्ञानी का भेद यही रहता है कि बद्ध अपने का कर्त्ता इत्यादि मानता है ज्ञानी ऐसा नही सोचता। अगर कोई जीवन काल मे मुक्त हो जाए तो वह सबके मन को जान सकता है। मुक्तावस्था मे जीव नि सबध हा जाता है या जैसाकि भास्करा-चाय कहते हैं वह सवज्ञ और सवशक्तिमान् हो जाता है, इस बारे मे कुछ नही कहा जा सकता, जीवन काल मे मुक्ति मिल ही नही सकती क्याकि जहा तक मनुष्य जीवित है वहा तक उसे आश्रम धम पालन करना पडेगा। ईश्वर की पहचान और उसके प्रति सबल ध्यान केद्रित करना मानव के लिए आवश्यक है ताकि उसे मृत्यु के उपरान्त मुक्ति प्राप्त हो सके।[3]

---

[1] वही ३–२–२३।

[2] न धम धर्मि भेदेन स्वरूपभेद इति, नहि गुणरहित द्रव्यमस्ति, न द्रव्य रहितो गुण।
—वही, ३–२–२३।

[3] भास्कर भाष्य ३–४–२६।

अध्याय १६

पचरात्र मत

पचरात्र की प्राचीनता

पचरात्र सिद्धान्त वास्तव मे बहुत प्राचीन है जिसका ऋग्वद के पुरुष सूक्त से सबन्ध है। वह एक दृष्टि से भविष्य के समस्त वैष्णव सप्रदायो की नीव है। शतपथ ब्राह्मण मे ऐसा कहा गया है कि परम पुरुष नारायण ने, समस्त भरा से परे बनने की एव सबसे एक हान की इच्छा प्रकट की, तब उनको पचरात्र यज्ञ का दशन हुआ जिसे करके वे अपना ध्येय पा सके।[1] ऐसा हो सकता है कि 'पुरुषो ह नारायण' के ये विशेष नाम आग जाकर नर और नारायण नामक दो ऋषियो म परिणत हो गए हो। पाठ का अथ यह भी हो सकता है कि नारायण नाम का एक पुरुष पचरात्र यज करके महान् देवता बन गया। वेंकट सुधी ने अपने १६००० पक्तियो स युक्त सिद्धा त रत्नावली नामक ग्र थ मे शास्त्र प्रमाण देकर यह सिद्ध किया है कि, नारायण सवश्रेष्ठ देव है और शिव, ब्रह्मा विष्णु इत्यादि देव उसके अधीन है।[2] सिद्धात रत्नावली के चतुथ अध्याय में ऐसा कहा है कि नारायण शब्द उपनिषद् के ब्रह्मन् शब्द का सूचक है। महाभारत (शान्ति पव ३३४ अध्याय) म उल्लेख है कि नर नारायण, स्वय, अपरिणामी ब्रह्म की जो सारी सत्ता की आत्मा है उपासना करते हैं, और तब भी उन्हे सबसे महान् कहा गया है। बाद क अध्याय मे ऐसा उल्लेख है कि एक राजा, नारायण का अनन्य भक्त था जो सात्वत धमविधि के अनुसार उनकी उपासना करता था।[3] वह उनका इतना अनन्य भक्त था कि उसने अपना सब कुछ राजपाट, धनराशि इत्यादि को नारायण की ही देन मान लिया था। वह अपने घर मे पचरात्र अनुयायी साधुओ को सम्मान और आश्रय देता था। इन साधुओ ने राजा के आश्रय में रहकर यज्ञ किया पर वे नारायण के दशन नही कर सके इससे बृहस्पति क्रुद्ध हो गए। कुछ सन्तो ने इस वृतान्त को इस प्रकार कहा कि जब ऋषि कठोर तपस्या

---

[1] शतपथ ब्राह्मण, १३ ६ १।

[2] सिद्धान्त रत्नावली हस्तलिखित है। अभी तक प्रकाशित नहीं हुई है।

[3] सात्वत सहिता नामक प्राचीन पचरात्र सहिता प्राप्त है जिसका उल्लेख शीघ्र ही किया जायगा।

के बाद भी ईश्वर दर्शन न कर सके तब स्वर्ग से एक सदेश आया कि महानारायण श्वेत द्वीपवासियो को ही साक्षात्कार प्रदान करते हैं जो इन्द्रीयहीन हैं, जिन्हें भोजन की आवश्यकता नहीं होती और जो एकेश्वरवादी भक्त हैं। ये सन्त श्वेत द्वीप के लोगो के अपार सौन्दर्य से चकाचौंध हो गए अतः उन्हें न देख सके तब वे तपस्या करने लगे। तत्पश्चात वे उन्हें दृष्टिगोचर हो पाए। श्वेत द्वीपवासी मन्त्र जप द्वारा देवता की आराधना करते थे और उन्हें भेंट अर्पित करते थे। इसके बाद स्वर्ग से फिर सदेश आया कि वे श्वेत द्वीपवासियो को देख पाए हैं इसी में उन्हें सतोष मान लेना चाहिए और वापस घर लौट जाना चाहिए क्योंकि महेश्वर का बिना पूर्ण भक्ति के साक्षात्कार नहीं होता। नारद ने भी, ऐसा कहा जाता है, कि श्वेतद्वीप के विचित्र वासियो को दूर से देखा था। नारद फिर श्वेतद्वीप गए और वहाँ उन्होंने अपने आराध्यदेव नारायण के दर्शन किए। नारायण ने उनसे कहा कि वासुदेव परम और अपरिणामी ईश्वर हैं, जिनके सकर्षण की उत्पत्ति हुई जो सब जीवो के अधिपति हैं उनसे प्रद्युम्न हुए जो मनस् हैं, प्रद्युम्न से अनिरुद्ध हुए जो अहकार हैं। अनिरुद्ध से ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई जिनसे यह सारी सृष्टि प्रकट हुई। प्रलय के बाद वासुदेव से क्रमपूर्वक सकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध पैदा होते हैं।

कुछ उपनिषद् वैष्णव उपनिषद् कहे जाते हैं जो पचरात्र ग्रन्थो के बाद रचे गए हैं। ये उपनिषद् इस प्रकार हैं अव्यक्तोपनिषद् या अव्यक्त नसिंहोपनिषद् जिसकी टीका वासुदेवेन्द्र के शिष्य उपनिषद् ब्रह्म योगिन् ने की है, काली सन्तरणोपनिषद्, कृष्णोपनिषद् गरुडोपनिषद् गोपाल तापनी उपनिषद् गोपालोत्तर तापनी उपनिषद्, तारा सारोपनिषद् त्रिपादविभूति महानाराण उपनिषद्, दत्तात्रेयोपनिषद् नारायणोपनिषद्, नसिंहतापिनी उपनिषद्, नृसिंहोत्तरतापिनी उपनिषद् रामतापिनी उपनिषद्, रामोत्तरतापिनी उपनिषद्, रामरहस्य उपनिषद्, वासुदेवोपनिषद् जिनके टीकाकार उपनिषद् ब्रह्मयोगिन् हैं। ये सब उपनिषद् अनावश्यक वर्णन, क्रिया कर्म और मन्त्रो से भरे हैं। इनका पचरात्र ग्रन्थो से कुछ भी सम्बध नहीं है। इनमे से कुछ उपनिषदो को, जैसे कि नृसिंहतापिनी, गोपालतापिनी इत्यादि [illegible]

सकते हैं क्योंकि उनका ज्ञान अमर्यादित है और जगत की सारी वस्तुओं तक पहुंचता है। यद्यपि इस मत के विरोधी यह कहना चाहते हैं कि यदि प्रत्यक्ष के क्षेत्र के अंतर्गत सब वस्तुएं आ जाती हैं तो वे प्रत्यक्ष हैं ही नहीं एवं उसके उपरान्त यह तथ्य कि कुछ वस्तुएं अन्य वस्तुओं से बड़ी हैं यह सिद्ध नहीं करता कि कोई भी वस्तु जो बड़ी या छोटी होने की क्षमता रखती हो उसकी असीम क्षमता हो।[1] फिर भी यदि यह मान लिया जाए कि कोई व्यक्ति ऐसा भी है, जिसके प्रत्यक्ष ज्ञान की सीमा असीम है। इससे ऐसा मानने को बाध्य नहीं होना पड़ता कि वह व्यक्ति पंचरात्र के कर्मकाण्ड के विषय में उपदेश दे सके और कोई भी ऐसा आगम प्राप्त नहीं है जो पंचरात्र में कहे कर्म काण्ड का आदेश देता हो। यह निश्चित भी नहीं किया जा सकता कि पंचरात्र के रचनाकारों ने अपने ग्रन्थों को वेदों के आधार पर रचा है या उन्होंने अपने स्व कल्पित विचारों को जन्म दिया और वे वेद पर आधारित हैं ऐसा कह दिया। यह तक किया जाए कि पंचरात्र मनुस्मृति इत्यादि ग्रन्थों के समान वेदों पर आधारित होने के कारण ही प्रमाण रूप है किन्तु यह मिथ्या सिद्ध होता है जब हम यह पाते हैं कि स्मृति में, जो वेद पर आधारित हैं पंचरात्र का विरोध किया गया है। अगर ऐसा कहा जाय कि पंचरात्र कर्म-काण्ड के अनुयायी अन्य वेद अनुयायी ब्राह्मणों जैसे ब्राह्मण हैं तो विरोधी पक्ष का यह कहना है कि पंचरात्र के अनुयायी बाह्य रूप से ब्राह्मण होने का दिखावा करें किन्तु समाज उन्हें ऐसा नहीं मानता। सहज सामान्य ब्राह्मण, भागवत और पंचरात्र के अनुयायी ब्राह्मणों के साथ सामाजिक भोज में एक पंक्ति में नहीं बैठते। सात्वत शब्द ही निम्न जाति का द्योतक है[2] और भागवत और सात्वत शब्द पर्यायवाची है। ऐसा कहा जाता है कि पंचम जाति के सात्वत लोग राजाज्ञा से मंदिर में पूजा करते हैं और वे भागवत कहलाते हैं। सात्वत आजीविका के लिए मंदिर में पूजा करते हैं और दीक्षा तथा मूर्ति पर चढ़ाई भेंट से अपना निर्वाह करते हैं, उनका अन्य ब्राह्मणों से कोई भी सम्बंध नहीं है इसलिए वे ब्राह्मण नहीं कहे जा सकते। ऐसा भी कहा जाता है कि जो व्यक्ति आजीविका मात्र के लिए पूजा

---

[1] अथ एकस्मिन् सातिशये केनाप्यन्येन
निरतिशयेन भवितव्यम् इति आहोस्वित
समान जातीयेनान्येन निरतिशयदशाम्
अधिरूढेन भवितव्यम् इति ॥
न तावद् प्रथम कल्प कल्प्यतेऽनुपलम्भन ।
नहि दृष्ट शरावादि व्योमवत प्राप्त वमवम् ॥　　　　—आगम प्रामाण्य पृ० ३।

[2] मनु ऐसा कहते हैं
वश्यात तु जायते व्रात्यात सुधन्वाचार्य एव च।
मारुपश्च निजंघश्च मैत्र—सात्वत एवच ॥　　　　—आगम प्रामाण्य, पृ० ८।

करता है उसके दशन से ही लाग अपवित्र हो जाते हैं जिनकी शुद्धि योग्य प्रायश्चित कम द्वारा ही हो सक्ती है। पचरात्र ग्र थ निम्न वाटि के सात्वत और भागवत अपनाते हैं, इसलिए ये ग्र थ अप्रमाण और अवैदिक माने जाने चाहिएँ। अगर य ग्र थ वेद पर आधारित हैं तो उनका विशेष प्रकार के कम काण्ड के प्रति आग्रह होना अर्थहीन है इसी कारण से बादरायण भी ब्रह्मसूत्र मे पचरात्र के दाशनिक मत का खण्डन करते हैं।

ऐसा तक अवश्य किया जा सकता है कि पचरात्र की विधि ब्राह्मण अतगत स्मृति साहित्य की विधिया से मल नहीं खाती किन्तु ऐसे विरोध महत्त्व नही रखते क्योकि दोनो ही वेद पर आधारित हैं। जबकि ब्राह्मणोक्त स्मृति की प्रमाणता भी वेद पर आधारित है तो पचरात्र को न इन स्मृतिया की विधि से सामजस्य करने की आवश्यकता है न इन स्मृतिया को पचरात्र की विधि से।

प्रश्न यह उठता है कि वेद किसी एक व्यक्ति की वाणी है या नही। वेद मनुष्य की कृति है इस कथन के समथन मे यह तक दिया जाता है कि वेद एक साहित्य होने के नाते निश्चित रूप से मनुष्य की कृति है। दैवी पुरुष, जो पाप पुण्य के मूल को साक्षात् देखता है वह अपनी कृपा से मनुष्य के हित के लिये वेद की रचना कर उसकी विधि देता है। मीमासाकार भी यही मानते हैं कि सासारिक जीवन का व्यवहार, पाप पुण्य से प्रभावित है। इसलिये दवी पुरुष जिसने जगत् उत्पन्न किया है वह पाप-पुण्य के मूल को साक्षात् देखता है। ससार हमारे कर्मों के प्रभाव से तत्क्षण उत्पन्न नहीं होता और हम यह मानना ही पडेगा कि कोई ऐसी सत्ता है जो हमारे कर्मों के फला का उपयाग करके उसके योग्य जगत् की रचना करती है। समस्त शास्त्र भी ऐसे सवज्ञ और सवशक्तिमान् ईश्वर के अस्तित्त्व का समथन करते हैं। इसी ईश्वर ने, एक तरफ, वेदो की रचना की और मनुष्यो को सासारिक एव स्वग सुख प्राप्त कराने याग्य कर्मों की विधि दी और दूसरी तरफ, ईश्वर भक्ति से परमानद की प्राप्ति, और ईश्वर के स्वरुप की अनुभूति प्राप्त कराने के लिये पचरात्र ग्रथा की रचना की। कुछ लोग ऐसे भी है जो रचना से प्राप्त रचयिता, या सजक के तकसगत निष्कर्षों को ठीक नही मानते और वेदो को नित्य सनातन और अपोरुषेय मानते हैं। इस दष्टि से जिन कारणा से वेद और सवादी स्मृतियाँ प्रमाण हैं, ठीक उन्ही कारणो से पचरात्र भी प्रमाण है। किन्तु सत्य तो यह है कि वेदा से ही हम जान पाते हैं कि उनका रचयिता परम पुरुष है। उपनिषद् मे जिसे परमेश्वर कहा है वही वासुदेव है और वे ही पचरात्र के रचयिता हैं। आगे और भी तक दिये जाते हैं कि वेद का प्रयोजन विधि निषेधात्मक कम की आज्ञा ही देना नही है किन्तु दिव्य पुरुष के रूप में परम सत्ता की प्रकृति का वणन करना भी है। इसलिये हमे पचरात्र की प्रमाणता को स्वीकार करना पडेगा क्योकि यह अपना मूल, दैवी पुरुष नारायण और वासुदेव

मे बताता है। यामुन तत्पश्चात् बराह, लिंग एव मत्स्य पुराण, मनु संहिता और अन्य स्मृति के पाठो की ओर संकेत करते हैं। यामुन अपने 'पुरुष निर्णय' ग्रंथ मे विशद रूप से शास्त्रो के तर्क की विवेचना करते हुए यह बताने की कोशिश करते हैं कि उपनिषद् और पुराण मे कहे गये महान दैवी पुरुष, नारायण ही हैं। यह दैवी सत्ता शैवो का शिव नही हो सकती, क्योकि तीन प्रकार के शैव मतानुयायी अर्थात् कापालिक कालमुख और पाशुपत एक दूसरे की विरोधी आचार प्रक्रिया का विधान करते है। यह संभव नही है कि शास्त्र इस प्रकार के विरोधी आचारो की आज्ञा दें। इनके कर्मकांड भी प्रकट रूप से अवैदिक है। ये कर्म काण्ड रुद्र से उत्पन्न हुए है इससे यह सिद्ध नही होता कि यह रुद्र वही है जिसका उल्लेख वेदो मे है। ऐसा हो सकता है कि ये जिस रुद्र का उल्लेख यह करते हैं, वह कोई अन्य पुरुष भी हो। वे उन अनेक पुराणो का भी उल्लेख करते है जिनमे शैवो की निंदा की गई है। अगर पचरात्र मत वेदोक्त होता तो हम वेद मे उन पाठो को ढूढ पाते जो पचरात्र का आधार हैं इस तर्क के विरोध मे यामुन का कथन है कि पचरात्र ग्रंथ ईश्वर ने उन भक्तो के हित के लिए स्वय रचे हैं जो वेदोक्त बहुश्रम साध्य क्रियाओ से घबडा गये थे। इसलिये वेद मे पचरात्र ग्रथो के समर्थक पाठ न पाये जाने का कारण समझा जा सकता है। जब शाडिल्य ने चारो वेदो मे अपने अभीष्ट हेतु को प्राप्त करने का कोई साधन नही पाया तब वे भक्ति की तरफ झुके, इसका कथन मतलब वेद की निंदा नही हैं। इसका अर्थ यही होता है कि पचरात्र मे अभीष्ट प्राप्त करने का साधन वेद से भिन्न है। पचरात्र, वेदोक्त कर्मकाण्ड के अलावा अपने विशेष कर्मकाण्ड की विधि बताते हैं इससे वे अवैदिक सिद्ध नही होते। क्योकि जहा तक हम यह प्रमाणित नही कर पाते कि पचरात्र अवैदिक है वहा तक पचरात्रोक्त विशेष विधि भी अवैदिक है ऐसा नही कह सकते अन्यथा यह तर्क चक्राकार दोष से बच नही सकता। यह गलत है कि पचरात्रोक्त विशेष कर्मकाण्ड वेदोक्त कर्मकाण्ड के सचमुच विरोधी हैं। यह भी गलत है कि बादरायण ने पचरात्र का खण्डन किया है। अगर उन्होने ऐसा किया होता तो महाभारत मे वे उसकी वकालत क्या करते? पचरात्र मत मे चार व्यूहो का स्वीकार किया गया है इससे यह अर्थ नही निकलता कि वे अनेकेश्वरवादी हैं क्योकि चार व्यूह, दैवी पुरुष वासुदेव की ही अभिव्यक्ति हैं। बादरायण के ब्रह्म सूत्रो का ठीक तरह से अर्थ किया जाय तो पता लगेगा कि वे पचरात्र का विरोध नही करते अपितु उनका समर्थन हैं।

समाज के प्रति सम्माननीय लोग मूर्ति पूजा मे उन सब क्रिया कलापो का पालन करते हैं जिन्हें पचरात्र मे कहा है। विरोधी पक्ष का यह तर्क कि भागवत अब्राह्मण हैं, दोषयुक्त है, क्योकि भागवत वही चिन्ह धारण करते हैं जो अन्य ब्राह्मण धारण करते हैं। मनु ने पंचम जाति को सात्वत कहा है इससे यह अर्थ नही निकलता कि सब

सात्वत पचम जाति के है। तदुपरात विरोधी पक्ष का सात्वत शब्द का अथ पचम है ऐसा मानना अनेका शास्त्रो के विरुद्ध है क्याकि वे शास्त्र सात्वता की प्रशसा करते हैं। कुछ सात्वत मूर्ति या मदिर बनाकर या मदिर से सम्बधित अन्य कार्यों द्वारा जीवन निर्वाह करते हैं इससे यह परिणाम नही निकलता कि भागवता का यही धम है। इस प्रकार यामुन ने अपने आगम प्रामाण्य और 'काश्मीरागम प्रामाण्य' मे यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि पचरात्र वेद की तरह प्रमाण हैं क्योकि उनका मूल उद्गम स्थान एक ही दैवी पुरुष नारायण है।[1]

दसवी शताब्दी से लेकर १७वी शताब्दी तक शव और श्री वैष्णव दक्षिण मे एक साथ रहे जहाँ शैव मतानुयायी राजाओ ने श्री वैष्णवो को सताया और उनके मदिर के देवताओ की अवहलना की और श्री वष्णव पथी राजाओं ने शैवो और उनके मदिरों के देवताओ से भी उसी प्रकार का व्यवहार किया। इसलिए यह समझ म आता है कि ये भिन्न पथ के अनुयायी एक दूसरे के खण्डन में व्यस्त रहते थे। इन विवाद-पूण ग्रथा म 'सिद्धान्त रत्नावली' नामक एक ऐसा महत्वपूण व विशद ग्रन्थ प्राप्त होता है जिसके रचयिता वेंकट सुधी हैं। वे वेंकटनाथ के शिष्य थे और श्री शैल ताताचाय के पुत्र और श्री शैल निवास के भाई थे। 'सिद्धान्त रत्नावली' चार अध्याय का ग्रन्थ है जिसमे ३०० ००० से अधिक वण हैं। वेंकट सुधी का जीवन काल १४वी और १५वीं शताब्दी था, उन्होने कम से कम 'रहस्य त्रय सार' और सिद्धान्त वैजयन्ती' नामक दो ग्रन्थ और लिखे।

पचरात्र का सक्षिप्त वणन करने वाले अनक ग्रन्थ लिखे गए हैं। इनम गोपाल सूरि का 'पचरात्र रक्षा-सग्रह अत्यन्त महत्वपूण ग्रन्थ प्रतीत होता है। गोपाल सूरि कृष्ण देशिक के सुपुत्र थे और वेदान्त रामानुज के शिष्य थे, जो स्वय कृष्ण देशिक के शिष्य थे। उनकी 'पचरात्र रक्षा' पचरात्र के अनेक महत्वपूण ग्रन्थो वर्णित विभिन्न क्रिया कलापा का वणन करती है।

ऐसा प्रतीत होता है कि बहुत से लेखक पचरात्र को वेद पर आधारित नहीं मानते थे यद्यपि श्री वैष्णव पचरात्र को वेद जितना ही प्रामाणिक मानते थे।[2] साख्य और योग की तरह इसे वेद के उप ग्रन्थ के रूप मे माना जाता था। यामुन के

---

[1] आगम प्रामाण्य मे पृ० ८५ पर 'काश्मीरागम' का उल्लेख है इस ग्रन्थ म यामुन ने उन्ही विषया पर विवचना की है जो आगम प्रामाण्य' मे है, उपरोक्त ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रति नही मिली है।

[2] वेंकटनाथ व्यास का उद्धरण देते हुए यों कहते हैं

इद महोपनिषद् चतुर्वेदसमन्वितम्।
साख्ययोगकृतान्तेन पचरात्रानुशब्दितम्॥ –सेश्वर मीमासा पृ० १६।

कथनानुसार उन भक्तों के लिए जो विशाल वदिक साहित्य का अध्ययन करने मे अक्षम थे इसमे वदों की शिक्षाओं का सक्षेप था। मन्दिरो और मूर्तियो के निर्माण के सम्बन्ध मे निर्देश मूर्ति-पूजा से सम्बन्धित अनेक क्रिया कलापो का वर्णन तथा श्री वैष्णवो के कर्तव्य एव धर्मानुरूप कर्मकाण्डो का विशद रूप से वर्णन जसे दीक्षा, नामकरण *और धार्मिक चिह्नों का धारण आदि पचरात्र साहित्य के मुख्य विषय हैं।* मूर्ति पूजा का प्रचलन स्पष्ट रूप से अवैदिक ह किन्तु इसका प्रचार ईसा से पूर्व छठी शताब्दी मे था इसके अनेको प्रमाण प्राप्त हैं। इस विधि का उद्गम कैसे हुआ और भारत के किस जाति के लोग इसके मूल प्रवतक रहे यह कहना कठिन है। वेद के अनुयायी और मूर्ति पूजकों के बीच सघर्ष लम्बे समय का है, तो भी हम यह जानते हैं कि ईसा के पूर्व २ शताब्दी मे भी भागवत सम्प्रदाय दक्षिण ही मे नही, उत्तर मे भी पूरी जीवित स्थिति में था। बेसनगर के स्तम्भ के साक्ष्य से पता चलता है कि यूनानी लोग भी किस प्रकार भागवत धर्म मे परिवर्तित किए गए थे। महाभारत में भी सात्वत क्रिया कलापो का उल्लेख है-जिसके अनुसार विष्णु की पूजा की जाती थी और वहाँ पर पचरात्र के व्यूह सिद्धान्त का भी उल्लेख है। नारायणीय विभाग मे पचरात्र पूजा का स्थान श्वेत द्वीप है ऐसा सूचित किया गया है। वही से पचरात्र मत, भारत मे आया। लेकिन विद्वानो का प्रयत्न श्वेत द्वीप की भौगोलिक स्थिति को स्थिर कर पाने मे अभी तक असफल रहा है।

पुराण एव स्मृति साहित्य म भी ब्राह्मण सत्ता के साथ सघर्ष प्रकट रूप से पाया जाता है। *इस प्रकार कूर्म पुराण के पन्द्रहवें अध्याय* में भी यह कहा गया है कि पचरात्रो का जन्म, पूर्व जन्म में गो हत्या के महापाप के फलस्वरूप हुआ है एव वे पूर्ण रूप से अवदिक हैं और शाक्त शव एव पचरात्र के धर्म ग्रन्थ मानव को भ्रम मे डालने वाले हैं।[1] पराशर पुराण में भी यह कहा है कि पचरात्र के अनुयायी धाप भ्रष्ट

किसी समय कभी पचरात्र वेदो का मूल माना जाता है और कई बार वेद को पचरात्र का मूल बताया जाता है। इस प्रकार वेंकटनाथ उपरोक्त अनुसधान मे व्यास का उद्धरण देते हैं जिसमे पचरात्र वेदो का मूल है ऐसा कहा गया है 'महतो वेद वृक्षस्य मूल भूतो महान् अयम्' वे दूसरे अवतारण का उद्धरण देते हैं जिसमे वेद को पचरात्र का मूल माना गया है-'श्रुति मूलम् इद तत्र प्रमाण कल्प सूत्रवत्' दूसरी जगह वे पचरात्र को वेद का विकल्प कहते हैं-'अलाभे वेदमत्राणा पचरात्रा दितेन वा।'

[1] का पाल गारुद शाक्त भरव पूर्व-पश्चिम्।
पचरात्र पाशुपत्त तथा न्यानि सहस्रश ॥   -कूर्म पुराण, अध्याय १५।

हैं।[1] वसिष्ठ सहिता, सांब पुराण व सूत सहिता आदि म उनको महापातकी और पूणत अवैदिक कहकर पूरी शक्ति से उनकी निंदा की गई है। उनके विरुद्ध दोष आरोप का अन्य कारण यह भी था कि वे पचरात्री अपने सप्रदाय के अतगत स्त्रिया एव शूद्रा का भी प्रवेश देते थे। अश्वलायन स्मृति के अनुसार केवल जाति से वहिष्कृत व्यक्ति ही पचरात्रा के धम चिह्ना को स्वीकार करते हैं। बृहदनारदीय पुराण के चौथे अध्याय मे यहाँ तक कहा गया है कि पचरात्री के साथ वार्तालाप करने से नरक मे जाना पडेगा। इसी प्रकार का निषेध कूम-पुराण मे भी पाया जाता है एव यह भी कहा है कि उनका (पचरात्रियो को) अन्त्येष्टि क्रिया मे सम्मिलित नही किया जाना चाहिए। वायु पुराण का समथन देते हुए श्री हेमाद्रि का कथन है कि यदि कोई ब्राह्मण पचरात्र मे परिवर्तित हो जाता है तो वह सपूण वैदिक अधिकारो से च्युत हो जाता है। लिंग पुराण भी उन्ह सवथम वहिष्कृत कहते हैं। आदित्य और अग्नि पुराण भी जो पचरात्रा के साथ किसी भी प्रकार का सम्बध रखते हैं उनसे पूण विरोध प्रगट करते हैं। विष्णु सातापत, हारीत बोधायन और यम सहिता भी पचरात्रियो और उनके साथ सम्बध रखने वालो से पूण विरोध प्रकट करते हैं। फिर भी पचरात्री, वेद के अनुयायियो के प्रति मत्री भाव रखते हैं। इससे यह प्रतीत होता है कि पचरात्री अल्प सख्या म थ जिन्हें अपने रक्षण का भय रहता था और वैदिक धम-परायणा की निंदा करने की हिम्मत नही कर सकते थे। कुछ ऐसे भी पुराण हैं जैसे कि विष्णु पुराण, भागवत और महाभारत, जो उनके बहुत पक्ष मे हैं। यह विचित्र बात है कि पुराणा के कुछ भाग पचरात्र के पक्ष मे है और कुछ कट्टरपन के साथ विपक्ष मे हैं। पचरात्रियो के अनुकूल पडने वाले पुराण हैं, विष्णु नारदीय, भागवत, गरुड, पद्म और वराह जा सात्विक पुराण कहलाते हैं।[2] इस प्रकार स्मृतियो

(दीक्षित के तत्व कोस्तुभ से उद्धत किन्तु यहीं कुछ हेर फेर के साथ छपी प्रति मे १६वें अध्याय मे मिलता है)।

स्कद पुराण भी कहता है

पचरात्रे च कापाले तथा काल मुखेऽपिच।
शाक्ते च दीक्षिता यूय भवेत ब्राह्मणाधमा ॥

[1] द्वितीय पाचरात्रे चा तत्र भागवते तथा।
दीक्षिताश्च द्विजा नित्य भवेयु गर्हिता हरे ॥
(भट्टो जी दीक्षित के तत्व कौस्तुभ से उद्धत) पाण्डुलिपि पृ० ४।

[2] प्रमाण सग्रह का ऐसा मत है

वष्णव नारदीय च तथा भागवत शुभ।
गारुड च तथा पाद्म वाराह शुभ दशने
सात्विकानि पुराणानि विज्ञेयानि च षट पृथक।—तत्व कौस्तुभ पाण्डुलिपि पृ० १३।

में वासिष्ठ, हारीत, व्यास, पाराशर और काश्यप श्रेष्ठ मानी गई हैं।[1] 'प्रमाण सग्रह' नामक ग्रन्थ, पचरात्र के कुछ महत्वपूर्ण सिद्धान्तों का उल्लेख करते हुए उनकी प्रमाणिकता उपरोक्त पुराण और स्मृति द्वारा तथा महाभारत, गीता विष्णु धर्मोत्तर, प्राजापत्य स्मृति, इतिहास समुच्चय हरिवश वृद्ध मनु, शांडिल्य स्मृति और ब्रह्माण्ड पुराण के आधार पर सिद्ध करने का प्रयत्न करता है।

पचरात्र साहित्य

पचरात्र साहित्य विशाल है और उसके कुछ ही छपे हुए ग्रन्थ प्राप्त हैं। प्रस्तुत लेखक को बहुत से हस्तलिखित ग्रन्थो का सग्रह करने का अवसर मिला है, यहाँ उनका सक्षिप्त वर्णन करने का प्रयत्न किया जायगा यद्यपि इनका दार्शनिक दृष्टि से महत्व नहीं है। इनमे सर्वाधिक महत्वपूर्ण सहिता, सात्वत सहिता है। महाभारत, अहिर्बुध्न्य सहिता, ईश्वर सहिता और अन्य सहिताओ मे सात्वत का उल्लेख है। सात्वत सहिता मे हम ऐसा उल्लेख पाते हैं कि श्री भगवान् ने ऋषियो के लिए, सकर्षण से प्रार्थना किए जाने पर, पचरात्र शास्त्र का प्रवर्तन किया।[2] इस ग्रन्थ के २४ अध्याय हैं जो नारायण से उत्पन्न चार विभव देवताओ की पूजा विधि, परिधान और आभूषण तथा अन्य विशेष प्रकार की पूजा मूर्ति-स्थापना इत्यादि विषयो पर प्रकाश डालते हैं। ईश्वर सहिता में लिखा है कि एकायन वेद जो समस्त वेदों के स्रोत हैं वासुदेव के साथ उत्पन्न हुए और पुरातन काल से सब वेदो के मूल के रूप मे स्थित रहे, उन्ही से आगे चलकर उद्भूत होने के कारण उनका नाम विकार वेद पड़ा। जब ये वेद प्रकट हुए तब लोग अधिकतर ससारी हो गए थे अत वासुदेव ने एकायन वेद को गुप्त कर लिया और कुछ ही चुने हुए व्यक्तियो के सामने जैसे कि सन, सनत्सुजाति, सनक, सनन्दन, सनत्कुमार, कपिल और सनातन जो एकान्तिन कहलाते थे, इसे प्रकट किया। मरीचि अत्रि, अगिरस पुलस्त्य, पुलह क्रतु वसिष्ठ, स्वयभुव इत्यादि अन्य ऋषियो ने एकायन वेद नारायण से पढ़ा, उसी आधार पर एक ओर पचरात्र साहित्य पद्य में लिखा गया तथा दूसरी ओर मनु एव अन्य ऋषियो द्वारा अनेक धर्मशास्त्र लिखे गए। सात्वत, पौष्कर और जयाख्य तथा अन्य ऐसे पचरात्र ग्रन्थ सकर्षण के आदेशानुसार, एकायन वेद के मूल सिद्धान्तो के आधार पर लिखे गए जो आगे जाकर लुप्त हो गए। शांडिल्य ने भी एकायन वेद के सिद्धान्त सकर्षण से सीखे और फिर उन्होने ऋषियो को सिखाया। नारायण द्वारा सिखाई गई एकायन वद की अन्तवस्तु सात्विक वा शास्त्र कहा गया है, और अन्य शास्त्र जो अशत एकायन वेद पर आधारित हैं और

---

[1] उसी ग्रन्थ मे पृ० १४।

[2] कांजीवरम् से प्रकाशित १६०२।

प्रशत ऋपियो की अपनी रचनाएँ हैं, वे राजस शास्त्र कहे गए और जो केवल मनुष्य की कृतियां हैं, उनका नाम तामस शास्त्र पडा। राजस शास्त्र दो प्रकार के हैं, पचरात्र और वैखानस। सात्वत, पौष्कर और जयाख्य, सम्भवत ऋपियो द्वारा लिखे गए पचरात्र के आदि ग्रन्थ हैं। इनम से भी सात्वत सर्वोतम माना गया है क्योकि इसमे नारायण और सकर्पण के बीच सवाद है।

ईश्वर सहिता म २४ अध्याय हैं जिनमें से १६ अध्यायो में पूजा विधि का वर्णन है। इसके बाद मूर्ति, दीक्षा, ध्यान, मत्र, शुद्धि, आत्म निग्रह और एक यादव पवत की पवित्रता का एक एक अध्याय में वर्णन मिलता है।[1] पूजा विधि के अध्याय मे इत स्तत दार्शनिक सिद्धान्तो का प्रतिपादन हुआ है जो श्री वैष्णव दर्शन और धर्म के आधार हैं।

हयग्रीव सहिता चार विभागो मे लिखी गयी है। पहला विभाग प्रतिष्ठा काण्ड है जिसमें ४२ अध्याय हैं, दूसरा ३७ अध्यायो वाला सकर्षण है। लिंग नामक तीसरा भाग २० अध्यायो का है और चौथा जिसे सौरकाण्ड कहते हैं, ४५ अध्यायो का है।[2] सभी अध्यायो मे अनेक लघु देवो की मूर्ति प्रतिष्ठा सम्बधी क्रिया, मूर्ति बनाने के प्रकार और अन्य कर्मकाड का वर्णन मिलता है। विष्णु तत्त्व सहिता मे ३९ अध्याय हैं जिनमे मूर्तिपूजा विधि, स्नान, वैष्णव चिह्न और शुद्धि के विषय का ही विस्तार से उल्लेख है। परम सहिता मे ३१ प्रकरण हैं जिनमे मुख्यत सृष्टि प्रक्रिया, दीक्षा विधि तथा अन्य पूजा विधियो का वर्णन हुआ है।[3] दसवें अध्याय मे योग का उल्लेख है। यहा ज्ञान और कर्म योग की चर्चा है ज्ञान योग को कर्म योग से श्रेष्ठ बताया गया है यद्यपि दोनो मे सह अस्तित्व माना गया है। ज्ञान योग प्रशत व्यावहारिक दर्शन है जिसके द्वारा इन्द्रियो की समस्त प्रवृत्तियो का निरोध करने का प्रयास है। इसमे समाधि अर्थात् ऐकान्तिक एकाग्रता और प्राणायाम के अभ्यास का भी समावेश है। योग का प्रयाम जोडना अर्थात् अपने को किसी से आबद्ध कर देना, अर्थ मे किया गया है। योग का अभ्यासी मन को ईश्वर मे एकाग्रत करता है और ऐकान्तिक समाधि द्वारा अपने को समस्त ससार बधनो से मुक्त करता है। यहा कर्मयोग क्या है यह स्पष्ट नहीं किया गया है सम्भवत इसका अर्थ विष्णु पूजा से है। पराशर सहिता में जो पाण्डुलिपि के रूप मे ही उपलब्ध है, ८ अध्याय हैं जिसमें ईश्वर के नाम जप का विधान है।

---

[1] काजीवरम् से प्रकाशित १९२१।
[2] यह लेखक को पाण्डुलिपि प्रति मे ही मिलता है।
[3] यह भी हस्तलिखित ही मिला है।

पद्मसहिता मे ३१ अध्याय हैं जिसमे अनेक प्रकार के कर्मकाण्ड, मन्त्रजप, भेंट, धार्मिक उत्सव इत्यादि का वर्णन है।[1] परमेश्वर सहिता मे १५ अध्याय हैं जिसमे मन्त्रों का ध्यान, यन्त्र कर्मकाण्ड विधि और शुद्धि कर्मों का वर्णन है।[2] पौष्कर सहिता, जो प्राचीन ग्रन्थो म से एक है, ४३ प्रकरण की है जिसमे मूर्तिपूजा के विविध प्रकार, अन्त्येष्टि यज्ञ और कुछ दार्शनिक प्रसगो का उल्लेख है। ग्रन्थ के 'तात्वसख्यान' नामक विशिष्ट अध्याय म कुछ दार्शनिक प्रसगो की चर्चा की गई है। फिर भी ये विशेष महत्व के नही है अत इनका छोडा जा सकता है। प्रकाश सहिता मे दो प्रकरण हैं, जिसका पहला प्रकरण 'परमतत्वनिर्णय' १५ अध्यायो वाला है और दूसरा 'परमतत्व-प्रकाश' कहलाता है जिसमे १२ अध्याय ही हैं।[3] महासनत्कुमार सहिता मे कुल मिलाकर ४ अध्याय और ४० खण्ड हैं जिसमे सम्पूर्णत पूजा विधि का वर्णन है। यह बृहद् ग्रन्थ है जिसमे १०,००० पद्य हैं। इस ग्रन्थ के ब्रह्म रात्र, शिवरात्र, इन्द्ररात्र और ऋषिरात्र नामक चार अध्याय हैं। अनिरुद्धसहिता महोपनिषद् के ३४ अध्याय हैं जिनमे अनेक कर्म-काण्ड दीक्षा विधि, प्रायश्चित कर्म, मूर्ति स्थापना और मूर्ति निर्माण की विधि दी हुई है।[4] काश्यप सहिता म १२ प्रकरण हैं जिसमे मुख्यत विष और मन्त्रोच्चारण द्वारा विष के निवारण का उल्लेख है। विहगेन्द्र सहिता मे अधिकाश मन्त्रो का ध्यान और यज्ञ बलि का उल्लेख २४ अध्यायो मे किया गया है। १२वें अध्याय मे पूजा विधि के अतर्गत विस्तार के साथ प्राणायाम या प्राण के नियमन के बारे मे उल्लेख है। सुदर्शन सहिता मे ४१ अध्याय हैं जिसम मन्त्र जप और प्रायश्चित का समावेश है। अगस्त्य सहिता म ३२ प्रकरण है, वसिष्ठ मे २४ विश्वामित्र मे २६ और विष्णु सहिता म ३० अध्याय हैं। ये सब हस्तलिखित हैं और न्यूनाधिक रूप मे आनुष्ठानिक पूजा विधि का ही वर्णन करते हैं। विष्णु सहिता साख्य मत से अधिक प्रभावित है और पुरुष को सर्वव्यापी मानती है। इसमे पुरुष की गत्यात्मक सक्रियता प्रतिष्ठित हुई है जिससे ही प्रकृति का विकास समव है। पच इन्द्रियों की पाँचो शक्तिया विष्णु की शक्ति मानी गई है। विष्णु की शक्ति के स्थूल और सूक्ष्म दोनो ही रूप होते हैं। अपने पर रूप मे वह चित् शक्ति रूप है विश्व की शक्ति है, कारण शक्ति है, जिसके द्वारा चतन्य विषय को ग्रहण करता है तथा वह सर्वज्ञ और सर्व शक्तिमान् भी है। सूक्ष्म रूप मे, ये पाँचो शक्तिया ईश्वर की सूक्ष्म देह बनी हुई हैं। विष्णु सहिता के १३वें अध्याय मे योग और उसके छह सहायक षडगयोग का वर्णन है और यह भी बताया गया है कि किस प्रकार योग मार्ग

---

[1] यह भी हस्तलिखित ही प्राप्त है।
[2] यह भी हस्तलिखित ही प्राप्त है।
[3] यह भी हस्तलिखित ही प्राप्त है।
[4] यह भी हस्तलिखित ही प्राप्त है।

द्वारा मक्ति प्राप्त हो सकती है। इसे भागवत योग की सज्ञा दी गई है। यहा पर हमे ध्यान में रखना चाहिये कि जीव को इस मत मे सवव्यापी माना है जो श्री वैष्णव मत के विरुद्ध है। योग के भ्रष्टागमाग की बहुधा भ्रनुशसा की गई है जिसे की वैष्णव सम्प्रदाय के भ्रारम्भिक भ्रनुयायी जब, तब उपयोग मे लाते रहे इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। माकण्डेय सहिता मे ३२ प्रकरण हैं जिसमें १०८ सहिताभ्रो का उल्लेख है भ्रौर ९१ सहिताभ्रो की सूची दी गई है।[1] यह भ्रत्यन्त प्राचीन ग्रन्थ हैं जिसे रामानुज, सौम्य जामातृ मुनि तथा भ्रन्य भ्राचार्यों ने भ्रपनाया है। हिरण्यगभ सहिता के ४ भ्रध्याय हैं।

जयाख्य तथा अन्य संहिताभ्रों का तत्वदर्शन

पचरात्र साहित्य वस्तुत विशाल है, किन्तु इस साहित्य का भ्रधिकाश भाग कमकाण्ड के विस्तृत विवरणो से पूण है उसमें दशन का भ्रश बहुत कम है। प्राप्त सहिताभ्रो मे हैं जिनमे दशन का कुछ भ्रश मिलता है वे केवल जयाख्य सहिता, भ्रहिबुध्न्य सहिता, विष्णु सहिता विहगेन्द्र सहिता परम सहिता भ्रौर पौष्कर सहिता हैं। इनमे से भी जयाख्य भ्रौर भ्रहिबुध्न्य सहिताएँ विशेष महत्त्वपूण हैं।

जयाख्य, भ्रारम्भ मे इस सिद्धान्त को लेकर चलता है कि केवल यज्ञ दान, वेदाध्ययन भ्रौर शुद्धिकम द्वारा कोई भी स्वग या बधन से मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता। जबतक हम पर तत्त्व को नही पहचानते, जो सवव्यापक, नित्य, स्वसवेद्य, शुद्ध चैतन्य है भ्रौर जो भ्रपनी इच्छा के भ्रनुरूप भ्रनेक रूप धारण कर सकता है, तबतक मुक्ति की भ्राशा व्यथ है। यहा पर तत्त्व हमारे हृदय मे वास करता है भ्रौर स्वरूप से निगुण है यद्यपि वह गुणो से भ्रावृत (गुण गुह्य) है भ्रौर नामरहित (भ्रनामक) है।

भ्रनेक ऋषि गधमादन पवत पर शाण्डिल्य के पास पहुँचे भ्रौर उनसे जिज्ञासा की कि परमतत्त्व किस प्रकार जाना जा सकता है। शाण्डिल्य उत्तर देते हुए बोले कि यह ज्ञान परम गुह्य भ्रौर प्राचीन है वह उन्ही भ्रास्तिको को दिया जा सकता है जिनम उत्कट गुरु भक्ति है। सव प्रथम इस ज्ञान का उपदेश श्री विष्णु ने नारद को दिया। भगवान विष्णु ही हमारे प्राप्य हैं भ्रौर वे शास्त्र द्वारा ही पाए जा सकते हैं भ्रौर शास्त्र गुरु से ही सीखे जा सकते हैं। इसलिए गुरु ही परमतत्त्व की प्राप्ति के लिए मूल एव प्रथम साधन हैं जो शास्त्र भ्रध्यापन द्वारा ऐसा ज्ञान कराता है।

जयाख्य सहिता तत्पश्चात् तीन प्रकार की सृष्टि का वणन करती है उनम प्रथम ब्रह्म सग है जो मुख्यत पौराणिक प्रकृति का है। उसमें यह उल्लेख है कि सव

---

[1] ये भी हस्तलिखित हैं।

प्रथम विष्णु ने ब्रह्मा की उत्पत्ति की, ब्रह्मा ने अहंकारवश अपनी बनायी सृष्टि को अशुद्ध बना दिया। तत्पश्चात् स्वेद के दो कणा से उत्पन्न मधु और कटभ नामक दैत्यो ने वदो का चुरा कर बडा क्षोभ मचा दिया। विष्णु अपनी शारीरिक शक्ति से उनसे लडे किन्तु असफल रहे, फिर वे मंत्र शक्ति द्वारा लडे और अन्त मे उन्होने उनका नाश किया।

दूसरा सग साख्य दशन में उपवर्णित तत्वा के विकास का है। जयाख्य सहिता म एसा कहा है कि प्रधान मे तीनो गुण परस्पर एकता से एक साथ रहते हैं। जिस प्रकार बत्ती, तेल और अग्नि तीनो एक साथ काय करते हुए दीप की एकता बनाते हैं ठीक उसी प्रकार तीनो गुण एक साथ रहकर प्रधान बने हैं। यद्यपि ये तीनो भिन्न-भिन्न हैं किन्तु प्रधान मे एकात्म भाव से रहते हैं (भिन्नम् एकात्म लक्षणम्)। एकात्म स्थिति से गुणो का पृथक्करण होने पर पहले सत्व निकलता है तत्पश्चात् रजस और अन्त म तमस। गुणो की इस त्रिगुण इकाई से बुद्धि तत्व पैदा होता है और बुद्धि से तीन प्रकार के अहकार उत्पन्न होते हैं जो प्रकाशात्मा, विकृतात्मा और भूतात्मा कहलाते है। प्रथम अहकार से जो तेजस या प्रकाशात्मा कहलाता है पच ज्ञानेंद्रिय और मनस की उत्पत्ति होती है। दूसरे अहकार से, पच कर्मेन्द्रिय उत्पन्न होते हैं। भूतात्मा नामक तृतीय अहकार से भूतयोनि या तन्मात्राएँ उत्पन्न होती है और तन्मात्राओ से पचभूत की उत्पत्ति होती है। प्रकृति स्वभावत जड और भौतिक है इसलिए प्रकृति का विकास भी जैसी आशा की जानी चाहिए, निसगत भौतिक ही होता है। इस सम्बन्ध मे यह स्वाभाविक प्रश्न उपस्थित हो जाता है कि भूत पदाथ अन्य भूत पदार्थों को कैसे उत्पन्न कर सकते हैं। उत्तर इस प्रकार दिया जाता है कि यद्यपि धान का बीज और चावल निसगत भौतिक हैं तो भी बीज मे सजन शक्ति है, चावल म नही उसी प्रकार यद्यपि प्रकृति और उसके विकासज दोनो प्रकृत्या भौतिक हैं, फिर भी एक दूसरे मे उत्पन्न होता है। जड प्रकृति से विकसित तत्व ब्रह्म से अभिन्न शुद्ध चैतन्य रूप आत्मा के प्रकाश द्वारा व्याप्त होने के कारण चैतन्य युक्त दीखते है।[१] जिस प्रकार लोह का टुकडा चुम्बक की शक्ति ग्रहण कर लेता है उसी प्रकार प्रकृति ब्रह्म से एक रस आत्मा के साहचय से, चैतन्य विशिष्ट हो जाती है।

---

[१] चिद् रूप आत्म तत्व यद् अभिन्न ब्रह्मणि स्थित।
तेनानुच्छुरित भाति अचिच् चिन्मय वद् द्विज।

—जयाख्य सहिता (हस्त०) ३–१४।

जब यह प्रकरण लिखा गया था जब जयाख्य सहिता छपी नही थी। अब गायकवाड ओरिएन्टल सीरीज म छप गई है।

प्रश्न यह उठता है कि जब जड और चेतन एक दूसरे से प्रकाश और अधकार की तरह भिन्न हैं ता जड प्रकृति और शुद्ध चैतन्य म क्या कोई साहचर्य हो सकता है। उत्तर इस प्रकार दिया गया है कि जीव, विशुद्ध चैतन्य के सत्य अनादि वासना के याग का परिणाम है। इस वासना को दूर करने के लिए ब्रह्म मे से एक विशिष्ट शक्ति उत्पन्न होती है कि जीव के अतगत शुद्ध चैतन्य, उसके कर्मों के नाश के कारण वासना रहित होकर अन्त मे ब्रह्म से एक रस हा जाता है। कर्म, पात्र रूपी वासना के साहचर्य से ही फल देते है। आत्मा या जीव का ईश्वर शक्ति द्वारा ही गुणो से सयोग हाता है इस कारण वह अपनी वासनाओ को जान सकता है[1] जा प्रकृत्या जड हैं और गुणो से उद्भूत होती हैं। जहाँ तक जीव माया से आवृत है वहाँ तक वह अच्छा बुरा अनुभव प्राप्त करता है। चैतन्य का जड से सम्बन्ध ईश्वर की विशिष्ट शक्ति द्वारा होता है जो आत्मा का माया के सयाग से अनेक भागो का अनुभव कराता है। बधन के टूटते ही शुद्ध चैतन्य रूप आत्मा ब्रह्म से एक हा जाती है।

तृतीय सर्ग शुद्ध सर्ग है, जिसमें वासुदेव अपने मे से अच्युत सत्य और पुरुष नामक तीन उपदेवो को प्रकट करते हैं जो वासुदेव म अभिन्न हैं और उनकी कोई भिन्न सत्ता नही है। पुरुष रूप स वासुदेव सारे देवो के अतर्यामी बन कर उन्हें काय करने की प्रेरणा एव नेतृत्व प्रदान करते हैं। ईश्वर इसी रूप मे, वासना से निगडित मनुष्यो मे कार्यरत है और उन्हें उन मार्गों पर प्रेरित करता है जिससे वे अन्त मे बधन रहित हो जाँय।

ईश्वर आनदमय एव चैतन्य है, वह सबसे परे, परम और अतिम सत्ता है, वह स्वयभू है और सबका आधार है। वह अनादि और अनन्त है जिसे सत् या असत् नही कहा जा सकता (न सत् तन् नासदुच्यते) वह निर्गुण है किन्तु गुण से उत्पन्न सभी विषय का भाग करता है जो हमारे बाहर और भीतर बसा हुआ है। वह सर्वज्ञ सर्वद्रष्टा और सर्वाधिपति है और सभी उसमे विद्यमान हैं। वह अपने मे सारी शक्तियो का सयोजन करता है और उसम सारी क्रियाएं सहज रूप से होती रहती हैं। वह सबो मे व्यापक है तो भी असत् कहलाता है क्योंकि वह इन्द्रिय गोचर नही है। किन्तु जिस प्रकार फूलो की सुगध स्वत उपलब्ध होती है, उसी प्रकार वह भी स्वसवेद्य है।[2] जगत् की सारी सत्ता उसम निहित है और वह देश काल के बधन

---

[1] मायामये द्विजाधारे गुणाधार तता जडे।
शक्त्या समोजितो ह्यात्मा वेत्त्यात्मीया च वासना॥

—जयाख्य सहिता ३–२४।

[2] स्व सवेद्य तु तद् विद्धि गन्ध पुष्पादिका यथा।

—जयाख्य स० ४–७६।

से परे है। जिस प्रकार तप्त अयगोलकी में अग्नि, गोले से अभिन्न होकर रहता है उसी प्रकार ईश्वर सारे जगत में व्याप्त है। जिस प्रकार दर्पण में प्रतिबिंबित वस्तु एक दृष्टि से दर्पण के अन्दर और दूसरी दृष्टि से उसके बाहर है ठीक उसी प्रकार ईश्वर एक दृष्टि से ऐन्द्रिय गुणों से, संयुक्त और दूसरी दृष्टि से असंयुक्त दोनों ही है। ईश्वर जड़ और चेतन दोनों में उसी तरह व्याप्त है जैसे *औषधियों में रस*।[1] ईश्वर की सत्ता तर्क और प्रमाणों द्वारा सिद्ध नहीं की जा सकती। उसकी सर्वव्यापी सत्ता उसी प्रकार अवाच्य और अप्रदर्शनात्मक है जिस प्रकार काष्ठ में अग्नि और दूध में मक्खन। वह सहज सिद्ध है। जिस प्रकार काष्ठ अग्नि में प्रवेश करते ही अपने अस्तित्व को मिटा देता है और सारी नदियां समुद्र में लीन होकर एकरस हो जाती है उसी प्रकार योगी ईश्वर में प्रविष्ट होकर उससे अभिन्न हो जाता है। ऐसी स्थिति में *नदियाँ और सागर में जिसमें वे मिलती हैं भेद है, फिर भी वह अलक्ष्य है*।[2] ईश्वर और भक्त में भी सागर और नदी के जल की तरह भेद और अभेद दोनों हैं। यह स्थिति ईश्वर के भक्तों में भी विद्यमान है। सिद्धांत यहाँ जो सिद्धान्त प्रतिपादित किया जा रहा है वह भेदाभेदवाद अनेकत्व में एकत्व का सिद्धान्त है।

यहाँ ब्रह्म चैतन्य से अभिन्न माना गया है और सारे ज्ञेय पदार्थ अंतःकरणस्थ स्वीकृत हुए हैं।[3] सत्य ज्ञान उपाधि रहित है जिन्होंने ईश्वर से एकात्म होना सीखा है उन्हें वह योग द्वारा ही प्राप्त है।[4]

जब कोई ईश्वर कृपा से यह समझने लगता है कि हमारे सारे कर्म और कर्म फल प्रकृति के गुण रूप हैं तब उसमें आध्यात्मिक अन्तर जागृति होती है और वह स्वयं क्या है इस दुःख का क्या सार है इन पर विचार करता है और तब वह सच्चे गुरु के पास जाता है। जब भक्त पुनर्जन्म के अनन्त चक्र और उससे उत्पन्न क्षणभंगुर जन्म के दुःख और तत्संबंधित अन्य वेदनाओं पर सतत चिंतन करता है और गुरु के आदेशानुसार यम नियम का पालन करता है एवं मन्त्र दीक्षा प्राप्त करता है तब उसका मन संसार सुख से ऊपर उठ जाता है और शरद् ऋतु में पानी व निस्तरंग सागर और

---

[1] चेतनाचेतना सर्वे भूता स्थावरजंगमा।
पूरिता परमेशेन रसेनौषधयो यथा॥ —जयाख्य सं० ४–९३।

[2] सरित्सघाद् यथा ताय सम्प्रविष्ट महोदधौ।
अलक्ष्यश्चोऽन्के भेन परस्मिन् योगिनां तथा॥ —वही, ४–१२३।

[3] ब्रह्माभिन्न चिमोर्ज्ञानम् ज्ञातुम् इच्छामि तत्वत।
येन सम्प्राप्यते ज्ञेयम् अन्तःकरणसंस्थितम्॥ —वही ४–१।

[4] सर्वोपाधि विनिर्मुक्तम् ज्ञानमनन्तनिर्मल।
उत्पद्यते हि युक्तस्य योगाभ्यासात् क्रमेण तत्॥ —वही, ५–२।

निर्वात दीप की तरह स्वच्छ हो जाता है। जब हृदय मे चैतन्य का प्रकाश होता है, तब सब ज्ञेय पदार्थ ज्ञान के मूल विषय सहित हृदय समक्ष आ जाते हैं ज्ञान और ज्ञेय एक हो जाते हैं और फिर धीरे धीरे परम ज्ञान और निवृत्ति आती है जिससे निर्वाण प्राप्त होता है। जो सब कुछ ज्ञेय रूप है वह ज्ञान से अभिन्न है यद्यपि वह भिन्न प्रतीत हो। ज्ञान की अन्तिम अवस्था शब्दों से परे है। वह तर्क और इन्द्रियों के साधन बिना साक्षात् अनुभवगम्य है उसका वर्णन प्रतीकों द्वारा ही किया जा सकता है। अन्तिम अवस्था स्वरूप से ही अलौकिक है, चरम और निःशेष है और आधारहीन है। इस सत्ता मात्र से जीव का आनन्दानुभव प्रगट है। भावजा समाधि और मंत्र जाप सज्ञक दोनों समाधियों मे से दूसरी ज्यादा फलप्रद है। मंत्र जप द्वारा माया और तत् जनित, आत्मानुभूति के सारे व्यवधान नष्ट हो जाते हैं।

वासुदेव से अच्युत, सत्य और पुरुष की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए जयाख्य सहिता का कहना है कि यह उत्पत्ति अहेतुक और सहज होती है और ये तीन अभिव्यक्तियाँ परस्पर प्रतिबिंबित होकर एक रूप से व्यवहार करती हैं और इस सूक्ष्म अवस्था मे यह ईश्वर की क्रियाशक्ति के रूप से मनुष्य हृदय मे रहती है और क्रम से उसे मुक्ति की चरम सीमा तथा आनंदानुभूति की स्थिति तक पहुँचाती है।

जयाख्य सहिता दो प्रकार के ज्ञान का उल्लेख करती है जिसे स्थिति (सत्ताख्य) और क्रियाशील (क्रियाख्य) कहा गया है। क्रियाख्य ज्ञान के अतर्गत यम नियम आदि नैतिक अनुशासन आते है। यम नियम के क्रियाख्य ज्ञान के अनवरत अभ्यास द्वारा ही सत्ताख्य ज्ञान पूर्ण परिपक्व होता है। यम और नियम के अन्तर्गत यहाँ पर पवित्रता बलिदान, तपस्या, वेदाध्ययन मैत्री अखड क्षमा, सत्य, समस्त प्राणियों एव अपने शत्रुओं के प्रति सद्भाव, दूसरों की सपत्ति के प्रति सम्मान भाव, मनोनिग्रह ऐन्द्रिय सुखों के प्रति विराग यथाशक्ति दानपरता, सत्य एव प्रिय भाषण, शत्रु और मित्र के प्रति समभाव ईमानदारी, सरलता तथा प्रत्येक प्राणी के प्रति दया भाव इत्यादि गुण आते हैं। यहाँ पर तीनों गुणों की साम्यावस्था को अविद्या कहा गया है और अविद्या के फलस्वरूप राग द्वेष आदि दोषों की उत्पत्ति मानी गई है। 'आत्मा की सत्ता द्वारा गुण अविद्या और माया मय शुद्ध चैतन्य का सूचन किया गया है।

उपरोक्त कथन से यह मत सिद्ध होता है कि ईश्वर अपने मे से त्रिविध शक्ति के रूप से प्रकट होता है जो मनुष्य मे सूक्ष्म शरीर के रूप मे स्थित है। इस शक्ति की वजह से शुद्ध चैतन्य, मूल प्रवृत्तियों और अन्तर्जगत् के सम्पर्क मे आता है जिससे अन्तःकरण के व्यापार जड और अचेतन होते हुए भी चेतन रूप से व्यवहार करने लगते हैं। इसी सम्पर्क के कारण उक्त अनुभूति सम्भव हो पाती है। अन्त में यही अंतरग शक्ति जड पदार्थ से चेतन पदार्थों को अलग करती है और मुक्ति दिलाती है जिससे

मनुष्य में रहा चैतन्य ब्रह्म से एक रस हो जाता है। चैतन्य तत्व का प्रकृति से उत्पन्न अचेतन मनोव्यापार के साथ संयोग किसी भी मिथ्या कल्पना से नहीं है और वह भ्रम भी नहीं है किन्तु यह हममें स्थित ईश्वरीय अन्तर शक्ति के व्यापार से है। व्यक्ति या जीव जिसे आत्मा भी कहते हैं वह इस अनिच्छित संयोग से उत्पन्न हुआ है। यह संघात जब अन्तःकरण व्यापार और क्लेशों से विलग हो जाता है तब ब्रह्म से सामरस्य होता है, क्योंकि वह उसका अंश है और ब्रह्म में, एक में अनेकत्व भाव से भेदाभेद भाव से स्थित है। इस मत का सांख्य दर्शन से भेद इतना ही है कि जयाख्य संहिता में प्रकृति के तत्वों के उत्पादन क्रम को सांख्यमतानुसार स्वीकार किया है किन्तु पुरुष के स्वभाव के बारे में मतभेद किया गया है। पुरुष और प्रकृति के बीच अनुभवातीत भ्रम को नहीं माना है जो कि ईश्वर कृष्ण रचित सांख्यकारिका का मत है। यहाँ पर प्रकृति पुरुष को मुक्त करने के हेतु से विकास करती है इस मत को नहीं माना है और न इस मत को माना है कि प्रकृति पुरुष या ईश्वर द्वारा प्रेरित हो, गतिशील होती है। यहाँ प्रकृति में से तत्वों का उत्पन्न करने की सहज जननशक्ति को माना गया है।

जयाख्य संहिता में भक्त को योगी कहा है। अंतिम ध्येय पर पहुँचने के लिए दो मार्गों को माना है एक ध्यान समाधि द्वारा और दूसरा मन्त्र जप की साधना द्वारा। योग के विषय में यह धारणा है कि योगी का अपनी इन्द्रियों पर पूरा काबू होना चाहिए और प्रत्येक प्राणी से द्वेष रहित होना चाहिए। अत्यंत विनीत भाव से उसे एकान्त स्थान पर बैठकर प्राणायाम द्वारा अपने चित्त पर नियन्त्रण लाने का प्रयास करते रहना चाहिए। फिर प्राणायाम की तीन विधियाँ--प्रत्याहार, ध्यान और धारणा का उल्लेख किया गया है। फिर योग के तीन प्रकारों पर भी प्रकाश डाला है जिन्हें प्राकृत, पौरुष और ऐश्वर्य की संज्ञा दी है किन्तु इनका क्या अर्थ है यह स्पष्ट नहीं किया गया है। ऐसा हो सकता है कि इनका अर्थ तीन विषय पर ध्यान केंद्रित करना है जैसे कि प्रकृति के मूल तत्वों पर, पुरुष पर अथवा आश्चर्यजनक सिद्धियों को दिलाने वाले योग पर। चार प्रकार के आसनों का भी योग वर्णन पाया जाता है जिनके नाम पद्मक कमल, भद्र और स्वस्तिक हैं। योगासनों का भी वर्णन है। मनोनिग्रह जो योग का मूल उद्देश्य है उसे दो प्रकार का माना है, वातावरण से उत्तेजित मन की प्रवृत्तियों पर निग्रह करना और मन की उन प्रवृत्तियों पर निग्रह करना जो उसमें स्वभावतः हैं। सत्व गुण के उद्रेक से ही मन को किसी विषय पर ध्यानस्थ किया जा सकता है। अन्य वर्गीकरण के आधार पर, सकल निष्कल और विष्णु अर्थात् शान्त व्योम और स्वविग्रह नामक तीन प्रकार के योग का भी उल्लेख देखने में आता है। सकल या स्वविग्रह नामक योग में योगी इष्टदेव की स्थूल मूर्ति पर ध्यान केंद्रित करता है तत्पश्चात क्रम से जब वह ध्यान में अभ्यस्त हो जाता है

तब वह दीप्त गोल चक्र की कल्पना पर ध्यान केंद्रित करता है तत्पश्चात मटर जैसे छोटे परिमाण की वस्तु पर, फिर घोड़े के बाल जैसी सूक्ष्म वस्तु पर, इसके बाद मनुष्य के सर के बाल पर फिर उसके शरीर के रोम पर, इस प्रकार के अभ्यास की पूर्णता से ब्रह्मरध्र का द्वार उसके लिए खुल जाता है। निष्कल योग मे योगी अंतिम सत्य का ध्यान करता है, जिससे उसे वह स्वय ब्रह्म रूप है यह ज्ञान होता है। तीसरे प्रकार के योग म मत्रो पर ध्यान केन्द्रित करना पडता है जिसके द्वारा भी योगी को अंतिम सत्य की प्राप्ति होती है। योगाभ्यास द्वारा योगी अन्त म ब्रह्मरध्र के द्वार से निकल जाता है और अपनी देह छोड देता है और मूल सत्यरूप वासुदेव से समरस हो जाता है।[1]

विष्णु सहिता के चौथे प्रकरण मे (हस्तलिखित) प्रकृति के तीन गुण माने गए हैं। प्रकृति व उसस उद्भूत तत्वो का क्षेत्र कहा गया है और ईश्वर को क्षेत्रज्ञ कहा है।[2] प्रकृति और ईश्वर मानो एक होकर रहते हैं।[3] प्रकृति तत्वो का विकास करती है और पुरुष की अध्यक्षता में या पुरुष के आदेशानुसार फिर तत्वो को अपने मे समेट लेती है। फिर भी प्रकृति स्वतत्र रूप से व्यवहार करती दीखती है।[4] पुरुष को सर्वव्यापी चैतन्य तत्त्व माना गया है।

विष्णु सहिता म तीन प्रकार के सात्विक राजस और तामस अहकार का वर्णन करते हुए कहा है कि राजस अहकार कर्मेन्द्रियो को केवल उत्पन्न ही नही करता, किन्तु ज्ञान और कर्मेन्द्रियो का सक्रिय निर्देशन भी करता है। ज्ञान, शक्ति के रूप मे वह इन्द्रिय प्रत्यक्ष का ध्यान भी है और वह अन्वय व्यतिरेक क्रियात्मक बुद्धि व्यापार भी है। विष्णु सहिता आगे जाकर ईश्वर की पाँच शक्तियो का उल्लेख करती है, जिसके द्वारा ईश्वर निर्गुण होते हुए भी, अपने को दृश्य गुणो से युक्त प्रकट करता है। सम्भवत इस प्रकार से ही प्रकृति की समस्त शक्तियाँ ईश्वर में निहित हैं और इसी अर्थ म क्षेत्र अथवा प्रकृति ईश्वर से अभिन्न है। इन शक्तियो मे पहली चित् शक्ति[5]

---

[1] जयाख्य सहिता अध्याय ३३।
१४वें अध्याय मे योग के उस क्रम का वर्णन है जिससे योगी की देह का धीरे धीरे नाश होता है।

[2] क्षेत्राख्या प्रकृतिर्ज्ञेया तद्वित क्षेत्रज्ञ ईश्वर। —विष्णु सहिता ४।

[3] उभय चेद त्यतम् अभिन्नम् इव तिष्ठति। —विष्णु सहिता।

[4] तन्नियोगात स्वतन्त्रेव सूते भावान् हरत्यपि। —विष्णु सहिता।

[5] चिच्छक्ति सर्व कार्यादि कूटस्थ परमेष्ठचसौ।
द्वितीया तस्य या शक्ति पुरुषाख्यादि विक्रिया॥
विश्वाख्या विविधाभासा तृतीया करुणात्मिका।
चतुर्थी विषय प्राप्य निवृत्त्याख्या तथा पुन॥ —विष्णु सहिता।

अर्थात् चैतन्य शक्ति है जो सारी क्रियाओं की अपरिणामी नीव है। दूसरी, पुरुष रूप से मोक्त शक्ति है। तीसरी शक्ति कारण शक्ति है जो विश्व के विविध रूपों मे प्रकट होती है। चौथी शक्ति इन्द्रियों के विषय का ग्रहण कर ज्ञान रूप बनाती है। पाचवी शक्ति द्वारा ज्ञान क्रियात्मक होता है। छठी शक्ति विचार और क्रिया रूप से प्रकट होती है।[1] इस प्रकार यह दीखता है कि पुरुष और भोक्ता एक स्वतन्त्र तत्व नही है किन्तु ईश्वर की शक्ति ही है। ठीक उसी प्रकार प्रकृति भी एक स्वतन्त्र तत्व न होकर ईश्वर की शक्ति की मात्र अभिव्यक्ति है।

विष्णु संहिता मे वर्णित भागवत योग का क्रम प्रधानत शरीर और मन का नियन्त्रण है जिसमे क्रोध तृष्णा इत्यादि, एकान्त स्थान मे ध्यान करने का अभ्यास, ईश्वर की शरणागति और आत्म निरीक्षण का समावेश है। परिणामस्वरूप जब चित्त निर्मल और ससार से विरक्त हो जाता है तब विवेक दृष्टि जागृत होती है जिससे अपवित्र, बुरा और पवित्र और भले के बीच भेद पहचानने मे आता है। इससे राग या भक्ति उत्पन्न होती है। भक्ति से मनुष्य आत्म सतुष्ट हो जाता है और अपने उच्च आदर्श के प्रति निष्ठावान् बनता है तथा सच्चे ज्ञान को प्राप्त करता है। ईश्वर से समरस होने के लिये जो मुक्तावस्था है प्राणायाम के क्रम को अपनाने का आदेश किया गया है जिसमे अनेक प्रकार के ध्यान करने पडते हैं। भक्ति का अर्थ यहा परमेश्वर के प्रति भक्ति के झुकाव से लिया है, जिसका सफल करने का साधन योग है। तथाकथित भागवतो का भक्ति सप्रदाय योग शास्त्र के इतने प्रभाव मे था कि भक्त का योगी बनना आवश्यक माना जाता था[2] क्योकि केवल भक्ति मुक्ति देने मे समर्थ नही समझी जाती थी। परम संहिता के दसवें अध्याय मे ब्रह्मा और परम के बीच सवाद द्वारा योग का क्रम वर्णन किया गया है। वहा ऐसा कहा है कि योग द्वारा प्राप्त किया ज्ञान अन्य ज्ञानो से उच्च है। योग के ज्ञान बिना किये हुए कर्म, इष्ट फल नही दे सकते। योग का अर्थ चित्त का किसी विषय पर बिना क्षोभ के समाधान होना कहा है।[3] जब चित्त कर्म करने मे दृढ़ता से स्थिर हो जाता है तो उसे कर्म योग कहते हैं।[4] जब चित्त ज्ञान पर अस्खलित रूप से लग जाता है तो उसे ज्ञान

---

[1] पूर्वा ज्ञान क्रिया शक्ति सर्वाख्या तस्य पचमी। —विष्णु संहिता।

[2] तस्मात् सर्व प्रयत्नेन भक्तो योगी भवेत् सदा। —वि० स० अध्याय ३०।

[3] यत् करोति समाधान चितस्य विषय क्वचित्।
अनुकूल असक्षोभ सयोग इति कीर्त्यते॥ —परम संहिता अध्याय १० (हस्त०)।

[4] यदि कर्माणि बध्नाति चित्तम स्खलित परम्।
कर्म योगो भवत्येष सर्वपापप्रणाशन। —परम संहिता अध्याय १०।

योग कहा है ।[1] दोना याग करते हुए यागी विष्णु की शरण लेकर परमश्वर से एकात्मता प्राप्त करता है । नान योग ग्रोर कम याग दोना ही, एक ग्रोर यम नियम युक्त नतिक साधन के रूप मे ग्रौर दूसरी ग्रोर वैराग्य ग्रौर समाधि रूप से, ब्रह्म पर ही ग्रवलम्बित हैं । यहा स्मरण रखना चाहिये कि गीता म कम याग का ग्रथ, बिना फलाशा के शास्त्रोक्त वरण धम पालन करना माना है । यहा कम याग का ग्रथ यम नियम किया गया है जिसमे व्रत उपवास, दान ग्रौर सम्भवत ग्रात्म निग्रह से प्राप्त विविध गुणो का समावेश है । वैराग्य का ग्रथ इद्रिया का विषय से पराङ-मुख होना है ग्रौर समाधि का ग्रथ उस ज्ञान से है जिसके द्वारा चित्त ईश्वर मे ग्रस्खलित रूप से लग जाय । जब इद्रिया ग्रपने विषयो से वैराग्य द्वारा, निरोधित हो जाती है तब चित्त का ईश्वर मे परम तत्व मे स्थिर रूप से लगना ही पडता है । इसे ही याग कहा है । ग्रनवरत ग्रभ्यास द्वारा जब वैराग्य परिपक्व होता है तब वासना या मूल क्लेश तथा इच्छाग्रा का ग्रत हो जाता है । यह सलाह दी गई है कि योगी को बलात् ग्रात्म निग्रह करने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए किन्तु उसे धीरे-धीरे ग्रौर सुगमता स ग्राग बढना चाहिए जिससे वह लम्बे समय म चित्त पर पूरी पूरी विजय पा जाए । योगी को भोजन ग्रौर ग्रन्य ग्रावश्यकताग्रा पर भी ध्यान देना ग्रावश्यक है जिससे शरीर स्वस्थ रह । उसे योगाभ्यास के लिये, विक्षेप रहित, एकान्त स्थान पसद करना चाहिये । उस शरीर को पीडा पहुँचाने वाली कोई भी क्रिया किसी भी वजह से नही करना चाहिय । तदुपरान्त उसे सदैव यह चिन्तन करते रहना चाहिय कि वह ईश्वर के ग्रधीन है एव उत्पत्ति स्थिति ग्रौर नाश उसके धम नही हैं । इस प्रकार उसके चित्त म निमल भक्ति का जन्म होगा जिसस वह धीरे धीरे ग्रासक्ति की जडा का उखाड सकेगा । ग्रमुक्त इच्छाग्रो के ग्राकषक ग्रनुभव दु खपूण हैं इस विषय पर योगी का चिन्तन करने का ग्रभ्यास करना चाहिय, जिससे वह ऐस ग्रनुभवा के प्रति राग से विमुख हो जाय ।

कम याग ग्रौर नान योग में कौन श्रेष्ठ है इस बारे म कहा है कि किस प्रकार का योग चुना जाय, इस विषय मे कोई नियम नहीं हो सकते । कोई स्वभाव से कम योग के लिये ग्रौर कोई नान याग के लिय उपयुक्त होते हैं । विशेष योग्यता वाले कम ग्रौर नान दोना योगा का समाजन कर सकते हैं ।

ग्रहिर्बुध्न्य सहिता का तत्वदर्शन

ग्रहिर्बुध्न्य सहिता म ग्रहिर्बुध्न्य कहते हैं कि उन्होने लम्बी तपस्या के बाद सकर्षण स सच्चा नान प्राप्त किया इस सत्य नान का नाम सुदशन है जो विश्व की

[1] यदि तु नान मार्गे चित्त बध्नाति निश्चय ।
नान योग स विज्ञेय मव सिद्धिकर शुभ ॥ —परम सहिता, ग्रध्याय १० ।

समस्त वस्तुओं का आधार है।[1] अंतिम सत्ता अनादि, अनन्त और नित्य है, नामरूप रहित है और मन और वाणी से परे है वह सब शक्तिमान् और अपरिणामी है। इस नित्य और अपरिणामी सत्ता से स्वत स्फूत सकल्प उठता है यह सकल्प देशकाल और द्रव्य से मर्यादित नहीं है। ब्रह्म सहजानुभव रूप है और नि सीम-सुखानुभव-लक्षण हैं। (नि सीम सुखानुभव लक्षणम्)। वह हर जगह है, और हरेक मे स्थित है। वह निस्तरग सागर के समान है। उसमे सासारिक पदार्थों म पाये जाने वाले गुण नाम मात्र भी नही है। वह स्वय सिद्ध और अपने म परिपूर्ण है जिसको यह (इद) तथा इस प्रकार (इत्थ) इत्यादि शब्दो से व्याख्या नहीं की जा सकती। वह आनन्द और शुभ है और सवथा पाप रहित है। ब्रह्म के अनेक नाम हैं जसे कि परमात्मन् आत्मन् भगवान्, वासुदेव अव्यक्त प्रकृति प्रधान इत्यादि। जब शुद्ध ज्ञान द्वारा अनेको जन्मो के सचित पाप पुण्य नष्ट हो जाते हैं और वासना दग्ध हो जाती है प्रकृति के तीनो गुण मनुष्य को बन्धन मे नहीं डालते पर तब मनुष्य अविलम्ब ही ब्रह्म स्वरूप प्राप्त करता है जो अन्तिम सत्ता है, जिसे यह और ऐसा इन शब्दो द्वारा वर्णित नहीं किया जा सकता। ब्रह्म समग्र की आत्मा है और सब पदार्थों का अन्त प्रज्ञात्मक रूप से देखता है। उसके लिए भूत, वतमान और भविष्य ये तीनो काल अपना अस्तित्व नहीं रखते। इसलिए ब्रह्मन् कालसापेक्ष नहीं है वह कालातीत है। इसी प्रकार वह गौण और प्रधान गुणो से परे है तो भी वह षटगुण सम्पन्न है। सब गुणो मे ज्ञान सब प्रथम और मुख्य है। वह आध्यात्मिक और स्व प्रकाश्य है वह सब वस्तुओ मे प्रवेश कर उन्हे प्रकाशित करता है और नित्य है। ब्रह्मन् स्वरूप से शुद्ध चतन्य रूप है तो भी उसम ज्ञान गुण रूप से स्थित है, ऐसा माना है।[2] ब्रह्म की शक्ति उसे कहा गया है, जिससे उसने समस्त विश्व को उत्पन्न किया है।[3] ब्रह्मन् का कतृत्व भाव उसका ऐश्वय है। भगवान् का बल वह है जिससे वह सतत काय करते भी नहीं थकता, वीय के गुण द्वारा ब्रह्म जगत् का उपादान कारण रहते भी अपरिणामी ही रहता है और उसका तेज वह है जिससे वह बिना सहायता के, जगत् रचना करता है। ये पाचो गुण ज्ञान के अतगत हैं और ज्ञान ही ईश्वर का

---

[1] सुदशनस्वरूप तत् प्रोच्यमान मया शृणु।
श्रुते यत्राखिलाधारे सशयास्ते न सन्ति व ॥

–अहिबुध्न्य सहिता ३, २–८।

[2] अजड स्वात्मसबोधि नित्य सर्वावगाहनम्।
ज्ञान नाम गुणम् प्राहु प्रथम गुणचिन्तका।
स्वरूप ब्रह्मणस्तच्च गुणश्च परिगीयते ॥ –अहिबुध्न्य सहिता ३ २–५३।

[3] जगत् प्रकृतिभावो य सा शक्ति परिकीर्तिता। –वही स० ३ २–५७।

स्वरूप है। जब ब्रह्म जो ज्ञान रूप है और सब गुण सम्पन्न है अपने को नाना रूप मे प्रकट करने का सकल्प करता है तब वह सुदर्शन कहलाता है।

प्रत्येक वस्तु की शक्तियाँ स्वभाव से अचिन्त्य हैं और द्रव्य से अपृथक स्थित हैं। वे द्रव्य की सूक्ष्म या अव्यक्त अवस्थाए हैं जो पृथक् रूप से गोचर नहा होती या किसी शब्द द्वारा उनका विधान या निषेध नहीं किया जा सकता तथा जो काय रूप से ही जानी जा सकती है।[1] उसी प्रकार ईश्वर मे शक्ति अभिन्न रूप से स्थित है जिस प्रकार चन्द्र रश्मि चन्द्र से अभिन्न है। शक्ति सहज रूप है और जगत् उसकी अभिव्यक्ति है। इसे आनन्द कहा गया है क्योंकि वह निरपेक्ष है, वह नित्य है क्योंकि कालातीत है, वह पूर्ण है क्योंकि अरूप है। वह जगत् रूप से अभिव्यक्त होती है इसलिये उसे लक्ष्मी कहते हैं।[2] वह अपने को जगत् रूप से सकुचित करती है इसलिये कुण्डलिनी कही जाती है और ईश्वर की महान् शक्ति होने के कारण विष्णु शक्ति भी कही गई है। शक्ति वास्तव मे ब्रह्म से भिन्न है तो भी उससे अभिन्न दिखती है। इस शक्ति द्वारा ईश्वर अविराम रूप से बिना थकावट के और बिना अन्य की सहायता लिये सतत जगत् की रचना करता है (सतत कुर्वता जगत्)।[1] ईश्वर की शक्ति दो प्रकार से प्रकट होती है, स्थावर रूप से उसका प्रथम प्रकार काल, अव्यक्त और पुरुष मे प्रकट होते हैं तथा दूसरा प्रकार क्रिया रूप से। ईश्वर की क्रिया शक्ति सहज है जो विचार और सकल्प रूप से क्रिया मे व्यक्त होती है।[3] इसे सकल्प या विचार कहा है जिसकी गति अव्याहत है और जो अव्यक्त, काल, पुरुष इत्यादि सारे जड और चेतन पदार्थों को उत्पन्न करती है।[4] इसी शक्ति को दूसरे शब्दों मे लक्ष्मी या विष्णु शक्ति कहा है जो अव्यक्त को अपने विकास मार्ग पर प्रेरित करती है प्रकृति तत्त्वो को पुरुष के सम्मुख उपस्थित करती है और समस्त अनुभव मे ओतप्रोत तथा गतिमान (अनुस्यूत) है। जब वह इन व्यापारो का सकोचन करती है तब प्रलय होता है। इसी शक्ति के बल से सृष्टि सर्जन के समय त्रिगुणात्मक प्रकृति विकासोन्मुख बनती है। प्रकृति पुरुष का सयोग भी इसी शक्ति द्वारा होता है। यह सकल्प

---

[1] शक्तय सर्वभावानाम् अचिन्त्या अपृथक स्थिता
स्वरूपे नव दृश्यन्ते दृश्यन्ते कार्यतस्तु ता
सूक्ष्मावस्था ही सा तेषाम् सर्वभावानुगामिनी,
इदतया विधातु सा न निषेद्धु च शक्यते। —वही, स० ३, २–३।

[2] अहिर्बुध्न्य सहिता २–८६।

[3] स्वातन्त्र्यमूल इच्छात्मा प्रेक्षारूप क्रियाफल। —वही, ३–३०।

[4] उन्मेषो य सुसकल्प सर्वत्राव्याहत कृती।
अव्यक्तकालपुरुषा चेतनात्मिकाम्॥ —वही, ३ ३०–३१।

स्पदन रूप है वह अनेक रूप धारण करता है और अपने परिणामों से भिन्न भिन्न पदार्थों की उत्पत्ति करता है।[1]

मूलावस्था मे नाना रूप जगत्, सुप्तावस्था मे था, वह एक साम्यावस्था थी जिसमे ईश्वर की शक्तियाँ, निस्तरग सागरकी तरह पूर्णत निरुद्ध थी। यह शक्ति अपनी स्थिर या निरुद्धावस्था मे शून्यत्व रूपिणी है (शून्यत्व रूपिणी) क्योंकि यहाँ कोई अभिव्यक्ति नही है। वह स्वाश्रित है और वह स्थिरावस्था से गतिशील क्या होती है इसका कोई कारण नही दिया जा सकता है।[2] वह एक है और ब्रह्म परमसत्ता से अभिन्न है। यही शक्ति, निर्मल एव समल सभी तत्वो का और समस्त भौतिक रूपो को अपने म से परिणाम के रूप मे प्रकट करती है। वह ईश्वर की क्रिया, वीर्य, तेजस और बल के रूप म प्रकट होती है जो उसी की अभिव्यक्ति के रूप है, द्रष्टा और दृश्य जड और चेतन, शुद्ध और मिश्रण भोक्ता और भोग्य, अनुभविता और अनुभूति के विषय इत्यादि रूप मे सारे द्वद्व भी इसी के रूप हैं। प्रगति के क्रम से यह शक्ति सृष्टि का विकास करती है और जब वह विपरिवर्तित होती है, तब प्रलय होता है।

इस शक्ति की दो भिन्न युगल क्रियाओ से नाना प्रकार की शुद्ध रचनाएँ होती हैं। ज्ञान और बल द्वारा सकर्पण का आध्यात्मिक रूप उत्पन्न होता है ऐश्वय और वीय से प्रद्युम्न का आध्यात्मिक रूप उत्पन्न होता है शक्ति और तेज द्वारा अनिरुद्ध की उत्पत्ति होती है। ये तीनो देवी रूप व्यूह कहे गए हैं और प्रत्येक व्यूह दो गुणो के सयोग का परिणाम है। यद्यपि प्रत्येक व्यूह में दो गुण प्रधान हैं फिर भी वह ईश्वर के षड गुणो से युक्त हैं क्योकि ये सब विष्णु के ही रूप हैं।[3] प्रत्येक व्यूह का दूसरे के रूप मे प्रकट होने तथा निम्न धरातल से उच्च धरातल तक की स्थिति मे पहुचने मे १६०० वष का समय लगता है। श्राडर महा सनत्कुमार सहिता का सदर्भ देते हुए इस प्रकार कहते हैं वासुदेव अपने चित्त से श्वेत वर्णा देवी शाति तथा सकर्षण या शिव को उत्पन्न करते हैं तत्पश्चात् शिव के वाम भाग मे से रक्तवर्णा देवी 'श्री' उत्पन्न होती है, जिसके पुत्र प्रद्युम्न अथवा ब्रह्मन् हैं। प्रद्युम्न फिर पीत वर्णा सरस्वती

---

[1] सोऽय सुदर्शनम् नाम सकल्प स्पन्दनात्मक।
विभज्य बहुधा रूप भावे भावेऽवतिष्ठते॥ —वही ३–३९।

[2] तस्य स्तैमित्य रूपा या शक्ति शून्यत्व रूपिणी।
स्वातन्त्र्यादेव कस्मात् चित् क्वचित् सोन्मेष मृच्छति
आत्मभूता हि या शक्ति परस्य ब्रह्मणो हरे।
—अहिर्बुध्न्य सहिता, ५–३ और ४।

[3] व्याप्ति मात्र गुणोन्मेषा मूर्तिकार इति त्रिधा।
चतुरस्य स्थितिर्विष्णोगुण व्यक्ति करोद्भव॥ —वही, ५–२१।

को और अनिरुद्ध या पुरुषोत्तम को उत्पन्न करते है। पुरुषोत्तम की शक्ति श्याम वर्णी 'रति' बनती है जो त्रिविध माया कोष हैं।'[1] श्राडर आगे हमारा ध्यान इस बात पर खीचते हैं कि व तीनो युगल ब्रह्माड के बाहर हैं इसलिए व सांसारिक देवा से स्वरूपत भिन्न हैं, यथा शिव इत्यादि। व्यूह तीन भिन्न प्रकार के काय करते हैं वे है, (१) उत्पत्ति, स्थिति और लय (२) सासारिक वस्तुओ का पोषण (३) मुमुक्षु सत्ता की सहायता। सकषण जीवा के अधिष्ठाता हैं और वे उन्ह प्रकृति से अलग करते हैं।[2] दूसरा दैवी रूप सारे प्राणियो के मनस पर आधिपत्य करता है और उन्हें समस्त धार्मिक क्रियाओ के विषय मे विशिष्ट निर्देश देता है। समस्त मनुष्यो की उत्पत्ति भी इसी के अधीन है तथा विशेष रूप से, जिन लोगो ने अपना सब कुछ ईश्वर का समपण कर दिया है और ईश्वर से पूणत अनुरक्त हो गए हैं, एसे सत्ता का रक्षण यही शक्ति करती है।[3] अनिरुद्ध रूप से वह जगत् की रक्षा करता है और मनुष्यो को ज्ञान की अतिम कोटि पर ले जाता है। वह अच्छे बुरे जसे मिश्र वर्ग की सृष्टि भी करता है (मिश्र वग-सृष्टिम् च करोति)।[4] ये तीनों रूप वासुदेव से अभिन्न हैं और विष्णु के शुद्ध या पूण अवतार हैं।

इनके अतिरिक्त वासुदेव के दो और रूप हैं जिन्ह आवेशावतार और साक्षात् अवतार कहा है। पहला अर्थात् आवेशावतार दो प्रकार का है, स्वरूपावेश (परशुराम, राम इत्यादि) और शक्ति आवेश (ईश्वर की शक्ति विशेष का प्रकट होना, जैसा कि ब्रह्मा और शिव का विशेष अवसर पर ईश्वर की विशिष्ट शक्ति से सम्पन्न होना)। ये गौण रूप के आवेशावतार ईश्वर सकल्प से मनुष्य योनि मे पैदा होते हैं जैसे कि राम, कृष्ण, पशुयोनि मे जैसेकि वराह मत्स्य एव नृसिंह आदि अवतार और वक्ष रूप मे भी अवतार धारण करते हैं-(दडक वन मे वक्र आम्र वृक्ष)। ये सब रूप ईश्वर के अनुभवातीत मौलिक रूप नहीं हैं। किन्तु ये सकल्प शक्ति से दैवी क्रिया की प्रकट अभिव्यक्तियाँ हैं।[5] साक्षात् अवतार की उत्पत्ति ईश्वर स अविलम्ब होती है जसे दिए

---

[1] Introduction to Panearatra श्री श्राडर लिखित, पृ० ३६।

[2] सोऽय समस्त जीवानाम् अधिष्ठातृतया स्थित
सकषणस्तु देवेशो जगत् सृष्टिमनास्तत
जीव तत्वम् अधिष्ठाय प्रकृतेस्तु विविच्य तत ॥

विष्वक्सेन सहिता स उद्धत जो वरवर की, लोकाचाय रचित तत्वत्रय की टीका मे प्राप्त है। —तत्वत्रय, पृ० १२५।

[3] तत्वत्रय म विष्वक्सेन सहिता के उद्धरण का देखो। पृ० १२६, १२७।

[4] तत्वत्रय, पृ० १२८।

[5] मदिच्छया ही गौणत्व मनुष्यत्वमिवेच्छया-अप्राकृत स्वासाधारण विग्रहेण सह

से दिया जलता है, इसलिए ये अवतार स्वरूप अनुभवातीत है और सासारिक अवतारो से भिन्न है। मुमुक्षु को इन अवतारा की आराधना करनी चाहिए, अन्य किसी की नही।[1] तत्वत्रय मे उल्लिखित विष्वक्सेन संहिता के आधार पर ब्रह्मन् शिव, बुद्ध, व्यास, अर्जुन, पावक और कुबेर ईश्वर प्रेरित व्यक्ति या आवेशावतार हैं जिनकी आराधना मुमुक्षु को नही करनी चाहिए। इसी अनुसधान मे अन्य सहिताएँ राम, आत्रेय, कपिल इत्यादि को भी इसी वर्ग मे सम्मिलित करती है।

पुन प्रत्येक व्यूह से तीन उप व्यूह प्रकट होते है। वासुदेव मे से केशव, नारायण और माधव, सकर्षण से गोविन्द, विष्णु और मधुसूदन, प्रद्युम्न से त्रिविक्रम वामन और श्रीधर और अनिरुद्ध से हृषीकेश, पद्मनाभ और दामोदर प्रकट होते हैं। ये सब देवता प्रत्येक मास के अध्यक्ष हैं जो बारह राशियो के सूर्यों के प्रतिनिधि है। ये देवता मात्र ध्यान करने के हेतु से ही उत्पन्न किए गए हैं। इनके अतिरिक्त, अहिर्बुध्न्य सहिता मे ३९ विभव अवतारो का भी उल्लेख है।[2] वरवर के कथनानुसार जिन

नागत गोणस्य मनुष्यत्वादिवत्, आप्राकृत दिव्य सस्थानम् इतर जातीय कृत्वा अवतार रुपत्वाभावात् स्वरूपेण नागतमिति सिद्धम्।

—तत्वत्रय पृ० १३०।

[1] प्रादुर्भावास्तु मुख्या ये मदशमात्वात् विशेषत
अजहत्स्वभावाविभवा दिव्या प्राकृत विग्रहा
दीपात् दीपा इवोत्पना जगतो रक्षणाय ते
आर्या एव हि सेनेश ससृत्युत्तरणाय ते
मुख्या उपास्या तनेश नर्च्यानितरान् विदु ॥

—तत्वत्रय, पृ० १३१।

[2] अहिर्बुध्न्य सहिता पृ० ४६। विष्वक्सेन सहिता के मतानुसार समस्त अवतार अनिरुद्ध से उत्पन्न है या अन्य अवतारो से उत्पन्न हुए हैं। ब्रह्म अनिरुद्ध से हुए और उनसे महेश्वर तथा हयशीर्ष मत्स्य से हुए, जो कृष्णावतार है। पद्म तंत्र के आधार पर, मत्स्य कूर्म, वराह वासुदेव से नृसिंह और वामन और श्रीराम, परशुराम सकर्षण से बलराम प्रद्युम्न से तथा कृष्ण और कल्कि अनिरुद्ध से उत्पन्न हुए हैं। (पद्म तंत्र १–२–३१ इत्यादि) किन्तु लक्ष्मी तंत्र के आधार पर (२–५५) समस्त विभव अनिरुद्ध से आए हैं। एक अन्य प्रकार का और भी अवतारक माना है जो अर्चावतार है। कृष्ण नृसिंह इत्यादि की मूर्ति जब वैष्णव क्रिया कर्म द्वारा प्रतिष्ठित की जाती है तब उसमे विष्णु की शक्ति अवतरित हो जाती है जिससे भक्त को मूर्ति मे इन्ही शक्तियो का अनुभव होता है (विष्वक्सेन सहिता तत्वत्रय मे उल्लिखित) विष्णु जब अनिरुद्ध के रूप मे समस्त पर नियत्रण

उद्देश्यो को ध्यान मे रखकर इन अवतारो का आविर्भाव हुआ है वे तीन उद्देश्य है। जो ऋषि अवतार के बिना नही रह सकते उन्ह सगति देने के हेतु से इन्हे (अवतारो को) प्रकट किया गया है यह प्रथम है। गीता मे उल्लिखित परित्राण शब्द का अर्थ यही

करते है तब उसे अतर्यामी अवतार कहते हैं। इस प्रकार चार प्रकार के अवतार माने गए है जसे विभव, आवेश अर्चा और अतर्यामी। ३६ विभव अवतार, पद्मनाभ ध्रुव, अनंत सत्यकाम, मधुसूदन, विद्याधिदेव, कपिल विश्वरूप विहगम, क्रोडात्मन् वडवावक्त्र धर्म, वागीश्वर, एकार्णवशायिन् कमठेश्वर वराह, नरसिंह, पियूषहरण, श्रीपति, कान्तात्मन्, राहुजित, कालनेमिघ्न, पारिजात हर, लोकनाथ, शान्तात्मन्, दत्तात्रेय, न्यग्रोधशायिन् एकशृगतनु वामन देव, त्रिविक्रम, नर, नारायण हरि, कृष्ण, परशुराम, राम, वेदविद्, कल्किन, पाताल शयन है। सात्वत सहिता और अहिर्बुध्न्य सहिता के अनुसार वे तेज रूप है और अपने विशेष रूप मे पूजा के योग्य है। (सा० स १२) (अ०बु० ६६) महाभारत के नारायणीय प्रकरण मे विहगम या हस, कमठेश्वर या कूर्म, एक शृगतनु या मत्स्य, वराह नसिंह, वामन परशुराम और राम वेदविद् और कल्किन् इत्यादि दस अवतारो का उल्लेख है। क्रोडात्मन् लोकनाथ और कान्तात्मन् अवतारा का उल्लेख है। क्रोडात्मन् लोकनाथ और कान्तात्मन् अवतारा का क्रमश कभी यज्ञ वराह, मनु ववस्वत और काम भी कहा है। काम को कभी धन्वन्तरि भी कहते हैं (श्राडर का पचरात्र देखो पृ० ४५)। भागवत पुराण मे कथित २३ अवतार (१–३) उपरोक्त सूची के अतर्गत आ जाते हैं। किन्तु यह शकास्पद है, जसा कि श्राडर कहते हैं कि वागीश्वर और हयग्रीव, सनत्कुमार और सनक या नारद एक ही हैं। श्री रूप रचित लघु भागवतामृत मे कथित विभव अवतार भी अधिकतर उपरोक्त सूची म आ जाते हैं यद्यपि कई नामा मे परिवर्तन दीखता है। ब्रह्म सहिता के प्रमाण पर रूप कृष्ण को इश्वर का स्वय रूप मानते हैं। उनका मत है कि इश्वर से एक रस हो, वे अनेक रूप धारण कर सकते है इसे एकात्म रूप अवतार कहते हैं। वह एकात्म रूप अवतार भी दो प्रकार का होता है, स्व विलास और स्वाश। जब अवतार बल और गुणो म ईश्वर के समान होते है तो उन्हे स्वाशावतार कहते हैं। वासुदव स्वविलासावतार कहे गए है। किन्तु जब अवतार मे निम्न (अल्प) गुण होते हैं तो वे स्वाशावतार कहलाते हैं। सकर्षण, प्रद्युम्न अनिरुद्ध मत्स्य कूर्म इत्यादि स्वाशावतार कहे जाते हैं। इश्वर जब अपने अश गुणो से किसी मे प्रविष्ट होता है तो वह आवेशावतार कहलाता है। नारद, सनक, इत्यादि आवेशावतार है। उपरोक्त रूपो म इश्वर का ससार के कल्याण के लिए प्रकट होना अवतार कहलाता है।

है। इन अवतारों का प्रगट करने का दूसरा हेतु साधुओं के विरोधियों को नाश करना है। तीसरा हेतु वेद धर्म की स्थापना अर्थात् ईश्वर भक्ति की स्थापना है।[1]

ईश्वर, अंतर्यामी के रूप में हमारा नियंत्रण करता है उसी की प्रेरणा से हम पाप करके नरक जाते हैं और पुण्य करके स्वर्ग में। इस प्रकार हम अंतर्यामी ईश्वर से कहीं भी बच नहीं सकते। अन्य रूप में वह हमारे हृदय में रहकर हमारे ध्यान का विषय बनता है।[2] पुन, जब कोई मूर्ति की, चाहे मिट्टी, पत्थर या धातु की हो, योग्य क्रिया द्वारा प्रतिष्ठा की जाती है तब वह ईश्वर की सत्ता और विशेष शक्ति से प्रेरित होती है। इन्हें अर्चावतार कहते हैं अर्थात अर्चना द्वारा ईश्वर की पूजा के हेतु मूर्ति में अवतरण होना। इससे समस्त कामनाएं प्राप्त हो सकती हैं। इस प्रकार से ईश्वर की पाँच प्रकार की सत्ता है, पहली परा, दूसरी व्यूह, तीसरी विभवावतार, चौथी अन्तर्यामिन् और पाँचवी अर्चावतार है।[3]

अहिर्बुध्न्य संहिता में ऐसा कहा है कि सुदर्शन या दिव्य संकल्प की शक्ति द्वारा (जिससे व्यूह उत्पन्न होते हैं) एक सुदर्शन के समान कान्ति वाला स्थान उत्पन्न होता है, जो ज्ञान रूप एवं आनन्द रूप है। यहां पर भोग का अनुभव आनन्दमय होता है, जो ज्ञान रूप है। यहां पर के समस्त अनुभव आनन्दमय होते हैं तथा इस अनुभवातीत आध्यात्मिक जगत् के वासी भी आनन्द स्वरूप होते हैं। उनके देह भी ज्ञान और आनन्दमय होते हैं।[4] इस जगत के वासी प्रलय के समय मुक्त हो जाते हैं। वे जिस प्रकार सांसारिक जीवन में ईश्वर से अनुरक्त थे वैसे अब भी ईश्वर में अनुरक्त रहते हैं।[5]

---

[1] तत्वत्रय। पृ० १३८ साधु शब्द की यहां व्याख्या इस प्रकार की गई है।
'निमत्सर मत्समाश्रयणे प्रवृत्त मन्नाम कर्म स्वरूपाणां वाङ्मनसा गोचरतया मद्दर्शनेन विना आत्म धारणपोषणादिकम् अलभमाना क्षणमात्र काल कल्प सहस्र मन्वाना प्रशिथिल सर्वगात्रा भवेयु।"

[2] तत्वत्रय, १३६ १४०।

[3] तत्वत्रय में विश्वक्सेन संहिता का संदर्भ देखो। पृ० १२२।

[4] शुद्धा पूर्वोदिता सृष्टिर्या साव्यूहादि भेदिनी।
सुदर्शनाख्यात्संकल्पात्तस्यैव प्रभोज्ज्वला॥
ज्ञानानन्दमयीस्त्याना देशभाव व्रजत्युत।
सदेश परम व्योम निर्मल पुरुषात्परम्। इत्यादि। अ० सं० ६-२१-२२।

[5] अहिर्बुध्न्य संहिता ६ २६।

ईश्वर अपने श्रेष्ठ रूप म हमेशा अपनी शक्ति लक्ष्मी या श्री से सलग्न रहते हैं।[1] तत्वत्रय और वरवर रचित उसकी टीका म हम तीन सहधर्मिणी देवियां, लक्ष्मी भूमि और नीला का उल्लेख मिलता है। श्राडर ऐसा कहते हैं कि विहगेंद्र सहिता और सीता उपनिषद् मे इन्हें इच्छा, क्रिया और साक्षात्शक्ति माना है। सीता उपनिषद् मे, जिसका ज्यादा उल्लेख करते हैं सीता को महालक्ष्मी कहा गया है जो इच्छा, ज्ञान और क्रिया रूप से प्रकट है। यहा सीता को, महेश्वर से पृथक् एव एक रूप शक्ति माना है जिसमे जगत् के समस्त चित् और अचित् पदार्थों का समावेश है। वह लक्ष्मी, भूमि और नीला के विविध रूप मे भी विद्यमान है। कल्याण, शक्ति और सूय, चन्द्र और अग्नि भी इसी के रूप हैं। तीसरे रूप से यहा शक्ति द्वारा सारी ओषधिया उगती हैं और काल का निर्णय होता है।[2]

अहिर्बुध्न्य सहिता के छठे अध्याय म मध्यवर्ती सग का वर्णन है। परम अहकार के रूप मे ईश्वर की शक्ति उससे पृथक् एव अभिन्न है। ईश्वर अपनी शक्ति के बिना रह नहीं सकता और न शक्ति उसके बिना। ये दोनो जगत् के मूल कारण हैं। व्यूहा और विभवा के रूप मे ईश्वर की अभिव्यक्ति निर्मल या शुद्ध कही गई है क्योंकि इनके ध्यान द्वारा ही योगी अपने इष्ट को पा सकते हैं।[3] व्यूह और विभव से अशुद्ध (शुद्धेतर) सृष्टि उत्पन्न होती है। शक्ति के दो प्रकार हैं, क्रिया शक्ति और भूत शक्ति। भूत शक्ति को सकल्पमयी मूर्ति माना जा सकता है। इस शक्ति में अतर्निहित क्रिया व्यापार, विचार और सप्रत्यय रूप में प्रकट होते हैं।[4] अशुद्ध सृष्टि

---

[1] अहिर्बुध्न्य सहिता, ६–२५।

[2] सीता उपनिषद् में इच्छा, क्रिया और साक्षात्शक्ति के अनोखे अथ पाये जाते हैं। सात्वत सहिता (६–८५) में १२ अन्य शक्तिया का उल्लेख मिलता है।

लक्ष्मी, पुष्टिदया निद्रा, क्षमा काति सरस्वती,
धृतिर्मैत्री रतिस्तुष्टिमति र्द्वादशमी स्मृता ॥

श्राडर का पचरात्र भूमिका देखो पृ० ५५, इन शक्तिया का अवतारा से सबध है।

[3] श्राडर, पद्म तत्र के आधार पर कहते हैं कि पर रूप म ईश्वर का कभी व्यूह वासुदेव से तादात्म्य या कभी भेद किया गया है। परा वासुदेव अपने अध भाग से व्यूह वासुदेव बनते हैं और नारायण रूप से रहते हैं जो माया के सजक हैं।

–पचरात्र पृ० ५३।

[4] भूति शुद्धेतरा विष्णो पुरुषो द्विचतुर्मय।
स मनूना समाहारो ब्रह्म क्षत्रादिभेदिनाम ॥ –अहिर्बुध्न्य सहिता ६, ८-६।

पुरुष, गुण और काल रूप से तीन प्रकार की है। पुरुष को चारवर्णों के स्त्री पुरुष युगल की (सहति) इकाई माना है, ये चार युगल प्रद्युम्न के मुख, छाती जघा एव पैर से उत्पन्न हुए माने गये है। प्रद्युम्न के ललाट भकुटि और कर्ण से काल और गुण की सूक्ष्मावस्था उत्पन्न होती है। इन सबके प्रगट होने पर इस सृष्टि का विकास और प्रगति अनिरुद्ध के आधीन होती है फिर वे योग के उत्साह से, काल और नियति रूपी द्विविध समय का निर्माण करते है। अनिरुद्ध ने क्रम से सत्व रजस और तमस् रूप मौलिक शक्ति को भी उत्पन्न किया। गुण रूप मे विद्यमान आदिम भूत शक्ति से जिसे सजातीय साहित्य मे प्रकृति भी कहते हैं पहले सत्व गुण का विकास हुआ। इसके बाद सत्व से रजस का और फिर रजस से तमस का विकास हुआ। इस मूलभूत भावकसित गुण का प्रद्युम्न से आविर्भाव हुआ। जिसे दूसरे शब्दो म प्रकृति भी कह सकते हैं, जो अनिरुद्ध के उत्साह से ससिक्त होकर क्रम से पहले सत्व रजस और तमो गुण मे व्यक्त होता है। इसलिये इस सिद्धा त का परिमित अर्थ म ही सत्कार्यवाद कहा जा सकता है क्योकि अनिरुद्ध के उत्साह से ससिक्त हुए बिना, प्रकृति तीना गुणा का उत्पन्न नही कर सकती।[१]

अनिरुद्ध प्रद्युम्न द्वारा केवल जड प्रकृति का विकास करने के लिये ही नही थे कि तु पुरुष को भी, जो उस शक्ति म निहित है नियति और काल रूप मे प्रकट करने का प्रेरित किये गये थे। जड रूप नियति और काल से प्रथम सत्व, सत्व से रजस और रजस से तमस का विकास होता है। विष्वक्सेन सहिता के आधार पर, अनिरुद्ध ने ब्रह्म का उत्पन्न किया और ब्रह्मा ने चार वर्ण के स्त्री पुरुषा का उत्पन्न किया।[२]

---

[१] अतस्थ पुरुषा शक्ति ता मादाय स्वमूर्तिगाम।
सवर्धयति योगेन ह्यनिरुद्ध स्वतेजसा॥ –अहिर्बु ध्य सहिता ६ १४।

[२] विष्वक्सेन सहिता इस सम्ब ध मे वैदिक लागा की आलोचना करती है जो एकेश्वरवाद का नही मानते थे कि तु स्वग प्राप्ति के लिए वैदिक यज्ञ और कर्मकाण्ड पर आस्था रखते थ। इससे अ त म उनका सासारिक जीवन मे पतन हो गया

त्रयीमार्गेषु निष्णाता फलवादे रमन्ति ते
देवा दीने व म वाना न च मा मेनिरे परम
तम प्रायास्त्विम केचिद् मम निंदा प्रकुर्वते
सलापम कुर्वते व्यग्र वदवादेषु निष्ठिता
माम् न जानन्ति मोहेन मयि भक्ति पराङ मुख
स्वर्गादिषु रमन्त्येते अवसाने पतन्ति ते।

–तत्वत्रय, पृ० १२८।

सर्वात्मनाम् समष्टिर्या कोशा मधु कृतामिव। –अहि० स० ६–३३।

बुद्धि तमोगुण से उत्पन्न होती है, उससे अहकार और अहकार से पच तन्मात्र और ११ इद्रिया भी उत्पन्न होती हैं। पच तन्मात्र से पच महाभूत होते हैं। जितने समस्त भूत पदार्थ हैं वे पच महाभूत के ही प्रकार हैं।

यहा पुरुष का विशेष अर्थ किया गया है जो साख्य मतानुसार नही है। पुरुष का अर्थ समस्त आत्माओ की समष्टि रूप म किया गया है जैसे मधुमक्खियो का छत्ता। ये जीव अनादि वासना से सयुक्त होते है व ईश्वर के विशिष्ट भेद हैं (भूति भेदा) वे स्वरूप मे सवज्ञ है परन्तु वे क्लेश और अविद्या से व्याप्त है जो भगवत् शक्ति रूप माया से प्रेरित होती है। वे ईश्वर के विशेष रूप हैं (भूतिभेदा) और स्वरूप से सवज्ञ है और ईश्वर शक्ति स प्रेरित हो उसकी सकल्प गति के अनुसार ये अविद्या तथा क्लेश मे फसे रहते हैं।[1] यह आत्मा इस प्रकार अशुद्ध और सीमित होने से जीव कही गयी है। आत्मा बधन के दुख से पीडित होती है और मुक्ति का प्रयास करती है जिस वह अन्त मे प्राप्त करती है। इन्ही अशुद्ध जीवो स पुरुष बना है अत अशत अपवित्र होने के कारण शुद्धघशुद्धिमय है। (शुद्धघशुद्धिमय ४-३४) इस पुरुष म समस्त मानव बीज रूप से स्थित हैं, जिन्हें मनु कहा गया है। वे क्लेश और कर्माशय रहित हैं, सवज्ञ हैं और पूर्ण रूप से ईश्वर प्रेरित हैं। किन्तु इनका माया के साथ सम्बन्ध ईश्वर इच्छा से होते हुए भी ऊपरी ही है। लिंग और वर्ण भेद के बीज का सनातन और सर्वातीत माना गया है (पुरुष सूक्त से तुलना करो) यह भेद मानव (मनु) के चारो जोडो म भी है। अविद्या चित्त की आध्यात्मिक गति का अनुकरण करती है, इसी से जीव शुद्ध होते हुए भी वासना युक्त होते हैं। ये जीव इस सयोग की अवस्था म विष्णु सकल्प से प्रेरित होकर ही रहते हैं जिसे पुरुषपद कहा है।[2] व ईश्वर के स्वरूप मे अवतरित और तिरोहित होते दिखाई देते हैं। ईश्वर के रूप होने से ये अजन्मा सनातन और ईश्वर के भूत्यश के भाग हैं।

ईश्वर के सकल्प की प्रेरणा से, अनिरुद्ध मे एक शक्ति उत्पन्न होती है। ईश्वर के सकल्प से पुन प्रेरित होकर उपरोक्त कथित मनु इस शक्ति म प्रवेश कर पिण्ड रूप से रहता है (तिष्ठन्ति कलशीभूता ६ ४५) विष्णु की शक्ति के दो प्रकार हैं, जिन्हें क्रिया रूप और भूति कहा गया है। भूति, क्रियाख्य स उत्पन्न है।[3] यह गतिशील

---

[1] आत्मनो भूति भेदास्त सवज्ञा सवतोमुखा,
भगवच्छक्ति मायकमन्द तीव्रादि भावया
तत्तत् सुन्दनामेष निमेषानुकृतात्मना,
सवतो विध्या विद्धा क्लेशमाया कर्मीकृता ॥ –अहि० सहिता ६ ३५ ३६।
[2] विष्णा सकल्प रूपेण स्थित्वास्मिन् पौरुषे पदे। –वही ६ ४१।
[3] क्रियाख्यो यो य सुन्मेष स भूति परिवतक। तवही, ६ २६।

क्रिया ईश्वर से भिन्न है जो शक्ति का अधिपति है। इसके अनेक नाम दिये गये हैं,– लक्ष्मी, सकल्प, स्वतन्त्र इच्छा (स्वातत्र्य मूल इच्छात्मा)। यह इच्छा क्रिया, कल्पना के मानसिक चित्र पट खडे करती है (प्रेक्षारूप क्रियाफल) और पुन अव्यक्त, काल और पुरुष उत्पन्न करती है। सृष्टि रचना के समय ईश्वर अव्यक्त को विकासोन्मुख बनाता है, काल को कलन के साथ सयुक्त करता है और पुरुष का सुख दुख के अनुभव करने की स्थिति मे ले जाता है। प्रलय के समय इन शक्तियो का सकोच कर लिया जाता है।

ईश्वर की शक्ति म स्थित गर्भस्थ मनु म काल और गुण रहते हैं। विष्णु की सकल्प शक्ति की उत्तेजना से काल शक्ति नियति उत्पन्न होती है (विष्णु सकल्प चोदिता) जिससे सृष्टि का नियन्त्रण होता है (सर्व नियामक)। काल और गुण ईश्वर शक्ति के गर्भ मे रहते हैं। इस प्रकार यहा शक्ति का अर्थ साख्य पातजल मतानुसार प्रकृति से भिन्न है क्योकि गुण इस मतानुसार मूल पदार्थ हैं और काल गुणो के व्यापार के अतर्गत तत्व समझा गया है। काल शक्ति से नियति उत्पन्न होती है इसी कारण से मनु भी इसी स्तर के तत्त्व हैं। तत्पश्चात् ईश्वर के सकल्प द्वारा नियति मे से काल की उत्पत्ति होती है तब मनु फिर इसी स्तर मे प्रवेश करते हैं।[1] ऊपर हम कह चुके हैं कि काल शक्ति और गुण, विष्णु की आद्य शक्ति मे एक साथ रहते हैं। यह बीजभूत गुण ही काल क्रम से अपने को अभिव्यक्त करता है। जब सत्वगुण काल के सयोग में प्रथम उत्पन्न होता है तब मनु इस पदार्थ मे प्रवेश करते हैं और तत्पश्चात् सत्त्व से रजस और रजस से तमस के आविर्भाव के साथ उनकी कोटि मे अवतरित हो जाते हैं। गुणो का क्रमबद्ध विकास विष्णु की सकल्प शक्ति द्वारा ही होता है। यद्यपि विष्णु की सकल्प शक्ति उत्तरोत्तर विकास क्रम से सर्वव्यापी एव अलौकिक है तो भी विष्णु विशेष रूप से सत्त्व गुण के अधिपति माने गये है तमस, भारी (गुरु) विष्टम्भक, मोह पैदा करने वाला (मोहन) और स्थिर (अप्रवृत्ति मत्) हैं रजस सदैव चलित और दु खदायक है। सत्त्व, उज्वल, स्वच्छ अशुद्धि रहित और सुखदायक है।[2] विष्णु के सकल्प से तीनो गुणो के विकास द्वारा गुणो का

---

[1] प्रलय क्रम का वर्णन करते हुए ऐसा कहा है कि एक समय जगत् केवल काल रूप ही रहता है। समय म प्रगट होने वाली शक्ति को काल कहा है (कालगत शक्ति) और यही शक्ति सब पदार्थों को गति देती है और परिणाम करती है (अशेष प्रकृत लिनी) अहि० स० ४ ४८ काल को समस्त पदार्थों का तोडने वाला साधन भी कहा जिस प्रकार नदी का वेग किनारा को तोड देता है।

कलयत्यखिल काल्य नदी कूल यथा रय। –वही ६ ५१।

[2] सत्व तत्र लघु स्वच्छ गुणरूप मनामयम् — अहि० स० ६ ५२।
तदएतद् प्रचल दु ख रज शश्वत् प्रवृत्तिमत् — अहि० स० ६ ५७।
गुरु विष्टमक्त शश्व मोहन चाप्रवृत्तिमत् - — अहि० स० ६ ६०।

कुछ अश एक रूप बन जाता है, (अगुण्य) इस अवस्था में तीनो गुण एकाकार हो जाते हैं (गुण साम्य) और यहां स्वभाव, अविद्या योनि, अक्षर और अयोनि एव गुण योनि की स्थिति पाई जाती है।[1]

गुणो की इस प्रकार समानानुपात अवस्था का गुणो का साम्य कहा है, जो तमोमय है उस साख्य मतानुसार मूल अथवा प्रकृति कहा गया है। जब मनु का इसमे प्रवश होता है तब उसे समष्टि, पुरुष, योनि और कूटस्थ सज्ञा दी जाती है। काल तत्त्व, जो जगत् के परिणाम का कारण है, (जगत सप्रकल्यनम्) फलोदय के हेतु से पुरुष और प्रकृति से सयुक्त वियुक्त होता रहता है। विष्णु की सकल्प शक्ति काल, प्रकृति और मनु के त्रिविध सघात द्वारा कार्यान्वित होती है और वह मिट्टी के पिण्ड की तरह उपादान कारण बनकर महत् से लेकर मिट्टी, जल इत्यादि सारे तत्त्वो को उत्पन्न करती है। प्रकृति पानी या मिट्टी की तरह विकासात्मक या उपादान कारण है, पुरुष अपरिणामी रहता हुआ केवल अपने सान्निध्य से ही।[2] विविध परिणामो को रूप देता है। काल पुरुष और प्रकृति का अंतस्थ गतिशील तत्त्व है। प्रकृति पुरुष और काल की त्रयी, उत्पन्न होने वाले समस्त तत्वो का आधार है। इस त्रयी में प्रकृति जो परिणामशील है, उपादान कारण है, पुरुष अपने मे कूटस्थ रहता हुआ भी अपने सानिध्य से ही परिणाम की क्रिया को अवसर देता है और काल तत्त्वो के अन्त सश्लेषणात्मक व सरचनात्मक कारण को गतिशीलता प्रदान करता है। कि तु ये कारण स्वत उक्त त्रयी क विकास के लिये पर्याप्त नही हैं। त्रयी, ईश्वर की दवी शक्ति से ही विकासो मुख होती है। पुरुष अधिष्ठान कारण माना गया है, काल भीतर घटित होने वाली क्रिया का सिद्धान्त है और ईश्वर की सकल्प शक्ति

---

[1] सुन्शनभयनश्च सकल्पेनात्र वै हरे।
चोद्यमानेऽपि सष्ट्यर्थं पूर्ण गुणयुग तदा
अशत साम्यमा याति विष्णु सकल्प चोदितम्॥ —अहि० स० ६, ६१-६२।

यह पाठ क्लिष्ट है यह समझ म नहीं आता कि गुण अशत एक रूप कसे हो सकते हैं। सम्भवत यह अथ हो सकता है कि जब गुण विकासो मुख होते हैं तब गुण अपने विशेष व्यापार को नहीं प्रगट कर सकते ह और दूसरे गुणो से एक सरीखे दीखने लगते ह। इस अवस्था मे विकासो मुख विशेष गुण का अपना विशेष व्यापार नष्ट प्राय हो जाता है और व तमस जसे दीखने लगते ह। जिस प्रमाण मे सत्त्व तमस जैसा दीखता है उसी प्रमाण म तमस रजस जसा दीखने लगता है।

[2] पयोमृदादिवत् तत्र प्रकृति परिणामिनी
पुमानपरिणामी सत् सन्निधानेन कारण
काल पचति तत्त्वे द्वे प्रकृति पुरुष च ह॥ —अहि० स० ७, ५-६।

अलौकिक और व्यापक कर्तृत्व रूप से स्थित है जिसमें कारण रूप त्रयी अपनी गति का मूल आधार पाती है। विकास के क्रम में पहला तत्त्व महत् उत्पन्न होता है, जिसे सत्व रजस और तमस की विशेष अभिव्यक्ति के आधार पर अनेक नाम से जाना जाता है जैसे विद्या, गौ यवनी, ब्राह्मी, वधू मति, वृद्धि मधु, अख्याति, ईश्वर और प्रज्ञा। सत्व रजस या तमस के विशेष उन्मेष को ध्यान में रखते हुए, तमस, सत्व और रजस की विशेष अभिव्यक्ति के अनुसार इसे क्रम से काम बुद्धि और प्राण कहते हैं।[1] पल और क्षण रूप में स्थूल काल, बुद्धि और प्राण भी महत् के त्रिविध भेद हैं।[2] बुद्धि और प्राण की शक्ति मानो काल के ही द्वारा व्यक्त रूप धारण करती है। विचार और कर्म का सामंजस्य काल द्वारा होता है क्योंकि काल को कलन कारण, या संरचनात्मक कारण माना गया है। महत् का सात्विक अंग, धर्म ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य के रूप में प्रकट होता है और तमोऽभिभूत अंग इससे विपरीत गुणों को प्रकट करते हैं।

महत् के प्रकट होने के साथ ही मनु का उसमें अवतरण होता है। महत् में से और महत् में इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं जिनसे विषयों के सत् असत् रूप का अनुभव होता है।[3] पुनः महत् में से और महत् में ही अहंकार की उत्पत्ति विष्णु के संकल्प की प्रेरणा से होती है।[4] अहंकार की चार भिन्न संज्ञाएँ दी गई हैं जैसे अभिमान, प्रजापति अभिमन्ता और बाढ़ा। अहंकार की सत्व रजस् या तमस के प्राधान्य से वैकारिक तैजस और भूतादि तीन किस्में हैं। अहंकार, इच्छा, क्रोध तृष्णा मनस् और तृषा के रूप में अभिव्यक्त होता है। जब अहंकार उत्पन्न होता है तो मनु उसमें प्रवेश करते हैं अहंकार में मनु का चिन्तनात्मक इन्द्रिय रूप मनस प्रकट होता है। इसी स्तर पर पहुँचने के बाद ही मनु, सब प्रथम चिन्तन करने योग्य बनते हैं। भूतादि रूप तमोमय अहंकार से शब्द तन्मात्रा की उत्पत्ति होती है जिससे आकाश प्रकट होता है। आकाश का गुण शब्द है जो सबको अवकाश देता है। आकाश का इस प्रकार रिक्त अवकाश कहना योग्य है जो शब्द गुण युक्त है।[5] आकाश के उत्पन्न होते ही मनु आकाश में प्रवेश करते हैं। वैकारिक अहंकार से वाक् और श्रवणेंद्रिया

---

[1] कालो बुद्धिस्तथा प्राण इति त्रेधा स गीयते।
तम सत्वरजो भेदात् तत्तदुन्मेष संज्ञया॥ —अहि० स० ७-९।

[2] कालस्त्रुटिलवाद्यात्मा बुद्धि रध्यवसायिनी,
प्राण प्रयतनाकार इत्येता महतो भिदा। —वही ७-११।

[3] बोधनं नाम वैद्यम् तदिन्द्रिय तेषु जायते।
येनार्थाध्यवस्येयु सदसत प्रविभागिन। —वही, ७-१४।

[4] विषया उदरे तत्राहङ्कतनीम जायते। —वही, ७-१५।

[5] शब्दकगुणम् आकाश अवकाशप्रदायीच। —अहि० स० ७-२२।

उत्पन्न होती हैं।[1] मनु इस स्तर पर इन इन्द्रियों से संयुक्त हो जाते हैं। विष्णु की सकल्प शक्ति के प्रभाव से, भूतादि मे से स्पर्श तन्मात्रा उत्पन्न होती है जिससे वायु प्रगट होती है, वैकारिक अहकार से, विष्णु की कल्पना शक्ति द्वारा स्पर्शेन्द्रिया तथा हस्तादि कर्मेन्द्रियाँ प्रकट होती हैं। यहाँ पर मनु का इन ग्रहणशील और क्रियाशील इन्द्रियों से सबध हो जाता है। भूतादि से रूप तन्मात्रा उत्पन्न हो जाती है जिससे फिर स्थूल तेज प्रकट होता है। पुन वैकारिक अहकार से चक्षु इन्द्रिय और पाद रूप कर्मेन्द्रिय प्रकट होती हैं और मनु का फिर इन इन्द्रियों से सम्बन्ध होता है। भूतादि से रस तन्मात्रा और उससे जल या आप उत्पन्न होते है। तदुपरान्त, वैकारिक अहकार से रसनेंद्रिय और लिंग उत्पन्न होने पर मनु का इनसे सम्बन्ध होता है। पुन भूतादि से घ्राण तन्मात्रा और इससे पृथ्वी उत्पन्न होती है। फिर वैकारिक अहकार से ज्ञानात्मक घ्राणेंद्रिय और उपस्थ उत्पन्न होते हैं। विष्णु की सकल्प शक्ति से प्रेरित होकर मनु फिर इसमे प्रवेश करते हैं।[2]

उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट होता है कि एक ज्ञानेन्द्रिय और एक कर्मेन्द्रिय, प्रत्येक तन्मात्रा के विकास के साथ उत्पन्न होती है तथा पूर्ण विकास होने पर दसो इन्द्रियाँ युगल रूप से प्रकट हो जाती हैं। भूतादि के क्रमश प्रलय का वर्णन किए गए अध्याय मे यह बताया है कि प्रत्येक भूत के प्रलय के साथ, उससे उत्पन्न इन्द्रिय युगल का भी साथ साथ प्रलय होता है। इससे यह अर्थ निकलता है कि हरेक स्तर पर भूत तत्व और कर्म तथा ज्ञानेंद्रियों के बीच सहकार है। ज्यो ज्यो क्रम से तत्वो का विकास होता है त्यो त्यो जीव उनमे प्रवेश करते है, इससे यह अर्थ निकलता है कि जीव अनादिकाल से तत्वो के विकास से सबधित होने के कारण इन्द्रिय तथा उनके विषयो से भी सरलता मे मिल जाते हैं। जब समस्त भूतादि तथा दस इन्द्रियाँ विकसित हो जाती हैं तब कल्पना के कार्य, सकल्प शक्ति (सरम्भ) और मनस् अहकार और बुद्धि से पच प्राण उत्पन्न होते हैं। इन तत्वों के विकास से व्यक्तित्व का निर्माण होता है।[3] प्रलय क्रम विकास क्रम से ठीक उलटा है।

---

[1] तदा वैकारिकात् पुन श्रोत्रम् वाग्इति विनान कर्मेंद्रिययुग मुने।
—अहि० स० ७ २३, २४।

[2] अहि० स० ७ ३९–४०।

[3] सकल्प श्चैव सरम्भ प्राणा पचविधास्तथा,
मनसो हङ्कृतेबु द्धेर्जायते पूर्व मेव तु,
एव सपूर्ण–सर्वगा प्राणापानादिसयुता
सर्वेंद्रियतुता स्तत्र देहिनो मनवो मुने॥
—अहि० स० ७, ४२–४३।

मनु अपनी पत्नियों में अनेक पुत्रों को जन्म देते हैं जो मानव कहलाए हैं। वे पुन और अन्य अनेक पुत्रों को जन्म देते हैं जो चारों वर्णों में नव मानव नाम से जाने गए हैं। उनमे से वे जो विवेक ज्ञान द्वारा अपना काय १०० वर्षों तक पूर्ण करते हैं वे हरि मे वास करते हैं और जो सकाम सेवा करते हैं वे कर्मानुसार आवागमन मे ही रहते हैं। ऊपर कहे अनुसार मनु कूटस्थ पुरुष का व्यक्ति रूप है। सारे जीव इस प्रकार विष्णु के भूत्यंश हैं। प्रकृति जो विद्या भी है और सृष्टि रचना के समय जल रूप म अपने को बरसा कर अन्न की सृष्टि करती है और प्रलय के समय, शुष्क ताप रूप है, वह जब मेघ का रूप धारण करती है तब अन्न उपजाती है। प्रकृति द्वारा इस प्रकार उत्पन्न किए अन्न को खाकर मनुष्य अपनी पूर्ण ज्ञान की मूलावस्था से गिर जाता है (ज्ञान भ्रशम् प्रपद्यते)। इस समय आदि मनु, जो मनुष्य सवज्ञता से च्युत हो गए हैं, उनके लिए शास्त्र प्रकट करते हैं।[1] उसके बाद ही जीव शास्त्रों के आदेशों का अनुगमन करते हुए अपने सर्वोच्च ध्येय को प्राप्त करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि चतन्य आनंद और क्रिया शक्ति रूपी विष्णु भावक और भाव्य रूप मे विभाजित हो जाते हैं। पहली विष्णु की सकल्प शक्ति है और दूसरी शक्ति सकल्प शक्ति का विषय बनती है। इससे शुद्ध और अशुद्ध सृष्टि उत्पन्न होती है। चारों मनुओं का जनक कूटस्थ पुरुष शुद्ध और अशुद्ध सृष्टि के बीच स्थित है।[2] विष्णु की सुदर्शन शक्ति के बाहर कुछ भी नहीं है।

✓ जीव और ईश्वर के बीच क्या सबध है इस प्रश्न के बारे मे पचरात्र और अहिर्बुध्न्य सहिता का यह मत है कि प्रलय मे जीव विष्णु मे अव्यक्त रूप से रहते हैं

इस प्रकार तेजस अहकार के सयोग से भूतादि से पच तन्मात्र शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गधादि उत्पन्न होते है। इन्ही पाँचो म से उसी क्रम से पाच भूत उत्पन्न होते हैं जसे आकाश वायु तेजस, अप और पृथ्वी। पुन तेजस और वकारिक अहकार के सयोग से पाच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं।

[1] तत्तु वैद्यम पय प्राश्य सर्वे मानवमानवा।
ज्ञान भ्रन्नाम प्रपद्यन्ते सवज्ञा स्वत एवते ॥ —अहि० स० ७, ६१–६२।
इसे यहूदी ईसाई मत के साथ तुलना कीजिए जैसाकि श्राडर ने अपने ग्रथ मे लिखा है। पृ० ७८।

[2] अशयो पुरुषो मध्येय स्थित स चतुयुग
शुद्धेतरमय विद्धि कूटस्थ तत् महामुने ॥ —वही, ७ ७०।
गौडीय मत की तुलना करो जो जीवो को ईश्वर की तटस्थ शक्ति मानता है—जो अतरग और बहिरग शक्ति के बीच है।

और नव सजन के समय उसमे से पृथक हो जाते हैं। मुक्त होने के वाद वे विष्णु से अभिन्न हो जाते हैं फिर आवागमन नही होता। मुक्त होने पर वे ईश्वर म प्रवेश तो करते हैं किन्तु उसमे एक नही होते, वे विष्णु से अपना भिन्न अस्तित्व रखते हैं या विष्णु धाम वैकुण्ठ में वास करते हैं। वैकुण्ठ वास को बहुधा विष्णु से एकात्म होना भी माना है। यह सम्भवत सालोक्य मुक्ति है जिसका वर्णन अ य स्थान पर प्राप्त है। अहिर्बुध्न्य सहिता के १४वें अध्याय मे मुक्ति को ईश्वरत्व की प्राप्ति कहा है (भगवत्ताययी मुक्तिया वैष्णव तद् विशेत पदम्)।[1] निस्वार्थता से पुण्य कम करना मुक्ति पाने का साधन माना जाता है।[2] जीवो का अनादि, अनन्त शुद्ध चैतन्य और आनद रूप माना है वे अधिकाश मे ईश्वर जसे है (भगवन्मय) तो भी उनका अस्तित्व ईश्वर की आध्यात्मिक शक्ति से है (भगवद् भाविता सदा)।[3] इस विचार का यह कहकर और स्पष्ट किया गया है कि भाव्य भावक शक्ति के अतिरिक्त एक तीसरी भी पुशक्ति है, जिसका गीता मे क्षेत्रज्ञ शक्ति की सना दी है और इसे ही गौडीय सम्प्रदाय में तटस्थ शक्ति कहा है।[4] ईश्वर की सजन, पालन और सहार इन तीन शक्तियो के अलावा चौथी और पाचवीं शक्ति भी है जिसे अनुग्रह और निग्रह कहते हैं। विष्णु आप्तकाम है उन्ह कुछ प्राप्त करना वाकी नही है उनकी स्वतन्त्रता दिव्य है तो भी वह एक स्वेच्छाचारी राजा की तरह क्रीडा करते हैं।[5] इस क्रीडा का गौडीय मत मे लीला कहा है। ईश्वर की ये सब क्रियाएँ उसकी सकल्प शक्ति के ही भिन्न रूप है जिसे सुदर्शन कहा गया है। अपनी निग्रह रूपी लीला मे ईश्वर जीवो के स्वभाव को ढक लेता है जिससे वे अपने को अनत अनुभव न करके अणु रूप पाते है, सवशक्तिमत्ता के बजाय अल्प शक्तिमान् सवज्ञता की जगह, अल्पज्ञ और अज्ञानी पाते हैं। ये तीन प्रकार के मल हैं और तीन ही प्रकार के बधन है। इस आवरण शक्ति द्वारा जीव अज्ञान अहकार, राग और द्वेषादि से पीडित हो जाता है। अज्ञान और रागादि से पीडित हो और सुख का प्राप्त करने और दु ख को दूर करने की इस प्रकृति से प्रेरित हो वह पाप और पुण्य कम करने लगता है। इससे वह आवागमन के चक्र मे फसता है और अनेक प्रकार की वासनाओ से युक्त हो जाता है। सजन, पालन और सहार की शक्ति बधन शक्ति और उसकी आवश्यकताओ द्वारा ही जागृत होती है और उसे जीवो को कर्मानुसार अनुग्रह और निग्रह के लिए क्रियाशील बनाती है। यह क्रीडा

---

[1] अहि० स० १४, ३ ४ ४१।

[2] साधन तस्य च प्रोक्तो धर्मनिरभिसधिक —वही, १४, ४।

[3] वही, १४ ४।

[4] पुशक्ति कालमय्यन्या पुमान् सोऽयमुदीरित —वही १४, १०।

[5] सर्वे रतनुयाज्य तत् स्वातन्त्र्यम् दिव्यमीशितु ।
अवाप्त विश्व कामोऽपि क्रीडते राजवद् वशी ॥ —वही, १४, १३।

काल से परे होने के कारण अनादि है। तदनुसार बंधन भी अनादि है। बंधन किसी विशेष समय पर जीवों को अपने स्वस्वरूप से च्युत होने से प्राप्त हुआ है, यह परिस्थिति के विश्लेषण द्वारा कहा गया है। ईश्वर जीवों के दुःख और शोक की स्थिति पर दया करके अपनी अनुग्रह या कृपा शक्ति द्वारा उनके कर्म की गति को रोक देता है। अच्छे और बुरे कर्म तथा उनके उपयुक्त सुख दुःख रूपी भोगों के रुक जाने पर जीव मुक्ति के प्रति झुकता है उसमें वैराग्य उत्पन्न होता है और विवेक दृष्टि जागृत होती है। तब वह शास्त्र और गुरु के पास जाता है, सांख्य और योग के आदेशानुसार व्यवहार करने लगता है, वेदान्त का ज्ञान प्राप्त करता है और अन्त में विष्णु धाम पहुँचता है।

लक्ष्मी को विष्णु की अन्तिम तथा नित्य शक्ति माना है उसे गौरी, सरस्वती धेनु भी कहा है। यही परम शक्ति संकर्षण प्रद्युम्न और अनिरुद्ध के रूप में प्रकट होती है। इस प्रकार ये भिन्न शक्तियाँ अभिव्यक्त होने पर ही गोचर होती है, किन्तु जब वे अव्यक्त होती हैं तब भी वे विष्णु में लक्ष्मी रूप से परम शक्ति के रूप में रहती हैं। यही लक्ष्मी, ब्रह्मा, विष्णु और शिव कहलाती है। व्यक्ति, अव्यक्ति, पुरुष, काल या सांख्य और योग इन सभी का लक्ष्मी में ही वास है। लक्ष्मी ही परम शक्ति है जिसमें सब लीन होते हैं। अन्य प्रकट शक्तियों से पृथक रूप में होने से इसे पंचम शक्ति कहा है। मुक्त पुरुष इस लक्ष्मी में प्रवेश करता है जो विष्णु का परम धाम है। (पर धाम या परम पद) या पर ब्रह्म है। इस शक्ति के अंतराल में आनन्द का भाव है तो भी वह स्वरूप से आनन्दमयी है। इसे उज्ज्वल और विष्णु का भाव कहा है। यह शक्ति उत्पत्ति स्थिति, संहार अनुग्रह और निग्रह रूपी पाँच कार्य करती मानी गई है (पंच कृत कारी)। ब्रह्म का इस शक्ति के साथ संयोग होने से वह जगत् पालक अल्प विष्णु से भिन्न महा विष्णु कहलाता है। यह शक्ति सर्वदा अंत क्षुब्ध रहती है जो कि बाहर से नहीं दिखाई पड़ती। यह अंत क्षोभ और हलचल इतनी सूक्ष्म है कि वह सागर की तरह शान्त दीखती है।[1] इस प्रकार शक्ति विष्णु की माया भी कहलाती है।[2] इस शक्ति का अंशमात्र ही भाव्य और भावक शक्ति रूप में प्रकट होता है, भावक शक्ति ही सुदर्शन नाम से जानी गई है। भाव्य जगत् रूप से प्रगट होती है और इसका उद्देश्य भी संसार है।

---

[1] सदा प्रतायमानापि सूक्ष्मैर्मावैर लक्षणैः
निर्व्यापारेव सा भाति स्तैमित्य मिव चोऽदधे
तयै वोऽपहितम ब्रह्म निर्विकल्प निरंजनम ॥   —अहि० सं० ५१, ४६।

[2] मामादयपयकरत्वेन पंच कृत्य करी सदा।   —वही ५१ ५८।
सकल्प शक्ति का सार है जिससे आदर्श एवं वास्तविक जगत् में, प्रत्यय, शब्द तथा उसके अर्थ के रूप में विषय के रूप में प्रकट होते हैं।

सकल्प शक्ति, जिससे प्रत्यय, वास्तविक प्रादश जगत् मे विचार और इसके अथ के रूप मे प्रगट होते हैं वह सुदशन शक्ति का सार है। दृश्य की बाह्य हलचल जब शब्द द्वारा चिन्तन रूप मे ग्रहण की जाती है तब हमे सुदशन की शक्ति या महा विष्णु की सकल्प शक्ति का मान होता है। समस्त जगत् का कारण सुदशन शक्ति की अभिव्यक्ति का प्रकार है। इस प्रकार बाह्य जगत् की सारी हलचल तथा वाचा की समस्त क्रियाएँ ही केवल नही किन्तु द्रष्टा दृश्य रूप क्रिया जिससे सारा जगत् विचार और वाणी के रूप में ग्रहण किया जाता है, ये सब ईश्वर की सुदशन शक्ति की ही अभिव्यक्तियाँ हैं। समस्त ब्रह्म रूप और अभिव्यक्तियाँ गुण या कम रूप हैं, और वे दोनो सुदशन की शक्ति के ही रूप हैं। हमारी वाणी इस सत्ता के दो प्रकारो को ही निर्दिष्ट कर सकती है। इसी कारण वे सब सुदशन का ही इगित करते हैं जो विष्णु का वाच्य है ईश्वर के स्वरूप का वणन व नही कर सकते। शब्द इसलिए विष्णु के स्वरूप को प्रकट नही कर सकते। शब्द जगत का रहस्यात्मक प्रतीक के रूप मे अपने मे समा सकता है और उसकी सारी शक्तियो का वणन भी कर सकता है, यह सब कुछ होते हुए भी अग सा है चाहे फिर शब्द सारे जगत को अपने में समा लेने की शक्ति रख सके या सारे जगत् को अपने म समाहित कर सके और ईश्वर से तादात्म्य भी कर सके तो भी यह तादात्म्य केवल सुदशन से ही होता है। यह शब्द और विचारक द्वारा ईश्वर में लय या उसकी अनुभूति प्रवेश करना ईश्वर की सुदशन शक्ति द्वारा ही हो सकता है जो लक्ष्मी का एक अश है। इस प्रकार विष्णु से एकात्मता का अथ सुदशन से तादात्म्य है या लक्ष्मी म प्रवेश होना है।[1]

नम का तात्पय है मनुष्य के द्वारा ज्ञान पर बोध के सहारे महा विष्णु की पति रूप मे हृदय स स्वीकृति।[2] कालत और गुणत विष्णु का प्रकष ही उनका ज्यायस्त्व है।[3] विष्णु ही महान् है और सब उससे निम्न कोटि में हैं। महान् और कनिष्ठ के सम्बध का अथ यह है कि दूसरा पहले पर अवलम्बित है और दूसरे का जीवन ही पहले के लिए है। इस सम्बध का शेष शेषिता कहा है। दोना मे आराधक आराध्य सम्बध है (नतृ नतव्य भाव)। सच्चा नमन उसे कहते हैं कि जब वह उपरोक्त भाव सहज ही बिना किसी हेतु या उद्देश्य के प्रगट हो और केवल यही विचार रहे कि

---

[1] अहि० स० ५१ ६१ ७८।

[2] प्रेक्षावत प्रवृत्तिर्या प्रह्वीभावात्मिका स्वत
उत्कृष्ट परमुद्दिश्य तन्नम परिगीयते।

—अहि० स० ५२ २।

[3] कालतो गुणतश्चैव प्रकर्षो यत्र तिष्ठति
शब्दस्त मुख्यया वृत्या ज्यायानित्यवलम्बते।

—वही, ५२, ४।

विष्णु मुझ से कहीं महान् हैं और मैं उनसे कितना हीन हूँ।[१] नमन का यह श्रम भक्त को ईश्वर के निकट ही नहीं पहुँचाता किंतु ईश्वर को भक्त के पास लाता है। किसी भी प्रकार का प्रयोजन नमन के फल को बिगाड़ देता है। नमन प्रपत्ति श्रम का, अर्थात् ईश्वर से सरक्षण प्राप्त करने का प्रथम चरण है।[२] जब मनुष्य का ज्ञान, अनादि वासना से, बल की श्रथ हीनता से और अशुद्धि के सग से, अवरुद्ध हो जाता है, और जब मनुष्य का इन कमियों का पूर्ण रूप से भान होता है तब उसमे कार्पण्य अर्थात दैन्य भावना आती है। हम स्वतन्त्र हैं यह भावना कार्पण्यता को मिटाती है। परमेश्वर सवदा दयावान् है इस उत्कट विश्वास के गुण को महा विश्वास कहा है। ईश्वर उदासीन है और प्रत्येक को उसके कर्मानुसार दया दृष्टि करता है यह, विचार महा विश्वास का बाधक है। ईश्वर कृपामय है, सब शक्तिमान् है, वह अवश्य हमारी रक्षा करेगा यह भावना उसकी रक्षण शक्ति मे विश्वास उत्पन्न करती है। ईश्वर निर्गुण होने से हमारे रक्षण की याचना के प्रति उदासीन रहेगा, यह विचार, उपरोक्त गुण का बाधक है। ईश्वर का महान् गुरु या सर्वाधिपति स्वीकारना, जिसके आदेश की किसी भी प्रकार अवहेलना नहीं की जा सकती यह प्रातिकूल्य विवर्जन नामक गुण उत्पन्न करता है। शास्त्र विरुद्ध ईश्वर की सेवा उपरोक्त गुण का बाधक है। ईश्वर की इच्छानुसार हम चलें ऐसा मन मे दृढ निश्चय और जगत मे जड और चेतन पदार्थ ईश्वर के ही अंग हैं ऐसा दृढ विश्वास शरणागति का गुण उत्पन्न करता है। जीव के प्रति वैर भाव इस गुण का अवरोधक है। ईश्वर के प्रति नमन (नम) उपरोक्त गुणों से युक्त होना चाहिए। ईश्वर के प्रति सच्चे नमन (नम) के साथ वह दृढ विश्वास आवश्यक है कि पदार्थों के प्रति हमारी अधिकार भावना जो अनादि वासना तथा इच्छादि जनित है वह मिथ्या है। भक्त यह माने कि वह स्वतन्त्र नहीं है और न उसके पास अपना कहने को कुछ भी है। मेरा शरीर मेरी सम्पत्ति, मेरे सबधी मेरे नहीं हैं वे ईश्वर के ही हैं। इस विश्वास से उत्पन्न उत्कट भाव से ईश्वर को नमन करना चाहिए। भक्त को ऐसा लगे कि अंतिम ध्येय की प्राप्ति के लिए आराधना के सिवाय दूसरा और कोई रास्ता ही नहीं है और इस प्रकार वह अपने को ईश्वर को समर्पण करे और उसे अपनी तरफ खीचे। नमन का ध्येय उत्कृष्ट निरहकारता और ईश्वर मे आत्म समर्पण है वह अपने लिए कुछ न बाकी रखे। जगत ईश्वर से उत्पन्न है तो भी उसमे समवाय सम्बन्ध से रहता है। इसलिए वह जगत् का निमित्त और उपादान कारण है और भक्त को हमेशा यह ध्यान रहे कि ईश्वर सब प्रकार से महान् है।

---

[१] उपाधि रहिते नाय येन भावेन चेतन।
नयति ज्यायसे तस्मै तद्वा नमनमुच्यते॥ —अहि० स० ५२, १।

[२] फलेप्सा तद्विरोधिनी। —वही, ५२, १५।

अहिर्बुध्न्य सहिता के ३९वें प्रकरण मे ईश्वर प्राप्ति के साधन रूप प्रपत्ति, न्याय या शरणागति के सिद्धात का जो उल्लेख मिलता है उसमें इन्ही उपरोक्त गुणो का विवेचन है।[1] शरणागति की व्याख्या यहाँ इस प्रकार की गई है, हम पाप और दोषयुक्त हैं, विष्णु की कृपा के बिना हम भटके हुए हैं, हम सवथा निराधार हैं इस विश्वास से ईश्वर की कृपा याचना करना शरणागति है।[2] जो मनुष्य प्रपत्ति के माग को अपनाता है उसे सारी तपस्या, यज्ञ, तीर्थाटन, और दान के फल मिलते हैं और बिना अन्य साधन के सरलता से मुक्ति मिल जाती है। आगे और उल्लेख किया गया है कि प्रपत्ति माग अपनाने के लिए एक ही भाव की आवश्यकता है, कि वह विष्णु पर सवथा आश्रित रहे और अपने को नितान्त निराधार समझे। उपरोक्त भावना मे दृढतापूवक विश्वास करते हुए साधक अपने आपको आराधना रत रखे तो उसे अन्य कोई प्रयत्न नही करना पडेगा,[3] ईश्वर ही सब कुछ कर लेगा। प्रपति इस प्रकार से उपाय ज्ञान है उपाय ही नहीं है क्योकि यह एक धारणा है कम नही है। यह एक प्रकार से तरणी है जिसमें यात्री बैठता है और मल्लाह उसे पार लगा देता है।[4]

शुद्ध सग का वणन करते हुए ऐसा कहा है कि प्रलय के समय सारे काय अव्यक्त और अक्रिय हो जाते है और उसमे किसी प्रकार की हलचल नही होती। विष्णु के उपरोक्त कहे षडगुण अर्थात्, ज्ञान शक्ति, बल ऐश्वय, वीय और तेज परम शाति की अवस्था मे वायु विहीन आकाश की तरह रहते हैं।[5] इन सारी शक्तियो का शात भाव ही लक्ष्मी है जो मानो शून्यावस्था है। वह सहज ही स्फुटित हो गतिशील हो जाती है। ईश्वर की यह शक्ति भिन्न होते हुए भी, उसका ही स्वरूप है। इस

---

[1] षोढा हि वेद विदुषो वदन्त्येन महामुने,
आनु कूल्यस्य सकल्प प्रातिकूल्यस्य वजनम्
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्व वरण तथा
आत्मनिक्षेपकापण्ये षड्विधा शरणागति ॥   —अहि० स० ३७, २७ २८।

[2] अह अस्मि अपराधानाम् आलयोऽकिंचनोऽगति
त्वमेवोपायभूतो मे भवेति प्राथना मति
शरणागतिरित्युक्ता सा देवेस्मिन् प्रयुज्यताम् ॥
—अहि० स० ३७, ३० ३१।

[3] अहि० स० ३७, ३४ ३५।

[4] अत्र नाविति दृष्टान्तादुपायनानमेव तु।
नरण कृत्यमन्यत तु नाविकस्येव तद्धरे।   —अहि० स०।

[5] पूर्णस्तिमित षाडगुण्यमसमीराम्बरोपमम्।
—अहि० स० ५, ३।

प्रगट क्रियात्मक रूप को ही शक्ति कहा है। अव्यक्त रूप मे वह विष्णु से अभिन्न रहती है। विष्णु के इन गुणो को प्रकृति के गुणा से भिन्न समझना चाहिए, प्रकृति के गुणा का विकास अशुद्ध सर्ग के समय कही निम्न स्तर पर होता है।

व्यूहो का वर्णन करते ऐसा कहा गया है कि सकर्षण अपने में सारे जगत् को, कपाल मे तिलक की तरह धारण करते हैं (तलकालक) सकर्षण द्वारा धारण किया हुआ जगत् अभी अव्यक्त रूप मे ही है। वह अशेष भुवनाधार है।[1] मनु काल और प्रकृति प्रद्युम्न मे से प्रगट होते हैं।[2] प्रद्युम्न के ही प्रभाव से मनुष्य शास्त्र विधि से कर्म करने को प्रेरित होते हैं।[3] अनिरुद्ध, जिसे महा विष्णु भी कहते हैं, बल और शक्ति का देवता है और इसी की शक्ति से जगत् की रचना और पालन होता है। इसी से ही जगत् की वृद्धि होती है। इसी शक्ति से जगत् भय रहित रहता है और मुक्ति पाता है। शकराचार्य के कथनानुसार सकर्षण जीव है प्रद्युम्न मनस है, और अनिरुद्ध अहकार है।[4] किन्तु ऐसा मत पचरात्र ग्रन्थो मे बहुत कम देखने मे आता है। तत्वत्रय मे दिए विष्वक्सेन सहिता के उद्धरण के आधार पर सकर्षण जीवो का अध्यक्ष है, प्रद्युम्न को मनोमय माना है, किन्तु अनिरुद्ध के बारे मे कुछ भी नही कहा है। लक्ष्मी तत्र (४ ६ १४) मे ऐसा कहा है कि सकर्षण आत्मा, बुद्धि मनस है और वासुदेव सृजनात्मक लीला है। विष्वक्सेन सहिता म अनिरुद्ध मिश्र वर्ग (नियति रूप शुद्धाशुद्ध सर्ग) का निर्माण करते हैं, सकर्षण ने चेतन तत्त्व को जगत् से पृथक किया और स्वय प्रद्युम्न बन गए। अहिर्बुध्न्य सहिता के आधार पर पुरुष प्रकृति का भेद प्रद्युम्न स्तर पर होता है, सकर्षण स्तर पर नही। अहिर्बुध्न्य सहिता म अनिरुद्ध को सत्य तथा उससे उत्पन्न तत्त्वो का तथा मनु का अध्यक्ष माना है।[5] इसी ग्रन्थ मे लक्ष्मी को विष्णु शक्ति माना है किन्तु उत्तर नारायण मे लक्ष्मी और भूमि को तथा तत्त्व त्रय मे लक्ष्मी भूमि और नीला को विष्णु शक्ति माना है विहगेन्द्र सहिता (२ ८) में उन्हें देवी की इच्छा, क्रिया और साक्षात्शक्ति कहा है। सीता उपनिषद् में भी इसी प्रकार उल्लेख है यहाँ इसका सम्बन्ध वैखानस शाखा से है। विहगेन्द्र सहिता सुदर्शन की आठ शक्तियो का उल्लेख करती है, जो कीर्ति श्री विजय, श्रद्धा, स्मृति,

---

[1] ऐसा कहा है कि सकर्षण द्वारा ही समस्त शास्त्र उत्पन्न हुए हैं और प्रलय के समय वे उन्ही मे समा जाते हैं। —अहि० स० ५५, १६।

[2] अहि० स० ६, ९-१२।

[3] अहि० स० ५५, १८ प्रद्युम्न को वीर भी कहा है।

[4] भिन्न व्यूहो के कार्य के बारे में मत मतान्तर हैं। लक्ष्मी तत्र देखो ४, ११ २० विष्वक्सेन स० भी तत्व त्रय म उद्धत।

[5] अहि० स० ६, २७।

मेधा, घृति और क्षमा हैं। किन्तु सात्वत संहिता में (९।८५) विष्णु की श्री जीवत्म उत्पन्न १२ शक्तियों का उल्लेख है, वे लक्ष्मी, पुष्टि दया, निद्रा, क्षमा, कान्ति, सरस्वती, धृति, मैत्री, रति, तुष्टि और मति हैं।

✓पचरात्र अंशत वैदिक और अंशत तान्त्रिक सिद्धान्तों पर आधारित है।[1] वह इसलिए मंत्र के गुह्य स्वरूप को मानता है। वह हम पहले ही कह चुके हैं कि जगत् सुदर्शन शक्ति से उत्पन्न हुआ है इसलिए जगत् की सारी शक्तियाँ, नैसर्गिक, भौतिक इत्यादि सभी सुदर्शन के ही रूप हैं। सुदर्शन की शक्ति समस्त चेतन एवं जड पदार्थों में तथा बंधन और मुक्ति के रूप में प्रकट है। जो कोई भी उत्पन्न करने की शक्ति ✓रखता है वह सुदर्शन शक्ति का ही प्रगटीकरण है।[2] मंत्र भी शुद्ध चैतन्य रूप विष्णु विष्णु की शक्ति है। उस शक्ति की सर्व प्रथम अभिव्यक्ति, जो घटा की दीर्घ ध्वनि के रूप में होती है, उसे नाद कहते हैं।[3] इसे योगी ही सुन सकते हैं। दूसरी अभिव्यक्ति सागर से बूँद की तरह होती है उसे बिन्दु कहते हैं। बिन्दु में नाम और उसके द्वारा संकेतित शक्ति का तादात्म्य है। इसके बाद नामी का उदय होता है जिसे शब्द ब्रह्मन् कहते हैं। इस प्रकार हरेक वर्ण की उत्पत्ति के साथ तदनुरूप अर्थ शक्ति (नाम्युत्य) भी उत्पन्न होती है। इसके बाद अहिर्बुध्न्य संहिता में बिन्दु शक्ति से स्वर और व्यंजन की उत्पत्ति का वर्णन है। विष्णु की कुंडलिनी शक्ति के नृत्य से १४ प्रकार के प्रयत्नों द्वारा १४ स्वरों की उत्पत्ति होती है।[4] अपनी द्विधा सूक्ष्म शक्ति से यह रचना और संहार का कारण होती है। यह शक्ति मूलाधार से उठकर नाभि तक रहती है तब उसे पश्यन्ती कहते हैं। योगी ही इसे अनुभव कर सकता है। आगे वह हृदय कमल की तरफ बढती है और कंठ द्वारा व्यक्त शब्द के रूप में प्रगट होती है। स्वर शक्ति सुषुम्ना नाडी में से चलती है। इस तरह से भिन्न भिन्न व्यंजनों की ध्वनियाँ जगत् की भिन्न शक्तियों के आदर्श रूप हैं वे भिन्न भिन्न देवताओं

---

[1] वेद तंत्र मयोद्भूत नाना प्रसव शालिनी। —अहि० स० ६ ६।

[2] सुदर्शनाह्वया देवी सर्व कृत्यकरी विभो
तन्मय विद्धि सामर्थ्य सर्व सर्व पदार्थजम्
धर्मस्यार्थस्य कामस्य मुक्तेर्बंधत्रयस्य च
यद्यत् स्वकार्यसामर्थ्य तत्तत् सौदर्शनं वपु।

—अहि० स० १६, ४ और ६।

[3] साक्षात विष्णो क्रिया शक्ति शुद्ध सविन्मयी परा। —वही, १६, १०।

इस क्रिया शक्ति को सामर्थ्य या योग या पारमेष्ठ्य या महातेजस् या महायोग भी कहा है। —अहि० स० १६, ३२।

[4] नटीव कुडली शक्तिराद्या विष्णोर्विजम्भते। —अहि० स० ११, ५५।

के प्रतीक या शक्तियों की अध्यक्ष मानी गई है।[1] इनमे से कुछ वर्णों का भिन्न क्रम और व्यूह मे समुच्च, जिसे चक्र या कमल कहते हैं, भिन्न प्रकार की जटिल शक्तियों का प्रतिनिधि माना गया है। इन चक्रो की पूजा और ध्यान करने से चक्र मे निहित शक्ति वश मे आती है। हरेक चक्र और मत्र के साथ भिन्न देवताओं का सम्बन्ध है। ✓पचरात्र ग्रन्थो के अधिकाश भाग इन चक्र और देवताओ के वर्णन और उनके पूजा क्रम, उनके अनुरूप मूर्ति और मदिर बनाने के वर्णन से भरपूर है। मत्रो के ध्यान ✓द्वारा उनके अनुरूप रक्षण कार्य भी होता जाता है।

अन्य तात्रिक ग्रथो की तरह अहिबुध्न्य सहिता म भी नाडी तत्र का वर्णन है। सारी नाडियो का मूल (काण्ड) उपस्थ से ६ इच ऊपर है। यह काण्ड चार इच लम्बा और चौडा अडाकार रूप है यह चर्बी, मास, रक्त और अस्थि का बना होता है। उपस्थ से दो इच नीचे और गुदा से दो इच दूर जो स्थान है उसे शरीर मध्य या केवल मध्य कहा है। यह चतुर्भुजाकार है इसे आग्नेय मण्डल भी कहते हैं। नाडियो के मूल को नाभि चक्र भी कहते हैं। जिसमे १२ आरे होते है। नाभि चक्र के चारो तरफ अष्ट मुख कुण्डली (सर्प) है जिसने अपने शरीर से सुषुम्ना के ब्रह्मरध्र द्वार को बद कर रखा है।[2] चक्र के मध्य मे दो नाडियाँ है जिन्हे अलम्बुषा और सुषुम्ना कहा है। सुषुम्ना के दूसरी ओर कुहू, वरुण, यशस्विनी पिंगला, पूषा, पयस्विनी, सरस्वती, शखिनी गाधारी, इडा, हस्तिजिह्वा और विश्वोदरा आदि नाडिया हैं। लेकिन कुल मिलाकर ७२००० नाडिया शरीर मे है, इनमे से इडा और पिंगला और सुषुम्ना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। इनमे से सुषुम्ना जो मस्तिष्क के मध्य मे पहुँचती है बहुत ही महत्त्व रखती है। जिस प्रकार मकडी अपने जाले मे फसी रहती है ठीक उसी प्रकार आत्मा प्राण से सयुक्त हो, नाभि चक्र मे फसा है। सुषुम्ना के पाच मुख है जिनमे से चार खून का वहन करते हैं और मध्यवर्ती मुख कुण्डली के शरीर से बन्द है। दूसरी नाडियाँ छोटी है और शरीर के भिन्न भागो से जुडी हुई हैं। इडा और पिंगला शरीर के सूर्य और चद्र के रूप म मानी जाती हैं।

शरीर म दस प्रकार के प्राण वायु रहते हैं जिन्हे प्राण अपान समान, उदान, व्यान नाग कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनजय कहा है। 'प्राण' वायु नाभि चक्र मे स्थित है किन्तु वह हृदय, मुख और नाक से प्रगट होता है। 'अपान' वायु गुदा, उपस्थ जघा पाव, पेट, अडकोष, कमर का भाग, आते तथा सारे निम्न भाग मे

---

[1] विष्णु शक्तिमया वर्णा विष्णु सकल्प जृम्भिता।
अधिष्ठिता यथा भावै स्तथा तन्मे निगामय।

—अहि० स० १७, ३।

[2] अहि० स० ३२, ११। यह वर्णन शाक्त तत्र से भिन्न है। वहा कुण्डली शरीर-मध्य म रहती है, ऐसा कहा है।

क्रियाशील है। 'व्यान' आंख और कान के बीच, पाव की अगुली, नाक, गला और मेरुदड में स्थित है। 'उदान' हाथ म, और 'समान' सारे शरीर म स्थित होकर सामान्य परिसचरण का काय करता है।[1] 'प्राण' का काय श्वास प्रक्रिया को पूरा करना है, व्यान का काय किसी वस्तु की तरफ झुकना या दूर हटना है। 'उदान' शरीर को ऊपर या नीचे उठाता है। 'समान' से खाना पचाने का और शरीर वद्धि का काय होता है। नाग वायु द्वारा वमन का काय सम्पन्न होता है, देवदत्त से निद्रा आती है, इत्यादि। इन नाडिया को इडा द्वारा श्वास लेकर शुद्ध किया जाता है। १ स १६ गिनती करने म जो समय लगता है उतना श्वास लेना चाहिए। १ से ३१ की गिनती तक श्वास का अदर रोकना चाहिए। इस दरमियान किसी का ध्यान करना आवश्यक है। फिर योगी को इसी प्रकार पिंगला से श्वास लेना चाहिए और उसी प्रकार रोक रखना चाहिए फिर उसे इडा द्वारा श्वास फेंकना चाहिए। यह अभ्यास दिन मे तीन बार करते हुए तीन मास तक करना चाहिए। प्रत्येक समय अभ्यास तीन बार करना आवश्यक है। इससे नाडिया शुद्ध हो जाएँगी और इससे वह अपने शरीर स्थित सभी वायु पर ध्यान स्थिर कर सकेगा। प्राणायाम के अभ्यास म उसे इडा द्वारा १ से १६ गिनती श्वास अन्दर लेना चाहिए, विशेष मत्र का जप करते रहना चाहिए, फिर श्वास पिंगला द्वारा १ से १६ गिनती तक बाहर फेंकना चाहिए। पुन उसे पिंगला द्वारा श्वास अन्दर लेकर इडा से बाहर फेंकना चाहिए। शनै शनै कुम्भक को बढ़ाना चाहिए। उसे प्राणायाम का अभ्यास दिन मे १६ बार करना चाहिए। इसे प्राणायाम प्रक्रिया कहते हैं। इस अभ्यास से वह समाधि अवस्था तक पहुँच सकता है जिससे उसे सब प्रकार की सिद्धिया प्राप्त हो सकती हैं।

किन्तु नाडी शुद्धि के पहले योगी को आसन का अभ्यास करना आवश्यक है। चक्र, पद्म, कूम, मयूर, कुक्कुट, वीर स्वस्तिक भद्र, सिंह, मुक्त और गो मुख इत्यादि आसनो का उल्लेख अहिर्बुध्न्य सहिता मे किया गया है। आसनो का अभ्यास योगी के स्वास्थ्य को ठीक रखता है। किन्तु इन शारीरिक आसनो का कोई फल नहीं होता जब तक योग की आध्यात्मिक दृष्टि का उदय नही होता। योग जीवात्मा और परमात्मा का सयोग कहा है।[2] अहिर्बुध्न्य सहिता के अन्तिम ध्येय की प्राप्ति के दो माग बताए गए हैं। एक को विष्णु की कोई एक शक्ति के रूप में ध्यान लगाकर आत्म समपण करना कहा है इसे हृदय योग भी कहते हैं। यहा किसी एक

---

[1] अहि० स० ३२, ३३ ३७, यहा पर आयुर्वेद तथा शाक्त तन्त्रो से चक्रो के स्थान के विषय भिन्न हैं।

[2] सयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मना ॥

—अहि० स० ३१, १५।

विशेष रूप को मंत्र द्वारा ध्यान लगाना होता है। दूसरा भाग योग का है।[1] अहिबुध्न्य संहिता मे, अधिकतर पहले हृद योग के उपदेशो पर ही जोर दिया गया है। दूसरे योग का केवल एक अध्याय मे ही उल्लेख कर दिया गया है। जीवात्मा के भी दो प्रकार माने गए हैं एक जो प्रकृति से प्रभावित है, दूसरा जो उसके प्रभाव से परे है। परमेश्वर से कर्म और ज्ञान द्वारा तादात्म्य प्राप्त किया जा सकता है। कर्म के भी दो प्रकार है, इच्छा प्रेरित, जिन्हे प्रवर्तक कहा है और निवर्तक जो इच्छा रहितता से प्रेरित होते हैं। इनमे से दूसरे प्रकार के कर्म ही मुक्ति प्राप्त करा सक्ते हैं पहले प्रकार का कर्म इच्छा की फल प्राप्ति करा सकता है। उच्च आत्मा सूक्ष्म, सर्वग, सर्वभृत्, ज्ञान रूप अनादि, अनंत है और अविकारी है, ज्ञान क्रिया रहित, अकाम, अजाति अरूप और निर्गुण है तो भी सर्वज्ञ सर्वव्यापी स्वयं प्रकाश्य और सबों का पालन कर्त्ता है। वह सहज बोध द्वारा गम्य है।[2] योग जिसके द्वारा हमारी लघु आत्मा का परमात्मा से संयोग होता है वह अष्टांग द्वारा सिद्ध होता है। यम नियम आसन प्राणायाम, प्रत्याहार धारणा ध्यान और समाधि ये योग के अष्टांग हैं।

इनमें से यम मे सत्य, दया, धृति, शौच ब्रह्मचर्य, क्षमा, आर्जव, मिताहार अस्तेय और अहिंसा का समावेश होता है।[3] नियम मे सिद्धान्त श्रवण, दान, मति, ईश्वर पूजन, संतोष, तप, आस्तिक्य, ह्री मंत्रजप व्रत आते हैं।[4] यद्यपि जीव का परमात्मा से संयोग ही योग कहा गया है। तो भी अहिबुध्न्य संहिता के रचयिता पातंजल के योगानुशासन और उनके मत से योग चित्तवृत्तियों का निरोध है इससे परिचित थे।[5]

अहिबुध्न्य संहिता मे प्रमा की व्याख्या 'यथार्थावधारणम्' कही है अर्थात प्रमा वस्तु का यथार्थ ज्ञान है और वह प्रमाण से ग्राह्य है। मनुष्य के लिए हितकर वस्तु

---

[1] यद्वा भगवते तस्मै स्वकीयात्म समर्पणम्।
विशिष्ट दैवतायास्मै चक्र रूपायमं व्रत
वियुक्त प्रकृते शुद्ध दद्यादात्म हविः स्वयम्॥ —अहि० सं० ३०, ४, ५।

[2] अहि० सं० ३१ ७ १०।

[3] अहि० सं० ३१, १८ २३। यहां योग से मतभेद है। योग नियम के अंतर्गत अहिंसा, सत्य अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का समावेश करता है। देखो योग सूत्र २ ३०।

[4] अहि० सं० ३२ ३०। यहा पर भी पातंजल योग से भेद है। योग मे शौच संतोष, तप, स्वाध्याय, और ईश्वर प्रणिधान को नियम कहा है। देखो योग सूत्र २ २३।

[5] अहि० सं० १३ २७ २८।

प्रमाण से प्राप्त हाती है उसे प्रमाणार्थ कहते हैं। वह भी दो प्रकार का है, एक वह जा आत्यन्तिक और एकान्तिक हित का आह्वान करता है दूसरा जो परोक्ष रूप से हितकर है, इसे हित या साधन कहा है। ईश्वर से तादात्म्य होना जो अत्यत आनदमय है, अत्यत हितकर है। उसकी प्राप्ति के दो माग धम और ज्ञान हैं। ज्ञान भी दो प्रकार के हैं साक्षात्कार और परोक्ष। धम से ज्ञान उत्पन्न होता है जो दा प्रकार का है एक साक्षात् रूप से और दूसरा परोक्ष रूप से, ईश्वर भक्ति की प्रेरणा करता है। ईश्वर की दृष्टि से आत्म समपण या हृद्योग परोक्ष धम है, जबकि जिस माग से योगी भगवान् का साक्षात्कार करता है वह साक्षात् धम है जो पचरात्र प्रथा मे उपदिष्ट है और सात्वत शासन कहलाता है। सांख्य माग से ईश्वर का केवल परोक्ष ज्ञान ही प्राप्त होता है किन्तु योग और वेदात द्वारा भगवान का साक्षात्कार हाता है। माक्ष, धम, अथ और काम की तरह साध्य है यद्यपि ये तीना आपस मे एक दूसर के सहायक भी हैं।[1]

---

[1] अहि० स० १३।

अध्याय १७

आलवार

आलवारों का कालक्रम

भागवत पुराण ११ ५ ३८ ४० मे ऐसा उल्लेख है कि विष्णु के भक्त दक्षिण मे ताम्रपर्णी, कृतमाला (वैगाई), पयस्विनी (पलर) कावेरी और महानदी (पेरियार) के तट पर जन्म लेंगे।[1] यह आश्चर्य की बात है कि नाम्मालवार और मधुर कवियालवार ताम्रपर्णी देश मे जन्मे। पेरियाल्वार और उनकी पुत्री आण्डाल कृतमाल मे, पोयगैयालवार, भूतत्तालवार, पेर्यारिवार और तिरु मरिसै पीरान, पयस्विनी मे, टोंडाराडि थोडी यालवार, तिरुयाण आल्वार और तिरु मगैयालवार कावेरी में और परियालवार, और कुल शेखर पेरुमाल महानद देश मे जन्मे थे। भागवत् माहात्म्य मे भक्ति को एक दुःखी महिला का रूपक दिया है जो द्रविड देश म जन्मी थी, कर्नाटक और महाराष्ट्र मे प्रौढा हुई और जिसने अपने दो पुत्र ज्ञान और वराग्य के साथ महान सकट काट कर गुजरात और उत्तरी भारत मे व दावन की यात्रा की। अनेक सकटो के कारण उसके दोनो पुत्र मर गए। भागवत पुराण के आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि दक्षिण भारत ही भक्ति सप्रदाय का मुख्य केन्द्र रहा।

आलवार दक्षिण के बहुत ही पुराने वष्णव सत थे, जिनमे से सरोयागिन् या पोयगैआलवार और पुतयोगिन् या भूतत्तालवार से महदयोगिन् अथवा पेय आलवार,

---

[1] इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि भागवत पुराण आलवार सप्रदाय के उत्कप काल के पश्चात् लिखा गया है। जो पद्य यहाँ उद्धृत किया है वह वेंकटनाथ ने अपने 'रहस्य त्रय' ग्रथ मे दिया है। प्रपन्नामृत (अ० ७७) मे आलवार के पूवगामी तीन वैष्णव सन्तो का उल्लेख है। (१) कोसारयोगिन् जन्म काँची (२) भून योगीन्द्र जन्म मल्लीपुर (३) भ्रान्त योगीन्द्र, जो महत् या महाय भी कहलाते थे और विष्वक्सेन के अवतार थे। इन्ही सन्तो ने वैष्णवो के पाँच सस्कारो का (तप पौंड्रस्तथा नाम मत्रायोगश्च पचम) प्रचार किया वे भावनाप्रधान वैष्णव सप्रदाय के प्रवत्तक थे। जिसमे भक्ति का अथ गलदश्रु भावमदोन्मादन है। उन्होने मस्ती के अनुभवो को तीन ग्रथों मे वणन किया है यह ३०० पद्य वाला तामिल ग्रथ है। मे भायव दासाई और सरोयोगिन् नाम से जाने गए थे।

भक्तिसार ग्रौर तिरु मरिसै पिरान बहुत पुराने थे नाम्मालवार या शठ कोप, मधुर कवियलिवार, कुल शेखर परुमाल, विष्णु चित्तन् (या पेरियाल्वार) ग्रौर गोड (ग्राण्डाल) उनके बाद हुए ग्रौर भक्त अिरेणु (तोण्डरादि पोडियालवार), योगी वाह (तिरुपावालवार) ग्रौर परकाल (तिरु मर्गयालवार) सबसे पीछे हुए। परम्परा से पहले के ग्रालवारो का काल ई० पू० ४२०३ ग्रौर पिछले का काल ई० पू० २७०६ माना गया है।[1] वतमान ग्रनुसधान के ग्रनुसार उनका काल ई० स० की सातवी या ग्राठवीं शताब्दी स पूव नहीं माना जाता। ग्रालवारो के विषय मे परम्परागत सूचना भिन्न भिन्न गुरु परम्परा के ग्रथा मे मिल सकती है। गुर परम्परा के ग्राधार पर भूत्तात्त, पायगै ग्रौर पयालवार, विष्णु की गदा, शख ग्रौर नदक के ग्रवतार थे, कदन-मलै ग्रौर मयिलै भी ग्रवतार थ। जबकि तिरुभरिसैपीरान विष्णु के चक्र के ग्रवतार थे। नाम्मालवार विष्वक्सेन के ग्रवतार थे ग्रौर कुल शेखर पीरमाल, विष्णु के कौस्तुभ के ग्रवतार थे। इसी प्रकार पेरियालवार ग्रौर तिरु मगेयालवार, गरुड, वनमाला ग्रौर शाङ्ग के ग्रवतार थे। तिरुपाणालवार ग्र तिम ग्रवतार थे। ग्राण्डाल जो पेरियालवार की दत्तक पुत्री थी ग्रौर मधुर कवियालवार जो नाम्मालवार के शिष्य थे भी ग्रालवार कहे गए हैं। ये मद्रास प्रा त के भिन्न भिन्न स्थाना से ग्राए थे। इनमे से सात ब्राह्मण थे, एक क्षत्रिय, दो शूद्र ग्रौर एक निम्न पनर जाति का था। गुरु परम्पराग्रा म इनका जीवन वत्ता त दिया है ग्रौर उनका काल्पनिक समय जब वह ग्रपनी समृद्धि की स्थिति मे थे ईसा से पूव दिया गया है। गुरु परम्पराग्रा के ग्रतिरिक्त व्यक्तिगत लेख भी पाए गए हैं जिनमें निम्न महत्वपूण हैं पडित गरुड वाहन कृत दिव्य मूर्ति चरित (१) दिव्यसूरि जो रामानुज के समकालीन थे पिवारा-गीय परुमाल जीवार का 'गुरु परम्परा प्रभावम्' जो दि य सूरि चरित के ग्राधार पर मणि प्रबाला शली ग्रर्थात् सस्कृत ग्रौर तामिल भाषा मिश्रित मे लिखा गया है,

ई० पू० ४ थी शताब्दी में आए थे। पुन प्रो० डूब्रील कहते हैं मामलै नगर जहाँ भूतत्तालवार रहते थे, नरसिंह वर्मन प्रथम के पहले विद्यमान नही था। क्योंकि इन्होंने ही सातवीं शताब्दी के मध्य मे इस नगर को बसाया था। तदुपरान्त तिरुमंगे यालवार परमेश्वर वर्मन द्वितीय के बनाए वैष्णव मन्दिर की प्रशसा की, इससे यह अनुमान होता है कि आलवारो का आठवीं शताब्दी (ई० स०) मे उत्कर्ष हुआ यही शताब्दी चोल और पाण्ड्य प्रदेशो मे और वैष्णव सम्प्रदाय तथा शकर के महान् आन्दोलनों का समय रहा है।[1]

परम्परागत वर्णन के आधार पर नाम्मालवार कार्ली के सुपुत्र थे जो पाण्ड्य राज दरबार मे प्रतिष्ठित स्थान रखते थे और उन्होंने अपने कालमारन पराकुश और शठकोप इत्यादि नाम रखे, तथा उनके शिष्य मधुरकवियालवार थे। उनका जन्म स्थान तिरुक्कुरुगुर था। मदुरा म दो शिलालेख प्राप्त हुए हैं जिनमें से एक का काल कलि ३८७१ का है, जब पुरान्तक राज्य करते थे। उनके उत्तर मन्त्री माल के सुपुत्र थे, इन्हें मधुर कवियालवार नाम से भी जाना जाता था। दूसरा शिलालेख मारजर्दैयम् के राज्य काल का है। काल का ३८७१ वा वर्ष ईसोत्तर ७७० के बराबर है। इसी समय परान्तक पाड्य सिंहासनारूढ हुए। इनके पिता पराकुश ई० स० ७०० मे मर गए। किन्तु मालकारी मन्त्री पद पर वर्तमान रहे। नाम्मालवार का नाम कार्ली मारन था इससे अनुमान लगता है कि उत्तर मन्त्री कार्ली इनके पिता थे। इस वर्णन का गुरु परम्परा द्वारा भी समर्थन होता है। उपरोक्त प्रमाणों तथा अन्य प्रमाणों से जो गोपीनाथ राउ देते हैं, यह सिद्ध होता है कि नाम्मालवार तथा मधुर कवियालवार का काल ई० स० ८ शताब्दी या नवम् शती का पूर्व भाग रहा। कुल शेखर पेरु का भी सम्भवत यही काल रहा होगा। पेरियालवार तथा उनकी दत्तक पुत्री आण्डाल सम्भवत श्री वल्लभ देव के समकालीन रहे जो नवी शती विद्यमान थे। तोण्डर आडी पाडियालवार, तिरुमंगयालवार और तिरु पाणालवार समकालीन थे। तिरु मगैयालवार पल्लवमल की रणदुदुमि का जिक्र करते हैं जो इस ७१७ और ७७९ के बीच राज्य करते थे इसलिए ये आलवार इस काल के पहले नही हो सकते थे। किन्तु तिरुमगेयालवार, कांची मे विष्णु की प्रशसा करते हुए वैरमेघ पल्लव का उल्लेख करते हैं, जिनका काल सम्भवत नवमी शताब्दी था। इससे यह धारणा की जा सकती है कि तिरुमगै इसी समय रहे होगे। श्री एस० के० आयगर के कथनानुसार आलवार अन्तिम ८वीं शताब्दी के प्रथम भाग मे विद्यमान रहा होगा।[2] सर आर० जी०

---

[1] मद्गल श्री टी ए गोपीनाथ राउ कृत सर सुब्रह्मण्य आयर व्याख्यान १९२३ पृ० १७।

[2] इस भाग को रामानुज गुरु दादी कहा है। आलवारो का क्रम यहाँ इस प्रकार है पोयनैयालवार भूतत्तालवार पेयालवार तिरुपाणालवार तिरुमरिसै पीरान् तोण्डराडि योडीयालवार, कुलशेखर, पेरियालवार, आण्डाल, तिरुमगैयालवार।

भण्डारकर का अभिप्राय है कि कुलशेखर पेरुमाल मध्य १२वी शताब्दी मे रहे होंगे। वे ट्रावणकोर के राजा थे और उनकी 'मुकुन्द माला' कृति मे 'भागवत पुराण' (११ २, ३६) के एक पद का उद्धरण मिलता है। इस आलेख की साक्षी से सेंद कुलीय पेरमादी का कार्यकाल ११३८ ११५० का है। इन्होंने कुलशेखराक को पराजित किया था। भडारकर कुलशेखराक को कुलशेखर पेरुमाल से अभिन्न मानते हुए इनका काल बारहवी इसवी शताब्दी निर्धारित करते हैं। जबकि श्री राऊ उन्हे नवम् शताब्दी पूर्वार्ध का बतलाते हैं। श्री भण्डारकर का मानना है कि आलवार सर्वप्रथम ५वी या ६वीं शताब्दी म विद्यमान रहे और कहते हैं गुरु परम्परा-सूची मे दिया हुआ आलवारो की प्राथमिकता क्रम अविश्वसनीय है। आयगर की आलोचना का मुख्य बिन्दु यह है कि वे श्री भडारकर के इस कथन का विरोध करते हैं कि कुल शेखर पेरमाल और कुलशेखराक, दोनो व्यक्ति एक ही थे। आलवारो के ग्रन्थ तमिल भाषा मे लिखे गए थे और इनमे से जो प्राप्त हैं वे सब रामानुज या नाथमुनि के काल मे सग्रहीत हुए थे। इस सग्रह म ४००० ऋचाएँ हैं जिसे 'नालायीर दिव्य प्रबधम्' कहते हैं। लेकिन कम से कम इसका एक भाग कुरुत्तलवम् या कुरुत्तम् द्वारा जो कि रामानुज के प्रमुख शिष्य थे रचा गया था और जिसके एक इस ग्रथ में दिया हुआ आलवारा का क्रम गुरु परम्परा के क्रम से भिन्न है इसम नाम्मालवार का उल्लेख पृथक् किया गया है। पुन रामानुज के अनुगामी एव शिष्य पिल्लान् जिन्हाने नाम्मालवार के तिरुवायमोरी की टीका की है वे एक पद्य मे सभी आलवारो के नाम देते हैं केवल आण्डाल को ही छोड दिया है।[1] इससे यह पता चलता है कि कुल शेखर रामानुज के समय मे आलवार मान लिए गए थे। श्री वेंकटनाथ (१४वी शताब्दी) का सूची म जो एक तामिल प्रबध मे दी है मधुर कवियालवार तथा आण्डाल को छोड सभी आलवारा के नाम दिए हैं। प्रबध म वाडक्ले सम्प्रदायानुसार गुरु-परम्परा का भी उल्लेख है जिसका प्रारम्भ रामानुज से होता है।[2]

कुलशेखर, अपने मुकुन्दमाला नाम ग्रन्थ मे कहत हैं कि वे कोल्लि (चोल की राजधानी उरैपुर) कुदाल (मदुरा) और कोगु के राजा थे। त्रावनकोर (वजीकुलम्)

---

[1] भूत सरश्च महदनव्य भट्टनाथ
श्री भक्ति सार कुल शेखर योगिवाहान्
भक्ताध्रिरेणुपरकाल यतीद्रमिश्रान्
श्रीमत् परांकुश मुनि प्रणतोऽस्मि नित्यम् ॥
—श्री आयगर मे 'वैष्णव सप्रदाय का प्राचीन इतिहास' से उद्धत।

[2] रामानुज के गुरु पेरिय नाम्बी थे, उनके बाद अलवन्दर मनक्कल नम्बी, उय्यक्कोंदर, नाथमुनि, शठकोप, विष्वक्सेन (सेनाई नायन्), महालक्ष्मी और विष्णु हैं।
—वही, पृ० २१।

के निवासी होने के कारण, व पाड्य और चोल की राजधानी, मदुरा और उरैयुर के राजा बन गए। ई० स० ९००० के बाद जब चोल राजा परातक शक्तिशाली हो गया और जब चोल की राजधानी उरैयुर न रहकर तजौर हो गयी थी, तब त्रावणकोर का चोल और पाण्ड्य राज्यो पर आधिपत्य असभव था। यह परिस्थिति महान् पल्लवराजनृसिंह्वमन् के उत्थान (६००) के पहले या नदि वमन् के साथ उस वश के पतन के बाद (८००) म ही सम्भव थी। अगर वेरेमेघ के समकालीन तिरुमार्गेयारिवार को अतिम आलवार माना जाय तो कुलशेखर का जीवन काल छठी शताब्दी मे हम रखना पडगा। किन्तु गोपीनाथ राउ कुलशेखर के पाठ का अर्थ इस प्रकार करते हैं कि वह पाठ पल्लव राजा की हार और मृत्यु उनके हाथो हुई इस घटना का सकेत करता है। वे इस राजा को पल्लव नरेश दन्तिवमन् बताते हैं जो ८२५ म हुए थे, तथा उनके मतानुसार दन्तिवमन् का शासन काल नवम् शताब्दी का प्रथम भाग था। कुछ भी हो भण्डारकर का कुलशेखर को कुलशेखराक (११५०) के साथ एक करना असभव है क्योकि १०८८ के एक अभिलेख मे मिलता है कि कुलशेखर ने सैत्तरुमसिरल का पाठ किया।[1] श्री आयगर आगे और कहते हैं कि श्री भण्डारकर के कथनानुसार मुकुन्दमाला के अनेक सस्मरणो म भागवत पुराण के उद्धरण नही मिल पाते। इसलिए हम भण्डारकर का यह मत कि कुलशेखर मध्य १२वी शताब्दी म हुए, उस सवथा अमान्य ठहराते हैं।

आलवारो के कालक्रम के बारे मे दक्षिणवासी इतिहासकार एव पुरालेखज्ञो म भारी मतभेद रहा है, यह मतभेद न केवल आलवारो के कालक्रम के बारे मे है, बल्कि उनकी तिथि तथा पहले और अन्तिम तथा मध्य आलवार कौन थे, इस बारे मे भी है। इस प्रकार श्री आयगर पहले चार आलवारो का काल दूसरी शताब्दी के आसपास रखते हैं जबकि श्री गोपीनाथ राउ सातवी शताब्दी का मध्य रखते है।[2] श्री आयगर ने नाम्मालवार का काल मध्य छठी शताब्दी के पहले भाग मे माना है, जबकि गोपीनाथ राउ नवी शती का पूर्वाध बताते हैं। श्री आयगार आलवारो का इतिहास सातवी शताब्दी के मध्य तक समाप्त मानत हैं किन्तु श्री गोपीनाथ राऊ कुलशेखर के समय को ८२५ ई० मानते हैं तथा पेरियालवार का समय इसी के साथ या कुछ पहले का बताते हैं तथा तोण्डरादिपोडी आलवार तिरुमगयालवार तिरुपाणालवार, (समकालीन) का समय ई० ८३० के लगभग मानते हैं। विवादग्रस्त मतो को देखते हुए जिनका विशद उल्लेख यहाँ नही किया जा सकता मैं श्री गोपीनाथ के मत से

---

[1] श्री आयगर कृत--वैष्णव सप्रदाय का प्राचीन इतिहास, पृ० १३।

[2] मे पयालवार भूतात्तालवार और पायगैयालवार तिरु मरि सपीरान् है, इनम से पहले तीन श्री निवासा मे मुदलारवार कहलाते है।

सहमत होना उपयुक्त समझता हूँ। प्रथम चार आलवारों के समय को छोड़कर अन्य आलवारो का क्रम, काल क्रमानुसार नहीं किया गया है, क्योंकि उनमे से बहुत से समकालीन थे और जिनका इतिहास २०० वर्ष के भीतर अर्थात् ७ से ९वीं शताब्दी के अंदर समाप्त हो जाता है।

आलवार उसे कहते हैं जिसे ईश्वर का सहज साक्षात् ज्ञान हो और जो ईश्वर के ध्यान में डूबा रहता है। आलवारो के ग्रंथ विष्णु के उत्कृष्ट एवं अभिन्न प्रेम से भरे हुए हैं। यह प्रेम प्रपत्ति सिद्धान्त की नींव बनकर रहा। आलवार और अरगीयसा मे अन्तर यह है कि आलवारो को श्रद्धान् और उनकी शरणागति के सुख का व्यक्तिगत अनुभव था और अरगीयस विद्वान थे और उन्होंने आलवार सिद्धान्तो को विशद् रूप से प्रस्तुत किया था। अरगीयसा के बारे मे हम आगे कहेंगे। पौगे भूतात्त और पेय ने तिरुवन्ताडी ग्रंथ के १०० पद्य के अलग अलग तीन प्रकरण रचे थे।[1] तिरुमरीसाई पीरान ने अपने जीवन का अधिकाश भाग त्रिपलीकेन काजीवरम् और कुम्भकानम मे बिताया था 'नन मुखम् तिरु-वन्तादि' जिसमें ९६ दोहे हैं और 'तिरु चण्ड वृत्तम नामक तीन स्तोत्र, तिरुमरिसेपीरान ने लिखे हैं। नाम्मालवार कुरूवक की शूद्र जाति मे जन्मे थे। जो आजकल तिने वल्ली जिले मे आलवार्तीरू नगरी के नाम से जाना जाता है। ये आलवारों में से बहुसजक लेखक थे और उनकी कविताएँ 'नालाचीर दिव्य प्रबधम' नामक ग्रन्थ में सग्रहीत हैं। उनके रचित 'तिरुवृत्तम नामक ग्रन्थ मे १०० श्लोक हैं 'तिरु वापिरियम' मे सात श्लोक हैं, 'पेरियतिरुवताडी ८७ श्लोको का ग्रन्थ है और 'तिरु वाय मोली' नामक ग्रन्थ म ११०२ श्लोक हैं। नाम्म आलवार का समस्त जीवन ईश्वर के ध्यान म ही बीता। उनके शिष्य मधुर कवि उन्हें विष्णु का अवतार मानते थे। कुलशेखर राम के अनन्य भक्त थे। उनका रचित मुख्य ग्रन्थ पेरुमाल तिरुमोरीं है। पेरियालवार जो विष्णुचित्त नाम से भी जाने जाते थे, वे श्री बिल्लिपुत्तुर में जन्मे थे। उनके मुख्य ग्रन्थ तिरुपल्लाण्डु और तिरुमोरीं हैं। पेरियालवार की दत्तक पुत्री, आण्डाल कृष्ण की अनन्य भक्त थी, वह अपने को कृष्ण की गोपियो मे से एक मानती थी और जिसने अपना जीवन कृष्ण मिलन के लिए बिताया। वह श्रीरंगम के रगनाथ भगवान् को ब्याही गई थी। उनकी मुख्य रचनाएँ तिरु पावै और नच्चीयार हैं तिरुमोरीं ताडराडी पोडि आलवार मन्दनगुडी मे जन्मे थे। वे देवादेवी नाम की वेश्या के छल में फँस गए थे किन्तु प्रभु रगनाथ की कृपा से बच गए। उनकी मुख्य रचना 'तिरुमालै और 'तिरु पल्लियरूँची हैं। तिरुपाणारवार को निम्नजाति के सन्तान विहीन पनार ने पाला-पोसा था। उनकी दस श्लोकी एक रचना है जिसका नाम 'अमलनादि पिरान्' है। तिरु मगै चार जाति में उत्पन्न हुए थे।

---

[1] गवर्मेन्ट ओरियन्टल लाइब्रेरी मद्रास से हस्तलिखित प्राप्त।

उनकी मुख्य रचनाएँ 'पेरिय तिरुमोरी 'तिरुकुरुन दाण्डकम,' 'तिरु नेडु दाण्डकम,' 'तिरु वेरुट्टिरुक्क' इसके, 'सिरिय तिरुमडल और 'पेरिय तिरुमडल' है। तिरुमगे पहले डाका डालते थे किन्तु रगनाथ भगवान् की कृपा से उन्हे ज्ञान प्राप्त हो गया। 'नाल आयीर दिव्य प्रबधम' नामक ग्रन्थ जिसमे आलवारा की रचनाए हैं, तामिल देश मे महान् पवित्र ग्र थ माना जाता है और उसे वेदो के समकक्ष रखते हैं। यह ग्रन्थ बडी धूमधाम से मदिर मे ले जाया जाता है और उस समय इस ग्रन्थ के श्लोका का पाठ होता रहता है। इस ग्र थ का पाठ अन्य मुख्य अवसरा पर भी किया जाता है जैसा कि विवाह मृत्यु इत्यादि। इस ग्रन्थ के पदा का पाठ मदिर के सामने के कक्ष मे भी किया जाता है और वेद मत्रा के साथ क्रिया कम के समय भी इनका उपयोग होता है।

आलवारों का तत्व दर्शन

आलवारा की कृतियाँ साहित्यिक एव भक्ति की दृष्टि से ही महत्व रखती है, इसलिए उन्ह तात्विक दृष्टि से देखना कठिन है। दृष्टान्त के तौर पर ग्रन्थो के सामान्य विषय का परिचय कराने के लिए मैं नाम्मवार के (शठ कोप) रचना के मुख्य विषय का सक्षेप मे वर्णन करूँगा। वह अभिराम वराचाय की द्रमिडोपनिषद् के आधार पर रचित है।[1] शठ कोप की प्रभु के प्रति भक्ति उनके हृदय मे समा न सकी वह उत्कट भाव उनकी कविता मे फूट निकला और जिससे दुखी लोगो के हृदय को सात्वना मिली। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उन्हे अपने जनसाधारण के दुखो के प्रति उनके माता पिता से भी अधिक सहानुभूति थी। शठ कोप का एक मुख्य उद्देश्य यह था कि मनुष्य अपने को महान् आत्मा पुरुषोत्तम के प्रति स्त्री भाव से समर्पित करे और प्रत्येक जीव को उसी पर निभर रहने वाली स्त्री समझे, इसलिए शठकोप अपने को स्त्री भाव से प्रियतम की लगन म डूबे हुए, उसी पर सवथा आधीन मानते थे। वे अपने चार ग्रन्था मे से प्रथम मे आवागमन से छुटकारा पाने के लिए प्राथना करते हैं दूसरे म भगवान के महान् तथा उदार गुणा के अनुभव का वणन करते हैं तीसरे मे प्रभु से मिलने की उत्कठा, और चौथे मे भगवान से ऐकात्य की अनुभूति प्रभु से मिलने की तीव्र उत्कण्ठा की तुलना म कितनी कम ठहरती है। पहल प्रकरण के दश श्लोका म दास्य भाव प्लावित है। इसी म वे भगवान् के विशिष्ट गुणा का वणन भी करते हैं। दूसरे दस श्लोका मे भगवान की दया का वणन करते हुए कहते हैं हमे दुनिया की क्षणभगुर एव निरथक वस्तुआ से सवथा राग हटा लेना चाहिए। तत्पश्चात् वे भगवान् से लक्ष्मी सहित दुनियाँ मे अवतार

---

[1] गवर्मेंट ओरियन्टल हस्तलिखित पुस्तकालय मद्रास मे प्राप्त।

धारण करने की प्राथना करते हैं और उनकी स्तुति करते हैं। वे अपने पापा को स्वीकारते हुए प्रभु से अपने वियाग के असह्य दुःख का वणन करते हैं। फिर वे भगवान से आलिंगन करते हैं और यह अनुभव करते हैं कि उनकी त्रुटिया का कारण उनका स्वय का ही दोष है। व कहते हैं कि दास्य भाव की अभिव्यक्ति और सफलता किसी प्रकार के पूजा के उपकरणो पर आधारित कमकाँड पर निभर नही है, केवल तीव्र उत्कठा पर ही निभर है। सच्ची भक्ति की ही नितात आवश्यकता है। भगवान् के उत्तम गुणो के मनन से जनित तीव्र आनन्द से यह भक्ति प्रारम्भ होनी चाहिए, जिससे भक्त को यह प्रतीत हो जाए कि इन गुणो से महान् कही किसी मे कुछ नही है। वे नम्र हृदय से यह कहते हैं कि भगवान् उन भक्ता की सेवा को स्वीकार कर लेते हैं जो, कुटिल शत्रु को भी अन्य साधनो द्वारा अधिकार मे लाने के बजाय केवल मैत्री का ही सम्बन्ध जोडते हैं।[1] जो लोग अपने सहज भाव को स्वीकारने मे तत्पर है, उसी तत्परता से उन्ह अपने मे भगवान् का अनुभव होगा। सम्पूण भक्ति द्वारा ही हम भगवान के कृपा पात्र बन सकते हैं अन्य कोई साधन व्यथ है। व दूसरे शतक मे कहते हैं कि जिस भक्त को भगवान् के उत्तम गुणो का अनुभव है किन्तु मोहवश अन्य वस्तु से विरक्त नही हुआ है वह ईश्वर के वियोग के असह्य दुःख की पीडा भोगता है और उसे ऐसे दुःख से पीडित समस्त मानव जाति से सहानुभूति होती है। पुराण कथा और, विशेषकर भागवत की कथाओ द्वारा शठकोप को ईश्वर की निकटता का अनुभव होता है जो दुःखा को दूर कर भगवान के सम्बन्ध को दृढ करता है। फिर उन सन्तो का वणन करते हैं जिन्होने अपने अन्तर मे ब्रह्मानद का अनुभव किया है, जो समस्त आनन्दमय भावा की खान हैं और वह इस आनन्दानुभव की तीव्र अभिलाषा करते हैं। इस अभिलाषा से शठकोप के हृदय मे भगवत् विरह का तीव्र दुःख उत्पन्न हुआ और निरथक इच्छाओ की विरक्ति हुई। उन्होने प्रभु से न मिल पाने की अपनी असमथता पर अत्यत दुःख प्रकट किया और ऐसा करने से वे दुःखाभिभूत हो अचेत हो गए इससे भगवान ने उन्ह साक्षात् दशन दिए फिर उन्होने भगवान् के दशन के आनद का वणन किया। किन्तु तो भी उन्हे वे खो देंगे यह भय लगा रहा है क्याकि वे उनके लिए महान् हैं इसलिए उन्होने प्रभु के राग की शरण ली। तत्पश्चात् वे यो कहते हैं कि जिनमे अधिकार की भावना है वे ही ईश्वर से मिल सकते हैं। वे भगवान् के तेजस्वी गुणो का वणन करते हैं और कहते हैं कि ईश्वर का सानिध्य प्राप्त करना मोक्ष से अधिक वाछनीय है, वे कहते हैं कि मोक्ष की सच्ची परिभाषा भगवान का

---

[1] कौटिल्य वस्तु करण त्रितये पि जन्तुष्वात्मीयत्मेव करण त्रितयैकरूपम। सदश्य तानपि हरि स्व-वशीकरोति आचष्ट साद्र करुणा मुनि रुष्टमेन।

—द्रमिडोपनिषद् तात्पय-हस्त०।

दास बनना ही है।[1] तीसरे शतक के प्रथम भाग मे वे भगवान् के सौन्दय का वर्णन करते हैं। वे विलाप करते ह कि वे अपनी इन्द्रियाँ और मन की सीमा के कारण उनके पूर्ण सौन्दय का अनुभव नही कर सकते हैं। फिर वे ईश्वर की असीम अनुकम्पा और अपने दास भाव का वर्णन करते हैं। तत्पश्चात् व समस्त ससार और सासारिक वस्तुओं के निर्देशक शब्दो म भगवान के शरीर की कल्पना करते हैं।[2] ईश्वर की सेवा म उत्पन्न हुए और आनन्द का भी वर्णन करते हैं और कहते हैं कि जो भगवान् के निकट नही आ सकते उ ह भगवान् की मूर्ति मे तथा उनकी पौराणिक कथाओं मे मन लगाकर सान्त्वना लेनी चाहिए। तत्पश्चात् व अपने को भगवान् के विरह के शोक मे डुबा देते हैं और आशा करते हैं कि वे अपनी इन्द्रियो को वश मे करके भगवान् का साक्षात् दर्शन कर सकेंगे। व उन लोगो के लिए दुःखी होते हैं जो कृष्ण को छोडकर अन्य देवो की उपासना करते है। वे भगवान के दर्शन तथा उनके आनन्द का वर्णन करते हैं।

चतुर्थ शतक मे सुख देने वाली समस्त वस्तुओं की क्षणभगुरता का वर्णन किया गया है और भगवान को प्रसन्न करना ही सवश्रेष्ठ कत्तव्य माना है। वह यह समझाते हैं किस प्रकार सब पदार्थों से विरक्ति होने से और देश काल की मर्यादा रहित भगवत् प्रेम के उत्कर्ष से तथा उनके सतत् दर्शन न होने से वियोग की पीडा से वे अपने को स्त्री मानते हैं और वियोग के इस असह्य दुःख से अचेत हो जाते हैं।[3] तत्पश्चात् भगवान् किस प्रकार भक्त प्रणय से रीझ जाते हैं और वह उन्हें आलिंगन मे लेकर मन वचन और देह क्रिया द्वारा भोग्य बनाकर भक्त अपनी अभिलाषा पूर्ण करता है,

---

[1] साक्षादर स्फुटमवेक्ष्य मुनिर्मुकुन्दे ।
मोक्ष प्रदातु सदृक्ष फलम् प्रवृत्ते ॥
आत्मेष्टमस्य पद किंकसातैकरूपम् ।
मोक्षाख्य वस्तु नवमे निरणायि तेन ॥ —द्रमिडोपनिषद् तात्पय, हस्त० ।

[2] सव जगत् समवलोक्य विमोऽस्शरीर]
तद्वाचिनश्च सकला नपि शब्दराशीन् ॥
त भूत भौतिक मुखान् कथयन् पदार्थान्
दास्य चकार वचसव मुनिश्चतुर्थे ॥ —वही ।

[3] त पुरुषाथ मितराश्च रुचे निवृत्या
साद्र स्पृहा समय देश विदूरेग च
दृष्टु क्षुधा तदनवाप्ति मुवो द्वितीये
स्त्री भावना समधिगम्य मुनिमु मोह ।

—द्रमिडोपनिषद्, हस्त० ।

इसका वर्णन मिलता है। इसके बाद उन्होंने किस प्रकार तीव्रता से कृष्ण प्राप्ति का प्रयास किया और श्री कृष्ण उनके सामने से अंतर्ध्यान हो गए और किस प्रकार फिर वे एक बार पुन विरह दु ख मे डूब गए इसका वर्णन हुआ है। फिर उन्हें भगवान् की झलक और उनकी सर्वश्रेष्ठता की अनुभूति का आनन्द मिलता है। आगे जाकर वे वर्णन करते हैं कि किस प्रकार उनका भगवत् दर्शन एक स्वप्न था और उसके टूट जाने से वे मूर्छित हो गए। समय समय पर आने वाले इस विरह काल के सूनेपन को वे भगवत् नाम के जप मे बिताते थे और उनकी आराधना करते थे। वे विलाप किया करते थे कि बिना भगवान के सब कुछ सूना है। बीच बीच में ईश्वर की ओर से विमुख होने की त्रुटि करती चली जा रही मानवता के प्रति गहरी सहानुभूति उमड़ती रही। उनके अनुसार ईश्वर के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं के प्रति राग ही बन्धन है।[1] जब कोई यह अनुभव कर लेता है कि भगवान् ही सब कुछ है तो उसके सारे बन्धन टूट जाते है।

पंचम शतक में वे या कहते हैं कि प्रभु कृपा ही मनुष्य का रक्षण कर सकती है। वे अपने को प्रभु की पत्नी अनुभव करते हैं और उससे आलिंगन के सतत अभिलाषी है। भगवान से मिलने के शोक, विलाप और चिन्ता से अभिभूत होकर वे मूर्छा रूपी अंधकार मे डूब गए जिससे इन्द्रियां निश्चेष्ट हो गईं। मूर्छा के बाद वे भगवान के आभूषण देख पाए किन्तु उनका साक्षात् दर्शन न कर पाए जिससे शोक और हर्ष दोनों में डूबते रहे। वियोग दु ख से छुटकारा पाने को उन्होंने भगवान् से तादात्म्य साध सुख पाया और उन्होंने यह सोचकर भगवान् की क्रियाओं का अनुकरण किया, कि जगत् भगवान् से ही उत्पन्न हुआ है।[2] आगे ७०, ८० पदो मे वे कुम्भकोनम की श्री कृष्ण की मूर्ति के प्रति अपने अनुराग का वर्णन करते हैं और यह भी वर्णन करते हैं भगवान के उनसे उदासीन हो जाने के कारण किस तरह उन्होंने महान् दु ख उठाया क्योंकि भगवान् ने अपने प्रेमी का आलिंगनादि प्रेम व्यापार द्वारा संतुष्ट नहीं किया, और

---

[1] प्रीता परहरिरमुष्य नदा स्वभावा-
एन मना वचन देह-कृत क्रियाभि
सर्व चंदन प्रमुख-सर्व विध स्वभोग्य
सश्लिष्टवानिदमुवाच मुनि स्तितीये ।।

—वही।

[2] शोक ज तम् परि जिहीपु रिवाखिलानाम्
सर्गादि, कर्तु अनुकारर सेन शौवे
तस्य प्रवृत्ति अखिला रचिता मायेऽति
सद् भावभाविता मना मुनि राहा पष्ठे।

किस तरह भगवान् से अपने प्रणय व्यापार की उपेक्षा के कारण अप्रसन्न हो गए और किस तरह अन्त में भगवान् ने स्नेहपूर्वक आलिंगनादि प्रदान कर उन्हें सन्तुष्ट किया। भगवान् को जो जगत् का दिव्य अधिपति है, उनके लिए प्रेम और सहानुभूति उत्पन्न हुई और उन्हें मानुषिक प्रेम के प्रकार से सन्तुष्ट किया।[1] वे प्रभु के आलिंगन से प्राप्त महासुख का वर्णन करते हैं इस उन्मत्त इन्द्रिय प्रेम और ईश्वरीय आलिंगन को पाकर वे जीवन के सम्बन्ध में सांसारिक रुचि से विमुख हो गए।

नवम् शतक में, ये महात्मा यह जानकर कि वे सामान्य पदार्थ को नहीं देख सकते हैं और विश्व में भगवान् के दैवी अस्तित्व से भी सन्ताप नहीं होता इसलिए उन्होंने भगवान के अप्राकृत वपु में ध्यान लगाया और उनका सान्निध्य प्राप्त करने को विलाप करने लगे। शतक का अधिकतर भाग विरह के विलाप से पूर्ण है। पुनः किस प्रकार सतत् विलाप और चिन्तन से उन्हें साक्षात्कार हुआ इसका वर्णन करते हैं, किन्तु फिर भी वे दुःखी रहे क्योंकि वे उन्हें स्पर्श न कर सके। तत्पश्चात् भगवान् ने प्रार्थना सुनकर मानुषी रूप धारण किया और उनके दुःखों को दूर किया।[2] अन्य कई पदों में वे भगवान से वियोग और क्षणिक मिलन के दुःख का वर्णन करते हैं और किस प्रकार पक्षियों द्वारा भगवान को सन्देश भेजते हैं किस प्रकार भगवान ने मिलन में विलम्ब किया इसलिए दुःखी हुए कैसे वह निर्दिष्ट समय पर मिलन की आशा रखते थे तथा वे किस प्रकार स्वर्ग में किए जाने वाले काम धरती पर भी दोहराए जाएँ और किस तरह उनका व्यवहार गोपियों जैसा ही तीव्र और प्रचंड हो यही सब वर्णन के विषय रहे। अन्तिम पदों में वे यही निष्कर्ष पर आते हैं कि भगवान् का सच्चा दर्शन अति प्रेमी भक्त को ही हो सकता है इन चर्म चक्षुओं के लिए दर्शन सम्भव नहीं है।

श्री हूपर ने नाम्मालवार रचित तिरुवृत्तम ग्रन्थ के कई रोचक उद्धरणों का अनुवाद किया है, यहाँ जो उद्धरण दिए गए हैं उनसे यह ज्ञात हो जाता है कि उनके भगवान के प्रति प्रेम गीत किस प्रकार के हैं।[3]

---

[1] कोपं मम प्रणयजम् प्रशमय कृष्ण
स्वाधीनताम् आतनुतेऽति सविस्मयं स
स्वीयां विरुद्ध जगद् आकुलिता न चतेन
सर्दान्तिता अनुबभूव मुनि तृतीये। —वही।

[2] सग निवस्य मम सस्मृति मडले माम्
सस्थापयन् कथम् अस्तीति अनु चोदितेन
आश्चर्य लोक तनुताम् अपि दर्शयित्वा
विस्मारित किल शुचम् हरिणा स्तमेऽसौ। —वही।

[3] अलवारों के गीत—जे० एस० एम० हूपर रचित पृ० ६१ ६८।

वह बाला अपने मोहक नेत्रों से उन चरणों का प्रेम करती चिरजीव रहे, जिन चरणों को देवता पूजते हैं वह कन्हैया के मेघ समान काले चरणों मे प्रेम करती है, उसकी आंखें शोक से गहरे सरोवर म कायल मछली की नाई लाल लाल हो गई हैं।[1] अब इस ग्राम मे जिसका शीतल स्वभाव था वहाँ परम लू बरसती है। क्या कृष्ण अपना राजदंड एक तरफ रख कर मेरी इस विरही बाला का प्रेम चुराने के लिए काल मेघ बन गए हैं, क्योंकि तुलसी के लिए सुधबुध खोकर खुली आँखों से अश्रुपात कर रही है।[2]

भगवान् के वियोग म आलवार को अन्धकार को देखने मे आनन्द आता है क्योंकि वे कृष्ण जैसे काले हैं

तुम कृष्ण के स्वर्ग के समान सुन्दर हो जब वह चला जाता है तब वियोग कितना लम्बा दीखता है किन्तु वे जब होते हैं तब सयोग के क्षण कितने छोटे लगते हैं। प्रेमी का दीर्घ अथवा अल्प सान्निध्य दुःख ही दुःख देता है। कपटी होते[3] हुए भी वह आच्छादक मेघ धन्य हैं। मेरी उस सुन्दर कंकण वाली युवती का क्या होगा जो बडी कोयल जैसी अश्रुयुक्त आँखों सहित अपने हृदय मे तुलसी के प्रति प्रेम पीडा छिपाकर घूम रही है और तुलसी के पुष्प गरुड द्वारा लाए गए हैं और वे झंझावात मे गिरि की ओट मे घनीभूत होते जा रहे हैं।[4]

आलवार हंसो और बत्तखो से अपना सदेश ले जाने की याचना करता है। उडते हुए हंस और बलाका। मैंने आते ही याचना की कि जो कोई भी पहले पहुँचे किन्तु यह भूले नहीं। अगर तुम मेरे हृदय से कन्नन को वहा देखो तो उन्हें मेरी याद दिला देना और कहना कि तुम अभी तक उनके पास नहीं गए क्या यह उचित है ?

आलवार विलाप करता है कि मेघ उनका सदेश नहीं ले जाएगे। वह मेघ और कृष्ण की समानता बताता है

मेघावली, मुझे यह बताओ कि तुमने तिरुमाल का धन्य रूप किस प्रकार पाया ? तुम जीवन देने वाला पानी भर कर आकाश म घूमते हो, इससे तुम्हारा शरीर पीडित होता है शायद इसी तपस्या से तुम्हें कृष्ण का रग प्राप्त हुआ।

मित्र भगवान् की निष्ठुरता का भी वर्णन करता है

---

[1] युवती यहाँ पर आलवारों की शिष्या है और प्रेयसी गृहिणी है कन्हैया कृष्ण हैं।
[2] ये भी युवती के वचन हैं, तुलसी से श्रीकृष्ण अभिप्रेत हैं।
[3] वियोग बहुत लम्बा दीखता है और मिलन क्षणिक। (आलवार)
[4] माता का युवती के लिए विलाप।

इस रात्रि के लम्बे समय मे जब मनुष्य का अधकार म भी रहना पडता है, तब भी उसे दया नही आती कि वह असह्य शोक मे खडी हुई है उसकी कटि कोमल है और वह मृगनयनी वन मे घूम रही है, क्या मैंने उस वमन के चरण कमल की लम्बी स्तुति करके इसलिए पैदा किया था ?

आलवार नील कमल म श्रीकृष्ण की समानता देखता है और भगवान् को सवत्र देखता है

नील विशाल गिरि पर कमल के सारे सरोवर मेरे लिए भगवान् की च तु की सु दरता हैं, जो भगवान् जगत् पति है स्वग का भी पति है और समस्त पुण्यशाली आत्माओ का पति है और वह मेरा भी है।

आलवार भगवान की महानता के गुण गान करता है

सन्तो ने अपने पवित्र श्रम से पुण्य कमा कर कहा है और दावे के साथ कहा है कि 'भगवान का रग शानदार सौ दय नाम और रूप और तेजस्वी गुण यह है वह है' कि तु उनका श्रम भगवान की महानता को नही पा सकता। उनका गान एक टिमटिमाते दीप के समान है।

सौतेली माता प्रणयिनी, पर दयार्द्र है, क्योंकि प्रेमिका लम्बी रात्रि सहन नही कर सकती

सु दर द त गाल स्तन एव गुलाबी मुख वाली, मेरे पाप से उत्पन्न वह युवती बिलाप करती रहती है यह सु दर कि तु अन त रातें तुलसी के लिए उसकी अन त अभिलाषा की तरह कितनी निरय है।

पुन सौतेली माता दयार्द्र होती है क्योंकि उसकी युवती क या अभी इस उत्कट प्रेम के लिए अल्पायु है

अभी उसक स्तन पूरे खिल नही है मुलायम बाल अभी छोटे ही हैं और अचल अभी तक कटि पर ढीला है, आँखो पर अभी भी निर्दोष भाव और बोली भी तुतलाती है।

पुन भगवान् प्रेयसी के प्रति मोह होने पर मित्र के उलाहने का उत्तर देते हैं

उसके लाल कमल नयन मेरा जीवन हैं वे स्वग क समान है।

प्रेयसी अधकार सहन नही कर सकती और तो भी चद्र क आगमन से दु खी हो जाती है

हे बालचन्द्र ! तूने रात्रि के विशाल अधकार को वेष्टित कर लिया है मुझे भी उसी प्रकार समेट ले। क्या चद्र अधिक प्रकाश डाल कर मुझ असहाय को सुखी करना चाहता है जो तुलसी पुष्पो के लिए आतुर है ?

प्रेयसी की सहचरी उसे शिथिल हुई देख निराश होती है

अहा हा वह सुबकती है और गद्गद होकर घनश्याम को पुकार रही है। क्या मालूम वह जी सकेगी या उसका यह शरीर और जीव चला जाएगा।

पुन कुल शेखर रचित तिरुमान तिरुमारी अध्याय ५ म ऐसा कहा है

यद्यपि लाल अग्नि स्वत उभरती है और प्रचड दाह बरसाती है, तो भी लाल कमल, केवल लाल चक्र शंखा वाले भगवान् के लिए ही फूलते हैं, जिनका निवास ऊचे स्वर्ग म है हे विश्ववकोटु के पति! क्या तू मेरा दुःख दूर नही करेगा? मेरा हृदय तेरे असीम प्रेम के सिवाय और कहीं नही पसीजता।

समस्त नदियाँ अपना पानी इकट्ठा कर फैलती हैं और दौडती हुई समुद्र म मिलती हैं, बाहर अलग नही रह सकती। हे मेरे आधार! तेरे आनद मे डूब बिना मेरा कोई सहारा ही नहीं है, हे विश्ववकाटु के पति, हे मेघ वर्णी गुणी, केवल तू ही मय है।[1]

उसी पुस्तक में आगे और लिखा है[2]

मेरा ससार से कोई रिश्ता नहीं है और यह ससार झूठ का सच मानता है अत मैं पुकारता हूँ हे रगद मेरे पति! तेरे ही लिए मेरा राग जगता है।

मेरा इस ससार से कोई सम्बन्ध नहीं है श्रीयुत कटि युक्त युवतियो के समूह में म केवल मैं ही प्रेम और हर्ष से तुझे पुकारती हूँ हे रगद मेरे पति!

पुन 'नालायीर दिव्य प्रबधम्' ग्रन्थ के तीसरे पावई खण्ड में गोपी भाव से अपनी सहेलियों से सोए हुए कृष्ण को जगाने के लिए कहती है।

हम गायों के साथ जगल म चलें और वहाँ चलकर भोजन करें। ग्वाल हमें नहीं पहचानेंगे। यह कितना सुन्दर वरदान है कि तुम हम जैसों म ही पैदा हुए हो। गोविंद तुम्हें किसी की कमी नहीं है पर हमारा तुमसे यह सम्बन्ध कभी नहीं छूटेगा। अगर हम प्यार दुलार में तुम्हारा बचपन का नाम पुकारें तो तुम रूठ न हो जाना। हम तो बच्चे हैं कुछ नहीं जानते क्या तुम हमें क्षमा करोगे? आ० सत्यानन्दाचार्य।[3]

पुन पेरियालवार अपने को यशोदा मानते हुए बालक कृष्ण का वर्णन करते हैं जो भूल म पडा हुआ चद्र को पुकार रहा है

---

[1] हूपर कृत, वही पृ० ४८।
[2] वही, पृ० ४४।
[3] वही, पृ० ५७।

(१) वह धूल म लोट रहा है जिससे भौंहे के पास वाले मणि लटकने लगे हैं और किंकणी के घु घरू नाद करते हैं। मेरे पुत्र गोविंद के खेल को तो तुम देखा। हे पूर्ण चद्र ! अगर तेरे आँखें हो तो तू यहाँ से चला जा।

(२) मेरा नन्हा अमृत समान प्यारा ! मेरे आर्शीवचन तुझे बुला रहे हैं छोटे-छोटे हाथो से इशारा कर रह है। हे पूर्ण चद्र अगर तू इस श्याम नन्हे से खेलना चाहता है तो बादलो मे न छिप, किन्तु खुश होकर इधर आजा।[1]

पुन तिरुमगै कहते हैं

बुढापा आते ही हम बैसाखी का सहारा लेत हैं, जब दोहरी कमर होकर हमारी आँखें जमीन पर गड जाएँगी और हम क्षीण हो जाएँगे और पाँव डगमगाएँगे तब थक कर आराम के लिए बैठ जाएँगे और वदरी की स्तुति करेंगे जिसने अपने घर मे मायावी राक्षसी माता का स्तन पान करके उसे मार डाला—

पुन आंडाल कहती है हे नद गोपाल की पुत्री ! तू द्वार खोल द तू मस्त हस्ती की तरह पुष्ठ बाहु की वजह से दौड नही पाती तेरे सिर के बाल नपिन्नाई की सुगध से व्याप्त है। देख सवत्र मुर्गे बोल रह हैं, माधवी कु ज मे कोयल कूक रही है, तू अपने हाथ मे गेंद लेकर आजा, प्रसन्नतापूवक अपने कर कमलो द्वारा खोल दे जिसमे तेरी चूडियाँ खनखना उठें जिससे उसके नाद के साथ तेरे भाई का नाम हम गाएँगे। ओ एलोरम्बावाय।

तू उन्हें ३३ देवो के साथ युद्ध मे लडने के लिए साहसी बनाने मे सक्षम है। तू अपनी निद्रा से जाग उठ। तू न्यायी है, तू सशक्त है और निमल है तू अपने शत्रुओ को जला देता है निद्रा से जग। ओ नारी नपिन्नाई तेरे कोमल स्तन छोटी कटोरियो के समान हैं, तेरे मधुर होठ लाल हैं और तेरी क्षीण कटि है, हे लक्ष्मी ! निद्रा से जग कर अपने दूल्हे को पखा और दपण दे दे, और हमे स्नान करा दे। ओ एलोरम्बावाय।

आलवारो की भक्ति के मुख्य गुण का वणन करते हुए नाम्मालवार को पराकु श अथवा शठकोप भी कहा गया है। गोविंदाचाय ने दी डीवाइन विजडम आफ द्राविड सेंटस तथा दी होली लाइवज आफ दी अजहवास' ग्रन्थो मे कहा है कि नाम्मालवार की मान्यतानुसार जब कोई भक्ति मे परिपूण समपण भाव से अभिभूत हो जाता है तब वह सरलता से सत्य को पा जाता है।[2] नाम्मालवार ने कहा है मुक्ति के लिए केवल भगवान् की कृपा ही चाहिए, हमे समपण करन के अतिरिक्त और कुछ भी करना नही है। निम्न शब्दो मे नाम्मालवार कहते हैं कि भगवान् हम अपने से प्यार करने को सतत् उकसाते रहते है।

---

[1] वही पृ० ३७।
[2] वही पृ० ३५।

मैंने आन दमय भगवान का नाम सुना और मेरी आंखा मे पानी भर आया। अरे यह क्या हुआ ? मैंने पूछा। यह कसा विस्मय है कि सब सम्पन्न भगवान्, स्वय दिनरात मुझमे मेरे निरन्तर मिलन के लिये प्रणय कर रहे हैं और मुझे अकेला छोडना नहीं चाहते ?

नाम्मालवार पुन लिखते हैं कि भगवान् की स्वतन्त्रता पर केवल उनकी कृपा का ही बन्धन है। उन्हीं के शब्दों म हे कृपा! तूने भगवान् को उनकी न्याय पूर्ण इच्छा की स्वतन्त्रता से रोक रखा है। कृपापूर्ण वायु से सुरक्षित हो, भगवान अपनी इच्छा होने भी मुझसे अलग नहीं हो सकते। अगर वे ऐसा कर भी सकें तो मैं कहूंगा कि मेरी ही जीत हुई क्योंकि उन्हें कृपा देकर ही अपनी स्वतन्त्रता खरीदनी पडेगी।' उक्त स्थिति का समथन करते हुए वे एक भक्त नारी का उदाहरण देते है जिसने कांची के वरदराज के चरण पकड कर यह कहा था, "भगवान् मैंने तो अब तेरे चरण मजबूती से पकड लिय है अब तुमसे हो सके तो मुझे ठुकरा दे और अपने को मुझ से दूर कर ले।"

नाम्मालवार तुवनील या निनृउकुमिक्कमे जो प्रेम का तामिल पर्यायवाची शब्द है, का प्रयोग करते है। जिसका तात्पय प्रेम के उस सतत् वतुलाकार म घूमते भाव से है जो गहरा गहरा छेद करता हुआ जाता है किन्तु जो कभी, न तो अवसन्न होता है और न कभी बिखर पाता है। इस प्रेम का वतुलाकार रूप मे हृदय मे छेद करना मूक प्रक्रिया है जो वर्णनातीत है तथा उतना ही अवाच्य है। जब गाय को अपने बछडे को दूध पिलाने की आतुरता होती है तब उसके थन दूध से भर कर टपकते हैं। इसी प्रकार भगवत् प्रेम शाश्वत एव निरन्तर विकासशील है।[1] यामुन ने 'भगवद् विषयम्' नामक ग्रन्थ मे नाम्मालवार और तिरुमग आलवार के प्रेम की विभिन्नता स्पष्ट की है। तिरुमग आलवार सम्मोहक प्रेम की प्रलापी हर्षोन्मत्त आदान प्रदान की स्थिति मे ईश्वर के साथ सतत् सख्य की अभिव्यक्ति के विश्वासी थे। ये प्रेम की अनन्त गहराई मे डूबे हुए थे और व मादक पदाथ के सेवन स उत्पन्न अचेतावस्था की तरह नशे मे रहने के भय म सदा रहा करते थे। नाम्मालवार के प्रेम में भगवान की तीव्र खोज प्रमुख बात थी। वे एकाकी भाव स अभिभूत हो अपने आपको खो बठते थ। वे बिल्कुल मदोन्मत्त ता कभी नहीं रहते थे। अपने प्रियतम और पति के मिलन की आशा से उनकी चेतना सशक्त और मजबूत रहती थी।[2] इस अवस्था का वर्णन तिरवाई मोरी मे इस प्रकार है

---

[1] द्रविड सन्तो की दवी नाम, पृ० १२७–२८।

[2] देखो–भागवद् विषयम् पृ० ६, पृ० २६६५ तथा दैवी ज्ञान पृ० १३०–३१।

वह रात और दिन नींद क्या है जानती ही नहीं। उसकी कमल जैसी आँखें, आँसुओं में तैरती रहती हैं, वह रोती और चक्कर खाती रहती हैं। हाय! तेरे बिना मैं कैसे इसे सहन करूँ। सारा जगत् उसके साथ सहृदय हो उच्छ्वसित होता रहता है।

ईश्वरीय प्रेम की तीन अवस्थाएँ भी बहुधा वर्णन की गई हैं स्मृति, ध्यान और पुनः संगम। पहले का अर्थ भगवान से भूतकाल में प्राप्त उत्कृष्ट सुखों की स्मृति है। दूसरे का अर्थ ऐसी भूतपूर्व स्मृति तथा वर्तमान में उसकी अनुपस्थिति के दुःख में मूर्च्छित होना और हताश होना है। तीसरे का अर्थ ध्यानस्थ अवस्था में यकायक सरलता का आवेश होना, जिसके उन्माद के कारण से मूर्च्छा से मृत्यु भी हो सकती है।[1]

आलवारों में तात्विक चिन्तन का विकास नहीं पाया जाता, उनमें केवल भगवान् के प्रेम का आनन्दानुभव में ही था फिर भी हम नाम्मालवार के ग्रन्थों में आत्मा के स्वरूप के अनुभव के वर्णन पाते हैं। वे कहते हैं "इस विस्मय पूर्ण वस्तु का वर्णन करना अशक्य है, आत्मा, अनन्त और ज्ञान स्वरूप है जिसे भगवान् ने अपने प्रकार के रूप में मुझे दिखाने की कृपा की अर्थात् मेरा और भगवान् का सम्बन्ध उद्देश्य और विधेय जैसा द्रव्य और गुण जैसा और स्वर-व्यंजन जैसा है आत्मा का स्वरूप ज्ञानियों को भी अगम्य है। इसे यह और वह ऐसा भी नहीं कहा जा सकता योग द्वारा भी आत्मा का साक्षात्कार इन्द्रियप्रत्यक्षविषय ज्ञान जैसा नहीं हो सकता। आत्मा का दर्शन जैसाकि भगवान् ने मुझे कराया है वह शरीर इन्द्रिय प्राण मन और बुद्धि इत्यादि विकारी तत्त्वों के कहीं परे है। आत्मा सबसे विलक्षण और सूक्ष्म है, इसे अच्छा या बुरा कुछ भी नहीं कहा जा सकता। आत्मा इन्द्रियगोचर पदार्थों की कोटि में नहीं आती।[2]

आत्मा को यहाँ शुद्ध सूक्ष्म तत्व माना है जो मल रहित है और जो अन्य विषयों की तरह जाना नहीं जा सकता। सत्ता के स्वरूप के विषय में दार्शनिक वर्णन एवं अपने मत के तार्किक या प्रमाणगत प्रश्नों की गवेषणा आलवार क्षेत्र के बाहर थी। उन्होंने तो प्रेरणा युक्त गीत गाये और बहुधा ऐसा भी मानते थे कि इन कृतियों में इनका कुछ भी हाथ नहीं है वे तो समझते थे कि भगवान् ही उनके मुख से बोल रहे हैं। ये गीत बहुधा झांझ और मादक स्वर माधुर्य के साथ गाये जाते थे यही उनकी विशिष्टता थी और इस प्रकार ये गीत दक्षिण भारत में प्रचलित तत्कालीन संगीत की रूढ़ि से सर्वथा भिन्न थे। श्री रामानुज के विशेष आदेशानुसार आलवार ग्रन्थों

---

[1] भागवत् विषयम् पृ० ८, पृ० ३११६५ और दैवी ज्ञान, पृ० १५१।

[2] दैवी ज्ञान, पृ० १८६, तिरुवाय मोर्ली, ८, ५–८।

के सकलन के अभ्यास से तथा रामानुज स्वय ने आलवारा से अपने मत की पुष्टि मे जो प्र रणा पाई है इससे यह पता लगता है कि आलवार विष्णु पुराण और भागवत् के अतगत आये हुये कृष्ण के चरित्र से पूण परिचित थ।[1] कम से कम एक लेखाश ऐसा मिलता है जिससे यह अथ निकाला जा सकता है कि राधा (नप्पिनाई) कृष्ण की प्रियतमा थी। आलवार कृष्ण के वृन्दावन के बाल्यकाल का उल्लेख करते हैं और उनमे से बहुत से अपने प्रति यशोदा या ग्वाल बाल या गोपिया के भाव रखते थे। उनके गीतो मे ईश्वरीय प्रेम कभी कभी भक्त का कृष्ण से मिलन की आतुरता मे व्यक्त होता है या कभी इनमे विरह दु ख, सताप, कृष्ण से साक्षात् मिलन का आनन्द या कृष्ण के साथिया से भावमय एकता मे अभिव्यक्त होता है। भागवत् (१ ११, १२) में भी हम ऐसा पाते हैं कि तीव्र भाव से भक्त प्रेम मद मे विभोर हो जाते है किन्तु भक्त ने कृष्ण से सम्बध रखने वाले पौराणिक व्यक्तिया से एकात्मता प्राप्त की हो और ऐसी काल्पनिक एक रसता से उत्पन्न उत्कट भावो को व्यक्त किया हो ऐसा नही देखने मे आता। हम गोपी के कृष्ण के प्रति प्रेम को जानते हैं किन्तु किसी ने अपने को गोपी से तादात्म्य कर विरह की वेदना व्यक्त की हो ऐसा कही नही सुना। विष्णु, भागवत् एव हरिवश पुराणो मे कृष्ण की पौराणिक प्रेम कथाओ का ही वणन है। किन्तु वहाँ भक्ता ने कृष्ण के प्रेमिया से काल्पनिक तादात्म्य कर भगवान का प्रेम प्राप्त किया हो ऐसा उल्लेख कहीं नही है वहाँ केवल यही बताया गया है कि जिन्हे कृष्ण से प्रेम है, कृष्ण की प्रेम गाथा सुनकर उनका प्रेम और तीव्र हो जाता है। किन्तु यह तथ्य कि कृष्ण की पौराणिक कथा का प्रभाव भक्ता पर इतना हो जाय कि भक्त कृष्ण के प्रेमी जना के भाव से परिपूण होकर उनके ही जैसे बन जायें यह किसी भी धम के भक्ति इतिहास मे एक नवीन बात ही है। सम्भवत यह स्थिति भारत के अन्य भक्ति सप्रदाया म भी नही पायी जाती। आलवारो ही म हम सव प्रथम इस भाव को पाते हैं जो आगे जाकर गौडीय सम्प्रदाय के भक्तो क जीवन और उनकी रचना और विशेषकर श्री चतन्य के जीवन म उत्कट रूप मे पहुँचा। इसका उल्लेख

---

[1] सर रा० गो० भाण्डारकर कहते हैं कि कुलशेखर आलवार ने अपने मुकुन्द माला नामक ग्रन्थ मे भागवत से एक पाठ उद्धृत (११ २ ३६) किया है (वष्णव, शव और अन्य छोटे सप्रदाय पृ० ७०) श्री एस० के० आयगर अपने दक्षिण म वैष्णवो का पुरातन इतिहास' मे इसका प्रतिवाद करते हैं और कहते हैं कि यह पाठ कन्नड ग्रन्थ और देवनागरी पुस्तक तीनो ग्रन्था म नहीं पाया जाता। जो कि इनके देखने मे आय थे (पृ० २८) वे ऐसा भी सूचन करते हैं कि इस पाठ का उद्धरण का विषय शकास्पद है क्याकि यह पाठ बहुत से दक्षिण ग्रन्था के अन्त म पाया जाता है जो धार्मिक कम का वेद मन्त्रा के उच्चारण मे त्रुटि होने की आशका के निवारणाथ क्षमा याचना के रूप मे सकलित किया जाना प्रतीत होता है।

हम आगे जाकर इस पुस्तक के चतुर्थ ग्रन्थ में करेंगे। पौराणिक व्यक्तियों के भावों का कृष्ण के जीवन से ओत प्रोत हो जाने का अर्थ यही है कि भक्त में उन व्यक्तियों का कृष्ण के प्रति विशेष भाव और अवस्था का आत प्रात होना क्योंकि वे कल्पना से उन व्यक्तियों से तादात्म्य साध कर वे उनके भावों का अनुभव करते है ऐसा सोचने लगते हैं। इसी कारण से हम देखते हैं कि जब यह भाव गौडीय सम्प्रदाय में दृढीभूत हुआ और अलकार शास्त्र द्वारा दसवीं से चौदहवी शताब्दी में काम सवेग का विवेचन मान्यता को प्राप्त हुआ, तब गौडीय वैष्णवों ने प्रणय भाव की उत्कर्ष अवस्थाओं के विश्लेषण का भक्ति भाव का विकास माना। हम रूप गोस्वामी रचित उज्ज्वलनील मणि नामक ग्रन्थ में इस भाव के विकास का उत्तम दृष्टान्त मिलता है। वहाँ गोपियों और राधा के पौराणिक जीवन में साधारण भक्ति का गम्भीर शृगार भक्ति में सवेदनात्मक अनुकरण द्वारा परिवर्तित होना बताया गया है। यह ठीक उसी प्रकार होता है जैसे हम नाटकीय हाव भाव की विवेचना सवेदनात्मक रस लेकर करते हैं। अलकार शास्त्र ऐसा कहते हैं कि नाटक के प्रेक्षकों के सवेग नाटक को देखकर इस प्रकार उत्तेजित हो जाते हैं कि उस समय के लिये, देशकाल और व्यक्तिगत अनुभूतियों का इतिहास जो व्यक्ति का स्वरूप बनाते हैं, उनकी मर्यादाएँ टूट जाती हैं। सामान्य व्यक्तिगत भावों का तिरोहित होना और भावों का एक ही दिशा में परिप्लावित होना कल्पना द्वारा रगमच पर नट के उस भाव से ही तादात्म्य नहीं ला देता किन्तु उन नाटक सम्बद्ध व्यक्तियों से तादात्म्य भी कर देता है जिनके भावों की अभिव्यक्ति या अनुकृति की जा रही है। एक भक्त गाढ चिंतन द्वारा स्वय के भावों की उस अवस्था की मादकता तक पहुँच सकता है कि एक छोटे, नगण्य सकेत से भी वह अपने को राधा और गोपी के काल्पनिक लोक में पहुँच कर एक अति उत्तेजित और कामुक प्रेमी के सभी भावों का अनुभव करने लगे।

ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है कि आलवार ही सर्व प्रथम इस प्रकार के भक्त हुए जिन्होंने भावों के ऐसे परिवर्तन का विकास किया। इसी प्रकार राजा कुलशेखर जो आलवार थे और राम भक्त थे, व रामायण का पाठ हर्षोन्मत होकर सुना करते थे। सुनते सुनते व इतने उत्तेजित हो जाते थे कि जब राम का लका पर आक्रमण के प्रसग का वर्णन होता था तब वे राम की सहायता के लिये अपनी सेना को तैयार होकर कूच करने का हुक्म दे दिया करते थे।

आलवारों के भक्ति गीत कृष्ण के पौराणिक जीवन के अनेक प्रसगों का प्रगाढ परिचय देते हैं। विविध भाव जो उन्हें उत्तेजित करते थे वे मुख्यत वात्सल्य, मैत्री सख्य दास्य तथा दाम्पत्य भाव थे। इन भावों के द्वारा माता का पुत्र के प्रति वात्सल्य भाव, पुत्र का पिता जगत् कर्ता के प्रति आदर भाव तथा प्रणयिनी का प्रेमी

के प्रति शृंगार भाव मुख्य थे। कुछ आलवारों में, जैसाकि हम नाम्मालवार और तिरुमंगैयालवार में पाते हैं, उपरोक्त अंतिम भाव अर्थात् शृंगार भाव को ही अधिक महत्व दिया गया है। इन आलवारों के पारमार्थिक अनुभव में हम भगवान के प्रति पति और प्रेमी की उत्कट अभिलाषायें पाते हैं। उनके प्रेम की इस अभिव्यक्ति में हम उन शृंगारी इच्छाओं के अधिकतर विकृति जन्य प्रतीकों को पाते हैं जिन्हें गौडीय वैष्णवों की रचना में अत्यधिक महत्व मिला है। गौडीय सम्प्रदाय में प्रेयसी के शारीरिक सौंदर्य के वर्णन की अति हो गई है। आलवारों में उससे विपरीत, भगवान के अतींद्रिय सौंदर्य और शोभा तथा भगवान् कृष्ण के लिये स्त्री भाव से उत्कट आतुरता का वर्णन है। तीव्र अभिलाषा कभी कभी प्रेमी की पीड़ा के दयनीय विकृति जन्य चिन्हों से भी व्यक्त हुई है। कभी भगवान के पास दूत भेजा जाता है, कभी पूरी रात भगवान् की प्रतीक्षा में बितायी जाती है या कभी भगवान् से सचमुच आलिंगन कर उनके उन्मादी आनन्द के भोग आदि का वर्णन मिलता है। भगवान् स्वयं भी अपने प्रेमी आलवार के सौंदर्य और लावण्य से मोहित होकर उससे प्रेम का आदान प्रदान करते हैं। इन भावों को व्यक्त करते हुए कृष्ण के कथानक में आये हुए अन्य व्यक्तियों के जीवन प्रसंगों का स्वतन्त्रतापूर्वक उपयोग किया जाता है और कृष्ण जीवन के प्रसिद्ध प्रसंगों का वर्णन किया जाता है जिसके द्वारा आलवार प्रियतमा का प्रेम उत्कट हो जाता है। भावविह्वलता पानी के भँवर की तरह है जो अनन्त काल तक जीव में कभी वियोग के दुःख में और कभी मिलन के सुखोन्माद में व्यक्त होती है। आलवार अपने परमानन्द के अनुभव में भगवान् को सर्वत्र देखते हैं और उनकी प्राप्ति की गम्भीरता में उस आनन्द की अधिकाधिक माँग करते हैं। वे परम कोटि के उन्माद का भी अनुभव करते हैं जब वे अर्ध चेतन या अचेतन हो जाते हैं और बीच बीच में जागृति की स्थिति में भी आतुरता अभिव्यक्त होती है। यद्यपि भगवान् के प्रति आतुरता काम के साम्य पर वर्णित है तो भी यह उपमा इस हद तक नहीं ले जाई गई जिसमें काम के निम्न कोटि के विकारों का जानबूझ कर उल्लेख हो। इसलिये आलवारों का भगवत् प्रेम मानवी प्रेम के ढंग में वर्णन होते हुए भी दिव्य है। सम्भवतः आलवार यह बताने में अगुवा रहे कि प्रकार भगवान् के प्रति प्रेम एक कोमल भाव है जो दाम्पत्य प्रेम के मदोन्मत्त आवेश को मृदु कर देता है। दक्षिण का शैव सम्प्रदाय भी लगभग इसी काल में विकसित हुआ। शिव स्तोत्र भक्ति के उच्च और गम्भीर भाव से परिपूर्ण हैं जिनका मुकाबला अन्य किसी साहित्य में सम्भव नहीं है किन्तु इन स्तोत्रों में भगवान की महानता, गौरव एवं सर्वोच्च स्थिति तथा उसके प्रति आत्म संयम ईश्वर समर्पण भाव तथा आत्मत्याग ही मुख्य हैं। आत्म समर्पण एवं भगवान ही हमारा सब कुछ है इस भाव से उस पर अवलम्बन करना आलवारों में भी इतना ही अधिक प्रधान है किन्तु आलवारों में यह भाव आत्यन्तिक प्रेम की मृदुलता में गला हुआ है। शिव स्तोत्र भी भक्ति की दिव्य ज्योति से परि-

पूरा है किन्तु यहां समर्पण भाव का प्राधान्य है। माणिक्क वाचकर अपने 'तिरु वाचकम्' में शिव को सम्बोधित करते हुए कहते हैं[1]

क्या मैं तेरा दास नहीं हूँ ? क्या तू मुझे अपना नहीं बनायेगा, मैं प्रार्थना करता हूँ। तेरे सभी दासों ने तेरे चरणों का सान्निध्य प्राप्त किया है। क्या मैं अपने इस पापी शरीर का छोड़ कर तेरे दर्शन नहीं कर सकूँगा ? ओ शिवलोक के पति ! मुझे भय है, मुझे नहीं सूझता कि मैं तुझे कैसे पाऊंगा। मैं सर्वथा झूँठा हूँ। मेरा हृदय भी झूँठा, वैसा ही मेरा प्रेम है। किन्तु यदि तेरा यह पापी दास रोये तो क्या वह तेरी आत्मा की अमृतमय मृदुता को नहीं पा सकेगा ? शुद्ध मधुमय आल्हाद के पति। तू कृपाकर के अपने दास को सिखा जिससे वह तेरे निकट आ सके।

"मुझे तेरे चरणों मे प्रीति नहीं थी। सुन्दर सुगंधित केश वाली गौरी के अर्धांग। जिस जादुई शक्ति से पत्थर पके फल बन गये, उससे तेने मुझे अपने चरणों का प्रेमी बनाया। हे प्रभु ! तेरा मृदु प्रेम अमर्यादित है। हे निर्मल अंतरिक्ष देव। मैं कैसा भी विचलित हो जाऊं और कैसे ही मेरे कर्म हों, तू अपने चरण कमलों का दर्शन देकर मेरी रक्षा कर।

भक्त ने भगवान के प्रेम की प्रियता का अनुभव किया है और यह भी माना है कि भगवान की कृपा से ही वह उसकी ओर आकर्षित हो सकता है और प्रेम कर सकता है

बाजरे के दाने जैसा तू दूसरे फूलों से मधु मत चख। जब कभी हम उसका चिन्तन करते हैं उन्हें देखते हैं और उनके विषय मे वार्तालाप करते हैं तब अति मृदु मधुरूप आल्हाद बहता है और हमारा शरीर उस आनन्द में गल जाता है। हे गुंजन करती मधुमक्खी ! केवल उस दिव्य नर्तक के पास ही तू जा और उसके गुणों की श्वास से गुंजार कर।

आलवार और श्री वैष्णवों के बीच कुछ धार्मिक मतों का विरोध

अर्गप्पिस नाथ मुनि यामुन रामानुज तथा उनके साथियों ने आलवारों के प्रेरणात्मक उपदेशों का अनुसरण किया है किन्तु कुछ मुख्य धार्मिक सिद्धान्तों के बारे में उनका आलवारों से मतभेद था। ये विषय पृथक ग्रन्थों में संग्रहीत किये गये हैं जिनमें से एक स्वयं रामानुज द्वारा लिखित अष्टादश रहस्यार्थ विवरण है तथा दूसरी

---

[1] तिरुवाचकम् पोप द्वारा अनुवादित। पृ० ७७।

रचना का नाम 'अष्टादश भेद निर्णय' है।[1] वेंकटनाथ तथा अन्य लोगो ने भी इसी प्रकार के ग्रन्थ लिखे हैं। इनमे से कुछ मतभेदों का वर्णन निम्नानुसार है।

भेद का प्रथम विषय 'स्वामी कृपा' है। आलवारो की मान्यता यह है कि स्वामी कृपा सहज है, वह किसी प्रकार के साधन या भक्त के गुण विशेष पर निर्भर नहीं है। ईश्वर की कृपा उसका दैवी विशेषाधिकार है अगर किसी अन्य पर आधारित रहे तो वह वहीं तक सीमित हो जाती है। कुछ लोगों का यह मत है कि कृपा भक्त के पुण्य कर्म पर निर्भर है। अगर ऐसा न हो तो कालान्तर मे हर कोई मुक्त हो जायगा और किसी को कृपा प्राप्त करने का प्रयत्न आवश्यक नहीं रहेगा। अगर ऐसा माना जाय कि भगवान् अपने सहज भाव से किसी पर कृपा दृष्टि करते हैं और किसी पर नहीं, तो वे पक्षपाती कहलायेंगे, इसलिये यह मानना योग्य है कि भगवान् कृपा दृष्टि करने मे पूर्ण स्वतंत्र हैं तो भी व्यावहारिक दृष्टि से वे कृपा पारितोषक के रूप में उन्हीं पर वितरण करते हैं जो भक्त गुणी और पुण्यशील हैं। यद्यपि भगवान् पूर्णत कृपामय है और सबो पर बिना किसी के प्रयत्न के कृपा दिखाने मे स्वतंत्र हैं तो भी वे ऐसा नहीं करते। वे केवल भक्त पर जब वह पुण्य कर्म करते हैं तभी कृपा करते हैं। इसलिये भगवान की कृपा निर्हेतुक एवं सहेतुक दोनों ही है।[2] बाद मे कहा गया मत रामानुज तथा उनके अनुगामियों का है। यहाँ यह बता देना उचित होगा कि आलवार और रामानुज पंथियों मे मुख्य धार्मिक सिद्धान्तों के भेद उनके पीछे हुए अनुसंधान की खोज का परिणाम है जबकि आलवार ग्रन्थो की बहुत टीका की जाने लगी और रामानुज की स्वयं की रचनाओं ने अनेक विद्वानों को सिद्धांत स्पष्ट करने के हेतु से स्वतंत्र ग्रन्थ लिखने की प्रेरणा दी। पीछे आने वाले विद्वानों ने जब आलवार और रामानुज पंथ के ग्रन्थो की तुलना की तब वे इस निष्कर्ष पर आये कि उनके मुख्य सिद्धान्तों मे कुछ भेद अवश्य है। इसी प्रश्न को लेकर आलवारी तेंगलाई और वडजलाई पंथियों के बीच तीव्र विरोध उपस्थित हो गया था। पिछले पंथ के प्रवर्तक श्री वेंकट थे। इस भेद का उल्लेख अष्टदश भेद निर्णय मे संक्षेप से

प्राप्त करने के लिये शरणागति के सिवाय और कोई रास्ता नहीं है यह मान्यता है।[1] भक्त का पूर्णत नारायण पर विश्वास है, वह अन्य किसी की प्रार्थना नहीं करता, तथा उसकी प्रार्थना अन्य किसी हेतु से न होकर केवल गहन प्रेम से प्रेरित है। प्रपत्ति के गुण मे कट्टर रिपु के प्रति भी सब साधारण की ओर जैसी दया, सहानुभूति और मैत्री का समावेश होता है। इसे 'निर्भरत्व' कहा है[2] ऐसा भक्त यह अनुभव करता है कि स्वामी ही उसकी आत्मा का स्वरूप है इसलिये किसी भी परिस्थिति मे वही एक आधार है।[3] भक्त का यह मानना कि हमारे उच्च हेतु तक पहुँचने के लिये शास्त्रोक्त कर्म सहायक नहीं है इसे 'उपाय शून्यता' कहा है अर्थात् अन्य उपायो की निरर्थकता। भक्त अपने पर आने वाली आपत्तियो पर हसता रहता है। अपने को भगवान का दास मानकर, वह भगवान के ही मनुष्य जो कोई भी दुख डालते हैं उन्हे खुशी के साथ सहन करता है इसे 'पारतन्त्र्य' कहते है। भक्त यह सोचता है कि आत्मा ज्ञानमय है उसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है इसलिये वह भगवान के लिये ही जीता है और उसके आधीन है।[4] वैष्णव बहुधा एकान्तिम कहे गये है और गलती से उन्हे एकेश्वरवादी कहा गया है। किन्तु एकान्तित्व–विशेष लक्षणपूर्ण शरणागति का भाव और भगवान् मे बिना हिचकिचाये अवलम्बन ग्रहण करने से है जो भगवान् मे सभी प्रकार की प्रतिकूल परिस्थितियो के समय मे भी पूर्ण विश्वास रखता है। भक्त का हृदय भगवान् की उपस्थिति से हर्षपूर्ण हो जाता है भगवान् उसकी इन्द्रियाँ इच्छा भाव एव अनुभव को चेतना देते है। जिस पूर्णता से भक्त भगवान् का अपने सारे व्यवहार विचार और विश्व के समस्त पदार्थों मे अनुभव करता है वह भाव उसे उस लोक मे ले जाता है जहा सासारिक भावनाएँ–वैर तृष्णा, ईर्ष्या धिक्कार आदि सब

---

[1] अनन्यसाध्ये स्वामीष्ट महा विश्वास पूर्वकम्।
तद् एकोपायता याच्ञा प्रपत्ति शरणागति।

–अष्टागरहस्यार्थविवरण पृ० ३।

रामानुज गद्यत्रयम् ग्रन्थ मे कहते है कि मन की ऐसी याचना अपने पाप, त्रुटियो एव अपराध का स्वीकारने पर भी रहती है, भक्त यह समझता है कि वह भगवान् का निराधार दास है और वह उसकी कृपा से तरने का बहुत उत्सुक है देखो शरणागति गद्यम् गद्यत्रयम् म, पृ० ५२–५४।

[2] यह प्रपत्ति नैष्ठिकम् शब्द से जाना गया है (अष्टाग रहस्यार्थ विवरण पृ० ३–७) इसके उपरोक्त खण्ड की बन्दर और कपोत की कहानी से तुलना करो।

[3] यहा स्वामी शब्द को जबरदस्ती इस अर्थ मे लिया गया है स्वम् अपना स्वय का।

[4] ज्ञानमयो हि आत्मा शेषो हि परमात्मन इति ज्ञानानन्दमयो ज्ञानेन दगुणक सन् स्वरूप भगवदाधीन स तदर्थमेव तिष्ठतीति ज्ञात्वाऽवतिष्ठत इति यद् एतद् तद् अप्राकृतत्वम्।

–अष्टाग रहस्य विवरण पृ० ११।

निस्सार हो जाते हैं। भगवान् की उपस्थिति में भक्त संसार के समस्त जीवों की ओर दया और मैत्री भाव से भर जाता है।[1] भक्त को आचार्य से दीक्षा लेनी पड़ती है जिसके सामने उसे अपने की सब बातें कह देनी चाहिएँ और अपना सब कुछ गुरु को अर्पण कर देना चाहिए तब ही वह अपने को विष्णु का दास मान सकता है।[2] उसे तात्त्विक दृष्टि से यह समझना आवश्यक है कि जीव और जगत् विष्णु के अधीन है।[3] उसे यह तात्त्विक ज्ञान होना चाहिए कि जीव और जगत् सर्वथा भगवान् पर आश्रित हैं ऐसी मान्यता का अर्थ यह होता है कि भगवान् हमारी इन्द्रियों के व्यापार में उपस्थित हैं जिससे इन्द्रियाँ पूरे नियन्त्रण में आ सकती हैं। इन व्यापारों में भी भगवान् की उपस्थिति है इस अनुभव से भक्त नैतिक वीर बनकर इन्द्रियों के प्रलोभनों से दूर हो जाता है।[4] वेद और शास्त्रोक्त धर्म निम्न स्तर के लोगों के लिए हैं जिन्होंने अपने को भगवान में पूर्ण समर्पण कर दिया है उन्हें वे साधारण धर्म जो प्रत्येक को पालन करने पड़ते हैं पालना आवश्यक नहीं होता। ऐसे लोग भगवान की सहज कृपा से मुक्त हो जाते हैं और शास्त्रोक्त धर्म पालन न करने पर भी उन सबके फलों को पाते हैं।[5] उसे सदैव अपनी त्रुटियों का भान रहता है पर दूसरों के दोष नहीं देखता।

---

[1] इस गुण को नित्य रंगित्व कहा है।

[2] परमैकान्तिन् को जो पाँच संस्कार करने होते हैं वे ये हैं —

तापः पौण्ड्रस्तथा नाम मन्त्रो यागश्च पंचमः
अमी ते पंच संस्काराः परमैकान्तिहेतवः ।

—वही पृ० १५।

[3] इसे सर्वशेषित्वम् कहा है। सब कुछ ईश्वर के लिए है इसे शेष भूतत्वम् कहा है। वही, १८। इससे यही अर्थ प्रगट होता है कि भक्त भगवान का दास है, वह उसके प्रियजनों के लिए ही जीवन जिए जीव और जगत् भगवान् में अंग रूप से आश्रित हैं और उससे सभी प्रकार से संचालित हैं, वह तात्त्विक विचार से मानव मात्र की सेवा एवं भगवत् सेवा सहज ही अनुमति होती है इसे शेष वृत्तिपरत्व कहा है। —वही, पृ० १९ २०।

[4] इसे नित्यशूरत्व कहा है।

[5] ज्ञान निष्ठा विरक्तो वा मद् भक्तो ह्यनपेक्षक ।
सलिंगान् आश्रमान् त्यक्त्वा चरेत् अविधिगोचर ।
इत्येवम् ईषणा त्रय विनिर्मुक्त सन् भगवन्निर्हेतुक कटाक्ष एव मोक्षोपाय इति तिष्ठति खलु सार्धिकारी सकल धर्माणाम् अवश्यो भवति अष्टादश रहस्यार्थ विवरण पृ० २३। शास्त्रोक्त धर्म त्याग कर भगवान् की भक्ति को 'अविधि गोचर' कहा है। इस ग्रन्थ के अन्य खण्ड में रामानुज मोक्ष का इस प्रकार वर्णन करते हैं। मोक्ष यह निश्चय है कि ज्ञान, आनन्द और शक्ति में भगवान् इस लोक और

वह उनके साथ लगभग अधे जैसा व्यवहार करता है। वह तो इसी विचार मे मस्त रहता है कि उसके सारे कम भगवान के अधीन हैं। उसके लिए कोई भाग नही है क्योंकि वह अनुभव करता है कि भगवान ही इद्रियो द्वारा सारे भाग भोगता है।[1]

'अष्टाग भेद निर्णय मे कहा है कि आलवारा के मतानुसार मुक्ति म भगवान् अपनी खोई हुई वस्तु (आत्मा) पाते हैं या मुक्ति भगवान् की असीम दासता है इसलिए मुक्ति भगवान् के लिए अथ रखती है भक्त के लिए नही। दास की सेवा केवल भगवान की दासता के लिए है। इसलिए भक्त का यहाँ कोई स्वाथ नही है।[2] आर्गीयसा के मतानुसार, यद्यपि मुक्ति मुख्यत भगवान के लिए ही है ता भी वह साथ ही साथ भक्ताथ भी है क्योकि भक्त भगवान का दास बनकर अत्यत आनद का अनुभव करता है। स्वामी अपनी खाई हुई वस्तु वापस पा जाते हैं यह दृष्टान्त ठीक नहीं बैठता क्योकि मनुष्य ज्ञानमय है और भगवान् का दास बनने के अनुभव से उसके दु ख दूर हो जाते हैं। यद्यपि भक्त समपण भाव से अपने कर्मों के फला को त्याग देता है तो भी वह भगवान् की दासता पाकर सुखी है और साथ ही साथ ब्रह्मानुभूति क आनद को प्राप्त करता है। इस प्रकार उपासक (ज्ञान मार्गी) ब्रह्मज्ञान एव भगवान् की दासता को पाते हैं और जा प्रपत्ति माग का धारण करते है वे भी ब्रह्मज्ञान और भगवान् की दासता पात हैं। मुक्तावस्था की स्थिति मे, भगवत् प्राप्ति के भिन्न मार्गों को अपनाने स कोई अन्तर नही आता।[3] पुन आलवार मत म शास्त्रोक्त चार मार्गों, धम पालन, तात्त्विक ज्ञान भगवत् भक्ति और गुरु भक्ति के अतिरिक्त पाचवाँ माग

परलाक के समस्त पदार्थों से अतीत हैं। मुक्ति के लिए भगवान् की शरण लेना मुमुक्षुत्व कहा है। रामानुज का अविधि गोचर सम्बन्धी विचार रामानुज द्वारा भाष्य मे इमी विषय पर उनके अनुयायिया की व्याख्या से विरोध पैदा करता है। हो सकता है उनके विचारा मे परिवतन हुआ हो। यहाँ पर दिए विचार उस समय के हैं जब वे आलवारा मे प्रभावित थे।

[1] इसे पराकाष्ठत्व कहा है (वही २३–२४) मूर्ति का भगवान् की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति है एसा मानकर पूजा करना उपाय स्वरूप ज्ञान कहा है। सासारिक पदार्थों से विरक्ति और भगवत्प्रेम से परिप्लावित हो जाना है और भगवान ही जीवन का श्रेष्ठ विश्राम है इसे आत्मारामत्व कहा है।

[2] फल मोक्षरूप तद् भगवत एव न स्वाथम् यथा प्रणष्ट दृष्ट द्रव्यलाभो द्रव्यवन् एव न द्रव्यस्य, तथा मोक्ष फल च स्वामिन एव न मुक्तस्य, यद् वा फल कर्क्यं तत् पराथ मेव न स्वाथम्, परतत्र दगाकृत कैक्य स्वतत्र स्वाम्यथ मेव।

—अष्टाग भेद निर्णय, पृ० २।

[3] वही पृ० ३।

'प्रपत्ति' है। किन्तु आर्गोयस एसा सोचते हैं कि 'प्रपत्ति' के सिवाय केवल एक ही दूसरा माग भगवत् प्राप्ति का है और वह भक्तियोग है। रामानुज और उनके अनुयायी ऐसा मानते हैं कि ज्ञान और कम योग मत शुद्धि ही करते हैं जो भक्तियोग की प्रारम्भिक भूमिका है। गुरु भक्ति को प्रपत्ति का एक प्रकार माना है, इस प्रकार भगवत् प्राप्ति के दो ही प्रकार हुए भक्तियोग और प्रपत्ति।[1]

आग, श्री वैष्णवो मे श्री का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। किन्तु श्री वैष्णव सप्रदाय म तीन ही तत्वो को माना है इसलिए प्रश्न यह उठता है कि चित् अचित् और परमेश्वर म 'श्री' का क्या स्थान है। इस विषय पर पुराने सप्रदाय के प्रतिनिधि रम्य जामातृ मुनि के 'तत्वदीप ग्रन्थ के आधार पर जीव को ही श्री कहा गया है इसलिए उसका स्वरूप अणु है।[2] अन्य लोगो का कहना है कि श्री' सवव्यापी विष्णु ही है। भगवान् के प्रति वात्सल्य भाव का अथ, पुराने मतवादियो ने यह लगाया है कि प्रेमी भक्त के दोष भी भगवान् को प्यारे हैं।[3] पिछले मतवादी वात्सल्य के अथ मे भक्त के दोषो की ओर उदासीनता या उनकी ओर अधा होना माना है। पुराने सप्रदाय वादियो ने भगवान् की दया को भगवान को दूसरो के दु ख देख स्वय दु खी होना कहा है। पिछले सप्रदायवादी इसका अथ भगवान की क्रियाशील सहानुभूति स करते हैं अर्थात् भगवान् दूसरो के दु ख न देख सकने से उन्हे मिटाने की इच्छा करते हैं।[4]

---

[1] अत प्रपत्ति व्यतिरिक्ता भक्तियोग एक एवेति। —वही, पृ० ४।

[2] वही, दूसरे खड म ऐसा कहा है कि कुछ लोगो के मतानुसार श्री नही किन्तु नारायण ही हमारे पाप दूर करते हैं, किन्तु दूसरे यह मानते हैं कि श्री द्वारा भी दूरस्थ रूप म पाप नष्ट किए जा सकते हैं या श्री ही विष्णु है इसलिए ऐसा हो सकता है। पुष्प मे सुगध की तरह श्री का विष्णु से सग होने से वह भी पाप दूर करने मे सहायक है।

—वही, पृ० ५।

लक्ष्म्या उपायत्व भगवत इव साक्षात् अभ्युपगत न्यम्। वही।

[3] यथा कामुक कामिन्या मालिन्यम् भोग्यतया स्वीकारोति तथा भगवान् आश्रित दोष स्वीकरोति, इतरे तु वात्सल्य नाम दोषादर्शित्वम्।

—अष्टाग भेद निर्णय, पृ० ६।

आगे यह भी कहा है कि अगर भक्त प्रपत्ति माग ग्रहण करता है तो उसे औरो की तरह अपने दोषो के लिए उतना दु ख नही उठाना पडता।

[4] विकल्प का पहला अथ पर दु ख दु खित्वम् दया' है। दूसरा अथ स्वाथ निरपेक्ष— 'पर दु ख सहिष्णुता दया है। 'सच ता निराकरणेच्छा। पहले विकल्प के अनुसार

प्रपत्ति जिसे न्यास भी कहते हैं, पुराने सम्प्रदाय वालों ने भगवान् की उसे खोजने वाले के प्रति निश्चेष्टता संज्ञा दी है या उसका तात्पर्य चित्त की उस अवस्था से है जिसमें भक्त अपने को केवल जीव ही समझता है परन्तु इस ज्ञान में कोई भी अहंकार जैसी जटिल भावना जिससे व्यक्तिगत सत्ता उभरती है जागृत नहीं होती है। इसका अर्थ उस मानसिक अवस्था से भी हो सकता है जिसमें भक्त अपने को भगवान् जो हमारा अंतिम ध्येय है उसका सहायक मानता है और शास्त्रोक्त कर्म के बंधन का भार एक तरफ रखकर भगवान् पर ही अवलम्बन करता है[1] या अपने परम हित में एक ध्यान हो जाता है और इस अनुभव से हृष्ट पूर्ण होता है कि भगवान् ही उसके जीवन का एक अंश है। सहज ही ऐसा व्यक्ति बिना स्व विरोध के शास्त्रोक्त धर्म का अधिकारी नहीं हो सकता। जिस प्रकार एक अपराधी पत्नी अपने पति के पास वापस जाकर निश्चेष्ट हो अपने पति पर समर्पण कर देती है और अपने को उस पर छोड़ देती है ठीक उसी प्रकार एक अधिकारी भगवान् की तुलना में अपनी सही स्थिति जानते हुए भगवान् के प्रति समर्पण भाव में स्थित रहता है।[2] अन्य ऐसा सोचते हैं कि प्रपत्ति के पांच अंग हैं (१) भगवान् ही केवल एक रक्षक है (२) वही हमारा ध्येय है (३) हमारी इच्छाओं का वही श्रेष्ठ विषय है (४) हम अपने को उस पर समर्पण कर छोड़ें[3] और (५) भगवान पर पूर्ण विश्वास सहित उच्च प्रार्थना भावना।

दुःख पीड़ा करता है दूसरे में प्रतिकूलता से उत्तेजित होकर दया करने की इच्छा है जो भाव और संकल्प के बीच की अवस्था है।

—वही, पृ० ६।

[1] प्रपत्तिर्नाम अनिवारणमात्रम् अचिद् व्यावृत्तिमात्रम् वा शविधेय शेषत्व ज्ञानमात्रम् वा परानेपतत्परतिरूप परि शुद्ध या यात्म्यज्ञानमात्रम वा।

—वही, पृ० ६।

कुछ लोगों के अनुसार कोई उपरोक्त परिभाषा प्रपत्ति हो सकती है।
अतो प्रतिषेधा द्यन्य तमव इति कश्चित कथयति। —वही।

[2] अत्यन्त परतन्त्रस्य विरोधत्वेन अनुष्ठानानुपपत्ते प्रत्युत अनुष्ठानातुरानय-क्यमुक्तम् श्री वचनभूषणे चिरम अन्य परया मायया कदाचित् भर्तृ सकाश आगत्य माम् अंगीकुरु इति वाक्यवत् चेतनकृतप्रपत्तिरिति।

—वही, पृ० ६।

[3] दूसरे विकल्प में इसे इस प्रकार बताया है 'अनन्य साध्ये स्वामीष्टे महा विश्वास पूर्वकम तद् एकोऽपायता याञ्चा प्रपत्ति शरणागति। प्रपत्ति के ये पांच अंग हैं जो निक्षेप त्याग न्यास या शरणागति नाम से जाने गए हैं (अष्टांग भेद, पृ० ६ ७) पहले और दूसरे विकल्प में भेद यह है कि पहले के अनुसार प्रपत्ति एक

कुछ लोग प्रपन्न उसे कहते है जिसने आलवार लिखित प्रबंधो को पढा है। (अधीत प्रबंध प्रपन्न) कुछ ऐसा भी सोचते हैं कि केवल प्रबंध पढने से प्रपत्ति नही आती न उसे प्रपन्न कहा जा सकता है। वे ऐसा सोचते हैं कि प्रपन्न वही है जो कर्म ज्ञान और भक्तियोग के लम्बे मार्गों को नही अपनाता इसलिए इन मार्गों को महत्व नहीं देता। पुन पुराने सम्प्रदाय वाले ऐसा मानते हैं कि जिसने प्रपत्ति का मार्ग ग्रहण किया है उसे शास्त्रोक्त धर्म और आश्रम धर्म का त्याग देना चाहिए क्योकि गीता इस बात का समर्थन करती है। प्रपन्न को सब धर्मों का त्याग करके भगवान् की ही शरण लेनी चाहिए। कुछ ऐसा भी मानते हैं कि जिसने प्रपत्ति मार्ग ग्रहण किया है उसे शास्त्रोक्त धर्म पालना चाहिए। पुन पुराने मतावलम्बी ऐसा सोचते हैं कि ज्ञान मार्ग प्रपत्ति का विरोधी है क्योकि प्रपत्ति में ज्ञान का निषेध है प्रपत्ति में केवल भगवान में समर्पण भाव को माना है। धर्म और ज्ञान मार्ग मे अहंकार होता है जो प्रपत्ति का विरोधी है। दूसरे ऐसा मानते हैं कि भगवान् में क्रियात्मक समर्पण के भाव में भी अहंकार की मात्रा है इसलिए यह सोचना गलत है कि अहंकार के होने से ज्ञान और धर्म मार्ग का प्रपत्ति से समन्वय हो सकता है। इस प्रकार तथाकथित अहंकार से हम केवल अपनी आत्मा को ही सम्बोधित करते हैं न कि अहंकार को जो एक विकार है।[1] पुन कुछ ऐसा भी सोचते हैं कि जिन्होंने प्रपत्ति मार्ग अपनाया है उन्हें भी शास्त्रोक्त धर्म का पालन इसलिए करना चाहिए ताकि सामान्य एवं अपढ लोग शास्त्रोक्त कर्म की अवहेलना करने की आड न ले सकें अर्थात् प्रपत्ति मार्ग वालो को भी लोक संग्रह के लिए शास्त्र धर्म का पालन करना चाहिए। कुछ लोग ऐसा भी सोचते हैं कि शास्त्र धर्म भगवान् का आदेश होने के कारण भगवान् को प्रसन्न रखने के लिए प्रपत्ति मार्ग को अपनाने वालो को भी मानने चाहिएँ (भगवत् प्रीत्यर्थम्) नही तो वे इसके लिए दोषी रहेंगे।

प्रपत्ति के सहायक तत्व इस प्रकार हैं (१) भगवान के अनुकूल रहने का संकल्प (आनुकूल्यस्य संकल्प) (२) भगवान की इच्छा के प्रतिकूल कुछ न करने का संकल्प

मानसिक अवस्था है जो भगवान् के साथ हमारे सम्बंध के ज्ञान तक सीमित है और भगवान् की दृष्टि से भक्तो का भगवान की ओर इकट्ठा होने पर भगवान का उन्हें निश्चेष्ट स्वीकारना मात्र है (अनिवारण मात्रम)। दूसरे विकल्प में प्रपत्ति भक्त का भगवान् मे निश्चेष्ट समर्पण है और भगवान् का उन्हें निरुपाधिक रक्षण करना है। इसलिए पहले मतानुसार जीवन स्वरूप के सच्चे ज्ञान का त्रिविध परिभाषा की है जिसमे से कोई भी एक प्रपत्ति कहा जा सकती है। पहली परिभाषा मे ज्ञान का अंश और दूसरी में ज्ञान के उपरान्त इच्छा के अंश का समावेश होता है।

[1] वही, पृ० ८, ९।

(प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्) (३) पूर्ण विश्वास कि भगवान् हमारी रक्षा करेंगे (क्षिष्यतीति विश्वास) (४) रक्षक के रूप मे उससे प्रार्थना (गोप्तृत्व वरणम्) (५) पूर्ण आत्म समर्पण (आत्म निक्षेप) (६) अपने प्रति दीन एव असहाय भाव (कार्पण्यम्)। पुराने सम्प्रदाय वाले सोचते हैं कि जो प्रपत्ति मार्ग ग्रहण करता है उसे पूर्ति करने के लिए कोई इच्छा नही रहती इसलिए वह ऊपर कहे सहायक तत्वो मे अपनी रुचि के अनुसार किसी भी एक को ग्रहण कर सकता है। कोई ऐसा भी सोचते हैं कि जिसने प्रपत्ति मार्ग अपना लिया है वह भी इच्छा से नितान्त मुक्त नही है क्योकि वह भगवान् का दास बनने की इच्छा तो रखता ही है। यद्यपि वह अन्य किसी प्रकार की इच्छा पूर्ति नहीं चाहता किन्तु उपरोक्त छः सहायक तत्वो का पालन उसके लिए भी अनिवार्य है।

सम्प्रदाय के पुराने लोग सोचते है कि भगवान् ही मुक्ति का एक कारण है, प्रपत्ति नही। बाद के सम्प्रदाय के लोग भी सोचते हैं प्रपत्ति मुक्ति का गौण कारण है क्योकि प्रपत्ति द्वारा ही भगवान् का कृपा कटाक्ष भक्तो को सुलभ होता है।[1] पुन सम्प्रदाय के पुराने लोग कहते है कि प्रपत्ति मार्ग वालो के लिए प्रायश्चित आवश्यक नही है क्योकि भगवान् की कृपा समस्त पाप कर्म का निवारण कर देती है। बाद के लोगो का यह कहना है कि अगर प्रपत्ति मार्गी प्रायश्चित करने के लिए शारीरिक क्षमता रखता हो तो उसके लिए प्रायश्चित करना अनिवार्य है। पुराने मतवादियो के अनुसार यदि कोई म्लेच्छ भी आठ प्रकार की भक्ति से सम्पन्न है वह एक ब्राह्मण से अच्छा है और उसका सम्मान करना चाहिए। परवर्तियो का यह मत है कि निम्न जाति के भक्त को योग्य स्थान देना चाहिए किन्तु वह ब्राह्मण की बराबरी नही कर सकता। अणु रूप जीव का भगवान् द्वारा व्याप्त होने के विषय मे पुराने लोगो का यह विचार है कि भगवान् अपनी शक्ति द्वारा जीव मे प्रवेश कर सकते है। परवर्ती ऐसा कहते हैं कि इस प्रकार की व्याप्ति केवल बाह्य है। भगवान के लिए जीव मे प्रवेश करना अशक्य है।[2] कैवल्य के विषय मे पुराने लोग कहते है कि वह स्वस्वरूप का ज्ञान है जो इस कक्षा पर पहुँच जाता है उसे वहाँ नित्यता और अमरता की परमावस्था प्राप्त हो जाती है। परवर्ती कहते हैं जिसे स्वस्वरूप की पहचान है उसे इस साधन से अमरत्व नही मिलता क्योकि स्वस्वरूप का ज्ञान का अर्थ यह नही है कि उसे भगवान के सम्बन्ध मे अपने स्वरूप का पूर्ण ज्ञान हो गया है। उसे यही अनुभव होगा कि वह उच्च लोक मे गतिमान है तथा अन्त मे भगवान के धाम वैकुण्ठ मे पहुँच जाएगा वहाँ

---

[1] अष्टांग भेद निर्णय पृ० १०।

[2] अष्टांग भेद निर्णय पृ० १२। इस मत का समर्थन वरदाचार्य की 'अधिकरण चिन्तामणि' ने किया है।

उसे भगवान् का दास स्वीकार कर लिया जाएगा। इस स्थिति को नित्य माना जा सकता है।[1]

---

[1] विवाद के १८ विषय जो यहाँ समझाए गए हैं उनका संग्रह पुराने लोगों के मतानुसार 'अष्टाग भेद निर्णय' में निम्न किया गया है।
भेदा स्वामी कृपा, फलान्य गतिषु श्री व्याप्त्युपायत्वयो
तद् वात्सल्य दया निरुक्ति वचसोर्यासि चततु कर्त्तरि।
धर्म त्याग विरोधयोर स्वविहिते न्यासाग हेतुत्वयो
प्रायश्चित विधौ तदीय भजनेऽनुव्याप्ति कैवल्ययो ॥

—वही, पृ० १।

अध्याय १८

विशिष्टाद्वैत संप्रदाय का ऐतिहासिक एवं साहित्यिक सर्वेक्षण

अर्गीयस्, नाथमुनि से लेकर रामानुज तक

ए० गोवि दाचाय ने अनेक पुरानी पुस्तकों क आधार पर 'आल्वारों का पवित्र जीवन' नामक एक ग्रंथ लिखा है।[1] आलवारों की रचनाएं सामा यत तीन रहस्यों मे बाँटी जा सकती है जो तिरमंत्र चुरुवकु द्वय चुरुवकु और चरम श्लोक चुरुवकु है। इन तीनो रहस्यों पर उत्तरकाल म वेंकटनाथ राघवाचाय आदि विख्यात व्यक्तियों ने लिखा है। इन उत्तरकालीन लेखकों क अनुसार इन रहस्यों का संक्षिप्त वर्णन यथा स्थान दिया जाएगा क्योंकि इस ग्रंथ की क्षेत्र मर्यादा म आलवारों का जीवन विस्तृत रूप से देना अशक्य है। संत चरित लेखक आलवार और अर्गीयमों म यह भेद करते हैं कि आलवार ईश्वर प्रेरित थे और अर्गीयमों की ईश्वरीय प्रेरणा विद्वत्ता एव पांडित्य स प्रभावित थी। अर्गीयमों के नाम नाथमुनि स प्रारम्भ होते हैं। इनका समय निश्चित करने म कुछ कठिनाई आती है। 'गुरु परम्परा दिव्य सूरि चरित और प्रपन्नामृत का मत है कि नाथ मुनि नाम्मालवार जो शठकोप या करिमारन कहलाते थे उनके या शायद उनके शिष्य मधुर कवियारवार के प्रत्यक्ष सम्पर्क मे थ। इस प्रकार प्रपन्नामृत का कहना है कि नाथ मुनि का जन्म व चोल देश के वीर नारायण गाँव म हुआ था। उनके पिता का नाम ईश्वर भट्ट था तथा उनके पुत्र ईश्वर मुनि थ।[2] वे लम्बी यात्रा पर गए जिसम उन्होने मथुरा वृन्दावन, हरिद्वार

---

[1] (१) 'दिव्य सूरि चरित (प्रपन्नामृत से पुराना ग्रंथ जिसमे प्रपन्नामृत का उल्लेख है) गुरुड वाहन पंडित कृत जो रामानुज के समकालीन एव उनके शिष्य थे। (२) 'प्रपन्नामृत अनन्त सूरी कृत जो शैल रगेश गुरु के शिष्य थे। (३) प्रबंध सार वेंकटनाथ कृत (४) 'उपदेश रत्नमाले रम्यजामातृ महामुनि कृत जो वरवर मुनि या परिय जीयार या मणवाल मामुनि नाम से भी जाने जात थे। (५) गुरु परम्परा प्रभावम पिम्ब अरगीय परुमाल जीयार कृत और (६) पजहनड विलक्कन्।

[2] ऐसा कहा जाता है कि वे शठकोप या शठ मर्षण के कुल म हुए थ। उनका दूसरा नाम श्री रंगनाथ था। —चतुश्लोकी का परिचय देखो—आनंद प्रेस, मद्रास पृ० ३।

और बगाल और पुरी इत्यादि उत्तर देशा का तीर्थ किया। घर पर वापस आकर उन्हाने यह पाया कि कुछ श्री वैष्णव जा राजगोपाल मदिर मे पश्चिम से आए थे वे करिमारनक रचे १० पद गाते थे। नाथमुनि ने उन्हें सुना और यह सोचा कि वे कोई बृहत् ग्रथ के अश हैं इसलिए उन्होने उनका सग्रह करने का विचार किया। वे कुम्भ का गए और भगवान की प्रेरणा म ताम्रपर्णी क तट पर कुरका की ओर बढ गए जहाँ नाम्मालवार के शिष्य मधुर कवियारवार से भेंट हुई और उनसे पूछा कि नाम्मालवार रचित श्लोक उपलब्ध हैं या नही मधुर कवियारवार ने उनसे कहा कि गीता का एक बृहत् ग्रन्थ लिखकर और उन्हे उसका पाठ कराके नाम्मालवार ने मुक्ति पाली। इसलिए यह ग्रन्थ लोगा के जानने मे आया। आसपास के लोगा को यह गलतफहमी थी की इस ग्रन्थ का अभ्यास वेदधम विरुद्ध है। इसलिए उन्होने उसे ताम्रपर्णी म फेंक दिया। इस ग्रन्थ का एक ही पन्ना जिसम दश श्लाक थे एक आदमी के हाथ लगा। उसने उसे सराह कर गाया। इस प्रकार केवल दस गीत ही बच पाए। नाथमुनि ने नाम्मालवार की आराधना मे मधुर कवि चारवार रचित एक पद का १२ हजार बार पाठ किया। जिसके फलस्वरूप नाम्मालवार ने पूरे ग्रन्थ का प्रयोजन प्रकट कर दिया। जब नाथमुनि सारे ग्रन्थ को जानना चाहते थे तब उन्हें एक कारीगर के पास जाने का कहा गया जा समस्त पदा को प्रगट करने के लिए नामालवार से प्रेरित हुआ था। इस प्रकार नाथमुनि ने उस कारीगर से नाम्मालवार रचित पूरा ग्रन्थ पा लिया। उन्हाने फिर उसे अपने शिष्य पुण्डरीकाक्ष को दिया, पुण्डरीकाक्ष ने उसे अपने शिष्य राम मिश्र को दिया, राम मिश्र ने यामुन को, यामुन ने गोष्ठीपूर्ण को, गोष्ठीपूर्ण न अपनी पुत्री देविका श्री को दिया। नाथमुनि ने इन पदों का सग्रह किया और अपने दा भतीजे मेलयागत्तालवार और किलियगत्तालवार की सहायता से उसे वदिक पद्धति से सगीत का रूप दिया। इसके बाद ये पद मदिरो मे गाए जाने लग और इन्हें तामिल वेद के रूप मे मान्यता प्राप्त हुई।[1] किन्तु प्राचीनतम गुरु परम्परा और दिव्य सूरि चरित' कहते हैं कि नाथ मुनि ने नाम्मालवार का ग्रन्थ उनसे साक्षात् पाया। उत्तरकालीन श्री वष्णवा के मत म आलवारो की प्राचीनता के साथ इस कथन का मेल नही बैठता और उन्हाने यह माना कि मधुर कवियारवार नाम्मालवार के साक्षात् शिष्य नही थे और नाथमुनि ३०० साल तक जीते रहे। किन्तु पहले हमने जसा पाया है, यदि नाम्मालवार का समय नवमी शताब्दी रखा जाय तो उपरोक्त मान्यता की स्वीकृति आवश्यक नही हैं। गापीनाथ राउ भी दसवी शताब्दी के मध्य भाग के एक सस्कृत शिलालेख का उल्लेख करते हैं जिसके अनुसार उक्त पदों का रचयिता श्रीनाथ का शिष्य था। अगर यह श्रीनाथ और नाथमुनि एक ही व्यक्ति हैं तो नाथमुनि का समय दसवी शताब्दी में मानना सही है। उनके ११

---

[1] प्रपन्नामृत अध्याय १०६ और १०७।

शिष्य थे जिनमे पुण्डरीकाक्ष करुकानाथ और श्रीकृष्ण लक्ष्मीनाथ प्रमुख थे। उन्होने तीन ग्रन्थ लिखे, न्याय तत्व पुरुष निर्णय और योग-रहस्य।[1] नाथमुनि को एक महान् योगी भी बताया है वे अष्टांग योग द्वारा योग साधना करते थे।[2] प्रपन्नामृत का कहना है कि उन्होने गंगा नगर मे (संभवत गंगैरकोन्डपुरम) मे योग समाधि ली। गोपीनाथ का कहना है कि उनकी इस नगर मे मृत्यु नही हो सकती क्योकि राजेन्द्र चोल ने जो गंगेकोण्ड सोल भी कहलाते थे, इस नगर को १०२४ के पहले नहीं बसाया था जो नाथमुनि के समय के बाद होना चाहिए। नाथमुनि संभवत परान्तक चोल प्रथम के राज्य मे रहे होगे और संभवत परान्तक चोल द्वितीय के राज्य के पहले, या उनके राज्य मे उनकी मृत्यु हुई होगी अर्थात् वे मध्य दसवी शताब्दी के ७० या ८० तक रहे होगे। उन्होने उत्तर भारत की लम्बी यात्रा की, मथुरा, वृन्दावन द्वारका और पुरी के तीर्थ किए। नाथमुनि के शिष्य श्रीकृष्ण लक्ष्मीनाथ ने प्रपत्ति के सिद्धान्त पर एक बृहत् ग्रन्थ लिखा है। वे कृष्णमंगल नामक स्थान मे जन्मे थे। वे वेद मे निपुण और वेदान्त के विशेषज्ञ थे और वे अच्छे भक्त थे जो सतत् विष्णु नाम का संकीर्तन करते रहते थे। (विष्णु नाम संकीर्तन रत)। वे बहुधा नग्न रहते थे और अपने ऊपर फेंके हुए अन्न पर जीवित रहते थे। सन्त चरित लेखको का कहना है कि वे मंदिर की मूर्ति मे प्रविष्ट हुए और भगवान् से एकाकार हो गए। पुण्डरीकाक्ष उय्य कोण्डार ने कुरकानाथ के चरित्र पर महान प्रभाव डाला जो ऐसा माना जाता है वे अन्त मे योग समाधि लेकर मर गए। राम मिश्र सोगन्ध कुल्य नामक नगर मे एक ब्राह्मण कुल मे जन्मे थे और वे पुण्डरीकाक्ष के शिष्य थे। पुण्डरीकाक्ष की पत्नी का नाम आण्डाल था। पुण्डरीकाक्ष ने राम मिश्र से (मनक्कल लम्बेज)

---

[1] वेंकटनाथ न्याय तत्व का न्याय परिशुद्धि में उल्लेख करते हैं (पृ० १३) जिसमे गौतम के न्याय सूत्रों की टीका और खंडन किया है। भगवान नाथमुनि भिर्न्याय तत्व समाहूया अवधीर्याक्षपादादीन न्यबधि न्याय पद्धति।

—न्यायपरिशुद्धि, पृ० १२।

[2] अष्टांग योग की साधना नाथमुनि के लिए नई नही थी। तिरुमरि से पीरान का वर्णन करते, प्रपन्नामृत का कहना है कि वे पहले शिव भक्त थे और उन्होने तामिल भाषा मे शैव सिद्धान्त पर कई ग्रन्थ लिखे। किन्तु पश्चात् सन्त महाप ने उन्हें वैष्णव सम्प्रदाय की दीक्षा दी। तब उन्होने वैष्णव धर्म पर कई ग्रन्थ रचे। भक्तिसार ने भी एक पाण्डित्य पूर्ण ग्रन्थ लिखा, जो तत्त्वार्थसार कहा जाता है इसमे विरोधी मत का खंडन किया गया है। भक्तिसार भी अष्टांग योग करते थे और अन्य भारतीय दर्शन मे निपुण थे। भक्तिसार के कणिकृष्ण नाम का एक शिष्य था। उन्होने विष्णु की आराधना मे कई अतीव सुन्दर पद्य लिखे। कुलशेखर पेरुमाल ने भी अष्टांग योग का अभ्यास किया था ऐसा कहा जाता है।

उसे जो कुछ सिखाया गया था वह यामुन को सिखाने का आदेश दिया। किन्तु, यामुन पुण्डरीकाक्ष के समय मे जन्मे नहीं थे। पुण्डरीकाक्ष ने नाथमुनि के विषय मे पुरानी भविष्यवाणी के आधार पर उनके जन्म के बारे मे भविष्यवाणी की थी। राम मिश्र के यामुन के अतिरिक्त चार शिष्य थे जिनमे लक्ष्मी प्रमुख थी।[1] वह श्रीरगम् मे रहते थे और वेदान्त का उपदेश देते थे।

यामुनाचार्य, जो आलवन्दार भी कहलाते थे वे ईश्वर मुनि के पुत्र और नाथ मुनि के पौत्र थे और ई० स० ९१८ मे सम्भवत जन्मे थे और ई० स० १०५० में स्वर्गधाम पहुँचे ऐसा कहा जाता है। उन्होंने राम मिश्र से वेदाध्ययन किया, विवाद मे उनकी बडी ख्याति थी।[2] राजा होने पर उनका विवाह किया गया और उनके दो पुत्र वरग्ग सौरट्टपूर्ण हुए, उन्होने लम्बे काल तक वैभवपूर्ण जीवन विताया और राम मिश्र को भूल गए। किन्तु राम मिश्र बडी कठिनाई से उनके पास पहुँचे और उन्हें भगवद् गीता का अध्ययन कराने का मौका लिया जिससे उनमें विरक्ति उत्पन्न हुई। वे फिर राममिश्र के साथ ही श्री रगम् गए और सब कुछ त्याग कर एक महान् भक्त हो गए।[3] राम मिश्र का अतिम उपदेश उन्हे यह था कि वे कुरुकानाथ (कुरुगै क्क्वल-अप्पन) के पास जाएँ और उनसे अष्टाग योग सीखें जो नाथमुनि ने यामुन के लिए

---

[1] (१) तवत्तुक अरसु नम्बी (२) गोमथ त्तुत तिरुविन्नगरअप्पन् (३) सिरुप पुल्लुर-उदय पिल्लै (४) वगी पुरत्तच्छी।

—देखो गोविन्दाचार्य कृत रामानुज की जीवनी, पृ० १४।

[2] प्रपन्नामृत म यामुन के शास्त्रार्थ क बारे मे जब वे १२ साल के थे, एक कहानी है। वहाँ के राजदरबार मे एक पडित अक्कै अलवन नाम के थे जिनका शास्त्रार्थ मे नाम था। यामुन ने उन्हें खुले दरबार मे चुनौती देकर परास्त किया। उन्हें आधा राज्य इनाम में दिया गया। वे युवाकाल मे बडे अभिमानी थे ऐसा पता प्रपन्नामृत के शब्दो से प्रतीत होता है। चुनौती के ये शब्द हैं—

आशैलादद्रि कन्या चरण किसलय न्यास धन्योपकठाद्
आरक्षो नीत सीता मुख कमल समुल्लासहेतोश्च सेता ॥
आ च प्राच्य प्रतीच्य क्षितिघर युग तदक चद्रावतसान
मीमासाशास्त्रयुग्मश्रमविमल मनामृगयताम् मादृशोऽन्य ॥

—अध्याय ३।

[3] प्रपन्नामृत म एक कथा है कि जब यामुन राजा बन गए और किसी से नहीं मिलते थे तब राममिश्र को चिन्ता हुई कि वे किस प्रकार गुरु आदेश को पालकर यामुन को भक्ति मार्ग की दीक्षा दें। वे यामुन के रसोइए के पास गए और छ मास तक अलश शाक नाम की सब्जी यामुन को भेंट करते रहे जो उन्हे पसद आई। छ

उनके पास छोडा था। यामुन के अनेक शिष्य थे जिनमे २१ मुख्य माने गए हैं। उनमे से महापूर्ण भारद्वाज गोत्र के थे, और उनके पुण्डरीकाक्ष नाम का एक पुत्र और अत्तुतयी नाम की एक पुत्री थी। दूसरा शिष्य श्री शैलपूर्ण था जो ताताचार्य नाम से भी जाना जाता था।[1] एक अन्य शिष्य गोष्ठीपूर्ण पाडय देश मे जन्मा था, वहीं श्री मधुरा नामक नगर म यामुन के एक दूसरे शिष्य ने भी जन्म लिया जिसका नाम मालाधर था। पाडय देश के मरनेर नगर म शूद्र जाति का मरनेर नाम्बी हुआ था। दूसरा शूद्र जाति का शिष्य पुनमल्लि मे जन्मा था। यामुन अपने शिष्यो को वैष्णव सप्रदाय क पाचो सस्कारो की दीक्षा देते थ। उन्होने चोल देश के राजा एव रानी को भी इस सप्रदाय की दीक्षा दी थी और उनका राज्य श्री रगम् के रगनाथ की सेवा मे भेंट करा दिया था। श्री शैलपूर्ण या भूरि श्री शैलपूर्ण या महापूर्ण के दो पुत्र, दो पुत्री और दो बहनें थी। ज्येष्ठ बहन कान्तिमती केशव यज्वन का ब्याही थी जो रामानुज के पिता, आसुरि केशव भी कहलाते थे। दूसरी बहन द्युतिमति, कमलाक्ष भट्ट को ब्याही थी, जिनके गोविंद नाम का पुत्र हुआ। कुरेश जिनका रामानुज से बडा सम्पर्क रहा, वे अनन्त भट्ट और महादेवी की सन्तान थे। यही कुरेश अनन्ताचार्य के पिता थे, जिन्होंने 'प्रपन्नामृत' ग्रन्थ लिखा था।[2] दाशरथि, वाघुल गोत्रीय अनत दीक्षित और लक्ष्मी के पुत्र थे। दाशरथि के कडडनाथ नाम का पुत्र जिसे रामानुज दास भी कहते है। वे सब रामानुज के साथी है जिनके ७४ मुख्य शिष्य थ।

यामुन का नाम्मालवार के ग्रन्थो से बहुत प्रेम था जिनके सिद्धान्त उन्होने लोगो को समझाए। यामुन ने ६ ग्रन्थ रचे थे। (१) स्तोत्र रत्नम् वरदराज की स्तुति म (२) चतुश्लोकी (३) आगम प्रामाण्य (४) सिद्धि त्रय (५) गीतार्थ सग्रह (६) महापुरुष निर्णय।[3] इनमे से सिद्धित्रय' बहुत महत्वपूर्ण हैं। इस ग्रन्थ का यामुन विषयक खण्ड लगभग पूरी तौर से सिद्धित्रय के आधार पर लिखा गया है। आगम

मास बाद राजा ने जब पूछा कि यह अनोखी तरकारी उसकी रसोई मे कसे आई तो राममिश्र चार दिन तक नहीं आए और रगनाथ की स्तुति करते रहे और पूछते रहे कि वे यामुन के पास किस प्रकार जाएँ। इस दरम्यान यामुन को वह तरकारी नही मिली और उन्होने रसोइए से, यामुन जब वह रसोई मे आए तब उन्हे लाने को कहा। इस प्रकार राममिश्र यामुन के पास पहुँचे।

[1] प्रपन्नामृत, अ० ११२, पृ० ४४०।

[2] प्रपन्नामृत अ० १५० पृ० ४५०। अनन्ताचार्य जो अनन्त सूरि भी कहलाते थे वे शैलरगेश गुरु के शिष्य थे। वे रम्य जामातृ महामुनि का आदर करते थे।

[3] देखो—वेंकटनाथ कृत गीतार्थ सग्रह रक्षा।

प्रामाण्य म पचरात्र साहित्य की प्राचीनता और निर्विवाद प्रमाणिकता स्थापित करने का प्रयत्न किया है जो श्री वष्णवो की सहिता है। स्तोत्र रत्नम्, चतुश्लोकी और गीताथ सग्रह पर अनेक लोगो ने टीकायें लिखी हैं, जिनमे वेंकटनाथ की टीका बहुत महत्व की है।[1] स्तोत्र रत्नम् मे ६५ पद हैं जिनमे यामुन ने भगवान् के सौदय का वणन किया है जैसाकि पुराणो में बताया है। व भगवान् के सामने अपने पाप और दोष, त्रुटिया और अवगुणो के महान् क्लेश को स्वीकारते हैं और उनके लिए क्षमा-याचना करते हैं। वे वणन करते हैं भगवान् अन्य देवताओ से उत्कृष्ट और लोकोत्तर हैं ही व सवश्रेष्ठ नियामक और विश्व के धारक हैं। सपूण शरणागति का वणन करते हुए कहते हैं कि वे उनकी कृपा पर ही पूणत आश्रित हैं। अगर भगवान् की दया और कृपा इतनी महान है तो उनके जैसा पापी और अभागा और कोई उनकी दया का पात्र नही हो सकता। अगर पापी नही तरता तो भगवान की कृपा निरथक है। भगवान् को, अपने को दयावान अनुभव करने के लिए पापी की आवश्यकता है। यामुन आगे जाकर वणन करते हैं कि किस प्रकार सवस्व छोडकर उनका मन भगवान् के प्रति प्रगाढ रूप से आकर्षित होता है तथा वे अपनी नितात, निराश्रयता एव पूर्ण आत्मसमपण का वणन करते हैं।[2] भक्त भगवान के मिलन मे विलम्ब सहन नही कर सकता और उनसे मिलने को अधीर होता है। उसे यह असीम दु ख देता है कि भगवान उस पर अनेकानेक सुख बरसा कर उसे अपने से दूर रखते हैं। श्लोको का मूल स्वर प्रपत्ति की अभिव्यक्ति है वेंकटनाथ ने इसे अपनी टीका में बहुत ही स्पष्ट रूप से बताया है। यह कहा जाता है कि इन्ही श्लोको को पढकर रामानुज यामुन के प्रति बहुत आर्कार्षित हुए थे। चतु श्लोकी में श्री या लक्ष्मी की स्तुति मे केवल चार श्लोक ही हैं।[3]

---

[1] वेंकटनाथ कृत चतुश्लोकी की टीका 'रहस्य रक्षा कहलाती है और स्तोत्र की टीका का भी वही नाम है तथा 'गीताथ सग्रह की टीका गीताथ सग्रह रक्षा' नाम से जानी गई है।

[2] स्तोत्र रत्नम् के दो पद नमूने के तौर पर यहाँ उद्धृत करते हैं –

न धम निष्ठोऽस्मि न चात्म वेदी न भक्ति मासबच्चरवारविन्दे।
अकिंचनो नान्यगति शरण्य त्वत्पादमूल शरण प्रपद्ये ॥ –श्लोक २२
न निन्दितम कम तदस्ति लोके,
सहस्त्रशो यन्ना मया व्यधायि
सोऽह विपाकावसरे मुकुन्द
क्रन्दामि सम्प्रत्यगतिस्तवाग्रे –श्लोक २३।

[3] वेंकटनाथ चतुश्लोकी की टीका मे वैष्णव धम के अनुसार लक्ष्मी की स्थिति पर विवेचना करते हैं। लक्ष्मी की नारायण से एक पृथक सत्ता है किन्तु वह हमेशा

गीत सग्रह मे यामुन कहते हैं कि भक्ति ही जीवन के उच्च ध्येय को पाने का अंतिम साधन है जो शास्त्रोक्त धर्म पालन एव स्व धर्म के ज्ञान से उत्पन्न होती है।[1] यामुन के मतानुसार गीता म योग को भक्ति योग कहा है। इसलिए गीता का अंतिम ध्येय, श्रेष्ठ साध्य रूप मे भक्ति का महत्त्व प्रतिपादन करना है, जिसके लिए शास्त्रोक्त धर्म पालन करना तथा भगवान सवथा आश्रित आत्मा की सही आध्यात्मिक प्रकृति का ज्ञान एक प्रारम्भिक भूमिका है।

प्रपन्नामृत मे कहा है कि यामुन रामानुज की भेंट करने को उत्सुक थे किन्तु जब रामानुज उनसे मिलने आए वे उससे पहले ही मर गए। रामानुज उनके अत्येष्टि कम मे ही शामिल हो सके।

रामानुज[2]

पहले कहा जा चुका है कि यामुन के शिष्य महापूर्ण (नम्बी) के दो बहनें कान्तीमति और द्युतिमति थी, पहली केशव यज्वन या भूतापुरी के आसुरी केशव से व्याही थी और दूसरी कमालाक्ष भट्ट से व्याही थी। रामानुज (इलयपेरूमाल) केशव यज्वन के पुत्र ई० स० १०१७ में जन्मे थे। उन्होने अपनी माता की बहिन के पुत्र

उनकी सहगामिनी है। वे उन सब विचारो का खण्डन करते हैं जो लक्ष्मी को नारायण का एक अंश मानते हैं। लक्ष्मी और माया का भी तादात्म्य नहीं मानना चाहिए। लक्ष्मी, नारायण के निकटतम सम्पर्क मे है ऐसा माना है और वह एक माता की तरह, भक्त को भगवान की कृपा के वियोग मे लाने मे अपना प्रभाव डालती है। इस प्रकार लक्ष्मी का अपना पृथक व्यक्तित्व माना है यद्यपि वह व्यक्तित्व नारायण के व्यक्तित्व से समरस है। उसके तथा नारायण के प्रयत्न भगवान् के ही अनुरूप है (परस्परानुकूलतया सवत्र सामरस्यम)। लक्ष्मी को जीव माना जाय, तो अणु रूप होने से वह सब व्यापी कसे हो सकती है, और यह मत कि वह नारायण का अंश है, इस विवादग्रस्त विषय पर वेंकटनाथ कहते हैं कि लक्ष्मी न तो जीव है और न नारायण है वह एक पृथक व्यक्ति है जो भगवान पर पूर्णत आश्रित है। उसका भगवान के साथ सम्बन्ध सूय का रश्मि और फूल का सुगध के जैसा समझा जा सकता है।

[1] स्वधम ज्ञान वैराग्य साध्य भक्त्येक गोचर।
नारायण पर ब्रह्म गीता शास्त्रे समुदित॥

—गीताथ सग्रह पद १।

[2] रामानुज के जीवन के बहुत से प्रसग अनताचाय के प्रपन्नामृत से जो उनके कनिष्ठ समकालीन थे, सगृहीत किए गए हैं।

गोविन्द भट्ट के साथ, वेदान्त के निष्णात पंडित यादव प्रकाश से शिक्षा पाई थी। यादव प्रकाश के मत का विवरण परिचय हमें ज्ञात नहीं है किन्तु सम्भवत वे एकतत्ववादी थे।[1] यादव प्रकाश के पास शिक्षा लेने के पहले ही १६ साल की आयु मे उनके पिता ने रामानुज का ब्याह करा दिया था। विवाह कार्य के पश्चात् उनके पिता का स्वर्गवास हो गया। उनके गुरु यादव प्रकाश कांची मे रहते थे। इसलिए रामानुज अपने कुटुम्ब के साथ भूतपुरी छोड़कर कांची आ गए। ऐसा कहा जाता है कि प्रारम्भिक काल मे रामानुज से यादव प्रकाश रुष्ट हो गए थे क्योंकि रामानुज ने किसी राजा की पुत्री को भूत बाधा से मुक्त कर दिया जबकि यादव प्रकाश इस कार्य में असफल रहे। शीघ्र ही रामानुज और यादव प्रकाश के बीच, उपनिषद् के किसी पाठ के अर्थ बोध पर मत भेद हो गया जिसे यादव प्रकाश ने एकतत्ववाद सिद्धान्त से समझाया, किन्तु रामानुज ने उसे विशिष्टाद्वैत सिद्धान्तानुसार ही व्याख्या की। यादव प्रकाश रामानुज से बहुत रुष्ट हो गए तथा उन्होंने रामानुज की अलाहाबाद की यात्रा के अवसर पर उन्हें गगा में फेंक देने का षड्यन्त्र रचा। गोविन्द ने रामानुज को यह षडयन्त्र बता दिया। रामानुज अनेक कष्ट सहन करते, अपने साथियो से बिछुड़ कर काची चले गए। कांची में वे शूद्र जाति के काचीपूर्ण नामक एक परम भक्त के सम्पर्क में आए। कुछ समय बाद रामानुज का अपने गुरु से समझौता हो गया और उन्होंने उनसे विद्या पढ़ी। जब यामुन एक बार काची आए थे तब उन्होंने दूर से रामानुज को विद्यार्थियो के साथ जाते देखा था किन्तु इससे अन्य कोई सम्पर्क न हुआ। उसी समय वे रामानुज को अपना बनाने को बहुत उत्सुक थे। रामानुज एक बार फिर अपने गुरु से कप्यासम पुण्डरीकम् (छा० उ० पृ० १६७) पाठ के अर्थ बोध पर अलग हो गए। लड़ाई के परिणाम स्वरूप यादव ने उन्हें निकाल दिया। तब से वे कांची मे हस्ति शैल के नारायण की भक्ति मे लग गए। यहाँ उन्होंने, महापूर्ण से यामुन का स्तोत्र रत्नम् पहली बार सुना, जो उनके मामा थे और यामुन के शिष्य थे। महापूर्ण से रामानुज ने यामुन के विषय मे बहुत कुछ सीखा और उनके साथ श्री रग की ओर गए। किन्तु वे श्री रगम पहुँचे उससे पहले यामुन शान्त हो गए। ऐसा कहा

---

[1] यादव मानते थे कि ब्रह्मन् अनन्त गुण सम्पन्न होते हुए भी सब प्रकार के जीव और सब प्रकार की जड वस्तु में परिणत होता है। उसके सच्चे स्वरूप का ज्ञान तब ही होता है जब हम यह समझ जायें कि वह विभिन्न जड और चेतन वस्तु में परिणत होते हुए भी एक है। अन्ये पुनरक्यावबोधे याथात्म्य वर्णयन्त स्वाभाविक-निरतिशय-परिमितोदार-गुण सागर ब्रह्मैव सुरनर तिर्यक् स्थावर नारकी स्वर्ग्यप वर्गी चैतन्यैक स्वभाव स्वभावतो विलक्षण मविलक्षण च वियदादि नाना विधामल रूपापरिणामा स्पद चेति प्रत्यवतिष्ठन्ते।

—रामानुज वेदार्थ सग्रह, पृ० १५ मेडिकल हाल प्रेस, १८९४।

जाता है कि यामुन की मृत्यु के बाद उनकी तीन अगुलियाँ टेढी हुई पाई गइ। रामानुज ने यह सोचा कि यामुन की तीन इच्छाएँ अपूर्ण रही, वे (१) लोगो को वैष्णव के प्रपत्ति सिद्धान्त मे परिवतन करना और उन्हे आलवारो के ग्रन्थो से पूर्ण परिचित कराना (२) ब्रह्म सूत्र की श्री वैष्णव सप्रदाय के अनुसार टीका लिखना (३) और श्री वैष्णव सप्रदाय पर बहुत से ग्रन्थ लिखना थी। इसलिए रामानुज ने इन तीन इच्छाओ को पूर्ण करने की ठान ली।[1] वे काँची वापस आए और यामुन के शिष्य काचीपूर्ण के शिष्य हो गए। इसके बाद वे श्री रगम की ओर गए और रास्ते में महापूर्ण से उनकी भेंट हुई जो काँची जाकर उन्हे श्री रगम लाना चाहते थे। तब महापूर्ण ने उन्हे वैष्णव पच सस्कार की दीक्षा दी। रामानुज (आचाय) अपनी पत्नी का महापूर्ण की पत्नी के प्रति तथा याचको के प्रति अशिष्ट व्यवहार के कारण रुष्ट हो गए और उसे कपट से उनके पिता के घर भेज दिया। इस प्रकार उन्होने ३०, ३२ साल मे ही सन्यास ले लिया। सन्यासी बनने के बाद, अपनी बहन के पुत्र दाशरथि[2] को और अनन्त भट्ट के पुत्र कुरनाथ को शास्त्र का उपदेश देना प्रारम्भ किया। यादव प्रकाश भी रामानुज के शिष्य हो गए।[3] अन्त म रामानुज श्री रगम के लिए चल दिए और रगेश की भक्ति मे अपना जीवन दे दिया। उन्होने गोष्ठीपूर्ण से कुछ तत्र मत्र सीखा जो गोष्ठीपूर्ण ने अपने गुरु से सीखा था। तत्पश्चात रामानुज ने एक सस्कृत विशेषज्ञ यज्ञमूर्ति का वाद मे हराया। यज्ञमूर्ति उनके शिष्य बन गए और उन्होने तामिल मे ज्ञानसार और प्रमेयसार नामक दो ग्रन्थ रचे।[4] अब रामानुज के

---

[1] प्रपन्नामृत ६, पृ० २६। गोवि दाचाय और घोष ने इस पाठ का गलत अर्थ किया है क्योकि यहाँ शठकोप का नाम तक नही सूचित है। कुरेश या श्रीवत्साक मिश्र के दो पुत्र थे, एक को रामानुज ने दीक्षा दी और पराशर भट्टाय नाम दिया और दूसरे को रामदेशिक नाम दिया। रामानुज के मातृपक्ष के भाई गोविन्द के एक छोटा भाई था जिसका नाम बाल गोवि द था उनके पुत्र को पराकुश पूर्णाय नाम से दीक्षा दी।

[2] दाशरथि के पिता का नाम अनन्त दीक्षित है।

[3] उनका दीक्षित नाम गोविन्ददास था। परिवतन के बाद उन्होने यति धम समुच्चय' नाम की पुस्तक लिखी। गोविन्ददास का गोविन्द से पृथक समझना चाहिए जो रामानुज की काकी के पुत्र थे और जो यादव प्रकाश द्वारा शव पथ मे परिवर्तित किए गए थे और उनके मामा जो यामुन के शिष्य थे, श्री शैलपूर्ण ने उन्हें श्री वैष्णव पथ म वापस लिया। गोविन्द विवाहित थे किन्तु रामानुज से इतनी प्रीति हो गई कि उन्होने सन्यास ले लिया। श्री शैलपूर्ण ने सहस्र गीति पर एक टीका लिखी। रामानुज के एक दूसरे शिष्य पुण्डरीकाक्ष थे जो महापूर्ण के पुत्र थे।

[4] इनका दीक्षान्त नाम देवराट और देवमन्नाथ था।

कई विख्यात शिष्य हो गए, जैसेकि भक्त ग्राम पूर्ण महधग्रामपूर्ण अनन्ताय, वरदाचार्य और यतेश। रामानुज ने सब प्रथम गद्यत्रय लिखा। फिर वे कुरेश के साथ शारदा मठ गए कुरेश का श्री वत्साक मिश्र या कुरमालवन के नाम से भी जाना गया है। वहां उन्होंने 'बोधायन वृत्ति' की हस्तलिखित पुस्तक प्राप्त की और श्री रंगम की ओर चल दिए। मंदिर में पुजारी को पुस्तक का गुम होने का पता चला तब वह उनकी ओर खोज में भागा और वह प्रति उनसे वापस ले ली। सद्भाग्य से कुरेश ने रास्ते में जाते समय कई रातें उक्त पुस्तक के अध्ययन में बिताई थीं और उसके सदर्भ से परिचय प्राप्त कर लिया था इसलिए वे उसका पाठ कर सकते थे। इस प्रकार रामानुज ने श्री भाष्य की टीका कुरेश को लिखाई।[1] उन्होंने वेदान्त दीप वेदान्त सार और वेदार्थ संग्रह भी लिखा। सम्भवत श्री भाष्य रामानुज की तिरुक्कोवलुर तिरुपति तिरुपुत्र कुली, कुम्भ कोनम् अलगार कोइल तिरुपुल्लनी, आरवार तिरुनगरी तिरुकुरुन्तगुडी तिरुवण परिनारम् तिरुवत्तर तिरुवनंदपुरम्, तिरु वल्लकेणी, तिरु निमले मधुरन्तकम और तिरु वेंगुण्डी पुरम की वृहत् यात्रा के बाद लिखा गया हो।[2] तत्पश्चात् उन्होंने उत्तर भारत मे, अजमेर, मथुरा वृन्दावन, अयोध्या और पुरी की यात्रा की और बहुत से विपक्षियों को परास्त किया। ये बनारस और पुरी भी गए और पुरी मे एक मठ भी स्थापित किया। उन्होंने बलात् जगन्नाथपुरी में पचरात्र कर्म काड का प्रचार करने की कोशिश की किन्तु व असफल रहे। 'रामानुजार्य दिव्य चरितम' के आधार पर श्री भाष्य १०१७ शक अर्थात् ई० स० ११५५ मे समाप्त हुआ यद्यपि इसका दो तृतीयांश भाग चोला के उपद्रव के पहले ही समाप्त हो गया था। किन्तु यह समय गलत होना चाहिए क्योंकि रामानुज शक १०५९ अर्थात् ई० स० ११३७ में मर गए थे।[3] महापूर्ण (पेरियल नाम्बी) और कुरेश की आँखें सम्भवत चोल राजा कालुत्तु ग प्रथम ने सन् १०७८–७९ मे फोड़ दी थी और इस काल में रामानुज को होयसाल देश मे आश्रय लेने को बाध्य होना पड़ा था। सन् १११७ मे कोलुत्तु ग प्रथम की मृत्यु के पश्चात् रामानुज श्री रंगम् वापस आए जहाँ वे कुरेश से मिले और श्री भाष्य समाप्त किया।[4] चलारिस्मृति नामक मध्व ग्रन्थ मे ऐसा कहा है कि सन् ११२७ म अर्थात् शक १०४९ में श्री भाष्य प्रतिष्ठा पा चुका था।[5]

---

[1] रामानुज ने कुरेश से यह कह दिया कि जहाँ बोधायन वृत्ति को ठीक न समझ पाएँ वहाँ उन्हें रोक दें। कम से कम एक जगह उनके बीच विवाद हो गया और रामानुज गलत ठहरे।

[2] देखो, गोपीनाथ राउ के व्याख्यान, पृ० ३४ फुट नोट।

[3] देखो, गोपीनाथ राउ के व्याख्यान।

[4] रामानुजार्य दिव्य चरितै (तामिल ग्रन्थ) पृ० २४३, गोपीनाथ राउ द्वारा उद्धृत।

[5] कलो प्रवृत्त बौद्धा दि मतम रामानुजम तथा। शके ह्येको न चत्वारिंशदान्दे

इसलिए यह अधिक सम्भव है कि श्रीभाष्य सन १११७ और ११२७ के बीच सम्पन्न हुआ। गोपीनाथ राउ मानते है कि वह ११२५ मे लिखा गया था।

रामानुज सामान्य गृहस्थी वेष म श्री रगम से ताण्डागुर, कालुत्तु ग प्रथम या राजेन्द्र चोल क आतक स भागे जो कृमिकठ एक शव राजा भी कहलाता था। वे (रामानुज) हायशाल देश के जैन राजा वित्तिदेव का विष्णुवधनदेव नाम देकर वैष्णव पथ म परिवतन करने मे सफल हुए। राऊ का कहना है कि यह परिवतन सन १०६६ के कुछ पहले हुआ होगा।[1] इस राजा की सहायता से उन्होंने मेलुकोट (यादवाद्रि) म तिरु नारायण पहमाल का मदिर बनवाया जहा रामानुज १२ वप तक रहे।[2] रामानुजाय दिव्य चरित के आधार पर रामानुज श्रीरगम से वापस आने के बाद ११ वप तक जीवित रहे (कोलुत्तु ग प्रथम की मृत्यु १११८ के कुछ समय के बाद) और वे सन ११३७ में स्वगवासी हुए। इस प्रकार व १२० वप के लम्बे समय तक जिए जोकि कोलुतु ग प्रथम (सन १०७०–१११८) विक्रम चोल (सन १११८–११३५) और कोलुतु ग द्वितीय (११२३–११४६) नाम के तीन चार राजाओं के राज्यकाल ने फैलाया। उन्होंने अपने जीवन काल मे कई मदिर और मठ बनवाए और श्रीरगम क मदिराध्यक्ष का धम परिवतन कर सारे मदिर पर अधिकार किया।

रामानुज के उत्तराधिकारी पराशर भट्टाय थे जो कुरेश के पुत्र थे और जिन्होंने सहस्त्र गीति' पर टीका लिखी थी। रामानुज अनेक निष्ठावान् पडितो को अपना शिष्य बनाने मे सफल रहे–जिन्होंने रामानुज के तत्व दशन और उनकी पूजापद्धति को शताब्दियो तक आगे बढाया। उनका धम सावलौकिक था यद्यपि व पूजा एव दीक्षा के सम्बन्ध मे कुछ अनुष्ठानो का आवश्यक मानते थे तो भी उन्होंने अपने सप्रदाय मे जन बौद्ध, शूद्र और अन्त्यजो को भी अपनाया वे स्वय एक शूद्र के शिष्य थे और स्नान के बाद एक

सहस्रके। निराकर्तु म मुख्य वायु सम्मत स्थापनाय च, एकादश शते शाके विशत्यष्ठ युग गत, अवतीर्ण मन्वगुरु सदा वन्दे महागुणम।

—चत्वारि स्मृति गोपीनाथ द्वारा उद्धत ३५।

[1] किन्तु राइस साहब मैसूर गजेटियर अक १ मे यह कहते हैं कि यह परिवतन सन १११७ या शक १०३६ म हुआ। किन्तु राऊ यह कहते हैं कि एपिग्राफिका कर्नाटिका वित्तिदेव का एक शिलालेख है जो शक १०२३ का है(न ३४ अर्सिकेर) जिसम उन्ह विष्णु वधन कहा है।

[2] साधारण मान्यता यह है कि रामानुज श्री रगम से कुल मिलाकर केवल १२ वप ही बाहर रहे किन्तु राऊ का मानना यह है कि काल लगभग २० साल का होगा, जिसमे से १२ वप यादवाद्रि मे बीते।

[3] देखो–एस० के० आयगर, एम० ए० कृत रामानुजाचाय नटेसन क० मद्रास।

प्रद्युम्न मित्र की झोपड़ी में समय बिताते थे। ऐसा कहा जाता है उन्होंने ७४ धर्म सिंहासनों पर राज्य किया और उनके अनुयायियों में ७०० संन्यासी, १२००० साधु और ३०० साध्वियाँ (केट्टी अम्मैंस) थीं। बहुत से राजा और धनिक उनके शिष्य बने। कुरेश दाशरथि नाडादुर, आरवान और भट्टार प्रवीण पंडित थे। यतमूर्ति पुरोहित थे एक शिष्य रसोई की देखभाल करता था वाटपूर्ण या अन्ध्रपूर्ण और गामटम् सिटी याग्वान को अनेक प्रकार की परिचर्या सौंपी गई थी धनुदास कोषाध्यक्ष थे, अम्मी गरम दूध के अध्यक्ष उक्कल आवान् परोसने में, उक्कलम्मल पंखा झलने में नियुक्त थे।[1] रामानुज ने कितने ही शैवों को वैष्णव बनाया और शैव और वैष्णव के बीच संघर्ष में चोल देश के शैव राजा कृमिकंठ के हाथ बहुत दुःख उठाया, किन्तु कृमिकंठ का उत्तराधिकारी उनका शिष्य हुआ और वैष्णव बन गया। इससे श्री वैष्णव धर्म के फैलने में बहुत सहायता मिली।

रामानुज के जीवन का विशद वृत्तान्त जिन स्रोतों से संग्रह किया गया है वे ये हैं (१) 'दिव्य सूरी चरितै' जो रामानुज के समकालीन गरुडवाह ने लिखा है। (२) 'गुरु परम्परा प्रबंधम्' पिम्बरजीय पेरुमाल जीयार ने मणि प्रवाल भाषा में १४वीं शताब्दी के पहले भाग में लिखा है (३) पिल्ले लोकम् जीयार का रामानुजार्य दिव्य चरितै नामक तामिल ग्रन्थ (४) आम्बि ल वण्डा डैयप्पन् का आलवारों और अरगीयसों का संक्षिप्त परिचायात्मक तामिल ग्रन्थ जो पैरिय तिरु मुडियैप्पु नाम से जाना गया (५) 'प्रपन्नामृत अनन्ताचार्य कृत जो शैल रंगेश गुरु के शिष्य और अन्ध्र पूर्ण के अनुवंशज थे। (६) तिरुवायमोरी की टीकाएँ जिनमें अरगीयसों की व्यक्तिगत स्वगत स्मृतियों का उल्लेख है तथा (७) अन्य शिलालेख आदि।

विशिष्टाद्वैत मत के पूर्वगामी और रामानुज के समकालीन एवं शिष्य

ब्रह्मसूत्र का भेदाभेद वादात्मक अर्थ सम्भवतः शंकर के अद्वैतवाद से पहले प्रचलित रहा होगा, भगवत् गीता, जो उपनिषद् का सार है प्राचीन पुराण और पंचरात्र जो इस ग्रन्थ में उल्लिखित हुए हैं, लगभग भेदाभेदवाद सिद्धान्त पर चलते हैं। वास्तव में इस वाद का उद्गम पुरुष सूक्त में देखा जा सकता है। इसके उपरान्त द्रमिडाचार्य ने जैसाकि यामुन ने सिद्धित्रय में कहा है ब्रह्म सूत्र की व्याख्या की और भाग भी वत्सांक मिश्र ने उस पर टीका की। बोधायन की जिन्हें रामानुज ने वृत्तिकार और शंकर ने उपवर्ष कहा है ब्रह्म सूत्र पर एक बृहद् वृत्ति है, जो रामानुज

---

[1] गोविंदाचार्य कृत रामानुज की जीवनी, पृ० २१८।

के भाष्य का आधार रही है।[1] आनन्दगिरि भी द्राविड भाष्य का उल्लेख करते हैं, जो छान्दोग्योपनिषद् की टीका है जो शंकर के पहले एक सरल व्याख्या (ऋजु विवरण) थी। संक्षेप शारीरक में (३–२२७–२७) आत्रेय और वाक्यकार नाम के लेखक का उल्लेख है जिसे टीकाकार रामातीर्थ ने ब्रह्मनन्दिन् कहा है। रामानुज ने वेदार्थ संग्रह' में वाक्यकार का एक पाठ और द्रामिडाचार्य की उस पर टीका, को उद्धत किया है।[2] वाक्यकार और द्रामिडाचार्य जिनका उल्लेख रामानुज करते हैं मानते थे कि ब्रह्मन् सगुण है द्रमिडाचार्य जिसने ब्रह्मनदिन् के ग्रन्थ पर टीका लिखी थी एकतत्त्ववादी थे। सम्भवत वे वही व्यक्ति थे जिन्हे आनदगिरि ने छादोग्य उपनिषद् पर शंकर के भाष्या पोद्धात् नामक ग्रन्थ पर अपनी टीका में द्रविडाचार्य नाम से पहिचाना है। किन्तु यह प्रश्न इतनी सरलता से नही निपटता। सर्वज्ञात मुनि ने अपने 'संक्षेप शारीरक' में वाक्यकार का एकतत्त्ववादी माना है किन्तु उनके संकेत से यह स्पष्ट होता है कि वाक्यकार ने टीका का अधिकतर भाग परिणामवाद की पुष्टि में लगाया है (भास्कर के समान) और ब्रह्मन् और जगत् के संबंध को समझने के लिए सागर और तरंग की विख्यात उपमा दी, और केवल छादोग्य के छठे प्रपाठक की टीका करते एक तत्त्ववाद का प्रतिपादन यह कहकर किया कि जगत् सत् और असत् दोनो नही है। आश्चर्य है कि रामानुज ने उसी पाठ को जो सर्वज्ञात्म मुनि से सम्बद्ध है और जो आत्रेय वाक्यकार और टीकाकार द्रमिडाचार्य के एकतत्त्ववाद को सिद्ध करता है उसे अपने वेदार्थ संग्रह में अपने मत की पुष्टि मे उद्धत किया है। किन्तु उन्हें ब्रह्मनदिन् न कहकर वाक्यकार कहा है। वाक्यकार को–रामानुज ने द्रमिडाचार्य से भी लक्ष्य

---

[1] वेंकटनाथ अपनी तत्त्व टीका में कहते हैं वृत्ति कारस्य बोधायनस्यैव हि उपवर्ष इतिस्यात् नाम। अपनी सेश्वर मीमांसा' मे, किन्तु, वे उपवर्ष के मत का खण्डन करते हैं क्योकि वैजयन्ती कोष मे कृतकोटि और हलभूति, उपवर्ष के ही नाम हैं ऐसा बताया है।

–प्रस्तुत पुस्तक का दूसरा खंड भी देखो पृ० ४३।

[2] वेदार्थसंग्रह पृ० १२८ वाक्यकार का पाठ यह है युक्त तद् गुणोपासनाद्' और द्रामिडाचार्य की उस पर यह टीका है यद्यपि सच्चित्तो न निर्भुग्न दैवत गुणगण मनसानुधावेत् तथापि अन्तर्गुणमेव देवताम भजत इति तत्रापि सगुणैव देवता प्राप्यत इति।' इन पाठो का मुख्य विचार यह है कि ईश्वर के निर्गुण रूप में भक्ति की जाए तो भी पूर्ण मुक्ति सगुण रूप के अनुभव से ही होती है।

महामहोपाध्याय कुप्पुस्वामी शास्त्री एम० ए० द्रामिडाचार्य को तिरुमंगिस पीरान मानते हैं जो सम्भवत ८वी शताब्दी में रहे किन्तु उनकी पुष्टि जो तीसरी ओरिएन्टल कांग्रेस मद्रास १९२४ के लेख पृ० ४६८–४७३ पर की गई है विश्वस नीय प्रतीत नही होती।

किया है। यद्यपि सर्वज्ञात्म मुनि उन्हें वाक्यकार ही कहते हैं किन्तु उनके टीकाकार रामतीर्थ उन्हें ब्रह्मनदिन् कहते है, किन्तु उनके टीकाकार को द्रामिडाचार्य कहते हैं और वाक्यकार का अर्थ केवल रचनाकार (लेखक) है, ऐसा मानते हैं। सर्वज्ञात्म मुनि ने ब्रह्मनदिन् का नाम से कभी भी लक्ष्य नहीं किया है। क्योंकि 'संक्षेप शारीरिक' में सर्वज्ञात्म मुनि द्वारा उद्धृत पाठ रामानुज ने जो 'वेदार्थ संग्रह' में दिया है उससे मेल खाता है इससे यह निश्चित होता है कि रामानुज और सर्वज्ञात्ममुनि और आनंदमुनि द्वारा लक्षित वाक्यकार एक ही व्यक्ति है। इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि वाक्यकार और टीकाकार द्रमिडाचार्य की लेखन शैली ऐसी थी कि एक तत्त्ववादी यो समझते थे कि वे उनकी पुष्टि करते हैं और श्री वैष्णव ऐसा सोचते थे कि वे उनके अनुरागी हैं। सर्वज्ञात्म मुनि के कथन से हम जानते हैं कि वे वाक्यकार को आत्रेय भी कहते थे और उन्होंने अपने ग्रन्थ के अधिकांश भाग में भेदाभेदवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। शंकर ने भी उपवर्ष को ब्रह्मसूत्र और मीमांसा दर्शन के एक विख्यात प्रतिपादक के नाम से लक्ष्य किया है तथा मीमांसा के एक तन्त्र और ब्रह्म सूत्र का रचयिता भी माना है।[1] इसलिए निष्कर्ष यह निकलता है कि एक ही वाक्यकार था जिसने छांदोग्य उपनिषद् की टीका लिखी और उसी के टीकाकार द्रमिडाचार्य थे जिनकी शैली स्पष्ट और ऋजु थी यद्यपि उन्होंने यह तामिल में न लिखकर संस्कृत में लिखी। अगर हम रामतीर्थ से एकरूपता को मानते हैं तो हम यह मान लें कि उनका नाम ब्रह्मनदिन् था। किन्तु, वह कोई भी हो वह पुराने मण्डल के बड़े आदरणीय पुरुष होंगे क्योंकि उन्हें सर्वज्ञात्म मुनि ने भगवान कहा है।

उपवर्ष भी आदरणीय पुरुष थे क्योंकि शंकर ने उन्हें भगवत्नाम से संबोधित किया है और उन्हें समर्थकों में से पुरुष माना है वे शबर मुनि से कहीं पहले रहे होंगे जो मीमांसा

---

[1] अत एव च भगवतोऽपवर्षेण प्रथमे तन्त्रे आत्मास्तित्वाभिधानप्रसक्तौ शारीरिके वक्ष्याम इति उद्धारः कृतः।

—शंकर का ब्रह्मसूत्र भाष्य ३-३-५३।

गोविन्द अपनी रत्नप्रभा में उपवर्ष को वृत्तिकार मानते हैं। आनंदगिरि इससे सहमत है। ब्रह्मसूत्र भाष्य १-१-१९ और १-२-२३ में शंकर वृत्तिकारों के मतों का खंडन करते हैं। पिछले दो अनुच्छेदों में दिए वृत्तिकार के मत जो टीकाकार गोविंदानन्द मानते हैं कि वे वृत्तिकार का ही लक्ष्य करते हैं उनका इंगित है कि जगत् भगवान का परिणाम है। किन्तु हम निश्चितरूप से यह नहीं कह सकते कि शंकर द्वारा खंडन किए गए ये मत सचमुच के ही थे क्योंकि हमारे पास गोविन्दानन्द के सिवाय अन्य कोई प्रमाण नहीं हैं, जिनका जीवनकाल १३वीं या १४वीं शताब्दी रहा।

के टीकाकार जान जाते है ।[1] आनद गिरि और वेंकटनाथ (१४वी शताब्दी) उपवर्ष को वृत्तिकार कहते है और वेंकटनाथ और आगे उन्हें कल्पनावश बोधायन भी मानते हैं। यदि उपवर्ष वृत्तिकार भी रहे हो तो भी यह शकास्पद है कि वे बोधायन हो। इस विषय मे हमारे पास वेंकटनाथ का अनुमान ही है जिसका ऊपर उल्लेख किया गया है। शकर ब्रह्मसूत्र १-३-२८ की टीका करते हुए वे स्फोटवाद के खण्डन मे उपवर्ष का प्रमाण देते है।[2] किन्तु यह विषय भी अनिर्णीत है क्योकि शकर तथा श्रीनिवास दोनो ही स्फोटवाद नही मानते। यहा पर कोई भी प्रमाण प्राप्त नही है। इसलिए हम यह नही कह सकते कि उपवर्ष वृत्तिकार हैं या बोधायन।[3] यदि प्रपन्नामृत को प्रमाण माना जाए तो बोधायन की ब्रह्म सूत्र की वृत्ति एक बृहद् ग्रन्थ होना चाहिए और द्रमिडाचार्य का ब्रह्मसूत्र पर ग्रन्थ बहुत छोटा होना चाहिए। इसी कारण से *रामानुज ने एक टीका लिखने का प्रयत्न किया जो न ज्यादा लम्बी और न ज्यादा* छोटी हो।

अब हमारे पास शठकोप की लिखी एक छोटी हस्तलिखित पुस्तक 'ब्रह्म सूत्रार्थ सग्रह' है यह हम नही जानते कि प्रपन्नामृत मे उल्लिखित द्रमिड टीका यही है। यामुन, सिद्धित्रय' मे एक भाष्यकार का उल्लेख करते हैं उनके लिए परिमित गम्भीर भाषिणा ऐसे गुण वाचक शब्दो का प्रयोग करते है जिससे यह अर्थ होता है कि वह एक सक्षिप्त और गम्भीर अर्थ पूर्ण ग्रन्थ था। वे आगे और कहते है कि इस भाष्य का श्री वत्साक मिश्र ने विस्तार दिया। सम्भवत इन दोनो लेखको के विचार श्री वैष्णव सप्रदाय से मिलते थे। किन्तु यामुन टक, भर्तृ प्रपच, भर्तृ मित्र, भर्तृ हरि, ब्रह्मदत्त शकर और भास्कर के नामो का उल्लेख करते हैं। भृतप्रपच द्वारा ब्रह्मसूत्र के निरूपण का वर्णन हमने इस ग्रन्थ के दूसरे भाग मे दिया है। टक भर्तृ मित्र भर्तृ हरि और ब्रह्मदत्त के निरूपण के विषय मे कुछ भी निश्चित जानकारी नही है केवल हम इतना ही जानते है कि वे श्री वैष्णव मत के विरुद्ध थे।

---

[1] शबर मीमासा सूत्र १-१-५ मे भाष्य मे उपवर्ष का स्फोट के विषय पर चर्चा करते हुए भगवान कहते हैं।

[2] वर्णा एव तु शब्दा इति भगवान् उपवर्ष ।

—ब्रह्मसूत्र शकर भाष्य १-३-२८ ।

डोयसन का कहना है कि स्फोटवाद की चर्चा उपवर्ष से हुई है यह अप्रमाण है।

[3] मीमासा सूत्र १-१-५ के भाष्य मे शबर मुनि एक वृत्तिकार का उल्लेख करते हैं जो शबर के पूर्व हुए थे। शबर उसी सूत्र के भाष्य का उल्लेख करते हुए भगवान् उपवर्ष का नाम लेते हैं इससे यह माना जा सकता है कि वृत्तिकार और उपवर्ष दोनो एक ही व्यक्ति न थे।

रामानुज ब्रह्मसूत्र के अपने भाष्य म कहते हैं कि बोधायन ने ब्रह्मसूत्र पर बृहत् ग्रन्थ लिखा था जिसे पूर्वाचार्यों ने अति सक्षिप्त रूप दिया। वे आगे एसा भी कहते हैं कि उन्होंने अपने भाष्य को लिखने म बोधायन द्वारा किए सूत्र विवरण को निकटता से अनुसरण किया है।[1] रामानुज, यामुन के सिद्धि त्रय का आभार मानते हैं, यद्यपि उन्होंने इसका उल्लेख उनके भाष्य मे नहीं किया है। यह कहा जाता है कि यामुन के अनेक शिष्य थे। उनमे स महापूर्ण गोष्ठीपूर्ण, मालाधर, काचीपूर्ण, श्री शैलपूर्ण अथवा ताताचार्य (रामानुज के मामा) तथा श्री रगनाथगायक प्रमुख थे। श्री शैलपूर्ण का पुत्र गोविंद जो रामानुज का भतीजा तथा यादव प्रकाश के साथ अध्ययन काल म उनका सहपाठी था, बाद म जाकर उनका शिष्य बन गया।[2] श्री रामानुज क ७४ प्रसिद्ध शिष्यों म आत्रेय गोत्री प्रणतार्तिहर कुरेश अथवा श्री वत्साक मिश्र, दाशरथि, अन्ध्रपूर्णया वातपूर्ण, वरदविष्णु यतिशेखर भारत, यादवप्रकाश अथवा गोविंद तथा यज्ञमूर्ति अत्यन्त प्रमुख हैं।[3] इनमें से वाधूलगोत्री दाशरथि और वरद विष्णु अथवा वरदविष्णु मिश्र श्री रामानुज की बहिन के पुत्र थे। वरदविष्णु वात्स्य वरदगुरु नाम से विशेष प्रसिद्ध थे। कुरेश या श्रीवत्साग मिश्र का एक पुत्र आडाल से था जिसका नाम पराशर भट्टार्य था जिसने वेदान्ती माधवदास को हराया था। श्री कुरेश बाद म जाकर रामानुज का उत्तराधिकारी हुआ।[4] पराशर भट्टार्य के एक पुत्र मध्य प्रताभि भट्टार्य या मध्य वीथिभट्टार्य था। कुरेश का एक और पुत्र पद्मनेत्र नाम का था, पद्मनेत्र का पुत्र कुरुकेश्वर कहलाता था।[5] कुरुकेश्वर का पुत्र पुण्डरीकाक्ष था और उसका पुत्र श्रीनिवास था। श्रीनिवास का पुत्र नृसिंहार्य था। सम्भवत नाम से पता चलता है कि भूरि श्री शैलपूर्ण जो कुरेश के पिता थे शैल वंश के थे।

---

[1] सुदर्शन सूरि ने भाष्य की अपनी टीका म जो श्रुति प्रकाशिका कही गई है रामानुज भाष्य म प्रयुक्त पूर्वाचार्य शब्द की व्याख्या द्रमिड भाष्यकारादय' की है। बोधायन मतानुसारेण सूत्राक्षराणि व्याख्यायन्ते, इस वाक्य पर यह कहते हैं, 'न तु स्वोत्प्रेक्षित मतान्तरेण सूत्राक्षराणि सूत्र पदानाम् प्रकृति प्रत्यय विभागानुगुण वदाम न तु स्वोत्प्रेक्षितार्थेषु सूत्राणि यथा कथ चित् घातयितव्यानि।

[2] यह अत्यंत रोचक विषय है कि यामुन के पुत्र वररग ने बाद म रामानुज को पढाया और अपने कनिष्ठ भाई सात्तनम्बी को दीक्षा दिलवाई। वररग का कोई पुत्र न था। उन्होंने सहस्र गीति को सगीत बद्ध किया।

—प्रपन्नामृत, २३ ४५।

[3] राज गोपाल चारीयर भी तिरु कुरुगपन पीरान पिल्लै को रामानुज के मुख्य शिष्य बतलाते हैं। उन्होंने नाम्मालवार रचित तिरुवाय मोरी पर टीका लिखी थी।

[4] कुरेश के एक और पुत्र था जिसे श्रीराम पिल्लै या व्यास भट्टार कहते थे।

[5] दक्षिण भारत में पुत्र को पितामह का नाम देना सामान्य है।

नृसिंहार्य का पुत्र रामानुज कहलाता था। रामानुज के दो पुत्र थे, नरसिंहार्य और रंगाचार्य, जो सम्भवत १५वीं शताब्दी मे विद्यमान थे। रामानुज के शिष्य यतमूर्ति वडे विद्वान् व्यक्ति थे। जब रामानुज ने उन्हे शिष्य बनाया तो उन्होने उसका नाम देवव्रत या देवमन्नाथ या देवराज रख दिया और उसके लिए श्रीरंगम् मे एक पृथक मठ स्थापित किया। यतमूर्ति ने तामिल मे ज्ञानसार और प्रमेयसार नाम के दो बडे विद्वतापूर्ण ग्रन्थ लिखे। रामानुज के भक्तग्राम पूर्ण, मरुधग्राम पूर्ण, अनताय और यज्ञेश ये चार शिष्य थे इन्होने यतमूर्ति से वैष्णव धर्म की दीक्षा ली।[1] रामानुज के एक दूसरे शिष्य तिरुकुरुकै पीरान पिल्ले ने नाम्मालवार की तिरुवाय मार्गी की टीका लिखी। आत्रेयगोत्र के प्रणतार्तिहर पिल्लान, नामक रामानुज के अन्य शिष्य का एक पुत्र रामानुज नाम का था जो वत्स्यवरद वश के नडादुर अम्माल का शिष्य था।[2] इस रामानुज उपनाम पद्मनाभ का रामानुज पिल्लन नाम का पुत्र था जो किदम्बी रामानुज पिल्लन का शिष्य था। इस पद्मनाभ के एक पुत्र रामानुज पिल्लन् और पुत्री तोतारम्बा थी जो वेंकटनाथ के पिता अनत सूरि से ब्याही थी। रामानुज के एक दूसरे शिष्य और भतीजे वधुल गोत्र उत्पन्न, दाशरथि के भी एक पुत्र रामानुज नाम का था, जिसका पुत्र तोडप्पा था वारणाद्रीश या लोकार्य कहलाता था। पराशर भट्टार्य के बाद वेदान्ती माधवदास जो नजीआर भी कहे जाते थे उत्तराधिकारी हुए। माधवदास के उत्तराधिकारी नम्बिल्ला या नम्बूरि वरदार्य या लोकाचार्य हुए। उनके दो पत्नियाँ आण्डल और श्रीरग नायकी थी और एक पुत्र रामानुज नाम का था।[3] नम्बिल्ल का दूसरा नाम कलजित् या कलिवरी था। वारणाद्रीश नम्बिल्ल या ज्येष्ठ लोकाचार्य के शिष्य बने। वारणाद्रीश पिल्ले लोकाचार्य के नाम से भी जाने जाते थे। नम्बूरिवरद के माधव नाम का शिष्य था। वरद के पद्मनाभ नामक एक पुत्र था, जिसका रामानुजदास नाम का एक शिष्य था। रामानुजदास का एक पुत्र देवराज था, जिसका एक पुत्र श्री शलनाथ था और श्री शैलनाथ का शिष्य सौम्य जामातृ या रम्य जामातृ मुनि थे जिन्हे वरवर मुनि या यतीन्द्रप्रवण या मनवल महा मुनि या पेरिय जियार भी कहते थे। ऐसा कहा जाता है कि व कत्तुर अरगीय वनवल पिल्ल के पौत्र थे। ये सब कुरेश की 'सहस्त्र गीति व्याख्या से प्रभावित थे। नम्बूरि वरदार्य या कलजित् के दो और शिष्य उदक प्रतालि कृष्ण और कृष्ण समाह्वय या कृष्णपाद थे। कृष्णपाद के पुत्र लोकाचार्य कलजित् और कृष्णपाद स्वय के शिष्य थे। कृष्णपाद का दूसरा पुत्र अभिराम वराधीश था।

---

[1] प्रपन्नामृत देखो अ २६।

[2] गोविन्दाचार्य की रामानुज की जीवनी देखो।

[3] उसने दो ग्रन्थ लिखे और जो सारार्थ सग्रह और रहस्यत्रय है।

—प्रपन्नामृत ११६ ३।

रामानुज के साल वत्स्य गोत्रोत्पन्न देवराज को एक पुत्र वरद विष्णु मिश्र या वात्स्य वरद था जो विष्णु चित्त का शिष्य था, वे स्वय कुरेश के शिष्य थे। यह वत्स्य वरद वेदात के महान् लेखक थे। कुरेश का एक पुत्र श्रीराम पिलै या वेद व्यास भट्ट था जिनको एक पुत्र वादि विजय था, जिसने 'क्षमा षोडशी स्तव' नामक पुस्तक लिखी। वादिविजय के एक पुत्र सुदर्शन भट्ट था जो वरद विष्णु के समकालीन वत्स्यवरद का शिष्य था। सुदर्शन भट्ट 'श्रुत प्रकाशिका' के विख्यात लेखक थे। सुविख्यात अण्णयाचार्य भी कलजित के शिष्य पिल्लै लोकाचार्य के शिष्य थे श्री शैल, श्रीनिवास या श्री शैलनाथ, अण्णयाचार्य के पुत्र थे। रम्यजामातृ मुनि के अनेक शिष्य थे जैसे कि रामानुज परवस्तु प्रतिवादि भयकर अण्णयाचार्य वनमालै जीयार परिय जीयार कापिल्य कडाडैण्णन् इत्यादि।[1] वेंकटनाथ के शिष्यो म से दो मुख्य हैं–एक उनका पुत्र नैनाराचार्य या कुमार वेदात देशिक, वरदनाथ या वरदगुरु जिसने वेदात के बहुत स ग्रन्थ लिखे हैं और दूसरा ब्रह्म मत्र जीयार था। परकालदास और श्रीरगाचार्य सम्भवत कृष्णपाद या कृष्णसूरि के शिष्य थे जो कलजित् या नम्बूरि वरदाय क शिष्य थे। अभिराम वराधीश सौम्य जामातृ मुनि के पुत्र रामानुज के शिष्य थे। श्री वष्णव सम्प्रदाय का धार्मिक आधिपत्य भिन्न भिन्न मठो और मदिरो म उत्तरोत्तर सुविख्यात व्यक्तियो के हाथ म रहा जिसम वेदान्त के महान् प्रचारक और आचार्य हुए। कुछ लोगो न महत्त्वपूर्ण रचनाएँ की और कुछ ने मौखिक उपदेश देकर सतोष लिया। इनमे कुछ लोगों के ग्रन्थ प्राप्त हैं और कुछ के विलुप्त हो चुके हैं। ऐसा लगता है कि विशिष्टाद्वैत वाद नवीन विचार धाराओ का जन्म देने मे स्थायी प्रेरणा नही दे सकता तथा इस ग्रथ मे इस सप्रदाय के तार्किक एव वाद प्रवीण विचारक शकर और मध्व मत क विचारको से निम्न कोटि के रह। रामानुज सप्रदाय के विकास के सारे इतिहास मे एक भी ऐसा विचारक नही मिलता जिसे श्री हर्ष या चित्सुख तथा जयतीर्थ व्यासतीर्थ की तर्कसगत कुशाग्रता से तुलना की जा सके। वेंकटनाथ मघनादारि या रामानुजाचार्य जो वदि हस भी कहलाते थे, इस सम्प्रदाय के मुख्य लेखक थे। ये इस सम्प्रदाय के मुख्य लेखक रहे हैं किन्तु इनम तत्त्व मीमासा उच्च कोटि की नहीं पाई जाती। चौदहवी पन्द्रहवीं और सोलहवी शताब्दी म, शकर और मध्व सम्प्रदायवादियो म मिथिला और बगाल के नव्य न्याय दर्शन के प्रत्ययो को स्वीकारने तथा तीव्र तार्किक विश्लेषण और समीक्षण करने की सामान्य रुचि प्रचलित थी। किन्तु श्री वष्णव सम्प्रदाय म किसी कारणवश विस्तृत रूप से इस पद्धति को नही अपनाया गया किन्तु फिर भी उत्तरकालीन तात्त्विक विचारो के विकास का यही मुख्य भाग था।

---

[1] कुछ शिष्यो के तामिल नाम गोविन्दाचार्य कृत रामानुज की जीवनी से सगृहीत किए हैं।

रामानुज सम्प्रदाय के आचार्यों की गणना करते हुए गुरु परम्परा म परवादि मयक्र' का नाम दिया है ये वात्स्य गोत्र के थे और रम्यजामातृ मुनि के शिष्य थे। प्रतिवादि मयकर, शठकोप यति के गुरु थे। यह ग्रन्थ एक दूसरे रम्यजामातृ मुनि का भी उल्लेख करता है जो अनताय के पुत्र और प्रतिवादी भयकर के पौत्र और श्री वेंकटेश के शिष्य थे। इसम वत्स्य गोत्रज वेदा त गुरु रम्य जामातृमुनि और वरदाय के शिष्य वात्स्यगोत्री वेदा त गुरु तथा वात्स्गोत्रोत्पन्न प्रतिवादि मयक्र के पुत्र सुदर देशिक तथा श्री वेंक्ट गुरु के पुत्र और प्रतिवादि मयकर के पौत्र अपर्यात्मामृताचाय का भी उल्लेख है। इन वेंकटाचाय के प्रतिवादि भयक्र नाम का पुत्र था। रम्य जामातृ मुनि के श्री कृष्ण देशिक नाम का पुत्र था। वात्स्य गोत्र के पुरुषोत्तमाय श्री वेंक्टाचाय के शिष्य थे। श्री कृष्ण देशिक के रम्य जामातृमुनि नाम का एक पुत्र था जिनका एक पुत्र कृष्ण सूरि था। अनत गुरु को एक पुत्र था जो वेंकट देशिक कहलाता था। श्रीनिवास गुरु, वेंकटाय और वात्स्य श्रीनिवास क शिष्य थे जिनके अनताय नाम का पुत्र था। हमे इस सूची को आगे प्रस्तुत करने की आवश्यकता नहीं है क्योकि यह श्री वैष्णव सम्प्रदाय के तत्त्व दशन और साहित्य के विकास की दष्टि से उपयोगी नही हैं। पूव आचार्यों के नाम सम्मान की दष्टि से इनका स्थान लेने वाल परवर्ती आचार्यों को दिए जाने के कारण उनका एक दूसरे से पृथक्करण कठिन हो जाता है। किन्तु सम्प्रदाय का इतिहास १६वी शताब्दी या पूव १७वी शताब्दी के बाद महत्वपूण न रहा क्याकि इसके बाद एक वैचारिक आ दालन के रूप म इसका प्रभाव बहुत कुछ घट गया। आलवारा के समय मे श्री वष्णव पथ मुख्यत भगवान् के गूढ उन्मत्त प्रेम और आत्म समपण का धार्मिक आन्दोलन था। रामानुज के समय म इसने कुछ समय के लिए बौद्धिक रूप धारण कर लिया, किन्तु फिर धीरे धीरे अपनी धार्मिक अवस्था के रूप मे उतार पर आ गया। इस सम्प्रदाय न शकर की तरह किन्तु मध्व से विपरीत वैदिक ग्रन्था के विवरण पर अधिक महत्त्व दिया और बुद्धिवाद को उपनिषद् के पाठ एव उनके विवरण के आधीन रखा। रामानुज सप्रदाय के मुख्य विरोधी शकर मतानुयायी थे, और हम अनेक ग्रन्थ पढ सकते हैं जिनमे शकर मतवादियो ने रामानुज भाष्य के मुख्य विषयो को तार्किक दष्टि से एव उपनिषदा के पाठा के विवरण की दष्टि से खण्डन किया है। किन्तु दुर्भाग्य से उत्तरकाल के कुछ ग्रन्थो के अतिरिक्त जो विशेष महत्व नही रखते, एक भी ऐसा ग्रन्थ नहीं मिलता जिसम शकर मतवादिया ने विद्वत्तापूण ढग से रामानुज के मता का खण्डन किया हो रामानुज के अनुयायिया ने भी भास्कर, जादव प्रकाश, मध्व और शैव सिद्धा तो का कम खण्डन किया है। किन्तु उनके प्रयत्न विशेषत शकर मतवादिया के विरुद्ध ही थे।

हम पहले ही कह चुके हैं कि रामानुज न ब्रह्म सूत्र पर भाष्य वेदाथ सग्रह, वेदान्त सार और वेदान्त दीप, 'भगवद् गीता की टीका' गद्यत्रय' और भगवद् आराधना क्रम

लिखे।[1] परम्परागत गणना से रामानुज ई० स० १०१७ मे जन्मे और ११३७ मे परलोक सिधार गए। उनके जीवन के मुख्य प्रसगो का तिथिक्रम लगभग इस प्रकार है, यादव प्रकाश के साथ अध्ययन १०३३ यामुन से भेंट करने श्रीरगम् की प्रथम यात्रा १०४३, दीक्षा १०४६ चोल राज के उपद्रव के भय से मैसूर भाग जाना १०६६, मसूर होयसल देश के जन राजा विट्टिदेव का धम परिवतन १०६८, मेलूकोट मे मूर्ति प्रतिष्ठा ११०० मेलूकोट मे १११६ तक वास, श्री रगम् वापस आना १११८, मृत्यु ११३७।[2] उनका शिष्य और भतीजा दाशरथि और इनका शिष्य कुरेश उनसे १५ या १६ वष छोटा था।[3] रामानुज का भाष्य जो श्री भाष्य कहलाता है उस पर सुदशन सूरि ने टीका लिखी। इस ग्रन्थ का श्रुति प्रकाशिका' कहा है और इसे श्री भाष्य की महत्वपूर्ण टीका जाना जाता है।

रामानुज साहित्य

जैसा अभी कहा गया है, रामानुज के भाष्य की मुख्य टीका सुदशन सूरि रचित 'श्रुत प्रकाशिका' है। श्रुत प्रकाशिका लिखी जाने से पहले एक दूसरी टीका जो 'श्री भाष्यवत्ति' कहलाती थी वह रामानुज के शिष्य रामिश्र देशिक ने उनके आदेशानुसार लिखी थी। यह ग्रन्थ छ अध्याय मे लिखा गया था वह एक साधारण टीका न थी किन्तु रामानुज के भाष्य के मुख्य विषयो का अध्ययन था। यह राम मिश्र,

---

[1] विष्णवार्चा कृतम् अवनात्सुकानानम् श्री गीता विवरण भाष्य दीप सारान् तद् गधत्रयम् अकृत प्रपन्न नित्यानुष्ठान क्रमम् अपि योगिराट् प्रवधान्।

—दिव्यसूरि चरितं।

रामानुज के वेदाथ सग्रह का भी उल्लेख इसी ग्रन्थ मे मिलता है।

इत्युक्त्वा निगम शिखाथ सग्रहाख्यम्।

मिश्रस्ता कृतिमुररीक्रियाथम् अस्य॥

[2] गोविन्दाचायर कृत रामानुज की जीवनी। उपरोक्त मतानुसार यामुन १०४२ मे रामानुज के श्री रगम् मे सव प्रथम आने के अनुसधान मे स्वगवासी हुए होंगे। गोपीनाथ राउ सोचते हैं कि यह प्रसग १०३८ मे हुआ। चोल उपद्रव का काल गोपीनाथ राउ के मत मे १०७८–७९ मे हुआ, जो रामानुज के मसूर भगने के साथ मेल खाता है और उनका श्रीरगम् आना १११७ के बाद हुआ होगा, जो चोल राजा कोलुत्तु ग की मृत्यु का समय है। इस प्रकार गोविन्दाचायर और गोपीनाथ राउ के मत मे रामानुज के श्रीरगम् मे प्रथम आगमन और मसूर भगने के समय मे मतभेद है गोपीनाथ राउ का मत अधिक प्रामाणिक दीखता है।

[3] सहस्र गीति भाष्य के उपरान्त कुरेश ने कुरेश विजय भी लिखा।

यामुन के गुरु राम मिश्र से भिन्न है। श्रुत प्रकाशिका का एक और अध्ययन था जो वीर राघवदास कृत 'भाव प्रकाशिका' है। इस ग्रन्थ की समालोचनाओं का शठकोपाचार्य कृत भाष्य प्रकाशिका दूषणोद्धार' नामक ग्रन्थ में उत्तर दिया गया था, जिनका जीवन काल १६वीं शताब्दी था। श्रुत प्रकाशिका की एक और टीका वाधुल श्रीनिवास कृत 'तूलिका' थी, जिनका काल १५वीं शताब्दी था। श्रुत प्रकाशिका के विषय 'श्रुत प्रकाशिका सार सग्रह' नामक ग्रन्थ मे सक्षिप्त किए गए थे। रामानुज के भाष्य पर फिर एक टीका रामानुज के भतीजे, वात्स्य वरद द्वारा तत्वसार नाम से हुई। टीकाकार के पिता का नाम देवराज और उनकी माता का नाम कमला था जो रामानुज की बहिन थी। वे कुरेश के शिष्य, विष्णु चित्त के शिष्य थे। तत्वसार की फिर आलोचना हुई जो रत्नसरिणी कहलाई जो वाधुर नर्सिह गुरु के पुत्र, वीर राघवदास ने लिखी वे वाधुल वेंकटाचार्य के पुत्र वाधुल वरदगुरु के शिष्य थे उन्होंने भी श्रीभाष्य पर एक टीका 'तात्पर्य दीपिका' नाम की लिखी। वीर राघवदास सम्भवत अग्र १४वीं शताब्दी या १५वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हुए होंगे। अप्पय्यो दीक्षित ने न्याय मुख मालिका' नामक ग्रन्थ मे रामानुज के सिद्धान्त का विद्वतापूर्ण (शास्त्रीय) सग्रह किया। वे मध्य १६वीं शताब्दी मे जन्मे थे। विख्यात वेंकटनाथ ने भी अपनी 'तत्व टीका में रामानुज भाष्य का निरूपण किया है। श्री भाष्य की एक और नयप्रकाशिका' नाम की टीका थी जो मेघनादारि द्वारा लिखी गई थी वे १४वीं शताब्दी के वेंकटनाथ के समकालीन थे।[1] एक दूसरी टीका मित प्रकाशिका' नाम की परकाल यति द्वारा लिखी गई है जो सम्भवत १५वीं शताब्दी की है। प्रकाश यति के एक शिष्य रग रामानुज नाम के थे जिन्होने 'मूल भाव प्रकाशिका' नामक 'श्रीभाष्य' पर अध्ययन लिखा। श्री निवासाचार्य ने भी श्री भाष्य की आलोचना बृहत् विद्या कौमुदी नामक ग्रन्थ मे की। इस ग्रन्थ के रचयिता कौन से श्रीनिवास थे यह कहना कठिन है क्योंकि रामानुज सम्प्रदाय में कई श्रीनिवास हो गये हैं। वेंकटनाथ के शिष्य चम्पकेश ने भी श्रीभाष्य का निरूपण किया है। शुद्धसत्व लक्ष्मणाचार्य ने भी चम्पकेश के 'गुरु तत्व प्रकाशिका के आधार पर श्रीभाष्य पर, 'गुरुभाव प्रकाशिका' नामक ग्रन्थ रचा। यह ग्रन्थ वास्तव में श्रुत प्रकाशिका की टीका है। इनके लेखक शुद्ध सत्व योगीन्द्र के शिष्य थे। वे रामानुज की मौसी के वंश के हैं जिस वंश में वेदान्त के १८ आचार्य हुए। वे सौम्य जामातृ मुनि के शिष्य थे और

---

[1] मेघनादारि का नयद्युमणि नामक विख्यात ग्रन्थ का विस्तार अगले खण्ड में दिया है। वे आत्रेयनाथ के पुत्र थे उनकी माता का नाम अध्वर नायिका था। उनके तीन भाई हस्त्यद्रिनाथ या वारणाद्रीश, वरदराट और राम मिश्र थे। इन वारणाद्रीश का दाशरथि के पौत्र जो वाधुल गोत्र के थे, इनसे पृथक् जानना चाहिए। मेघनादारि का दूसरे ग्रन्थ 'भाव प्रबोध' और मुमुक्षूपाय सग्रह थे।

सम्भवत १६वी शताब्दी के उत्तरकाल मे हुए थे। उक्त 'गुरु भाव प्रकाशिका' की गुरुभाव प्रकाशिक व्याख्या' नामक ग्रन्थ में टीका की गई है। सुदर्शन सूरि ने भी श्री भाष्य की टीका 'श्रुदीपिका' मे की हो ऐसा लगता है। श्रीशैल वदाज, ताताचाय और लक्ष्मीदवी के पुत्र, और अण्णायाय और कौडिन्य श्रीनिवास दीक्षित के शिष्य श्रीनिवास ने तत्त्वमार्तण्ड' नामक श्री भाष्य का सक्षिप्त ग्रन्थ लिखा। उनका जीवन काल सम्भवत १५वी शताब्दी का उत्तरार्ध या १६वी शताब्दी का पूर्वार्ध रहा। उनके पितामह का नाम अण्णा गुरु था। उन्होने 'तत्त्व दपण' 'भेद दपण' 'सिद्धान्त चिन्तामणि,' सार दपण' और 'विरोध निरोध नामक ग्रन्थ लिखे।[1] उन्हे श्री शैल निवास नाम से भी जाना गया है और उन्होने और भी ग्रन्थ लिखे जैसे कि 'जिज्ञासा दपण' नयद्युमणि दीपिका और नयद्युमणि सग्रह'। नयद्युमणि दीपिका के 'नयद्युमणि को मेघनादारि लिखित नयद्युमणि से सकीर्ण नहीं करना चाहिए क्योकि यह रामानुज भाष्य का पद्य म रचित सक्षेप है जिस पर पद्य म एक टीका है। 'नयद्युमणि सग्रह रामानुज भाष्य का गद्य ग्रन्थ है जिसके पहले चार सूत्रो मे प्रतिवादियों की आलोचनाओ का खण्डन है। नयद्युमणि सग्रह, नयद्युमणि से बहुत छोटा ग्रन्थ है जिसका उपयोग लेखक विस्तृत व्याख्या के लिए करते हैं। इस ग्रन्थ म आलोचक का नाम दिए बिना रामानुज के विरुद्ध आलोचनाओ का सतत उल्लेख है। नयद्युमणि के लेखक ने विस्तार से विवेचन किया है जिसका इस ग्रन्थ में सक्षेप से वर्णन है।[2] इस प्रकार श्री निवास ने तीन ग्रन्थ लिखे, नयद्यु मणि,' नयद्यु मणि सग्रह और 'नयद्यु

---

[1] व अपने विरोध निरोध ग्रन्थ म मुक्ति दपण' (हस्तलिखित पृ० ८२) और ज्ञान-रत्न दपण (हस्तलिखित पृ० ८७) का उल्लेख करत हैं और भेद दपण म (हस्तलिखित पृ० ६६) गुण दपण' का उल्लेख करते हैं। इसी ग्रन्थ मे आगे दूसरे ग्रन्थो का– अद्वैत वन कुठार, 'भेद मणि' (हस्त० पृ० ३७), 'भेद दपण' (हस्त० पृ० ६८), 'सार दपण' (हस्त० पृ० ६६) और तत्व मार्तण्ड' (हस्त० पृ० ८७) का उल्लेख करते हैं। सार दपण म रामानुज सिद्धान्त के मुख्य विषय दिए हैं। विरोध निरोध (हस्त० पृ० ३७) म अपने ज्येष्ठ भ्राता अण्णा-याय कृत विरोध भजन और स्वय रचित सिद्धान्त चिन्तामणि' (हस्त० पृ० १२) का उल्लेख करते हैं। अपने भाई का हवाला देते हुए व कहते हैं कि उनका 'विरोध निरोध' 'विरोध भजन को दी गई युक्तिया का केवल हेर फेर ही है, कुछ युक्तियो का विस्तार किया और दूसरो का सक्षेप कर पुनर्व्यवस्था की है। लेखक यह स्वीकारते हैं कि विरोध निरोध अपने ज्येष्ठ भ्राता अण्णायाय लिखित विरोध भजन पर ही आधारित है।

[2] भाष्यार्णवमवतीर्णो विस्तीर्ण यदवदम् नयद्युमणौ सक्षिप्य तत् परोक्तिविक्षिप्य करोमि तार्पणम् विदुषाम्।
—नयद्युमणि सग्रह, हस्त०।

मणि दीपिका । व अपने सिद्धान्त चिंतामणि नामक ग्रन्थ मे मुख्यत इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं कि ब्रह्म जड और चेतन जगत् का एक कारण है। इस ग्रंथ म व हर जगह शकर के ब्रह्म कारणवाद का खण्डन करने का प्रयत्न करत है।

देशिकाचार्य ने पुन 'प्रयोग रत्नमाला नामक श्री भाष्य पर टीका लिखी। नारायण मुनि ने भाव प्रदीपिका लिखी और पुरुषोत्तम ने श्रीभाष्य पर सुबोधिनी' नामक टीका लिखी। ये लेखक १७वीं शताब्दी के आसपास सम्भवत रहे होंग। वीर राघवदास ने भी श्री भाष्य की 'तात्पर्य दीपिका मे समालोचना की। वात्स्य वरद के तत्वसार पर रत्नसारिणी नामक अपने अध्ययन मे उनका उल्लेख किया गया है। श्रीनिवास ताताचार्य ने 'लघु प्रकाशिका लिखी, श्री वत्साक श्रीनिवास ने 'श्रीभाष्य साराथ सग्रह' लिखा और शठकाप ने, ब्रह्मसूत्राथ सग्रह नाम से श्री भाष्य की टीका लिखी। ये सब लेखक १६वीं शताब्दी के उत्तर काल म हुए होंगे ऐसा प्रतीत होता है। श्री वत्साक श्रीनिवास के ग्रन्थ को रगाचार्य ने 'श्री वत्स सिद्धान्त सार' नामक ग्रन्थ मे सक्षिप्त किया। अप्पय दीक्षित न मध्य १७वीं शताब्दी म रामानुज के विचारों के अनुसार ब्रह्मसूत्र पर नयमुख मालिका' नामक टीका लिखी।[1] रग रामानुज ने भी एक शारीरिक शास्त्राथ दीपिका' नामक टीका रामानुज मतानुसार लिखी। उनकी 'मूल भाव प्रकाशिका नामक श्री भाष्य पर टीका इसी खण्ड मे उल्लेख की जा चुकी है। उन्होंने वेंकटनाथ कृत 'न्याय सिद्धाजन' नामक ग्रन्थ पर न्याय सिद्धाजन व्याख्या' टीका लिखी। वे परकाल यति के शिष्य थ और सम्भवत १६वीं शताब्दी मे विद्यमान थे। उन्होंने तीन और ग्रंथ लिखे, जो विषय वाक्य दीपिका, 'छान्दोग्योपनिषद् भाष्य और रामानुज सिद्धान्त सार' थ। रामानुजदास जो महाचाय भी कहलाते थ, सम्भवत १५वीं शताब्दी म थे। व वाधुल श्रीनिवास के शिष्य थ। 'अधिकरण साराथ दीपिका के रचयिता य वाधुल श्रीनिवास 'यतीन्द्र मत दीपिका' के रचयिता तथा महाचाय के शिष्य श्रीनिवासदास से निश्चित रूप से पूर्ववर्ती रहे होंग। महाचाय ने परादाराय विजय' नामक एक ग्रंथ लिखा जो रामानुज वेदान्त के सामान्य सिद्धान्त का निरूपक था। उन्होंने श्री भाष्य पर एक और ग्रन्थ लिखा जो ब्रह्म सूत्र भाष्योपन्यास था। महाचाय के अन्य ग्रन्थ ब्रह्म विद्या विजय 'वेदान्त विजय रहस्य त्रय मीमासा 'रामानुज चरित चुलुक अष्टादस रहस्याथ निर्णय और चण्ड मारुत जो वेंकटनाथ की शत दूषणी पर टीका है। इन्हें वेंकटनाथ के काका जो रामानुजाचाय या वादिहंसाम्बुवाह से पृथक जानना चाहिए।

---

[1] लक्ष्मणार्यहृदयानुसारिणी लिख्यत नयमालिका 'नयमुख मालिका कुम्भकोनम से प्रकाशित।   —१६१५, पृ० ३।

'श्री भाष्य वार्तिक' नामक एक ग्रन्थ है जो और ग्रन्थों के असमान, अभी ही प्रकाशित हुआ है, यह ग्रन्थ पद्य मे लिखा गया है किन्तु लेखक ग्रन्थ म अपना नाम नही देता। सेनानय या भगवत् सेनापति मिश्र ने जो उत्तरकाल के लेखक हैं, 'शारीरक न्याय कलाप' ग्रन्थ लिखा। विजयीन्द्र भिक्षु 'शरीरक मीमासा वृत्ति' के लेखक थे और रघुनाथाय 'शरीर शास्त्र सगति सार' के लेखक थे। १६वी शताब्दी के लेखक सुन्दरराज देशिक ने श्री भाष्य पर 'ब्रह्म सूत्र भाष्य व्याख्या नामक, श्री भाष्य पर एक सरल टीका लिखी। वेंकटाचाय ने, जो सम्भवत १६वीं शताब्दी के लेखक हैं, 'ब्रह्म सूत्र भाष्य पूव पक्ष सग्रह' कारिका नामक पद्य मे एक ग्रन्थ लिखा। ये वेंकटाचाय प्रतीवादीम केसरी नाम से विख्यात थे। इन्होने 'आचाय पचाशत्' भी लिखा। चम्पकेश मे जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है, 'श्री भाष्य व्याख्या नामक श्री भाष्य पर एक टीका लिखी। वेंकटाचाय ने श्री भाष्य सार' नामक ग्रन्थ लिखा। श्री वत्साक श्रीनिवासाचाय 'श्री भाष्य साराथ सग्रह के लखक थे। श्री रगाचाय ने 'श्री भाष्य सिद्धान्त सार' और श्री निवासाचाय ने 'श्री भाष्यापन्यास' लिखा। दो और टीकाएँ हैं, जो 'ब्रह्म सूत्र भाष्य सग्रह विवरण' और 'ब्रह्म सूत्र भाष्यारम्भ प्रयोजन समथन' हैं किन्तु पाण्डुलिपि मे लेखक के नाम अविद्यमान हैं। १२वीं शताब्दी के वेंकटनाथ ने 'अधिकरण सारावी और मगाचाय श्री निवास ने 'अधिकरण साराथ दीपिका' लिखी। वरदाचाय या वरदनाथ के जो वेंकटनाथ के पुत्र थ, 'अधिकरण चिन्तामणि नामक अधिकरण सारावली' पर टीका लिखी। इस विषय पर एक दूसरा भी ग्रन्थ है, जो अधिकरण युक्ति विलास है किन्तु लेखक श्रीनिवास की स्तुति करते हैं, अपना नाम नही देते इसलिए यह जानना कठिन है कि ये कौन मे श्रीनिवास थे। जगन्नाथ यति ने ब्रह्म सूत्र पर रामानुज जसी एक टीका लिखी और यह 'ब्रह्म सूत्र दीपिका' थी। इससे स्पष्ट होता है कि रामानुज के भाष्य ने अनेक पडिता और विद्वाना को प्रेरणा दी और इस तरह एक विशाल साहित्य उत्पन्न हुआ। किन्तु दुख के साथ यह कहना ही पडेगा कि इतना बडा आलोचनात्मक साहित्य सामान्य तात्त्विक दृष्टि से अधिक महत्व नहीं रखता। रामानुज की वेदाथ सग्रह' की टीका १४वीं शताब्दी के सुदशन सूरि द्वारा तात्पय दीप म की गई थी। वे वाग्विजय या विश्वजय के पुत्र थे और वात्स्य वरद के शिष्य थे। रामानुज के भाष्य के अध्ययन के उपरान्त जिसका अभी ही उल्लेख किया जा चुका है उन्होने सध्या वदन भाष्य' लिखा। रामानुज की वेदान्त दीप (ब्रह्म सूत्र की सक्षिप्त टीका) पर १६वी शताब्दी के अहोबिल रगनाथ यति ने निरूपण किया था। वेंकटनाथ ने रामानुज के गद्यत्रय पर आलोचना की और सुदशनाचाय ने उस पर टीका लिखी कृष्णपाद ने भी जो उत्तर काल के लेखक हैं एक टीका लिखी। रामानुज की गीता की टीका पर वेंकटनाथ ने टीका की। वेदान्तसार म रामानुज ने स्वय श्री भाष्य के आधार पर ब्रह्म सूत्र की सक्षिप्त टीका दी है।

पद्मनाभ के पुत्र और वेंकटनाथ के मामा, आत्रेय गोत्र रामानुजाचार्य जो वादि हंसाम्बुहाचार्य भी कहे जाते हैं १३वीं या १४वीं शताब्दी में विद्यमान थे, उन्होंने एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'न्याय कुलिश' या 'न्याय कुलिश' लिखा, जिसे हम पहले बता चुके हैं। उन्होंने 'दिव्य सूरि प्रभाव दीपिका' 'सर्व दर्शन शिरोमणि' और 'मोक्ष सिद्धि' ग्रन्थ लिखे जिसका उल्लेख वे स्वयं 'न्याय कुलिश' में करते हैं।[1] ऐसा लगता है कि न्याय कुलिश विशिष्टाद्वैत मत का पूर्व ग्रन्थों में से एक तार्किक या सत्ता मीमांसा विषयक ग्रन्थ है किन्तु इस प्रकार के और भी ग्रंथ हैं जो रामानुज के पहले या उनके समय में लिखे गए थे। इस प्रकार नाथमुनि ने न्याय सिद्धान्तों का खण्डन किया है और न्याय दर्शन का एक नया मत स्थापित किया है। विष्णु चित्त ने जो रामानुज के कनिष्ठ समकालीन थे दो ग्रन्थ 'प्रमेय संग्रह' और संगति माल लिखे हैं। वरद विष्णु मिश्र का समय सम्भवतः १२वीं शताब्दी का उत्तरार्ध या १३वीं शताब्दी के पूर्वार्ध होगा। उन्होंने 'मानयाथात्म्य निर्णय' लिखा है। वरदनारायण भट्टारक ने भी जो वेंकटनाथ के पहले हुए प्रज्ञापरित्राण लिखा।[2] पराशर भट्टारक ने जो सम्भवतः १३वीं शताब्दी में हुए, 'तत्त्वरत्नाकर' लिखा।[3] वेंकटनाथ ने 'न्याय परिशुद्धि' में इन सबों का जिक्र किया है किन्तु इनकी पाण्डुलिपियाँ हमें नहीं मिली हैं। वात्स्य वरद के ग्रन्थ पृथक खण्ड में दिए गए हैं।

वेंकटनाथ जो वेदान्त देशिक वेदान्ताचार्य और कवि तार्किकसिंह भी कहलाते थे विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय के महान् विख्यात व्यक्ति हुए। वे ई० स० १२६८ में काजीवरम् के टुप्पल नगर में जन्मे थे। उनके पिता अनन्त सूरि थे, उनके पितामह पुण्डरीकाक्ष थे, व विश्वामित्र गोत्र में उत्पन्न हुए थे। उनकी माता आत्रेय रामानुज की जो वादीकलहसाम्बुवाहाचार्य भी कहे जाते थे बहिन तातारम्बा थीं उन्हें वे अपने काका आत्रेय रामानुज के साथ पढ़े और ऐसा कहा जाता है कि वे पांच वर्ष की उम्र में, उनके साथ वात्स्य वरदाचार्य के घर गए। लोक कथा ऐसी है कि इस छोटी वय में भी उन्होंने ऐसी असाधारण योग्यता प्रदर्शित की कि वात्स्य वरद ने यह भविष्यवाणी की कि वे विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय के शक्ति स्तम्भ बनेंगे और समस्त मिथ्या वादों का खण्डन करेंगे।[4] ऐसा प्रतीत होता है उन्होंने भी वरदाचार्य स्वयं

---

[1] मैं मोक्ष सिद्धि की पाण्डुलिपि प्राप्त नहीं कर सका। सम्भवतः यह ग्रन्थ खो गया है।

[2] उन्होंने एक दूसरा ग्रन्थ न्याय सुदर्शन लिखा ऐसा माना जाता है जिसका उल्लेख तत्त्व मुक्ता कलाप (मसूर १६३३) की प्रस्तावना में है।

[3] उन्होंने एक दूसरा ग्रन्थ भगवत् गुण दर्पण लिखा।

[4] उत्प्रेक्ष्यते बुधजनैरुपपत्ति भूम्नः।
घंटा हरेः समजनिष्ट जडात्मनीति ॥

के साथ शिक्षा पाई।[1] ऐसा कहा जाता है कि वे उञ्छवृत्ति पतेपे से गलियों मे भिक्षा माग कर निर्वाह करते थे और उन्होंने सारा जीवन तात्त्विक एव धार्मिक ग्रन्थो के लेखन मे ही व्यतीत किया। 'सकल्प सूर्योदय' मे वे लिखते हैं कि जब वे इस ग्रथ को लिख रहे थे तब तक उन्होंने श्रीभाष्य को तीस बार पढ लिया था। जब वे काची और श्रीरगम् मे रहते थे तब उन्हें प्रतिस्पर्धी सम्प्रदायो के बीच काय करना पडता था। पिल्ल लोकाचाय ने, जो उनसे वय मे बडे थे और जो तेलगाई सप्रदाय के आधार थे और जिनके विरुद्ध वेंकटनाथ लडे थे उनकी प्रशसा मे एक पद्य लिखा था। विद्वान् इस बात पर एक मत हैं कि वेंकटनाथ १३६९ मे परलोकवासी हुए। कुछ लोगो का यह भी मत है कि वे १३५१ मे मरे। वे लम्बी आयु तक जीवित रहे और जीवन का अधिकाश समय उत्तर भारत की यात्रा मे बिताया वे विजयनगर, मथुरा, वृन्दावन, अयोध्या और पुरी गए थे। विद्यारण्य की वेंकटनाथ से मत्री की बात सच या झूठ हो, किन्तु हम यह जानते है कि विद्यारण्य 'तत्त्व मुक्ता कलाप' से परिचित थे। वे सवदशन सग्रह मे विशिष्टाद्वैत के वणन के लिए इसी ग्रन्थ का उद्धृत करते हैं। जब वेंकटनाथ अधेड अवस्था के थे तब 'श्रुत प्रकाशिका' के लेखक सुदशन सूरि वृद्ध हो चुके थे और ऐसा कहा जाता है कि उन्होंने वेंकटनाथ को श्रीरगम् बुलाया और उन्हें श्री भाष्य की अपनी टीका सौंप दी जिससे उसे अधिक प्रचार मिले। स्वय वेंकटनाथ ने श्री भाष्य पर टीका लिखी, जो 'तत्व टीका' है। यद्यपि वे बडे दयालु और आदश व्यक्ति थे तो भी उनके अनेक दुश्मन थे जिन्होंने उन्हे अनेक प्रकार से पीडा देने और अपमानित करने की कोशिश की। इसी समय म प्रपत्ति या ईश्वर शरणागति के अथ बोध के विषय पर श्री वष्णव विद्वानो म बहुत बडा विवाद खडा हो गया। मुख्य विषय प्रपत्ति के स्वरूप के भिन्न अथ बोध पर तथा अन्य छोटे भेद कमकाण्ड के सम्बन्ध मे जसे कि तिलक इत्यादि प्रश्न पर दो स्पष्ट पथ बन गए। इन दोनो पथो मे से वाडकल पथ के नेता वेंकटनाथ और तेंगलाई पथ के नेता पिल्लै लोकाचाय थे। पीछे से सौम्य जामातृ तेंगलाई पथ के अग्रज माने गए। यद्यपि नेताओ मे आपस मे सहानुभूति बहुत थी किन्तु उनके अनुयायियो ने छोटे मोटे मत भेदो

प्रतिष्ठापित वेदान्त प्रतिक्षिप्त बहिमत।
भूयास्त्रविद्यमान्यस्त्व भूरि कल्याण भाजनम्॥
ऐसा कहा जाता है कि उपरोक्त पद्य म उन्हे वरदाचाय से आशीर्वाद मिला था, यहाँ वेंकटनाथ का भगवान् के घर का अवतार कहा है। भारत के वैष्णव सुधारक राजगोपालचायर कृत।

[1] श्रुत्वा रामानुजार्यात् सदसदपि ततस्तत्वमुक्ताकलाप।
व्यातानीद् वेंकटेशो वरदगुरु कृपा लम्भितोद्दाम भूमा।

—तत्त्वमुक्ता कलाप श्लोक २।

को लेकर तिल का ताड बनाते रहे और हर समय आपस म लडते रहते थे। यह तो सुविख्यात तथ्य है कि इन पथो का विग्रह अभी तक चालू है।

वेंकटनाथ के समय म अलाउद्दीन के सेनापति मलिक काफूर ने दक्षिण पर १३१० मे आक्रमण किया। उसने वारगल और द्वार समुद्र को सरलता से जीत लिया और दक्षिण सीमान्त तक बढ गया और लूटमार तथा तबाही फला दी। १३२६ मे मुसलमानो ने श्रीरगम् पर आक्रमण किया और शहर तथा मदिर को लूटा। लगभग १३५१ मे हिन्दू राजा बुक्का प्रथम ने विजयनगर राज्य बसाया। जब मुसलमानो न श्रीरगम् मदिर को लूटा तो मदिर क पुजारी रगनाथ की मूर्ति को लेकर मदुरा भाग गए। मूर्ति की प्रतिष्ठा तिरुपति मे की गई और वहाँ उसकी पूजा होन लगी। बुक्का के पुत्र कम्पन के सेनाध्यक्ष गोप्पन रगनाथ को श्रीरगम् मे वापस लाने मे सफल हुए। यह प्रसग वेंकटनाथ द्वारा एक पद्य मे अमर किया गया है जो श्रीरगम् क मदिर की दीवार पर अब भी अकित है। कुछ विद्वान् ऐसा सोचत हैं कि यह पद्य उन्होने नही लिखा था किन्तु उनका आरोपित किया गया है। यह वार्ता तामिल ग्रन्थ 'कवि लोलागु' म कही गई है और १८वी शताब्दी की वाडक्लाई गुरु परम्परा म भी उल्लिखित है। श्रीरगम् के आम मारकाट के समय वेंकटनाथ मुर्दों मे छिप गए और अन्त मे मसूर भाग गए। कुछ वष वहाँ रहने के बाद व कोइम्बतूर चले गए और वहाँ उन्होने 'अभीति स्तव' लिखा। जिसमे उन्होने मुसलमानो के आक्रमण और श्रीरगम् की दयाजनक स्थिति का वणन किया है। जब उन्होने सुना कि गोप्पन के प्रयत्न से रगनाथ श्रीरगम मे वापस आ गए तो उन्होने उनके प्रयत्न की बहुत प्रशसा करते हुए एक पद्य की रचना की।[1]

---

[1] आनीयानीलश्रृगद्युतिरचित जगद्–रजनादजनाद्रे।
चेंच्याम् आराध्य कचित् समयमथ निहत्योद्धनुष्काश्चतुष्कान्॥
लक्ष्मी भूम्यावुमाभ्याम सह निज नगरे स्थापयन् रगनाथम।
सम्यग वर्या सपर्या पुनरकृत यशो दपण गोप्पणाय॥

—यह पद Epigraphica Indica मे पु० ६, पृ० ३३० पर है।

यह प्रसग दोड्डाचाय के वेदान्त दशिक, वैभव प्रकाशिका और यतींद्र प्रवण म इन श्लोका म कहा है।

जीत्वा तुलष्कान् भुवि गोप्पनद्रो,
रगाधिपम स्थापितवान् स्वदेशे
इत्येवमाकण्य गुरु कवी द्रा
धष्टवद् यस्तम् अहम् प्रपद्ये॥

वेंकटनाथ अनेक विषयों के प्रचुर लेखक थे और प्रतिभासम्पन्न कवि भी थे। का य के क्षेत्र में उनके महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'यादवाभ्युदय', 'हंस संदेश', 'सुभाषित नीवि', और सकल्प सूर्योदय है अंतिम ग्रन्थ दस अंकों का प्रतीकात्मक नाटक है। 'यादवाभ्युदय कृष्ण के जीवन से सम्बन्धित ग्रन्थ हैं जिस पर अप्पय दीक्षित जसे व्यक्ति ने टीका की थी। सुभाषित नीवि' एक नतिक काव्य है जिसकी श्रीनिवास सूरि ने टीका की, जो श्री शैल वंशज थे और वेंकटनाथ के पुत्र थे। सम्भवत वे १५वीं शताब्दी में हुए। वेंकटनाथ का दूसरा काव्य हंस संदेश' है। सकल्प सूर्योदय में वे नाटकीय ढंग से प्रबोध चन्द्रोदय की तरह जीव की अंतिम पूर्णावस्था प्राप्त करने में आने वाली कठिनाइयों का वर्णन करते हैं। उन्होंने लगभग ३२ स्तोत्र लिखे जैसे कि हयग्रीव स्तोत्र और देवनायक पचाशत्' और पादुका सहस्त्र नाम। उन्होंने कर्मकाण्डी और भक्तिपूर्ण छंद भी रचे जैसे कि यज्ञोपवीत प्रतिष्ठा,' 'आराधना क्रम,' 'हरिदीन तिलक' वरदेव कारिका' 'श्री पचरात्र रक्षा, 'सच्चरित्र रक्षा और निक्षेप रक्षा। उन्होंने अनेक स्त्रोतों से प्रपत्ति विषयक पद्यों का भी संकलन किया और याय विंशति लिखा और उसी आधार पर एक दूसरा ग्रंथ लिखा जो न्याय तिलक है, जिस पर उनके पुत्र कुमार वरदाचार्य देशिक ने टीका लिखी। यह न्यास तिलक की व्याख्या है। पचरात्र रक्षा' ग्रन्थ का उल्लेख इस पुस्तक के पचरात्र खण्ड में किया गया है। उन्होंने एक और ग्रंथ शिल्पार्थ सार' नामक लिखा दो ग्रन्थ, रस भौमामृत' और वृक्ष भौमामृत नामक आयुर्वेद पर लिखे। एक पौराणिक भूगोल पर 'भूगोल निर्णय लिखा और तात्विक ग्रंथ 'तत्व मुक्ता कलाप' गद्य में अपनी टीका सहित लिखा टीका सर्वार्थ सिद्धि कहलाई। इन सबका विस्तार सहित उल्लेख वेंकटनाथ के विशेष खण्ड में किया है। इस ग्रन्थ की दो टीकाएँ 'आनन्दायिनी या आनंद वल्लरी' (हस्तलिखित) या नृसिंह राजीय या भाव प्रकाश है जिसमें अंतिम ग्रन्थ व्याख्या रूप में है। आनंददायिनी टीका नृसिंह सूरि और तातारम्बा और देवराज सूरि के पुत्र वात्स्य नृसिंहदेव ने लिखी। नृसिंहदेव के नाना कौशिक श्रीभाष्य श्रीनिवास थे। वे उनके गुरु भी थे। उनके एक और गुरु अप्पयाचार्य थे। यह देवराज सूरि सम्भवत 'बिम्ब तत्व प्रकाशिका और चरमोपाय तात्पर्य के लेखक थे। नृसिंहदेव के अन्य ग्रन्थ पर 'तत्त्वदीपिका भेदधिक्कार न्यक्कार,' मणि सारधिक्कार,' 'सिद्धान्त निर्णय, वेंकटनाथ की निक्षेप रक्षा पर नृसिंह राजीय नामक टीका और शतदूषणी पर टीका है। यह नृसिंहदेव १६वीं शताब्दी में हुए। 'भावप्रकाश नामक टीका नय रंगेश ने लिखी। वह उन्हें कलजित के शिष्य बताते हैं। किन्तु

उपरोक्त वभव प्रकाशिका' टीका के आधार पर वेंकटनाथ १२६९ में जन्म और १३६९ में स्वर्गलोक सिधार गए ऐसा भाषित होता है। गोप्पणार्य द्वारा रंगनाथ की पुन स्थापना १३७१ में हुई।

यह कलजित् प्रसिद्ध लोकाचार्य से कोई और ही होगे। क्योंकि 'भाव प्रकाश टीका' आनददायिनी के विषय का उल्लेख करती है अत उत्तरकाल का ग्रंथ है। यह १६वीं शताब्दी के उत्तरकाल म या १७वी शती के प्रारम्भ म लिखा गया होगा।

वेंकटनाथ ने विशिष्टाद्वैत सप्रदाय का व्यापक नैयायिक ग्रन्थ, 'याय परिशुद्धि' लिखा। इस पर देवराजाचार्य के पुत्र और वेंकटनाथ के शिष्य, श्रीनिवासदास द्वारा आलोचना की गई है। वह नसिंहदेव के काका और गुरु होंगे जो आनन्दायिनी के लेखक थे। इनकी टीका 'याय सार कहलायी। याय परिशुद्धि की दो और भी टीकाएँ थीं, 'निकाश' शठकोप यति द्वारा, जो अहोबिल के शिष्य थे, और कृष्णताताचार्य कृत याय परिशुद्धि व्याख्या' हैं।

वेंकटनाथ ने 'याय परिशुद्धि के परिशिष्ट म "याय सिद्धांजन लिखा, जिसके विषयवस्तु वेंकटनाथ सम्बन्धी पृथक खड मे दी गई है। उन्होने एक और 'परमत भग नामक ग्रन्थ लिखा और खण्डन मण्डनात्मक 'शत दूषणी' ग्रन्थ लिखा। ग्रन्थ के नाम से पता चलता है कि इसमे १०० विषयो के खण्डन हैं किन्तु जो पुस्तक मेरे हाथ लगी है उसम केवल ४० ही खण्डन हैं। सुविख्यात टीका जो प्राप्त है वह वाधुल श्रीनिवास के शिष्य, रामानुजदास लिखित चण्डमारुत है। समस्त महत्वपूर्ण विवाद जो शत् दूषणी मे हैं वे शकर मत की ओर निर्देश करते हैं। उनका वृत्तान्त पृथक खण्ड मे दिया है। उसकी एक और टीका नसिहराज द्वारा है। वह भी खण्ड मारुत' कहलाती है और एक 'सहस्र किरणी है जो श्रीनिवासाचार्य ने लिखी है।

वेंकटनाथ ने श्रीभाष्य की तत्त्व टीका' के उपरान्त, श्रीभाष्य के अन्तगत विवाद के सामान्य विषय का सक्षेप लिखा जो अधिकरण सारावली' है। उनके पुत्र कुमार वेदान्ताचार्य या वरदनाथ ने इस पर टीका लिखी जो अधिकरण सारावली व्याख्या या अधिकरण चिन्तामणि है। उन्होने दो छोटे प्रबंध भी लिखे जो 'चकार समर्थन और 'अधिकरण दर्पण' हैं। ईशोपनिषद् पर टीका, एक यामुन के 'गीतार्थ सग्रह' पर गीतार्थ सग्रह रक्षा' नामक टीका, रामानुज के गीता रहस्य पर टीका तात्पर्य चन्द्रिका' और यामुन की चतुश्लोकी और स्तोत्र रत्नाकर पर टीका 'रहस्य रक्षा' भी उन्ही की कृतियाँ हैं। इसके अतिरिक्त उन्होने मणि प्रवाल शैली म ३२ ग्रन्थ रचे जिनमे से कुछ सस्कृत में अनूदित हुए। ये ग्रन्थ 'सम्प्रदाय परिशुद्धि' तत्त्वपदवी रहस्य पदवी' तत्त्वनवनीतम् रहस्य नवनीतम 'तत्त्वमातृका' रहस्य मातृका तत्त्व सदेश 'रहस्य सदेश,' 'रहस्य सदेश विवरण,' तत्त्व रत्नावली,' 'तत्त्व रत्नावली सग्रह' रहस्य रत्नावली, रहस्य रत्नावली हृदय, 'तत्त्व त्रय चुलुक' रहस्य त्रय चुलुक, सारदीप' 'रहस्य त्रय सार' सार सार, अभय प्रदान सार तत्त्व शिखामणि रहस्य शिखामणि अंजलि वैभव प्रधान शतक, उपकार सग्रह सारसग्रह विरोध परिहार मुनि वाहन भाग,

मधुर कवि हृदय, परमपाद सोपान, परमत भग, हस्ति गिरि माहात्म्य, द्रविडोपनिषत् सार, द्रविडोपनिषद् तात्पर्यावली, और निगम परिमल हैं। अतिम तीन ग्रन्था मे आलवारा के उपदेशो का सक्षेपीकरण है। वे तामिल भाषा मे २४ कविताग्रो के रचयिता भी थे।[1]

वेंकटनाथ का एक छोटा निबध भी मिला है जो 'वादित्रय खण्डन' है इसम शकर यादव प्रकाश और भास्कर का खण्डन है। अधिकाश युक्तियाँ शकर के विरुद्ध हैं यादव प्रकाश और भास्कर के सिद्धान्ता का तो स्पशमात्र किया है। उन्होने मीमासा पर दो ग्रन्थ लिखे, जो मीमासा पादुका और सेश्वर मीमासा हैं। अतिम ग्रन्थ मे वेंकटनाथ जैमिनि के मीमांसा सूत्र की व्याख्या शबर से भिन्न करते हैं। उनका मुख्य हेतु मीमासा सूत्र का इस तरह अर्थ बोध करना था कि वह ब्रह्म सूत्र के विरुद्ध न जाय किन्तु वह ब्रह्म सूत्र का परिपूरक सहायक रहे। इस प्रकार जैमिनि के पहले सूत्र की व्याख्या करते हुए व कहते हैं कि वेदाध्ययन की विधि, वेदा के केवल पढने से पूरी हो जाती है। विधि का अर्थ यह नही कि पाठो के अर्थों के प्रति जिज्ञासा की जाय और मीमासा भी पढी जाय क्योंकि पाठो के अर्थ जानने की इच्छा तथा उनके प्रयोग से यह सहज ही उत्पन्न होती है। मीमासा का अध्ययन ब्रह्मचारी के अतिम स्नान के बाद भी हो सकता है। इस प्रकार ब्रह्मचारी के रूप म गुरु गृह मे अपनी अनिवार्य शिक्षा सम्पन्न करने के पश्चात् वही पर मीमासा का अध्ययन करने के लिए रह सकता है, किन्तु मीमासा की शिक्षा आवश्यक कर्मों का अग नही है। पुन धर्म की व्याख्या करते हुए वेंकटनाथ कहते हैं कि धर्म हमे श्रेय तक पहुँचाता है और साथ ही साथ उसका विधि अनुसार होना भी आवश्यक है।[2] यद्यपि कुछ लोग धर्म शब्द अन्य अर्थ मे भी प्रयुक्त करें तो भी उपरोक्त व्याख्यायित धर्म का अर्थ अपरिवर्तनीय रहता है। स्मृति, पुराण, पचरात्र ब्रह्म सूत्र इत्यादि का आदेश धर्म माना जाना चाहिए क्योंकि वे वेद पर आधारित हैं जो कि उन सबो का मूल स्रोत है। श्रुति के अलावा किसी अन्य प्रमाण से धर्म की प्रमाणता नही साबित की जा सकती। सन्देह या विवाद उपस्थित होने पर मीमासा सूत्र' की व्याख्या इस प्रकार की जानी चाहिए कि उसका बादरायण के मत स कोई विरोध न हो, क्योंकि वे जैमिनि के गुरु थे।

वेंकटनाथ का पुत्र भी वेदान्त का एक महान् लेखक था। वह कुमार वेदान्ताचार्य वरदार्य या वरदनाथ या वरद देशिकाचार्य या वरदराज सूरि या वरद नायक

---

[1] इन तामिल ग्रन्थो की सूची हम नही मिल पाई यह हमने मैसूर से प्रकाशित तत्व मुक्ता कलाप की प्रस्तावना से सग्रहीत किया है।

[2] चोदना लक्षणत्व विनेपितमेवार्थ साधनत्व धर्म लक्षणम।

—ईश्वर मीमासा पृ० १८।

सूरि या वरद गुरु कहलाता था। उन्होंने संस्कृत गद्य में 'तत्व त्रय चुलुक संग्रह' नाम का ग्रन्थ रचा जिसमें वे वेंकटनाथ के नामित ग्रंथ 'तत्व त्रय चुलुक' का संक्षेपीकरण करते हैं जिसमें जीव जड और ईश्वर के बारे में श्रीनिवास सिद्धान्त का वर्णन है।[1] उनकी अन्य रचनाएँ 'व्यवहारिक सत्यत्व खण्डन' 'प्रपत्ति कारिका' 'रहस्य त्रय चुलुक' 'चरम गुरु निर्णय,' 'फलभेद खण्डन' 'आराधना संग्रह' 'अधिकरण चिन्तामणि' 'न्यास तिलक व्याख्या' 'रहस्य त्रय सारार्थ संग्रह' हैं। अन्तिम तीन रचनाएँ वेंकटनाथ की 'अधिकरण सारावली' 'न्यासतिलक' और 'रहस्य त्रय सार' पर टीकाएं हैं। वरदार्य चौदहवीं शताब्दी के अन्त या पन्द्रहवीं के प्रथम भाग तक रहे होंगे।

मेघनादारि सम्भवत १२वीं या १३वीं शताब्दी के पूर्व काल में विद्यमान थे। उनका सम्पर्क अपने ज्येष्ठ भ्राता राममिश्र से जो रामानुज के शिष्य थे, निकट का रहा। उन्होंने श्रीभाष्य पर 'न्याय प्रकाशिका' नाम की टीका लिखी तथा 'भाव प्रबोध' 'मुमुक्षूपाय संग्रह' और 'नयद्युमणि' ग्रन्थ भी लिखे। अन्तिम ग्रंथ विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त पर महान् ग्रन्थ है जिसका मुख्य वर्ण्य विषय पृथक खण्ड में दिया गया है। वे आत्रेयनाथ और अध्वर नायिका के पुत्र थे। उनके तीन भाई हस्त्यद्रिनाथ वरदराट और राममिश्र थे।

रामानुजदास या महाचार्य ने श्रीभाष्य पर 'ब्रह्मसूत्र भाष्योपन्यास' नाम की टीका लिखी। उन्होंने एक 'पाराशर्य' नामक ग्रंथ लिखा जिसमें उन्होंने यह बताने की कोशिश की कि शंकर मध्व तथा अन्य आचार्यों की टीकाएं बादरायण के सूत्र से मेल नहीं खाती। इसका थोडा वर्णन इस पुस्तक के चतुर्थ भाग में मिलेगा। उन्होंने 'रामानुज चरित चुलुक' 'रहस्यत्रय मीमांसा भाष्य' और 'चण्ड मारुत' लिखा जो वेंकटनाथ की 'शतदूषणी' की विद्वत्तापूर्ण टीका है। सुदर्शन गुरु ने उनके 'वेदान्त विजय' पर 'मंगल दीपिका' नामक टीका लिखी। उन्होंने एक बृहत् ग्रन्थ 'वेदान्त विजय' नामक लिखा जो अनेक स्वतन्त्र खण्डों का होते हुए भी आपस में सम्बद्ध है। पहला भाग 'गुरुपसत्ति विजय' है जिसमें गुरु के पास उपसत्ति करने की पद्धति की विवेचना है। यह हस्तलिखित ग्रंथ बड़ा मोटा २७३ पृष्ठों का है। विवेचना का प्रकार उपनिषदों जैसा है। दूसरा भाग 'ब्रह्म विद्या विजय' (हस्तलिखित २२१ पृ० वाला) जिसमें वे उपनिषद् के आधार पर यह सिद्ध करना चाहते हैं कि ब्रह्मन् का अर्थ नारायण ही है अन्य कोई देव नहीं है। तीसरा भाग 'सद् विद्या विजय' ७ अध्यायों वाला है जो तात्त्विक और विवादपूर्ण है। मैंने उत्तरखंड में इसके विषय का वर्णन किया है। अन्तिम खंड 'विजयोल्लास' है (हस्तलिखित १५८ पृ०) जिसमें यह सिद्ध करने का प्रयास है कि उपनिषद् नारायण को ही निर्दिष्ट करते हैं। मुझे इस पुस्तक

[1] वह 'चिदचिदीश्वर तत्त्व निरूपण' या 'तत्वत्रय' नाम से भी जाना जाता है।

का चतुर्थ भाग प्राप्त नहीं हो सका। सुदर्शन गुरु ने इस वेदान्त विजय पर एक टीका लिखी। यह सुदर्शनाचार्य से भिन्न व्यक्ति है। इन्होंने 'अद्वैत विद्या विजय' नामक एक ग्रंथ तीन अध्यायों वाला लिखा जो उपनिषद् के पाठों पर आधारित है। इसके तीन अध्याय, 'प्रपंच मिथ्यात्व भंग' 'जीवेश्वरैक्य भंग' और 'अनखण्डार्थत्व भंग' हैं। इन्होंने एक ग्रंथ उपनिषद् मंगल दीपिका नामक लिखा जो हमें मिल नहीं सका। वे अपने को कभी वाधुल श्री निवास या कभी उनके पुत्र प्रज्ञानिधि के शिष्य बताते हैं। उनका काल सम्भवतः १५वीं शताब्दी रहा होगा। वे वाधुल श्रीनिवास के शिष्य थे। जिन्होंने श्रुत पचाशिका पर तूलिका नामक टीका लिखी।

रंग रामानुज मुनि का जीवन काल सम्भवतः १८वीं शताब्दी रहा। वे वात्स्य अनंताय, ताताचार्य और परकाल यति अथवा कुम्भकोन ताताचार्य के शिष्य थे। उन्होंने श्री भाष्य पर 'मूल भाव प्रकाशिका' नामक टीका लिखी और न्याय सिद्धांजन पर न्याय सिद्धांजन व्याख्या नामक टीका लिखी। उन्होंने द्रमिडोपनिषद् भाष्य, विषय व्याख्या दीपिका रामानुज सिद्धान्त सार और छांदोग्योपनिषद् प्रकाशिका नामक छांदोग्योपनिषद् पर टीका लिखी तथा एक बृहदारण्यकोपनिषद् प्रकाशिका टीका लिखी। उन्होंने शारीरक न्यायार्थ दीपिका नामक एक ब्रह्म सूत्र पर एक स्वतंत्र टीका लिखी। आउफ्रेक्ट अपने केटेलोगुस कटेलोगोरूम में लिखते हैं कि उन्होंने ये निम्न ग्रंथ लिखे (हमें प्राप्त नहीं हो सके) 'उपनिषद् व्याख्या विवरण' उपनिषद् प्रकाशिका,' उपनिषद् भाष्य' 'द्रविडोपनिषत् सार रत्नावली व्याख्या,' कठवल्ली उपनिषद् प्रकाशिका' कौषीतकोपनिषत् प्रकाशिका, तैत्तिरीयोपनिषद् प्रकाशिका' 'प्रश्नोपनिषत् प्रकाशिका' माण्डूक्योपनिषत् प्रकाशिका' 'मुण्डकोपनिषत् प्रकाशिका' श्वेताश्वतरोपनिषत् प्रकाशिका' श्रुत भाव प्रकाशिका और गुरु भाव प्रकाशिका'।[1]

रंगरामानुज के गुरु परकाल यति ने जो कुम्भकोनम ताताचार्य भी कहलाते थे निम्न ग्रंथ लिखे 'द्रविड श्रुति तत्त्वार्थ प्रकाशिका' 'तिरुप्पल्लाण्डु व्याख्यान' तिरुप्पलवै व्याख्यान' कण्णिणुण शिरु ताम्बु व्याख्यान और अधिकार संग्रह व्याख्या। उन्होंने विजयीन्द्र की परतंत्र प्रकाशिका का खंडन करते हुए विजयीन्द्र पराजय लिखा।

माधव कुलोत्पन्न श्रीनिवासदास ने जो देवराजाचार्य के पुत्र और वेंकटनाथ के शिष्य थे न्याय परिशुद्धि पर 'न्याय सार' नाम की टीका लिखी तथा एक टीका और लिखी जो शतदूषणी व्याख्या सहस्रकिरणी है। ऐसा सम्भव हो सकता है कि इस श्रीनिवासदास ने 'विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त' कैवल्यशतदूषणी, दुरुपदेशधिक्कार, 'न्यास विद्या विजय, मुक्ति शब्द विचार, सिद्ध्युपाय सुदर्शन,' 'सार निष्कर्ष टिप्पणी'

---

[1] देखो आउफ्रेक्ट कृत वट लागस करतलागोरुम पृ० ४८८-८६।

और 'वादाद्रि कुलिश' लिखे, वही ' यायसार' के भी लेखक थे। उनका जीवन १४वी शताब्दी का अन्त और १५वी शताब्दी रहा। इन श्रीनिवास को श्रीशल निवास से पृथक रखना चाहिए जिनके ग्रथो का उल्लेख पृथक खड मे किया गया है। श्रीशल निवास भी १५वी शताब्दी मे हुए, ऐसा मानना सभव है।

हम एक और श्रीनिवास को जानते है जिन्होने अधिकरण साराथ दीपिका लिखी। उक्त ग्रन्थ की पुष्पिका की एक व्याख्या के अनुसार पर व वाधुल श्रीनिवास कहे जा सकते हैं तो फिर उन्हे महाचाय गुरु होना चाहिए।[1]

एक और श्रीनिवास हुए, जो महाचाय या रामानुजदास क शिष्य थे और गोविन्दाय के पुत्र थे। उन्होंने 'श्रुतप्रकाशिका पर टीका लिखी और यतींद्रमत दीपिका या 'यतिपतिमत दीपिका लिखी। लेखक ऐसा कहते हैं कि श्री वष्णव मत तथा सिद्धा त पर इस प्रवेशिका को लिखने क लिए उन्होन कई प्राचीन ग्रथो से सामग्री का सग्रह किया।[2]

यतीन्द्रमत दीपिका के १० अध्याय है। पहले अध्याय म विभिन्न तत्वो का वणन है प्रत्यक्ष की परिभाषा दी गई है और यह बताया है कि अ य प्रकार क प्रमाण यथा स्मृति प्रत्यभिज्ञा और अनुपलब्धि प्रत्यक्ष के अ तगत समाविष्ट किए जा सकते हैं। तत्पश्चात् दूसरे मतो का खण्डन और सतख्याति का निरूपण किया गया है। इसम शब्द प्रमाण के इस दावे कि प्रत्यक्ष उसी का एक प्रकार है खण्डन करता है मध्यवर्ती सज्ञान की परिभाषा नही मानता और ईश्वर अनुमेय है इस तक को स्वीकार नही करता।

दूसरे अध्याय मे अनुमान की परिभाषा दी गई है और उसका वर्गीकरण करके उसकी प्रामाण्य क नियम दिए हैं और इन नियमो के उल्लघन से होने वाले दोषो की तालिका भी दी है। उन्होने उपमिति और अर्थापत्ति को अनुमान की परिभाषा मे समाविष्ट किया है और वाद के भिन्न प्रकारो का उल्लेख किया है।

---

[1] दूसरे ग्रथ मे वाधुल कुल तिलक यह विशेषण समरपु गवाचाय को ही दिया जा सकता है। इस श्रीनिवास को महाचाय श्रीनिवास नाम से भी जाना गया है।

[2] एव द्रविडभाष्य – न्याय तत्व –सिद्धित्रय-श्रीभाष्य दीपसार–वेदाथ सग्रह भाष्य विवरण-सगीत माला सदथ सक्षेप श्रुत प्रकाशिका–तत्वरत्नाकर प्रज्ञा परित्राण प्रमेय सग्रह न्याय कुलिश यायसुदशन–मानयाथात्म्य निणय– याय सार–तत्व दीपन तत्व निणय–सर्वाथ सिद्धि–न्याय परिशुद्धि–न्याय सिद्धाजन–परमत भग–तत्वत्रय चुलुक तत्व त्रय निरूपण–तत्वत्रय प्रचड मारुत–वेदा त विजय–पाराशय विजयादिपूर्वाचाय प्रबधानुसारेण ज्ञातव्यार्थान् सग्रह्य बाल बोधाथ यतीन्द्रमत दीपिकाख्या शारीरक-परिभाषाया ते प्रतिपादिता।

—यतीद्रमतदीपिका पृ० स० १०१।

तीसरे अध्याय में शब्द की परिभाषा मिलती है। वेद की प्रमाणता स्थापित की की गई है और यह प्रयास किया है कि समस्त शब्द नारायण का ही अथ बोध कराते हैं।

चतुथ अध्याय सब अध्यायो स लम्बा है। यहाँ न्याय दशन के पदार्थों का खडन किया है जसकि सामान्य समवाय और परमाणु का कारणत्व और पदार्थों की उत्पत्ति के विषय में अपना मत दिया है, व हैं चित्त, शरीर इन्द्रिय और पृथ्वी, वायु, अग्नि, जल एव आकाश आदि पचभूत।

पाचवा अध्याय काल के स्वरूप का निरूपण करता है और उसकी सव व्यापकता और अनादित्व को बताता है। छठा अध्याय शुद्ध सत्व के नित्य एव लोकातर गुणो का वणन करता है जो ईश्वर और जीव के गुण हैं।

सातवा अध्याय अधिक दार्शनिक है। यहाँ विवाद द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि ज्ञान किस प्रकार गुण और द्रव्य दोनो ही है जिससे वह आत्मा का गुण और स्वरूप भी हो सकता है। यहाँ यह भी प्रयास किया गया है कि चित्त की समस्त अवस्थाएँ और भाव भी ज्ञान रूप हैं। भक्ति और प्रपत्ति का विवेचन हुआ है और कम ज्ञान और भक्ति पर विस्तृत उल्लख किया गया है। लेखक ने यह भी बताने की कोशिश की है कि अ य दशन द्वारा कहे गए मोक्ष साधन निरथक हैं।

आठवें अध्याय मे ईश्वर और जीव के सामा य गुणो का वणन है और जीव के सच्चे स्वरूप पर लम्बी विवेचना की गई है तथा इस सम्बन्ध म बौद्धवाद का खडन किया है। वे मुक्त और उनके दो वर्गों का वणन भी करते हैं और मुक्त जीव के गुणो का वणन करते हैं।

नवमे अध्याय म ईश्वर की परिभाषा दी है और वह जगत् का उपादान सहकारी और निमित्त कारण है ऐसा सिद्ध किया है। वे अद्वैतवाद के मायावाद का खडन करते हैं और भगवान् के पाच अगो की विवेचना करते है जो विभव अवतार इत्यादि है। दसवे अध्याय मे द्रव्य के सिवाय १० तत्त्वो की गणना और परिभाषा दी है जसे कि सत्व, रजस तमस शब्द स्पश इत्यादि।

एक और श्रीनिवासदास, माण्डान कुल के थे जो 'सत्व तत्व परित्राण' के लेखक थे। उन्होंने यह सिद्ध करने की कोशिश की कि नारायण शब्द एक साधारण समस्त पद नहीं है किन्तु यह स्वय आश्रित विशिष्ट शब्द होता हुआ नारायण को निर्दिष्ट करता है। एक और श्रीनिवास थे जो श्रीनिवास राघवदास और 'चण्ड मातण्ड' कहलाते थे जिन्हाने 'रामानुज सिद्धान्त सग्रह लिखा।

इन श्रीनिवास को शठमपण कुल के दूसरे श्रीनिवास से भिन्न जानना चाहिए जिन्होने एक ग्रन्थ लिखा जिसका इस ग्रन्थ के लेखक को परिचय है। यह ग्रन्थ

'आनंद तारतम्य खंडन' है। इस छोटी पुस्तक में शास्त्र के आधार पर इस मत का खंडन किया है कि मुक्तावस्था में भेद है।

कुछ और श्रीनिवास तथा उनके ग्रंथों का लेखक का परिचय है। हो सकता है ये १५वीं या १६वीं शताब्दी में रहे हों। ये श्री वरसाक मिश्र हैं जिन्होंने एक 'श्रीभाष्य साराथ संग्रह' नाम का छोटा ग्रन्थ लिखा, श्रीनिवास ताताय ने 'लघु भाव प्रकाशिका' लिखी, श्री शैल योगेन्द्र ने त्याग शब्दाथ टिप्पणी लिखी, वेंकटनाथ के पौत्र श्री शैल राघवाचाय ने 'वेदान्त कौस्तुभ तथा रगनाथ के पुत्र श्री सलिलदास ने 'सिद्धान्त सग्रह' लिखा और सुन्दरराज देशिक ब्रह्मसूत्र भाष्य व्याख्या (प्रारम्भिक टीका) के लेखक थे। ये सब छोटे लेखक सम्भवत १६वी, १७वी, और १८वी शताब्दी में हुए।

श्री शैल श्रीनिवास ताताचाय के पुत्र श्रीनिवास दीक्षित ने 'विरोध विरुधिनी प्रमाथिनी' लिखी, ये अण्णयाय के पौत्र थे और आचाय दीक्षित के शिष्य थे। इस ग्रन्थ को रगाचाय लिखित 'विरोध विरुधिनी प्रमाथिनी' से अलग करना चाहिए जिसका उल्लेख भिन्न खड में किया गया है। श्रीनिवास सुधी ने भी 'ब्रह्म ज्ञान निरास लिखा, इसमे लेखक का शकर मतवादी त्र्यम्बक पडित से हुए शास्त्राथ का वणन है। इस पुस्तक में अद्वैतवाद का खडन 'शतदूषणी' के अनुसार किया गया है। यह कहना कठिन है नयमणि कलिका' लक्ष्मणाय सिद्धान्त सग्रह' और 'हरिगुण मणिमाला' के लेखक इन्हे माना जाए या विरोध निरोध के लेखक श्रीनिवास को माना जाए।

सुदशन सूरि, जो १३वी और १४वी शताब्दी में विद्यमान थे, हारीत गोत्रज थे। वे वाग्विजय के पुत्र तथा वात्स्य वरद के शिष्य थे इनका पहले उल्लेख हो चुका है। उन्होने रामानुज भाष्य पर ग्रथ लिखा और इसी ग्रथ से परवर्ती अनुगामियो ने प्रेरणा ली। टीका का नाम श्रुत प्रकाशिका' है जिसमे वात्स्यवरद से सुने हुए उपदेश को शब्दश लिखा गया है।[1] उन्होने 'सध्यावदन भाष्य' वेदान्त सग्रह तात्पय दीपिका, जो रामानुज के वेदाथ सग्रह की टीका है, लिखी और दूसरा ग्रन्थ श्रुत प्रदीपिका' लिखा। वे वेद व्यास भट्टाय भी कहलाते थे। इन सुदशन को सुदशन गुरु जिन्होने भट्टाचाय के वेदान्त विजय की टीका लिखी, इनसे पृथक जानना चाहिए। शठकोप मुनि जो शठारि सूरि के शिष्य थे, बहुधा शठकोप यति नाम से भी जाने जाते थे, १६वी शताब्दी के अन्त म हुए। उन्होन निम्न ग्रथ रचे ब्रह्म लक्षण वाक्याथ सग्रह, 'ब्रह्म शब्दाथ विचार, वाक्याथ सग्रह' ब्रह्म सूत्राथ सग्रह ब्रह्म लक्षण

---

[1] गुरुभ्योथ श्रुत शब्दस्तत् प्रयुक्तैश्च योजित ।
सौकर्याय बुभुत्सुनाम् सकलय्यो प्रकाश्यते ।
—श्रुत प्रकाशिका की प्रस्तावना के श्लोक ।

वाक्यार्थ,' 'दिव्य प्रबध' और भाव प्रकाशिका दूषणा द्वार।' अन्तिम ग्रन्थ, वरद विष्णु सूरि की श्रुत प्रकाशिका पर, भाव प्रकाशिका नामक टीका की आलोचना का खडन है।

अहोबिल रगनाथ यति ने जो १५वी शताब्दी के प्रारम्भ मे हुए "याय विवृत्ति' लिखी। इसमे वेंकटनाथ के "यास तिलक' म तिरुपति "यास विषय पर विवेचना है। आदिवराह वेदान्ताचार्य ने "याय रत्नावली लिखी। कृष्ण ताताचार्य ने जो श्री शैल वश के थे और १५वीं शताब्दी म हुए, "याय परिशुद्धि पर टीका लिखी, यह "याय परिशुद्धि व्याख्या' है और कुछ छोटे ग्रथ 'दूरार्थ दूरीकरण,' 'ब्रह्म शब्दार्थ विचार' और ग्रारव चद्रिका लिखी। कृष्णपाद लोक गुरु ने, जो उसी शताब्दी मे हुए, 'रहस्यत्रय मीमासा भाष्य,' 'दिव्य प्रबध व्याख्या' 'चतुश्लोकी व्याख्या और अनेक तामिल ग्रन्थ लिखे। १५वी शताब्दी के चम्पकेश ने गुरु तत्त्व प्रकाशिका' और 'वेदान्त कटकोद्धार' लिखा। अन्तिम ग्रन्थ मे श्री भाष्य की आलोचनाओ का खडन किया गया है।*
व वेंकटनाथ के शिष्य थे। एक दूसरे ताताचार्य ने जो वेंकटाध्वरी क पितामह थे (विश्वगुण आदर्श के लेखक) 'ताताचार्य दिन चर्या लिखी। वे अप्पय्य दीक्षित के मामा थ। पुन दनिकाचार्य ने श्री भाष्य पर 'प्रयोग रत्नमाला नाम की टीका लिखी इन्होने वेंकटनाथ के तैत्तरीयोपनिषद् की पञ्चिका टीका पर एक पुस्तक लिखी, जो अस्ति ब्रह्मेति श्रुत्यर्थ विचार कहलाई। दोड्डयाचार्य ने जो १५वी शताब्दी म हुए 'परिकार विजय' लिखा जिसका उल्लेख महाचार्य के ग्रथो मे मिलता है। इन्होंने वेदान्त देशिक वैभव प्रकाशिका नाम की रामानुज की जीवनी लिखी। नारायण मुनि ने 'भाव प्रदीपिका 'गीतार्थ सग्रह' 'गीता सार रक्षा,' गीता सग्रह विभाग' 'रहस्यत्रय जीवातु लिखे। व श्री शल ताताचार्य क पुत्र थे, अनतार्य के पौत्र तथा रामानुजाचार्य या महाचार्य के शिष्य थे। शायद वे १५वी शताब्दी मे हुए होंगे। नर्सिहराज जिन्होने शतदूषणी व्याख्या' नाम की शतदूषणी पर टीका लिखी सम्भवत यही व्यक्ति थे जिन्होने तत्त्व मुक्ता कलाप पर आनददायिनी टीका लिखी। नसिंह सूरि अधिक उत्तरकाल के लेखक ने 'शरीर भावाधिकरण विचार और 'तत्क्रतु "याय विचार लिखा। पर वस्तु वेदान्ताचार्य जो आदि वराहाचार्य के पुत्र थे, उन्होने 'वदान्त कौस्तुभ लिखा। पुरुषोत्तम ने सुबोधिनी नामक श्री भाष्य पर टीका लिखी, भगवत सेनापति मिश्र ने 'शारीरिक "याय कला लिखी।

---

* शुद्ध सत्व लक्षणार्य ने 'श्रुत प्रकाशिका की 'गुरु भाव प्रकाशिका टीका लिखी, जो चम्पकेश की 'गुरु तत्त्व प्रकाशिका पर आधारित है। वे शुद्ध सत्वाचार्य के शिष्य और सौम्य जामातृ मुनि के पुत्र थे। वे अपनी टीका में वाधुल श्रीनिवास की तूलिका टीका का उल्लेख करते हैं। वे सम्भवत १६वी शताब्दी मे रहे होंगे और महाचार्य क समकालीन होंगे।

वेलपुर देशिक ने 'तत्त्वभास्कर' नाम का ग्रन्थ लिखा। यह दो भाग में लिखा गया है, पहले में माया का अर्थ समझाने का प्रयत्न किया है और द्रविड तथा संस्कृत ग्रन्थों के आधार पर ईश्वर के स्वरूप का निर्णय किया है, दूसरा भाग कर्मकाण्ड के प्रकार का है। रंगराज जो सम्भवत १६वीं शताब्दी में हुए होंगे 'अद्वैत बहिष्कार' के लेखक थे। रंगनाथाचार्य ने 'अष्टादश भेद विचार' पुरुषार्थ रत्नाकर, 'विवादार्थ संग्रह' 'कार्याधिकरण भेद' और 'कार्याधिकरण तत्त्व' लिखे। अन्तिम दो ग्रन्थों के वर्ण्य विषय अन्य स्थान पर दिए गए हैं। वे सम्भवत १६वीं शताब्दी में रहे होंगे और वे सौम्य जामातृ मुनि के शिष्य थे। एक रामानुज ने जो वेदान्त रामानुज कहलाते थे 'दिव्य सूरि प्रभाव दीपिका' और 'सत दर्शन शिरोमणि ग्रन्थ लिखे। रामानुजदास भिक्षु ने 'सौरिराज चरणारविंद शरणागति सार' लिखा और सुब्रह्मण्य शास्त्री ने 'विष्णु तत्त्व रहस्य' लिखा। ये दोनों लेखक सम्भवत १६वीं शती के अन्तिम भाग या १७वीं के प्रारम्भ में हुए होंगे।

आत्रेय वरद ने 'रहस्यत्रय सार व्याख्या' लिखी। यह वेंकटनाथ के 'रहस्यत्रय सार' पर टीका है। वरददास ने 'न्यायविद्या भूषण' और वादी केसरी मिश्र ने निम्न ग्रन्थ रचे—'अध्यात्म चिन्ता,' 'तत्त्वदीप संग्रह कारिका, तत्त्वदीप और रहस्य त्रय कारिका'। ये लघु ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। केवल 'तत्त्वदीप' में ही दार्शनिक सामग्री है जो सुदर्शन की श्रुत प्रकाशिका के विषयों से प्रेरित है। वाधुल नृसिंह के पुत्र और वाधुल वरद गुरु के शिष्य, वीर राघवदास ने 'तात्पर्यदीपिका' नामक श्रीभाष्य पर टीका रची और एक वात्स्य वरद के तत्त्वसार पर तत्त्वसारिणी नाम की टीका लिखी। वेंकटसुधी ने एक चार खंड का वृहत् ग्रन्थ लिखा जो 'सिद्धान्त रत्नावली' नाम का था। इसमें उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि शिव नहीं किन्तु नारायण ही महान् देव हैं और जगत् पति हैं, इसमें अन्य सम्प्रदाय के मतों का निरूपण भी है जो तात्त्विक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नहीं है। वे वेंकटनाथ के शिष्य थे और शठमर्षण वंश के ताताचार्य के पुत्र थे। पंचरात्र खंड में इस पुस्तक का कुछ उल्लेख किया जाएगा। वेंकटदास ने जो वुच्चि वेंकटाचार्य भी कहलाते थे, और जो शठमर्षण वंशज अण्णाचार्य के तीसरे पुत्र थे, 'वेदान्त कारिकावली' लिखी। वेंकटाध्वरि ने 'यति प्रतिवन्दन खण्डन' लिखा। अय्यण्णा ने व्यास तात्पर्य निर्णय और अण्णावाय्यंगाचार्य ने तृशप्रश्नोत्तर केसर भूषण और 'श्री तत्त्व दर्पण' लिखे। गोपालताताने शतकोटि दूषण परिहार' गोविंदाचार्य ने प्रमाणसार और जगन्नाथ यति ने ब्रह्म सूत्र दीपिका लिखी। देवनाथ ने तत्त्व निर्णय, धर्म कुरेश ने 'रामानुज नवरत्न मालिका' नील मेघ ताताचार्य ने 'व्यास विद्यार्थ विचार' रंगाचार्य ने श्री वत्स सिद्धान्त सार रघुनाथाचार्य ने बाल सरस्वती' और 'संगीत सार' रचे। राघवाचार्य ने रहस्य त्रय सार संग्रह रामनाथ योगी ने 'सदाचार बोध' रामानुज ने 'गायत्री शत दूषणी' और तिरुमालाचार्य ने, जो भारद्वाज गोत्रज थे, तत्त्वोपपत्ति भंग लिखा।

श्री नैलनिवास के भाई, अण्णयाय ने 'सप्तति रत्न मालिका व्यवहारिकत्व खडन सार,' 'मिथ्यात्व खडन,' 'आचार्य विंशति,' 'आनन्द तारतम्य खडन' लिखे। १६वीं शताब्दी के अप्पय्य दीक्षित ने रामानुज मतानुसार ब्रह्मसूत्र की टीका की, यह ग्रन्थ न्यायमुख मालिका' है। १६वीं शताब्दी के अनन्ताय ने अनेक ग्रन्थ लिखे, जिनमें निम्न प्रकाशित हुए है —'एत्वतत्व विभूषण,' शतकोटि खडन,' न्याय भास्कर,' 'आचार लोचन (पुनर्विवाह का खडन) शास्त्रारम्भ समर्थन,' समासवाद, विषय तानाद, ब्रह्म शक्तिवाद' शास्त्रैक्यवाद, 'मोक्ष कारणतावाद, निर्विशेष प्रमाण व्युदास,' साक्षिन् नानात्व समर्थन, 'नानार्थार्थ्यवाद ब्रह्म लक्षणवाद,' 'ईशत्वधिकरण विचार' 'प्रतिज्ञावाद 'आकाशाधिकरण विचार, 'श्रीमाष्य भावाकुर,' 'लघु-सामानाधिकरण्यवाद, 'गुरु सामानाधिकरण्यवाद' शरीरवाद,' 'सिद्धान्त सिद्धाजन,' 'विधि सुधाकर, सुन्दानसार द्रुम' भेदवाद' तत्कनु न्याय विचार' 'दृष्टव्यानुभान-निरास। ये सब छोटे ग्रन्थ हैं कुछ बड़े भी हैं। न्याय भास्कर, अद्वैतसिद्धि पर लिखी गौड ब्रह्मानन्दी टीका का खडन है जो स्वय न्यायामृत तरंगिनी' का खडन था। इसमें बारह विषय हैं। खडन बगाल के नव्य न्यायदर्शन की शैली में शास्त्रीय ढग से किया गया है। जिसने कि विरोधकों की परिभाषा में दोष पाया था। इस लेखक के महत्वपूर्ण ग्रन्थों का उल्लेख यथास्थान किया गया है।

आलवारों का रामानुज के अनुयायियों पर प्रभाव

हमने दिव्य प्रबन्धों का उल्लेख किया है जो आलवारों ने तामिल में लिखे थे और जिसका श्री वैष्णवों के आचार्यों पर गहरा प्रभाव हुआ है।[1] कुरेश (तिरुक्कुरुकै पिरन पिल्ल) ने ६००० श्लोकों की नाम्मालवार के चुने हुए १००० पदों की सहस्र

---

[1] ये दिव्य प्रबन्ध संख्या में ४००० हैं। पोयगैयालवार ने मुडलतिरुवताडी नाम का शत श्लोकी ग्रन्थ लिखा भूत्ततालवार ने १०० पद्य का इरण्डम् तिरुवन्ताडी, परियालवार ने मुनर्राम तिरुवन्ताडी शत श्लोकी ग्रन्थ, तिरुमरिसैपीरान ने नाममुखम् तिरुवेताडी और तिरुवचण्डवृत्तम ९६ और १२० पद्य का, मधुर कवि चालवार ने कण्णिनुण शिरुत्ताम्बी ११ श्लोक का नाम्मालवार ने तिरुवृत्तम १०० श्लोक का, तिरुवान्नीयम् परीयमाल ने पेरुमाल तिरुमाली १०५ पद्य का, परीयालवार तिरुपल्लाण्डु और पेरियालवार तिरुमोरी ने १२ और ४६१ श्लोक का आण्डाल ने तिरुप्पावै और नाच्चीयार तिरुमोली ३० और १४३ श्लोक का, ताण्डाराडि पोडियालवार ने तिरुपारियै ऐरुची और तिरु माले १० और ४५ श्लोक का, तिरुपाणालवार ने अमलनादी पीरनि १० श्लोक का तिरुमगआलवार ने पेरियतिरु मोली १०८५ श्लोक का, तिरुकुरुडाण्डकम २० श्लोक का, तिरु नेडुन्ण्डकम् ३०

गीति पर टीका लिखी। परानर भट्टाय ने ६००० पदा की टीका लिखी। कलिजित् (लोकाचाय) के निर्देन से अभयप्रद राज ने २४००० पद्या की टीका लिखी। कलिजित् के शिष्य कृष्णपाद ने एक दूसरी ३६०० पदा की टीका लिखी। सौम्य जामातृमुनि ने, नाम्मालवार के मत की व्याख्या करते हुए १२००० पद लिखे। अभयपदराज की दिव्य प्रबधा की टीका ने पीछे माने वाले आचार्यों का उत्तरकाल के रहस्यमय सिद्धान्ता को समझने मे सहायता दी। सौम्य जामातृ पिल्लै लोकाचाय के छोटे भाई, द्वारा लिखी गई दिव्य प्रबधो पर टीका अभिरामवराचाय के समय मे ही दुष्प्राय हो गई थी। अभिराम वराचाय उपदेश रत्नमाला के अनुवादक और सौम्य जामातृ मुनि के पौत्र थे।

इस तरह देखा जाता है कि रामानुज के बाद धम गुरु की पदवी पर माने वाला मे पराशर भट्टाय और उनके उत्तराधिकारी वेदान्तीमाधव, जो नजियार भी कहलाते थे, तथा उनके उत्तराधिकारी नम्बूरि वरदराज, जो कलजित् लोकाचाय प्रथम कहलाते थे और उनके उत्तराधिकारी पिल्ला लाकाचाय, इन सबा ने रामानुज सिद्धान्ता का समझाने के लिए जितने ग्रथ नही लिखे, उतने सहस्र गीति और दिव्य प्रबधा की भक्ति के अथ को समझाने के लिए लिखे। ये सब ग्रथ तामिल में हैं, कुछ ही सस्कृत म अनूदित है। यहा इस ग्रथ म केवल उन सस्कृत ग्रथा का (अधिकाश हस्तलिखित) ही ध्यान मे रखा गया है जो वतमान लेखक को सुलभ थे। पिल्ललोकाचाय और सौम्य जामातृ मुनि जा वरद केसरी कहलाते थे कृष्णपाद के शिष्य थे। किन्तु इन सौम्य जामातृ मुनि को उत्तरकालीन सौम्य जामातृ मुनि से पृथक जानना चाहिए। उत्तरकालीन सौम्य जामातृ मुनि अधिक सुविख्यात थे और यतीन्द्र प्रवणाचाय भी कहलात थे। पराशर भट्टाय सम्भवत ई० स० १०७८ के पहले हुए होग और ११६५ मे परलोक सिधार गए हाग। उनके बाद वेदान्ती माधव या नजियार आए और इनके बाद नम्बूरिवरदराज या लाकाचाय प्रथम उत्तराधिकारी बने। इनके बाद पिल्लै लोकाचाय उत्तराधिकारी हुए जा वेकटनाथ और श्रुत प्रकाशिकाचाय या सुदशन सूरि के समकालीन थे। इन्ही के समय म मुसलमाना ने श्रीरगम पर आक्रमण किया जो हमने वेकटनाथ के विषय मे लिखते हुए कहा है। गाप्पणाचाय ने मुसलमाना को भगा दिया और रगनाथ की मूर्ति की पुन स्थापना १२६३ मे की गई। इसी समय सुविख्यात सौम्यजामातृ मुनि (कनिष्ठ) का जन्म हुआ। पिल्लै लोकाचाय के छोटे

श्लोक का, तिरुवेतुलु कुर्तिरुक्कै १ श्लोक का, शिरिय तिरुमडल ७७ श्लाक का पेरिय तिरुमडल १४८ श्लोक का लिखा। इस प्रकार ४००० श्लोक होते हैं। इनका उल्लेख सौम्य जामातृ मुनि (कनिष्ठ) की उपदेश रत्नमाला म किया गया है तथा प्रस्तावनाएँ एम० टी० नरसिंह आयगर ने दी है।

भाई, सौम्य जामातृ मुनि ने (ज्येष्ठ) जो वादी केसरी भी कहलाते थे, 'दिव्य प्रबध' पर कुछ टीकाएँ लिखी तथा 'दीप प्रकाश' और 'पियरुलि चेयलरे रहस्य' लिखे। सौम्य जामातृ मुनि (कनिष्ठ), जो वरवर मुनि भी कहलाते थ अपने 'उपदेश रत्नमाला,' 'तत्वत्रय भाष्य' और 'श्रीवचन भूषण व्याख्या' नामक ग्रथो म इनका उल्लेख करते हैं। हम निश्चित रूप से यह नही कह सकते कि 'अध्यात्म चिन्तामणि' जिसमे वाधुल श्रीनिवास की गुरु रूप में स्तुति की गई है वह सौम्य जामातृ मुनि द्वारा लिखा गया था। महाचाय भी उन्हे वाधुल श्रीनिवास के शिष्य बताते हैं। अगर इस प्रकार सौम्य जामातृ मुनि (ज्येष्ठ) और महाचाय, एक ही गुरु के शिष्य थे तो महाचाय १४वी शताब्दी मे हुए होगे। अगर सौम्य जामातृ मुनि (कनिष्ठ) ने यह पुस्तक लिखी है तो महाचाय का समय पीछे रखा जाएगा।

हम पिल्लै लोकाचाय के केवल तीन ही ग्रथ खोज पाए हैं जो तत्व त्रय, तत्व शेखर' और श्रीवचन भूषण हैं।[1] 'तत्व त्रय श्रीनिवास मत का उपयोगी सग्रह ग्रन्थ है जिसमें अचित्, चित् और ईश्वर का स्वरूप और उनके आपस के सम्बन्ध का निरूपण किया गया है। इस पर वरवर मुनि की सुन्दर टीका है। तत्व शेखर' चार अध्याय का ग्रथ है। पहले अध्याय मे नारायण ही सवश्रेष्ठ देव हैं और परम कारण हैं इस मत के समथन में शास्त्र के उद्धरण दिए गए हैं। दूसरे मे, जीव के स्वरूप का वणन शास्त्रो के आधार पर किया गया है। तीसरे मे इसी विषय का विवरण है। चतुथ अध्याय म, भगवान् की शरणागति ही समस्त जीवो का अन्तिम ध्येय है इस विषय का विवेचन है। व कहते हैं कि अन्तिम पुरुषाथ भगवान् मे प्रीति जनित कैकय भाव से अपने एव भगवान् के स्वरूप और उनके दिव्य सौन्दय, प्रभुत्व शक्ति और सवश्रेष्ठता का जानने मे होता है। समस्त प्रकार की कैकय वाछनीय नही है। यह हम अपने दनिक अनुभव मे जानते हैं कि प्रेम की दासता सुखमय है। मुक्ति के सामान्य विचार मे मनुष्य अपने अहकार और अपने अन्तिम ध्यय को ही आगे रखता है।

दुःख की निवृत्ति नही है किन्तु आनंदानुभव है। असंदिग्ध आनंद ही हमारा ध्येय है। ऊपर वर्णन की हुई मुक्तावस्था में जीव भगवान् से सान्निध्य पाता है और इससे परमानंद पाता है किन्तु वह भगवान् की बराबरी नही कर पाता। बंध सत्य है और उसका निवारण भी सत्य है। प्रपत्ति बंधन निवारण का एक साधन है। यह प्रपत्ति व्यवहित एवं अव्यवहित होती है पहली में, शरणागति संपूर्ण और आत्यंतिक है और एक बार ही होती है।[1] अव्यवहित प्रपत्ति भगवान् का प्रेम से सतत ध्यान करना तथा साथ ही साथ शास्त्रोक्त कर्म करना तथा वर्जित कर्म न करना है। यह निम्न कोटि की है, योग्य व्यक्ति पहला मार्ग ही अपनाते हैं।

पिल्ल लोकाचार्य के 'श्रीवचन भूषण' के मुख्य विषय पृथक खंड में दिए जाएंगे जब हम सौम्य जामातृ (कनिष्ठ) और रघुतम की इस टीका और वृत्ति का वर्णन करेंगे। श्री वचन भाष्य ४८४ छोटे वाक्यों का ग्रंथ है जो सूत्रों से कुछ लम्बे हैं। किन्तु कुछ दार्शनिक वाक्यों से छोटे है। लोकाचार्य ने इस शैली को दूसरे ग्रंथों में भी जैसे 'तत्त्वत्रय' और 'तत्त्व शेखर' में अपनाया है।

रम्य जामातृ मुनि या सौम्य जामातृ मुनि जो मणवालम मुनि या पेरिय जीयार भी कहलाते थे, तिरुलक्की अण्डान तिरुना विरुदयापीरान तातर अण्णार के पुत्र और पिल्ल लोकाचार्य के शिष्य थे और कोल्लिकवलदसर के पौत्र थे, कोल्लिकवलदसर लोकाचार्य के शिष्य थे। वे तिन्नेवल्लि जिले में १३७० ई० में जन्मे थे और ७३ वर्ष तक अर्थात् १४४३ तक जीवित रहे। पहले उन्होंने श्री शैलेश से शिक्षा पाई जिन्हें तिरुवायमोरी में तिरुमर्ै आलवार भी कहते हैं। उनकी युवावस्था की प्रथम कविता 'यतिराज विंशति' रामानुज के सम्मान में लिखी गई थी। यह वरवर मुनि की 'दिनचर्या' में संगृहीत हो प्रकाशित हुई। रामानुज के प्रति असीम भक्ति होने के कारण ये यतींद्र प्रवण के नाम से जाने जाते थे, उन्होंने तिरुवरंगत्तमुदनार की प्रपन्न सावित्री या 'रामानुज नुरण्दादी' नामक रामानुज की संक्षिप्त जीवनी पर एक टीका

---

[1] प्रपत्ति की इस प्रकार व्याख्या की गई है। भगवन्ना ज्ञातिवतन निवृत्ति भगवदानुकूल्य सव शक्तित्वानुसंधानप्रेमृति सहित याचागर्भो विजम्भ रूप ज्ञान विशेष तत् श्रेयाकारेश्वरस्य निरपेक्ष साधनत्व ज्ञानाकारो व्यवसायात्माकत्वम् एतच्च शास्त्रार्थत्वात् सकृत् कर्तव्यम।

—तत्त्व शेखर पृ० ६४।

जिस प्रकार शंकर मतवादी मानते हैं कि एक एस वाक्या से जीव और ब्रह्म का एकता ज्ञान जब हो गया तब और कुछ करने का बाकी नही रहता। यहाँ पर भी भगवान् में पूर्ण शरणागति होने पर जीव ईश्वर के सम्बन्ध का ज्ञान होता है एक बार यह होने पर फिर कुछ नही करना पडता। फिर ईश्वर को ही भक्त को अपना बनाना पडता है।

भी लिखी है। श्री शैलेश से शिक्षा लेने के बाद वे श्री रगम् म रह और वहा उन्होने दिव्य प्रबधा पर टीका एव 'श्रीवचन भूषण और 'द्रविड वेदान्त' का अध्ययन किया। दिव्य प्रबध और गीता रहस्य के अध्ययन मे उन्ह अपने पिता ततर अण्णार से मदद मिली। उन्होने किदम्वी तिरुमल नयिनार जो कृष्णदेशिक भी कहलाते थे, के साथ 'श्रीभाष्य' और 'श्रुत प्रकाशिका ग्रन्थ पढे। उन्होने यादवगिरि के देवराज गुरु अर्थात् अण्णाचाय से 'आचार्य हृदय' पढा। वे ससार त्याग कर सन्यासी बन गए और श्रीरगम् के पल्लव मठ म बस गए। वहा उन्होने व्याख्यान मण्डप बनाया जहा से धर्मोपदेश किया करते थे। व द्रविड वेदान्त म निपुण थे उन्होने मणि प्रवाल शैली सस्कृत तमिल का मिश्रण मे अनेक ग्रन्थ रचे और उनके बहुत से अनुयायी थे। उनका एक पुत्र रामानुजाचाय था और पौत्र विष्णु चित्त था। उनके शिष्या म स आठ बहुत विख्यात थे भट्टनाथ श्रीनिवास यति देवराज गुरु वाधुल वरद नारायण गुरु, प्रतिवादी भयकर, रामानुज गुरु सुतारय और श्रीवानाचल योगीद्र। ये शिष्य वदान्त के महान् आचाय थे।[1] उन्होने रगराज का भाष्य पढाया। दक्षिण के बहुत से राजा उनके शिष्य थे। उनके ग्रथा मे से निम्न जानने लायक हैं 'यतिराज विशति,' गीता तात्पयदीप' (गीता पर सस्कृत म टीका) 'श्रीभाष्याथ,' 'तैत्तरीयोपनिषद् भाष्य,' 'परतत्व निणय। उन्होन पिल्लै लोकाचाय के 'रहस्यत्रय' 'तत्वत्रय' और श्री वचन भूषण पर भी टीका लिखी। तथा वादि केसर नाम से विख्यात, सौम्य जामातृ मुनि (ज्येष्ठ) के 'आचाय हृदय' पर भी टीका लिखा। सौम्य जामातृ पिल्ल लोकाचाय के भाई थे। उन्होन 'पेरियालवर तिरुमाेरि,' ज्ञान सार' और देवराज के प्रमेय सार' पर भी टीकाएँ लिखी। विरमिसोलप्पिलै की सप्तगाथा की भी टीका थी तथा उन्होने तत्वत्रय श्री वचन भूषण और 'दिव्य प्रबध' (इडू) की टीकाएँ लिखी तथा तिरुवायमोर्कीनुरुण्डाडि,' आरती प्रबध,' 'तिरुवायराधन त्रम' आदि तामिल पद्य रचे और अनेक सस्कृत पद्य भी लिखे। उन्होने रामानुज जैसा स्थान प्राप्त किया। उनकी मूर्ति दक्षिण के मन्दिरा मे पूजी जाती है। उनके बारे मे भी अनेक ग्रथ रचे गए हैं। जसेकि 'वरवर मुनि दिनचर्या' 'वरवरमुनि शतक,' वरवरमुनि काव्य,' वरवरमुनि चम्पू' 'यतीद्र प्रवण प्रभाव,' 'यतीद्र प्रवण भद्र चम्पू' इत्यादि। उनकी 'उपदेश रत्नमाला का पाठ दिव्य प्रबध के पाठ के बाद श्रीनिवास करते हैं। उपदेश रत्नमाला मे वे पूववर्ती आलवार और अर्गीयस का वणन करते हैं। उनके पौत्र अभिराम वराचाय ने इसका सस्कृत अनुवाद किया। अभिराम वराचाय के अष्टादश भद निणय' का उल्लेख हम इस ग्रन्थ मे कर चुके हैं। उन्होने शठकोप की प्रशसा मे एक दूसरा ग्रन्थ 'नक्षत्र मालिका लिखा।[2]

---

[1] प्रपन्नामृत देखो, अ० १२२।

[2] हम सौम्य जामातृ मुनि के ग्रन्था के विषय मे कुछ जानकारी एम०टी० नरसिंहायगर

यद्यपि नर्सिहायगर कहते हैं कि सौम्य जामातृ मुनि (कनिष्ठ) ने श्रीवचन भूषण पर मणि प्रवाल शैली म टीका लिखी है किन्तु इस टीका की पाण्डुलिपि, जिस पर रघूत्तम की एक उप टीका है, वतमान लेखक को प्राप्त हुई है। वह एक पूरा सस्कृत का वृहत् ग्रन्थ ७५० पृष्ठ वाला है, इस ग्रन्थ के मुख्य वण्य विषय अन्य स्थान पर दिए जाएँगे।

की उपदेश रत्नमाला के अंग्रेजी अनुवाद की प्रस्तावना से जान पाए हैं अत हम उनके उपकृत हैं।

अध्याय ११

यामुनाचार्य का दर्शन

यद्यपि पिछले समय में बोधायन वैष्णव मत के प्रतिष्ठापक माने गए हैं किन्तु ब्रह्म सूत्र पर उनकी टीका अब प्राप्त नहीं है इसलिए हम यामुन को उत्तरकाल के वैष्णव दार्शनिकों में सर्व प्रथम मान सकते हैं। ऐसा सुनने में आता है कि टंक, द्रमिड और भरुचि इत्यादि अन्य लोगों ने बोधायन की टीका के उपदेशों के आधार पर ग्रन्थ लिखे जिनमें अन्य सम्प्रदायों के मतों का खण्डन किया गया था। द्रमिड ने भाष्य लिखा जिसे श्री वत्साक मिश्र ने विस्तृत किया, इसका उल्लेख यामुन अनेक बार करते हैं। महात्मा बकुलाभरण ने, जो शठकोपाचार्य भी कहलाते थे तामिल भाषा में भक्ति पथ पर एक विशद ग्रन्थ लिखा। किन्तु यह आजकल दुष्प्राप्य है। इस प्रकार आधुनिक वैष्णव सम्प्रदाय का इतिहास, व्यावहारिक दृष्टि से यामुनाचार्य से ही प्रारम्भ होता है जो १०वीं शताब्दी के उत्तरकाल एवं ११वीं के प्रारम्भ में हुए। यामुन महापूर्ण के आचार्य थे ऐसा माना जाता है जिनसे महान् रामानुज ने दीक्षा ली। जहां तक मुझे ज्ञात है यामुन ने चार ग्रन्थ लिखे हैं जो 'सिद्धित्रय,' 'आगम प्रामाण्य' 'पुरुष निर्णय' और काश्मीरागम हैं। इनमें से केवल पहले दो ही प्रकाशित हैं।

अन्य मतों की तुलना में यामुन का आत्म-सम्बन्धी सिद्धान्त

हम देख चुके हैं कि चार्वाक से लेकर वेदान्तियों मत तक अनेक दार्शनिक सम्प्रदाय हुए और उनमें से प्रत्येक ने आत्म सम्बन्धी अपने सिद्धान्त प्रतिपादन किए। हमने चार्वाक के सम्बन्ध में पहले ग्रन्थ में थोड़ा ही विवेचन किया है और अन्य दर्शनों ने जो चार्वाक विरोधी आक्षेप किए हैं उन्हें भी छोड़ दिया गया है। चार्वाकों का महत्वपूर्ण सिद्धान्त यह था कि शरीर के सिवाय और कोई आत्मा नामक पदार्थ नहीं है। उनमें से कुछ इन्द्रियों को आत्मा मानते थे और कुछ मनस को। वे चार भूतों का मानते थे जिनसे जीवन और चेतना का उद्भव हुआ। हम भी देह के सम्बन्ध में ही आत्मा का व्यवहार करते हैं, देह के अतिरिक्त अन्य कोई आत्मा नहीं है। चार्वाक साहित्य भारत से विलुप्त हो गया है। हम अन्य ग्रन्थों में प्राप्त उल्लेखों से ही जान पाते हैं कि उनका मौलिक साहित्य भी सूत्र रूप में था।[1]

---

[1] बृहस्पति का पहला सूत्र 'अथ तत्त्वम् व्याख्यास्याम' और दूसरा, 'पृथ्वी अप्-तेज वायु इति तत्वानि,' और तीसरा, तेभ्यश्च चैतन्यम् किण्वादिभ्यो मद शक्तिवत्।

यामुन का दर्शन चार्वाक मत से स्पष्ट रूप मे विरुद्ध था। इसलिए यही ठीक होगा कि हम चार्वाका के मिथ्या मत के सम्बन्ध मे यामुन के आत्म सिद्धान्त का प्रतिपादन करें। यामुन स्वचतन्य को स्वीकारते है उनके अनुसार हमारा प्रत्यक्ष ज्ञान– मैं जानता हू' स्पष्ट रूप से 'यह मेरा शरीर है इस ज्ञान से विलक्षण है और ज्ञाता रूप से आत्मा का ही निर्देश करता है। यह मेरा शरीर है 'यह ज्ञान' 'यह घडा है, यह कपडा है' इस विषय रूप ज्ञान जसा ही है। जब मैं बाह्य विषया से अपनी इन्द्रिया का खीचता हू और अपने आप म ध्यान केन्द्रित करता हू तब भी मुझे 'मैं' का ज्ञान रहता है जो मेरे हाथ पाव तथा अन्य अगा के किंचित सम्बन्ध बिना मुझम उदित है। अपना सारा शरीर प्रत्यक्ष का विषय नही बन सकता जब शरीर का काई भी अग उसमे प्रकाशित या प्रकट नही हाता। जब कभी भी मैं यह कहता हू कि 'मैं मोटा हू 'मैं पतला हू मैं यह प्रत्यय बाह्य माटे या पतले शरीर का निर्देश नही करता, किन्तु वह कोई मुझ मे ही एक रहस्यमय अज्ञात तत्व की ओर ही निर्देश करता है जो शरीर से गलती से सम्बद्ध हो गया है। हमे यह भी नही भूलना चाहिए कि हम 'यह मेरा देह है ठीक उसी प्रकार कहते हैं जसे 'यह मेरा घर है नहीं कि देह अन्य बाह्य पदार्थ की तरह आत्मा से भिन्न है। किन्तु यह तर्क किया जा सकता है कि हम मेरी आत्मा' (ममात्मा) ऐसा भी कह सकते हैं किन्तु यह तो एक भाषा का प्रयाग है जिसके द्वारा वह भेद व्यक्त होता है जबकि वास्तव मे ज्ञान का विषय एक ही है। 'मैं' यह प्रत्यय शरीर का निर्देश करता है यह असदिग्धता या भ्रम इसलिए है कि आत्मा का काई दृश्य रूप नही है जसाकि अन्य पदार्थों का होना है (जसे घडा, कपडा) जिससे कि वे एक दूसरे मे विभक्त किए जा सकें। जिसमे पूर्ण विवेक जाग्रत नही है उसे स्वरूप आत्मा स सन्तोष नही हाता इसलिए वे शरीर को आत्मा मानने के भ्रम मे रहते हैं, विशेषत इसलिए कि जीव की प्रत्येक इच्छा के अनुरूप देह मे भी परिवतन होता है। वे ऐसा सोचते हैं कि चित्त के परिवतन के साथ जसे कि नये भाव का आना, नये विचार या इच्छा का आना, इनके अनुरूप देह मे स्नायविक तथा भौतिक परिवतन हात हैं, इसलिए शरीर के सिवाय अन्य कोई आत्मा नही है। किन्तु अगर हम 'मैं क्या हू इसे जानने का गहन आत्म निरीक्षण करें तो पता चलता है कि जिसे 'मैं' कहते हैं वह तत्व ज्ञाता है और अन्य पदार्थ जो आत्मा से भिन्न हैं और जिन्ह यह या वह द्वारा निर्देश कर सकते हैं उससे विलक्षण हैं। अगर 'मैं' प्रत्यय शरीर को भी निर्देश करता ता शरीर का कोई भी अग इस प्रत्यय से प्रकट हाता, जसकि बाह्य वस्तु उनके अनुरूप प्रत्यय से यह और वह के रूप मे प्रकट होती है, किन्तु ऐसा नहीं होता। बल्कि अर्तनिरीक्षण से यह पता चलता है कि आत्मतत्व स्वरूप से स्वाधीन है। ससार की समस्त वस्तु मेरे (आत्मा के) लिए है। मैं भोक्ता हू जब अन्य पदार्थ मेरे भोग्य हैं। मैं किसी अन्य के लिए नहीं हू। मैं अपना साध्य व प्रयोजन स्वय हू, किसी का साधन (अपराथ) कभी

बनता। सघात एक दूसरे के लिए होते हैं जिसका वे स्वाथ साधन करते हैं, सघात रूप नहीं है और न वह किसी ग्र य के स्वाथ के लिए अस्तित्व रखता है।

इसके अतिरिक्त, चेतना देह का काय नही माना जा सकता। चेतना एक मादक द्र य जसा चार तत्वा का काय नही माना जा सकता क्योंकि चार तत्वा का मिश्रण हर कोई शक्ति नही पैदा कर सकता। कारण की शक्ति की भी मर्यादा होती है, वह एक सीमा म ही काय उत्पन्न कर सकता है, मादक गुण उत्पन करने के लिए परमाणु म तदनुरूप गुण उपस्थित हैं, मादकता की चत य से तुलना नही की जा सकती, तथा इसका किसी ग्र य भौतिक काय से साम्य भी नही है। ऐसा भी सोचा नही जा सकता कि कोई परमाणु ऐसे हो जिनमे चेतना उत्पन होती है। अगर चैत य कोई रासायनिक मिश्रण का काय हाता, जैसाकि चूना और कत्थे के मिश्रण से लाल रग, ता चत य के अणु भी पदा हो सकते हैं इस प्रकार हमारी चेतना उन चेतन परमाणुओं का सहात हाती जसाकि रासायनिक मिश्रण मे होता है। कत्थे और चूने के मिश्रण से उत्पन लाल रग, उस पदाथ मे अस्तित्व रखता है जिसका प्रत्येक अणु लाल है। इस प्रकार अगर चेतना इस देह के द्र य का रासायनिक काय है तो उसमे कुछ चतना के अणु उत्पन्न होते और हमे प्रत्यक परमाणु मे अनेक आत्माओं का अनुभव हाता और चेतना और अनुभव की एकता का अनुभव नही होता। इस तरह यह मानना पडेगा कि चेतना आत्मतत्व मे अस्तित्व रखती है और वह देह से भिन है।

चत य इ द्रियो म भी नही माना जा सकता, क्योंकि अगर वह प्रत्येक इ द्रिया मे है तो फिर जा एक इन्द्रिय (आख) से प्रत्यक्ष होता है वह दूसरी इन्द्रिय (स्पश) से नही होगा, इस प्रकार ऐसा ज्ञान उत्पन्न नही हो सकता, जैसे 'म उसे स्पश करता हूँ जिसे पहले देखा था'। अगर समस्त इन्द्रिया मिलकर चेतना उत्पन्न करती हैं तो हम एक इ द्रिय (जसे आख) से किसी को नही जान सकते और न हम चेतना ही हागी या किसी इ द्रिय के नाश होने पर उस इ द्रिय के अनुभव की स्मृति भी नही होगी, आदमी अधा होन पर चेतना हीन हा जाएगा और आंख से देखा हुई वस्तुओं को याद भी नही कर सकेगा।

मन को भी आत्मा नही कह सकते, क्योंकि मनस के ही कारण ज्ञान एक साथ उत्पन्न न हाकर क्रम से होता है। अगर यह माना जाय कि मनस एक पृथक् साधन है जिसके द्वारा हम क्रम बद्ध ज्ञान प्राप्त करते हैं तो फिर हम आत्मा के अस्तित्व को ही मान लेते हैं भेद इतना ही रहता है कि जिसे यामुन और उनके अनुयायी आत्मा कहते हैं उसे चार्वाक मनस कहते हैं।

विज्ञानवादी बौद्ध यह मानते हैं कि ज्ञान स्वय प्रकाश्य होता हुआ विषय को भी प्रकट करता है इस ज्ञान का भी आत्म कहना चाहिए। इन बौद्धों के विरोध मे यामुन का यह कहना है कि अगर ज्ञान का कोई नित्य स्थान नहीं माना जाता है तो,

व्यक्ति मे एकत्व का अनुभव और प्रत्यभिज्ञा, क्षणिक स्व प्रकाश्य ज्ञान से नही समझाई जा सकती है। अगर हर ज्ञान क्षण म आकर चला जाता है और वहाँ कोई व्यक्ति है ही नही केवल ज्ञान क्षणो का प्रवाह ही है तो कोई वतमान काल के अनुभव का भूतकाल के अनुभव के साथ तादात्म्य स्थापित कर सकता है ? क्योकि स्थायी तत्व कोई न होने से, ऐसा नही माना जा सकता कि कोई भी ज्ञान स्थायी होकर ठहरे जिसके आधार पर व्यक्ति की एकता का अनुभव और प्रत्यभिज्ञा समझाई जा सके। जब हर एक ज्ञान, दूसरे के आने से पहले अनुपस्थित हो, तब सादृश्य के आधार पर साम्य के भ्रम का भी अवसर नही रहता।

शकर सम्प्रदाय का सिद्धान्त कि एक नित्य निगु ण शुद्ध चैतन्य ही है, इसे यामुन समस्त अनुभव के विरुद्ध मानते हैं। इस प्रकार चेतना किसी एक व्यक्ति की है ऐसा अनुभव म आता है जो उत्पन्न होती है, कुछ समय तक रहती है और फिर लुप्त हो जाती है। गाढ निद्रा म हम सभी को ज्ञान नही रहता और यह इस सस्कार से प्रमाणित है कि जगने के बाद हम कहते हैं कि हम देर तक सोये और हमे कोई चेतना नही थी। अगर अ त करण जिसे अद्वैतवादी अहम् का आधार मानते है, निद्रा म डूब जाता है, तो हमे यह भान नही हो सकता कि हम देर तक सोय। किसी ने कभी शुद्ध ज्ञान का अनुभव नहीं किया है। ज्ञान वस्तुत (ज्ञाता) 'किसी को होता है। शकर मतवादियो का कहना है कि ज्ञान का उत्पन्न होना अर्थात् ज्ञान और ज्ञेय विषय का उसी समय तादात्म्य होना है। किन्तु ऐसा है नही क्योकि किसी विषय के ज्ञान की सच्चाइ देश और काल मर्यादा से सम्बन्धित है न कि विषय या ज्ञान के मुख्य गुण से। यह भी धारणा कि ज्ञान नित्य है, निमू ल है क्योकि जब कभी ज्ञान उत्पन्न होता है तो वह देश और काल की मर्यादा मे ही होता है। किसी ने भी कभी प्रकार रहित ज्ञान का अनुभव नही किया है। ज्ञान प्रत्यक्ष या अनुमान इत्यादि द्वारा ही होता है एसा ज्ञान हो ही नही सकता तो प्रकार रहित हो या नितान्त गुण रहित हो। शकर मतवादी आत्मा को शुद्ध चैतन्यरूप या अनुभूतिरूप मानते हैं किन्तु यह स्पष्ट है कि आत्मा अनुभूति का कारक है ज्ञाता है, ज्ञान या चैतन्य नही है। पुन बौद्धवाद की तरह शकर मत स भी प्रत्यभिज्ञा का प्रश्न हल नही होता, क्योकि व्यक्ति के एकत्व के अनुभव या प्रत्यभिज्ञा का अर्थ यही है कि ज्ञाता भूतकाल म था और अब भी है, जैसाकि हम कहते हैं मैंने यह अनुभव किया' किन्तु अगर आत्मा शुद्ध चैतन्य है तो कोई प्रत्यक्ष कर्ता (ज्ञाता) भूत और वर्तमान मे अस्तित्व रखता हुआ नही हो सकता और मैंने यह अनुभव किया था इसे समझाया नही जा सकता इसे भ्रम, मिथ्या कहकर ही हटाया जा सकता है। विषय का ज्ञान, मै चेतना हूँ ऐसे नही होता, किन्तु मुझे इसका ज्ञान है इस प्रकार होता है। अगर प्रत्येक ज्ञान का प्रकार शुद्ध ज्ञान पर मायिक अध्यास है तो चेतना म परिवर्तन

होना चाहिए या और मुझे चेतना है ज्ञान है इसके बजाय ज्ञान का प्रकार मै चेतना हू, ज्ञान हू" इस प्रकार होना चाहिए। शकर मतवादी यह भी मानते हैं कि ज्ञातृत्व (ज्ञातृभाव) शुद्ध चैतन्य पर भ्रम जनित अध्यास है। अगर ऐसा ही है तो चैतन्य स्वय अज्ञानजनित अध्यास माना जाएगा क्योकि वह अन्त तक अर्थात् मुक्ति तक रहता है तब जबकि शुद्ध या सच्चे ज्ञान (तत्व ज्ञान) का यह परिणाम है कि आत्मा ज्ञातृत्व भाव खो देता है तो फिर तत्व ज्ञान के बजाय मिथ्या ज्ञान अपनाना चाहिए। 'मै जानता हू" यह भान, आत्मा ज्ञातृत्व की सिद्धि है और ज्ञाता से पृथक् शुद्ध ज्ञान का अनुभव का नही हो सकता। 'अहम' यह प्रत्यय ज्ञाता को देह, इन्द्रिय, मनस और ज्ञान से विविक्त कर देता है ऐसे आत्मा को साक्षी भी कहा है क्याकि सारे विषय इसके साक्षित्व मे प्रत्यक्ष होते हैं।

साख्य मत के अनुसार अहकार या बुद्धि को ज्ञाता माना है। क्याकि ये सब प्रकृति के विकार हैं इसलिए जड हैं। ऐसा माना नही जा सकता कि चैतन्य का प्रकाश इस पर पड कर प्रतिबिम्बित होकर उसे ज्ञाता बना देता है क्याकि प्रतिबिम्ब प्रत्यक्ष वस्तु से ही उत्पन्न होता है। कभी कभी शकर मतवादी ऐसा भी कहते हैं कि चैतन्य, नित्य और अपरिणामी है और अहकार इसी से प्रकाशित होता है और उसी सम्पर्क से इस ज्ञान को प्रकट करता है, जैसे दर्पण या पानी की सतह सूर्य का प्रतिबिम्ब दिखाती है, और जब अहकार इत्यादि के बन्धन गाढ निद्रा मे टूट जाते हैं तब शुद्ध चैतन्य स्वाभाविक ही स्वय ज्योति और आनन्द रूप से प्रकाशित हो जाता है। यह भी समझ के बाहर है क्योकि अगर अहकार इत्यादि शुद्ध चैतन्य से ही प्रकाशित होते हैं तो यही फिर शुद्ध चैतन्य को कैसे प्रकाशित कर सकते हैं ? वास्तव मे यह कल्पना भी नही की जा सकती कि वह किस प्रकार का प्रकाशन है जो अहकार द्वारा होता है क्याकि यहाँ सब प्रकार की सादृश्य निरर्थक ठहरते हैं। साधारण दृष्टि मे जब ढकने वाले आवरण दूर हो जाते हैं तब वस्तु प्रकट हो जाती है या जब दीप अधकार को नष्ट कर देता है या जब दर्पण विषय को प्रतिबिम्बित करता है किन्तु यहा इनमे से एक भी सादृश्य या उपमा ठीक नही बैठती जिससे यह समझ मे आ जाय कि किस प्रकार शुद्ध चैतन्य अहकार द्वारा प्रकट होता है, यदि चैतन्य प्रकट होने के लिए किसी की अपेक्षा है तो वह स्वय प्रकाश नही रहता वह अन्य विषयो जैसा बन जाता है। ऐसा कहा जाता है कि ज्ञान शुद्ध चैतन्य मे से अज्ञान के क्रमबद्ध निवारण से होता है। अज्ञान (न ज्ञान ज्ञान नही) का अर्थ ज्ञान की अनुपस्थिति या वह क्षण जब ज्ञान उत्पन्न होने जा रहा है किन्तु ऐसा अज्ञान चैतन्य (ज्ञान) का अवरोधक नही हो सकता। शकरमतवादी ऐसा मानते हैं कि अनिर्वचनीय भाव रूप अज्ञान से जगत् बना है। किन्तु यह सब बिलकुल अर्थ शून्य है। जो किसी को प्रकाशित करता है वह प्रकाश्य अपना ही अश या अपना परिणाम नही बना सकता। अहकार किसी अन्य

चेतना को (जो उससे भिन्न है) इस रूप म अभिव्यक्त नही कर सकता कि वह चेतना अपनी ही अभिव्यक्ति दीखे। इसम यह मानना पडता है कि आत्मा शुद्ध चैतन्य नही है किन्तु अहङ्कृत चैतन्य ही है जो हमारे अनुभव से प्रत्यक्ष है। अहकार की अन्य सीमाओ से असम्बद्ध सुषुप्ति का बहुधा दृष्टान्त शुद्ध चैतन्य के लिए दिया जाता है। किन्तु यह सम्भव नही है। इसके अतिरिक्त जबकि उत्तरकाल के जाग्रत क्षण का अनुभव यह सिद्ध करता है कि मैंने कुछ नही जाना तो यह आग्रह किया जा सकता है कि गाढ निद्रा मे शुद्ध चैतन्य नही था। किन्तु अहकार का अस्तित्व इस तथ्य से पुष्ट होता है कि जागत क्षण म जिस ज्ञान द्वारा अहकार अपने को आत्मा है ऐसा पहचानता है वही इसको भी पुष्ट करता है कि अहकार आत्मा के रूप से गाढ निद्रा मे भी था। आत्मा जो हम म अहकार के रूप मे प्रकाशित रहती है सुषुप्ति काल मे भी बनी रहती है, परन्तु उस इतना भान नही रहता। निद्रा म से जगकर हमे ऐसा अनुभव होता है कि मुझे कुछ भी ज्ञान न था, मैं अपने को भी नही जानता था। शकरमतवादी इस अनुभव का प्रतिपादन करते है कि गाढ निद्रा म अहकार का भी ज्ञान नही होता। किन्तु यह बिलकुल ठीक नही है क्योकि यह ज्ञान कि 'म अपने को भी नही जानता था' इसका अर्थ यह है कि निद्रा म समस्त व्यक्तिगत सहचार (जसे कि अमुक कुटुम्ब का हूँ, इस स्थान पर हूँ इत्यादि) अनुपस्थित थे न कि अहकार स्वय अनुपस्थित था। जब आत्मा का अपने स्वय का ज्ञान होता है तब 'म' का भान होता है जसाकि भान 'मै अपने आपको जानता हूँ' म है। गाढ निद्रा म भी जब कोई भी विषय प्रकट नही होता तब भी आत्मा है जो अहकार रूप स—मैं रूप से अपने को जानता है। अगर मुक्तावस्था म आत्म चैतन्य नही है अहकर या म नही है तो यह नितान्त बौद्ध शून्यवाद जसा होता है। म का भान या अहकार आत्मा के ऊपर आरोपित कोई बाह्य गुण नही है किन्तु वह आत्मा का स्वरूप है। जब हम कहते हैं कि म इसे जानता हूँ' तो इसमे ज्ञान भी अहकार के गुण के रूप म प्रकाशित होता है। 'म' ही इस ज्ञान को धारण करता है। ज्ञान इस प्रकार म' का गुण है। किन्तु हमारा कोई भी अनुभव यह नही सिद्ध करता कि म शुद्ध ज्ञान का गुण है। हम कहते है मुझे यह ज्ञान है ऐसा नही कि ज्ञान का म हू। अगर मैं नही है कोई अनुभव करने वाला नही है मुक्तावस्था मे कोई अधिष्ठान अस्तित्व नही रखता जो मुक्ति पाने का प्रयत्न कौन करेगा? अगर मुक्ति के बाद म भी नष्ट हो जाता है तो कौन इस अवाञ्छनीय अवस्था के लिए सारे कष्ट उठायेगा और धार्मिक प्रतिबन्ध इत्यादि सहन करेगा? अगर मैं भी नष्ट हो जाता हू तो मुझे ऐसी शून्यावस्था की क्या परवाह करनी चाहिए? मुझे शुद्ध चैतन्य के क्या काम जबकि म ही नष्ट होता हू। यह कहना कि 'मै' 'तुम' या 'यह' या 'वह' जसा एक विषय है और यह मैं शुद्ध चैतन्य से प्रकाशित होता है तो यह समस्त अनुभवो के सवथा विपरीत है। मै स्वय प्रकाशित है इसे अन्य कारक की अपेक्षा नही है न

श्रमी श्रौर न मुक्तावस्था म हो, क्योंकि श्रात्मा मैं के ही रूप से प्रकट होता है श्रौर श्रगर मुक्तावस्था मे श्रात्मा प्रकाशित होता है तो 'म के ही रूप मे होगा। वैदिक शास्त्र ग्रन्थो मे भी हम यह पाते हैं मुक्त जन—वामदेव श्रौर मनु, श्रपने विषय मे 'म के रूप म ही सोचते थे। ईश्वर भी श्रपने व्यक्तित्व के भान से रहित नहीं है जैसाकि उपनिषद् के पाठो स सिद्ध होता है जिसम वह कहता है कि मैंने यह जगत् उत्पन्न किया है। श्रात्मा म' का वह ज्ञान मिथ्या है जब उसका देह ज म या सामाजिक पद व श्रन्य किसी बाह्य सहचार से, तादात्म्य किया जाए या जब वह श्रभिमान या श्रात्म श्लाघिता को ज म दे। इस प्रकार के श्रहकार को शास्त्र मे मिथ्या कहा है। म जब श्रात्मा का ही निर्देश करता है, तब वह सच्चा ज्ञान है।

सुख श्रौर दु ख के श्रनुभव भी म या श्रात्मा के गुण क रूप म प्रकट होते है। 'मै श्रपने श्रापको भी प्रकट करता है इसलिए उस श्रजड मानना चाहिए। यह तर्क कि 'मैं का भान ज्ञान का सहोपालम्भ होता है इसलिए ज्ञान ही का केवल श्रस्तित्व है श्रौर म उससे भिन्न नही है, इसका खण्डन इसी तक को देकर किया जा सकता है कि मैं का ही श्रस्तित्व है— ज्ञान का नहीं। हर कोई यही श्रनुभव करता है कि ज्ञान म ज्ञाता से भिन्न है जसाकि ज्ञेय है। यह कहना कि श्रात्मा स्वरूपत स्वय प्रकाश्य है ज्ञानात्मक है यह दोनो भिन्न तथ्य हैं क्योंकि श्रात्मा ज्ञान से भिन्न है। ज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा इन्द्रिय इत्यादि के सम्पर्क स उत्पन्न होता है श्रात्मा, ज्ञाता है म है जो विषय को जानता है इसस वह ज्ञानवान् है।

मै ज्ञाता श्रात्मा, श्रसदिग्ध ही स्वचैतन्य द्वारा प्रकट होता है इसलिए जिन्होंने श्रात्मा का श्रनुमान द्वारा सिद्ध करने की कोशिश की व निष्फल हुए। इस प्रकार नैयायिक सोचते हैं कि श्रात्मा द्रव्य है जिसमे ज्ञान, इच्छा, सुख, दु ख इत्यादि समवाय सम्बन्ध से जुडे हैं। किन्तु ऐसे श्रनुमान से हम यह जान भी जाएँ कि कोई कुछ है जिसमे ये गुण समवाय सम्ब ध से श्रस्तित्व रखते हैं किन्तु इससे यह श्रनुमान नहीं लगता कि वह पदार्थ हमारी श्रात्मा है। क्योंकि जब ऐसा कुछ हम नही पाते जिसम ज्ञान इच्छा इत्यादि रह सकें तो यह भी दलील दी जा सकती है कि ज्ञान इत्यादि गुण नही है या कोई ऐसा नियम नही है कि गुणो का किसी पदार्थ म रहना श्रावश्यक है। ये पारिभाषिक रूप म गुण माने जाते है, नैयायिक इन्हें गुण मान लें, श्रौर इनसे श्रनुमान लगालें कि कोई एक श्रन्य पदार्थ होगा (जो श्रन्य प्रमाण से सिद्ध नही है) जो उपरोक्त गुणो का श्राधार है। किन्तु यह बिलकुल युक्ति युक्त नही है कि हम मात्र पदार्थ श्रात्मा को स्वीकार करलें (जिसे हम श्रन्य प्रमाण द्वारा सिद्ध नही कर सकते) केवल इसी तक पर कि गुणो का कोई श्राधार होना चाहिए। विरोधियो का यह सिद्ध वाक्य है कि गुण किसी द्रव्य के श्राश्रित होने चाहिए श्रौर वे

ज्ञान इच्छा इत्यादि हैं जिन्हें वे गुण कहने पर राजी हैं, किन्तु इस तर्क का वे दुराग्रह यह कहकर नही कर सकते, क्योकि और कोई द्रव्य नही मिलता जिसमे ज्ञान इच्छा इत्यादि तथाकथित गुण रह सकते हैं इसलिए किसी भिन्न द्रव्य का आत्मा के रूप मे अनुमान से अस्तित्व मानना चाहिए।

साख्यकार भी वही गलती करते हैं जबकि वे जड प्रकृति का सारा विकास पुरुष के हेतु ही होना चाहिए ऐसा मानते हैं, जिसके लिए प्रकृति कार्यरत रहती है। ऐसे मत के प्रति आक्षेप यह है कि प्रकृति जिसके लिए क्रियाशील है ऐसा तत्व अनुमानित भी किया जाय तो भी इससे यह सिद्ध नही होता कि वे तत्व स्वय सघात रूप नही हैं और उनके अधीक्षण के लिए अन्य किसी की आवश्यकता नही है या पुरुष चेतन्य स्वरूप है जसाकि उन्हें होना चाहिए। इसके अतिरिक्त घटना या पदार्थों के सघात का हेतु वही हो सकता है जिसे ऐसे सघात से लाभ होता है या किसी प्रकारसे उनसे प्रभावित होता है। किन्तु पुरुष निष्क्रिय शुद्ध चेतन्य रूप होने से प्रकृति द्वारा किसी भी प्रकार से प्रभावित नही हो सकते। तो फिर यह किस प्रकार माना जा सकता है कि प्रकृति उन्ही के उद्देश्य से कार्य करती है। यह मात्र भ्रम या आभास है कि पुरुष प्रकृति से प्रभावित या लाभान्वित होता है यथार्थ नही माना जा सकता और न इससे प्रकृति के कार्यरत होने का प्रयोजन समझा जा सकता है। इसके अतिरिक्त ये तथाकथित भाव या भाव का भ्रम स्वय प्रकृति के विकार हैं पुरुष के नही हैं, क्योकि पुरुष चैतन्य रूप है और त्रिगुणातीत है। साख्यानुसार समस्त चित्तवृत्तियाँ, बुद्धि का परिणाम हैं जो जड होने के कारण मिथ्या और भ्रम का विषय बन ही नही सकती। इसके अलावा, बुद्धि मे पुरुष की प्रतिच्छाया दीखती है इस मान्यता का कही भी स्पष्टीकरण नहीं किया गया है। क्योकि पुरुष दृश्य पदार्थ नही है इसलिए उसकी छाया बुद्धि मे प्रतिबिम्बित हो नही सकती। अगर ऐसा कहा जा सकता है कि वास्तव मे कोई प्रतिबिम्ब नही है किन्तु बुद्धि पुरुष की तरह चैतन्यमय केवल दीखती ही है, यह भी शक्य नही है क्योकि अगर बुद्धि पुरुष जैसी गुणातीत हो जाती है तो समस्त चित्त वृत्तियो का भी उच्छेद हो जाता है। अगर ऐसा कहा जाता है कि बुद्धि शुद्ध चैतन्य जसी नहीं बन जाती, किन्तु वह पुरुष जितनी ज्ञानमय है तो भी यह अशक्य है, क्योकि पुरुष साख्यानुसार शुद्ध चैतन्य है ज्ञानमय नही है। सच पूछो तो साख्य दर्शन मे कोई ज्ञाता नहीं है यही एक समस्या है। अगर ऐसा कहा जाता है कि पुरुष गुणो के विकास का हेतु है इसका अर्थ यही है कि पुरुष स्वय अपरिणामी और त्रिगुणातीत होते हुए भी, अपने सान्निध्य मात्र से गुणो मे हलचल कर देता है और वह इस प्रकार गुणों के विकास परिणाम का हेतु है जिस प्रकार एक राजा के लिए उसका सारा राज्य कार्य करता है और लडाई लडता है। किन्तु पुरुष इनसे प्रभावित न होता हुआ केवल द्रष्टा ही है इसलिए यह भी शक्य नहीं है, क्योंकि यह

उपमा सगतिहीन है। राजा अपने राज्य के लोगो से लाभान्वित होता है, किन्तु पुरुष क्योंकि केवल देखना मात्र उपलक्षित करता है इसलिए द्रष्टा नही माना जा सकता।

आत्मा का स्वरूप जसाकि हमने वर्णन किया है उपनिषदो द्वारा भी पुष्ट होता है। आत्मा प्रत्यय रूप से मैं के रूप मे स्पष्ट प्रकट होता है। सुख दुःख, राग द्वेष, ये इसकी अवस्थाएँ हैं जो आत्मा के म के रूप म प्रकट होने के साथ ही प्रकट हो जाती हैं। कुमारिल की मान्यतानुसार आत्मा किसी इन्द्रिय या मनस से भी गोचर नही है क्योकि प्रश्न यह उठता है कि अगर आत्मा मनसा गोचर है तो वह कब होता है? यह ठीक उसी समय गोचर नही हो सकता जब विषय ज्ञान उत्पन्न होता है क्योकि आत्मा और विषयो का ज्ञान एक ही क्षण उत्पन्न होने के कारण यह सम्भव नही कि उनम से (आत्मा) ज्ञाता या निर्णेता बना रहे और अन्य ज्ञेय या (विषय) निर्णीत लेंग। अगर विषय ज्ञान और आत्मा का ज्ञान दो पृथक क्षण म दो कार्य के रूप मे उत्पन्न होते हैं तो यह कठिनाई आती है कि वे ज्ञाता ज्ञेय भाव से कैसे सम्बन्धित हो सकता है? इसलिए यह नही माना जा सकता है कि आत्मा चैतन्यावस्था म अपने आपको हमेशा प्रकट करता है तो भी इन्द्रियों या मनस द्वारा गोचर होता है। पुन कुमारिल यह मानते हैं कि ज्ञान एक नयी वस्तु या काय है और जब इन्द्रिया के व्यापार से हमम ज्ञान क्रिया उत्पन्न होती है तब विषय म भी आत्मा के सम्पर्क से ज्ञानता या प्रकाश्यता उत्पन्न होती है और इस प्रकाश्यता से ज्ञान क्रिया अनुमानित की जा सकती है और आत्मा ज्ञानवान् होने से, मनस द्वारा गोचर है। किन्तु यह मत कि आत्मा स्वय चैतन्य नही है अन्य बाह्य ज्ञान अपेक्षित है यह नही स्वीकार किया जा सकता। क्योकि किसी को भी इस भेद की कल्पना तक नही है कि आत्मा (स्वय का ज्ञान) अब किसी अन्य से प्रकाशित हो रहा है जो पहले नही था। तदुपरान्त ज्ञान क्रिया, आत्मा को तत्क्षण प्रकाशित नही करती तो यह भी शका हो सकती है कि आत्मा न विषय को जाना या नहीं और जैसाकि सामान्य अनुभव है प्रत्येक ज्ञान के अनुभव म आत्मा स्पष्ट प्रकट नही होता।

पुन कुछ ऐसा मानते हैं कि आत्मा का ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं होता, वह तो विषय के ज्ञान के ज्ञाता से होता है। यह सरल ही है कि हम इस सच्चाई को स्वीकार नहीं कर सकते यह सरलता से समझ में आ सकता है। क्योंकि विषयगत चैतन्य या ज्ञान तो विषय का निर्णय करता है, वह आत्मा का ज्ञान कैसे उत्पन्न कर सकता है? इस मतानुसार ज्ञान का अस्तित्व भी सिद्ध करना कठिन है क्योंकि ज्ञान स्वय प्रकाश न होने से प्रकट होने के लिए अन्य की अपेक्षा रखता है अगर ऐसा माना जाता है कि, यद्यपि ज्ञान स्वय प्रकाश्य है तो भी वह उसी व्यक्ति के सम्बन्ध से प्रकट होता है जिसम वह समवाय सम्बन्ध से स्थित है हर एक व्यक्ति को नहीं। मगर वास्तव म

ऐसा ही है, तो मतलब यह निकला कि ज्ञान उसी एक व्यक्ति के सम्बन्ध द्वारा प्रकट होता है जो जानता है। अगर इसके उत्तर में यह कहा जाता है कि ज्ञान अपने अस्तित्व के लिए किसी अन्य व्यक्ति से सम्बन्ध की अपेक्षा नहीं रखता किन्तु केवल विषय और ज्ञाता के विशेष ज्ञान को प्रकट करने के लिए ही यह सम्बन्ध है, तो हमारा कहना है कि इसे सिद्ध नहीं किया जा सकता। हम इसे तभी स्वीकार कर सकते हैं जबकि हमारे सामने कोई दृष्टांत हो जिसमें शुद्ध चैतन्य या ज्ञान ज्ञाता और ज्ञेय विषयक सम्बन्ध से पृथक अनुभव में आया हो। अगर इतने पर भी तर्क किया जाता है कि चैतन्य उसकी स्वयं प्रकाश्यता से पृथक नहीं किया जा सकता तो हमें यह भी बताना पड़ेगा कि चैतन्य या ज्ञान, व्यक्ति ज्ञाता, अधिष्ठान (उद्देश्य) से पृथक कभी भी नहीं पाया जाता या ज्ञाता या जो ज्ञानवान् है उससे पृथक, ज्ञान नहीं पाया जाता। अनेक चेतनावस्थाओं में स्वयं प्रकाश्यता मानने के बजाय, क्या यही नहीं ठीक होगा कि हम यह मानें कि ज्ञान की स्वयं प्रकाश्यता, स्वयं चेतन कर्ता और चेतन अनुभूति के निर्धारक विषय से उत्पन्न होती है? अगर चेतनावस्थाओं को स्वयं प्रकाश्य माना भी जाय तो भी इससे यह समझ में नहीं आता कि किस प्रकार उसी वजह से आत्मा भी स्वयं प्रकाश्य है। अगर आत्मा अनुभवों के ज्ञाता को स्वयं प्रकाश मान लिया जाय तो ज्ञान के अनुभवों की प्रकाश्यता सरलता से समझाई जा सकती है, क्योंकि आत्मा सारे अनुभवों का द्रष्टा है। प्रकट होने के लिए सारे पदार्थ या विषय को अपने से दूसरे पदार्थ या अधिकरण की आवश्यकता रहती है जो अपने वर्ग से भिन्न हैं, किन्तु आत्मा को चैतन्य के लिए दूसरा कोई आश्रय नहीं है, इसलिए यह मानना पड़ता है कि आत्मा स्वयं प्रकाश्य, ज्ञानवान् तत्व है, घड़े को प्रकट होने के लिए किसी दूसरे घड़े की आवश्यकता नहीं होती केवल प्रकाश की आवश्यकता है जो दूसरे वर्ग के पदार्थ में है। प्रकाश का भी प्रकट होने के लिए किसी दूसरे प्रकाश की आवश्यकता नहीं रहती या घड़े की जिसे वह प्रकट करता है उसे केवल इन्द्रियों की अपेक्षा है और इन्द्रियाँ अपनी शक्ति प्रकट करने के लिए चैतन्य पर आश्रित हैं। चैतन्य अपने लिए आत्मा पर आधारित है ज्ञान आत्मा में आश्रय लिए बिना प्रकट नहीं हो सकता। किन्तु आत्मा को आश्रय के लिए दूसरा कुछ भी नहीं है इसलिए उसकी स्वयं प्रकाशता किसी की अपेक्षिता नहीं है।

चैतन्य की अवस्थाएँ इस प्रकार, आत्मा की अवस्थाएं माननी पड़ेंगी, जो भिन्न विषयों के संयोग से उन्हें यह ज्ञान या वह ज्ञान के रूप में प्रकट करती हैं। यह या वह पदार्थ का ज्ञान केवल आत्मा की भिन्न अवस्थाएं हैं और वह स्वयं आत्मा का विशेष लक्षण है।

अगर चैतन्य आत्मा का विशेष लक्षण या अभिन्न गुण न होता तो कोई ऐसा समय हो सकता था, जब आत्मा का चैतन्य रहित अवस्था में अनुभव हो सकता था।

एक वस्तु दूसरी से इस प्रकार सम्बन्धित हो कि वह उसके बिना रह नहीं सकती तो वह उसका आवश्यक और अभिन्न लक्षण ही ता हा सकता है। ऐसा नहीं कहा जा सकता कि यह सामान्यीकरण ठीक नहीं है क्योंकि हम देह के संयोग में होते हुए स्वचैतन्यवान् हैं जो आत्मा का अनिवार्य गुण नहीं है, क्योंकि आत्मा का मैं रूप में या मैं जानता हूँ के रूप में ज्ञान देह को लक्ष्य करके या उसके स्वयं से आवश्यक रूप से सम्बन्धित नहीं है। पुन यह भी नहीं कहा जा सकता कि चैतन्य, अगर आत्मा का अभिन्न और आवश्यक गुण है तो गाढ़ निद्रा तथा मूर्च्छा की अवस्था समझाई नहीं जा सकती, क्योंकि ऐसा सिद्ध करने का कोई प्रमाण नहीं है कि तथा कथित अचेतावस्था में आत्मा का ज्ञान नहीं है। जगने पर हमें ऐसा अनुभव होता है कि हमें उस समय कोई ज्ञान नहीं था क्योंकि हम वहाँ उसकी स्मृति नहीं रहती। जाग्रतावस्था में अचेतावस्था का भान होने का कारण यह है कि हम उन अवस्थाओं की स्मृति नहीं है। स्मृति तब ही शक्य है जबकि विषय का अवगाहन होता है और ज्ञान के विषय के संस्कार हमारे चित्त में रह जाते हैं जिससे उनके द्वारा हम स्मृति के विषय को याद कर सकें। निद्रा में कोई विषय प्रत्यक्ष नहीं होता और न संस्कार ही रहते हैं और परिणाम में हम उनकी स्मृति भी नहीं रहती। आत्मा तब अपने आत्म चैतन्य की स्वलक्षणता में रहता है किन्तु तब ज्ञान किसी का नहीं होता। स्वचैतन्य आत्मा कोई संस्कार मानसिक कारणों पर संस्कार नहीं छोड़ जाता, जैसे मनस इत्यादि क्योंकि उस समय वे निष्क्रिय होते हैं। आत्मा पर कोई भी संस्कार नहीं किया जा सकता यह सरलता से समझ में आता है क्योंकि अगर ऐसा होता और आत्मा पर संस्कारों का समूह बढ़ता रहता तो आत्मा उन्हें हटाकर कभी भी मुक्त नहीं हो सकता। तदुपरान्त स्मृति की यह विलक्षणता है कि जब कुछ एक बार प्रत्यक्ष हो गया है किन्तु जिसका सतत अनुभव नहीं हो रहा है उसे वर्तमान में याद किया जा सकता है जब साहचर्य द्वारा भूतकाल के वे संस्कार जागृत हो जाते हैं। किन्तु स्वचैतन्य आत्मा हमेशा एक सा ही रहता है इसलिए उसकी कोई भी स्मृति नहीं हो सकती। गाढ़ निद्रा में जगने पर हम ऐसा अनुभव होता है कि हम सुख से सोये यह तथ्य, इस बात को सिद्ध नहीं करता कि गाढ़ निद्रा में हमें वास्तव में सुख की स्मृति थी वह तो शरीर का सुखमय अनुभव है जो गहरी नींद से होता है जिसका यह अर्थ लगा लिया जाता है या ऐसा कहा जाता है कि हमें गाढ़ निद्रा में सुख का अनुभव हुआ। हम कहते हैं मैं वही हूँ जो कल भी था किन्तु यहाँ आत्मा की स्मृति नहीं होती किन्तु यहाँ स्मृति का विषय विशेष समय का साहचर्य ही है।

विषय का प्रत्यक्ष हम तब होता है जब चैतन्य किसी इन्द्रिय के सम्बन्ध से किसी पदार्थ से संयोग में आता है। इसी कारण यद्यपि आत्मा स्वचैतन्ययुक्त है, तो भी जब आत्मा का चैतन्य इन्द्रिय-सन्निकर्ष द्वारा किसी बाह्य पदार्थ से होता है तब

हमे विशेष प्रकार का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। आत्मा सर्वव्यापी नही है अणु रूप है जब वह किसी इन्द्रिय के संयोग में आता है तब हम उस इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। यह इस तथ्य को समझाता है कि दो प्रत्यक्ष का ज्ञान एक साथ नहीं हो सकता, क्रम बद्ध ही ज्ञान होता है लेकिन इतना द्रुत होता है कि परिवर्तन देखने में नही आता। अगर आत्मा सर्वव्यापी होता तो हम सभी पदार्थों का ज्ञान एक साथ ही होता क्योंकि आत्मा का सबों से सम्बन्ध था। इसमें यह सिद्ध हुआ कि ज्ञान आत्मा का विलक्षण गुण है ज्ञान या चेतना उसमे उत्पन्न नही होती किन्तु जब अवरोधक हटा दिए जाते हैं और आत्मा विषय के सम्पर्क में आता है तो उनका ज्ञान प्रकट हो जाता है।

ईश्वर और जगत्

जैसाकि हमने अभी देखा है मीमांसक ईश्वर का अस्तित्व नही मानते। उनके अनीश्वरवादी तर्क जिन्हे हमने उल्लिखित नही किया है उन्हे अब यामुन के ईश्वरवाद के विरोध मे दे सकते है। वे कहते है सर्वज्ञ ईश्वर नही माना जा सकता क्योंकि ऐसी धारणा सिद्ध नही की जा सकती, और ऐसी धारणा के विरोध मे अनेक तर्क भी हैं। ऐसे सर्वज्ञ का प्रत्यक्ष ज्ञान कैसे हो ? निश्चय ही यह साधारण प्रत्यक्ष के साधना द्वारा नही प्राप्त हो सकता क्योंकि साधारण प्रत्यक्ष सभी वस्तुओं के भूत और वर्तमान का एक ज्ञान नही दे सकता जो इन्द्रियों की मर्यादा के पहले और परे है। योगियों का ईश्वर का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है ऐसा सामान्यत माना जाता है उसे भी माना नही जा सकता। योगी इन्द्रियों द्वारा भूतकाल की वस्तुओं का और इन्द्रियों की मर्यादा के परे की वस्तुओं को भी जाने यह अशक्य है। अगर अन्त करण ऐसा है कि वह इन्द्रियों की समस्त वस्तुओं को बिना इन्द्रियों द्वारा जान सकता है तो फिर इन्द्रियों की आवश्यकता ही क्या है ? वह अलबत्ता ठीक है कि तीव्र ध्यान द्वारा हम पदार्थ को स्पष्ट और असदिग्ध रूप से देख सकते हैं किन्तु कितने भी गहन ध्यान द्वारा हम आख से सुन नही सकते और बिना इन्द्रिय ज्ञान प्राप्त नही कर सकते। सर्वज्ञता इसलिए शक्य नही है और हमने अपनी इन्द्रियो द्वारा कोई ऐसे सर्वज्ञ व्यक्ति का ईश्वर को, नही देखा है। ईश्वर का अस्तित्व अनुमान द्वारा भी सिद्ध नही किया जा सकता क्योंकि वह दृश्य पदार्थों से परे हैं। तथा हम किसी हेतु को भी नही देख सकते जो उसके साथ सम्बन्ध रखता है और जिसकी वजह से उसे ईश्वर के अनुमान का विषय बना सके। नैयायिक ऐसा तर्क करते हैं कि यह अणु के संघात से बना हुआ जगत् कार्य होना चाहिए, और फिर तर्क करते है कि अन्य कार्य की तरह जगत् भी ज्ञानवान् पुरुष के निरीक्षण मे बना होगा जिसे जगत् के द्रव्य का साक्षात् अनुभव है। किन्तु यह आवश्यक नही है क्योंकि ऐसा सोचा जा

सकता है कि परमाणु इत्यादि का इस वर्तमान रूप में संयोग, जगत के सारे मनुष्यों के अदृष्ट कर्म द्वारा हुआ है। पाप और पुण्य हम सब में होते हैं और वे जगत को गति को ढालते हैं यद्यपि हम इसे देख नहीं सकते। इस प्रकार जगत को मनुष्य कर्मों का परिणाम कहा जा सकता है, ईश्वर का नहीं जिसे किसी ने कभी भी देखा नहीं है। तदुपरान्त, ईश्वर, जिसे कोई इच्छा पूर्ति करने का नहीं है वह जगत को क्या उत्पन्न करे? यह जगत, पहाड़, नदी और महासागर के साथ, किसी एक से उत्पन्न हुआ कार्य नहीं माना जा सकता।

यामुन न्याय की पद्धति स्वीकारते हैं और जगत कार्य है इसे सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं और इसलिए यह मानते हैं जगत ज्ञानवान् पुरुष द्वारा उत्पन्न किया होना चाहिए जिसे द्रव्य का साक्षात ज्ञान है। उसे मनुष्यों के धर्म और अधर्मों का साक्षात ज्ञान है जिसके अनुसार वह सारे जगत का निर्माण करता है और यह नियन्त्रण करता है कि जिससे प्रत्येक वही अनुभव करे जिसके वह योग्य है। वह, केवल अपने सकल्प द्वारा जगत को गति देता है। उसके शरीर नहीं है किन्तु तब भी वह अपने मानस द्वारा सकल्प व्यापार करता है। उसे असीम ज्ञान और शक्तिमान् पुरुष मानना ही पड़ेगा नहीं तो वह किस प्रकार इस *जगत का निर्माण और उसका नियन्त्रण* कर सकता है?

शंकर मतवादियों ने ऐसा माना है कि जब उपनिषद् कहते हैं कि ब्रह्म के सिवाय और कुछ अस्तित्व नहीं रखता तो इसका अर्थ यह है कि ब्रह्म का ही केवल अस्तित्व है और जगत मिथ्या है किन्तु यह कहने में कोई सार नहीं है। इसका केवल यही अर्थ है कि ईश्वर के सिवाय अन्य दूसरा ईश्वर नहीं है और उसके जैसा दूसरा और कोई नहीं है। जब उपनिषद् यह कहते हैं कि जो कुछ देखते हैं वह ब्रह्म ही है और वह जगत का उपादान कारण है, इससे यह अर्थ नहीं निकलता कि और किसी का अस्तित्व है ही नहीं और निर्गुण ब्रह्म ही एक सत्ता है। अगर हम यह कहें कि सूर्य एक ही है तो इसका अर्थ यह नहीं है कि उसमें रश्मियाँ नहीं हैं। अगर हम कहें कि सात समुद्र हैं इसका अर्थ यह नहीं है कि समुद्र में लहरें इत्यादि नहीं हैं। ऐसे पाठों का केवल अर्थ यह हो सकता है कि जगत् की उत्पत्ति उसमें से—ब्रह्म से उसी तरह है जैसे अग्नि से स्फुलिंग और अन्त में जगत उसी में अंतिम स्थान और आधार पाता है। जगत की समस्त वस्तुओं—वायु, अग्नि पृथ्वी ने उसमें अपनी शक्तियाँ प्राप्त की हैं और उसके बिना वे कुछ भी करने में अशक्य रहते हैं। अगर इसके विपरीत यह माना जा सकता है कि सारा जगत मिथ्या है तो हम अपने सारे अनुभवों की क्षति ले देनी पड़ती है और ब्रह्म का अनुभव भी इसी अनुभव के अन्तर्गत आ जाता है इसलिए वह भी खत्म हो जाता है। वेदान्त का तर्क जो कि भेद के ज्ञान को मिथ्या सिद्ध करने को दिया जाता है वह हमारे किसी उपयोग का नहीं

है क्योंकि अनुभव बताता है हम सम्बन्ध एवं भेद देखते हैं। हम नील रंग को देखते हैं कमल को भी देखते हैं और यह भी कि कमल का रंग नीला है, इसलिए जीव और जगत् उपनिषद् के उपदेश के आधार पर ब्रह्म से अभिन्न रूप से सम्बंधित हैं यह समझा जा सकता है। यह अर्थ उस अर्थ से अधिक न्याय संगत है जो सारे जगत का और जीवों का निषेध करता है और जो इन सबके चैतन्य और ब्रह्मगत चैतन्य का तादात्म्य मानकर ही संतुष्ट होता है। शुद्ध सर्वगत और निर्गुण ज्ञान जैसा कुछ नहीं है जैसाकि शंकर मतवादी कहते हैं क्योंकि हर एक का भिन्न और पृथक् प्रत्यय का साक्षात् ज्ञान होता है जैसेकि व्यक्तिगत सुख और दुःख का। अगर एक ही चैतन्य होता तो सब कुछ सब समय के लिए एक साथ प्रकट होता। पुनः ऐसा भी कहा है कि यह चैतन्य, सत्‌चित आनंद है। अगर इस त्रिविध रूप को माना जाय तो वह एकतत्त्ववाद का उच्छेद करता है जिसका शंकरमतवादी बड़े उत्साह से रक्षण करते हैं। अगर वे ऐसा भी कहें कि ये तीन, ब्रह्म के रूप या गुण नहीं हैं किन्तु ये तीनों एक ही तत्व का लक्ष्य करते हैं जो ब्रह्म है यह भी शक्य नहीं है। क्योंकि आनन्द और ज्ञान दोनों एक कैसे हो सकते हैं? हम सुख और ज्ञान का भिन्न भिन्न अनुभव करते हैं। इस प्रकार हम शंकर मत का जिस किसी भी प्रकार से परीक्षण करते हैं तो हमें पता चलता है कि वह अनुभव विरुद्ध है और तर्क संगत युक्ति के भार का सहन नहीं कर सकता। इसलिए यह मानना ही पड़ेगा कि हमारा जगत के विषय में विचार ठीक है और वह बाह्य जगत की सच्चाई से प्रतिनिधित्व करता है। नानाविध यह जगत इसलिए मिथ्या नहीं है किन्तु सत्य है जैसाकि हमारा प्रत्यक्ष ज्ञान सिद्ध करता है।

इस प्रकार यामुन के दर्शन का अंतिम निष्कर्ष यह निकलता है कि एक तरफ स्वचैतन्य जीव है और दूसरी तरफ सर्वज्ञ और सर्व शक्तिमान् ईश्वर और नानाविध जगत है। ये तीन तत्व सत्य हैं। कहीं कहीं वे ऐसा सूचन करते हैं कि जगत ईश्वर से उद्भूत स्फुलिंग बने हैं ऐसा माना जा सकता है किन्तु इस विचार का वे विस्तार नहीं करते और यह विचार अन्य पाठों से विरोध पैदा करता है जिसमें वे ईश्वर को न्याय दर्शन की तरह जगत का निर्माता सिद्ध करते हैं। जिस प्रकार से वे जगत और ईश्वर के सम्बंध का सिद्धित्रय और आगम प्रामाण्य में न्याय दृष्टि से समर्थन करते हैं इसमें यह निश्चित होता है उनका दृष्टिकोण न्याय से भिन्न नहीं है जिसमें ईश्वर और जगत के द्वैत का निरसन नहीं किया गया है। इसलिए ऐसा लगता है कि (जैसाकि हम सिद्धित्रय से निश्चय कर सकते हैं) कि यामुन का मुख्य योगदान जीवों का स्वचैतन्य स्वरूप है। ईश्वर और जगत का अस्तित्व अन्य दर्शनों ने भी माना है। यामुन इस प्रकार ईश्वर और जीव तथा जगत के सम्बन्ध में कोई भी नया विचार नहीं देते। वे जगत की सत्ता के बारे में कोई अन्वेषण नहीं करते केवल जगत मिथ्या नहीं है इसे साबित करने से ही संतोष मान लेते हैं

जैसाकि शकर मतवादियों ने माना था। वे एक स्थान पर कहते हैं कि वे नैयायिकों के अखड परमाणु को नही मानते। मूल तत्व का सबसे छोटा अणु त्र्यसरेणु है जो हवा में उडता धूल का कण है जबकि सूर्य की किरणें एक छेद से आती हैं। व इससे अधिक जगत की अंतिम सत्ता के बारे में कुछ भी नहीं कहते या इस बारे में भी नहीं कहते कि जगत क्या है तथा वह किस प्रकार हुआ ? वे मुक्ति के साधन और मुक्तावस्था के विषय में भी मूक रहते हैं।

रामानुज, वेंकटनाथ और लोकाचार्य के अनुसार ईश्वर का स्वरूप

भास्कर ने कहा था कि यद्यपि ईश्वर सर्वश्रेष्ठ गुण सम्पन्न है और अपने आप मे समस्त मल रहित है, तो भी वह अपनी शक्ति से जगत के रूप में परिणत होता है और उसकी सारी स्थितियाँ एव मर्यादाएँ सारे भूतल तत्व और घटनाएं उसी की शक्तियाँ हैं वह अपनी शक्ति से सामान्य जीव के रूप में प्रकट होता है और मुक्ति भी प्राप्त करता है। रामानुज ऐसा मानते हैं कि उनके मतानुसार ब्रह्म का ऐसा कोई स्वरूप नही है जो किसी भी बन्धन की मर्यादा के परे है, वह मर्यादा, शक्ति इस जगत के रूप मे प्रकट होती है। ब्रह्मन् अपनी शक्ति से जो जगत के रूप मे स्थित है हमेशा सम्बंधित रहने के कारण जगत की सभी कमियों का आवश्यक रूप मे विषय बनता है। इसके अतिरिक्त जब शक्ति ब्रह्म शक्ति को मान लिया जाता है तो फिर ब्रह्म का परिणाम कैसे हो सकता है। अगर शक्ति का ही परिणाम मान लिया जाय, तब भी यह नही स्वीकारा जा सकता कि ब्रह्म को अपनी शक्ति मे जगत रूप मे परिणत होने के लिए अपनी शक्ति से सम्पर्क करना ही चाहिए।

एक दूसरे वेदान्तिन् (सम्भवत यादव प्रकाश, जो प्रारम्भ में रामानुज के गुरु रहे) मानते थे कि ब्रह्मन् अपने स्वरूप से जगत रूप से परिणत हुए। यह तर्क भी आपत्तिपूर्ण है कि ब्रह्म का जगत रूप से परिणाम होने पर, जगत की समस्त कमियों और त्रुटियों से युक्त हो जाता है। अगर ऐसा माना जाता है कि ईश्वर अपने एक अंश मे सर्वातिशायी है और अनेक श्रेष्ठ गुणों से युक्त है और दूसरे अंश मे जगत के परिणाम की त्रुटियों से युक्त है तो जो एक अंश मे इतना अशुचि है कि उसकी यह मल पूर्णता उसके दूसरे निर्मल अंश से इतनी प्रति सतुलित कैसे हो सकती है जिससे वह तब भी ईश्वर कहा जा सके ?

रामानुज, इसलिए, मानते हैं कि सारे परिवर्तन एव परिणाम ईश्वर के देह मे ही होते हैं उसके स्वरूप मे नहीं। इसलिए ईश्वर, अपने स्वरूप से सर्वदा मल से रहित है और श्रेष्ठ गुण युक्त है जिससे जगत का क्षोभ जो उसके शरीर से सम्बन्धित है, लेश मात्र भी नहीं स्पर्श करता। बाह्य जगत की उपादानभूत वह वस्तु साख्य का

गुण द्रव्य नहीं है, किंतु वह केवल प्रकृति अति प्राचीन कारण तत्व है जिसमे अनेक गुण हैं जिनका वर्गीकरण सत्व, रजस् और तमस् के रूप म किया जा सकता है। यह प्रकृति अपने सूक्ष्म रूप मे, ईश्वर का शरीर है और ईश्वर द्वारा समस्त परिणामो की ओर गतिशील होती है। जब वह प्रकृति का परिणामो से रोकता है और उसकी गति का निरास करता है, तब प्रलय होता है तब भगवान् प्रकृति को उसकी सूक्ष्मावस्था म, देह रूप से धारण करता हुआ कारणावस्था मे रहता है। प्रकृति, ईश्वर का देह और प्रकार भी है। जब वह व्यक्तावस्था में होती है तब सृष्टि रचना होती है। प्रकृति तन्मात्र, अहकार इत्यादि के रूप मे परिणत होती है, तो भी ये भगवान् के देह के सूक्ष्म तत्व हैं तन्मात्र इत्यादि को उत्पन्न करने मे जिन परिणामो मे से प्रकृति गुजरती हैं वे गुणो के मिश्रण से नही होता जैसाकि साख्य म माना गया है किन्तु वह प्रकृति का उन अवस्था मे से गुजर जाना है। प्रत्येक अवस्था में प्रकृति का विशेष गुण रहता है जिसमे से वह आगे बढती है। गुण का अर्थ यहाँ सामान्य अर्थ मे समझा जाने वाला गुण का बोधक है और ऐसा माना गया है कि ईश्वर द्वारा गतिशील होती हुई, प्रकृति नवीन गुण धारण करती है। जगत की वर्तमान अवस्था भी प्रकृति की एक विशेष अवस्था बताती है जिसमे उसने यह लक्षण प्राप्त किए हैं जो हम अपने जगत में देखते हैं।

हमने पहले देखा है कि यामुन ईश्वर को न्याय दर्शन की तरह अनुमित करते हैं। किन्तु रामानुज कहते हैं कि जितना इसके पक्ष म कहा जा सकता है उतना ही विपक्ष म भी कहा जा सकता है। इस प्रकार वे कहते हैं कि, अगर यह मान भी लिया जाए कि पर्वत इत्यादि कार्य हैं तो भी यह नही कहा जा सकता कि वे किसी एक व्यक्ति ने बनाए हैं क्योकि सारे घडे उसी एक मनुष्य ने नहीं बनाए हैं। ईश्वर का भी निषेध साख्य मतानुसार किया जा सकता है और यह माना जा सकता है कि कर्मानुसार, गुणो के सयोग से यह जगत उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार ईश्वर के अस्तित्व के पक्ष और विपक्ष दोनों मे कहा जा सकता है। रामानुज यह मानते हैं कि ईश्वर अनुमान द्वारा सिद्ध नही किया जा सकता। उसे शास्त्रो के आधार पर ही मानना पडेगा।[1] न्याय और योग ने तदुपरान्त, ईश्वर को केवल निमित कारण ही माना है किन्तु रामानुज की दृष्टि म ईश्वर सर्व देश और काल म सर्व व्यापक है। ईश्वर के सर्व व्यापकत्व का यह अर्थ नहीं है कि उसकी सत्ता ही केवल सर्वत्र एक ही सत्ता है या यह जगत् की सत्ता से एक रस है अभिन्न है और अन्य सब कुछ मिथ्या है। इसका अर्थ जैसाकि सुदर्शनाचार्य ने रामानुज भाष्य सूत्र २ पर (अपनी श्रुत प्रकाशिका मे टीका म कहा है) कि वह किसी भी प्रकार की देश की मर्यादा से बधा

---

[1] देखो रामानुज भाष्य, सू० ३।

नही है। वरद और नारायण और वेंकटनाथ भी, सब व्यापकता का अर्थ ईश्वर के श्रेष्ठ गुणो मे मर्यादा या प्रतिबन्ध का अभाव है ऐसा मानने मे एक मत हैं (इयद् गुणक इति परिच्छेद रहित)।[1] ईश्वर के देह के सिवाय अन्य कुछ नहीं है, इसलिए देह दृष्टि से भी वह जगत मे सब व्यापक माना जा सकता है। इस प्रकार ईश्वर केवल निमित्त कारण ही नही है किन्तु उपादान कारण भी है। वेंकट कुछ विस्तार से यह सिद्ध करते हैं कि सर्वोत्तम ईश्वर नारायण और उसकी शक्ति लक्ष्मी है जो जड और जीव की अधिष्ठात्री है। ईश्वर का अपना मनस है और उसकी नित्य इन्द्रिया को प्रकट होने के लिए किसी देह या अग की आवश्यकता नही होती। वेंकट भगवान् वासुदेव की अभिव्यक्ति के तीन प्रकार का वर्णन करते हैं सकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध नामक इस पचरात्र के व्यूह सिद्धान्त का लोकाचार्य के तत्वत्रय पर वरवर भाष्य में सक्षिप्त विवरण मिलता है। सकर्षण प्रद्युम्न और अनिरुद्ध ये तीन, वासुदेव के तीन भिन्न रूप कहे गए हैं। जिनके द्वारा वे जीव, मनस् और बाह्य जगत का नियन्त्रण करते हैं। जिस क्रिया के प्रकार से जीव, सृष्टि उत्पत्ति के प्रारम्भ में प्रकृति से पृथक किए जाते हैं, वह ईश्वर के सकर्षण रूप से सम्बन्ध रखता है, जब यह पृथक्करण की पूर्ण क्रिया मनुष्य पर मन रूप से विकास एव शासन करती है और उन्हें अन्त मे श्रेय और पुण्य मार्ग पर ले जाती है तब वह ईश्वर के प्रद्युम्न रूप से सम्बन्ध रखती है। अनिरुद्ध भाव प्रधान वह रूप है जिससे बाह्य जगत् उत्पन्न होता है और नियन्त्रण में रखा जाता है और जिसमे हमारे सद् ज्ञान प्राप्त करने के प्रयत्न सम्यक् पूरे उतरते हैं। ये रूप भिन्न भिन्न ईश्वर नहीं हैं, किन्तु भगवान् के भिन्न व्यापार है या कार्य की दृष्टि से भगवान् की ऐसी कल्पना की गई है। ईश्वर का सम्पूर्ण अस्तित्व हर जगह है। वह और उसके रूप एक रस हैं। वे रूप वासुदेव की शक्ति की अभिव्यक्तियाँ हैं। इसलिए इन्हें विभव कहा गया है। इनकी शक्तियो की ऐसी अभिव्यक्ति महान् धार्मिक पुरुषो मे भी पाई जाती है जैसे कि व्यास अर्जुन इत्यादि। लोकाचार्य आगे ईश्वर का वर्णन करते हुए कहते हैं कि ईश्वर अपने स्वरूप से केवल सर्वज्ञ ही नही है किन्तु यह सर्वज्ञता सम्पूर्ण और नित्यानन्द से जुडी हुई है। उसके ज्ञान और शक्ति में परिवर्तन नहीं होता न उनकी तुलना की जा सकती है क्योकि वे सर्वदा सर्वोच्च और अचिन्त्य हैं। वह हम सबको कर्म करने की प्रेरणा देता है और कर्मानुसार इच्छापूर्ति करता है। वह अज्ञानी है उन्हें ज्ञान देता है, जो शक्तिहीन हैं उन्हें शक्ति देता है अपराधियो को क्षमा, दुखी जनो को दया, दुष्टो को भलाई, कुटिल को सरलता और जो हृदय से दुष्ट है उन्हें सहृदयता देता है। जो उनसे जुदा नही रहना चाहते उनसे वह जुदा रह नहीं सकता, और जो उनका दर्शन करना चाहते हैं वह उनके निकट आ जाता है। जब वह दुखी

---

[1] देखो न्याय सिद्धाजन वेंकटनाथ कृत।

मनुष्यों को देखता है तो उन पर दया करता है और सहायता देता है। इस प्रकार उसके गुण दूसरा के लिए है, अपने लिए नही। उसका प्रेम हमारे लिए माता जैसा है प्रेम से प्रेरित होकर वह हमारे दोषा को नही देखता और हम श्रेय माग मे सहायता करता है। उसने यह जगत् अपने मे ही उत्पन्न किया है, अपनी कोई इच्छापूर्ति के लिए नही, लीला के लिए किया है। सृष्टि उत्पत्ति मे, वस ही उसे नियन्त्रण करने और प्रलय करने मे यही लीला सबको धारण करती है और प्रकट करती है। प्रलय भी उसकी लीला है जसे जगत् की उत्पत्ति है। यह सब उसी म और उसी म से उत्पन्न हुआ है।

रामानुज और वेंकटनाथ के अनुसार जीव का विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त

यामुन के अन्य दशना के मुकाबले म जीव की पृथक और स्वचतन्य मय सत्ता का प्रतिपादन किया है। इसका विवरण हमने उनक जीव विषयक सिद्धान्त का उल्लेख करते विस्तार से किया है। जीव अणु रूप है जसाकि यामुन ने कहा है। विष्णु मिश्र और वेंकटनाथ ने यह माना है कि जीव की व्यावहारिक स्थिति म उसका ज्ञान विस्तार पाता है और सकुचित होता है। मुक्तावस्था म वह विकास की चरमावस्था पर पहुँचता है जब वह समस्त जगत् पर व्याप्त हो जाता है। विशाल और सकुचित होना कर्मों के कारण से है जो अविद्या भी कहलाती है।

रामानुज वेदान्तदीप' ग्रथ म जीव क अणु रूप होन से शरीर के एक भाग म रहते हुए भी ज्ञान की शरीर के भिन्न भागा म उत्पत्ति समझाने के लिए, दीपक की रश्मि की उपमा देते हैं। जीव देह के एक भाग मे ही रहता है और अपना प्रकाश शरीर के सारे भागा पर फैलाता है जैसकि एक दीपक। रामानुज कहते है कि ईश्वर जीवा को अपनी इच्छानुसार कम करने की अनुमति देता है। जीवा की इच्छा को ईश्वर की सम्मति बिना गति मिलना असभव है। स्वचत य युक्त जीव अपनी स्वेच्छानुसार कम करना चाहते हैं इसमे भगवान अवरोध नही करते। ईश्वर सवदा जीवा को कम करने देते हैं अर्थात् अपनी इच्छानुसार अगा को हिलाने देते हैं, यह एक प्रकार का प्रसगागत कारणवाद है जिसके अनुसार मैं अपने प्रत्येक कर्मो के करने म ईश्वर के सकल्प पर आश्रित हूँ। मैं अपने अग हिला सकता हूँ क्योकि वह ऐसा चाहता है। ईश्वर हमारे समस्त कार्यों का आश्रय है इस सामान्य नियम के अलावा उसके अनुग्रह और अकृपा के कुछ अपवाद हैं जा उसस विशेष प्रकार से सम्बन्धित हैं उनके प्रति भगवान् अधिक अनुग्रह दिखाते हैं और वह अपनी कृपा द्वारा उनमे ऐसी इच्छा उत्पन्न करते हैं कि जिससे वे उन्हें योग्य कम द्वारा उसे पा सकें। जो उनसे विरुद्ध हैं उनमे वह ऐसी इच्छाए उत्पन्न करते हैं कि वे उनसे और दूर हो

जाते हैं।[1] ईश्वर हम सब मे अन्तर्यामी रूप से स्थित है। उस अन्तर्यामी रूप का प्रतिनिधि हमारा जीव है। यह जीव अपनी इच्छा ज्ञान और प्रयत्न मे स्वतन्त्र है।[2] यह ज्ञान, इच्छा इत्यादि की स्वतन्त्रता ईश्वर ने हम सभी को दी है और वह इस भौतिक जगत् म क्रियाम्रो की इस तरह व्यवस्था करता है कि वे हमारी इच्छानुसार होवें। इस प्रकार वह हमे स्वातत्र्य ही नही देता किन्तु उन्हे बाह्य जगत् मे फलीभूत होने के लिए सहायता भी करता है और अन्त मे अच्छे बुरे कर्मानुसार पाप पुण्य भी देता है।[3] इस प्रकार ईश्वर का आधिपत्य हमारी इच्छा का लूट नही लेता। उसका अनुग्रह और अप्रसन्नता भी भक्त की ईश्वर के सम्पर्क मे आने की तीव्र इच्छा की पूर्ति के लिए ही है। उसकी अप्रसन्नता पक्के पापी को उसकी इच्छा की पूर्ति करता हुआ उसे अपने से दूर सासारिक सुखो की ओर ले जाती है। बहुधा आत्मा चेतन या ज्ञानमय कही जाती है क्योंकि वह चैतन्य की तरह स्वय प्रकाश्य है।[4] वह इन्द्रियो के सम्पर्क द्वारा सभी पदार्थों को प्रकट करती है। समस्त जीव, फिर भी ईश्वर म ही आधृत हैं। रामानुज ने जीवो को केवल ईश्वर की देह माना है किन्तु वरवर और लोकाचार्य इससे आगे ऐसा मानते हैं कि जिस प्रकार बाह्य पदार्थ जीव के लिए अस्तित्व रखते हैं। जिस प्रकार भोग्य पदार्थ जीव के लिए हैं उसी प्रकार ईश्वर और जीव म शेष और शेषी सम्बन्ध है। ईश्वर शेष है और जीव ईश्वर के नियन्त्रण तथा आधार का विषय शेषी है।

जीव यद्यपि स्वरूपत निर्मल और शुद्ध है किन्तु अज्ञान से तथा अचित् के सम्पर्क से सासारिक इच्छाम्रो से सम्बन्धित हो जाता है। अविद्या का अर्थ ज्ञानाभाव है, लक्षणा का मिथ्या आरोपण मिथ्या ज्ञान इत्यादि हैं, यह अविद्या, जो अनेक सासारिक इच्छाम्रो तथा अपवित्र प्रवृत्तियो का कारण है वह जीव के अचित् सयोग से है जब यह सयोग छूट जाता है तब जीव अविद्या से छूट जाता है और मुक्त हो जाता है।[5]

जब वह अच्छे गुरु के पास से शास्त्रो का सच्चा ज्ञान प्राप्त कर प्रतिदिन, आत्म सयम तप, पवित्रता, क्षमा सरलता, दान अहिंसा आदि का अभ्यास करता है और नित्य और नैमित्तिक कर्मों का पालन करता है और निषिद्ध कर्मों का त्याग करता है और तत्पश्चात् भगवान् मे शरणागति लेता है, उसकी स्तुति

---

[1] देखो तत्वत्रय पर वरवर टीका।

[2] देखो रामानुज भाष्य २ ३ ४०,४१।

[3] देखो, रामानुज भाष्य ६ ३ ४०,४१।

[4] देखो, रामानुज भाष्य २,३,२६ ३०।

[5] तत्वत्रय पर वरवर की टीका चित् प्रकरण।

करता है, निरन्तर उनका ही चिन्तन करता है, उनकी पूजा करता है, नाम जप करता है उनकी महानता और दयालुता का श्रवण करता है, उसके ही बारे में बोलता है, भक्ति करता है, तब रामानुज, अपने वेदार्थ संग्रह में कहते हैं कि ईश्वर जीव को संसार से मुक्त कर देता है उसका अज्ञान नष्ट हो जाता है। उसे मुक्त कर मनुष्य को साधारण नित्य और नैमित्तिक कर्म पालन करना पड़ता है उसे सद्गुण का भी पालन करना चाहिए और शास्त्रों से सच्चा ज्ञान भी प्राप्त करना आवश्यक है। जब वह इस प्रकार अपने को योग्य बनाता है तब ही वह अन्त में भगवान् की भक्ति और उसमें शरणागति द्वारा संसार बन्धन से मुक्त हो जाता है। रामानुज के अनुसार भक्ति भगवान् का सतत् चिन्तन है। इसके बिना शुद्ध ज्ञान, मुक्ति नहीं दिला सकता। भक्ति का विशेष लक्षण यह है कि इससे मनुष्य अपने प्रियजन के लिए कर्म करने के सिवाय अन्य सभी से विरक्त हो जाता है। अन्त में, रामानुज के अनुसार भक्ति भाव नहीं है किन्तु वह एक विशेष प्रकार का ज्ञान है (ज्ञान विशेष) जो हमें सबसे प्रिय ईश्वर है, के लिए जो नहीं करना है उसे व्यक्त करता रहता है।[1]

वेंकटनाथ कहते हैं कि कर्मों का पालन मनुष्य को सच्चे ज्ञान की जिज्ञासा के लिए अधिकारी बनाता है और सच्चे ज्ञान की प्राप्ति उसे भक्ति के योग्य बनाती है। जब मनुष्य सच्चे ज्ञान का अधिकारी हो जाता है तब वह कर्मों को त्याग सकता है। वेंकटनाथ के अनुसार भक्ति, पूज्य में प्रीति है केवल ज्ञान नहीं है। सायुज्य मुक्ति इसी से होती है। सायुज्य की स्थिति में जीव ईश्वर की सर्वज्ञता इत्यादि गुणों का ग्रहण करता है। जीव भगवान् से पूर्णत सहयोग नहीं कर सकता और सृष्टि रचना, उसका नियन्त्रण तथा मुक्ति देना ये सब गुण ईश्वर में ही रहते हैं। जीव भगवान् के ज्ञान और आनन्द का ही सहभोग उठा सकते हैं और उसी की तरह सर्वज्ञ और आनन्दमय हो सकते हैं। इस मुक्तावस्था में मनुष्य भगवान् की नित्य और असीम आनन्दपूर्ण दासता में रहता है। भगवान् की दासता लेशमात्र भी दुखमय नहीं है जैसेकि अन्य प्रकार की दासता होती है। जब मनुष्य अपने दर्प को त्याग देता है और अपनी सारी स्वतन्त्रता उसकी सेवा में लय कर देता है और अपने को भगवान् का दास मान लेता है जिसका एक ही कार्य उसकी सेवा करना है यही आनन्द की, सुख की उज्जवल स्थिति है। वेंकटनाथ, फिर इस वैष्णवीय मुक्तावस्था का जिसमें भगवान् को सर्वश्रेष्ठ माना है और उससे जनित आनन्द भोग को जाना है, दूसरी कैवल्यावस्था से पृथक करते हैं जिसमें मनुष्य अपने को ब्रह्म समझता है और कैवल्य प्राप्त करता है। इस कैवल्यावस्था में भी अविद्या और संसार से सम्बन्ध नष्ट हो जाता है और मनुष्य एकता को प्राप्त होता है, किन्तु यह वांछनीय अवस्था नहीं है क्योंकि इसमें वह असीम आनन्द नहीं है जो वैष्णव मुक्ति में है। रामानुज मुक्ता-

---

[1] वेदार्थ संग्रह पृ० १४६।

वस्था के विषय मे कहते हैं कि यह वह स्थिति है जो मनुष्य, अविद्या रहित होकर प्राप्त करता है और उसे परमात्मा और उसके साथ अपने सम्बन्ध का सहज ज्ञान होता है। वे इस अवस्था को उस मुक्ति से विविक्त करते हैं जिसमें मनुष्य कर्म रहित होकर अपने आप मे यह अनुभव करता है कि वह ही ईश्वर के गुणो का अवरोधक है। वह कैवल्य या अपने आपको ब्रह्म अनुभव करना, निम्न कोटि की मुक्ति है। यहाँ पर यह कहना अप्रासंगिक नही होगा कि वेंकटनाथ ने भक्ति और मुक्ति मानवी ध्येय को क्रमश आनन्द भाव और भगवत् शरण कहते हुए भक्ति और मुक्ति को उच्चतम भावस्तर पर पहुँचाया है।

अचित् या अतिप्राचीन द्रव्य, प्रकृति और उसके विकार

वेंकटनाथ, अचित् जड के स्वभाव का वर्णन करते हुए न्याय वैशेषिक के परमाणुवाद का खण्डन करने का प्रयत्न करते हैं। जड वस्तु का छोटे से छोटा कण वह है जो छेद में से जाती हुई सूर्य रश्मि म दीखता है। इससे भी सूक्ष्म पदार्थ द्वणुक की कल्पना अनुभव सिद्ध नहीं है क्योकि वे दृष्टि गोचर नही होते। उनकी तुलना पुष्प की अदृष्ट रज से भी नही की जा सकती जो हवा के साथ उडकर सुगध फलाती है, क्योकि इन अणुओ मे गन्ध का गुण है जबकि अणु सूक्ष्म हैं और उनम कोइ भी गोचर गुण नही होता। अनुमान से भी ये सिद्ध नही किए जा सकते। क्योकि अगर हम यह मानें कि इन्हे विभाजन करते हुए उस अवस्था पर पहुँचें कि जहां वे आगे विभाजित नहीं किए जा सकते और उन्हें परमाणु कहें तो यह भी अशक्य है, क्योकि न्याय वैशेषिक के परमाणु सबसे छोटे अणु ही नहीं है किन्तु उनका विशेष प्रकार का एक गुण है जो पारिमाण्डल्य परिमाण कहा जाता है और इसे अनुमान करने को हमारे पास कोइ भी आधार नहीं है। अगर लघुत्व ही लक्षण है तो हमे त्रसरेणु पर ही रुक जाना चाहिए (सूर्य रश्मि मे दीखता अणु)। इसके उपरान्त परमाणु वाद के विरोध म और भी आपत्तियां हैं। जैसा शंकराचार्य न प्रतिपादन किया है कि परमाणु जो अखड हैं वे दूसरे परमाणु के संयोग म नही आ सकते और न कोई पूरी इकाइ बना सकते हैं या परमाणु का परिमाण्डल्य परिमाण द्वयणुक म दूसरा नवीन परिमाण नही उत्पन्न कर सकता या द्वयणुक त्रसरेणु मे भिन्न प्रकार का परिमाण नही उत्पन्न कर सकता। यह ससार त्रसरेणु के संयोग से उत्पन्न होता है यह नही स्वीकारा जा सकता। सत्व, रजस और तमोगुणात्मक प्रकृति को ही एक मूल द्रव्य मानना पडेगा। अहंकार की अभिव्यक्ति के पहले और उसके बाद की स्थिति (साम्यावस्था, जिसम कोइ विकार पैदा नहीं होता) महत् कहलाती है। महत् के बाद और इन्द्रियो के उत्पन्न होने क पहले की स्थिति अहंकार कहलाती है। महत और अहंकार बुद्धि या अहं की आत्मगत अवस्था नहीं है

करता है, निरन्तर उनका ही चिन्तन करता है, उनकी पूजा करता है, नाम जप करता है उनकी महानता और दयालुता का श्रवण करता है, उसके ही बारे म बोलता है भक्ति करता है तब रामानुज, अपने वेदार्थ सग्रह म कहते हैं कि इश्वर जीव को ससार से मुक्त कर देता है उसका अज्ञान नष्ट हो जाता है। उसे मुक्त कर मनुष्य को साधारण नित्य और नैमित्तिक कर्म पालन करना पडता है उसे सद्गुण का भी पालन करना चाहिए और शास्त्रो से सच्चा ज्ञान भी प्राप्त करना आवश्यक है। जब वह इस प्रकार अपने को योग्य बनाता है तब ही वह अन्त मे भगवान् की भक्ति और उसमे शरणागति द्वारा ससार बन्धन से मुक्त हो जाता है। रामानुज के अनुसार भक्ति भगवान् का सतत् चिन्तन है। इसके बिना शुद्ध ज्ञान मुक्ति नही दिला सकता। भक्ति का विशेष लक्षण यह है कि इससे मनुष्य, अपने प्रियजन के लिए कर्म करने के सिवाय अन्य सभी से विरक्त हो जाता है। अन्त म, रामानुज के अनुसार भक्ति भाव नही है किन्तु वह एक विशेष प्रकार का ज्ञान है (ज्ञान विशेष) जो हमे सबसे प्रिय ईश्वर है, के लिए जो नही करना है उसे व्यक्त करता रहता है।[1]

वेंकटनाथ कहते हैं कि कर्मों का पालन मनुष्य का सच्चे ज्ञान की जिज्ञासा के लिए अधिकारी बनाता है और सच्चे ज्ञान की प्राप्ति उसे भक्ति के योग्य बनाती है। जब मनुष्य सच्चे ज्ञान का अधिकारी हो जाता है तब वह कर्मों को त्याग सकता है। वेंकटनाथ के अनुसार भक्ति पूज्य मे प्रीति है केवल ज्ञान नही है। सायुज्य मुक्ति इसी से होती है। सायुज्य की स्थिति में जीव ईश्वर की सर्वज्ञता इत्यादि गुणा का ग्रहण करता है। जीव भगवान् से पूर्णत सहयोग नही कर सकता और सृष्टि रचना, उसका नियन्त्रण तथा मुक्ति देना ये सब गुण ईश्वर म ही रहते हैं। जीव भगवान् के ज्ञान और आनन्द का ही सहभोग उठा सकते हैं और उसी की तरह सर्वज्ञ और आनन्दमय हो सकते हैं। इस मुक्तावस्था मे मनुष्य भगवान् की नित्य और असीम् आनन्दपूर्ण दासता म रहता है। भगवान् की दासता लेशमात्र भी दुख मय नही हैं जैसेकि अन्य प्रकार की दासता होती है। जब मनुष्य अपने दर्प को त्याग देता है और अपनी सारी स्वतन्त्रता उसकी सेवा मे लय कर देता है और अपने को भगवान् *का दास मान लेता है जिसका एक ही कार्य उसकी सेवा करना है यही आनन्द की* सुख की उज्जवल स्थिति है। वेंकटनाथ, फिर, इस वष्णवीय मुक्तावस्था को जिसमे भगवान् को सर्वश्रेष्ठ माना है और उससे जनित आनन्द भोग का जाना है, दूसरी कैवल्यावस्था से पृथक् करते हैं जिसमे मनुष्य अपने को ब्रह्म समझता है और कवल्य प्राप्त करता है। इस कैवल्यावस्था मे भी अविद्या और ससार से सम्बन्ध नष्ट हो जाता है और मनुष्य एकता को प्राप्त होता है, किन्तु यह वाछनीय अवस्था नही है क्योंकि इसमें वह असीम आनन्द नही है जो वष्णव मुक्ति म है। रामानुज मुक्ता-

[1] वेदार्थ सग्रह पृ० १४६।

वस्था के विषय में कहते हैं कि यह वह स्थिति है जो मनुष्य, अविद्या रहित होकर प्राप्त करता है और उसे परमात्मा और उसके साथ अपने सम्बन्ध का सहज ज्ञान होता है। वे इस अवस्था को उस मुक्ति से विविक्त करते हैं जिसमें मनुष्य कम रहित होकर अपने आप में यह अनुभव करता है कि वह ही ईश्वर के गुणों का अवरोधक है। वह कैवल्य या अपने आपको ब्रह्म अनुभव करना, निम्न कोटि की मुक्ति है। यहाँ पर यह कहना अप्रासंगिक नहीं होगा कि वेंकटनाथ ने भक्ति और मुक्ति मानवी ध्येय का क्रमश आनन्द भाव और भगवत् शरण कहते हुए भक्ति और मुक्ति को उच्चतम भावस्तर पर पहुँचाया है।

अचित् या अतिप्राचीन द्रव्य, प्रकृति और उसके विकार

वेंकटनाथ, अचित् जड के स्वभाव का वणन करते हुए न्याय वैशेषिक के परमाणुवाद का खण्डन करने का प्रयत्न करते हैं। जड वस्तु का छोटे से छोटा कण वह है जो छेद में से जाती हुई सूर्य रश्मि में दीखता है। इससे भी सूक्ष्म पदार्थ द्व्यणुक की कल्पना अनुभव सिद्ध नहीं है क्योंकि वे दृष्टि गोचर नहीं होते। उनकी तुलना पुष्प की अदृष्ट रज से भी नहीं की जा सकती जो हवा के साथ उडकर सुगंध फैलाती है, क्योंकि इन अणुओं में गन्ध का गुण है जबकि अणु सूक्ष्म हैं और उनमें कोई भी गोचर गुण नहीं होता। अनुमान से भी ये सिद्ध नहीं किए जा सकते। क्योंकि अगर हम यह मानें कि इन्हें विभाजन करते हुए उस अवस्था पर पहुँचें कि जहाँ वे आगे विभाजित नहीं किए जा सकते और उन्हें परमाणु कहें तो यह भी अमान्य है, क्योंकि न्याय वैशेषिक के परमाणु सबसे छोटे अणु ही नहीं है किन्तु उनका विशेष प्रकार का एक गुण है जो पारिमाण्डल्य परिमाण कहा जाता है और इसे अनुमान करने को हमारे पास कोई भी आधार नहीं है। अगर लघुत्व ही लक्षण है तो हम त्रसरेणु पर ही रुक जाना चाहिए (सूर्य रश्मि में दीखता अणु)। इसके उपरान्त परमाणु वाद के विरोध में और भी आपत्तियाँ हैं। जैसा शंकराचाय ने प्रतिपादन किया है कि परमाणु जो अखंड हैं वे दूसरे परमाणु के संयोग में नहीं आ सकते और न कोई पूरी इकाई बना सकते हैं या परमाणु का पारिमाण्डल्य परिमाण द्व्यणुक में दूसरा नवीन परिमाण नहीं उत्पन्न कर सकता या द्व्यणुक त्रसरेणु में भिन्न प्रकार का परिमाण नहीं उत्पन्न कर सकता। यह संसार त्रसरेणु के संयोग से उत्पन्न होता है यह नहीं स्वीकारा जा सकता। सत्व, रजस और तमोगुणात्मक प्रकृति को ही एक मूल द्रव्य मानना पडेगा। अहंकार की अभिव्यक्ति के पहले और उसके बाद की स्थिति (साम्यावस्था, जिसमें कोई विकार पैदा नहीं होता) महत् कहलाती है। महत् के बाद और इन्द्रियों के उत्पन्न होने के पहले की स्थिति अहंकार कहलाती है। महत और अहंकार बुद्धि या अहं की आत्मगत अवस्था नहीं है

जैसाकि कुछ सांख्यवादी सोचते हैं किन्तु व प्रकृति की—मूल द्रव्य की जगद्विषयक अवस्थाएँ हैं। अहंकार तीन प्रकार के हैं सात्विक राजसिक और तामसिक। इन्द्रियां भूतों का परिणाम नहीं है जैसाकि वैशषिक समझते है किन्तु वे आँख, नाक इत्यादि के सम्बन्ध से ज्ञानात्मक व्यापार हैं। मनस की अवस्थाएँ संकल्प, कल्पना इत्यादि भिन्न नामों से कही गई हैं। लोकाचार्य ने प्रकृति तीन प्रकार की बताई है (१) जिसमें शुद्ध सत्व गुण है जो ईश्वर के धाम का द्रव्य बनता है (२) दूसरा जिसमें सत्व, रजस तमस गुण हैं जो हमारे सामान्य जगत का बनाती है। यह ईश्वर का क्रीडा स्थान है। यह प्रकृति कहलाती है क्योंकि समस्त परिणाम यहाँ होते हैं। इसे अविद्या भी कहते हैं क्योंकि वह सत्य ज्ञान की विरोधिनी है और माया भी कहलाती है क्योंकि समस्त नानात्व को उत्पन्न करती है। जैसाकि हमने पहले कहा है प्रकृति के गुण उसके गुण हैं। सांख्य मतवादी जैसा सोचते हैं वैसे ये तत्व नहीं हैं। प्रकृति में विरोधी गुणों के आविर्भाव से जगत उत्पन्न होता है। तन्मात्र भूत की वह स्थिति है जिसमें विशेष गुण प्रकट नहीं हुए हैं। तन्मात्रा की उत्पत्ति का क्रम किसी ने इस प्रकार बताया है पहले भूतादि फिर उसमें से शब्द तन्मात्र, उसमें से आकाश, पुन आकाश से स्पर्श तन्मात्र और उसमें से वायु वायु से रूप तन्मात्र और उसमें से तेज (प्रकाश और उष्णता), तेजस में से रस तन्मात्र और फिर अप, अप में से गन्ध तन्मात्र और उसमें से पृथ्वी। भूतों की उत्पत्ति के अन्य मतों का भी वर्णन है किन्तु हम उन्हें यहाँ नहीं देंगे क्योंकि उनका विशेष महत्व नहीं है। वरवर कहते हैं कि काल सत्व गुण रहित प्रकृति है, किन्तु वेंकटनाथ काल को ईश्वर के स्वरूप में उनकी एक विशेष प्रकार की अभिव्यक्ति के रूप में मानते हैं। दिक आकाश से भिन्न तत्व नहीं है जो पदार्थों को गति का अवकाश देता है। आकाश केवल खालीपन या शून्यता नहीं है किन्तु वह भाव पदार्थ है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रकृति का त्रिगुणात्मक अनिर्दिष्ट अव्याकृत द्रव्य अनेकावस्थाओं को अतिक्रमण करता हुआ अन्त में इस जगत के रूप में प्रकट होता है जो मनुष्यों के अदृष्ट और अच्छे बुरे कर्मानुसार सुख दुख उत्पन्न करता है। *अदृष्ट की शक्ति कोई पृथक तत्व नहीं है किन्तु ईश्वर का अनुग्रह या अप्रसन्नता है जो* मनुष्य के अच्छे बुरे कर्मानुसार कार्य करता है।

———

बीसवाँ अध्याय

रामानुज सम्प्रदाय का दर्शन

निर्गुण या सगुण सत्ता पर रामानुज और शंकर के मत

शंकर कहते हैं कि ब्रह्मन् चिन्मात्र है सर्वथा अरूप है और अंतिम सत्ता (परमार्थ) है, ज्ञाता और ज्ञेय भेद तथा भिन्न प्रकार के ज्ञान उस पर आरोपण मात्र है और मिथ्या हैं। उनके मतानुसार मिथ्या तत्व जो दोष से उत्पन्न होता है भ्रम है, जो सद् वस्तु के ज्ञान से नष्ट हो जाता है। दोष सद् वस्तु को छिपाकर भिन्नत्व प्रकट करता है। संसार का भ्रम जिस दोष से उत्पन्न होता है वह अविद्या या माया है जो सत् या असत् कुछ भी नहीं कही जा सकती है। (सदसद्भ्याम् अनिर्वचनीयम्)। यह ब्रह्म के ज्ञान द्वारा निवृत्त हो जाती है। यह सच है कि हम व्यवहार दृष्टि में भिन्नत्व और नानात्व का अनुभव करते हैं किन्तु यह दोषपूर्ण है क्योंकि अदोषपूर्ण शास्त्र एक ही ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं और यद्यपि वेदों में अन्य स्थान पर हमें शास्त्रोक्त धर्मपालन करने का आदेश किया है जो नानात्व के अस्तित्व का समर्थन करते हैं तो भी शास्त्र के वह अंश जो एक ही ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं, अधिक महत्वपूर्ण एवं प्रामाणिक हैं, क्योंकि वे अंतिम-परम सत्ता के बारे में कहते हैं जबकि अन्य वेदों के आदेश भ्रमपूर्ण जगत् के बारे में ही प्रमाण है या उसी सीमा तक प्रमाण है जहाँ तक अन्तिम सत्ता को नहीं जाना गया है। पुनः वेद, ब्रह्म को सत्य, ज्ञानमय और अनन्त कहते हैं ये ब्रह्म के गुण नहीं है ये एक ही अर्थ का बोध कराते है और उसी अभिन्न निर्गुण ब्रह्म का लक्ष्य करते है।

रामानुज उपरोक्त वाद का खण्डन करते हुए, शंकर के इस मत को पहले लेते हैं कि ब्रह्म निर्विशेष है। वे कहते हैं कि जो सत्ता को निर्गुण बताते हैं उनके पास इसे सिद्ध करने के लिए कोई साधन नहीं है। क्योंकि सारे प्रमाण गुणों की मान्यता पर ही आश्रित हैं। यह निर्गुणत्व, प्रत्यक्ष अनुभव का विषय नहीं हो सकता जैसाकि वे मानते हैं क्योंकि अनुभव बिना कोई गुण के आश्रय के नहीं हो सकता। अनुभव मेरा स्वयं का होने से सगुण ही होगा। अगर तुम इस प्रकार सिद्ध करने की कोशिश करो जिससे अनुभव सगुण होता हुआ भी निर्गुण है तो भी तुम किसी विशेष गुण का आश्रय लेकर ही कह सकते हो कि यह गुण दृष्टि से वह ऐसा है, और इसी प्रयत्न

जैसाकि कुछ सांख्यवादी सोचते हैं किन्तु वे प्रकृति की—मूल द्रव्य की जगद्विषयक अवस्थाएँ है। अहंकार तीन प्रकार के हैं सात्विक, राजसिक और तामसिक। इन्द्रियाँ भूतों का परिणाम नहीं है जैसाकि वैशेषिक समझते हैं किन्तु वे आंख, नाक इत्यादि के सम्बन्ध से ज्ञानात्मक व्यापार हैं। मनस की अवस्थाएं संकल्प, कल्पना इत्यादि भिन्न नामों से कही गई हैं। लोकाचार्य ने प्रकृति तीन प्रकार की बताई है (१) जिसमें शुद्ध सत्व गुण है जो ईश्वर के धाम का द्रव्य बनता है (२) दूसरा जिसमें सत्व, रजस तमस गुण है जो हमारे सामान्य जगत का बनाती है। यह ईश्वर का क्रीडा स्थान है। यह प्रकृति कहलाती है क्योंकि समस्त परिणाम यहाँ होते हैं। इसे अविद्या भी कहते है क्योंकि वह सत्य ज्ञान की विरोधिनी है और माया भी कहलाती है क्योंकि समस्त नानात्व को उत्पन्न करती है। जैसाकि हमने पहले कहा है प्रकृति के गुण उसके गुण हैं। सांख्य मतवादी जैसा सोचते है वैसे ये तत्व नहीं हैं। प्रकृति में विरोधी गुणों के आविर्भाव से जगत उत्पन्न होता है। तन्मात्र भूत की वह स्थिति है जिसमें विशेष गुण प्रकट नहीं हुए हैं। तन्मात्रों की उत्पत्ति का क्रम किसी ने इस प्रकार बताया है पहले भूतादि फिर उसमें से शब्द तन्मात्र, उसमें से आकाश पुनः आकाश से स्पर्श तन्मात्र और उसमें से वायु वायु से रूप तन्मात्र और उसमें से तेज (प्रकाश और उष्णता), तेजस में से रस तन्मात्र और फिर अप, अप में से गन्ध तन्मात्र और उसमें से पृथ्वी। भूतों की उत्पत्ति के अन्य मतों का भी वर्णन है किन्तु हम उन्हें यहाँ नहीं देंगे क्योंकि उनका विशेष महत्व नहीं है। वरवर कहते हैं कि काल सत्व गुण रहित प्रकृति है किन्तु वेंकटनाथ काल को ईश्वर के स्वरूप में उनकी एक विशेष प्रकार की अभिव्यक्ति के रूप में मानते है। दिक आकाश से भिन्न तत्व नहीं है जो पदार्थों को गति का अवकाश देता है। आकाश केवल खालीपन या शून्यता नहीं है किन्तु वह भाव पदार्थ है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रकृति का त्रिगुणात्मक अनिर्दिष्ट अव्याकृत द्रव्य अनेकावस्थाओं का अतिक्रमण करता हुआ अन्त में इस जगत के रूप में प्रकट होता है जो मनुष्यों के अदृष्ट और अच्छे बुरे कर्मानुसार सुख दुःख उत्पन्न करता है। अदृष्ट की शक्ति कोई पृथक तत्व नहीं है किन्तु ईश्वर का अनुग्रह या अप्रसन्नता है जो मनुष्य के अच्छे बुरे कर्मानुसार कार्य करता है।

बीसवाँ अध्याय

रामानुज सम्प्रदाय का दर्शन

निर्गुण या सगुण सत्ता पर रामानुज और शकर के मत

शकर कहते हैं कि ब्रह्मन् चिन्मात्र है सवथा अरूप है और अन्तिम सत्ता (परमाथ) है ज्ञाता और ज्ञेय, भेद तथा भिन्न प्रकार के ज्ञान उस पर आरोपण मात्र है और मिथ्या हैं। उनके मतानुसार मिथ्या तत्व जो दोष से उत्पन्न होता है भ्रम है, जो सद् वस्तु के ज्ञान से नष्ट हो जाता है। दोष सद् वस्तु को छिपाकर भिन्नत्व प्रकट करता है। ससार का भ्रम जिस दोष से उत्पन्न होता है वह अविद्या या माया है, जो सत् या असत् कुछ भी नहीं कही जा सकती है। (सदसद्भ्याम् अनिवचनीयम्)। यह ब्रह्म के ज्ञान द्वारा निवृत्त हो जाती है। यह सच है कि हम व्यवहार दृष्टि में भिन्नत्व और नानात्व का अनुभव करते हैं किन्तु यह दोषपूर्ण है क्योंकि अदोषपूर्ण शास्त्र एक ही ब्रह्म का प्रतिपादन करते है और यद्यपि वेदो मे अन्य स्थान पर हमे शास्त्रोक्त धर्मपालन करने का आदेश किया है जो नानात्व के अस्तित्व का समथन करते हैं, तो भी शास्त्र के वह अश जो एक ही ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं, अधिक महत्वपूर्ण एव प्रामाणिक हैं, क्योंकि ये अन्तिम परम सत्ता के बारे मे कहते है जबकि अन्य वेदो के आदेश भ्रमपूर्ण जगत् के बारे म ही प्रमाण हैं या उसी सीमा तक प्रमाण हैं जहा तक अन्तिम सत्ता को नही जाना गया है। पुन वेद ब्रह्म को सत्य, ज्ञानमय और अनन्त कहते हैं य ब्रह्म के गुण नही है ये एक ही अर्थ का बोध कराते हैं और उसी अभिन्न निगुण ब्रह्म को लक्ष्य करते हैं।

रामानुज उपरोक्त वाद का खण्डन करते हुए, शकर के इस मत को पहले लेते है कि ब्रह्म निर्विशेष है। वे कहते है कि जो सत्ता को निगुण बताते हैं उनके पास इसे सिद्ध करने के लिए कोई साधन नही है। क्योंकि सारे प्रमाण गुणों की मान्यता पर ही आश्रित हैं। यह निगुणत्व, प्रत्यक्ष अनुभव का विषय नही हो सकता जसाकि वे मानते हैं क्योंकि अनुभव बिना कोई गुण के आश्रय के नहीं हो सकता। अनुभव मेरा स्वय का होने से सगुण ही होगा। अगर तुम इस प्रकार सिद्ध करने की कोशिश करो जिससे अनुभव सगुण होता हुआ भी निगुण है तो भी तुम किसी विशेष गुण का आश्रय लेकर ही कह सकते हो कि यह गुण दृष्टि से वह एसा है, और इसी प्रयत्न

से तुम्हारा सिद्ध करना भी व्यर्थ जाता है, क्योंकि यह विशेषता एक गुण है। ज्ञान स्वयं प्रकाश्य है उसी के द्वारा ज्ञाता समस्त पदार्थों को जानता है। यह भी सिद्ध किया जा सकता है कि निद्रा या मूर्छा में भी अनुभव निर्गुण नहीं होता। जब भी यह कहा जाता है कि ब्रह्मन् शुद्ध चैतन्य है, अनन्त है तब अर्थ यही होता है कि ये ब्रह्मन् के गुण हैं यह कहना निरर्थक है कि वे कोई भी गुणों को लक्ष्य नहीं करते। शास्त्र किसी निर्गुण सत्ता का समर्थन नहीं कर सकते, क्योंकि शास्त्र, शब्दों का व्यवस्थित क्रम है और प्रत्येक शब्द पूर्ण है जिसमें प्रत्यय और उपसर्ग है, इसलिए शास्त्र ऐसी वस्तु का, अर्थ प्रकट नहीं कर सकते जो निर्गुण हो। अगर प्रत्यक्ष को देखा जाय तो यह सर्वमान्य है कि सविकल्प प्रत्यक्ष सगुणयुक्त पदार्थ का ही प्रकट करता है, निर्विकल्प प्रत्यक्ष भी कुछ गुणों को अवश्य प्रकट करता है क्योंकि निर्विकल्पता का अर्थ यहाँ विशेष गुणों के निषेध से है ऐसा कोई भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है जो गुणों के प्रकट करने का सर्वथा निषेध करता हो। सारे अनुभव 'यह ऐसा है' ऐसे वाक्यों में पाये जाते हैं और इस प्रकार वे किसी न किसी गुण को ही प्रकट करते हैं। जब कोई वस्तु पहले प्रत्यक्ष होती है तब कुछ विशेष गुण दीखते हैं जब वह फिर प्रत्यक्ष होती है तब पहले देखे हुए गुणों की स्मृति जागृत होती है और उनकी तुलना द्वारा उन विशेष गुणों का समीकरण होता है। इसे ही हम सविकल्प प्रत्यक्ष कहते हैं, जिसमें पहले क्षण के निर्विकल्प ज्ञान से भिन्न, सामान्य या जातिगुणों की अभिव्यक्ति होती है। किन्तु इससे यह अर्थ नहीं निकलता कि निर्विकल्प प्रत्यक्ष में कोई विशेष गुणों का प्रत्यक्षीकरण नहीं होता। अनुमान प्रत्यक्ष पर ही आधारित है इसलिए प्रत्यक्ष में विशेष गुणों का ज्ञान होना आवश्यक है, इस प्रकार हमारे ज्ञान के तीनों स्रोत अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द, गुणरहित किसी भी वस्तु को प्रकट करते हैं—ऐसा नहीं हैं।

शंकर और उसके अनुयायियों का कहना है कि प्रत्यक्ष केवल शुद्ध सत्ता को ग्रहण करता है (सन्मात्र ग्राही) है किन्तु यह कभी भी सत्य नहीं हो सकता क्योंकि प्रत्यक्ष जाति गुणों से सम्बन्ध रखता है जो भेद प्रत्यय का अपेक्षी है, प्रत्यक्ष के पहले ही क्षण में वस्तु या विषय के भेद युक्त लक्षण का जिससे वह दूसरी वस्तुओं से विविक्त होता है ज्ञान होता है। अगर प्रत्यक्ष का सम्बन्ध केवल शुद्ध सत्ता से ही होता तो 'यह घड़ा है' यह कपड़े का टुकड़ा है आदि प्रत्यक्ष कैसे होता? और प्रत्यक्ष में यदि लक्षणों का ज्ञान नहीं होता तो फिर हमें, जब घोड़ा चाहिए, तब भैंसे से भिड़न्त क्यों नहीं हो जाती? शुद्ध सत्ता के रूप में, सब एक सरीखे हैं, और सत्ता ही, ऐसा कहा जाता है, प्रत्यक्ष द्वारा प्रकट होती है तो फिर स्मृति, एक से दूसरे का भेद प्रकट नहीं करेगी और एक वस्तु का ज्ञान सभी वस्तुओं के ज्ञान के लिए पर्याप्त होगा। अगर एक प्रत्यक्ष दूसरे से भिन्न है, यह मान लिया जाता है

तो यही बात या तथ्य, निर्विकल्प प्रत्यक्ष के सिद्धान्त के आग्रह को नष्ट करता है। इसके अतिरिक्त इन्द्रियाँ, अपने योग्य गुणों का ही ग्रहण कर सकती हैं, जैसकि आँख रंग का, कान शब्द का इत्यादि, इन्द्रियाँ निर्गुणता का अवगाहन नही कर सकतीं। फिर आग, ऐसा कहा है कि ब्रह्मन् शुद्ध सत्ता स्वरूप है, और यही शुद्ध सत्ता का प्रत्यक्ष द्वारा अनुभव होता है तो फिर इससे यह सिद्ध हुआ कि ब्रह्मन् इन्द्रियगोचर है। अगर ऐसा है तो ब्रह्मन् अन्य इन्द्रियगोचर वस्तु की तरह, परिणामी और विनाशी हो जाता है, जो किसी का भी मान्य नही हो सकता। अतः इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि प्रत्यक्ष मे भेद का भान होता है, शुद्ध निर्गुणता का नही।

पुनः ऐसा तर्क किया गया है क्योंकि घडे इत्यादि का अनुभव देशकाल के साथ भिन्न भिन्न होता है, अर्थात् हम एक जगह घडा और दूसरी जगह कपडे का टुकड़ा और दूसरे क्षण एक जगह खिलौना और दूसरी जगह घोडा देखते हैं, और इस प्रकार हम हर देश और काल मे एक ही वस्तु का निरंतर अनुभव नही होता, इसलिए ये सब वस्तुएं मिथ्या हैं। परन्तु ऐसा क्यों होना चाहिए? इस तथ्य में यहीं भी विरोध अथवा असगति नही है कि दो वस्तुएँ एक ही स्थान पर दो अलग अलग काल मे स्थित रहती हैं अथवा दो वस्तुएँ दो अलग अलग स्थानों पर एक ही समय विद्यमान रह सकती हैं। इसलिए जो कुछ हम देखते है वह सब मिथ्या है तथा विषय या वस्तु स्वरूपतः शुद्ध सत्ता रूप हैं। इसे सिद्ध करने के लिए हमारे पास कोई तर्क नही है।

पुनः ऐसा तर्क प्रस्तुत किया गया है कि अनुभव या अपरोक्षानुभव (जो प्रत्यक्ष के अन्तर्गत है) स्वयं प्रकाश है किन्तु यह केवल प्रत्यक्षकर्त्ता के विषय में, किसी विशेष समय के, प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए ही सत्य है। कोई अनुभव नितान्त स्वयं प्रकाश नहीं है। दूसरे मनुष्य का अनुभव, मुझे कुछ भी प्रकट नही करता और न मेरा ही भूतकाल का अनुभव अभी वर्तमान में मुझे कुछ प्रकट करता है, क्योंकि मेरे भूतकाल के अनुभव के विषय मे मैं केवल यही कहता हूँ 'मैं ऐसा पहले जानता था' न कि 'मैं अभी जानता हूँ'। यह भी सत्य नहीं है कि किसी भी अनुभव का फिर आगे

सकता, केवल इसलिए कि वे स्वरूपत उससे भिन्न हैं, इसलिए नही कि वे किसी अ य के ज्ञान का विषय है, अनुभव का यह लक्षण नही है।

पुन ऐसा कहा जाता है कि अनुभूति या सविद् उत्पन्न नहीं की जा सकती, क्योंकि हम यह नही बता सकते कि उसकी सत्ता कब नही थी (प्रागभावाद्यभावाद् उत्पत्तिर्निरस्यते)। ऐसा भी कहा जाता है कि कोई भी अनुभूति या सविद् यह नही प्रकट कर सकती कि कौनसी स्थिति मे उसका अस्तित्व नही था। क्योंकि कोई भी वस्तु अपनी अनुपस्थिति किस प्रकार प्रकट कर सकती है जबकि वह अपनी अनुपस्थिति मे वतमान नही रह सकती। रामानुज शकराचाय के इस तक के जवाब मे कहते है कि ऐसा क्या आवश्यक समझा जाए कि अनुभूति केवल उसे ही प्रकट करे जो उसका तात्कालिक हो ? क्योंकि अगर ऐसा होता तो भूत और भविष्य के बारे मे कोई भी बातचीत नही हो सकती। नि सन्देह प्रत्यक्ष ज्ञान मे केवल समय तथा काल स्थित उसी का अनुभव होता है जिसके विषय म प्रत्यक्ष इन्द्रियों का व्यापार होता है। यह सिद्धान्त वतमान के प्रत्यक्ष ज्ञान के सम्बन्ध मे है किन्तु यह सिद्धान्त सब प्रकार के ज्ञान के लिए लागू नही किया जा सकता। स्मृति, अनुमान, शस्त्र तथा ऋषियों की अपरोक्ष रहस्यानुभूति (योगि प्रत्यक्ष) के द्वारा भूतकालीन घटनाओं और भविष्य म होने वाली स्थितियों का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त किया जाना सम्भव है। इस प्रकार के तक से यह अथ निकलता है कि 'घट' जसे नामों य वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान काल विशेष म होता है और इसकी अनुभूति सभी समय कालादि मे नही होती। इस प्रकार इसकी अनुभूति नही होने का यही अथ है कि ज्ञान की अनुभूति (सविद् या अनुभूति) काल से मर्यादित नही है तो वस्तु की अनुभूति भी काल द्वारा बाधित नही हो सकती और इस प्रकार घट इत्यादि पदाथ भी स्वरूप से नित्य माने जाने योग्य हैं जो यथाथ मे सच नही है। इसी प्रकार का तक, अनुमान के ज्ञान के प्रकटीकरण के बारे म भी दिए जा सकते हैं। तक किया जा सकता है जबकि पदाथ का स्वरूप अनुभूति स्वरूप ही होना चाहिए जसाकि वह प्रकट करती हैं तो अगर ज्ञान या अनुभूति समय से मर्यादित नहीं है और नित्य है तो पदाथ भी नित्य होंगे। बिना पदाथ या विषय के ज्ञान नही हो सकता। ऐसा नही कहा जा सकता कि निद्रा, मदमत्तावस्था और मूर्च्छा मे बिना विषय के शुद्ध ज्ञान होता है। अगर शुद्ध अनुभव उस अवस्था मे होता है तो जगने पर उसकी स्मृति रहनी चाहिए, क्योंकि प्रलयावस्था एव शरीर अभाव की अवस्था को छोडकर, सभी अनुभवों की स्मृति रहती है। किंतु मूर्च्छा या निद्रा का क्या अनुभव है उसकी किसी को स्मृति नही रहती इससे यह पता चलता है कि उस समय कोई शुद्ध ज्ञान प्रकट नही होता न उसकी सत्ता ही है। रामानुज का कहने का अथ यह है—और जो आगे और स्पष्ट हो जाएगा कि मूर्च्छा और निद्रा मे हम आत्मा का साक्षात् अनुभव होता है और शुद्ध चित्त का

निर्विकार अनुभव नही होता। इस प्रकार ऐसी कोई अवस्था नही है जिसमे विना विपय के शुद्ध ज्ञान का अनुभव हो। इसलिए ऐसा तर्क नही किया जा सकता कि, क्योंकि ज्ञान अपनी अनुपस्थिति या अभाव की अवस्था को प्रकट नही कर सकता इसलिए, वह हमेशा वर्तमान ही है और उत्पन्न नही किया जा सकता, जबकि प्रत्येक ज्ञान अपने विषय से नित्य सम्बन्धित है और प्रत्येक पदार्थ या विषय समय की मर्यादा में है अत ज्ञान भी समय से मर्यादित है।

पुन यह तर्क कि ज्ञान या अनुभूति अनादि है (उत्पत्ति रूप नही है) इसलिए उसमे कोई परिणाम या भेद नही हो सकता, यह मिथ्या है। तर्क करने के लिए यह मान भी लिया जाय कि ज्ञान उत्पत्तिरहित है तो भी उसे आवश्यक रूप से परिणाम रहित क्या होना चाहिए ? प्रागभाव अनादि है किन्तु वह सान्त है। ठीक उसी प्रकार शकर मतवादियो की अविद्या है जो अनादि मानी गई है और भेद तथा परिणाम युक्त है जिसका प्रमाण जगत्-आभास की उत्पत्ति है। आत्मा भी, जो अनादि और अनन्त है वह भी देह और इन्द्रियो से जो उससे भिन्न हैं, सबधित है, जुडा हुआ है। आत्मा का अविद्या से भेद युक्त ज्ञान, ज्ञान का एक विशेषप्रकार है और इसे ही (इस भेद को)ही न माना जाय तो आत्मा का अविद्या से अभिन्न मानना पडेगा पुन यह कहना निरर्थक है कि शुद्ध चैतन्य चित् या संविद् शुद्ध अनुभवरूप है क्योकि अगर वह ऐसा है तो उसे आत्म प्रकाश, नित्य या एक कहने की भी क्या आवश्यकता है ? ये सब भिन्न गुण है औरय वस्तु के सगुण रूप का निर्दिष्ट करते हैं जिसमे ये पाए जाते हैं। यह कहना निरर्थक है कि शुद्ध चैतन्य निर्गुण है, क्योकि कम से कम उसमे निषेधात्मक गुण है जिसके फलस्वरूप वह भौतिक और अन्य आश्रित पदार्थों से पृथक किया जाता है जो शुद्ध चैतन्य से भिन्न हैं। पुन यदि इस शुद्ध चैतन्य का अस्तित्व सिद्ध किया जा चुका है तो यही इसका एक गुण होना चाहिए। परन्तु यह किसके लिए सिद्ध किया जाता है ? आत्मा जो जानता है उसी के लिए यह सिद्धि अर्थ रखनी चाहिए, और इस अवस्था मे विशेष लक्षण का आत्मा का अनुभव होना चाहिए। अगर ऐसा तर्क किया जाता है कि आत्मज्ञान और आत्मा दोनो एक ही है तो यह सब असम्भव दीखता है क्योकि ज्ञान ज्ञाता से भिन्न होता है, जो किसी विपय को प्रकट करता है। ज्ञाता अपने समस्त ज्ञान व्यापार मे नित्य होना चाहिए और इसी द्वारा स्मृति और प्रत्य भिज्ञा समझ में भी आ सकती है। विभिन्न वस्तुओ के सुख और दुख के अनुभव आते और जाते हैं किन्तु ज्ञाता हर अनुभव मे एक सा ही रहता है। तो फिर अनुभव और अनुभव कर्त्ता दोनो का तादात्मय कैसे किया जा सकता है ? 'मै जानता हूँ 'अभी मैं भूल गया हूँ इसी से हम यह जानते हैं हमारा ज्ञान आता और जाता है और ये अवस्थाएँ हम से भिन्न हैं। ज्ञान या चैतन्य का ज्ञाता या आत्मा से तादात्म्य कैसे हो सकता है ?

ऐसा माना गया है कि आत्मा और अहं या जिसे हम 'मैं' कहते हैं ये दोनों भिन्न हैं। जिसे हम 'मैं' कहते हैं इसमें दो भाग हैं एक तो स्वयं प्रकाश और स्वतन्त्र है जो शुद्ध चैतन्य है और दूसरा विषय रूप परतन्त्र प्रकाशहीन जिसे हम 'मेरा' कहते हैं, इसमें पहला अंश ही आत्मा है, जबकि दूसरा अंश पहले से सम्बन्ध रखता हुआ भी, इससे अत्यन्त भिन्न है और पहले के सम्बन्ध द्वारा ही इसका ज्ञान होता है और प्रकट भी किया जाता है। किन्तु इसे मान्य नहीं किया जा सकता। 'मैं' तत्व अविषयी है और आत्मा है और यही मेरे अनुभवों को दूसरों से पृथक करता है। मुक्ति में भी मैं इसी तत्व की मुक्ति चाहता हूँ जिसके लिए ही मैं प्रयत्न करता हूँ साधना करता हूँ। अविषयी, विषयरहित, शुद्ध चैतन्य के लिए मैं यह सब नहीं करता। अगर यह 'मैं' ही नष्ट हो जाता है तो केवल शुद्ध चैतन्य में किसे रस मिलता है चाहे वह मुक्त हो या न हो? अगर इस 'अहं' या आत्मा या 'मैं' से कोई सम्बन्ध नहीं है तो किसी भी प्रकार का ज्ञान होना अशक्य है। हम सब यह कहते हैं 'मैं जानता हूँ' 'मैं ज्ञाता हूँ' अगर अविषयी और व्यक्तिगत तत्व मिथ्या, प्रतिभास मात्र है तो फिर अनुभव का प्रयोजन या महत्व क्या रहता है? यही वह अहं है जो स्वप्रकाश है और किसी अन्य से प्रकाशित होने की अपेक्षा नहीं रखता। यह दीप जैसा है जो स्वप्रकाश होकर अन्य को भी प्रकाशित करता है। यह पूर्ण है और इसका ज्ञानात्मक स्वभाव ही स्वप्रकाश लक्षण है इसलिए स्वप्रकाश आत्मा ही ज्ञाता है और वह केवल प्रकाशात्मकता नहीं है। प्रकाश्यता जानना या ज्ञान का अर्थ यही है कि किसी को कुछ प्रकट हुआ और यह कहना निरर्थक ठहरता है कि आत्मा और ज्ञान एक ही हैं। पुनः ऐसा माना गया है कि आत्मा शुद्ध चैतन्य है क्योंकि यही शुद्ध चैतन्य ही केवल अजड़ है इसलिए चिद्रूप है। किन्तु इस अजड़ता का क्या अर्थ है? शंकर मतवादी कहते हैं कि यह वह तत्व है जिसकी सत्ता ही उसकी प्रकाश्यता है जिससे वह प्रकट होने को दूसरे पर आश्रित नहीं है। इसलिए सुख दुःख इत्यादि भी स्वप्रकाश्य हैं। दान का दर्द वर्तमान भी हो और उसका पता भी न चले ऐसा नहीं हो सकता, किन्तु माना ऐसा गया है कि सुख-दुःख प्रकट नहीं हो सकते जहाँ तक उसका भोगने वाला कोई ज्ञाता न हो। तो फिर ज्ञान के बारे में भी यही ठीक बैठता है। क्या चैतन्य (ज्ञान) अपने आपको अपने लिए प्रकट कर सकता है? कदापि नहीं ज्ञान, ज्ञाता, अहं या आत्म को ही प्रकट होता है? जिस प्रकार हम यह कहते हैं कि 'मैं सुखी हूँ' उसी प्रकार हम कहते हैं 'मैं जानता हूँ'। अगर शंकरदल की उपरोक्त यह अनुसार व्याख्या की जाती है तो इस प्रकार का अजड़त्व चैतन्य में भी नहीं है। अहं ही 'मैं' ही केवल अपनी सत्ता द्वारा अपने आपको प्रकट करता है इसलिए वह आत्मा ही होना चाहिए और शुद्ध चैतन्य नहीं जो सुख और दुःख की तरह अपने आपको प्रकट होने के लिए स्वप्रकाशता पर आश्रित है। पुनः ऐसा कहा जाता है कि यद्यपि अनुभूति स्वयं विषय रहित है तो भी भूल से वह ज्ञाता दीखती है,

जैसे कि सीप में रजत का भ्रम होता है। किन्तु रामानुज आग्रह करते हैं कि ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि अगर ऐसा भ्रम होता तो लोगों को यह रजत है इस प्रकार *'मैं चैतन्य हूं' ऐसा अनुभव होता। कोई भी ऐसी भूल नहीं करता, क्योंकि हम* दोनों को पृथक् करते हैं और अपने को ज्ञान से भिन्न अनुभव करते हैं जैसे कि 'मैं' अनुभव करता हूँ। (अहं अनुभवामि)।

ऐसा तर्क किया गया है कि आत्मा अपरिणामी होने से ज्ञान-व्यापार का कारक और ज्ञाता नहीं हो सकता और इसलिए ज्ञातृ भाव केवल अहंकार का ही धर्म है जो *परिणामी प्रकृति का विकार है। यह अहंकार अन्तःकरण है* और इसे ही ज्ञाता कहा जा सकता है क्योंकि ज्ञान-व्यापार का कारक, वस्तुनिष्ट और साश्रय गुणयुक्त है इसलिए वह आत्मा का गुण नहीं हो सकता। अगर आत्मा में अहं भावना तथा ज्ञातृत्व के गुण के निक्षेप की सम्भावना होती तो आत्मा देह की तरह जड़ और पराश्रित सत्तायुक्त हो जाता क्योंकि इस तरह वह स्वप्रकाशहीन हो जाता है। रामानुज इन आक्षेपों के उत्तर में कहते हैं कि अगर अहंकार शब्द का अन्तः-*करण के अर्थ में उपयोग किया जाता है तो उसमें देह के सभी जड़त्व के गुण आ जाते* हैं और उसे ज्ञाता कभी भी नहीं कहा जा सकता। ज्ञातृत्व परिणामी गुण नहीं है (विक्रियात्मक), क्योंकि इसका अर्थ केवल यह होता है कि उसमें ज्ञान करने का गुण है (ज्ञान गुणाश्रय) और ज्ञान, क्योंकि नित्य आत्मा का नैसर्गिक गुण है इसलिए वह भी नित्य है। यद्यपि आत्मा ज्ञान स्वरूप है तो भी जैसे प्रकाश तत्व, प्रकाश और रश्मि, दोनों रूप से सत्ता रखता है इसी प्रकार आत्मा भी ज्ञान या चैतन्य रूप से और *गुणाश्रय रूप से सत्ता रख सकता है (मणि प्रभृतीनाम् प्रभाश्रयत्वम् इव ज्ञाना*श्रयत्वमपि अविरुद्धम्)। ज्ञान स्वरूप से अमर्यादित एवं अपरिच्छिन्न है (स्वयं अपरिच्छिन्नम् एव ज्ञानम्) तो भी वह संकोच और विकास कर सकता है (संकोच विकाशार्हम्) देहाश्रित आत्मा में कर्म के प्रभाव से वह संकुचित रूप से है (संकुचित स्वरूपम्) तो भी उसमें उत्तरोत्तर विकसित होने की शक्ति है। व्यक्ति के सम्बन्ध में इसे यों कहा जाता है कि उसमें इन्द्रियों के प्रतिबन्ध के अनुसार ज्ञान न्यून या अधिक *है।*[1] *इसी वजह से हम ज्ञान का उदय और ज्ञान का अन्त कहते हैं।* जब ज्ञान का उदय होता है तब हम उसे ज्ञाता कह सकते हैं। इस प्रकार यह मान्य होता है कि ज्ञातृ भाव या ज्ञातृत्व शक्ति आत्मा में निसर्गतः नहीं है, किन्तु कर्म में है, इसलिए यद्यपि आत्मा स्वयं ज्ञाता है किन्तु वह चैतन्य की दृष्टि से अपरिणामी है। किन्तु यह तो कभी भी स्वीकारा नहीं जा सकता कि जड़ अहंकार चित्त के सम्पर्क से ज्ञाता बन जाता है क्योंकि चित् स्वरूप से ज्ञाता नहीं माना जा सकता। अहंकार भी ज्ञाता

---

[1] श्री भाष्य, पृ० ४५।

नहीं है और ज्ञाता को इस दृष्टि से समझाया नहीं जा सकता। यह कहना निरर्थक है कि चित्त का प्रकाश जड अहंकार पर सानिध्य की वजह से पडता है क्योंकि अदृश्य चित्त जड अहंकार को किस प्रकार प्रकाश दे सकता है।

निद्रा म भी आत्मा का अनुभव 'म' के रूप मे रहता है क्योंकि जगने पर हमे अनुभव होता है कि 'म सुख पूर्वक सोया। इससे यह पता चलता है कि निद्रा मे मैं को अपना ज्ञान रहता है और वह सुख का अनुभव करता है। यह भी मान लिया गया है कि निद्रा से पहले और निद्रा मे और उसके बाद भी 'म' की निरन्तरता रहती है क्योंकि 'म को निद्रा के पहले का हाल याद रहता है। हमे यह भी ज्ञान होता है कि निद्रा म मुझे किसी का ज्ञान नहीं था इस तथ्य से यह अर्थ नहीं होता कि मुझे कुछ भी ज्ञान नहीं था। इसका अर्थ है कि मैं' को उन विषयों और पदार्थों का ज्ञान नहीं था जो उसे जागने पर होता है। 'मैं का निद्रा मे ज्ञान था इसम लेशमात्र भी सन्देह नहीं है क्योंकि शंकर मतवादी भी कहेंगे कि निद्रा म आत्मा को अज्ञान का साक्षी रूप से ज्ञान है और कोई भी ज्ञाता हुए बिना साक्षी रूप से ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता। इस प्रकार निद्रा के बाद जब कोई कहता है कि 'मैं इतना अच्छा सोया कि मैंने अपने को भी नहीं जाना यह कहने का मतलब यह नहीं होता है कि उसने अपने जाति, कुटुम्ब इत्यादि विशेष गुणों सहित नहीं जाना, जैसाकि वह जागने पर जानता है। इससे यह अर्थ नहीं निकलता है कि उसे किसी भी प्रकार का ज्ञान नहीं था। मुक्ति के बाद भी 'अहमर्थ तत्व बाकी रहता है। क्योंकि वह आत्मा को निर्देश करता है। अगर मुक्ति म मुक्तावस्था को जानने वाला ही कोई नहीं है, तो वह कौन है जो मुक्त हुआ है और फिर ऐसी मुक्ति का प्रयास कौन करता है? अपने आपका प्रकट होना आत्म चैतन्य है और वह 'म' जो जानता है उसे अवश्य ही अनुमित करता है इसलिए म यह प्रत्यय आत्मा का स्वरूप से निर्देश करता है जोकि अनुभव और ज्ञान करता है। किन्तु अहमर्थ प्रत्यय का जड चित्त तत्व या अन्तःकरण से पृथक करना चाहिए जो प्रकृति का एक विकार है और जो अभिमान की मिथ्या भावना हैं और जिसे हमेशा बुरा माना है यह बडो के प्रति अपमान जताता है यह अविद्यागत ह।

इस सम्बन्ध म रामानुज विवाद का दूसरा प्रश्न खडा करते हैं जो वे अपने इस आशय को सिद्ध करने के लिए देते हैं कि ऐसी कोई सत्ता नहीं है जो नितान्त निर्गुण हो। शंकराचार्य का यह कहना कि श्रुति न पर्याप्त प्रमाण दिए है जिससे हमे यह मानना पडता ह कि सत्ता निर्गुण है और हमे इन प्रमाणों को श्रेष्ठ और अकाट्य मानना चाहिए, रामानुज इसका खण्डन करते है। शंकर ने कहा ह कि प्रत्यक्ष से श्रुति प्रमाण श्रेष्ठ ह। किन्तु श्रुति अनेकत्व की मान्यता पर खडी ह और

जिसके बिना भाषा प्रयोग अशक्य है। इसलिए ये प्रमाण मिथ्या है। श्रुति को इसलिए श्रेष्ठ माना ह कि व यह सिद्धा त प्रतिपादन करती हैं कि नानात्व और भेद मिथ्या हैं और सत्ता नितान्त निगु रग और भेद रहित है किन्तु जबकि श्रुति का अर्थ एव अभिव्यक्ति ही भेद पर आश्रित है तो फिर श्रुति का कहना किस प्रकार सत्य हो सकता है ? पुन जबकि व प्रत्यक्ष की तरह नानात्व पर आधारित हाने स मिथ्या है तो फिर उन्हे प्रत्यक्ष से श्रेष्ठ कैसे माना जाएगा ? जबकि श्रुति ही मिथ्या पर आधारित हैं तो फिर जो ये श्रुतियाँ कहती हैं वह भी मिथ्या है, यद्यपि वे प्रत्यक्ष द्वारा विरोधी प्रमाणित न भी किया गया हो। अगर किसी व्यक्ति का जिसका किसी भी अन्य मनुष्य से कुछ भी सम्पर्क नही है उसे नेत्र रोग हो जाए जिससे वह दूर स्थित वस्तुओ का दोहरा देखता है तो उसका आकाश मे दो च द्र देखना भी मिथ्या ही होगा, चाहे फिर यह अनुभव, स्वय उसके अथवा दूसरो के अनुभवो द्वारा कभी भी खण्डित हो। अत यदि दोष है तो इस दोष द्वारा प्रसूत ज्ञान भी मिथ्या ही है। इसलिए यह तर्क किया जा सकता है कि जब ब्रह्मन् जोकि ज्ञान का विषय है, यदि अविद्या से ग्रस्त है, तब वह भी मिथ्या है और जगत् भी मिथ्या है इसलिए अविद्या ही जब मिथ्या है तो, अविद्या के व्यक्त रूप शास्त्र द्वारा कहा गया ब्रह्म भी मिथ्या ही होगा और कोई भी इस प्रकार तर्क कर सकता है, क्योंकि ब्रह्म, अविद्या दूषित साधन द्वारा उत्पन्न ज्ञान का विषय है इसलिए मिथ्या है जिस प्रकार कि जगत् मिथ्या है, (ब्रह्म मिथ्याविद्याद्युत्पन्न ज्ञान विषयत्वात् प्रपचत्वात्)। ऐसे तर्कों की कल्पना करते हुए शकर इस प्रकार परिहार करने का प्रयत्न करते हैं मिथ्या स्वप्न भी अच्छी या बुरी घटना की आगाही दे सकते हैं अथवा साप का मिथ्या भ्रम भी सच्ची मृत्यु ला सकता है। रामानुज इसका यो उत्तर देते हैं स्वप्न मिथ्या है यह कहने का अर्थ यह है कि उनमे जो कुछ ज्ञान है उसके अनुरूप वास्तव मे कोई भी विषय नही है, इस तरह भ्रम म भी ज्ञान का अश है और ऐसे ज्ञान से सच्चा भय पैदा होता है यद्यपि बाह्य जगत् मे ज्ञान के अनुरूप कोई भी विषय नही होता। इस प्रकार ऐसे उदाहरणो म भी सच्चाई या सच्ची वस्तु या घटना का निवेदन मिथ्या नही होता किन्तु सच्चे ज्ञान द्वारा होता है क्योंकि ऐसी कोई भी शका नही करता कि उसे स्वप्न या भ्रम म ज्ञान नही हुआ। स्वप्न मे ज्ञान हुआ था इस तथ्य को अगर माना जाता है तो स्वप्न सत्य है इसलिए यह कहना नितान्त निरर्थक है कि स्वप्न मे मिथ्यात्व से, सच्ची घटना की आगाही होती है।

इस तरह किसी भी दृष्टिकोण से तर्क किया जाय, तो पता चलेगा कि ब्रह्म निगु रग और भेद रहित है ऐसा सिद्ध करना अशक्य है चाहे फिर वह सत्ता शुद्ध सत् हो, या सत् चित् और आन द की इकाई हो या शुद्ध अनुभूति हो। ऐसा विवाद, शास्त्र की प्रमाणता को ऐसा कुचल देगा कि उसके आधार पर कुछ भी सिद्ध नही

किया जा सकता और प्रत्यक्ष से शास्त्र की श्रेष्ठता की योग्यता भी स्थापित नहीं की जा सकती। किन्तु शास्त्र भी निगुण और निर्विकार सत्ता को प्रतिपादन नहीं करते। क्योंकि शास्त्र क पाठ, जो ब्रह्म को शुद्ध सत् (छा० ६ २ १) या परात्पर मानते हैं (मुंड० १ १ ५) या जब ब्रह्म का, ज्ञान या सत्य से तादात्म्य प्रतिपादित है (तैत० २ १ १) तो ये सब निगुण ब्रह्म को लक्ष्य नहीं करते किन्तु वे उस ब्रह्म को लक्ष्य करते हैं ऐसा साबित किया जा सकता है-जिसमें सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमता सर्व-व्यापकता नित्यता इत्यादि गुण है। गुणो के निषेध का अर्थ हेय गुणो से सम्बन्ध रखता है (हेय गुणान् प्रतिषिद्ध्य)। जब ब्रह्म को शास्त्रो ने एक कहा है इसका अर्थ यही है कि जगत् का कोई और दूसरा प्रतिस्पर्धी कारण नहीं हैं। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं होता कि उसकी इकाई इतनी उत्कट है कि उसमे कोई भी गुण नहीं हैं। जहाँ कही भी जब ब्रह्म का ज्ञान स्वरूप कहा है तो अर्थ यह नहीं निकलता है कि यह ज्ञान स्वरूपता निगुण और निर्विकार है, क्योंकि ज्ञाता भी ज्ञान स्वरूप है और ज्ञान स्वरूप होने के कारण वह ज्ञानवान् भी कहा जा सकता है, जिस प्रकार कि दीप जो प्रकाश स्वरूप है वह प्रकाश रश्मिवान् कहा जा सकता है।[1]

शंकराचार्य की अविद्या का खण्डन

शंकर ऐसा कहते हैं कि स्वप्रकाश, भेदरहित सत्ता दोष के प्रभाव से नानात्व के रूप में दीखती है। अविद्या रूपी यह दोष, अपना स्वरूप छिपाता है और नाना रूप प्रकट करता है जो सत् या असत् दोनो नहीं कहे जा सकते इसे सत् इसलिए नहीं कह सकते क्योंकि तब भ्रम और उसका मिथ्या अनुभव होना समझाया नहीं जा सकता, और वह असत् भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि तब हम ससार प्रपंच और उसका मिथ्यात्व नहीं समझ सकते।

रामानुज, अविद्या का खण्डन करते हुए कहते हैं कि अविद्या असम्भव है क्योंकि अविद्या का कोई आश्रय होना आवश्यक है और वह आश्रय स्पष्ट रूप से जीव नहीं हो सकता, क्योंकि वह स्वयं अविद्या से उत्पन्न है। ब्रह्म भी अविद्या का आश्रय नहीं हो सकता क्योंकि वह स्वप्रकाश चैतन्य है इसलिए अविद्या का विरोधी है और अविद्या सत्यज्ञान के प्रकाश के होते ही भ्रम रूप से जानी जाती है। ऐसा भी तर्क नहीं किया जा सकता कि ब्रह्म शुद्ध ज्ञान स्वरूप है, यह ज्ञान ही अविद्या को नाश करता

---

[1] ज्ञान स्वरूपस्यैव तस्य ज्ञानाश्रयत्व मणि द्युमणि प्रदीपादिवदिति उक्तम् एव। श्री भाष्य, पृ० ६१। उपरोक्त विचार श्रीभाष्य म महापूर्वपक्ष तथा 'महासिद्धांत' म प्रकट किए गए हैं। श्रीभाष्य पृ० १०।

है, न कि यह ज्ञान की शुद्ध ज्ञान ब्रह्म का सरभाग है क्योंकि ब्रह्म की ज्ञान स्वरूपता और ब्रह्म का अविद्या नाशक ज्ञान, इन दोनो मे कोई भेद नही है। ब्रह्म शुद्ध ज्ञान स्वरूप है। इस ज्ञान से जो ब्रह्म का लक्षण प्रकट होता है वह उसकी स्वप्रकाशता मे विद्यमान ही है जो अविद्या का आवश्यक रूप से नाश करता है।[1] पुन शकर के मतानुसार, ब्रह्म, अनुभूति स्वरूप होने के कारण किसी अन्य ज्ञान का विषय नही हो सकता और इसलिए ब्रह्म को अन्य किसी प्रत्यय का विषय भी नही होना चाहिए। अगर ज्ञान का, अविद्या या अज्ञान से विरोध करना है तो फिर उसे अपने स्वरूप से वैसा ही होना चाहिए जैसा वह है, और इस प्रकार ब्रह्म, शुद्ध ज्ञान स्वरूप होने से अविद्या से उसका विरोध होना चाहिए। पुन ऐसा कहना कि ब्रह्म जो स्वरूप से स्वप्रकाश है वह अविद्या से ढका गया है तो इससे ब्रह्म के स्वरूप का ही नाश हो जाता है, क्योंकि ऐसी अवस्था मे स्वप्रकाशता कभी उत्पन्न ही नही हो सकती, स्वप्रकाशता का ढक जाना यही अर्थ रखता है कि वह नष्ट हो जाती है। क्योंकि ब्रह्म स्वप्रकाश स्वरूप होने के सिवाय अन्य कुछ नही है। पुन , अगर यह निर्विषय, शुद्ध स्वप्रकाश अनुभूति ही, अविद्या दोष द्वारा नानात्व रूप धारण करती है जिसे वह आश्रय देती है, तो यह प्रश्न किया जा सकता है कि यह दोष सत् है या असत्। अगर यह सत् है तो अद्वैतवाद नष्ट होता है और यह असत् है तो, प्रश्न यह उठता है कि यह असत् दोष किस प्रकार उत्पन्न होता है? अगर यह किसी अन्य दोष से उत्पन्न है तो उसके भी असत् होने के कारण, वही प्रश्न फिर उठता है, और इस प्रकार अनवस्था दोष आ जाता है। अगर ऐसा माना जाता है कि अधिष्ठान न होते हुए भी, एक असत् दोष दूसरे असत् दोष का कारण हो सकता है और इस प्रकार अनादि शृंखला चलती है तो हम शून्यवाद मे पड जाते हैं (माध्यमिक पक्ष या शून्यवाद)।[2] अगर

---

[1] सुदर्शन सूरि यहाँ कहते है कि, यदि स्वरूप दृष्टि तथा अविद्यानाशक दृष्टि से ब्रह्म मे ऐसा भेद है तो अर्थ यह होगा कि ब्रह्म का एक रूप दूसरे से भिन्न है या दूसरे शब्दो मे ब्रह्म सगुण है। श्रुत प्रकाशिका पंडित सस्करण बनारस, ग्र० स० ६, —पृ० ६५८।

[2] सुदर्शन सूरि यहाँ सूचन करते हैं कि शकर मतानुयायी यहाँ अनवस्था दोष को तीन प्रकार से बचाने की कोशिश करते हैं। पहला, जो अविद्या का जीव से सम्बन्ध मानते हैं (जीवाज्ञानवादी), वे इसे बीजाकुर न्याय द्वारा समझाते हैं, जो सहित अनवस्था नही है, क्योंकि उनके मतानुसार जीव अविद्या से और अविद्या जीव से उत्पन्न है (अविद्यायाम् जीव जीवादविद्या), जो अविद्या का ब्रह्म से सम्बन्ध मानते हैं (ब्रह्माज्ञानवादी) वे कहते हैं कि अविद्या स्वरूप से अनादि है इसलिए उसकी प्रकृति की अकारणता और असगति अचम्भे का कारण नही होना चाहिए। जीव के अनादि प्रवाह मे अविद्या भी अनादि है। इस मत का और

इन ग्राक्षेपों से बचने के लिए ऐसा माना जाता है कि दोष, ब्रह्म या अनुभूति का ही स्वरूप है तो ब्रह्म नित्य होने के कारण दोष भी नित्य होंगे और मुक्ति तथा जगत् प्रपंच का नाश कभी शक्य नहीं होगा। पुनः इस अविद्या को अनिर्वचनीय कहा है, क्योंकि वह सत् असत् विलक्षण है। परन्तु यह कैसे हो सकता है? वस्तु सत् या असत् ही हो सकती है। कोई वस्तु सत् और असत् दोनों ही और न भी हो यह कैसे हो सकता है?

अज्ञान एक भाव पदार्थ है और मैं अज्ञानी हूँ 'मैं अपने को और दूसरों को नहीं जानता' इत्यादि अनुभवों द्वारा अज्ञान प्रत्यक्ष गोचर होता है इस कथन के समर्थन में शंकर मतवादी जो तर्क देते हैं उनका निर्देश करते हुए रामानुज कहते हैं कि ये प्रत्यक्ष अनुभव के लक्ष्य विषय के ज्ञान के अभाव से हैं, जो अनुभव से पूर्व विद्यमान था (प्राग् भाव)। रामानुज तर्क करते हैं कि अविद्या किसी विशेष तथा असंदिग्ध विषय का निर्देश नहीं कर सकती क्योंकि अगर वह ऐसा करती है तो उस विषय का ज्ञान हो जायगा और अज्ञान को स्थान न रहेगा, और अज्ञान किसी विशेष विषय को निर्देश नहीं करता तो अज्ञान आप ही अकेला बिना आधार के कैसे अनुभव में आएगा? अगर ऐसा कहा जाता है कि अज्ञान का अर्थ यहाँ अविशद स्वरूप ज्ञान है तो भी यह कहा जा सकता कि इसे संदिग्ध ज्ञान के उदय का अभाव मानना

जीव ज्ञानवादियों के मतानुसार जीव और अविद्या का जो सम्बन्ध (इस मत का) खण्डन करने के लिए अज्ञान ब्रह्म में ही है यह मत ही पर्याप्त है। क्योंकि उन्होंने कहा है कि उपरोक्त मत, जीव अनादि है यह सर्वसाधारण द्वारा मान्य मत का विरोध करता है क्योंकि इस मतानुसार जीव अविद्या से और अविद्या से जीव की उत्पत्ति है। दूसरा मत भ्रम की शृंखला स्वतः ही अनादि शृंखला है यह उससे अधिक अच्छी नहीं है क्योंकि, अगर एक भ्रम दूसरे भ्रम का कारण, अनादि शृंखला की तरह है तो यह मत शून्यवाद से लगभग एकसा उतरता है। तदुपरांत, अगर भ्रम को स्वभावतः ही अनादि मान लिया जाता है तब भी हमें मूलकारण ढूंढना पड़ेगा जिसमें से यह भ्रम की शृंखला उत्पन्न हुई (मूल दोषापेक्षा), इस प्रकार यहाँ भी दोषपूर्ण अनवस्था प्राप्त होती है। अगर मूल दोष की मांग न की जाय तो फिर हमें मूल दोष रूप में अविद्या ही है इसे मानने की आवश्यकता नहीं रहती। अगर ऐसा माना जाता है कि अविद्या स्वरूपतः न्याय विसंगत है तो वह मुक्त जीवों को और ब्रह्म को क्या प्रभावित नहीं करती? अगर उत्तर ऐसा दिया जाता है कि मुक्त जीव और ब्रह्म शुद्ध होने से अविद्या इन्हें प्रभावित नहीं करती तो इसका अर्थ यह होगा कि अविद्या न्याययुक्त है संगतिपूर्ण है न्याय विरोधी नहीं है।

—श्रुत प्रकाशिका, ग्र० १, पृ० ६३६–६५।

चाहिए। इस प्रकार भाव रूप अज्ञान को मान लिया जाय तो भी उसका अपने से किसी अन्य का सम्बन्ध होना आवश्यक है जिसे वह निर्देश करता है। अज्ञान को ज्ञान के अभाव के रूप में या ज्ञान से कोई अन्य पदार्थ के रूप में या ज्ञान के विरोधी रूप में, कोई किसी भी दृष्टि से समझाना चाहे यह तब ही शक्य होता है कि जब हम उसे उस विषय के ज्ञान के रूप में समझें, जिसका वह विरोधी है। अंधकार को भी प्रकाश का विरोधी मानना ही पड़ेगा, इसलिए अंधकार को समझने के लिए प्रकाश का ज्ञान होना आवश्यक है, क्योंकि वह उसका विरोधी है। किन्तु शंकर मतवादियों का अज्ञान अपने आप खड़ा नहीं रह सकता इसलिए उसे उस विषय का निर्देश करना होगा कि जो अज्ञात है इसलिए उपरोक्त अनुभवों में, जैसे कि मैं अज्ञ हूँ मैंने अपने आप तथा अन्य को नहीं जाना हम यह मानना पड़ेगा कि इस अवस्था में हमें ज्ञान के उदय के अभाव का अनुभव है न कि कोई भाव रूप अज्ञान का क्योंकि भावरूप अज्ञान भी, उद्देश्य और विधेय के सापेक्ष है, ज्ञान के अभाव से इसकी स्थिति अधिक न्याययुक्त नहीं है। इसके अतिरिक्त, ब्रह्म जो कि सर्वदा स्वतन्त्र और नित्य शुद्ध स्वप्रकाश स्वरूप है उसे अविद्या का अनुभव कभी भी नहीं हो सकता। अज्ञान, ब्रह्म का आवरण नहीं कर सकता, क्योंकि ब्रह्म शुद्ध चैतन्य है केवल वही है। अगर ब्रह्म अज्ञान को देख सकता है तो वह जगत् प्रपंच को भी देख सकता है अगर अज्ञान ब्रह्म को आवृत करके ही ब्रह्म को दिखाई देता है तो ऐसा अज्ञान सत्य ज्ञान द्वारा नष्ट नहीं किया जा सकता, क्योंकि उसमें ज्ञान को आवृत करने की शक्ति है और उसके द्वारा प्रभावित करने की शक्ति है। आगे, यह भी नहीं कहा जा सकता कि अविद्या ब्रह्म को अंश रूप से ही आवृत करती है क्योंकि ब्रह्म निष्कल है। इसलिए उपरोक्त अनुभव 'मैंने कुछ नहीं जाना' स्मृति रूप से जो जाग्रत अवस्था में होता है और जो गाढ निद्रा में अनुभव का लक्ष्य करता है वह गाढ निद्रा में किए साक्षात् अज्ञान या अविद्या के अनुभव की स्मृति नहीं है, किन्तु यह जाग्रत अवस्था में किया हुआ अनुमान है कि सुषुप्ति में स्मृति न होने से हमें कुछ भी ज्ञान नहीं हुआ।[1] अज्ञान की सत्ता को सिद्ध करने के लिए अनुमान भी उपयोगी नहीं है, क्योंकि ऐसा तर्क केवल दोषपूर्ण ही नहीं होता किन्तु उसके अनुरूप कोई योग्य दृष्टांत भी ढूँढा नहीं जा सकता जो वास्तविक घटना के आधार पर तर्क की माँग को संतुष्ट कर सके। तदुपरान्त, और भी कई अनुमान सरलता से दिए जा सकते हैं जो अज्ञान के बारे में शंकर मतावादियों की मान्यता का खण्डन कर सकते हैं।[2]

---

[1] अतो न किंचित् अवेदिषम् इतिज्ञानम् न स्मरणम् किन्तु अस्मरणलिंगकम् ज्ञानाभाव-विषयम् अनुमितिरूपम्। श्रुत प्रकाशिका, पृ० १७८ (निर्णयसागर १९१६)।

[2] श्रुत प्रकाशिका पृ० १७८–१८०।

रामानुज का भ्रम विषय मे मत—समस्त ज्ञान सत्य है

रामानुज कहते है कि समस्त प्रकार के भ्रम सक्षेप मे इस प्रकार वर्णन किए जा सकते हैं कि भ्रम म एक वस्तु जो है उससे कुछ और प्रतीत होती है (अन्यस्य अन्यथावभास)। यह मानना न्याय विरुद्ध है कि अनुभव म भ्रम से जो देखा गया है उसका कोई भी कारण नही है या भ्रम सवथा अगोचर है या सवथा अज्ञात है (अत्यन्तापरिदृष्टाकारणकवस्तु कल्पना योगात्)। अगर भ्रम के अनुभव के (अथ) विषय मे इस प्रकार *अत्यन्त असम्भव सी कल्पना की जाती है तो वह अनिवचनीय* अवश्य ही होगा किन्तु भ्रम का कोई भी विषय अनिवचनीय नही है। वह तो सत्य ही दीखता है। अगर वह अनिवचनीय वस्तु जसा दीखता है तो भ्रम और उसका निवारण भी शक्य नही होता। इसलिए यह मानना पडता है कि प्रत्येक भ्रम मे (जसकि रजत् और सीप) एक वस्तु (सीप) दूसरे रूप मे दीखती है (रजत्)। भ्रम के प्रत्येक मत म चाहे फिर उसमे मिथ्यात्व का कितना भी अश विद्यमान हो हमे मानना पडेगा कि एक वस्तु दूसर रूप म दीखती है। वे कहते हैं कि शकर मत-वादियो का विरोध करते हुए, यह पूछा जा सकता है कि, यह अनिवचनीय रजत् कहाँ से उत्पन्न होता है? भ्रमपूर्ण अनुभव इसका कारण नही हो सकता, क्योकि प्रत्यक्ष अनुभव अनिवचनीय रजत् उत्पन्न होने पर ही होता है, वह कारण होने से इसके पहले विद्यमान नही हो सकता। भ्रम हमारी इन्द्रियो के दोष से भी उत्पन्न नही हो सकता, क्योकि ये दोष व्यक्ति से सम्बन्धित है इसलिए ये विषय के गुणो पर असर नही कर सकते। इसके अतिरिक्त अगर यह अनिवचनीय और अवर्णनीय है तो फिर वह रजत् के रूप में किसी विशेष परिस्थिति और असदिग्ध रूप से क्यो दिखाई देता है? अगर ऐसा कहा जाता है कि इसका कारण रजत और सीप का साम्य है तो फिर पूछा जा सकता है कि यह साम्य सत् है या असत्? यह सत् नही हो सकता क्योकि विषय भ्रम रूप है और वह असत् भी नही हो सकता क्योकि वह किसी वास्त विक पदाथ को निर्देश करता है (दूकान मे रहे रजत को)। इस प्रकार भ्रम का यह मत अनेको आक्षेपो का ग्रास बनता है।

रामानुज, भ्रम के अन्यथा ख्यातिवाद की ओर झुकते है ऐसा दीखता है और वे कहते हैं कि भ्रम के ज्ञान के अन्तगत ज्ञान के बोध का या ऐसे ज्ञान से सूचित व्यवहार की विफलता का कोई समझौता नहीं होगा, जबतक हम अन्ततोगत्वा यह न माने कि मिथ्यात्व या मूल एक वस्तु का दूसरे रूप मे दीखना है। वे ऐसा भी कहते है कि भ्रम के अन्य वादो को (सम्भवत यथाथ ख्याति को छोडकर जैसाकि श्रुतप्रकाशिका की टीका स सूचित होता है—यथाथ ख्याति यतिरिक्तपक्षेषु अन्यथा ख्याति पक्ष प्रबल) मिथ्यात्व का विश्लेषण इसी प्रकार स्वीकारना होगा कि

वह एक पदार्थ का भ्रम से दूसरा दीखना है (रयात्य तराणाम् तु सुदूरम् अपि गत्वा अ यथावभास आश्रयणीय ।। रामानुज भाष्य)। रामानुज, आगे यह भी बताते हैं, कि अख्यातिवाद भी (अर्थात् सीप म 'इद और रजत' की स्मृति के भेद की अनुपलब्धि से उत्पन्न भ्रम) अ यथाख्याति का ही एक प्रकार है क्योंकि यहा पर भी अन्त मे यही मानना पडता है कि दो लक्षणा या विचारा के बीच भ्रम से तादात्म्य किया गया है। वेंकटनाथ याय परिशुद्धि मे, इसी विषय पर टीका करते हुए कहते हैं एक वस्तु का दूसरे रूप से दीखना भ्रम का अनिवार्य कारण है, किन्तु भेद की अनुपलब्धि को, भ्रम से तादात्म्य करने की समस्त घटनाओ का अनिवार्य कारण मानना पडेगा। इसलिए इसमे सरलता (लाघव) है, तो भी अन्यथा ख्यातिवाद, भ्रम का योग्य और सत्य वर्णन करता है और भी भ्रम सिद्धात भ्रम का यथार्थ वर्णन करने वाले इसे माने बिना चल नहीं सकता। इस तरह वेंकटनाथ कहते है कि रामानुज भ्रम के अन्यथा ख्यातिवाद से सहमत होते हुए भी अख्यातिवाद की उत्कृष्ट सरलता को मा यता प्रदान करते हैं क्योंकि वह समस्त प्रकार के भ्रमा की अनिवार्य दशा है।

यद्यपि जोकि रामानुज स्वय भ्रम के अन्यथा ख्यातिवाद को पसन्द करते है तो भी वे यथार्थख्यातिवाद मत की अवज्ञा नही कर सके जो बोधायन नाथमुनि और वरद विष्णु मिश्र इत्यादि जस ज्येष्ठ अनुयायी और प्रतिष्ठापको ने माना था और जिनकी उन्होने टीका की थी। इस प्रकार, रामानुज के सामने दो वाद उपस्थित थे, एक तो वह जो वे स्वय मानते थे और दूसरा जो उनके ज्येष्ठ अनुयायियो ने माना था। सौभाग्यवश, उनके अ यथा ख्यातिवाद की भूमिका मनोवैज्ञानिक थी और यथार्थ ख्यातिवाद की भूमिका सत्ता मीमासा परक थी, जिससे एक वाद को मनो वैज्ञानिक दृष्टि से और दूसरे को सत्ता मीमासा की दृष्टि से स्वीकारना शक्य था। रामानुज इसलिए यथार्थ ख्यातिवाद का एक विकल्प के रूप म प्रतिपादन करते हैं। वेंकटनाथ कहते हैं कि यथार्थख्यातिवाद श्रुति प्रमाण के आधार पर ही प्रतिपादन किया जा सकता है, अनुभव के आधार पर एव दार्शनिक वाद की तरह उसका समर्थन नही किया जा सकता और इसलिए यह भ्रम का वैज्ञानिक मत नही कहा जा सकता। हम इन दोनो अन्यथा ख्याति क और अख्याति म से किसी एक के प्रति अपनी स्वीकृति देने का चुनाव कर लेना चाहिए।

रामानुज, अपने गुरुजनो द्वारा मा य यथार्थ ख्याति स, जिसे वे 'वेदविदा मतम्' कहते हैं पृथक करते हुए अपने मत को कई पदो द्वारा प्रतिपादन करते हैं और कहते हैं कि वे श्रुति के आधार पर ऐसा समझते हैं कि भौतिक जगत् अग्नि, अप और पृथ्वी इन तीन तत्वो के मिश्रण से बना है, इसलिए प्रत्येक पदार्थ मे ये तीन तत्त्व विद्यमान हैं। जब किसी पदार्थ मे कोई एक तत्व प्रधान होता है तब उस पदार्थ म उस तत्व के गुण अधिकाश रूप से प्रधान होते हैं और वह उन गुणो वाला कहा जाता है यद्यपि उसम अन्य तत्वो के गुण रहते हैं। इस प्रकार शुद्ध माना म ऐसा कहा जा सकता है

कि सभी पदार्थ सब पदार्थों मे विद्यमान हैं। सीप मे तेज या रजत के गुण है इस वजह से यह रजत से एक दृष्टि से मिलता जुलता भी कहा जा सकता है। भ्रम मे ऐसा होता है कि इन्द्रिय दोष इत्यादि से सीप म रहे गुण जो अन्य तत्व का प्रतिनिधित्व करते है उन्हे नही देखा जाता है इसलिए प्रत्यक्ष, उन्हा गुणा का ग्रहण करता है जो रजत के हैं और जो सीप म विद्यमान हैं और सीप इस प्रकार, रजत रूप देखी जाती है। इस प्रकार सीप म रजत का ज्ञान न मिथ्या है, न असत् है, किन्तु सत् है और वह वास्तविक पदार्थ को निर्देश करता है जो सीप म रजत अंश है[1] भ्रम क इस वाद की दृष्टि से, समस्त ज्ञान किसी यथार्थ विषय या पदार्थ को निर्देश करता है।[2] प्रभाकर के वाद मे और इसम भेद यह है—प्रभाकर जबकि भ्रम के कारण को वर्तमान म चमकने सीप का अनुभव और दुकान म रहे रजत की स्मृति के भेद की अनुपलब्धि रूप निषेधात्मक दशा को मानकर ही सतुष्ट हैं और कहते हैं कि ज्ञान स्मृति या प्रत्यक्ष रूप, दोनो रूप से सत्य है और भ्रम इन दोनो के भेद को न जानने से है रामानुज अधिक मौलिक हैं क्योंकि वे बताते हैं कि सीप म रजत देखने का कारण सीप म रजत अंश का सचमुच देखना और इन्द्रियादि दोष के कारण विषय म विद्यमान—उन अंशो की अनुपलब्धि है जो उस भेद को बता सकते थे। इस तरह सीप म रजत का भ्रम किसी यथार्थ पदार्थ को निर्देश करता है, जो भ्रम का मूल है।

रामानुज स्वप्न को ईश्वर की रचना कहकर समझाते हैं जिसका आशय स्वप्न देखने वालो के चित्त म वैसा ही अनुभव उत्पन्न करने का है। कामला रोग से पीडित व्यक्ति को सीप पीली दीखती है, इसे वे इस प्रकार समझाते हैं कि पीला रग आँखो म पित्त से उत्पन्न होकर आँखो की रश्मि द्वारा सीप पर छा जाता है जो सफेद सीप को पीला कर देता है। जब सीप पीला दीखता है तब वह सचमुच पीला बन जाता है, जो कामला के रोगी का नेत्र देखता है, यद्यपि यह उसी व्यक्ति को दीखता है और का नहीं क्योकि पीलापन उसकी आंखो के निकट है।[3]

---

[1] देखो श्रुत प्रकाशिका पृ० १८३–६।

[2] सुदर्शन सूरि के मतानुसार यह वाद बोधायन नाथमुनि, राममिश्र इत्यादि का साम्प्रदायिक मत है जिसे रामानुज ने अपने को उस सम्प्रदाय के एकनिष्ठ अनुयायी के नाते माना है रामानुज या कहते हैं—

यथार्थ सर्व विज्ञानम् इति वेदविदा मतम्।
श्रुतिस्मृतिभ्य सर्वस्य सर्वात्मत्व प्रतीतित ॥

—भाष्य और श्रुति प्रकाशिका पृ० १८३।

[3] दूसरे प्रकार के भ्रम या मिथ्यापन, रामानुज इस प्रकार समझाते हैं—वे यथार्थ सत्ता रूप हैं उसम मिथ्यापन उन अन्य तत्वा के न जानने से है जो यथार्थ है और

आख्यातिवाद और यथार्थख्यातिवाद इस बात पर एक मत हैं कि आरोपित विचार के अनुरूप यथार्थ विषय है जो उसका आधार है। किन्तु जबकि पहला मत यह मानता है यथार्थ आधार भूतकाल का अनुभव है, दूसरा मत यह मानता है कि वह विषय के साथ साथ प्रस्तुत होता है अर्थात्, रजत अंश का सीप के अंश से मिल-जुल जाना इन्द्रिय के प्रत्यक्ष का विषय होता है किन्तु परिस्थिति, इन्द्रियादि दोषों की वजह से, सीप में जो अनुभव का प्रधान अंश होना चाहिए उसका प्रत्यक्ष नहीं होता। इस प्रकार रजत अंश ही प्रत्यक्ष में आता है जिससे भ्रम होता है। इस प्रकार सीप का अप्रत्यक्ष होना दोनों में एक जैसा है जबकि अख्यातिवाद की दृष्टि से रजत अंश अतीत अनुभव की स्मृति से उत्पन्न प्रतिमा है। यथार्थ ख्यातिवाद उपनिषद् के त्रिवृत् करण के सिद्धान्त का आधार लेता है और मानता है कि रजत अंश उस समय प्रत्यक्ष ही होता है। किन्तु सुदर्शन सूरि अन्य आचार्यों (केचित् आचार्या) के मतों का ब्यौरा देते हुए कहते हैं कि त्रिवृत् करण सिद्धान्त, एक भूत का दूसरे रूप में मिथ्या देखने को भी समझा सकता है किन्तु साम्य के कारण भ्रम की घटना को समझाने में त्रिवृत-करण अनुपयोगी है, क्योंकि त्रिवृतकरण और पंचीकरण भूतों के मिश्रीकरण को समझा सकते हैं किन्तु भौतिक को नहीं, या पाँच तत्वों के पदार्थ के रूप में होने वाले विकार को नहीं समझा सकते जैसेकि सीप और रजत, जो साम्य होने की वजह से एक दूसरे का भ्रम पैदा करते हैं। इसलिए यह मानना पड़ेगा कि भूतों के विकार में भी त्रिवृतकरण का सिद्धान्त कुछ अंश में लागू होता है क्योंकि यहां पर पदार्थ के अणु अधिक अंश में एक तत्व के विकार से और कम अंश में अन्य तत्वों के विकार से बने हैं। सीप के अणु इस प्रकार अधिक अंश में सीप के तत्व से और न्यून अंश में रजत तत्व से बने हैं, यह एक तत्व का दूसरे तत्व से साम्यता को स्पष्ट करते हैं। साम्य, एक तत्व में दूसरे तत्व के वास्तविक रूप से विद्यमान होने से है और इसे प्रतिनिधि न्याय कहते हैं या यथार्थ निरूपण द्वारा सादृश्य निर्धारक नियम के रूप में जानते हैं।

नही है' इसका ग्रथ सीप से ही है जिसके अनुभव से रजत का विचार हट जाता है। 'यह रजत नही है' कह कर निषेधात्मक रूप से सीप ही लक्ष्य है और स्वीकारात्मक रूप से भी सीप लक्ष्य है।

रामानुजाचार्य यानी वादिहसाम्बुवाहाचार्य, जो वेंकटनाथ के मामा थे, वे रामानुज के सत् ख्यातिवाद का यों कहकर समर्थन करते हैं कि अन्य तीन प्रतिस्पर्धीवाद अर्थात् अन्यथा ख्याति, अख्याति और अनिर्वचनीय ख्याति एक दूसरे को काटते हैं इसलिए असगत है। किन्तु वे यह सिद्ध करने का कठिन प्रयत्न करते हैं कि अन्यथा ख्याति एव अख्याति के वास्तविक वाद के अन्तगत आए हुए तार्किक सम्बन्ध के आधार पर, सत् ख्याति का समर्थन हो सकता है। वे अख्यातिवाद के वस्तुवाद (वास्तविकवाद) और उसके सबध को मानकर विवाद करना शुरू करते हैं। वे यह मानते हैं कि वह भी अन्त में अन्यथा ख्यातिवाद का ही पहुँचेगा, इसलिए (सत् ख्याति को छोडकर) सम्भवत अन्यथा ख्याति सबसे श्रेष्ठ है। वे अपने न्याय कुलिश में कहते हैं कि जबकि ज्ञान व्यापार के लिए इन्द्रियों को विषय तक पहुँचना आवश्यक है तो भ्रम के अनुभव में भी कोई विषय होना चाहिए जिस पर इन्द्रियाँ पहुँचती है क्योंकि वे ऐसे विषय का ज्ञान नही दे सकते जिससे उनका सम्बन्ध न हो।[1] दोष, नए ज्ञान का कारण नही हो सकता क्योंकि वह तो किसी ज्ञान या प्रत्यक्ष का अवरोधक है दोष केवल कार्य कारण के स्वाभाविक क्रम का अवरोध करता है।[2] जिस प्रकार अग्नि बीज की अकुर उत्पादन शक्ति का नाश कर देती है। इसके अतिरिक्त सीप-रजत का पुराना उदाहरण लेकर यह पूछा जा सकता है कि अगर रजत विषय रूप से विद्यमान न था तो फिर ऐसी असत् वस्तु का ज्ञान कैसे होता है? जबकि हमारी चेतना असत् वस्तु का निर्देश नही कर सकती, इसलिए प्रत्येक प्रकार की चेतना उसके अनुरूप विषय की सत्ता का सिद्ध करती है। रजत सीप के भ्रम में भूतकाल में अनुभव किए रजत की स्मृति होती है और इसका भूतकाल मे अनुभव हुआ होता है और दोष के कारण, रजत भूतकाल की स्मृति है यह नही समझा जाता केवल उस समय 'यह' ही हमारे सामने प्रत्यक्ष होता है जो उस समय अनुभव में आता है (दोषात् प्रमुषिततदवमश)।[3]

---

[1] इन्द्रियाणाम् प्राप्यकारित्वेन अप्राप्तार्थप्रकाशनानुपपत्ते। न्याय कुलिश। मद्रास गव० ओरिऐन्टल हस्तलिखित, स० ४९१०।

[2] दोषाणा कार्यविघातमात्रहेतुत्वेन कार्यान्तरोपजनकत्वायोगात् न हि अग्नि ससृष्टस्य कलमबीजस्य अकुरोत्पादने सामर्थ्यम् अस्ति।

—वही।

[3] इद इतिपुरो वस्तुनि अनुभव रजतम् इति च पूर्वानुभूत रजत विषयास्मृति।

—वही।

वादि हंसाम्बुवाह, प्रतिस्पर्धी अन्यथा और अख्याति वादों के तर्कों की तुलना करते हुए अन्यथा ख्यातिवाद के तर्कों का प्रतिपादन करते हैं। अख्यातिवाद के विरोध मे उठाए गए आक्षेपो के विरुद्ध उनका कथन है कि जैसे प्रत्येक पदार्थ दूसरे से भिन्न है, तो फिर भ्रम किस प्रकार से समझा सकता है कि वह पूर्व अनुभूत रजत की स्मृति और वर्तमान मे प्रत्यक्ष का विषय बने 'इदम्' की अनुपलब्धि है। इस तर्क के पक्ष में वे कहते हैं कि भेद, जो यहाँ नहीं देखा जाता है वह पदार्थ के वे गुण है, जिनकी वजह से, एक पदार्थ दूसरे पदार्थ जैसा संकीर्ण नहीं किया जाता या भ्रम रूप नहीं देखा जाता और इसी भिन्न करने वाले लक्ष्य के न जानने से ही सीप में रजत का भ्रम उत्पन्न होता है (संसर्ग विरोधी वैधर्म्य विशेषरूप भेदाग्रह प्रवृत्ति हेतु)।[1] किन्तु भ्रम के अख्यातिवाद को अत्यन्त संतोषजनक मानने में सच्चे आक्षेप य है, कि, इसे मानने से हम पदार्थ अमुक धर्म वाला है ऐसा मानते जैसा संसर्ग व्यवहार होता है, जैसाकि पण्डितों के विवाद तथा हमारे भ्रम के प्रत्यय तथा व्यवहार में पाया जाता है, इस मानने पर हमे अन्यथा ख्याति का अपरिहार्य एवं अन्तिम स्पष्टीकरण के रूप मे मानने को बाध्य होना पडता है।[2]

---

[1] मद्रास गवर्नमेंट हस्त० स० ४६१०।

[2] रामानुज के निर्देश किए हुए 'वेदविदाजन' की तरह, प्रभाकर भी समस्त ज्ञान को यथार्थ मानते हैं (यथार्थ सर्वम् एवह विज्ञानम् इति। प्रकरण पंचिका पृ० ३२)। किन्तु वे इसे 'सत्व मीमांसा' के आधार पर मानते हैं जबकि प्रभाकर मनोवैज्ञानिक और प्रयोग के आधार पर मानते हैं। प्रभाकर का मत प्रतिपादन करते हुए शालिकनाथ ऐसा कहते हैं कि ज्ञान का जो भी विषय होता है वही जाना जाता है और सीप रजत भ्रम के समय जो कुछ जाना जाता है वह यह रजत है किन्तु उस समय सीप का ज्ञान नहीं है क्योंकि उस समय वह अनुभव का विषय नही होता। इस प्रकार यह नहीं कहा जा सकता कि भ्रम में सीप रजत रूप से जाना जाता है किन्तु इदम् को रजत जाना जाता है, क्योंकि जब भ्रमयुक्त रजत का ज्ञान होता है तब सीप का नहीं होता। भ्रम में, दोष के कारण सीप का भेद उत्पन्न करने वाला विशेष धर्म नहीं जानने में ज्ञाता सीप सामान्य धर्म से एक विषय के रूप में ही दीखता है। फिर रजत की स्मृति का प्रश्न है मनो व्यापार के दोष से (मनोदोष) रजत देश और काल के मूल सहचार के साथ वह वही रजत है जो वहाँ देखा था ऐसा स्मरण नहीं होता किन्तु केवल एक प्रतिभा रूप से रजत का स्मरण होता है (तदित्यंश परामर्श विवर्जितम्)। यद्यपि 'मैं रजत का स्मरण करता हूँ ऐसा स्पष्ट अनुभव नहीं होता तो भी रजत का विचार स्मृति से उत्पन्न होता है ऐसा मानना पड़ेगा, क्योंकि यह अन्य किसी प्रमाण द्वारा, जैसे प्रत्यक्ष या अनुमान, से उत्पन्न नहीं हो सकता। इस प्रकार, चार प्रमाणों का लोप करने

वादिहसाम्बुवाह कहते हैं कि जबकि रजत का अनुभव उसी मे होता है जो केवल सीप का ही टुकडा है इससे यह अनुमान होता है कि एक का दूसरे पर आरोपण किया जाता है (जा तत्वत अन्यथा ख्याति का गुण है)। जिस प्रकार रजत के सचमुच ज्ञान म हमारे सामने जो पदाथ है उसी का रजत रूप से अनुभव होता है, वसे ही रजत सीप के भ्रम मे, हमारे स मुख उपस्थित पदाथ ही रजत रूप से प्रत्यक्ष होता है और यहाँ पर भी सीप ही रजत रूप से दीखती है। जब भ्रम नष्ट हो जाता है तब हम कहते हैं 'यह रजत नही है' इससे यह अथ नही होता कि केवल सीप ही उपस्थित है बल्कि पहले जा आरोपण किया गया था उसका निरास है। क्योंकि अगर निषेध को भाव रूप माना जायगा तो फिर भावात्मक और अभावात्मक पदार्थों मे भेद समाप्त हो जाएगा (बाध्यस्य विधिरूपत्वे विधि निषेध न्यत्मास च निषेधे बाध इति तुत्या थत्वात्)।[1] अख्यातिवाद, ससग की अनुपस्थिति के अग्रहण को (अर्थात् सीप रजत के, असंसगग्रह) का भ्रम का कारण मानता है। यहाँ ऐसा प्रश्न किया जा सकता है कि यह ससग की अनुपस्थिति क्या है ? वह स्वय वस्तु ही नही हो सकती क्योकि अगर ऐसा हाता ता हम ऐसी आशा करनी चाहिए कि स्वय वस्तु (सीप) प्रत्यक्ष नहीं हाती है और वही भ्रम पदा करता है जोकि असभव है। इसके अतिरिक्त, रजत ही हमारे सामने है और प्रत्यक्ष अनुभव का विषय है न कि कोई याद की हुई वस्तु प्रत्यक्ष होती है। हम जानते हैं कि जब हम 'यह रजत है' ऐसा भ्रम होता है तब मिथ्या ससग ग्रहण होता है (बाधक ससग ग्रहण), किन्तु हम भेद ग्रहण नही करते हैं, (भेदाग्रह) ऐसा विचार कभी भी नहीं आता। अगर हम विरोध या मिथ्या (रजत सीप) के स्वरूप को जानने का प्रयत्न करें तो हमे पता चलेगा कि सीप जला देने पर राख हो जाती है और रजत के जला देने पर उसकी अँगूठी बनाई जा सकती है, यह तथ्य भ्रम का कारण नही है किन्तु यह तथ्य कारण है कि जो आग मे तपाने पर

पर रजत को स्मृति से उत्पन्न है ऐसा माना पडता है (अन्यगतित स्मृति अत्राव गम्यते)। मैं पूवकाल के अनुभव को याद करता हू इस भावना की अनुपस्थिति की वजह से, रजत की स्मृति प्रत्यक्ष से विविक्त नही होती, क्योंकि यही तथ्य, वतमान प्रत्यक्ष को स्मृत प्रतिमा से भिन्न करता है इसीलिए हम इस स्मृति और साक्षात् प्रत्यक्ष के बीच भेद जानने म विफल होते हैं (भेद प्रकट करने वाले धम, इन्द्रिय-दोष इत्यादि के कारण लुप्त हो जाते हैं) इस भेद का अनुभव न होने से, ये दो प्रकार की चेतना स्वय, रजत का साक्षात् प्रत्यक्ष अनुभव रूप से भ्रम उत्पन्न करते हैं जो उस समय नही होता है और हम अपना हाथ बढाकर उसे उठाने को ललचाते हैं मानोकि हमारे सामने सचमुच चाँदी का टुकडा पडा है।

—देखो प्रकरण पचिका, अ० ४ नयवीथि।

[1] न्यायकुलिश वादिहसाम्बुवाह रामानुजाचाय कृत, गव० आरि० हस्त० स० ४६१०।

विवाद भ्रम के सभा य वादा मे अख्याति और म यथा ख्याति की आपस की सम्बद्ध श्रेष्ठता बताने मे ही व्यस्त करते है ता भा व रामानुज द्वारा मान गए भ्रम के वाद की ओर लक्ष्य करते हैं जिसके अनुसार प्रत्येक वस्तु प्रत्येक वस्तु म उपस्थित है इसलिए कोई ज्ञान भ्रम-युक्त नही है। वे इस वाद का अत्यन्त सच्चा और ठीक समझते हैं। कि तु अगर ऐसा है ता भ्रम के अख्याति और अ यथाख्यातिवाद के विवाद म उतरना यथ ठहरेगा। वादिहमाम्बुवाह यह बताने का प्रयत्न नही करते कि अगर इस वाद को माना जाय तो अख्याति और अन्यथाख्यातिवाद को किस प्रकार माना जायगा।[1] वे आगे अनिवचनीय ख्याति (सीप रजत भ्रम मे रजत का दीखना-अनिवचनीय उत्पत्ति है) जो शकरमतवादी मानते हैं पुराने घिसे पिटे ढग से खण्डन करते हैं जिससे हम पहले से ही परिचित हैं।

१६वी शताब्दी के लेखक, अन ताचाय न भ्रम के इस वाद पर बल दिया है जिसके अनुसार प्रत्येक वस्तु प्रत्येक मे उपस्थित है और इसलिए सीप का रजत रूप दिखना न तो भ्रम है और न प्रत्यक्ष और स्मति के बीच भद का अग्रहण ही है, क्योकि 'यह रजत है यह प्रत्यक्ष ज्ञान, दो प्रत्यक्षा का यह और 'रजत' का मिश्रण है। अगर यह प्रत्यक्ष अनुभव न होता तो हम ऐसा प्रतीत न होता कि हमने हमारे सामने उपस्थित 'इदम को रजत रूप से अनुभव किया है। दोष का काय केवल सीप अश को प्रत्यक्ष से ढकना था (जो रजत से मिश्र हुआ था)। ऐसा कहना कि प्रत्येक प्रत्यक्ष के अनुरूप विषय होते हैं (यथाथ) इसका अथ यह नही होता कि वस्तु वसी ही है जसाकि हम उनका प्रत्यक्ष अनुभव होता है, किन्तु अथ यह निकलता है कि जिसका प्रत्यक्ष होता है उसके अनुरूप विषय का आधार नही है यह बात सत्य नही है।[2] रजत मे जो तेज अश है जा उसका निमित्त कारण है, वह अवश्य ही तेज तत्व भी है और सीप मे निमित्त कारण रूप पृथ्वी अनक्षिति तत्व मे भी हैं ये तत्व शकर की मूलावस्था मे त्रिवत्करण की वजह से मिश्रित हो गए हैं और यही तथ्य रजत भ्रम की दशा मे रजत के अनुरूप विषय की उपस्थिति का समझाते हैं।[3] अनताचाय तक

---

[1] यद्यपि भूतानाम् पचीकरण लब्ध परस्पर व्याप्तया शुक्ति कायाम् अपि सादृश्यात् रजतकदेशो विद्यत एव इति सिद्धान्त तथापि न विद्यत इति कृत्वा चिंत्यते वाद्युद्धा हरण प्रसिद्धयनुरोधाय। —गव ओ० हस्त० स० ४६१०।

[2] तद् विषयक ज्ञान सामा य विशेष्यावत्तिधमप्रकारकत्वाभावा दिति यथाथ सव विज्ञानम। ज्ञान याथाथ्यवाद' —हस्त० स० ४८८४।

[3] मादृश धर्मावच्छिन्नात् तेजोऽशाद् रजतारम्भ तादृशधर्मा वच्छिन्ननाम अपि अज्ञानाम महाभूतारमक तेजसि सत्वेन शक्त्यारम्भकतावच्छेदक धर्मावच्छिन्नानाम पार्थिव भागानाम अपि महापृथिव्याम् सत्वेन तयो महाभूत त्रिवत् करण दशायाम एव मेलानासम्भवाच्छुक्तयादो रजतासद्भावोपपत्त। —वही।

श्रुत प्रकाशिका मे किए गए आक्षेप का जो हमने अभी देखा है यही उत्तर है।

करते हैं कि यह स्पष्ट है कि सीप रजत रूप में नहीं दीख सकती, क्योंकि सीप रजत नहीं है, वह फिर रजत कैसे दीखेगी। 'यह रजत है' इस अनुभव को पूर्णतया समझाने के लिए यह मानना आवश्यक है कि 'यह रजत है' इस मिश्र दशा के 'इदम्' और 'रजत' यह दो अंग प्रत्यक्ष से निश्चित हैं। क्योंकि इसी प्रकार ही, हम 'मैं रजत देखता हूँ' इस प्रत्यक्ष अनुभव को न्याय युक्त कह सकते हैं।

ईश्वरवादी प्रमाणों की निष्फलता

ईश्वर की सत्ता केवल शास्त्र प्रमाण द्वारा ही जानी जा सकती है। अन्य दूसरे प्रमाण जो ईश्वर की सत्ता प्रतिपादन करते हैं अन्त में विफल ही होते हैं क्योंकि उनका खण्डन करने के लिए अन्य योग्य विरोधी तर्क सफलता से दिए जा सकते हैं।

ईश्वर किसी भी इन्द्रिय द्वारा या मन द्वारा गोचर नहीं हो सकता क्योंकि इन्द्रियाँ उनका ही ज्ञान करा सकती हैं जिसके वे सम्पर्क में आती हैं। और मन (दुःख और सुख की भावनाओं को छोड़कर) जिनका साक्षात्कार वह करता है उन बाह्य पदार्थों का इन्द्रियों के बिना ज्ञान नहीं करा सकता। और ईश्वर योगि प्रत्यक्ष द्वारा भी अनुभव किया नहीं जा सकता क्योंकि योगि प्रत्यक्ष स्मृति रूप है और इन्द्रिय द्वारा अननुभूत तथ्यों का ज्ञान नहीं देता। योगी, अनुभूत विषय को ही जान सकते हैं चाहे ये विषय उनके सामने उपस्थित न हों। अतिसूक्ष्म विषय भी इन्द्रिय प्रत्यक्ष नहीं है क्योंकि इनसे इन्द्रिय का संबंध नहीं हो सकता। ऐसा कोई हेतु भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता जिससे यह अनुमान किया जा सके कि कोई एक परम पुरुष है जिससे समस्त पदार्थों का साक्षात् परिचय है और जिसमें उन्हें उत्पन्न करने की शक्ति भी है। साधारण तर्क जो दिए जाते हैं वे कार्य-कारण रूप होते हैं—संसार कार्य है इसलिए इसका कारण होना चाहिए कोई कर्ता होना चाहिए जिसे पदार्थों से तथा उनकी उपयोगिता से परिचय हो और वह उन्हें भोगता भी हो। संसार अन्य कार्यों की तरह, एक कार्य है और खण्डों का समूह सा (सावयव) है, इसलिए वह स्वस्थ मानव देह की तरह किसी एक ही पुरुष के मार्ग दर्शन और अधीक्षण में है। किन्तु इन उदाहरणों में साम्यता नहीं है। मनुष्य की देह न तो जीव (आत्मा) द्वारा उत्पन्न होती है और न उसके अधीक्षण से जीवित रहती है। देह की उत्पत्ति उस मनुष्य के केवल कर्मों (अदृष्ट) के कारण ही नहीं है किन्तु जो लोग उससे लाभ उठाते हैं या उससे किसी प्रकार संबंधित हैं उनके कारण भी हैं। देह की अवयवों के अन्तःसम्बंध के रूप में सत्ता उसके अवयवों की इकाई के कारण है, वह उस जीवित मनुष्य के अधीक्षण पर आधारित नहीं है। देह का जीवित रहना वह उसकी विलक्षणता है जिसका समस्त जगत् में कोई उदाहरण नहीं है। एक पुरुष का अधीक्षण, उसकी प्रवृत्ति का नियत कारण मानना आवश्यक नहीं है क्योंकि यह तो प्रसिद्ध है कि वस्तुत

से लोग मिलकर अपनी शक्ति से कोई भारी पदार्थ को हटाने में लगाते हैं जो अन्य किसी प्रकार नहीं हिलाया जा सकता।

इसके अतिरिक्त, अगर, जगत् का ऐसा रचयिता माना जाता है, तो क्या जगत् को बनाने के लिए एक या अधिक जीवों को मानना अच्छा नहीं है? उन्हें जगत् की सामग्री का साक्षात् परिचय है। रचयिता को, पदार्थों की आन्तरिक कार्यक्षमता और शक्ति से परिचय होना आवश्यक नहीं है क्योंकि शक्तिमान पदार्थों का साक्षात् परिचय होना ही पर्याप्त है। हम यह देखते हैं कि रचना के सारे उदाहरणों में, जैसेकि घडा या कपडा बनाना बनाने वाला एक साधारण मनुष्य होता है। जगत् के कारण का अनुमान, जबकि, ऐसे ही उदाहरणों से प्रेरित होता है तो यही योग्य होगा कि जगत् का रचयिता भी उसी वर्ग का व्यक्ति होगा जिस वर्ग के व्यक्ति साधारण सांसारिक पदार्थों को बनाते हैं जैसेकि घडा या कपडा। इस प्रकार, जगत् के रचयिता को एक परम पुरुष मानने के बजाय, हम एक जीव को भी जगत् का कर्त्ता मान सकते हैं। इस प्रकार अनुमान द्वारा ईश्वर की सत्ता सिद्ध करना कठिन है। किसी विषय को जानने के लिए साधारणतः अनुमान का उपयोग किया जाता है, जो अन्य प्रकार से भी जाने जा सकते हैं और ऐसे सभी प्रसंगों, दशा में, इन प्रमाणों द्वारा ही, किसी भी अनुमान की प्रमाणता सिद्ध की जाती है। किन्तु ईश्वर को जानने के लिए अनुमान का उपयोग करें तो यह असंभव हो जाता है क्योंकि ईश्वर किसी भी साक्षात् या परोक्ष साधन द्वारा नहीं जाना जा सकता इसलिए अनुमान का उपयोग सर्वथा निरुपयोगी रहता है क्योंकि हमारे पास अनुमान की प्रमाणता सिद्ध करने का न कोई साधन है और न अनुमान को हम किसी एक ही विशेष प्रकार से निश्चित भी कर सकते हैं। जबकि भिन्न तर्क वाक्यों से किसी भी प्रकार के निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं तो यह निश्चित करना असंभव है कि कोई विशेष अनुमान दूसरे से अधिक मान्य है।

कुछ लोग विश्वकारण युक्तिवादी तर्क का इस आधार पर समर्थन करना चाहते हैं कि इस महान् जगत् का एक साधारण जीव से सर्वथा भिन्न ही, जो परम पुरुष से कम नहीं है रचयिता माना जा सकता है क्योंकि जीवों को सूक्ष्म दृष्टि पथ से अवरुद्ध या बहुत दूर स्थित वस्तु को देखने की शक्ति नहीं हो सकती। इस प्रकार जगत् का कर्त्ता अपरिमित शक्तिशाली सत्ता है ऐसा मानना आवश्यक है। कार्य से हम कारण का अनुमान लगाते हैं और पुनः कार्य के स्वरूप से हम कारण के स्वरूप का अनुमान करते हैं। इसलिए यदि हमें जगत् के कारण का अनुमान करना है तब ऐसा ही कारण अनुमान किया जा सकता है जिसमें ऐसा कार्य उत्पन्न करने की सचमुच अपरिमित शक्ति हो। कारण जो ऐसा कार्य उत्पन्न न कर सके, उसे अनुमित करना, असंगत है। इसके साथ साथ साधारण कारणों की अनावश्यक उपाधियों का भी यह सूचन करना नहीं छोड़ना चाहिए कि जिस प्रकार कि एक साधारण मनुष्य को,

काय उत्पादन करने के लिये देह और साधन होना चाहिये, ठीक उसी प्रकार परम कारण को भी देह और काय करने के लिये साधन होना चाहिये। यह नही हो सकता, क्योंकि हम जानते हैं कि कितने ही काय, इच्छा और सकल्प मात्र से ही सिद्ध होते हैं और इच्छा और सकल्प की सत्ता के लिये देह की आवश्यकता नही है, क्योंकि वे देह से उत्पन्न न होकर मन मे होते हैं। मन की सत्ता देह की सत्ता से स्वतत्र है, क्योकि मनस की सत्ता देह से अलग होने पर भी, विद्यमान रहती है। जबकि, पाप और पुण्य के प्रभाव मे रहने वाले परिमित जीव इस विचित्र अनेक प्रकार की रचना वाले बहुरूप जगत् को उत्पन्न करने मे शक्तिमान् नही है इसलिये यह मानना ही पडता है कि एक परम पुरुष है जिसने यह सब उत्पन्न किया है। और जबकि उपादान कारण कर्त्ता और कारण रूपी कारण से सवथा भिन्न होता है ऐसा सभी ज्ञात उदाहरणो मे देखा गया है, तो फिर ब्रह्म इस जगत् का उपादान और निमित्त कारण दोनो नही हो सकता है।

इस तर्क का इस तरह उत्तर दिया जा सकता है, हम यह मानते हैं कि जगत् एक काय है और महान् भी है किन्तु यह कोई नही जानता कि इस विशाल जगत् के सभी भाग एक ही समय और एक ही पुरुष द्वारा बने हैं। एक अज्ञात परम पुरुष के लिए यहा कहा स्थान बचता है और इस सावयता की किस प्रकार अवगणना की जा सकती है कि भिन्न भिन्न जीवो ने, अपने विशेष कम और शक्ति से, भिन्न भिन्न समय मे जगत् के भिन्न भागो को बनाया हो जो अब हमे एक रूप से दिखाई देते हैं मानो एक पुरुष द्वारा बने हो ? जगत् के भिन्न भाग भिन्न समय म बनाये गये हो और उसी प्रकार भिन्न समय मे नष्ट किये जायेंगे यह मानना शक्य है। एक परम पुरुष की सत्ता की कल्पना करना, जिसने इस बहुरूप जगत् को बनाया हो, असभव कल्पना मानना चाहिये। जगत् एक काय है इस तथ्य से यही तक किया जा सकता है कि यह किसी चेतन पुरुष द्वारा बनाया गया होगा किन्तु यह आवश्यक रूप से, एक ही चेतन पुरुष द्वारा बनाया गया है, इसका कोई आधार नहीं है। यह विराट् जगत् एक ही क्षण मे उत्पन्न नही हो सका होगा और ऐसा हुआ है इसका कोई प्रमाण भी नही है और अगर यह क्रम से उत्पन्न हुआ है तो यह भी माना जा सकता है कि यह अनेक चेतन पुरुष द्वारा क्रम से बनाया गया हो। इसके अतिरिक्त, ईश्वर को सवथा पूर्ण होने के कारण रचना की आवश्यकता पडी होगी ऐसा सोचा भी नहीं जा सकता। उसके न तो शरीर है न हाथ हैं जिससे वह जगत् की रचना करे। यह सत्य है कि मनस् शरीर के साथ मर नही जाता, किन्तु यह शरीर से सम्बधित न होते हुए सक्रिय दशा में पाया भी नहीं जाता। अगर ऐसा मान लिया जाता है कि ईश्वर के देह है तो वह नित्य भी नहीं हो सकता। अगर उसका शरीर, सावयव होते हुए भी, नित्य है तो उसी आधार पर इस जगत् को भी नित्य माना जा सकता है। अगर यह ससार उसकी इच्छा मात्र से उत्पन्न हुआ है ऐसा माना जाता है तो यह इतना विचित्र है कि यह ज्ञात, काय-कारण

के उदाहरणों से सर्वथा भिन्न है। इसलिये ज्ञात कार्य कारणों के अनुभूत उदाहरणों के आधार पर, अगर किसी को ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करना है, और यदि ऐसे ईश्वर को श्रेष्ठ गुण युक्त माना जाता है जो उसमें बहुधा माने जाते हैं, और यदि जगत् की विचित्र रचना शक्ति भी उसमें मानी जाती है तो वह ऐसा कारण होगा जो ज्ञात कारण और उनके कार्य के प्रकार के साम्यत के आधार पर, कभी भी अनुमित नहीं किया जा सकता। इस प्रकार ईश्वर अनुमान के आधार पर कदापि सिद्ध नहीं हो सकता। उसकी सत्ता शास्त्र प्रमाण से ही माननी पड़ेगी।

भास्कर और रामानुज

रामानुज और भास्कर का अध्ययन करने वाले, प्रत्येक सावधान पाठक ने यह पाया होगा कि रामानुज अपने दार्शनिक विचारों और मतों के लिये, भास्कर के अधिकांश ऋणी हैं और अधिक विषय पर दोनों के मत एक से ही हैं। रामानुज अपने मतों के लिये बोधायन तथा अन्य वैष्णव लेखकों के भी ऋणी रहे होंगे ऐसी संभावना है यह चाहे कैसे भी हो, भास्कर के प्रति उनका ऋण भी बहुत था जैसाकि दोनों मतों का तुलनात्मक अध्ययन बताता है तो भी ये दो मत एक सरीखे नहीं हैं कई महत्वपूर्ण विषयों पर दोनों में विरोध है। भास्कर मानते हैं कि ब्रह्मन् शुद्ध सत् चित् रूप है निराकार और कारण रूप है, और वह प्रकट कार्य रूप से जगत् है। भास्कर के अनुसार इस सिद्धान्त में कोई असंगति या कठिनाई नहीं है क्योंकि प्रत्येक वस्तु के ऐसे उभय स्वरूप हैं जैसाकि एक और अनेक, या एकत्व और अनेकत्व। अनेकत्व में एकत्व प्रत्येक पदार्थ का स्वरूप है। रामानुज मानते हैं कि भेद और एकत्व एक ही साथ किसी एक पदार्थ में नहीं स्वीकृत हो सकते। इस प्रकार जब हम यह कहते हैं 'यह ऐसा है' तब यह सत्य नहीं है कि एक ही वस्तु दोनों उद्देश्य और विधेय है। उदाहरणार्थ, उपरोक्त वाक्य में यह गाय को लक्ष्य करता हो तो विधेय ऐसा उसके किसी विशेष विलक्षण शारीरिक रूप को लक्ष्य करता है। पिछला पहले का गुण मात्र है, और उसके स्वभाव और गुण को निश्चित करता है। उद्देश्य और विधेय का तादात्म्य जोड़ना कोई अर्थ नहीं रखता या यह भी कहना अर्थ नहीं रखता कि वही पदार्थ इकाई के रूप से उद्देश्य है और भेद के दूसरे रूप से विधेय है। भास्कर तर्क करते हैं कि अवस्था और जिसका अवस्था पर प्रभाव है (अवस्था तादवस्था च) दोनों सर्वथा भिन्न नहीं हैं और न द्रव्य और गुण हैं जैसेकि कपड़ा और उसका सफेद रंग। बिना गुण के द्रव्य नहीं है और द्रव्य बिना गुण के। प्रत्येक भिन्नता एकत्व भी है। द्रव्य की शक्ति और गुण उससे भिन्न नहीं है अग्नि उसकी दहन शक्ति एवं प्रकाशात्मक गुण दोनों एक ही हैं। इस तरह, प्रत्येक वस्तु एकरूप और भिन्न रूप दोनों ही है और किसी एक को दूसरे से एकरूप नहीं किया जा सकता। किन्तु रामानुज यह मानते हैं कि सारे वाक्य एक ही प्रकार के हैं जिससे विधेय उद्देश्य का गुण है। यही

गुणवाचक सिद्धान्त जाति और वर्ग, कार्य और कारण, और सामान्य और विशेष के उदाहरणों मे लागू होता है। भिन्नता और एकता वस्तु के दो स्वतंत्र रूप नहीं हैं 'जो दोनों सत्य भी है,' किन्तु भिन्नता, एकत्व के स्वभाव या लक्षण को विशिष्ट बनाता है या उसके रूप मे भेद करता है और यह हमारे मिश्र या यौगिक सत्ता के अनुभवों से सिद्ध भी है।[1] रामानुज के अनुसार एक ही वस्तु मे एकत्व और भिन्नता को स्वीकारना विरोधाभास है। भेद की सच्चाई का स्वतंत्र एवं अपना स्वयं अस्तित्व रखना अनुभव से प्रमाणित नहीं है, क्योंकि गुण और मात्रा इत्यादि भेद से इकाई के रूप में उद्देश्य के स्वभाव और लक्षण में भेद उत्पन्न होता हैं, और यही केवल हमारे अनुभव मे आता है।

भास्कर कहते हैं कि ब्रह्म के दो रूप हैं, प्रकट–व्यक्त रूप तथा नाना रूप और चित् और सत् के तादात्म्य का अव्यक्त, निराकार रूप ब्रह्म का यह पिछला रूप ही हमारी भक्ति और उच्च ज्ञान का विषय है। रामानुज, इस निराकार और भेद रहित ब्रह्मन् को इन्कार करते हैं और विशिष्ट सगुण ब्रह्म मे विश्वास करते हैं जो व्यापक ईश्वर रूप से अपने में, जीवों का और अचित् जगत् को शरीर रूप से धारण करता है। जीव और ब्रह्म के सम्बंध में भास्कर कहते हैं कि जीव अंतःकरण की उपाधि से सकुचित, ब्रह्म ही है। जब ऐसा कहा गया है कि जीव ब्रह्म का अंश है तब अंश शब्द भाग एवं 'कारण के अर्थ मे उपयोग नहीं किया गया है किन्तु अंतःकरण की उपाधि से परिमित इस पारिभाषिक अर्थ में उपयोग किया गया है। यह सीमितता मिथ्या भी नहीं है और न असत् है इसी कारण जीव अणु रूप है। रामानुज के अनुसार भेद, अज्ञान के कारण है इसलिये यह भेद असत् है। रामानुज के अनुसार जीव और ब्रह्म में भेद नहीं है। जीव की अपूर्णता, सीमितता और ब्रह्म की पूर्णता एवं असीमता इत्यादि का दीखना यह भेद अविद्यागत है जब जीव को यह अनुभव होता है कि वह ब्रह्म ही देह रूप है तब यह भेद मिथ्या हो जाता है। रामानुज के अनुसार, भेद स्वयं की कोई सत्ता नहीं है वह, केवल जिस अभिन्न एक ही वस्तु को लक्ष्य करता है उसके लक्षण को निश्चित करता है और उसके रूप का परिवर्तन करता। वस्तु और उसके गुण अभिन्न हैं। भास्कर, अभिन्नता और भेद के दो प्रकार मानते हैं जो दोनों, अपने में सरीखे और स्वतंत्र रूप से सत्य हैं यद्यपि वे आपस मे एक दूसरे से सम्बंधित है। भास्कर के विरोध में यह कहा जाता है कि अगर ब्रह्म के मर्यादित रूप भी सत्य हैं तो वे ब्रह्म को पूर्ण रूप से मर्यादित बना देंगे, क्योंकि ब्रह्म निर्विशेष है, वे इस प्रकार उसे पूर्णरूप से दूषित कर देंगे। भास्कर के प्रति यह आक्षेप, रामानुज ने बहुत कुछ सूक्ष्म रूप से तथा युक्तिपूर्ण चातुर्य से किया है।[2] अगर हम भास्कर का यह तार्किक दावा

---

[1] वादित्रयखण्डन।

[2] रामानुज भाष्य पृ० २६५, ६६। श्रुत प्रकाशिका के साथ, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९१६।

मान ले कि एकत्व और अनेकत्व, कार्य और कारण एक ही सत्ता के अस्तित्व के दो प्रकार हैं और ये दोनों ही सत्य हैं तो भास्कर के विरुद्ध रामानुज के तर्कों का कोई प्रभाव रहा हो ऐसा नहीं लगता। भास्कर के तार्किक पक्ष का पूर्णरूप से, खण्डन किया जा चुका हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता।

रामानुज ब्रह्म को जीव और जड जगत् से अभिन्न मानते हैं किन्तु ब्रह्म को जीव और जड जगत् से अलग भी कहते हैं। किन्तु वे इसी अर्थ में अभिन्नता को मानते हैं जिस अर्थ में द्रव्य अपने अंश या गुण से एक साथ अभिन्न भी और भिन्न भी है या एक पूर्ण वस्तु अपने अंश से अभिन्न और भिन्न है। व्यक्तिगत जीव और जड जगत्, अपने आप स्वतन्त्रता से सत्ता नहीं रख सकते, केवल ब्रह्म के अंश रूप से ही सत्ता रख सकते हैं। जीव ब्रह्म के अंश रूप है इस तथ्य से उनकी ब्रह्म से अभिन्नता उतनी ही प्रधान है जितनी उनकी भिन्नता है अगर हम यह ध्यान रखें कि द्रव्य उसके गुण से भिन्न है।[1] भास्कर और रामानुज के बीच मुख्य विरोध यह रह जाता है कि भास्कर देह और अंश या द्रव्य और गुण के सिद्धान्त को प्रवर्तित करने की आवश्यकता नहीं समझते। उनके सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्मन् सर्वान्तर्यामी और पर एक साथ ही है, अभिन्नता और भिन्नता दोनों एक साथ ही वस्तु में स्वीकार की जा सकती हैं, तथा कार्य और कारण एवं द्रव्य और गुण इत्यादि की दृष्टि द्वारा इसे प्रमाणित किया जा सकता है।

रामानुज-दर्शन का सत्ता ज्ञान विषयक पक्ष

अद्भुत रचना युक्त यह सारा जगत्, जो अद्भुत नियम और विधि द्वारा नियन्त्रित किया जा रहा है वह ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है, उसी के द्वारा उसकी सत्ता पोषण की जा रही है और अन्त में वह उसी में मिल जायगा। ब्रह्म की महानता की कोई मर्यादा नहीं है। यद्यपि जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और संहार, तीन प्रकार के गुण के अर्थ में व्यवहृत हैं किन्तु वे तीन द्रव्यों को लक्ष्य नहीं करते, केवल एक ही द्रव्य को लक्ष्य करते हैं जिसमें वे रहे हुए हैं। उसका सच्चा स्वरूप तो उसकी अपरिणामी सत्ता और नित्य सर्वज्ञता और देश, काल और लक्षणों में अमर्यादितता में रही है। शंकर के इस सूत्र (१ १ २) के विवरण का उल्लेख करते हुए रामानुज कहते हैं कि जो ब्रह्मन् को निर्विशेष मानते हैं वे ब्रह्म सूत्र के इस पाठ (१ १ २) में कहे हुए ब्रह्म के गुण को ठीक नहीं समझ सकते, क्योंकि ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय होता है

---

[1] जीववत् पृथकसिद्ध्यनर्ह विशेषणत्वेन अचिद्वस्तुनो ब्रह्मांशत्वम् विशिष्टस्त्वेक देशत्वेन अभेद व्यवहारो मुख्य विशेषण विशेष्ययो स्वरूप स्वभावभेदेन भेद व्यवहारोऽपि मुख्य। —श्री भाष्य, ३ २ २८।

ऐसा कहने के बजाय उन्हें यह कहना चाहिये कि जगत् की उत्पत्ति स्थिति और लय का भ्रम ब्रह्म से है। किन्तु ऐसा कहने से भी ब्रह्म की निर्विशेषता सिद्ध नहीं होती, क्योंकि भ्रम अज्ञानवश होगा और ब्रह्म सारे अज्ञान को प्रकट करने वाला हो जायगा। वह स्वप्रकाश स्वरूप होने के कारण ऐसा कर सकता है और अगर उसमें यह भेद हैं तो वह न तो निर्विशेष ही हो सकता है और न भेद रहित ही।[1]

यह शंकर के उपरोक्त सूत्र के सच्चे अर्थ के बारे में महत्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित करता है। क्या वे सचमुच यही मानते थे जैसाकि रामानुज ने उनके बारे में बताया है कि जिस वस्तु में से जगत् की उत्पत्ति का भ्रम होता है वही ब्रह्म है? या वे सचमुच यही मानते थे कि ब्रह्म तथा वह स्वतः ही अकेला इस जगत् की सचमुच उत्पत्ति का कारण है? शंकर, जैसाकि प्रसिद्ध है, उपनिषद् और ब्रह्म सूत्र के टीकाकार थे, यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि इन ग्रंथों में ऐसे अनेक अवतरण हैं जो ईश्वर वाद का प्रतिपादन करते हैं और यह भी कि इस वास्तविक जगत् की उत्पत्ति ईश्वर द्वारा ही सचमुच हुई है। शंकर को इन अवतरणों को समझाना था और उन्होंने हमेशा अद्वैतिक भाषा का कठोर प्रयोग नहीं किया, क्योंकि उन्होंने तीन प्रकार की सत्ता मानी है और सब प्रकार के शब्दों का प्रयोग किया है, किन्तु शंकर ने उस समय जिन शब्दों का प्रयोग किया उनके प्रति सावधानी रखना आवश्यक था, जो उन्होंने हर समय नहीं रखी। उसका परिणाम यह हुआ कि कुछ ऐसे पाठ नजर आते हैं जो वास्तव में ईश्वरवाद का संकेत करते हैं दूसरे द्वयर्थक है जिनका दोनों प्रकार से अर्थ लगाया जा सकता है, और कुछ दूसरे पाठ ऐसे हैं जो नितान्त अद्वैतवादी हैं। किन्तु अगर महान् टीकाकारों और शंकर मत के स्वतंत्र लेखकों की साक्षी ली जाय, तो शंकर के सिद्धान्त का शुद्ध अद्वैत एकत्ववाद के अर्थ में ही समझाया जा सकता है। ब्रह्म निश्चित रूप से अपरिणामी, अनन्त है और वह जगत् प्रपंच के उत्थान, स्थिति और प्रलय का एकमात्र अधिष्ठान है और वह सभी के अंतर्हित एक सत्य है। किन्तु जगत् प्रपंच के भास में दो तत्व उपस्थित हैं एक ब्रह्म जो मूल अधिष्ठान रूप है, जो सत् और चित् स्वरूप है और दूसरा भेद और परिणामी तत्व माया है जिसके विकास या परिणाम से नानात्व का भास संभव है। किन्तु शंकर भाष्य में ब्रह्म सूत्र के १ १ २ पाठ की टीका में ऐसे पाठ मिलते हैं जिससे यह प्रतीत होता है कि जगत् प्रपंच केवल भास मात्र नहीं है, किन्तु सत्य है क्योंकि उसका अधिष्ठान केवल सत्य ही नहीं है किन्तु वह ब्रह्म द्वारा प्रसूत है। यदि संयत होकर देखा जाय तो ब्रह्म ही केवल जगत् का उपादान कारण नहीं है पर वह अविद्या के साथ उपादान कारण है, और

---

[1] जगज्जन्मादि भ्रमो यतस्तद् ब्रह्मेऽति स्वोत्प्रेक्षा पक्षेऽपि न निर्विशेष वस्तु सिद्धि इत्यादि। —वही, १ १ २०।

ऐसा जगत्, ब्रह्म पर आधारित है और उसी में वह लय पाता है। वाचस्पति भामती में, शंकर भाष्य के उसी सूत्र पर (ब्र० सू० १ १ २) पर यही टीका करते हैं।[1] प्रकाशात्मन्, अपने 'पंचपादिका विवरण' में कहते हैं कि सर्जन कार्य जो यहां कहा गया है वह ब्रह्म में नहीं है और ब्रह्म के स्वरूप के विषय में खोज का अर्थ यह नहीं है कि वह इन गुणों से सम्बन्धित है ऐसा जाना जाता है।[2] भास्कर ने यह प्रतिपादन किया है कि ब्रह्म ने ही जगत् रूप से परिणाम किया है और यह परिणाम सत्य है उसकी शक्तियां का नाना रूप यह जगत है। किन्तु प्रकाशात्मन् परिणामवाद का प्रतिकार करते हुए कहते हैं कि जगत प्रपंच, भले ही माया रूप क्यों न हो, चूँकि यह माया ब्रह्म से सम्बन्धित है इसलिये यह जगत प्रपंच ऐसा होते हुए भी, इसका बाध, निषेध या असत्ता अनुभव में नहीं आता, केवल इतना ही पता चलता है कि वह अन्ततोगत्वा सत् नहीं है।[3] माया का अधिष्ठान ब्रह्म है (आधार ब्रह्म है) और जगत प्रपंच, माया का परिणाम होने से ऐसे परिणाम रूप से सद्रूप है। वह भी ब्रह्म पर आधारित है किन्तु उसकी अंतिम सत्ता केवल यहां तक है जहां तक वह इस अधिष्ठान या ब्रह्म पर आश्रित है। जहां तक जगत प्रपंच का प्रश्न है वह माया का परिणाम होने से अपेक्षित रूप से ही सत है। ब्रह्म और माया के संयुक्त कारणत्व का विचार तीन प्रकार से किया जा सकता है माया और ब्रह्म दो तंतु रूप हैं जो बुनकर एक तंतु बने है या ब्रह्म और माया उसकी शक्ति रूप से, जगत् कारण है, या ब्रह्म, माया का आधार होने से जगत का गौण रूप से कारण है।[4] पिछले दो वादों में माया, ब्रह्म पर आश्रित है इसलिये माया का कार्य जगत भी ब्रह्म पर आश्रित है और इन दोनों वादों में उपरोक्त अर्थ लगाने से, शुद्ध ब्रह्म ही जगत का कारण होता है। सर्वज्ञात्मा मुनि भी जो ऐसा मानते हैं कि शुद्ध ब्रह्म उपादान कारण है, वे माया के कार्य को ब्रह्म के साथ संयुक्त उपादान कारण है, ऐसा नहीं मानते, किन्तु उसे वह साधन है, सामग्री है ऐसा मानते हैं जिसके द्वारा ब्रह्म का कारणत्व, नानात्व भिन्न जगत रूप से प्रगट होता है। किन्तु इस वाद के अनुसार भी नानात्व का उपादान माया है, यद्यपि माया का इस

---

[1] अविद्या सहित ब्रह्मोपादानं जगत ब्रह्मण्येवास्ति तत्रैव च लीयते।

—भामती १ १ २।

[2] नहि नानाविध कार्य क्रियावेशात्मकत्वं तत्प्रसवशक्त्यात्मकत्वं वा जिज्ञास्य विशुद्ध ब्रह्मान्तर्गतम् भवितुम् महति। पंचपादिका विवरण। —पृ० २०५।

[3] सृष्टेश्च स्वोपाधौ अभाव यादृत्वात सर्वं च सोपाधिकधर्मा स्वाश्रयोपाधौ अबाध्यतया सत्या भवन्ति सृष्टिरपि स्वरुपेण न बाध्यते किन्तु परमार्थ सत्यत्वांशेन।

—वही पृ० २०६।

[4] वही पृ० २१२।

प्रकार से प्रकट होना, मूल कारणत्व, ब्रह्म की अनुपस्थिति में असंभव है।[1] ब्रह्म के कारणत्व के स्वरूप पर विचार करते हुए, प्रकाशात्मन् कहते हैं कि वेदांत का अद्वैतवाद का सिद्धांत इस तथ्य से समर्थन पाता है कि कारण को छोड़कर कार्य में कुछ भी नहीं है जिसे वर्णन किया जा सके या व्यक्त किया जा सके (उपादान व्यतिरेकेण कार्यस्य अनिरूपणाद् अद्वितीयता)।[2] इस प्रकार भिन्न भिन्न प्रकार से, शंकर दर्शन की व्याख्या की गयी है, अतः शंकर के लगभग सभी अनुयायियों ने यह माना है कि यद्यपि ब्रह्म ही जगत का अन्त में मूल कारण ही है तथापि जगत जिन पदार्थों से बना है वह ब्रह्म नहीं होकर केवल माया तत्व है और इसलिए नानात्व जगत की सत्ता-सापेक्ष मात्र है और यह सापेक्ष सत्ता ब्रह्म की सत्ता की तरह सत्य नहीं है।[3] शंकर स्वयं कहते हैं कि ब्रह्म की सर्वज्ञता सब विषय को प्रकाश करने और प्रकट करने की नित्य शक्ति में ही है (यस्य हि सर्व विषयावभासन क्षमं ज्ञानं नित्यम् इति)। यद्यपि इस सर्वव्यापी चैतन्य में कोई भी क्रिया या साधन की आवश्यकता नहीं रहती तो भी वह ज्ञाता कहा जाता है जबकि सूर्य स्वयं दाहक और प्रकाशक कहा जाता है जबकि सूर्य स्वयं ताप और प्रकाश की अभिन्नता के सिवाय और कुछ नहीं है (प्रततौष्ण्य प्रकाशेपि सवितरि दहति प्रकाशयतीति स्वातंत्र्य व्यपदेश दर्शनात एवम् असत्यपि ज्ञान कर्मणि ब्रह्मण तद् ऐक्षत इति कर्तृत्व व्यपदेशदर्शनात)। जगत की उत्पत्ति के पहले इस सर्वव्यापी चैतन्य का जो विषय है वह अनिर्वचनीय नाम रूप है जिसे 'यह' या 'वह' कहकर निश्चित नहीं किया जा सकता।[4] ब्रह्म की सर्वज्ञता, इसलिये सबको प्रकट करती

---

[1] संक्षेप शारीरिक १ ३३२ ३३४ और रामतीर्थ की अन्वयार्थ प्रकाशिका टीका।

[2] पंचपादिका विवरण, पृ० २२१।

[3] प्रकाशात्मन् ब्रह्म और माया के बीच किये गये अनेकों संबंधों का उल्लेख करते हैं जैसेकि ब्रह्म में माया शक्ति रूप है, और सारे जीवों का संबंध अविद्या से है माया और अविद्या में प्रतिबिम्बित ब्रह्मन् जगत कारण है (माया विद्या प्रतिबिम्बित, ब्रह्म जगत-कारणम्) शुद्ध ब्रह्म अमर है जीव अविद्या से संबंधित है जीव जगत के बारे में अपना ही भ्रम है और ये सादृश्य की वजह से एक नित्य जगत रूप से दीखता है, ब्रह्म का अपनी अविद्या के कारण ही भासमात्र परिणाम होता है। किंतु इन किसी भी विचारों में जगत ब्रह्म का सच्चा रूप है ऐसा नहीं माना गया है। —पंचपादिका विवरण, पृ० २३२।

ब्रह्म किस प्रकार अनादि वेदों का कारण है, इस विषय को प्रकाशात्मन् यों समझाते हैं कि ब्रह्म अंतरस्थ सत्ता थी, जिससे वेद, जो उस पर निक्षिप्त किये गये थे, प्रकट हुए। —वही, पृ० २०३-२३१।

[4] किं पुन तत कर्म ? यत् प्रागुत्पत्तेरीश्वर ज्ञानस्य विषयो भवतीति। तत्वान्यत्वाभ्याम् अनिर्वचनीये नाम रूप अव्याकृत व्याचिकीर्षीते इति ब्रूम।

है जिससे माया की समस्त सृष्टि बुद्धि का ज्ञानात्मक विषय बन जाती है। किन्तु यह प्रकट करना ज्ञान कर्म नहीं है किन्तु चैतन्य का नित्य स्थिर प्रकाश है जिससे माया के मिथ्याभास प्रकाशित हो उठते हैं और जाने जाते हैं।

रामानुज का अभिप्राय इससे अत्यन्त भिन्न है। वे शंकर के इस मत को कि कारण ही एक मात्र सत्य है और कार्य सारे मिथ्या हैं—इसे नहीं मानते। कार्य रूप जगत् के मिथ्यात्व के लिये एक कारण यह दिया जाता है कि कार्य अनित्य है। इससे कार्य का मिथ्यात्व नहीं सिद्ध होता, केवल इसका नाशवान् और अनित्य स्वभाव ही सिद्ध होता है। जब एक वस्तु एक देश और काल में विद्यमान रहती हुई उसी देश और काल मे नहीं रहती है तब वह मिथ्या कहाती है, किन्तु यदि वह दूसरे देश और काल मे रहती हुई नहीं पाई जाती है तो उसे मिथ्या नहीं कह सकते, वह केवल नाशवान् और अनित्य है। यह मान्यता गलत है कि कारण का स्वरूप परिवर्तित नहीं होता क्योंकि समय, स्थान के संयोग से नये तत्वों का उदय होता है जिसके फलस्वरूप उसमे परिवर्तन होता है। कार्य न तो असत् हैं और न भ्रम है क्योंकि वह कारण से उत्पन्न होने के पश्चात्, तबतक किसी निश्चित देश और काल म दीखता है जबतक कि वह नष्ट नहीं हो जाता। हमारा यह अनुभव मिथ्या है ऐसा सिद्ध करने का कुछ भी प्रमाण नहीं है। जगत् ब्रह्म से अभिन्न है ऐसा जो श्रुति शास्त्र प्रतिपादन करते हैं वे इस अर्थ म सत्य हैं कि ब्रह्म ही केवल जगत् का कारण है और कार्य कारण, अन्त मे, भिन्न नहीं है। जब ऐसा कहा जाता है कि घड़ा मिट्टी के सिवाय और कुछ नहीं है तो कहने का अर्थ यह है कि वह मिट्टी है जो विशेष और निश्चित रूप से घड़ा कहलाती है और पानी लाने इत्यादि का कार्य करती है यद्यपि वह ऐसा करती है तो भी वह मिट्टी से भिन्न द्रव्य नहीं है। घड़ा इस प्रकार, मिट्टी स्वयं की अवस्था ही है, और जब यह विशेष अवस्था बदल जाती है तब हम कहते हैं कि कार्य रूप घड़ा नष्ट हो गया है यद्यपि कारण मिट्टी वैसी ही रहती है। उत्पत्ति का अर्थ पहली स्थिति का नाश और नयी स्थिति का निर्माण है। द्रव्य इन सब स्थितियो में एक सा ही रहता है इसी कारण कि कार्य, कारण साधनों की क्रिया के पहले ही विद्यमान हैं यह कारणवाद सच माना जा सकता है। वास्तव म दशा या रूप जो पहले नहीं थे वे उत्पन्न होते हैं, किन्तु स्थिति या दशा जो द्रव्य मे दीखती है उसकी द्रव्य से स्वतन्त्र रूप मे सत्ता नहीं होती, उसकी नयी उत्पत्ति, कार्य कारण म पहले से ही विद्यमान है इस कारणवाद पर प्रभाव नहीं डालती। इस तरह एक ही ब्रह्म स्वयं जगत् रूप से परिणत हुआ है और नाना जीव, उसकी विशेष दशाएं या स्थिति होने के कारण, उससे एक रूप हैं और तो भी उसके अंश रूप या अवस्था होने से सचमुच अस्तित्व रखते हैं।

पूर्ण या अद्वैत यहां ब्रह्म है जीव और जड़ जगत् उसकी देह हैं। जब ब्रह्म, जीव और जड़ जगत के सूक्ष्म रूप देह के साथ रहता है तब वह कारण या ब्रह्म की

कारणावस्था कहलाती है। जब वह, जीव और जगत की साधारण प्रकट अवस्था रूपी देह से युक्त है तब ब्रह्म की कार्यावस्था कहलाती है।[1] जो कार्य को मिथ्या मानते हैं वे यह नहीं कह सकते कि कार्य कारण से अभिन्न है, क्योंकि उनके अनुसार जगत, जो मिथ्या है वह ब्रह्म से जो सत्य है, अभिन्न नहीं हो सकता।[2] रामानुज, बलपूर्वक इस सुझाव का निषेध करते हैं कि सन्मात्र रूप कोई ऐसी वस्तु, जीव और जगत की सूक्ष्मावस्था रूप देह वाले नियंता कारण ईश्वर से, अतत अधिक सत्य है, क्योंकि वे इसे भी अस्वीकार करते हैं कि ईश्वर को केवल सन्मात्र माना जाय, क्योंकि ईश्वर सर्वदा, सर्वज्ञता, सर्व शक्तिमत्ता, इत्यादि अनन्त श्रेष्ठ गुणों से युक्त हैं। रामानुज इस प्रकार, ईश्वर के अंश रूप, जड और जीव के *द्विविभक्त सिद्धान्त* को पकड़े रहते हैं, जो ईश्वर इन अंशों का निरन्तर *अंतर्यामी* है। वे निश्चय रूप से *सत्कार्य*-*वादिन्* हैं किन्तु उनका सत्कार्यवाद, वेदान्त के सत्कार्यवाद से, जो शंकर ने माना है अधिक सांख्य की राह पर है। कार्य, कारण की केवल बदली हुई अवस्था है और इसलिये जड और जीव रूप से प्रकट जगत् जो ईश्वर की देह है, इसे केवल इसलिये कार्य माना है कि यह कार्य रूप से प्रकटावस्था के पूर्व, ईश्वर में सूक्ष्म और निर्मल अवस्था में विद्यमान था। किन्तु ईश्वर में यह जड और जीव का भेद हमेशा से विद्यमान था और उसमे कोई ऐसा अंश नहीं है जो इससे अधिक सत्य और चरम हो। यहां पर रामानुज भास्कर का पूर्णतः साथ छोड़ देते हैं। क्योंकि भास्कर के अनुसार जोकि कार्य रूप से ईश्वर जड और जीवमय प्रकट सृष्टि रूप से विद्यमान था तो भी कारण रूप से ईश्वर की सत्ता भी थी, जो नितान्त अव्यक्त और निर्विशेष रूप से सन्मात्र था। ईश्वर, इसलिये सर्वथा जड, जीव और उसके *अंतर्यामी* के *त्रिविध* रूप से विद्यमान था, और प्राकृत या कारणावस्था और प्रलयावस्था का अर्थ, जड और जीव की व्यक्तावस्था से भिन्न सूक्ष्म और निर्मल अवस्था से है। किन्तु रामानुज आग्रह करते हैं कि जैसे मनुष्य में देह और आत्मा के बीच भेद है, और जैसे देह की कमी और दोष आत्मा को प्रभावित नहीं करते, उसी प्रकार परम अंतर्यामी ईश्वर और उसका शरीर जीव और जड जगत् रूपी के बीच, स्पष्ट रूप से भेद है और जगत् के दोष ब्रह्म को इसलिये प्रभावित नहीं कर सकते। इस प्रकार, यद्यपि ब्रह्म के शरीर है तो भी वह अखण्ड (निरवय) है और कर्म से सर्वदा रहित है क्योंकि उसकी निश्चयात्मक चेष्टाएं अहैतुकी हैं। वह, इसलिये सभी दोषों के प्रभाव से रहित है और अपने में अनन्त हितकारी गुण धारण करता हुआ, शुद्ध और पूर्ण है।

---

[1] श्री भाष्य, पृ० ४४४ ४५४। बम्बई १९१४।

[2] रामानुज का यह आक्षेपयुक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि इसके अनुसार कार्य के अन्तस्थ सत्ता कारण से एक रूप है। किन्तु इस आक्षेप में भी यह सच्चाई है कि कार्य-कारण की अभिन्नता के सिद्धान्त को शंकर के मत के योग्य बनाने के लिये, यथार्थ देना आवश्यक हो जाता है।

रामानुज, अपने 'वेदार्थ संग्रह' और 'वेदान्त दीप' में यह बताने की कोशिश करते हैं कि किस प्रकार, शंकर के अद्वैतवाद को दूर करके, उन्हें भास्कर के सिद्धान्त और अपने पूर्वगामी गुरु यादव प्रकाश के सिद्धान्त से भी, हट कर रहना पड़ा। वे भास्कर का साथ न दे सके, क्योंकि भास्कर मानते थे कि ब्रह्म उन मर्यादाओं और सीमाओं से सम्बन्धित है जिनसे वह बंधन में पड़ता है और जिनके निवारण से वह मुक्त होता है। वे यादव प्रकाश से भी सहमत न हो सके, जो मानते थे कि ब्रह्म एक ओर शुद्ध है और दूसरी ओर, स्वयं नाना रूप जगत् में परिणमित होता है। इन दोनों मतों की उपनिषद् के पाठ से संगति नहीं बैठती।

वेंकटनाथ का प्रमाण-निरूपण

जिस प्रकार शून्यवादी बौद्ध या माध्यमिक किसी भी तथ्य या प्रतिज्ञा की न्याययुक्त सत्ता का निषेध प्रतिपादित करते हैं उसी प्रकार शंकर मतवादी उक्त प्रश्नों पर अपना निर्णय दे सकने में असमर्थ हैं। खण्डनखण्डखाद्य के पूर्व पक्ष में इस प्रश्न के उत्तर में कि सारे विवादों (कथाओं) का, लक्ष्य करने वाले तथ्यों और प्रतिज्ञाओं की पहले ही सिद्धि और असिद्धि मान लेनी चाहिये अथवा नहीं इसका उल्लेख करते हुए भी श्री हर्ष कहते हैं कि ऐसी कोई मान्यता अनिवार्य नहीं है क्योंकि विवाद दो प्रतिस्पर्धी पुरुषों की आपस की स्वीकृति में ही यह मानकर किया जा सकता है कि, वे विवाद का किसी एक मध्यस्थ द्वारा निश्चित किये गये कुछ सिद्धान्तों की सच्चाई या मिथ्यापन के आधार पर उनकी अंतिम सच्चाई का प्रश्न खड़े किये बिना, सम्मान करें। यदि कुछ सिद्धान्तों, तथ्यों या प्रतिज्ञाओं की सिद्धि या असिद्धि मान भी ली जाय, तब भी, प्रतिस्पर्धी विवाद करने वालों के बीच मध्यस्थ द्वारा शासित किये गये, यह या अन्य सिद्धान्तों के बारे की स्वीकृति समस्त विवाद के लिये प्रारम्भिक आवश्यकता होगी।[1] रामानुज सम्प्रदाय के विख्यात दार्शनिक वेंकटनाथ, इन मतों के विरोध में, सत्य या हेतु या ज्ञेय विषय की खोज की प्रारम्भिक अवस्था के तौर से, कुछ प्रतिज्ञाओं या तथ्यों में स्वाभाविक धर्म के रूप में प्रामाण्य या अप्रामाण्य मानना आवश्यक है या नहीं इसे निश्चित करना चाहते हैं। अगर प्रामाण्य या अप्रमाण्य प्रतिज्ञाओं का भेद नहीं माना जाय तो, कोई भी प्रबंध (प्रतिज्ञा) सिद्ध नहीं की जा सकती और न कोई व्यवहार ही सम्भव है। यद्यपि सामान्य लोगों की स्वीकृति के आधार पर प्रमाण

---

[1] न च प्रमाणादिनां सत्तापि इत्थम् एव ताभ्याम् अंगीकर्तुम् उचिता, तादृश-व्यवहार नियममात्रेणैव कथा प्रवृत्युपपत्तेः। प्रमाणादिसत्ताम् अभ्युपेत्यापि तथा व्यवहार नियम व्यतिरेके कथा प्रवृत्ति बिना तत्व निर्णयस्य जयस्य वा अभिलसितस्य कथ कयोरपर्यवसानात्, इत्यादि। —खण्डनखण्डखाद्य, पृ० ३५।

और अप्रमाण प्रतिज्ञाओं का भेद इस प्रकार मानना पडता है, तब भी उनके सच्चे स्वरूप का परीक्षण करना ही पडता है। जो इस भेद को अस्वीकार करते हैं उनके लिये चार विकल्प उपस्थित होते हैं, जैसाकि (१) सारी प्रतिज्ञाएँ प्रमाण हैं (२) सारी प्रतिज्ञाएँ अप्रमाण हैं (३) सारी प्रतिज्ञायें आपस मे परस्पर विरोधी है, या (४) सारी प्रतिज्ञाएँ शकास्पद हैं। यदि सारी प्रतिज्ञाए प्रमाण हैं तो ऐसी प्रतिज्ञाओं का निषेध भी प्रमाण है, जो स्वतोविरोधी हो जाता है। अगर वे सभी अप्रमाण हैं तो यह प्रतिज्ञा भी अप्रमाण ठहराती है और इस प्रकार अप्रमाणता प्रतिपादित नही की जा सकती। तीसरे विकल्प के बारे मे, यह बताया जा सकता है कि अप्रमाण प्रतिज्ञा कभी भी प्रमाण प्रतिज्ञा का बाध नही कर सकती। यदि एक प्रमाण प्रतिज्ञा दूसरी प्रमाण प्रतिज्ञा के क्षेत्र को निरुद्ध करती है तो इसे विरोध नहीं माना जा सकता। एक प्रमाण प्रतिज्ञा को उसकी प्रमाणता प्रकट करने के लिये दूसरी प्रतिज्ञा पर आश्रित होना नही पडता। क्योंकि प्रमाण प्रतिज्ञा स्वत प्रमाणित है। अन्त मे, यदि आप सभी के बारे मे शका करते हैं तो कम से कम आप इसे तो शका नही करते कि आप शका करते हैं, इस प्रकार तुम्हारा यह कहना असगतिपूर्ण है कि आप सभी के बारे मे शका करते हैं।[1] इस प्रकार यह मानना पडता है कि दो प्रकार की प्रतिज्ञाएँ होती हैं प्रमाण और अप्रमाण। प्रतिज्ञाओं के बीच प्रमाणता और अप्रमाणता का सामान्य भेद यदि स्वीकार कर लिया जाय, तो भी, कोई विशेष प्रतिज्ञा, प्रमाण है अथवा नही है इसे निश्चित करने के लिये उक्त प्रतिज्ञा का परीक्षण पूछताछ खोज इत्यादि किया जाना न्याय युक्त है। प्रमाण उसे ही कहते हैं, जिसके द्वारा सही ज्ञान (प्रमा) उपलब्ध हो।[2] उदाहरणार्थ प्रत्यक्ष के यथार्थ ज्ञान (प्रमा) के लिए दोष रहित नेत्र ध्यान सगत मानसिक व्यापार एव विषय की योग्य *निकटता* इत्यादि के सयुक्त स्वरूप से 'प्रमाण' की उपलब्धि होती है। किन्तु शब्द प्रमाण मे, ज्ञान की प्रमाणता बोलने वाले की दोष रहितता से है। शास्त्र प्रमाण हैं *क्योंकि* वे ईश्वर द्वारा कहे गये हैं जिन्हें वस्तु का सच्चा ज्ञान है। वेदो की प्रमाणता, हमारे ज्ञान के साधनो की दोष रहितता पर आश्रित नहीं है। यह कैसे भी हो प्रमाण का अतिम निश्चय प्रमा द्वारा या सच्चे ज्ञान द्वारा ही है। जिससे सच्चा ज्ञान प्राप्त हो सकता है वही प्रमाण है। वेद प्रमाण हैं क्योंकि वे ईश्वर द्वारा कहे गये हैं जिसे

---

[1] यह उक्ति डेकार्ट का स्मरण कराती है—सर्व सदिग्धम् इति ते निपुणस्यास्ति निश्चय सशयश्च न सदिग्ध सदिग्धाद्वैतवादिन ।

—न्याय परिशुद्धि पृ० ३४। चौखम्बा स० सी०।

[2] यहा करण प्रामाण्य और आश्रय प्रामाण्य के बीच भेद किया गया है। (प्रमाश्रयस्य ईश्वरस्य, प्रामाण्य, अगीकृतम्) न्यायसार न्याय परिशुद्धि की टीका, श्री निवास कृत, पृ० ३५।

सच्चा ज्ञान है। इस प्रकार ज्ञान की सच्चाई ही, अन्त मे, प्रमाण की सिद्धि निश्चित करती है।[1]

वात्स्य श्री निवास जो रामानुज सम्प्रदाय के श्री वेंकटनाथ के उत्तराधिकारी हैं, प्रमाण की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि प्रमाण, यथार्थ ज्ञान (प्रमा) की तात्कालिक नित्य एवं एकांतिक कारण की पूर्ववर्ती स्थिति होने के फलस्वरूप समग्र कारणों में सबसे विशिष्ट सिद्धिकर उपकरण है। अतः उदाहरण के लिए प्रत्यक्ष में चक्षु इन्द्रिय के प्रमाण द्वारा यथार्थ ज्ञान (प्रमा) की उपलब्धि सम्भव है यद्यपि इस क्रिया में बीच की सक्रिय क्रिया (अवान्तर व्यापार) के माध्यम से आँख का वस्तु से सम्पर्क होता है।[2] न्याय के सुविख्यात लेखक, जयन्त ने अपनी 'न्याय मंजरी' में इस विषय पर भिन्न ही मत प्रकट किया है। उन्होंने माना है कि प्रमा की उत्पादक सामग्री में से किसी एक को भी दूसरे से अधिक महत्वपूर्ण या अतिशय नहीं कहा जा सकता। कारण साधन की अतिशयता का अर्थ उनकी कार्योत्पादक शक्ति है, और यह शक्ति, उत्पादक सामग्री के सभी तत्वों में संयुक्त होकर ही है इसलिये प्रमा उत्पन्न करने वाली सम्पूर्ण कारण—उत्पादक सामग्री को ही प्रमाण मानना पड़ेगा।[3] उद्देश्य और विधेय भी अधिक महत्वपूर्ण नहीं माने जा सकते क्योंकि वे भी उद्देश्य और विधेय के बीच, उत्पादक सामग्री द्वारा ही, इच्छित सम्बन्ध उत्पन्न करके ही, प्रकट होते हैं।[4] न्याय के अनुसार उत्पादक सामग्री बोधा बोध स्वभाव रूप है।[5]

अगर वेदान्त परिभाषा का मत माना जाता है तो शंकर अनुयायियों का मत भी इस विषय पर रामानुज के मत जैसा बहुत कुछ हो जाता है, क्योंकि धर्म राजाध्वरीन्द्र

---

[1] करण प्रामाण्यस्य आश्रय प्रामाण्यस्य च ज्ञानप्रामाण्याधीनज्ञानत्वात् तदुभय-प्रामाण्य-सिद्धयर्थमपि ज्ञान-प्रामाण्यमेव विचारणीयम्।

—न्यायसार, पृ० ३५।

[2] प्रमा करणं प्रमाणम् इति उक्तम् आचार्ये सिद्धान्त सारे प्रमोत्पादक-सामग्री मध्ये यह अतिशयेन प्रमागुणकम् तत् तस्या कारणम्, अतिशयश्च व्यापार, यद्धि यद् जनयित्वैव यद् जनयेत तत्तत्र तस्यावान्तर व्यापार। साक्षात्कारि प्रमाया इन्द्रिय कारणम् इन्द्रियार्थ संयोगोवान्तर व्यापार।

—रामानुज सिद्धान्त संग्रह। गव० ओ० हस्त० स० ४६८८।

[3] सच सामग्र्यन्तर तस्य न कस्यचिद् एकस्य कारकस्य कथयितु पार्यते, सामग्र्यस्तु सोऽतिशय सुवच सन्निहिता चेत् सामग्री सम्पन्नम् एव फलम इति।

—न्याय मंजरी, पृ० १३।

[4] साकल्य प्रसाद लब्ध प्रमिति-सम्बन्ध-निबंधन प्रमातृ-प्रमेयो मुख्यस्वरूप लाभ।

—वही, पृ० १४। न्याय मंजरी।

[5] बोधा बोध स्वभावा सामग्री प्रमाणम्। —न्याय मंजरी, पृ० १५।

और रामकृष्ण दोनो प्रमाण को प्रमा का कारण मानने मे एक मत हैं। चाक्षुष प्रत्यक्ष से तथा अन्य मे इन्द्रिया ही प्रमाण मानी गई हैं, और इन्द्रिय सयोग इस कारण का व्यापार माना गया है।

रामानुज और न्याय के मत मे भेद यह है कि जबकि न्याय उत्पादक सामग्री के प्रत्येक तत्व को समान महत्व देता है, रामानुज का मत, उसी निमित्त कारण को विशेष महत्व देता है जो व्यापार से साक्षात् सबधित हैं। शकर अनुयायी भी ज्ञान के ऐसे उत्पादक मत को मानते हैं यद्यपि वे चैतन्य को नित्य और अज मानते हैं, तो भी, वे वृत्ति ज्ञान की उत्पत्ति मे मान्यता रखते हैं। क्योंकि यद्यपि वे चैतन्य को नित्य और अज मानते हैं तो भी वे वृत्ति ज्ञान उत्पन्न हो सकता है ऐसा मानते हैं। शकर और रामानुज के मत न्याय से एक मत हो ज्ञान के उत्पादक सिद्धान्त को मानते हैं, क्योंकि दोनो के मतानुसार जगत् विषय रूप से, ज्ञाता के बाहर है और प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रिया से, अर्थ का व्यापार द्वारा सयोग होने से उत्पन्न होता है। रामानुज मत में कारण और करण (विशेष साधन) के बीच भेद किया गया है और वह कारण जो कार्य उत्पन्न करने वाले व्यापारो से, अतिशय रूप से और साक्षात सम्बन्धित है वह करण है।[1] इसी कारणवश यद्यपि रामानुज का मत सामग्री को स्वीकार कर लेता है, किन्तु कुछ अश मे वह इन्द्रियो को भी प्रधान साधन मानता है दूसरे सब सहायक हैं या अन्य रूप से उत्पादन में सहकारी हैं।

कुछ बौद्ध ऐसे भी हैं जो पूर्ववर्ती क्षण के मानसिक तथा मनोबाह्य कारक की सयुक्त सामग्री ही, ज्ञान तथा उत्तर क्षण की बाह्य घटना को उत्पन्न करती है, ऐसा मानते हैं, किन्तु वे मानसिक तत्व सीधे सीधे ज्ञान उत्पन्न करते हैं ऐसा मानते हैं, जबकि मनोबाह्य तथा बाह्य पदार्थ केवल उत्तेजक या सहकारी साधन हैं। इस मत के अनुसार ज्ञान अनुभव के पूर्व ही, अन्तर से निश्चित होता है, यद्यपि बाह्य विषयो के प्रभाव का निषेध नही किया गया है। बाह्य जगत मे कारणता के व्यापार के सम्बन्ध में वे मानते हैं कि यद्यपि वर्तमान क्षण के ज्ञानमय तत्व, सहायक रूप से उन्हे प्रभावित करते हैं तो भी अतिशय कारण व्यापार तो बाह्य विषयो में ही ढूढना पडेगा। पूर्ववर्ती क्षण के ज्ञान तथा ज्ञानोत्तर तत्व, सयुक्त रूप से, जगत मे, उत्तर क्षण की प्रत्येक घटना को निश्चित करते हैं, चाहे वे मानसिक या भौतिक ही क्यो न हो, किन्तु ज्ञान की उत्पत्ति के निश्चय मे तो ज्ञान तत्व ही प्रबल हैं बाह्य दशाए केवल सहकारी ही हैं। बाह्य घटना को निश्चित करने में, ज्ञान तत्व सहायक हैं और बाह्य कारण निकटतम साधन रूप हैं। इस प्रकार ज्ञान की उत्पत्ति में यद्यपि विशिष्ट बाह्य

---

[1] तत्कारणाना मध्ये या दतिशयेन कार्योत्पादक तत्करणम।
—रामानुज सिद्धान्त सग्रह, ग० ओ० हस्त० स० ४६८८।

पदार्थ सहायक माने जा सकते हैं किन्तु उनका अचिरात और अव्यवहित रूप से निर्धारक तत्व विज्ञान ही है।[1]

विज्ञानवादी बौद्ध जो प्रत्यय बोध और पदार्थ वस्तु में भेद नहीं करते उनकी मान्यता है कि अरूप प्रत्यय ही नील, लाल इत्यादि भिन्न रूप धारण करता है, क्योंकि वे इन प्रत्यय बोधों के अलावा किसी अन्य बाह्य विषय को नहीं मानते और इसलिए, विभिन्न रूप में प्रत्यय बोध (विज्ञान) को ही प्रमाण कहते हैं और इन्द्रिया अथवा अन्य सामग्री की मान्यता अस्वीकार करते हैं। प्रमाण और प्रमाण फल, या प्रमाण व्यापार की निष्पत्ति में यहां भेद नहीं किया गया है।[2] अतः विज्ञानवादी बौद्धों में पदार्थ की स्थिति एवं उसकी जानकारी के भेद का कोई खुलासा नहीं किया गया है। अर्थात वे चेतना और उसके अर्थ या विषय का भेद समझाने में असफल रहते हैं।

कुमारिल की मीमांसा शाखा का विचार है कि आत्मा इन्द्रिया मनस विषय संयोग क्रम को अनुसरण करते हुए, कोई ऐसा ज्ञान व्यापार है, जोकि वह साक्षात प्रत्यक्ष नहीं होता, तो भी उसे ज्ञान के विषय का प्रकट करने का नियत व्यापार मानना ही पड़ेगा (अर्थ दृष्टता या विषय प्रकाशता)। यही अदृष्ट किन्तु न्याय अनुमित ज्ञान व्यापार है जो प्रमाण कहलाता है।[3] जयन्त ऐसे अदृष्ट व्यापार का ज्ञान क्रिया को मान नहीं सकते, क्योंकि न्याय मतानुसार एक ही प्रकार का व्यापार माना

---

[1] ज्ञानं जन्मनि ज्ञानम उपादान कारणमर्थ सहकारि कारणमर्थ जन्मनि च अर्थ उपादान कारण ज्ञान सहकारिकारण।

—न्याय मंजरी, पृ० १५।

जयन्त ने इस मत के प्रति यह आक्षेप किया है कि, अगर ज्ञान और बाह्य पदार्थ और दोनों घटना, पूर्ववर्ती क्षण के ज्ञान तथा ज्ञानोतर तत्वों के संयुक्त व्यापार से निश्चित होते हैं तो हम पूछते हैं कि एक तथ्य ज्ञान है और दूसरा भौतिक है, एक दृष्टा है और दूसरा दृश्य है, इसे कौन निश्चित करता है।

[2] निराकारस्य बोधरूपस्य नील पीताद्यनेक विषय साधारणत्वाद् जनकत्वस्य च चक्षुरादावपि भावेनातिप्रसंगात तदाकारत्वकृतम एव ज्ञानकर्म नियमम अवगच्छन्त साकार विज्ञानम प्रमाणम् अर्थस्तु साकार ज्ञानवादिनो न समस्त्येव।

—वही, पृ० १६।

[3] ना यथा ह्यथ सद्भावो दृष्ट सन्नुपपद्यते।
ज्ञान चेन्नेत्यत पश्चात प्रमाणम् उपजायते॥

—श्लोक वार्तिक, शून्यवाद, १७८।

जयंत यह भी कहते हैं, फलानुमेयो ज्ञान व्यापारो ज्ञानादि शब्द वाच्य प्रमाणम्।

न्याय मंजरी, पृ० १७।

गया है जो परमाणु की गति है या कारण चक्र द्वारा उत्पन्न किये गया परिस्पद (चलन) है।[1]

जैन मतवादी सामग्री की संयुक्त कारणता का या किसी भी व्यक्तिगत कारण का, जैसे कोई भी इन्द्रिय या प्रत्यक्ष ज्ञान में किसी भी प्रकार के इन्द्रिय सम्बन्ध, या अन्य किसी प्रकार के ज्ञान का खण्डन करते हैं। प्रभाचंद्र, इस प्रकार 'प्रमेय कमल मार्तण्ड' में, विचार करते हैं कि कोई भी व्यक्तिगत कारण या कारण सामग्री का संयोग, ज्ञान की उत्पत्ति नहीं कर सकता है। क्योंकि ज्ञान हमारे इच्छित विषय के प्रति, या अनिच्छित विषय से दूर, ले जाने में, स्वतंत्र और स्वतः निश्चित है, और किसी अर्थ में इन्द्रियों का कारण व्यापार या इन्द्रियों का संयुक्त व्यापार या अन्य किन्हीं तत्वों को, ज्ञान का कारण नहीं कह सकते। इस प्रकार स्वतः ज्ञान को ही प्रमाण मानना चाहिए जो इच्छित विषय को प्राप्त कराता है।[2]

प्रमाण के विषय में, विभिन्न मतों का सारा निचोड ज्ञान की उत्पत्ति में, इन्द्रियों का विषय या वस्तु और अन्य सहकारी परिस्थितियों के संबंध के प्रकार को निश्चित करने में ही रहा है। जैसा कि हमने देखा है, रामानुज के मतानुसार, ज्ञान, अनेक कारण तत्वों का कार्य माना गया है जिसमें प्रत्यक्ष ज्ञान में इन्द्रियां साक्षात् (अचिरात) और नियत रूप से महत्वपूर्ण कार्य करती है। जैन और बौद्ध (विज्ञान वादी) (यद्यपि उनमें आपस में उत्कट मतभेद है) ज्ञान के आत्मनिर्धारण को मानने में एक मत हैं, जिसके अनुसार ज्ञान, इन्द्रियां या बाह्य पदार्थों के व्यापार जो ज्ञान के विषय बनते हैं और उससे प्रकाशित होते हैं, स्वतंत्र है।

वेंकटनाथ का संशय निरूपण

वेंकटनाथ संशय को विशिष्ट विरोधी गुणों के अग्रहण से, दो या अधिक विकल्पों (जो आपस में असंगत हैं) का दीखना कहते हैं और दोनों में कुछ सामान्य साधारण लक्षणों का अनुभव करना है जैसे कि जब केवल ऊंची वस्तु ही दीखती है, वह फिर चाहे मनुष्य हो या ठूंठ हो, जो एक दूसरे से सर्वथा भिन्न होने से एक साथ दोनों नहीं हो सकते। इसलिए दोनों विकल्प एक दूसरे से सर्वथा भिन्न नहीं होने चाहिए और वस्तु को देखने से पता नहीं चलना चाहिए कि वह एक या दूसरी है,

---

[1] तस्मात् कारक-चक्रेण चलता जन्यते फलम्।
नपुनश्चलनाद् अन्यो व्यापार उपलभ्यते ।। —वही, पृ० २०।

[2] ततोऽन्य निरपेक्षतया स्वार्थ परिच्छिन्न साधकतमत्वात ज्ञानम् एव प्रमाणम।
—प्रमेय कमल मार्तण्ड, पृ० ५।

इसी से सशय उत्पन्न होता है। वेंकटनाथ सशय के इस विश्लेषण को पूर्वगामी आचार्यों को लक्ष्य करके, यायपूर्ण सिद्ध करने की कोशिश करते हैं, वे सशय को मन की उस स्थिति कहते हैं जिसमे वह एक विकल्प से दूसरे की तरफ दोलायमान होकर अनुभव करना है (दोलावेगवदत्र स्फुरण क्रम), क्योंकि एक ही वस्तु का एक ही समय मे दोनो होना, असगतिपूर्ण है। 'आत्मसिद्धि' के रचयिता ने, इसलिए सशय को मन का दो या अधिक वस्तुओ से शीघ्र क्रम मे शिथिल सयोग कहा है (बहुभियु गपद् दृढ सयोग)। सशय, सामा य लक्षणा के ज्ञान से–जसेकि ऊचाई से, प्रत्यक्ष वस्तु चाहे पुरुष हो या वक्ष का ठूठ हो या जो दृष्टिगोचर होता है या किसी अ य प्रकार से जाना गया है, उससे सूचित भिन्न सभावनाएँ और भिन्न विरोधी लक्षणा के पारस्परिक वला के बीच, निश्चित न कर पाने से, उत्पन्न होता है (अप्रह्यमान बल तारतम्य विरुद्धा नेकाापकोपस्थापनम इह विप्रतिपत्ति)। इसलिए, जब भी दो या अधिक समाव्यताएँ होती हैं जिनम से कोई भी और प्रमाणित किए विना हटाई (निरास) नही जा सकती तो सशय उत्पन्न होता है।[1]

---

[1] वात्स्यायन के भाष्य म (१ ११ २३) मे सशय का याय दृष्टि से यह विश्लेषण किया गया है। शक्य वस्तुओ के, जब सामा य लक्षण देखे जाते हैं किन्तु विशिष्ट गुणा को नही देखा जाता जिससे निश्चित रूप से यह है या वह है ऐसा कहा जा सकता है तब मन की उस समय, एक या दूसरे के पक्ष में निश्चित करने की वेदना, सशय है। सशय मतो के द्वद्वात्मक स्थिति (विप्रतिपत्ति) से भी उत्पन्न होता है जैसेकि कोई कहते हैं कि आत्मा है जब अ य कहते हैं आत्मा नही है। सशय, उन निर्णयात्मक लक्षणो के ज्ञान स भी (विभाजन से उत्पन्न विभागतत्व) उत्पन्न होता है जो लक्षण एक वस्तु म (उदाहरणाथ शब्द) दूसरी वस्तु के साथ सामा य रूप से है (उदाहरणाथ, द्रव्य गुण कम इत्यादि)। सशय, वस्तु के न होते भी, उसे निश्चित करने की इच्छा के कारण भ्रमपूवक देखने, से भी उत्पन्न होता है (मगतृष्णा) और सशय इस प्रकार भी उत्पन्न हो सकता है कि जब हम वस्तु (वहाँ है पर अप्रकट है) नहीं दीखती है पर हम उसके लक्षण जानने की इच्छा रखते हैं जिससे हमे यह निश्चय हो जाय कि वस्तु वहाँ थी या न थी। वेंकटनाथ का इस विषय मे मुख्य योग यह है कि वे सशय का साधारण (सामा य) विश्लेषण विशिष्ट प्रकार के पाँच सशय कहने के बजाय एक मानसिक परिस्थिति के रूप मे करते हैं। वेंकटनाथ यह स्पष्ट करते हैं कि सशय पाच प्रकार के ही हा एसा नही है किन्तु अनेक प्रकार के हो सकते हैं और इसमे सबा की स्वीकृति है कि सशय की स्थिति मे मन एक विकल्प से दूसरे की तरफ वस्तु के विशिष्ट एव निश्चयात्मक लक्षणा को दखे बिना, केवल कुछ सामा य लक्षणा को देखने के कारण भिन्न सम्भाव्य विकल्पो के पारस्परिक वला के प्रति अनिश्चितता से दोलायमान रहता है।

इस प्रकार, सशय, सच्चे और झूठे प्रत्यक्ष के बीच उत्पन्न होता है जब मैं दर्पण मे मुँह देखता हू, किन्तु यह नही जानता कि वह सचमुच मुँह है या नही जबतक कि मैं उसे स्पर्श कर निश्चित नही करता। इसी तरह, सिद्ध या असिद्ध अनुमान के बीच भी, जब मैं धुएँ मे यह अनुमान करता हूँ कि पर्वत पर आग लगी है, और तब भी प्रकाश न देखकर सशय करूँ कि सचमुच आग लगी है या नही शास्त्र वाक्यो मे विरोध होने पर, जीव ब्रह्म से भिन्न कहा गया है, और वह उससे एक रूप है, तब सचमुच जीव ब्रह्म से भिन्न है या एक रूप है, आप्त वचनो के मतभेद होने पर (उदाहरणार्थ, वैशेषिक दार्शनिक और उपनिषदो के सिद्धान्त) जैसेकि इन्द्रियाँ भौतिक हैं या अहकार के कार्य हैं। प्रत्यक्ष और अनुमान के बीच भी यही परिस्थिति है। (पीली सीप का भ्रमयुक्त देखना, उसे पीला देखकर अनुमान करना कि वह पीला नही हो सकता, क्योकि वह सीप है तब सशय होता है कि सीप सफेद है या पीला इत्यादि)।

वेंकटनाथ, अपने 'प्रज्ञापरित्राण' मे, वरदनारायण के मत का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि उन्होने सशय का जो त्रिविभाजन सामान्य लक्षणो के ज्ञान से भिन्न विकल्पो के ज्ञान से, पडित और आप्त लोगो म मतभेद से, किया है, वह न्याय दृष्टि को अनुकरण करके किया है,[1] क्योकि अत के दो विकल्प एक ही हैं। वेंकटनाथ, आगे सशय के विषय म, उस न्याय मत का निरसन करते हैं जिसम, वात्स्यायन, न्याय सूत्र १ ११ २३ को समझाते हुए कहते हैं कि सशय विशेष लक्षित गुणो से भी उत्पन्न हो सकता है। इस तरह पृथ्वी मे गध का, विशिष्ट लक्षित गुण है जो न तो आत्मा जसे नित्य द्रव्य मे है और न जल जमे अनित्य द्रव्यो में है और स्वाभाविक रूप से यह सशय किया जा सकता है कि पृथ्वी नित्य द्रव्य से भिन्न होने से अनित्य है, या अनित्य द्रव्यो से भिन्न होने के कारण नित्य है। वेंकटनाथ यह बताते हैं कि यहा सशय, इस कारण नहीं होता कि पृथ्वी मे यह विशेष या लक्षित गुण है। सीधा कारण यही है कि गध का होना नित्यता या अनित्यता निश्चित करने के लिए, बिलकुल असगत है क्योकि यह नित्य और अनित्य द्रव्य, दोनो मे प्राप्त है। जब तक कि कोई विशेष लक्षित गुण जो नित्य और अनित्य वस्तु मात्र मे है और वह पृथ्वी मे भी पाया जाता है जिसके बल पर यह निश्चित किया जा सके कि वह नित्य है या अनित्य है तब तक सशय बना ही रहेगा (व्यतिरेकि निरूपण विलम्बात्)। वेंकटनाथ, अनेको उदाहरणो द्वारा यह बताते हैं कि सशय, दो समान्य विकल्पो के प्रति अनिश्चय की वजह से मन का दोलायमान होना है। वे 'इस वृक्ष का क्या नाम होगा ?' ऐसे

---

[1] साधारणा कृतेद्र ष्टयाऽनेकाकार ग्रहात्तथा।
विपश्चिता विवादाच्च त्रिधा सशय इष्यते॥
—प्रज्ञा परित्राण, न्याय परिशुद्धि म उद्धत, पृ० ६२।

प्रश्न को भी संशय मानते हैं और केवल अनिश्चय या ज्ञान की कमी को नहीं मानते (अनध्यवसाय)। ऐसी जिज्ञासा, युक्त रूप से संशय स्वीकार की जा सकती है, क्योंकि यह दो या दो से अधिक वैकल्पिक नामों के बारे में संशय उत्पन्न करता है, जो मन में दोलायमान हो रहे हैं और किसी एक या दूसरे नाम का निश्चय करने की इच्छा हो रही है। इस प्रकार यहाँ पर भी स्थिर निर्णय न ढूँढ पाने के कारण, दो विकल्पों के बीच अनिश्चय है (अवच्छेदकादर्शनात् अनवच्छिन्न कोटिविशेष)। ऐसी दोलायमान स्थिति का अवसान किसी एक सम्भाव्य विकल्प के पक्ष या विपक्ष में मानसिक क्रिया से हो सकता है जिसे ऊहा कहते हैं (किन्तु इसे अनुमान के सम्बन्ध में तर्क नामक ऊहा से पृथक् रखना चाहिए), जो संशय को दूर कर अनुमान की ओर ले जाती है।[1] अनन्तार्य, जो रामानुज सम्प्रदाय के उत्तरकालीन लेखक हैं, संशय का और प्रकार से वर्णन करते हैं कि संशय मन की वह स्थिति है जिसमें सामने कुछ है इतना ही दीखता है, किन्तु उसका विशिष्ट गुण, रूप या लक्षण नहीं दिखाई देता (पुरोवर्तिमात्रम् अगृहीत विशेषणम् अनुभूयते)। केवल दो विकल्प ही (उदाहरणार्थ वृक्ष या ठूँठ और पुरुष) ही याद आते हैं। स्वार्थ सिद्धि के अनुसार हमारे सामने किसी का सदोष निरीक्षण, उसके अनुरूप संस्कार जाग्रत करता है जो बारी से उन संस्कारों को जाग्रत करता है जिससे दो सम्भाव्य विकल्प एक ही स्मरण में युगपद् याद आ जाते हैं जिनमें से किसी को भी निश्चित नहीं किया जाता।[2] इस सम्बन्ध में, लघु और बहुमतवादियों के बीच यह मतभेद का विषय है अल्पमतवादी मानते हैं कि हमारे सामने किसी पदार्थ का अनुभव, संस्कारों को जाग्रत करता है जो बारी से दो भिन्न संस्कारों को जाग्रत करता है जिससे एक स्मरण, दो विकल्पों से युक्त हो जाता है, और बहुमतवादी यह मानते हैं कि हमारे सामने उपस्थित पदार्थ अविलम्ब ही दो विकल्पों की स्मृति उत्पन्न करता है जो संशय अर्थ में लिया जाता है। पहला मत, दो स्मृतियों को एक ज्ञान से जोड़ता है और दोलायमान स्थिति को निर्णय का एक क्रम मानता है इसलिए वे ऐसा मानते हैं कि संशय में भी एक निर्णय की जगह दूसरा भूल से निवेश होता है, जो अन्यथाख्याति के अनुसार है। पिछला मत, जो यह मानता है कि दो सम्भव विकल्पों की दो भिन्न स्मृतियाँ हैं वह रामानुज को ज्ञान

---

[1] ऊहस्तु प्राय पुरुषेणानेन भवितव्यम् इत्यादि रूप एककोटिसहचरितभूयोधर्मदर्शनाद् अनुभूतान्य कोटिक स एव।

—न्याय परिशुद्धि, पृ० ६८ चौखम्भा।

[2] पुरोवृत्यनुभव जनित संस्कारेण कोटि द्वयोपस्थिति हेतु संस्काराभ्याम् च युगपदेक-स्मरणं संशय स्थले स्वीक्रियतइति सर्वार्थसिद्धौ उक्तम्।

—अनन्तार्य का ज्ञान यथार्थवाद, गव० ओ० हस्त० स० ४८८४।

यथार्थवाद का मानने वाला समझता है या इस मत को कि जो कुछ भी जाना जाता है या अनुभव मे आता है उसका एक उद्देश्य और सच्चा आधार है।

वेंकटनाथ के अनुसार भ्रम और सशय

वेंकटनाथ के अनुसार भ्रम, जब एक या अधिक असगत (विरोधी) लक्षण किसी वस्तु में, उनकी असगति या विरोध को जाने बिना, निर्दिष्ट किए जाते हैं, तब उत्पन्न होता है। यह सामान्यत, दोषयुक्त प्रत्यक्ष वस्तु से सम्बन्धित, मिथ्या मानसिक प्रवृत्ति के कारण उत्पन्न होता है, जैसेकि सीप को पीला अनुभव करना, एक बडे चन्द्र को छोटा एव दो देखना, एक ही वस्तु मे विरोधी गुणो का अनेकान्त प्रतिपादन करना या शकर मतवादियो का जगत को सत और असत दोनो कहना है।[1] सशय, दूसरी ओर, तब उपस्थित होता है, जब अनुभूत लक्षण जो व्यावर्तक और आपस मे विरोधी दीखते हैं, दो या अधिक पदार्थों म स्वीकार किए जाने पर विरोध उत्पन्न नही करते हैं और जो इसीलिए दोनो एक ही समय स्वीकृत नहीं किए जा सकते। इसलिए, इस अवस्था को कुछ लोग मन की एक दशा से दूसरी दशा पर दोलायमान होना कहते हैं। निश्चय तब ही होता है जब मन एकाग्र हो, एक ही विषय पर दृढ निश्चय करता है सशय बहुअर्थी दोलायमान स्थिति से उत्पन्न होता है, जैसाकि आत्मसिद्धि म बताया है। मन की दिशा मे दृढता की अनुपस्थिति, मन की स्वाभाविक प्रकृति के कारण है जिससे विरोधी विकल्प को आवश्यक रूप से त्याग देना पडता है। भट्टारक गुरु, इसी विचार को तत्व रत्नाकर मे दोहराते हैं जब वे सशय को, किसी एक वस्तु के साथ दो विरोधी या विपरीत गुणो का सम्बन्ध जोडना कहते हैं। वेंकटनाथ के अनुसार सशय दो प्रकार के हैं समान धर्म और विप्रति पत्ति से अर्थात् जब दो भिन्न सूचनाए दो या अधिक निष्पति को सूचित करती हो, और इन सूचनाओं का अपेक्षित बल निश्चित न किया जा सके। पहले उदाहरण मे सशय की दशा अनिश्चितता है जो इस घटना के कारण है कि दो विपरीत विकल्प जिनका सापेक्ष बल, कुछ समान गुणो के कारण निश्चित नही किया जा सकता है वे स्वीकृति देन के लिए बाध्य करते हैं (समानधर्म विप्रति पत्तिभ्याम)। इस प्रकार, जब हम अपने सामने कुछ ऊँची वस्तु देखते हैं तब दो सम्भाव्यताएँ खडी हो सकती हैं—ऊँची वस्तु पुरुष या खभा हो सकता है—क्योंकि वे दोना ही ऊचे होते हैं। जबकि नाना के भिन्न (प्रमाणो) उद्गमो का सापेक्ष बल, उदाहरणार्थ, प्रत्यक्ष, भ्रम, अनुमान शब्द इत्यादि भिन्न निष्कर्ष को ग्रहण करने मे (अगृह्यमाणबल तारतम्य) निश्चित नहीं करा पाते और दोना ही एक ही वस्तु या निष्कर्ष को स्वीकार करने पर बाध्य करते हैं तब सशय उत्पन्न होता है कि

---

[1] देखो न्यायपरिशुद्धि पृ० ५४ ५५।

किसे स्वीकार किया जाय। इस प्रकार जब कोई दर्पण में अपने मुँह का प्रतिबिम्ब देखता है जो स्पर्श द्वारा प्रमाणीकृत नहीं होता है तब प्रतिबिम्ब की सचाई के विषय मे सशय उत्पन्न होता है। पुन सशय पर्वत मे अग्नि है इसके बारे मे दो अनुमानों से उत्पन्न हो सकता है, धूम्र है इसलिए अग्नि है और प्रकाश है इसलिए सम्भवत अग्नि नही है। पुन उपनिषदों मे कुछ पाठ ऐसे हैं जो कुछ तो एकत्ववादी है और दूसरे द्वैतवादी हैं इसलिए सशय हो सकता है कि कौनसा उपनिषद् का मत सच्चा है इत्यादि। सशय दो विरोधी विवादों से भी उत्पन्न हो सकता है जैसेकि परमाणुवादी और उपनिषदकारों के बीच इस विषय मे कि इन्द्रियाँ भूत से उत्पन्न हुई हैं या अहंकार से। वह सामान्य जनो की दो विरोधी प्रतिज्ञाओं से भी उत्पन्न हो सकता है प्रत्यक्ष (सीप को भ्रमयुक्त पीला देखना) और यह अनुमान कि सीप पीली नहीं हो सकती आत्मा का ज्ञान कि वह देह युक्त है और शास्त्र प्रमाण कि वह अणु है, भी सशय के विषय हैं।

सशय, जगत अणुरूप है इस अनुमित ज्ञान और शास्त्रोक्त ज्ञान कि ब्रह्म ही जगत का मूल आधार है के बीच उत्पन्न हो सकता है। नैयायिक तो ऐसा भी सोचते हैं कि दो विरोधी पक्षो के भिन्न मतो के बारे में भी सशय उत्पन्न हो सकता है।[1] वकटनाथ बताते हैं कि न्याय सूत्र' और प्रज्ञा परित्राण' दोनो का यह कहना कि सशय उत्पन्न करने मे समान धर्म और अनेक धर्म का ज्ञान, स्वतन्त्र कारण है, गलत

---

[1] समानानेक धर्मोपपत्तेविप्रतिपत्तेरुपलब्ध्यनुपलब्ध्य व्यवस्थातश्च विशेषापेक्षो विमर्श सशय।   न्यायसूत्र, १ १ २३।

उद्योतकार इसका यह अर्थ करते हैं कि प्रत्येक सशय की अवस्था म तीन बातें होती हैं जैसेकि (१) सामान्य गुणो का ज्ञान (२) विशिष्ट गुणो का ज्ञान और (३) विरोधी प्रतिपादन तथा कोई भी विपरीत समाव्यताओं के विषय में निश्चित करने की कमी के कारण विवाद करने वालो की अनिश्चित मानसिक स्थिति का ज्ञान और व्यावर्त्तक गुण जानने की तीव्र इच्छा। उद्योतकार सोचते हैं कि सशय ज्ञान की विप्रतिपत्ति के ही कारण उत्पन्न होता है ऐसा नहीं है किन्तु विवादी पुरुषो के मतो म विप्रतिपत्ति से भी होता है, यहाँ विप्रतिपत्ति का अर्थ वे वादी विप्रतिपत्ति से लेते हैं। यह मत वरद विष्णु मिश्र भी 'प्रज्ञा परित्राण' म प्रतिपादन करते हैं जो निम्न श्लोक से स्पष्ट होता है।

साधारणाकृतेर्दृष्टयानेकाकारग्रहात तथा
विपश्चिताम विवादाच्च त्रिधा सशय इष्यते॥

–प्रज्ञा परित्राण, न्याय परिशुद्धि मे उद्धत, पृ० ६१। वेंकटनाथ इसे, न्याय मत को अध होकर स्वीकारना कहते हैं।

है।[1] अनेक धर्म से उत्पन्न संशय के बारे मे यह निरूपण किया गया है कि जैसे गंध का लक्षण अनित्य पदार्थों म नहीं होता, अत हम इसलिए, पृथ्वी को नित्य पदार्थों मे सम्मिलित करने को अग्रसर हो जाते हैं और पुन यह गंध का लक्षण किसी भी अनित्य पदार्थों म नही पाया जाता इसलिए पृथ्वी को अनित्य पदार्थों मे भी सम्मिलित करने को अग्रसर हो जाते हैं। किन्तु यहा संशय अनेक गुण के ज्ञान से नहीं होता, बल्कि मन के व्यतिरेकी गुण के निश्चय करने म विलम्ब होने से उत्पन्न होता है, जिससे वह एक का दो मे से किसी एक मे समाविष्ट न कर सके। गंधत्व स्वय, अनित्यता या नित्यता की अनिवार्य उपाधि नही है। इसलिए नित्य या अनित्य द्रव्यो मे समान गुणो क बारे म जिज्ञासा उत्पन्न होती है जो गंधमय पृथ्वी म उपस्थित हो जिससे वर्गीकरण किया जा सक। यहा संशय इस कारण नही है कि गंध पृथ्वी का विशेष गुण है, किन्तु इस कारण है कि पृथ्वी मे ऐसे गुण हैं जो नित्य पदार्थों में हैं और कुछ लक्षण ऐसे है जो अनित्य पदार्थों मे है। जब यह भी कहा जाय कि गंधत्व पृथ्वी को नित्य और अनित्य पदार्थों से विविक्त करता है और यही संशय का कारण है तो यह बताया जा सकता है कि संशय इस व्यावर्तक गुण के कारण नही है किन्तु इस कारण है कि पृथ्वी म नित्य और अनित्य पदार्थों के समान गुण हैं। कुछ ऐसे भी है जो सोचते है कि विप्रतिपत्ति (अर्थात विवादी पुरुषो म युक्ति संगत प्रतिपादना के कारण अनिश्चितता) की दशा से संशय को भी समान धर्म (समान गुणो का अनुभव) के कारण है ऐसा कहा जा सकता है क्योकि विरोधी प्रतिपादना मे आपस म यह साम्य है कि विवादी पुरुष उन सबो का सत्य मानते है। वेंकटनाथ इसस सहमत नहीं है। वे मानते है कि यहाँ संशय केवल इस तथ्य के बल पर नहीं होता कि विवादी पुरुषो द्वारा विरोधी प्रतिपादन सत्य माने गए है, किन्तु इस कारण है कि हम इन प्रतिपादनो क समर्थन मे विभिन्न तर्कों का याद करते हैं जब हम इन तर्कों की संभावनाओ की सापेक्ष शक्ति की प्रमाणता निश्चित नही कर पाते। इस प्रकार विप्रतिपत्ति को संशय का स्वतंत्र उद्गम मानना पडेगा। संशय, सामान्यत दो समाख्य विकल्पो के बीच उत्पन्न होता है, किन्तु ऐसी परिस्थितिया भी हो सकती हैं,

[1] वात्स्यायन सादृश्य गुणो के प्रत्यक्षीकरण से उत्पन्न संशय का उदाहरण देते हुए मनुष्य और खम्भे का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं, जिसमे ऊंचाई इत्यादि सामान्य गुण दृष्टिगोचर होते हैं किन्तु असाधारण गुण नही दीखते। विशेष गुणो के प्रत्यक्ष से संशय का उदाहरण पृथ्वी का गंधवान होना देते है कि गंध द्रव्य का विशेष गुण नही है न कर्म और न गुण है इससे संशय उत्पन्न होता है कि पृथ्वी को द्रव्य, कर्म या गुण कहा जाय। उसी प्रकार पृथ्वी में गंध का विशेष गुण होने से यह संशय उत्पन्न हो सकता है कि वह नित्य है या अनित्य क्योंकि किसी भी नित्य या अनित्य वस्तु में यह गुण नही पाया जाता।

जिनमे दो सशय मिलकर एक हो जाते ह और एक सकीए सशय के रूप मे दृष्टिगोचर होता है। जबकि ऐसा जानते हैं कि दो मे से एक व्यक्ति चोर है, किन्तु कौन, यह नही जानते, तब सशय हो सकता है यह व्यक्ति चोर है या वह। ऐसी परिस्थिति में दो सशय उपस्थित हैं 'यह पुरुष चार है या नही हो सकता,' और 'वह पुरुष चोर है या नही हो सकता,' और ये दो एक होकर सकीए रूप से प्रकट होते हैं (सशय द्वय समाहार)। सकीए सशय म मानने की आवश्यकता तभी लुप्त हो सकती है जबकि हम चोर होने के गुए को दो म से एक पुरुष के विषय मे शका करते है। सशय स्वय मे भी स्वीकारात्मक पहलू उपस्थित करता है क्योकि इसम यह अथ निहित है कि अगर एक विकल्प का निरास किया जाता है तो दूसरा आवश्यक रूप से स्वीकृत है। किन्तु, जबकि यह निश्चित नही किया जा सकता कि किस निराश किया जाय, तो सशय उत्पन्न होता है। सशय और स्वीकार भाव म कोई भी विरोध नहीं है क्योकि सशय का यही अथ है कि शकित गुए दो विकल्पो म से किसी एक मे ही है।'

किन्तु ऐसी परिस्थितियाँ भी हा सकती हैं जिनमे दो विकल्प ऐसे हा कि शकित गुए सचमुच दोनों मे से किसी मे भी स्वीकार नही किया जा सकता है, और यह उन परिस्थितियो से भिन्न है जिसमे ऐसे विकल्प हैं कि शकित गुए का अगर एक से निषेध किया जाता है तो दूसरे म वस्तुत स्वीकाय है। इन दो दृष्टिकोणा से हमे सशय का द्विधा विभाजन प्राप्त होता है। इस प्रकार जब घास के ढेर से उठती हुई धुएँ की राशि, इस सशय का विषय होती है कि वह पवत है या हाथी इस अवस्था मे एक विकल्प का निषेध दूसरे की स्वीकृति नहीं बताता। अनिश्चितता (अनध्यवसाय 'अर्थात् इस वृक्ष का नाम क्या हो सकता है ?') मन की स्वतत्र दशा नही मानी जा सकती, क्योकि इसे भी सशय की स्थिति माना जा सकता है जिसम वृक्ष के सम्ब घ मे अनेक समाव्य नामो की अनिश्चितता है। ऐसा लगता है कि वेंकटनाथ उन मता का सतोषकारक निरास नही कर सके हैं जो अनिश्चितता या जिज्ञासा का मन की एक पृथक अवस्था मानते हैं। ऊहा (सभाव्यता के अय म जसेकि यह पुरुष ही होना चाहिए') मे दो विकल्पा के बीच दोलायमान स्थिति नही होती, किन्तु मन का वह भाव होता है, जिसमे एक तरफ की सभा यता अधिक बलशाली होने के कारए उस विकल्प का अधिक निश्चित रूप से स्वीकार करने की स्थिति उत्प न करती है, इसलिए सशय के साथ वर्गीकरए नही किया जाता है तो उसे प्रत्यक्ष ही कहा जाता है और जब यह अनुमान द्वारा स्वीकृत होता है तो उसे अनुमान कहा जाता है।

---

[1] सवस्मिन् अपि सशय धर्म्यांशादौ निएायस्य दुस्त्यजत्वात्।

—न्याय परिशुद्धि, पृ० ६६।

वेंकटनाथ रामानुज का अनुसरण करते हुए तीन प्रमाणों को मानते हैं, जैसेकि प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। रामानुज गीता[1] की टीका मे, योगि प्रत्यक्ष को भी एक स्वतंत्र प्रमाण मानते है किन्तु वेंकटनाथ मानते है कि उसे प्रत्यक्ष के अन्तर्गत समाविष्ट करना चाहिए और उसे पृथक इसलिए माना है कि वह प्रत्यक्ष के विशिष्ट इसका पहलू को प्रकट करता है।[2] सच्ची स्मृति को भी प्रमाण मानना चाहिए। स्वतन्त्र प्रमाण म वर्गीकरण नहीं करना चाहिए किन्तु इसका समावेश प्रमाण के अन्तर्गत करना चाहिए जिसके कारण स्मृति होती है (उदाहरणार्थ, प्रत्यक्ष)।[3]

मेघनादारि, स्मृति को प्रमाण मानने के विषय में विवाद करते कहते हैं कि स्मृति प्रमाण की उस आवश्यक उपाधि को सतुष्ट करती है कि उसे प्रकट होने के लिए किसी अन्य पर आश्रित नहीं होना चाहिए क्योकि स्मृति सहज होने से, किसी अन्य पर प्रकट होने के लिए आश्रित नही है। यह निस्सदेह सत्य है कि स्मृति मे विषय का प्रकट होना इस तथ्य पर आश्रित है कि उसे पहले अनुभव किया हो किन्तु स्मति व्यापार, बिना सन्देह के सहज ही है।[4] किन्तु ऐसा तर्क किया जा सकता है कि स्मति द्वारा प्रकट किए विषय यदि उन्ह पहले अनुभूत नही किया गया हो तो उनका कभी भी स्फुरण नही हो सकता, स्मति जोकि अंशत अपने व्यापार के सम्बन्ध में ही प्रमाण है, वह विषय के स्फुरण मे अप्रमाण है क्योकि वह पूर्व अनुभव पर आश्रित है और इसलिए इसे सहज स्फुरण, जोकि प्रमाण के लिए आवश्यक उपाधि है, नहीं माना जा सकता। इसका उत्तर मेघनादारि यह कह कर देते हैं कि यह समीक्षा ठीक नही है। क्योकि सहज स्फुरण तत्क्षण स्मत विषय का प्रकट होना ही है और इसलिए स्मत विषय का प्रकट होना किसी अन्य उपाधि पर आश्रित नहीं है। स्मति, इसलिए, अपने स्वय का एव विषय को प्रकट करने में प्रमाण है। इस सम्बन्ध में

---

[1] ज्ञानमिन्द्रिय लिंगागम-योगजो वस्तु निश्चय।

–गीता भाष्य, १५–१५।

[2] विष्णुचित्त भी अपने प्रमेय सग्रह' मे कहते हैं कि रामानुज तीन ही प्रमाण में मानते थे।

[3] इस मत का भट्टारक गुरु अपने तत्व रत्नाकर' मे समर्थन करते हैं। वरद विष्णु मिश्र अपने 'प्रज्ञा परित्राण' म, दिव्य (ईश्वर की कृपा से साक्षात् ज्ञान) और स्वय सिद्ध (स्वाभाविक सवज्ञता) को स्वतन्त्र प्रमाण में समाविष्ट करते हैं किन्तु ये सब प्रत्यक्ष के प्रकार ही हैं।

[4] वस्फुरणे प्रमाणान्तर सापक्षत्वाभावात् विषय स्फुरण एवहि स्मृते पूर्वानुभूत भावा पेक्षा।

–मेघनादारि न्याय द्युमणि।

यह बताया जा सकता है कि ज्ञान का प्रकट होना आवश्यक रूप से, विषय के प्रकट होने का भी अर्थ रखता है। इसलिए, विषय का प्रकट होना किसी अन्य उपाधि पर आश्रित है, ऐसा नहीं मानना चाहिए क्योंकि वह ज्ञान प्रकट होने पर सहज ही प्रकाशित होता है।[1]

दर्शन के कई सम्प्रदायों में प्रमाण की व्याख्या में यह कहा गया है कि प्रमाण वह स्थिति है जिसके अन्तर्गत ग्रहण किया हुआ विषय पहले कभी भी ज्ञात नहीं हुआ हो अर्थात् प्रमाण द्वारा ही सर्वप्रथम ज्ञात किया गया हो (अनधिगतार्थ-गतृ), क्योंकि दर्शनशास्त्र की इन शाखाओं में स्मरण शक्ति को प्रमाण के स्तर से पृथक् माना गया है। मेघनादारि इस पर आक्षेप करते हैं। वे कहते हैं कि जो उपाधि लगाई गई है वह यह स्पष्ट नहीं करती कि जिस विषय के ज्ञान का बहिष्कार किया गया है, यह ज्ञाता के सम्बन्ध में कहा गया है या किसी अन्य पुरुष के सम्बन्ध में कहा गया है। नित्य पदार्थों का जहाँ तक प्रश्न है जैसे कि आत्मा या आकाश, ये सब तो बहुतों ने अनुभव किए हैं तो भी प्रस्तुत ज्ञाता के प्रत्यक्ष या अनुमान की प्रामाणिकता अस्वीकार नहीं की जाती।[2] यह भी नहीं कहा जा सकता कि वैध प्रत्यक्ष या अनुमान का विषय ऐसा होना चाहिए कि वह प्रस्तुत ज्ञाता द्वारा पहले नहीं देखा गया हो, क्योंकि जब कोई एक विषय को जो उसने पहले जाना था और अब देखता है उसे ढूँढना चाहता है तो ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञान अप्रामाण्य हो जायगा और उसी तरह जब आँख से देखा गया कोई विषय, फिर से स्पर्श द्वारा ज्ञात होता है तो स्पर्श ज्ञान अप्रामाण्य होगा।[3] उत्तर जो बहुधा दिया जाता है, (उदाहरणार्थ धर्मराजाध्वरीन्द्र ने वेदान्त परिभाषा में) कि जब ज्ञात विषय फिर से देखा जाता है, उसमें नए काल का धर्म होता है इसलिए उसे नया माना जा सकता है। मेघनादारि की इसके प्रति आलोचना यह है कि अगर काल का नया लक्षण विषय को नवीन बनाता है तो प्रत्येक विषय और स्मृति भी नए होंगे। इस प्रकार कोई भी ऐसी वस्तु न रहेगी जिसका इस उपाधि द्वारा निष्कासन नहीं किया जा सकता कि वस्तु नवीन होनी चाहिए (अनधिगतार्थ गतृ)।

अन्य लोग भी जो मानते हैं कि किसी प्रत्यक्ष ज्ञान या अनुमान की प्रामाणिकता, इस तथ्य पर आश्रित है कि वह अन्य इन्द्रियों के साक्ष्य द्वारा प्रमाणित होती है जैसे कि

---

[1] ज्ञान स्फुरित्वाद् विषयस्यापि स्फूर्ति। —वही।

[2] स्थायित्वेनाभिमताकाशादे पूर्वस्वगतत्वसम्भवात तद्विषयानुमानादेरप्रामाण्य प्रसंगात। —वही।

[3] स्वविदितस्यार्थस्य सत्वानेपक्षे प्रत्यक्षादेरप्रामाण्य प्रसंगाच्चक्षुषा दृष्ट-विषये द्रव्ये स्पर्शनस्याप्रामाण्य प्रसंगात्।

—मेघनादारि की नय द्यु मणि।

चाक्षुप प्रत्यक्ष स्पर्श द्वारा प्रमाणित होता है। ये दार्शनिक समर्थन या अविसंवादित्व को प्रमाण की वैधता की आवश्यक उपाधि मानते हैं। मेघनादारि इसकी आलोचना करते हुए बताते हैं कि इस मत के अनुसार प्रत्येक प्रमाण की प्रमाणता का किसी अन्य के आश्रित रहना पड़ेगा और इस प्रकार अनवस्था स्थिति उत्पन्न होगी।[1] इसके अतिरिक्त बौद्धों के सविकल्प ज्ञान को, जो अविसंवादी है, उपरोक्त मत से प्रमाण मानना ही पड़ेगा।

वेंकटनाथ से विपरीत, मेघनादारि यह मानते हैं कि रामानुज पाँच प्रमाण को मानते थे, अर्थात् प्रत्यक्ष अनुमान, उपमान, शब्द और अर्थापत्ति।

वेंकटनाथ प्रत्यक्ष की व्याख्या 'साक्षात्कारि प्रमा' करते हैं। यह विशिष्ट प्रकार का ज्ञान (जाति रूप) या विशिष्ट उपाधि रूप है। यह स्वरूप से अवर्णनीय है और विशिष्ट स्व चैतन्य रूपी प्रत्यक्ष से अनुभव किया जाता है (ज्ञान स्वभाव विशेष स्वात्म साक्षिक)। इसे निषेधात्मक रूप से ऐसा ज्ञान कहा जा सकता है जो अन्य ज्ञान से उत्पन्न नहीं होता है जैसाकि अनुमान शब्द या स्मृति में होता है।[2] वरदविष्णु अपने मान याथात्म्य निर्णय' में प्रत्यक्ष को विशद और सजीव कहकर व्याख्या करते हैं (प्रमाया आपरोक्ष्य नाम विशदावभासत्वम्) विशदता और सजीवता से उनका अर्थ, पदार्थ के विशिष्ट और विलक्षण गुणों का प्रकाशन से है, जो शब्द और अनुमान में दीखने वाले जाति लक्षण से भिन्न हैं।

मेघनादारि भी प्रत्यक्ष को विषय का साक्षात् ज्ञान कहकर व्याख्या करते हैं (अर्थ परिच्छेदक साक्षाज ज्ञानम्)। यह ज्ञान की उत्पत्ति किसी अन्य प्रमाण पर आश्रित नहीं है। यही इसका साक्षात्व है। यह निस्संदेह सत्य है कि इन्द्रिय प्रत्यक्ष, इन्द्रियों के व्यापार पर आश्रित है किन्तु यह आक्षेप उचित नहीं है क्योंकि इन्द्रिया सामान्य कारण हैं, जो अनुमान में भी हेतु के प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए साधन रूप से क्रियाशील हैं।[3] अनुमान से भिन्न प्रत्यक्ष ज्ञान का साक्षात्व, इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि अनुमान अन्य प्रमाणों के माध्यम से उत्पन्न होता है।[4] मेघनादारि, वरद विष्णु की 'प्रत्यक्ष

---

[1] प्रमाणान्तरस्याप्यविसंवादार्थं प्रमाणान्तरापेक्षणेनानवस्था। —वही।

[2] ज्ञानकरणज ज्ञान स्मृति रहिता मतिरपरोक्षम्। न्याय परिशुद्धि। वेंकटनाथ पृ० ७० ७१। वेंकटनाथ ने इस मत का समर्थन प्रमेय संग्रह और 'तत्व रत्नाकर' में भी किया है।

[3] इन्द्रियाणां सत्ता कारणत्वेन करणत्वाभावात्।

—'नयद्युमणि'।

[4] साक्षात्व शब्द, कोई स्वरूप धी (स्वयं की जाग्रति या ज्ञान) से समझाते हैं। किन्तु यह अर्थ आक्षेप पूर्ण है क्योंकि अनुमित ज्ञान भी विषय के कुछ लक्षण

विशदावभास है' इस परिभाषा का खण्डन इस आधार पर करते हैं कि अवभासत्व सापेक्ष पद है, और अनुमान मे भी भिन्न कोटि का अवभासत्व होता है। बुद्धि की स्पष्टता (धी स्फुटता) भी प्रत्यक्ष की परिभाषा नही हो सकती क्योंकि प्रत्येक धी स्फुट ही है जहाँ तक उनका ज्ञान होता है। इन्द्रिय प्रत्यक्ष की परिभाषा ज्ञान के रूप मे की जाय तो भी आक्षेपयुक्त है क्योकि ऐसी अवस्था मे वह केवल निर्विकल्प ज्ञान को ही उपयुक्त होगी जिसमे इन्द्रियो के व्यापार से विषय के विशिष्ट लक्षण अंकित हुए हैं परन्तु जो सविकल्प ज्ञान को उत्पन्न करने के लिए आगे नही लाए जा सके हैं।

वेंकटनाथ और मेघनादारि दोनो यह मानते हैं कि इन्द्रिय प्रत्यक्ष द्वारा कभी भी शुद्ध विषयगत द्रव्य, बिना लक्षण या सामान्य धर्मों के, अनुभव नही किया जाता। रामानुज का अनुसरण करते हुए वे कहते हैं कि विषय, हमेशा जब भी इन्द्रियो द्वारा ग्रहण किए जाते हैं तब पहले ही क्षण में कुछ लक्षणो सहित ग्रहण किए जाते हैं, नहीं तो यह समझना कठिन हो जाता है कि वे उत्तर क्षणो मे किस प्रकार विभिन्न लक्षणो सहित ग्रहण किए जाते हैं। अगर वे पहले क्षणो मे ग्रहण नहीं किए जाते तो वे पूर्ण रूप से सम्बन्ध सहित, उत्तर क्षणों मे कभी भी नहीं जाने जाएँगे। इसलिए, यह मानना ही पडता है कि वे सब पहले ही क्षणो मे जाने गए हैं किन्तु वे पहले क्षण के छोटे फैलाव मे पूर्णता से अपने को प्रकट न कर सके। रामानुज के 'वेदार्थ सग्रह' मे, सारे प्रत्यक्षो की निर्विकल्पता, पहले क्षण के अनुभव मे सामान्य धर्मों के ग्रहण द्वारा उद्धृत की गई है। इससे कुछ टीकाकार ऐसा समझने लगे कि प्रत्यक्ष के पहले क्षण मे, विशिष्ट धर्मों के ज्ञान का ग्रहण होना कवल सामान्य धर्मों का ही लक्ष्य इसलिए करता है कि इसमे एक ही वेग में अनेक पदार्थों का ग्रहण करना होता है जो पहले ही क्षण से प्रारम्भ होना चाहिए जिससे वे उत्तर क्षण मे पूर्णतया प्रकट हो सकें। किन्तु, मेघनादारि मानते हैं कि रूप इत्यादि अन्य लक्षणो के भी ग्रहण मे जबकि विषय निकट या दूर हो, तब विशिष्ट भेद होता है। इसमे, एक ही वर्ण के प्रत्यक्षीकरण मे वर्ण की विभिन्न आभाओ को ग्रहण किया जाता है और इसलिए वे ही प्रत्यक्ष के पहले क्षण मे उन्ही के समान कारणो से होत हैं जिनके द्वारा पहले क्षण मे, सामान्य धर्मों का ग्रहण होना स्वीकार किया गया है।

ऐसा आक्षेप किया गया है कि समस्त ज्ञान का सविकल्पत्व या विशिष्टत्व न बुद्धिगम्य है और न परिमाप्य है। दो ही तत्व की सत्ता है, वह जिसके साथ सम्बन्ध है

प्रकट करता है। अगर स्वरूप का अर्थ यह लिया जाय, विषय के स्वरूप से अन्यथा कुछ नहीं तो यह परिभाषा प्रत्यक्ष को भी नही दी जा सकती, क्योकि प्रत्यक्ष केवल विषय को ही प्रकट नहीं करता किन्तु अन्य विषयो के साथ सम्बन्ध को भी प्रकट करता है और इस प्रकार यह विषय जसा भी है इस मर्यादा को अतिक्रमण करता है।

और सम्बन्ध स्वयं। सम्बन्धत्व उनसे अभिन्न एवं भिन्न दोनों नहीं हो सकता, क्योंकि हम, जिससे सम्बद्ध हैं और सम्बन्ध इससे भिन्न सम्बन्धत्व को एक पदार्थ के रूप में नहीं जानते। सम्बन्धत्व एक ही ज्ञान-व्यापार में दो तत्वों का प्रकट होना या दो ज्ञान व्यापार में दो तत्वों का प्रकट होना या दो ज्ञान व्यापार का बिना अवकाश के दीखना भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि एक वास्तविक निर्दिष्ट उदाहरण में, जैसेकि 'घड़ा और बर्तन' के ज्ञान में यद्यपि, बिना अवकाश के दो अनुभूतियाँ उपस्थित हुई हैं तो भी उन्होंने अपनी विलक्षण पृथक्कता नहीं खोई है। इस प्रकार सम्बन्धत्व के प्रत्यय को जिससे सम्बन्ध है और सम्बन्ध से भिन्न जाना जा सके, ऐसा कोई रास्ता नहीं है।

मेघनादारि इसका उत्तर देते हैं कि 'एक सफेद गाय लाओ' ऐसे वाक्य में क्रिया, विशिष्ट प्राणी 'सफेद गाय' को लक्ष्य करती है, 'सफेदपन' और 'गाय' के भिन्न तत्वों को नहीं करती। जिससे सम्बन्ध है और सम्बन्ध, दोनों का सविकल्प ज्ञान में समावेश होता है जो 'सफेद गाय' है। स्पर्शात्मक प्रत्यक्ष में जैसेकि 'छड़ी वाला पुरुष' स्पर्श सम्बन्ध प्रत्यक्ष अनुभव में आता है। सविकल्प (विशिष्ट) वस्तु का प्रत्यय, जिससे सम्बन्ध है और सम्बन्ध से, भिन्न नहीं है किन्तु, उसे अनुमित करता है। इस प्रकार सम्बन्ध और जिससे सम्बन्ध है मिलकर निर्दिष्ट वस्तु का ज्ञान कराते हैं।[1] सविकल्पत्व का संयोजक गुण, गौण वस्तु नहीं है किन्तु इस तथ्य को प्रकट करता है कि जगत में सारी वस्तुएँ सम्बन्ध द्वारा विशिष्ट होने के लिए एक दूसरे से अपेक्षित हैं और वस्तुओं की यह सापेक्षता उनकी एकता है जिससे वे सविकल्प ज्ञान में सम्बद्ध रूप से दीखती हैं।[2] पदार्थों की यह सापेक्षता से ही उनका अनुभव से सम्बन्धित ज्ञान उत्पन्न होता है जो उससे युगपद् है, इन दोनों के बीच न कोई माध्यम है, न विचारों की रोक है।[3] यह सामान्य अनुभव है कि हमारे सारे प्रत्यक्ष, विचार एवं प्रत्यय सर्वदा सम्बन्धित और संयुक्त दीखते हैं। भाषाबद्ध सारी अभिव्यक्तियाँ हमेशा वाणी का आशय, सम्बन्धित और संयुक्त रूप से प्रकट करती हैं। अगर ऐसा नहीं होता तो भाषा द्वारा विचारों का आदान प्रदान अशक्य हो जाता है।

निर्विकल्प ज्ञान में, विषय के कुछ ही सारभूत लक्षण देखे जाते हैं और अन्य कई

---

[1] न च प्रत्येक विशिष्टता पात मिलितानामेव विशिष्टत्वात्।

—नयद्युमणि।

[2] एक बुद्धि विषयतार्हाणां पदार्थानाम् अन्योन्य सापेक्ष स्वरूपत्व मिलितत्वम्।

—वही।

[3] विशिष्टत्व धी विषयत्वे च तेषां सापेक्षत्व च यौगपद्यात तत्र विरामाप्रतीते सापेक्षता सिद्धा च।

—वही।

लक्षणों का विस्तार विशदता से नहीं होता।[1] सविकल्प ज्ञान में, दूसरी ओर, अनेक गुण और लक्षणों, तथा साथ ही साथ उन विशिष्ट गुणों का भान होता है जिससे अन्य पदार्थों से उसका भेद किया जाता है।[2]

चाक्षुष प्रत्यक्ष के सादृश्य से अन्य इन्द्रियों का प्रत्यक्ष समझाया जा सकता है। नैयायिक द्वारा माने हुए समवाय सम्बन्ध को रामानुज, इस कारण नहीं मानते कि उसकी व्याख्या करना या उसे एक पृथक पदार्थ मानना कठिन है। विभिन्न सबंध, जैसाकि आधार और आधेय, संसर्ग इत्यादि, पदार्थ से सम्बन्धित होने के लिए परस्पर विभिन्न दिशाओं में हो रही परीक्षा के अनुसार अनुभव में प्रकट होते हैं और ये इन्द्रिय प्रत्यक्ष द्वारा अनुभूत होने वाले भिन्न सम्बन्धों के स्वरूप को निश्चित करते हैं।[3] वेंकटनाथ भी बताते हैं कि वही सामग्री जो द्रव्य और गुण का भान कराती है सम्बन्ध का भी भान कराती है, क्योंकि अगर सम्बन्ध प्रत्यक्ष के प्रथम क्षण में ग्रहण नहीं होता

---

[1] निर्विकल्पकम् च घटादेरनुल्लेखितानुवृत्ति धर्मघटत्वादि कतिपय विशेषण विशिष्टत यार्थावच्छेदकम् ज्ञानम्। —वही।

[2] उल्लेखितानुवृत्त्यादिधर्मकानेक विशेषण विशिष्टतया साक्षाद् वस्तु व्यवच्छेदक ज्ञानम् सविकल्पकम्। —वही।

वेंकटनाथ तो, सविकल्प और निर्विकल्प भान की इस प्रकार परिभाषा देते हैं, स प्रत्ययवमर्श प्रत्यक्ष सविकल्पकम् और 'तद्रहितप्रत्यक्ष निर्विकल्पकम्।
— न्याय परिशुद्धि पृ० ७७।

[3] अतस्ततसम्बन्धाद् वस्तुत उपाधितो वाधाराधेय भाव वस्त्वन्तरमेव। एव च कल्पना लाघवम्। सच गुणादि भेदादनेक नचतत्सम्बन्धस्समवधिनो स्सम्बन्धान्तर कल्पना याम अनवस्था। अन्यो य सापेक्ष स्वरूपस्वरूपोपाधि व्यतिरेकणार्था न्तराभावात।
—नयद्युमणि हस्त०।

निर्विकल्प ज्ञान में कुछ भाव लक्षणों का समावेश होता है तथा वे इन्द्रियों के व्यापार से प्रत्यक्ष के प्रथम क्षण में संस्कारों को जाग्रत करते हैं। सविकल्प ज्ञान में स्मृति के व्यापार से होने वाले भेदों के ज्ञान का समावेश होता है। इनकी, विष्णुचित्त इस प्रकार व्याख्या करते हैं। संस्कारोद्बोध सहकृते द्रिय जन्य ज्ञानम् सविकल्पम् इति एक जातीयेषु प्रथमपिण्ड ग्रहणम् द्वितीयादि पिण्ड ग्रहणेषु प्रथमाक्ष सन्निपातजम् ज्ञानम् निर्विकल्पम् इति।

और तत्व रत्नाकर में इस प्रकार है—

विशेषणाना स्वयोग व्यावृत्तिरविकल्पके,
सविकल्पेऽन्य योगस्य व्यावृत्ति सज्ञिना तथा।
—न्याय परिशुद्धि, पृ० ८२।

है ता, वह दूसरे क्षण मे शून्य मे से, नही उत्पन्न हो सकता। सम्बन्धत्व पदार्थों का लक्षण होने से, पदार्थों की जानकारी का अथ, आवश्यक रूप से, सम्बन्ध की भी जानकारी से है।

रामानुज सम्प्रदाय के उत्तरकालीन अनुयायियो द्वारा किये गए स्पष्टीकरण की दृष्टि से प्रत्यक्ष

रामानुज और उनके अनुयायी केवल तीन ही प्रमाण मानते हैं, प्रत्यक्ष अनुमान और शब्द। जिस ज्ञान का साक्षात अपरोक्ष अनुभव होता है वह प्रत्यक्ष है (साक्षात्कारिणी प्रमा प्रत्यक्षम) प्रत्यक्ष का विशिष्ट गुण यह है कि वह ज्ञान अन्य ज्ञान के माध्यम से नही है (ज्ञानाकरणकज्ञानत्वम)। प्रत्यक्ष तीन प्रकार का है, ईश्वर प्रत्यक्ष, योगि प्रत्यक्ष और साधारण मनुष्यो का प्रत्यक्ष। योगियो के प्रत्यक्ष मे मानस प्रत्यक्ष और आर्ष प्रत्यक्ष का समावेश होता है, और योगि प्रत्यक्ष योग साधना द्वारा विशिष्ट ज्ञान से सम्पन्न होता है। साधारण प्रत्यक्ष दो प्रकार का कहा है, सविकल्प और निर्विकल्प। सविकल्प प्रत्यक्ष निश्चित ज्ञान है जिसमे विषय का पहले अनुभव किए हुए देश और काल के सम्बन्ध का समावेश होता है। इस प्रकार जब हम घडा देखते हैं हम यह सोचते हैं कि हमने इसे और जगह और दूसरे समय देखा था और घडे का अन्य समय और जगह का यह उल्लेख तथा उससे सम्बन्धित स्मृतिया जो इस उल्लेख के अन्तर्गत हैं वह ऐसे प्रत्यक्ष के निश्चित लक्षण का निर्माण करती हैं, जिसकी वजह से वह सविकल्प कहलाता है।[1] प्रत्यक्ष, जो पदार्थ के विशिष्ट गुण का, उससे सम्बन्धित स्मृतियो का त्वरित उल्लेख न करते हुए—घडे को घडा रूप मे प्रकट करता है उसे निर्विकल्प ज्ञान कहते हैं।[2] निर्विकल्प ज्ञान की यह परिभाषा रामानुज के निर्विकल्प ज्ञान के मत को भारतीय दर्शन मे माने गए अन्य मतों से पृथक् करती है।

अब यह स्पष्ट है कि रामानुज दर्शन के अनुसार सविकल्प और निर्विकल्प ज्ञान दोनो स्वरूप से गुण युक्त एव विविक्त हैं क्योकि वे पदार्थों के गुणो (विशिष्टता) को लक्ष्य करते हैं (उभयविधम् अपि एतद् विशिष्ट विषयम् एव)।[3] वेंकटनाथ कहते हैं कि नैयायिको के मतानुसार, प्रथम क्षण मे निर्विकल्प या अविशिष्ट ज्ञान की सत्ता

---

[1] तत्रानुवृत्ति विषयक ज्ञान सविकल्पकम् अनुवृत्तिश्च सस्थानरूपजात्यादे र नेक व्यक्ति वृत्तिता साच कालतो देशतश्च भवति।

—रामानुज सिद्धान्त सग्रह। हस्त० स० ४६८८।

[2] एकस्या व्यक्तौ घटत्व प्रकारकमय घट इति यज्ज्ञान जायते तन्निर्विकल्पकम्। वही।

[3] न्याय परिशुद्ध। पृष्ठ ७७।

का कोई भी प्रमाण या साक्ष्य नहीं हैं, क्योंकि हमारा अनुभव इससे विपरीत है और बालकों का भी ज्ञान एवं गूंगे और निम्न जाति के पशुओं का ज्ञान नाम और प्रत्यय रहित होता है, तो भी वह किसी प्रकार सविकल्प है क्योंकि पदार्थ उनके लिए, उनकी रुचि अरुचि तथा उनकी इच्छा या भय का संकेत रूप है।[1] क्योंकि अगर इन पशुओं का तथाकथित निर्विकल्पज्ञान सचमुच सर्वथा निर्विशिष्ट हो तो वे किस प्रकार अनुकूल रुचिकर एवं द्वेषात्मक व्यवहार कर सकते हैं? नैयायिक कहते हैं कि समस्त द्रव्यगुण युक्त ज्ञान या विशिष्ट ज्ञान के पहले, गुणों के मौलिक तत्वों का ज्ञान होना आवश्यक है, किन्तु यह उसी हद तक ही ठीक है जैसाकि प्राप्त किया हुआ प्रत्यक्ष। मैं चन्दन के एक टुकड़े को सुगंधित देखता हूँ, सुगन्ध देखी नहीं जा सकती किन्तु चन्दन के रूप इत्यादि का देखना और उसकी ऐसी प्रत्यभिज्ञा, सुगन्ध के संस्कारों को जाग्रत करती है जो दर्शन से तत्काल सम्बंधित हो जाती है। यहां पहले, चाक्षुष प्रत्यक्ष द्वारा चन्दन के गुण का ज्ञान होना आवश्यक है जो घ्राणेंद्रिय से सम्बन्धित सुगन्ध के संस्कारों को जाग्रत करता है और अन्त में आंख से देखे गुणों से सम्बन्ध जोड़ता है। किन्तु द्रव्य गुण के ज्ञान में, सम्मिश्रण (मिश्रज्ञान) को बनाने वाले तत्वों के इस क्रम को मानना आवश्यक नहीं है क्योंकि गुण का ज्ञान कराने वाले तत्व और वे जो द्रव्य का ज्ञान कराते हैं इन्द्रियों को एक साथ ही दिये जाते हैं और वे दोनों एक ही हैं (एक सामग्री वद्यविशेषणेषु तन्निरपेक्षत्वात्)।[2] विवाद का मूल विषय यह है कि सम्बन्ध का साक्षात् ज्ञान होता है या नहीं। अगर सम्बन्ध को द्रव्य और गुण का स्वरूप सम्बन्ध माना जाता है तो, सचमुच, दर्शन के प्रथम क्षण में ही ज्ञान द्रव्य और गुण के साथ ही, आवश्यक रूप से देखा जाना चाहिए। अगर गुण का द्रव्य के साथ समवाय सम्बन्ध है तो यह, एक पदार्थ होने के कारण, चक्षु द्वारा ग्रहण होना शक्य है और क्योंकि यह द्रव्य और गुण को जोड़ने वाली मुख्य वस्तु है, तो इस तथ्य से कि वह द्रव्य और गुण के साथ आंख द्वारा गृहीत है, हमें विश्वास हो जाना चाहिए कि द्रव्य और गुण का सम्बन्ध भी नेत्र द्वारा ग्रहण होता है। क्योंकि अगर यह माना जाता है कि समवाय का ग्रहण होता है तो वह स्वयं ही गुण द्रव्य को विशिष्ट करता है इस प्रकार के द्रव्य गुण के ग्रहण के अपवाद को हटा देता है। गुण और द्रव्य की तरह, सम्बन्ध जो उन्हें जोड़ता है वह भी इन्द्रियों द्वारा

---

[1] बाल मूक तिर्यगादि ज्ञानानां अन्न कटक वह्नि-व्याघ्रादि शब्द वैशिष्ट्या नव ग्राहित्वेऽपि इष्टद्वेष्टता वच्छेदकान्तरत्वा कटकत्वादि प्रकारावगाहित्व म अस्ति। न्याय सार न्याय परिशुद्धि पर टीका श्री निवास, पृ० ७८।

[2] न्याय परिशुद्धि, पृ० ७८। सुरभि चन्दनम् सौऽयम् घट इत्यादिज्ञानेषु सोरमतांशे चक्षुः स्वविजातीय-संस्कारजन्याया स्मृतेर्विशेषण प्रत्यासत्तितया अपेक्षणेऽपि चक्षुर्मात्रजन्ये घटज्ञाने तपेक्षाया अभावात्। न्यायसार पृ० ७८।

ग्रहण होता है (धमवद् धर्मविच्च तत्सम्बन्ध स्यापयेंद्रियकत्वाविशेषेण ग्रहण-सम्भवात्)।[1] क्योकि, अगर सम्बन्ध इन्द्रिय द्वारा, वस्तु और विषय के ज्ञान होने के समय, ग्रहण नहीं किया जा सकता तो वह दूसरे समय किसी भी प्रकार ग्रहण नही किया जा सकता।

सविकल्प ज्ञान मे सस्कार चक्षु और अन्य इन्द्रियों के सम्बन्ध में जाग्रत किए जाते हैं और वे, इन्द्रियो द्वारा दिए हुए पदार्थों के विश्लेषण और एकीकरण, समीकरण और पृथक्करण की अन्तर क्रिया उत्पन्न करने में और सविकल्प ज्ञान मे होने वाले समान प्रत्ययो के पारस्परिक तुलना करने मे सहयोग देते हैं। इसे स्मृति से भिन्न करने वाला तथ्य यह है कि स्मृति, चित्त के केवल सस्कार जाग्रत होने से उत्पन्न होती है, जबकि निर्विकल्प ज्ञान, इन्द्रिय-व्यापार के साथ काय करते हुए सस्कार से उत्पन्न होता है।[2] सविकल्प ज्ञान में, जागृत किए सस्कार इन्द्रियो के साथ सहकार करते हैं, तो भी सविकल्प, योग्य रीति से, एक खरा प्रत्यक्ष ज्ञान ही कहा जा सकता है।

इस सम्बन्ध में यह बताया जा सकता है कि इस सम्प्रदाय मे भेद को एक स्वतत्र एव पृथक तत्व नहीं माना है किन्तु वह जिन दो वस्तुओ के बीच भेद से प्रकट है, केवल उन दोनो के पारस्परिक सम्बन्ध द्वारा ही गृहीत होता ह। यह ऐसा पारस्परिक सम्बन्ध ह जिसमें एक को स्वीकार करना दूसरे के स्वीकार को वर्जित करता ह, भेद का यही सार है।[3]

वेंकटनाथ, शकर मतानुयायियो द्वारा मान्य उस निर्विकल्प प्रत्यक्ष का बलपूवक निरास करते हैं जिसमे प्रत्यक्ष की सामग्री उपस्थित होते हुए भी ज्ञान शास्त्र (नियम) निर्देश के रूप में, श्रवणेंद्रिय के बल पर किया जाता ह। इस प्रकार, जब दसो म से प्रत्येक पुरुष, अपने को गणना से दूर रखकर, दस के बजाय नौ पुरुषो की गणना करता था, तब बाहर से दूसरे प्रेक्षक ने गणना करने वाले को यह बताया कि वह स्वय दसवा पुरुष है। शकर मतवादी यह प्रतिपादन करते हैं कि यह प्रतिज्ञा या वाक्य 'तू दसवा है यह साक्षात निर्विकल्प प्रत्यक्ष का दृष्टात है। किन्तु

---

[1] वही, पृ० ७६।

[2] स्मृताविव सविकल्पके सस्कारस्य न स्वातन्त्र्येण कारणत्वम् येन प्रत्यक्षत्व न स्यात् किन्तु इन्द्रिय सहकारितया तथा चेन्द्रिय जन्यत्वेन प्रत्यक्षम् एव सविकल्पकम्।
—न्याय सार, पृ० ८०।

[3] यद् ग्रहो यत्र मदारोप विरोधी स हि तस्य तस्मात भेद।
—न्याय परिशुद्धि, पृ० ८६।

वेंकटनाथ यह बताते हैं कि यद्यपि 'तू' इस शब्द से संकेत की हुई वस्तु साक्षात प्रत्यक्ष होती है तो भी वाक्य स्वयं साक्षात प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, किन्तु सुनाई देने पर उस पर विचार किया जा सकता है, क्योंकि, अगर जो कुछ भी सुना है वह प्रत्यक्ष किया जा सकता है, तो हम ऐसे तक वाक्यों के अर्थ 'तुम धर्मवान् हो, (धर्मवान्त्वम्), को भी प्रत्यक्ष अनुभव कर सकते हैं या साक्षात परिचय कर सकते हैं। किसी तक वाक्य के अर्थ को ग्रहण किया है इससे यह अर्थ नहीं होता कि वह साक्षात प्रत्यक्ष किया है। यह मत, शंकर के मत का किस प्रकार निरास करता है यह सरलता से समझा जा सकता है जिसके अनुसार 'तत्वमसि' वाक्य के अर्थ का अनुभव, प्रत्यक्ष द्वारा, आत्मा और ब्रह्म की अभिन्नता का साक्षात परिचय है।[1]

यह पहले ही बताया जा चुका है कि निर्विकल्प प्रत्यक्ष का अर्थ निश्चयात्मक ज्ञान से है जिसमें समान वस्तुओं की स्मृति का समावेश नहीं है और सविकल्प प्रत्यक्ष से उस निश्चयात्मक ज्ञान का अर्थ है जिसमें पूर्वकालीन स्मृति के सहचार का समावेश है (अनुवृत्तिविषयक ज्ञान)। यह अनुवृत्ति या भूतकालीन स्मृति को लक्ष करना केवल निश्चयात्मक ज्ञान का अर्थ नहीं प्रतिपादित करता (उदाहरणार्थ, घट का घटत्व धर्मयुक्त ज्ञान घटत्व प्रकारकम् अयं घट) किन्तु पूर्व में अनुभव किये अन्य समान पदार्थों के प्रति ज्ञानपूर्वक लक्ष करने से है। सविकल्प प्रत्यक्ष में, द्रव्य और सम्बन्धत्व और सम्बन्धित गुणों के संकीर्ण (मिश्रण) बनाने वाले विशिष्ट गुणों का नेत्रों द्वारा, प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, किन्तु इससे यह अर्थ नहीं है कि इसमें किसी सामान्य या जातिवाचक प्रत्यय का ग्रहण होता है जिसमें, ऐसे समान प्रत्यय या पदार्थों का सम्बन्ध भी समाविष्ट है। इस प्रकार सविकल्प और निर्विकल्प में समान रूप से नेत्र इन्द्रिया व्यापार करती हैं, किन्तु पहले में पहले अनुभव किए अन्य समान पदार्थों को, ज्ञानपूर्वक लक्ष्य किया जाता है।

सर्वव्यापी या जातिवाचक प्रत्यय को जो सविकल्प प्रत्यक्ष में ग्रहण होते हैं, स्वतंत्र पृथक पदार्थ नहीं मानना चाहिए किन्तु उन्हें केवल समान धर्मों का समीकरण मानना चाहिए। इस प्रकार, हम समान धर्म वाली, दो या अधिक गायों का उल्लेख करते हैं ये समान धर्म जो प्रत्येक गाय में पाए जाते हैं जिनके कारण ही हम उन पशुओं को गाय कहते हैं। इसलिए इन सामान्य धर्मों से अलग जो कि प्रत्येक पशु में है और किसी अन्य पदार्थ में नहीं है इसे जाति या सर्वव्यापी प्रत्यय कहा जा

---

[1] अतएव तत्वमसि आदि शब्द स्वविषय गोचर प्रत्यक्ष ज्ञान जनक इत्याद्यनुमानानि निरस्तानि।

—न्याय परिशुद्धि पृ० ८६।

सकता है। सामान्यता (अनुवृत्ति) सादृश्यता से है (सुसदृशत्वम् एव गोत्वादीनाम् अनुवृत्ति)।[1] सदर्श पुन वह असाधारण कारण है जो उन दो वस्तुओं मे पृथक् रूप से रहता है और जो आपस मे एक दूसरे को निश्चित करता है और जिससे हम उन्हें समान कह सकते हैं। सामान्य नाम का उपयोग दो वस्तुओं को सदृश कहने का संक्षिप्त मार्ग है। यह सादृश्य दो प्रकार का है धर्म सादृश्य, जैसाकि द्रव्यों मे, और स्वरूप सादृश्य, जैसाकि गुण इत्यादि अद्रव्य पदार्थों मे होता है।[2]

प्रत्यक्ष मे, दो प्रकार से इन्द्रिय संसर्ग माने गए हैं विषय या अर्थ से सम्बन्ध (संयोग) और अर्थ के गुणों से इन्द्रिय संसर्ग (संयुक्ताश्रय)। इस प्रकार घडे से पहले प्रकार का सम्बन्ध है और उसके गुणों से दूसरे प्रकार का संसर्ग है।[3]

वेंकटनाथ का अनुमान पर निवेचन

रामानुज मतानुसार अनुमान बहुत अंश में नयायिक मत जैसा ही है। अनुमान परामर्श का सीधा परिणाम है अथवा तर्क सम्मत ज्ञान की स्थिति है अर्थात् शंका और सन्देह रहित विशुद्ध विषय है जो अनुभव सम्मत है।[4] अनुमान एक प्रक्रिया है जिसमे एक सामान्य (सर्वव्यापी) वाक्य से जिसमे समस्त विशेष उदाहरणों का समावेश होता है हम एक विशेष उदाहरण को स्वीकार कर सकते हैं।[5] अनुमान, इसलिए, उन्ही उदाहरणों के विषय मे होना चाहिए जिनके बारे मे सर्वव्यापी वाक्य, गोचर पदार्थों से उत्पन्न अनुभव के आधार पर सामान्य वाक्य प्रतिपादन किया गया है और वह अतीन्द्रिय अतीत विषय के बारे मे नही है—इसी कारण से रामानुज और उनके अनुयायी, ईश्वर की सत्ता को अनुमित नही कर सकते, क्योंकि ईश्वर अतीन्द्रिय है। (अत एव च वयम् अत्यतातीन्द्रिय वस्त्वनुमानम् नेच्छाम)।[6]

---

[1] अथ साष्णादीमानयपि साष्णादीमानिति साष्णादिरेव अनुवृत्त व्यवहार विषयो दृश्यते। —रामानुज सिद्धान्त संग्रह। हस्त० स० ४६८८।

[2] हस्त० स० ४६८८।

[3] दूरस्थ विषयों से नेत्र और श्रवणेन्द्रिय का सन्निकर्ष एक रहस्यमय व्यापार वृत्ति द्वारा हो सकता है। ऐसा माना गया है कि ये इन्द्रियां मानो उनके विषय द्वारा लम्बी हो जाती है (आप्यायमान)। —वही।

[4] परामर्श जन्य प्रमितिरनुमिति। —वही।

[5] परामर्श का अर्थ 'व्याप्ति विशिष्ट पक्षधर्मता ज्ञानम् सर्व विशेष संग्राही सामान्य व्याप्ति धीरपि विशेषानुमिति हेतु" है। न्याय परिशुद्धि, पृ० ६७।

[6] वही।

जैसाकि सम्प्रदाय के मत में प्रतिपादन किया गया है व्याप्ति सिद्धान्त के अनुसार जो देश और काल की मर्यादा में या तो बराबर है या दूसरे से न्यून है व्याप्य या हेतु कहा जाता है, वह जो देश और काल की परिधि में सम है या बड़ा है व्यापक या लिंग कहा जाता है।[1] किन्तु इस मत के अन्तर्गत सभी प्रमाणित व्याप्ति के उदाहरण नहीं आते। देश और काल के (सहचार) सह अस्तित्व के उदाहरण जो दिए गए हैं वे हैं ताड़ का रस और मिठास (गुड़) या पुरुष की छाया और सूर्य का निर्दिष्ट स्थान, किन्तु ऐसे देश काल के सह अस्तित्व के उदाहरण सभी प्रसंगों को पूरा नहीं करते। जैसेकि सूर्यास्त और समुद्र में लहर उठना। इस कारण, उत्तर कालीन अनुयायियों ने व्याप्ति की कठोर परिभाषा की जो निरुपाधिक रूप से नियत सम्बन्ध है व्याप्ति (निरुपाधिकतया नियत सम्बन्धो व्याप्ति)।[2]

उद्गमन की रीति से सामान्यीकरण या व्याप्ति के सम्बन्ध में हम 'तत्व रत्नाकर' जैसे पुराने प्रामाणिक ग्रन्थ में पाते हैं कि व्याप्ति का प्रथम परामर्श, जो विश्वास उत्पन्न करने में समर्थ है वह सब व्यापि वाक्य (सामान्य) के प्रतिपादन करने के लिए पर्याप्त है।[3] किन्तु वेंकटनाथ कहते हैं कि ऐसा नहीं हो सकता और व्याप्ति के विषय में सामान्य वाक्य के प्रतिपादन करने के लिए, व्याप्ति का विषद अनुभव आवश्यक है।

---

[1] देशतः कालतो वाऽपि समो न्यूनोऽपिवा भवेत्।
स्वव्याप्यो व्यापकस्तस्य समो वाप्यधिकोऽपिवा॥
—वही, पृ० १००

[2] न्याय परिशुद्धि।

[3] सम्बन्धोऽयम सकृद् ग्राह्य प्रतीति स्व रसात्तथा।
प्रतीतयो हि स्वरसाद् धर्माधिम्यवधीन् विदु॥
—तत्वरत्नाकर। हस्त०।

तत्व रत्नाकर के रचियता प्रतिपादन करते हैं कि जब जाति प्रत्यय (धूमधूमत्व) किसी भी एक उदाहरण से सम्बन्धित है (जैसे धूम), तो धूम और अग्नि की व्याप्ति का अनुभव का अर्थ यह होगा कि धूमत्व का अग्नित्व (दाहकत्व) से व्याप्ति ज्ञान हो गया है। इसलिए एक विशेष पदार्थ और उसके जाति प्रत्यय के अनुभव से हम उस जाति प्रत्यय से सम्बन्धित अन्य विशेष पदार्थों को भी जानते हैं—सन्निहित धूमादि व्यक्ति मयुक्तस्य इन्द्रियस्य तदाश्रित धूमत्वादि सयुक्ताश्रित तदाश्रयत्वेन व्यक्तयन्तराणि सयुक्तानि इत्यादि।

—न्याय परिशुद्धि, पृ० १०५ (चौखम्भा)।

एक महत्वपूर्ण विषय, जिसमे रामानुज मत का नैयायिकों से भेद है वह रामानुज की 'केवल व्यतिरेकी अनुमान' की अस्वीकृति है जिसे नैयायिक मानते हैं। इस प्रकार, 'केवल व्यतिरेकी अनुमान' में (जैसे, पृथ्वी गंधमय होने से अन्य तत्वों से भिन्न है) नैयायिक ऐसा तर्क करते हैं कि पृथ्वी का अन्य तत्वों से भेद, गंधवती होने के कारण है और यह गुण अन्य तत्वों में नहीं है—अतः यह भेद ऐसे वाक्य से सिद्ध नहीं किया जा सकता, जो अन्वय द्वारा प्राप्त है। इस मत का रामानुज सम्प्रदाय के पूर्वकालीन तार्किक, जैसेकि वरद विष्णु मिश्र और भट्टारक गुरु, (तत्व रत्नाकर) में) द्वारा समर्थित पाया गया है ऐसा प्रतीत होता है, किन्तु वेंकटनाथ (अपनी न्याय परिशुद्धि में) और सिद्धान्त संग्रह के रचयिता रामानुज दोनों यह बताते हैं कि जब यामुन अपने आत्म सिद्धि के व्याख्यान में 'केवल व्यतिरेकी अनुमान' को अस्वीकार करते हैं तो यह मानना ठीक होगा कि उक्त पूर्वकालीन ग्रन्थकारों ने केवल व्यतिरेकी का उल्लेख किया है जिसका अर्थ यह नहीं है कि उक्त ग्रन्थकारों ने केवल व्यतिरेकी को अनुमान का एक प्रकार माना है किन्तु इसका अर्थ केवल यही है कि उन्होंने नैयायिकों की मान्यता में इसकी केवल गणना की है।[1] सिद्धान्त संग्रह के लेखक रामानुज बताते हैं कि इस अनुमान को अन्वय व्यतिरेकी के अन्तर्गत लाया जा सकता है। इस प्रकार हम तर्क कर सकते हैं कि देह पृथ्वी जैसी है क्योंकि उसमें गन्ध है क्योंकि जो गंधवान् है वह पृथ्वी जैसा है और जिसमें गंध नहीं है वह पृथ्वी जैसा नहीं है। इसलिए इसे अन्वय व्यतिरेकी अनुमान के तर्क के आकार में इस प्रकार रखा जा सकता है। गंधत्व को हेतु बताया जा सकता है जिसकी उपस्थिति पृथ्वी जैसी होना निश्चित करता है और अनुपस्थिति पृथ्वी जैसी न होना उससे भेद प्रकट करता है।

रामानुज न्याय में अनुमान के लिए तर्क (अर्थात् परस्पर अपेक्षित संभावनाओं के बीच वैकल्पिक निष्कर्ष का ज्ञान) की अनिवार्यता स्वीकार की गई है। अनुमान के अवयवों के बारे में, वेंकटनाथ कहते हैं कि पाँच अवयव अनिवार्य रूप से आवश्यक हैं, ऐसा नहीं है। किस प्रकार अनुमान किया गया है उस पर यह आश्रित है कि कितने अवयव आवश्यक हैं। ऐसा हो सकता है कि अनुमान करने के समय, दो, तीन, चार या पाँच अवयव आवश्यक हैं ऐसा सोचा गया हो। हम 'तत्व रत्नाकर' में ऐसा कथन पाते हैं कि यद्यपि पाँच अवयव, पूर्ण प्रतिपादन के लिए पर्याप्त हैं तो भी अनुमान के लिए अवयवों की संख्या के बारे में कोई निश्चित नियम नहीं है।[2]

---

[1] न्याय परिशुद्धि और रामानुज सिद्धान्त संग्रह।

[2] वही।

वेंकटनाथ कहते हैं कि अनुमान प्रत्यक्ष विषय मे मर्यादित है। जो विषय इंद्रियातीत हैं वे अनुमान द्वारा ज्ञात नही हो सकते। अनुमान, जोकि, प्रवाय रूप से प्रत्यक्ष से सम्बन्धित है इस कारण, वह प्रत्यक्ष का एक प्रकार नही माना जा सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष द्वारा प्राप्त ज्ञान हमेशा अपरोक्ष है। अनुमान स्मृति जनित है, यह भी नहीं माना जा सकता क्योंकि अनुमान नवीन ज्ञान प्राप्त कराता है। आगे, उसे साक्षात्कार का प्रकार भी नही कहा जा सकता, क्योंकि अनुमान चित्त के संस्कारों को जाग्रत करके कार्य करता है क्योंकि ऐसे संस्कार प्रत्यक्ष मे भी क्रियाशील होते पाए जाते हैं और उसी सादृश्यता के आधार पर प्रत्यक्ष को भी साक्षात्कार कहा जा सकता है।

व्याप्ति उसे कहना चाहिए जिसमें, साध्य का क्षेत्र देश और काल की दृष्टि से, हेतु से कम नही हो (अन्यून देशकाल वृत्ति) और हेतु वह है जिसका क्षेत्र, साध्य से कभी भी अधिक नही है (अनधिक देशकाल नियत व्याप्यम्)। देश और काल के यौगपद्य के उदाहरण के तौर पर, वेंकटनाथ शक्कर और उसकी मिठास का उदाहरण देते हैं। कालिक यौगपद्य के लिए छाया का मान और सूर्य की स्थिति का उदाहरण देते हैं। केवल देशिक यौगपद्य के लिए ताप और उसके प्रभाव का उदाहरण देते हैं। कभी कभी देश और काल में पृथक् वस्तुओं मे भी साहचर्य पाया जाता है जैसे ज्वार भाटा और सूर्य चंद्र का सम्बन्ध।[1]

हेतु और साध्य के बीच ऐसी व्याप्ति, अनेक उदाहरणों के निरीक्षण द्वारा ही ग्रहण की जा सकती है (भूयो दर्शन गम्य), एक उदाहरण द्वारा नही, जैसाकि धर्म राजाध्वरींद्र द्वारा शंकर वेदान्त मे प्रतिपादन किया गया है। भट्टारक गुरु, अपने तत्व रत्नाकर में, व्याप्ति ग्रहण करने के व्यापार को समझाते हुए कहते हैं, कि जब हेतु और साध्य की व्याप्ति प्रचुर उदाहरणों से देखी जाती है तब ऐसे निरीक्षणों का परिणाम साध्य और हेतु के समस्त उदाहरणों की सार्वभौम व्याप्ति के पक्ष मे संस्कार रूप से संग्रह होता है, और तब व्याप्ति के निरीक्षण का आखरी उदाहरण चित्त मे सभी साध्य और सभी हेतुओं मे व्याप्ति का विचार पहले अंकित हुए संस्कारों की जाग्रति की मदद से उत्पन्न करता है। जहाँ निषेधात्मक उदाहरण अप्राप्त हैं वहाँ वेंकटनाथ अन्वय व्यतिरेकी और केवलान्वयी विधि से व्याप्ति प्राप्त होती है ऐसा मानते हैं। सामान्यत, व्यतिरेकी विधि यह सिद्ध करके, व्याप्ति के प्रत्यय में योगदान देती है, कि प्रत्येक घटना, जिसमे साध्य नहीं है उसमे हेतु भी नही है किन्तु केवला

[1] वेंकटनाथ ने व्याप्ति की परिभाषा इस प्रकार की है अत्रेद तत्व यादृग् रूपस्य यद् देश काल वर्तिनो यस्ययादृग रूपेण यद् देशकाल वर्तिना येनाविना भाव तद् इदम् अनिना भूत व्याप्यम् तत् प्रतिसम्बन्धि व्यापकम् इति।

—न्यायपरिशुद्धि, पृ० १०१-१०२।

वयी व्याप्ति मे, जिसमे निषेधात्मक उदाहरण अप्राप्त होते हैं उन निषेधात्मक उदाहरणो मे, हेतु का अभाव (अनस्तित्व) नहीं बताया जा सकता। किन्तु ऐसे उदाहरणो मे निषेधात्मक उदाहरणो का न होना ही, केवलान्वयी व्याप्ति को ग्रहण कराने मे पर्याप्त है। केवलान्वयी व्याप्ति की प्रमाणता इस बात से सिद्ध है कि अगर हेतु अपरिवर्तित रहता है तो विपरीत साध्य की पूर्व मान्यता व्याघातक ठहरती है (व्याहत-साध्य विपर्ययात्), और यह इसे, कुलाक द्वारा, महाविद्या के सिद्धान्त के प्रतिपादन म उपयोग म लाए गए, केवलान्वयी तर्कों से पृथक करता है।

रामानुज स्वय इस बात पर अनिश्चित हैं कि कितने प्रकार के अनुमान माने जाएँ क्योकि उन्होने इस विषय मे कोई निश्चित विचार नहीं दिया है। इसलिए, उनके आम्नाय का उनके अनुयायियो ने भिन्न भिन्न अर्थ किया है, इस प्रकार, मेघनादारि अनुमान का वर्गीकरण तीन प्रकार से करते हैं (१) कार्य से कारण, (कारणानुमान) (२) कारण से कार्य (कार्यानुमान) और (३) मानसिक सहचार से अनुमान (अनुभवानुमान) यथा कृत्तिका नक्षत्र से रोहिणी के उदय का अनुमान। वकल्पिक वर्गीकरण इस प्रकार है (१) अन्वय व्यतिरेकी, (२) केवलान्वयी और (३) केवल व्यतिरेकी। भट्टारक गुरु और वरद विष्णु मिश्र ने भी जो रामानुज न्याय की सगति पूर्ण रचना करने म वेंकटनाथ के पूर्वगामी थे, तीन प्रकार के अनुमान माने हैं ऐसा दीखता है जसेकि अन्वयी केवलान्वयी और केवलव्यतिरेकी, जो 'तत्व रत्नाकर' और मानयाथात्म्य निर्णय के उद्धरणो से स्पष्ट है। वेंकटनाथ तो उन्हें नगण्य मानते हैं और केवल व्यतिरेकी अनुमान को खण्डन करने का बडा कष्ट करते ह।[1] उनका दावा यह है कि निषेधात्मक व्याप्ति से कोई अनुमान नहीं प्राप्त हो सकता जो वैध रूप से किसी विशेष लक्षण को स्वीकार करने के लिए अग्रसर नहीं करता जब किसी भी लक्षण का स्वीकार करने वाला वाक्य (प्रतिज्ञा) नहीं है। अगर कोई ऐसा स्वीकारात्मक वाक्य निषेधात्मक वाक्य से अनुमित किया मान लिया जाता, तब भी केवल निषेधात्मक वाक्य से अनुमान प्राप्त हो सकता है यह विरोध विफल होता है। अनुमान की प्रमाणता की एक शत यह है कि हेतु सपक्ष म रहना चाहिए (अर्थात् वे सब उदाहरण जिनम साध्य है) किन्तु व्यतिरेकी अनुमान मे उपस्थित उदाहरण के सिवाय दूसरे भावात्मक उदाहरण नहीं होते जिनम हेतु और साध्य है तो उपरोक्त शत निष्फल रहती है।[2] विरोधी पक्ष यह कह सकता है कि इसी सादृश्य के आधार पर,

---

[1] वेंकटनाथ बताते हैं कि यामुनाचार्य ने जो रामानुज के माने हुए गुरु थे सिद्धि त्रय में केवल व्यतिरेकी को अनुमान का प्रकार नहीं स्वीकारा था।

[2] व्यतिरेकी अनुमान का अच्छा उदाहरण यह है अनुभूतिरनुभाव्य अनुभूतित्वात् यन्नैवम् तन्नैवम् यथा घट। पृथिवी इतरेभ्यो भिद्यते गन्धवत्वात् यन्नैवम तन्नैवम्

केवलान्वयी अनुमान का भी निषेध होता है क्योंकि यहाँ निषेधात्मक उदाहरण पाए जाते हैं (अर्थात् इदं वाच्यम प्रमेयत्वात्) उत्तर यह होगा कि केवलान्वयी अनुमान की प्रमाणता इस बात में सिद्ध होती है कि उसमे विरोधी निष्कर्ष की मान्यता, व्याघातक है। विरोधी पक्ष का अगर यह आग्रह है कि हेतु के विषय की साध्य के निषेध के साथ सर्वव्यापी व्याप्ति, हेतु और साध्य के पूर्ण सन्निपात को अनुमित करती है तो हेतु और साध्य का सन्निपात दोना के विरोधियो का भी सन्निपात अनुमित करेगा। इससे यह अर्थ निकलेगा कि केवलान्वयी अनुमान मे हेतु और साध्य के पूर्ण सन्निपात से, उनके विरोधियो का सन्निपात सिद्ध होता है यह अयुक्त है।[1] इस प्रकार नैयायिक, जो केवलान्वयी अनुमान को मानते हैं केवल व्यतिरेकी अनुमान की प्रमाणता सिद्ध करने के लिए इस प्रकार से व्यर्थ प्रयास नही कर सकते। पुन इसी विधि को लेकर, कोई तर्क कर सकता है कि घडा स्वप्रकाश है क्योंकि वह घडा है (घटत्वात्), क्योंकि अस्वप्रकाशत्व अघटत्व में पाया जाता है जैसेकि कपडा जो असम्भव है। (यन्नैवम तन्नैवम यथा पट)। इस प्रकार दो निषेधा की व्याप्ति से, उनके विरोधी की व्याप्ति प्रतिपादन नही की जा सकती। पुन उपरोक्त उदाहरण मे 'अनुभूतिरननुभाव्या अनुभूति त्वात्' (अनुभूति अनुभव का विषय नही हो सकती क्योंकि वह अनुभव का विषय है) अननुभाव्यत्व का अस्तित्व (अनुभव का विषय न होना) शकास्पद है, क्योंकि वह उपस्थित दृष्टान्त के सिवाय कहीं नहीं देखा जाता और इसलिए, केवल अननुभान्यत्व के निषेध की अनुभूति के निषेध के साथ व्याप्ति से अननुभाव्यत्व का प्रतिपादन अयुक्त है। इसके अतिरिक्त जब कोई कहता है कि अनुभान्य तात्कालिक अनुभूति नहीं है तो निषेधात्मक सम्बन्ध की मात्र स्वीकृति, अनुभूति को निषेधात्मक सम्बन्ध मे अनुभव का विषय (अनुभान्य) बना देता है जो इस निष्कर्ष को बाध्य करता है कि अनुभूति अनुभान्य नही है। अगर पुन व्यतिरेकी अनुमान द्वारा, जो लक्षण अनुमित किया जाता है वह पक्ष मे है यह पहले से ही जाना हुआ है तो अनुमान की आवश्यकता ही नही रहती। अगर वह कही अन्य जगत मे विद्यमान है ऐसा ज्ञान है जो जबकि सपक्ष[2] विद्यमान है तो वह केवल व्यतिरेकी अनुमान नही है। अगर

यथा जलम्। उपरोक्त उदाहरण मे अननुभाव्यत्व (न जानना) केवल प्रत्यक्ष अनुभूति मे हैं। यहा अनुभूति का साक्ष, जहाँ पहले अननुभाव्यत्व पाया गया था, वह नही है।

[1] इद वाच्य प्रमेयत्वात् (यह व्याख्या योग्य है क्योंकि जाना जा सकता है) इस मान्यता से, वाच्यता और प्रमेयत्व की व्याप्ति से अवाच्यत्व और अप्रमेयत्व सिद्ध हो सकते हैं, जो सर्वथा दोषपूर्ण है क्योंकि ऐसे उदाहरण नही जाने गए हैं।

[2] सपक्ष वे दृष्टान्त हैं (उपस्थित दृष्टान्त के बाहर) जहा हेतु साध्य के एक साथ *विद्यमान होता है।*

हेतु और साध्य के निषेध की व्याप्ति द्वारा साध्य, हेतु के निषेधात्मक दृष्टान्तों के बाहर कहीं अन्य जगह रहता पाया जाता है तो भी उपस्थित दृष्टान्त में उसकी उपस्थिति सिद्ध नहीं हो सकेगी। पुन, उपरोक्त दृष्टान्त में, अगर, अननुभव्यत्व के निषेध की, अनुभूति के निषेध के साथ व्याप्ति से, यह तर्क किया जाता है, कि अवेद्यत्व लक्षण कहीं विद्यमान रहना चाहिए, तो ऐसा निष्कर्ष व्याघात दोष से पूर्ण होगा, क्योंकि अगर ऐसा ज्ञात है कि कोई ऐसा पदार्थ है जो अनुभव का विषय नहीं है, तो वह उसी तर्क से अनुभव का विषय (अनुभाव्य) बन जाता है। यदि केवल एक को छोड़कर, सभी क्षेत्रों से अस्तित्ववान् एवं विद्यमान पदार्थ को निकाल दिया जा सकता है तो वह अवशिष्ट क्षेत्र की बात हो जाती है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि 'सकल अस्तित्वमय गुण होने से आत्मा को छोड़कर सभी में अनुपस्थित है, इसलिए वह उसमें (आत्मा) आवश्यक रूप से है।' ऐसा अर्थ करने पर भी, व्यतिरेकी अनुमान की आवश्यकता नहीं है क्योंकि सचमुच यह दृष्टान्त अन्वय का है, और इसे अन्वय रूप से अन्वय सिद्धान्त के सूत्र रूप से स्पष्ट किया जा सकता है जैसेकि, एक अस्तित्वमय पदार्थ, जो एक को छोड़कर सभी में अनुपस्थित है, इसलिए वह आवश्यक रूप से उस बचे हुए क्षेत्र में है। पुन ऐसे दृष्टान्तों में जैसाकि, सर्वविज्ञ (सब कुछ जानना) सभी ज्ञात क्षेत्रों में अनुपस्थित होने के कारण, कहीं भी विद्यमान होगा, क्योंकि हम ऐसा सोचते हैं इसलिए कोई एक पदार्थ अवश्य होगा जिसमें वह विद्यमान है, और ऐसा पदार्थ ईश्वर है 'यह सुविख्यात सत्ता विषयक तर्क है जो व्यतिरेकी प्रकार का है। ऐसे अनुमान के विरुद्ध में, न्याय दृष्टि से यह विवाद किया जा सकता है कि शश विषाण का विचार जो सभी क्षेत्रों में अनुपस्थित है किसी अनुभूत वस्तु में अवश्य विद्यमान होना चाहिए, यह स्पष्ट ही मिथ्या है।

यह आक्षेप किया जा सकता है कि अगर व्यतिरेकी अनुमान नहीं माना जाता है तो यह सभी व्यावर्तक लक्षणों का निषेध सरीखा हो जाता है, क्योंकि व्यावर्तक लक्षण, परिभाषा किए जाने वाले पदार्थ को छोड़कर सभी में अनुपस्थित है और इस प्रकार परिभाषा या व्याख्या स्वरूपत व्यतिरेकी अनुमान है। इसका स्पष्ट उत्तर यही है कि परिभाषा, किसी पदार्थ के विशिष्ट गुणों के अनुभव से, जो गुण उस पदार्थ के व्यावर्तक गुण विज्ञापित किए गए हैं, उत्पन्न होती है, इसलिए, इसका व्यतिरेकी अनुमान से कोई सम्बन्ध नहीं है।[1] यह भी तर्क किया जा सकता है कि व्यावर्तक गुण अन्वय-व्यतिरेकी अनुमान द्वारा भी प्राप्त किए जा सकते हैं व्यतिरेकी द्वारा नहीं,

---

[1] धर्मा साधारणाकार प्रतिपत्ति निबंधनम्,
सजातीय विजातीय व्यवच्छेदन लक्षणम्।
—तत्व रत्नाकर न्याय परिशुद्धि में उद्धृत पृ० १४३।

जैसाकि प्रतिपक्षी कहते हैं। ऐसे दृष्टा ता मे जहाँ वेदत्व (जानना) की, जा जानने मे आ सकता है ऐसी व्याख्या की गई है, वहाँ अभाव सूचक दृष्टा त नही पाए जाते तो भी वह परिभाषा बनी रहती है। परिभाषा की व्याख्या यही है कि व्यावर्तक गुण उसी म विद्यमान है जिसकी परिभाषा देता है, और वह अ य कहीं भी विद्यमान नही है (असाधारण व्यापका धर्मो लक्षणम)।[1] उन दृष्टान्ता मे जहाँ पदाथ के वग या जाति की व्याख्या की जाती है, वहाँ, व्यवच्छेदक जाति लक्षण, वे होगे जो उस जाति के प्रत्येक व्यक्ति मे होने चाहिएँ, और अ य जाति क व्यक्ति म अनुपस्थित होने चाहिएँ। किन्तु जहाँ व्यक्ति आप ही अकेला है (जसे ईश्वर), जब इसकी व्याख्या की जाती है, यहाँ जातिगुण नही पाए जाते, किन्तु केवल विशेष लक्षण ही होते हैं जो उस व्यक्ति म ही है और जाति म नही है। एसे दृष्टान्ता मे भी, व्यवच्छेदक गुण, उस व्यक्ति को दूसरे से (ब्रह्मा, शिव इत्यादि) भिन्न करते हैं, जिनके साथ, यह आशिक समानता के कारण सकीण किया जा सकता है। इस प्रकार परिभाषा, किसी पदाथ में लक्षणो की स्वीकृति का दृष्टात है और निषेध का नहीं है, जैसाकि व्यतिरेकी अनुमान से इसे सकीण करने वाले मानते हैं। इसलिए, कवल व्यतिरेकी अनुमान का किसी भी तक से समथन नही होता।

अवयव के विषय मे, वेंकटनाथ मानते हैं कि, सभी अनुमाना के लिए पाच ही अवयव होने चाहिए इसका कोई भी नियम नही है। इसलिए भिन्न तार्किको मे अवयव की सख्या के विषय मे, विवाद निरथक है, क्योकि अनुमान मे अवयव उतने ही लाए जाय जितने वह व्यक्ति को अनुमान ग्रहण होने के लिए पर्याप्त समझता है। इस प्रकार जिस सम्ब ध मे अनुमान किया जाता है उसके अनुसार, तीन चार या पाँच अवयव हो सकते हैं।

अनुमान के अतिरिक्त वेंकटनाथ, शब्द या शास्त्र प्रमाण को भी मानते हैं। शब्द प्रमाण की विशद व्याख्या करने की कोई आवश्यकता नही हैं क्योकि इसका निरूपण अ य दशनो जसा ही है। यह स्मरण रहे कि श द और वाक्यो का अथ बोधन करने के विषय मे नैयायिक यह मानत थे कि, वाक्य का प्रत्येक पद, जैसेकि सामान्य श द (प्रातिपदिक) या प्रत्यय, अपना स्वतत्र और पृथक अथ रखता है इन अर्थों मे, दूसरी विभक्तियो के लगाने के कारण अथ म वृद्धि हाने से रूपान्तर होता है। इस दृष्टि से देखते हुए वाक्य के घटक तत्व अणु रूप होते हैं जो परप्रत्यया के सम्ब ध से सकलित होकर धीरे धीरे, वाक्य को पूण अथ तक पहुँचाते हैं। इसे अभिहितान्वयवाद कहते हैं। विरोधी मत अन्विताभिधानवाद है जोकि मीमासको का है इसके अनुसार किसी भी वाक्य का विश्लेषण एक दूसरे के सम्ब ध के बिना

[1] न्याय परिशुद्धि, पृ० १४५।

जो धीरे धीरे सग्रह होता जाता है, अर्थों के रूढ तत्वो मे नही किया जा सकता। वाक्य का, कितनी ही रूढ अवस्था तक विश्लेषण किया जाय, तो भी उसका प्रतिरूढ अश, किसी क्रियापद या पूर्ण अर्थ से सामान्य सम्बन्ध रखेगा। उपसर्ग और विभक्तियो का काय, प्रत्येक शब्द के सामान्य सम्बन्ध को मर्यादित या अवरोध करना होता है। वेंकटनाथ, अभिहितान्वयवाद के विरोध म, अन्विताभिधानवाद को, इस आधार पर मानते हैं कि, पिछला मत, प्रतिरूढ शब्द तत्वो के अर्थ का उनके परप्रत्यय के साथ सम्बन्ध जोडने के लिए, या परप्रत्यय सहित शब्दो मे आपस मे सम्बन्ध जोडने के लिए और वाक्य का अर्थ प्रकट करने के लिए आपस के सम्बन्ध को जोडने के लिए, पृथक् विशेष शक्ति की अनावश्यक कल्पना ग्रहण करता है।[1] अन्विताभिधान की स्वीकृति, रामानुज मत के लिए हितकर थी, क्योंकि वह विशिष्टार्थ की स्थापना करता है।

रामानुज स्वय ने अपने दर्शन के अनुरूप, अपने न्याय के मतो का निरूपण करने वाली कोई पुस्तक नही लिखी। किन्तु नाथमुनि ने 'न्याय तत्व' नामक एक पुस्तक लिखी थी, जिसम उन्होने गौतम के न्याय मत का खण्डन किया और उनका विशिष्टाद्वैत सिद्धान्तानुसार परिशोध किया। विष्णु चित्त ने सगतिमाला और 'प्रमेयसग्रह', उसी दिशा मे लिखे, भट्टारक गुरु ने 'तत्व रत्नाकर' लिखा और वरद विष्णु मिश्र ने भी प्रज्ञापरित्राण' और मान याथात्म्य निर्णय विशिष्टाद्वैत न्यायानुसार लिखे। वेंकटनाथ ने इन्ही रचनाओ के आधार पर, अपनी न्याय परिशुद्धि लिखी जिसमे उन्होने कभी उनके मतो को और कभी उनसे कुछ विस्तार मे भिन्न मत का स्पष्ट किया। किन्तु सर्वांग रूप से, उपरोक्त लेखको से उन्होने विशिष्टाद्वैत न्याय के मतों को स्वीकार किया है। इसलिए, इस क्षेत्र मे उनकी मौलिकता बहुत मर्यादित है। मेघनादारि, वेंकटनाथ से अधिकाश रूप म भिन्न है क्योकि वे उपमान और अर्थापत्ति को पथक प्रमाण के रूप मे मानते है। उन्होने प्रत्यक्ष के निरूपण मे भी कुछ बडे अर्थपूर्ण योग दिए हैं और अनुमान के निरूपण मे तो, वे वेंकटनाथ से व्यतिरेकी अनुमान का मानकर पूर्ण विरोधी रहे हैं।

मेघनादारि, उपमान को स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं। उनके अनुसार उपमान वह प्रमाण है जिसके द्वारा, प्रत्यक्ष पदार्थ का अप्रत्यक्ष पदार्थ के साथ सादृश्य का ज्ञान किया जा सकता है जबकि अप्रत्यक्ष का प्रत्यक्ष के साथ सादृश्य का ज्ञान पहले प्राप्त है। इस प्रकार जब किसी को यह ज्ञान है कि अनुभूत गाय गवय जसी होती है और फिर पीछे, जगल मे घूमते हुए, वह गवय को देखता है तो वह तुरन्त ही

---

[1] अभिहितान्वये हि पदानाम पदार्थे पदार्थानाम् वाक्यार्थे पदानां च तत्र इति शक्तित्रय कल्पना गौरवम स्यात्। —न्याय परिशुद्धि, पृ० ३६९।

विचार करता है कि जो गाय वह इस समय नहीं देखता है, वह अभी दिखाई देते वन वृषभ जैसी है। यह ज्ञान, मेघनादारि कहते हैं, प्रत्यक्ष द्वारा नहीं हुआ है क्योंकि गाय देखने वाले के समक्ष नहीं है, वह स्मृतिजनित भी नहीं है, क्योंकि सादृश्य का ज्ञान, गाय की स्मृति होने से पहले ही उदय होता है। मेघनादारि मानते हैं कि भेद के लिए कोई पृथक प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि भेद का ज्ञान, सादृश्य का निषेध मात्र है। उपमान का यह निरूपण, न्याय से भिन्न है, जहाँ इसे सादृश्य के आधार पर, शब्द का पदार्थ के साथ सम्बन्ध माना है, जैसे कि यह पशु गवय कहलाता है जो गाय के सदृश है। यहाँ सादृश्य के आधार पर गवय शब्द उस पशु से सम्बन्धित है। मेघनादारि इस प्रत्यभिज्ञा के व्यापार द्वारा समझाने की कोशिश करते हैं, और इसे पृथक प्रमाण मानने का विरोध करते हैं।[1] वे अर्थापत्ति को भी पृथक प्रमाण के रूप में मानते हैं। अर्थापत्ति को साधारणतया, निहितार्थ शब्द से अनूदित किया गया है जहाँ एक प्राक् कल्पना का, जिसे मान्यता न देने पर अनुभव का गूढ़ विषय नहीं समझा जा सकता निरीक्षण की नई अनुभूति घटना समझाने के लिए चित्त पर लाने का आग्रह होता है। इस प्रकार, जब कोई, यह स्वतंत्र आधार पर जानता है कि देवदत्त जीवित है, यद्यपि वह घर पर नहीं मिला तो चित्त में स्वाभाविक प्राक् कल्पना का उदय होता है कि वह घर से बाहर रहता होगा क्योंकि नहीं तो, वर्तमान समय में, उसका घर पर न होना मिथ्या है या, पूर्व ज्ञान, कि वह जीवित है यह मिथ्या होगा। वह जीवित है और घर पर नहीं है, इसे इस प्राक्कल्पना द्वारा ही समझाया जा सकता है कि वह घर से बाहर कहीं है। इसे अनुमान का एक प्रकार नहीं माना जा सकता 'क्योंकि कहीं रहता हुआ देवदत्त घर पर विद्यमान नहीं है, वह कहीं अन्य स्थान पर है क्योंकि कहीं अन्य जगह रहते हुए पदार्थ जो अपने स्थान पर नहीं है कहीं अन्य स्थान पर मेरी तरह जीवित होंगे।' इस प्रकार का अनुमान व्यर्थ है क्योंकि एक स्थान पर अस्तित्व रखती हुई वस्तु का न होना, दूसरे शब्दों में उसका कहीं अन्य स्थान पर होना ही है। इसलिए वस्तु का एक स्थान पर न होने को उस निष्कर्ष पर पहुँचने का हेतु नहीं बनाना चाहिए (उसका अन्य स्थान पर होना) जो उससे भिन्न नहीं है। अर्थापत्ति को इस प्रकार स्वतंत्र प्रमाण मानना पड़ता है।

मेघनादारि तथा अन्य के अनुसार रामानुज दर्शन की ज्ञानमीमांसा

वेंकटनाथ, अपनी न्याय परिशुद्धि में (रामानुज दर्शन के अनुसार) न्याय या नीति के सिद्धान्तों का निरूपण करने का प्रयत्न करते हैं जिस पर रामानुजवाद का

---

[1] देखो हस्त० नयद्युमणि, उपमान प्रकरण।

दर्शन आधारित है। वे इस क्षेत्र मे मौलिक नहीं थे। किन्तु उन्होंने, विशिष्टाद्वैत न्याय को, जैसाकि यामुन के आचार्य, नाथ मुनि ने अपने 'न्याय तत्व' नामक ग्रन्थ म और पराशर भट्ट के इस विषय के ग्रन्थ में विशिष्टाद्वैत न्याय का प्रतिपादन किया है, उसका उन्होंने अनुसरण किया है एवं उसे विशद रूप दिया है। गौतम प्रतिपादित न्याय के सम्बन्ध म, वेंकटनाथ का मुख्य आक्षेप यह है कि यद्यपि बादरायण ने गौतम के सिद्धान्तों को, शिष्ट पंडितो के लिए अयोग्य कह कर टाल दिया है, तो भी, उन्हें इस प्रकार समझाया जा सकता है कि वे विशिष्टाद्वैत के सच्चे सिद्धान्तों के साथ संगत हो सकते हैं। किन्तु, वात्स्यायन द्वारा गौतम-न्याय की व्याख्या उसे सच्चे मार्ग से दूर ले जाती है इसलिए वह खण्डन के योग्य है। जो कुछ भी हो, वेंकटनाथ, विष्णु चित्त की तरह गौतम के उन सिद्धान्तों को स्वीकार करने को उत्सुक हैं जो वेदान्त मत के विरुद्ध नहीं है। इस प्रकार, पदार्थों के सोलह संख्या म वर्गीकरण के विषय मे मतभेद हो सकता है। इस विषय मे दो मत नहीं हो सकते कि कुछ पदार्थ न्याय-दृष्टि से प्रमाण हैं क्योंकि अगर नैयायिक प्रमाणता अस्वीकार की जाती है तो न्याय स्वयं निराधार हो जाता है। हमारा समस्त अनुभव, कुछ दृष्ट तत्वों या विषयों को मानकर चलता है, जिन पर वह आधारित है। इन दृष्ट विषयों की सामान्य स्वीकृति, अनुभव की नींव को ही उखाड़ देती है। जब इन दृष्ट विषयों के अस्तित्व को सामान्य रूप से मान लिया जाता है तभी उनके विशेष स्वरूप के विषय मे खोज की जा सकती है। अगर सब कुछ ही अप्रमाण है तो प्रतिपक्षी का आक्षेप भी अप्रमाण होगा। अगर सब कुछ ही संशयास्पद है तो यह भी स्वबाधित हो जाएगा। संशय के विषय में संशय नहीं किया जा सकता, और संशय के अस्तित्व को एक निश्चित निष्कर्ष के रूप म मानना ही पड़ेगा। इसलिए, पूर्णरूप से संशय का अनुसरण किए जाने पर भी निश्चित निर्णय की सम्भावना को मानना अनिवार्य हो जाता है।[1] इसलिए, बौद्धवादियों का विवाद कि कुछ भी प्रामाण्य नहीं है और ऐसा कुछ भी नहीं है जिसकी निश्चितता स्वीकार की जा सके, यह अस्वीकार्य है। अगर इसलिए कुछ पदार्थ ऐसे हैं जिनका निश्चित एवं प्रामाण्य ज्ञान प्राप्त हो सकता है तो ज्ञान के साधन जिनसे ऐसा प्रमाण ज्ञान उपलब्ध हो सकता है उसके विषय

---

[1] व्यवहारो हि जगतो भवत्या लम्बने क्वचित्
नतत्सामान्य तो नास्ति कथन्ता तुपरीक्ष्यते,
सामान्य निश्चितार्थेन विशेषे तु बुभुत्सितम्
परीक्षा हि उचिता स्वेष्ट प्रमाणा स्थापनात्मिका

सर्व संदिग्ध मिति ते निपुणस्यास्ति निश्चय
संशयश्च न संदिग्ध संदिग्धा द्वैत वादिन।

—न्याय परिशुद्धि पृ० ३१ (चौखम्भा)

म स्वाभाविक ही गवेषणा उदित होती है। प्रमाण श‌ब्द, दो अर्थों में प्रयुक्त किया गया है। प्रमाण का प्रथम अर्थ सही ज्ञान है और प्रमाण का दूसरा अर्थ वह प्रकार है जिसके द्वारा सही ज्ञान होता है। पहला अर्थ प्रमा से है, दूसरा अर्थ प्रमा उत्पन्न करने वाले साधन से है। वेंकटनाथ, पहले अर्थ में प्रमाण की इस प्रकार व्याख्या करते हैं जो ज्ञान, वस्तु अनुगुण है या यथार्थ वस्तु का अनुभव कराने योग्य व्यवहार को उत्पन्न करता है वह प्रमा है (यथावस्थित व्यवहारानुगुणम्)।[1] यह परिभाषा व्यवहार को अनिवार्य उपाधि के रूप मे इस प्रकार समावेश करती है कि अगर किसी दृष्टान्त मे व्यवहार सचमुच उत्पन्न न भी हो तो भी वह प्रमाण होगा, यदि ज्ञान ऐसा हो कि जो यथार्थ वस्तु के अनुगुण हो।[2] जिसमे व्यवहार उत्पन्न करने का सामर्थ्य हो वह ज्ञान और जो यथार्थ वस्तु के अनुगुण हो ऐसे प्रमाण की परिभाषा मे स्मृति का समावेश सहज ही हो जाता है। रामानुज दर्शन मे अबाधित स्मृति को, इस प्रकार प्रमाण माना है।[3] वेंकटनाथ आग्रह करते हैं कि भ्रम की नियत उपाधि के रूप मे नियम विरुद्ध स्मृति को प्रविष्ट करना अयुक्त है, क्योंकि पीली सीप के भ्रम युक्त ज्ञान म, स्मृति के उद्भव होने का प्रकट अनुभव नही है। सीप साक्षात् पीला ही दीखता है। इस प्रकार भ्रम के सभी दृष्टान्तो मे, जो नियत रूप से उपाधि-परिपूर्ण होते हैं एक वस्तु दूसरी दीखती है जिसे पारिभाषिक शब्दो मे अन्यथाख्याति कहा है। किन्तु इसका आग्रह किया जा सकता है कि रजत सीप के भ्रम मे, सीप का रजत रूप से दीखने का कारण, दूकान मे देखे रजत के संस्कारो और चमकते हुए पदार्थ के बीच भेद का अग्रहण है, जो अख्याति कहलाती है। इस प्रकार, भ्रम के सभी दृष्टान्तो मे, जब एक वस्तु दूसरी दीखती है तब वहाँ, स्मृति प्रतिमा और प्रत्यक्ष के बीच भेद न ग्रहण करने की दशा उपस्थित रहती है। अगर भ्रम को इस दृष्टि से देखा जाय तो वह प्रधान एवं साक्षात् रूप से उपरोक्त मनोवैज्ञानिक तथ्य है जो अख्याति कहलाता है। इस प्रकार, भ्रम के ये दोनों वाद, रामानुज ने, इन दोनो दृष्टिकोणो से स्वीकार किए हैं। जबकि अख्याति भ्रम के मनोवैज्ञानिक कारणो का विश्लेषण और तर्क का परिणाम है।[4] दूसरा

---

[1] न्याय परिशुद्धि वेंकटनाथ कृत, पृ० ३६।

[2] अनुगुण पद व्यवहार जननस्वरूप योग्य पर तेनाजनित व्यवहारे यथार्थ ज्ञान विशेषे ना व्याप्ति।

—न्याय परिशुद्धि पर श्रीनिवास का न्यायसार, पृ० ३६।

[3] स्मृति मात्रा प्रमाणत्वं न युक्तम् इति वक्ष्यते,
अबाधित स्मृते लोके प्रमाणत्व परिग्रहात्। — न्याय परिशुद्धि पृ० ३८।

[4] इद रजतमनु भवामि इति एकत्वेनैव प्रतीयमानाया प्रतीतेर्ग्रहणस्मरणात्मकत्वम् अनेकत्व च युक्तित सिद्धयमान न प्रतीतिपथमारोहति। —न्यायसार पृ० ४०।

यथार्थ-ख्यातिवाद, जो भ्रम का भी सच्चा ज्ञान, इस आधार पर मानता है कि पचीकरण के अनुसार सभी वस्तु सभी भूतों के प्राकृत मिश्रण का परिणाम है, वह न तो मनोवैज्ञानिक है और न विश्लेषणात्मक ही है किन्तु तात्विक है और ऐसा होने से, भ्रम के स्वरूप को नहीं समझाता। इस मत के अनुसार, भ्रम मे, सीप मे ऐसे रजत को ग्रहण करना माना है जो गृह उपयोग या आभरण बनाने के काम मे लाया जा सकता है जबकि तात्विक विवरण सभी वस्तुओं म सभी वस्तुओं, के तत्वों के सामा य मिश्रीकरण मे, रजत के कुछ प्राकृत तत्व देखने का समथन करता है।

बौद्धो द्वारा माने हुए भ्रम के आत्म ख्यातिवाद का खण्डन करते हुए, वेंकटनाथ कहते हैं कि अगर विज्ञानवादी बौद्ध एक मूलचैतन्य पर, भिन्न चेतनाओं के आरोपण की प्रमाणता को स्वीकार कर सकते हैं तो, उसी सादृश्य के आधार पर, अनुभूत पदार्थों की प्रमाणता भी, मानी जा सकती है। अगर अविषयगत और विषयगत भिन्न चेतनाओं को नहीं माना जाता तो सार अनुभव, एक अभिन्न चेतना बन जाएँगे और वह बौद्धों के प्रमाणवाद से स्पष्ट रूप से विरुद्ध है। बौद्धों का यह मानना कि जो पदार्थ एक साथ अनुभव किए जाते हैं वे एक हैं, यह अयुक्त है। ज्ञान और उसके अथ स्पष्ट रूप से भिन्न जाने जाते हैं इसलिए उनका तादात्म्य प्रतिपादन करना, अनुभव विरुद्ध है। माध्यमिकवादी बौद्ध पुन मानते हैं कि, जिस प्रकार, दाप के मिथ्या होने पर भी भ्रम होता है, इस प्रकार किसी अधिष्ठान के या नित्य वस्तु के मिथ्या होने पर भी, भ्रम एक भास के रूप मे, बिना आधार के दीख सकता है। ऐसे मत के विरोध मे वेंकटनाथ कहते हैं, कि लोग जिसे है या नहीं है ऐसा मानते हैं, वह किसी सत्ता को लक्ष्य करके ही ऐसा कहते हैं और सत्ता के आधार बिना कोई घटना हो, वह हमारे अनुभव की समझ के बाहर है। इसलिए माध्यमिक बौद्धो का पूर्ण आभासवाद पूर्णत अनुभव विरुद्ध है।[1] जब लोग कोई वस्तु अस्तित्व नहीं रखती ऐसा कहते हैं, तब वे देश काल का विशेषण लगाकर ही ऐसा कहते हैं। इस प्रकार, जब लोग कहते हैं कि पुस्तक नहीं है तो वे इस अभाव को यहा या वहाँ और 'अभी' या 'कभी' ऐसा कहकर विशिष्ट करते हैं। किन्तु शुद्ध अविशिष्ट अनस्तित्व तो सामान्य अनुभव के बाहर हैं।[2] पुन पदार्थों के सभी भावात्मक अनुभव, देश धर्म से

[1] लोके भावाभाव शब्दयोस्तत्प्रतीत्याश्च विद्यमानस्यैव वस्तुन अवस्था विशेष गोचरत्वस्य प्रतिपादितत्वात्। प्रकारान्तरस्य च लोक सिद्ध प्रमाणा विषयत्वादिति भव। —न्याय सार, पृ० ४६।

[2] सर्वोऽपि निषेध सप्रतियोगिको नियत देश कालश्च प्रतीयते। निरुपाधिनियत देशकाल प्रतियोगी विशेषण रहितो निषेधो न प्रतीयते इति।

—वही, पृ० ४६।

विशिष्ट हैं (जैसेकि यहां घड़ा है), अगर यह देश की उपाधि को माना जाता है तो यह नहीं माना जा सकता कि भ्रम निरधिष्ठान होता है (निरधिष्ठान भ्रमानुपपत्ति)। यदि, यहां और वहां की उपाधि को स्वीकार नहीं किया जाता, तो कोई भी अनुभव सम्भव नहीं है (अप्रतीतेरपह्नव एव स्यात्)।

वेदांतियों के भ्रम के अनिर्वचनीयवाद का खण्डन करते हुए वेंकटनाथ कहते हैं कि जब शंकर मतवादी सभी वस्तुओं को अनिर्वचनीय कहते हैं तो 'अनिर्वचनीय' शब्द कुछ निश्चित गुण का अर्थ रखने वाला होना चाहिए, उस दशा में वह अनिर्वचनीय नहीं रहेगा, या विशेष प्रकार से व्याख्या करने में निष्फल रहेगा जिस दशा में शंकर मतवादी भी रामानुज मतानुसार जगत् के स्वरूप का स्वीकार कर सकते हैं। पुनः जब शंकरमतवादी सत् असत् व्यतिरेकी रूप, स्वबाधपूर्ण पदार्थ को स्वीकारने को उद्यत हैं, तो वे वस्तु है और नहीं है, इन दोनों रूपों से, जैसाकि अनुभव बताता है क्यों नहीं स्वीकार करते ? स्वबाधता दोनों में एकसी ही रहेगी। अगर उनका सत् असत् रूप जगत् का वर्णन यह सिद्ध करने के हेतु है कि यह तुच्छ एवं ब्रह्म दोनों से भिन्न है तो रामानुज वादियों को उनसे कोई झगड़ा नहीं है। आगे जगत् का मिथ्यात्व अनुभव युक्त नहीं है अगर ऐसे मिथ्यात्व को आधाररहित न्याय पर सिद्ध करने का प्रयास किया जाता है तो उसी न्याय युक्ति को लेकर ब्रह्म को भी स्वबाधयुक्त सिद्ध किया जा सकता है। पुन, जगत् प्रपंच असत् है क्योंकि नाशवान् है, यह निश्चयात्मक रूप से कहना निराधार है क्योंकि उपनिषद् ब्रह्म जीव और प्रकृति को नित्य कहते हैं। शंकर मतवादी भी नाश और व्याघात को उलझा देते हैं। (न चैक्य नाश बाधयो)।[1]

पतंजलि के अनुयायी, भाषा व्यवहार द्वारा जिसमें हम अविद्यमान (अभावात्मक) पदार्थों को भ्रमपूर्वक ग्रहण करते हैं ऐसे भ्रम के विषय का प्रतिपादन करते हैं। इसे निर्विषय ख्याति कहते हैं। इस प्रकार जब हम राहु का शीश कहते हैं तब हम ऐसा सोचते हैं कि राहु अपने सर से पृथक् अस्तित्व रखता है और यह राहु में षष्ठी के प्रत्यय को अनुगमन करते भाषा-व्यवहार के कारण ग्रहण होता है किन्तु वेंकटनाथ आग्रह करते हैं कि ऐसे अनुभवों को समझाने के लिए एक पृथक मत को स्वीकारना अनावश्यक है क्योंकि ऐसा भ्रम अख्याति या अन्यथाख्याति द्वारा भी अच्छी तरह समझाया जा सकता है और वे तर्क करते हैं कि उन्होंने दूसरे ख्यातिवादों की असम्भवता को पहले ही सिद्ध कर दिया है।

मेघनादारि, तो प्रमाण को ऐसा ज्ञान कहते हैं जो वस्तु को दूसरे प्रमाणों के आश्रय बिना, निश्चित करता है जैसेकि स्मृति।[2]

---

[1] न्याय परिशुद्धि, पृ० ४८ ५१।

[2] तत्रान्यप्रमाणानपेक्षम् अर्थ-परिच्छेदकम् ज्ञान प्रमाणम्, अर्थ परिच्छेदेऽन्य प्रमाण सापेक्ष स्मृतावतिव्याप्तिपरिहारेऽन्य प्रमाणानपेक्षम् इति।

—नय द्युमणि, मद्रास, गव० ओरि० हस्त०।

यद्यपि ज्ञान स्वप्रकाश्य है (स्वमूर्तावपि स्वयमेव हेतु) और यद्यपि निद्रा मे या मूर्च्छा म चेतना की निरन्तरता है तो भी चेतना इन अवस्थाओं में विषय को प्रकट नही कर सकती। यह तभी शक्य है जब ज्ञान प्रमाण व्यापार द्वारा उत्पन्न होता है। जब हम ज्ञान की स्वप्रमाणता के विषय मे कहते हैं तब हम ज्ञान ग्रहण किए गए अर्थ (अर्थ परिच्छिन्न प्रमाणम्) से प्रमाणित होता है ऐसा कह सकते हैं। किन्तु जब हम उसके विषय मे प्रत्यक्ष की दृष्टि से या ज्ञान के विषय के प्रमाणित होने के दृष्टिकोण से कहते हैं तो हम ज्ञान को अर्थ निर्धारक (अर्थ परिच्छेदक) रूप म निर्धारित करना पड़ता है, न कि यह वह उससे निश्चित होता है। ज्ञान इस प्रकार, ज्ञाता की दृष्टि से स्वत प्रामाण्य है। स्वत प्रमाण्यता उस अर्थ का लक्ष्य करता है जो ग्रहण किए गए विषयों से निश्चित होता है। इसे ज्ञान ग्रहण करने के सभी प्रसंगो म और जगत् मे हमारे व्यवहार के लिए, विषय दृष्टि से भी देखना पड़ता है, तब ज्ञान एक साधन दीखता है जिसके द्वारा, हम विषय के धर्म को निश्चित करते हैं और तदनुरूप व्यवहार करते हैं। अर्थ धर्म के परिच्छेदक के रूप म ज्ञान की जा परिभाषा (अर्थ परिच्छेदकारी ज्ञानम प्रमाणम) जो मेघनादारि ने दी है, वह वेंकटनाथ से कुछ भिन्न है, व ज्ञान का यथार्थ विषय को अनुभव कराने वाला व्यवहार या उसके अनुगुण है, ऐसी व्याख्या करते हैं। (यथावस्थित व्यवहारानुगुणम)। वेंकटनाथ के अनुसार, ज्ञान व्यवहार का साधन है, और व्यवहार यथार्थता के स्वरूप को निश्चित करता है। मेघनादारि की परिभाषा में व्यवहार और यथार्थता के सारे प्रश्न एक तरफ भुला दिए जाते हैं या कम से कम उन्हें पीछे तो धकेल दिया जाता है। उन्होने विषय को निश्चित करने में ज्ञान के व्यापार पर बल दिया है। यहाँ सम्भवत यह कल्पना है कि, भूल या भ्रम के दृष्टान्तो में भी यथार्थ वस्तु देखी जाती है और अन्य बातो की अवगणना के कारण, भ्रम उत्पन्न होता है, किन्तु जिसके यथार्थ ज्ञान से भ्रम असम्भव हो जाता। हम जान चुके हैं कि रामानुज के यथार्थ ख्यातिवाद के अनुसार, प्रत्येक वस्तु क अणु प्रत्येक वस्तु में हैं जो उपनिषद् के त्रिवृत् करण सिद्धान्त के आधार पर है जिसका कि पचीकरण मे विशदीकरण हुआ है। इसलिए, भ्रम मे (रजत सीप) नेत्र इन्द्रिय, रजत के अणु के सम्पर्क मे होती है जो सीप के एक अंश को बनाता है। रजत का यह अंश, निस्सदेह ही, सीप के बहुत ही बड़े अंश की तुलना में अत्यन्त ही छोटा है। किन्तु नेत्र के क्षणिक दोष के या क्षोभ उत्पन्न करने वाली दूसरी परिस्थितियो के कारण, सीप के ये बहुत बड़े अंश नही देखे जाते। परिणाम यह होता है कि केवल रजत का ही ज्ञान उत्पन्न होता है जिसस आँखें सम्पर्क में थी और जबकि सीप का अंश, ग्रहण होने से पूर्णत हट गया था। इसलिए मात्र एक रजत अंश का प्रत्यक्ष हुआ, ऐसा मान लिया गया था और इस प्रकार भ्रम उत्पन्न हुआ। किन्तु ऐसे भ्रम में भी, रजत का ज्ञान होना, भूल नही है। भूल बहुत बड़े अंश सीप का अग्रहण होना है। इस प्रकार भ्रम के ज्ञान म भी, निस्सदेह, यथार्थ विषय ही देखा

जाता है। अन्यथा ख्यातिवाद के अनुसार, भ्रम में, एक वस्तु में उन गुणों या लक्षणों को समावेश किया जाता है जो उसमें नहीं हैं। अप्रकट रूप से यथार्थ ख्यातिवाद में यह वाद समाविष्ट है क्योंकि यहाँ भी, सामने उपस्थित पुनरावर्ती वस्तु में दिए गए गुण (रजत), उसमें नहीं हैं यद्यपि भ्रम का यह मूल कारण नहीं है और यहाँ प्रत्यक्ष का सचमुच भ्रम नहीं है। मेघनादारि इस प्रकार, मानते हैं कि प्रत्येक ज्ञान इस अर्थ में सत्य है कि उसके अनुरूप हमेशा विषय रहता है, या जैसाकि अनंताचार्य ने और भी निश्चित रूप से वर्णन किया है–कि समस्त ज्ञान लक्षण (भ्रमयुक्त या अन्य) सब साधारण रूप से ज्ञान के विषय के रूप में यथार्थ पदार्थों का लक्ष्य करता है।[1] हमने देखा है कि वेंकटनाथ ने भ्रम के विषय में तीन दृष्टिकोणों से तीन वाद माने हैं अन्यथा ख्याति, अख्याति और यथार्थख्याति। मेघनादारि के ग्रंथों में इसका समर्थन नहीं मिलता क्योंकि वे यथार्थ ख्यातिवाद ही केवल भ्रम का वाद है इसे सिद्ध करने में और अन्य प्रतिस्पर्धी वादों का खण्डन करने में, कोई प्रयत्न बाकी नहीं छोड़ते हैं। मेघनादारि के अन्यथा ख्यातिवाद के खण्डन की प्रधान धारा इस मत में रही है—जब ज्ञान को, जिस विषय का ज्ञान होता है उसे ही लक्ष्य करना चाहिए इसलिए यह शक्य नहीं है कि वह विषय ऐसा ज्ञान उत्पन्न करे कि जिसका अर्थ नितान्त भिन्न हो, क्योंकि तब वह किसी भी विषय को लक्ष्य न करेगा और इस प्रकार तुच्छ होगा। अगर ऐसा तर्क किया जाता है कि विषय अन्य स्थान पर विद्यमान है तो आक्षेप किया जा सकता है कि जबकि विषय की उपस्थिति ज्ञान के अर्थ द्वारा ही निश्चित की जाती है और जबकि ऐसे विषय का, भ्रम के दृष्टान्तों में निषेध किया गया है, जहाँ ऐसा ज्ञान है तो विश्वास कैसे हो कि विषय अन्य दृष्टान्त में उपस्थित रहेगा? ऐसे दृष्टान्त में भी ज्ञान ही वस्तु की उपस्थिति को निश्चय करेगा। कहने का तात्पर्य यह है कि अगर ज्ञान ही अनुरूप विषय का विश्वास कराने वाला है तो यह कहना ठीक नहीं है कि दो दृष्टान्तों में जहाँ ऐसा ज्ञान होता है, एक दृष्टान्त में विषय विद्यमान है और दूसरे में नहीं है।[2]

---

[1] तत्तद् धर्म प्रकारक ज्ञानत्व व्यापक तत्तद् धर्मवद् विशेष्यकत्वमिति यथार्थ सर्वविज्ञान मिति। –अनंताचार्य ज्ञान यथार्थवाद (हस्त०)।

[2] न च तद्वज्ज्ञाने स्थितिवाच्य। तदाकारस्य सत्यत्वे भ्रान्तित्वानुपपत्ति असत्त्वे तु न तस्य ज्ञानाकारता। तुच्छस्य वस्त्वाकारतानुपपत्ते। तदा कारत्वे च ख्यातिरेव तुच्छेऽपि शुक्ति कादौ न रजतार्थप्रवृत्ति।

–मेघनादारि नयद्युमणि (हस्त०)।

मेघनादारि के आशय की मुख्य विचारधारा अनंताचार्य के शब्दों में उनके ज्ञान यथार्थवाद (हस्त०) में इस प्रकार संक्षेप से कही जा सकती है 'तथा च

मेघनादारि, अनिर्वचनीय ख्याति का खण्डन करते हुए कहते हैं, कि अगर ऐसा माना जाता है कि भ्रम मे अनिर्वचनीय रजत उत्पन्न होता है जो सच्चे रजत के रूप मे भूल मे ग्रहण किया जाता है यह अन्यथा ख्यातिवाद सरीखा ही है। क्योंकि यहाँ भी एक वस्तु दूसरे रूप से ग्रहण होती है। इसके अतिरिक्त, यह समझना कठिन हो जाता है कि ऐसे अनिर्वचनीय रजत का ज्ञान किस प्रकार उसे उठाने की सच्ची इच्छा उत्पन्न करेगा जो सच्चे रजत के ज्ञान से ही शक्य है। इच्छा जो यथार्थ वस्तु से उत्पन्न हो सकती है वह भ्रमयुक्त विचार से कभी भी उत्पन्न नहीं हो सकती। केवल एक भ्रम युक्त विचार और सच्चे चमकते पदार्थ—रजत मे समानता भी नहीं हो सकती।[1] तथाकथित अनिर्वचनीय रजत या तो सत् असत् स्वरूप, या सत् असत् से भिन्न माना जायगा, जो दोनों ही व्याघातात्मक नियम और मध्याभाव नियम के अनुसार असम्भव है। अगर तर्क देने के लिए यह मान भी लिया जाय कि ऐसा तर्कातीत पदार्थ शक्य है तो यह समझना कठिन हो जायगा कि रजत जैसी भावात्मक वस्तु के साथ उसकी समानता कैसे हो सकती है? यह माना नहीं जा सकता कि यह सत् असत् रूप वस्तु शून्य स्वरूप है क्योंकि तब भी, इस शून्य पदार्थ और सच्चे रजत के बीच समानता समझना असम्भव हो जाएगा।[2]

पुन ऐसा कहा जाता है कि भ्रमरूप रजत, इसलिए अनिर्वचनीय कहा जाता है कि वह आत्मा जैसी शुद्ध सत्ता जो अनुभव मे कभी बाधित नहीं होती, उससे भिन्न है (आत्मनो बाधायोगात्) और शशविषाण जैसी तुच्छ वस्तु से भी भिन्न है जो ज्ञान का विषय कभी नहीं हो सकती। किन्तु इसके उत्तर मे, यह बराबर कहा जा सकता है कि आत्मा की सत्ता सिद्ध नहीं की जा सकती, क्योंकि अगर आत्मा ज्ञान का विषय है तो वह जगत् की तरह मिथ्या होगी, और अगर वह ऐसी नहीं है तो उसकी कोई सत्ता नहीं है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि उसकी सत्ता, सत्ता के जातिवाचक प्रत्यय से सम्बन्ध होने के कारण है, जबकि आत्मा एक है ऐसा माना गया है इसलिए जाति

रजत त्व शुक्तिनिष्ठा विषयता वच्छेदकत्वा भाववत् शुक्ति प्रवत्तित्वात यो यद् प्रवत्ति स तन्निष्ठ धर्म निरूपिता वच्छेदकत्वा भाववान् इति सामा य व्याप्तौ दण्ड निष्ठ कारणता वच्छेदकत्वा भाववद् दण्डावत्ति घटत्वादिकम दृष्टा त।'

[1] 'तस्याऽनिर्वाच्य रजततया ग्रहणाद् विपरीतख्याति पक्षपात सम्यग रजत धीर्हि प्रवत्ति हेतु तस्य प्रतीत्यात्मक वस्त्वात्मक योर्भास्वरत्वादि सादृश्या भावात।'
—वही।

[2] एकस्य युगपत्सदसदात्मकाविरुद्ध-धर्मवत्वानुपपत्ते। तदुपपत्तावपि सादृश्यानुपपत्तेश्च शून्य-वस्तूनि प्रमाणाभावात्। तत्सद्भावेऽपि तस्य रजत सादृश्या भावाच्च ततो न प्रवत्ति।
—वही।

उसका सम्ब ध नही हो सकता।[1] पुन परिवर्तनशीलता का अभाव, सत्ता का गुण नही माना जा सकता, क्योकि यदि ज्ञात विषय परिवर्तनशील होने के कारण असत् है तो ज्ञाता स्वय, परिवर्तनशील विषय और अपरिवर्तनशील सम्ब धा के साथ सहचार के कारण मिथ्या हो जायगा। पुन सत्ता, जैसा माना जाता है उतनी सर्वव्यापी नहीं है क्योकि वह, जिन पदार्थों म मानी गई है (घडा इत्यादि) उससे भिन्न है और अभाव से भी भिन्न है[2] (अभाव को भाव पदार्थ मानने वाले मत म)। अगर आत्मा स्वय प्रकाश माना जाता है तब यह आक्षेप किया जा सकता है कि ऐसी स्वय प्रकाशता प्रमाण से सिद्ध होनी चाहिए और यह भी आग्रह किया जा सकता है कि जब तक आत्मा की सत्ता ऐसे सिद्ध नही की जाती, उसका स्वय प्रकाश लक्षण भी सिद्ध नहीं किया जा सकता।[3]

पुन अख्यातिवाद दो तरह से समझाया जा सकता है जिन दोना मे वह कुछ अर्थ म यथार्थ ख्याति कहा जा सकता है। पहले अर्थ म, भ्रम इस प्रकार उत्पन्न होना समझा गया है नेत्र इन्द्रिय हमारे सामने किसी चमकते हुए से प्रभावित होती है और यह चमकीलापन रजत जसा होने से रजत का चमकीलापन याद दिलाता है और क्योकि चमकीलापन रजत म है या किसी और म है, यह स्पष्ट करना शक्य नही होता, और जबकि सामने उपस्थित पदार्थ ऐसे अस्पष्ट चमकीलेपन से सम्बंधित होता है इसलिए, चमकीलापन अपने म से ही खडा किया हुआ विचार है ऐसा नहीं माना जा सकता किन्तु उसका सच्चा स्थान उसम है जो हमारी आँखो के सामने है ऐसा मानना पडता है इस प्रकार रजत का विचार सच्चे ज्ञान का परिणाम है। अगर सीप, रजत रूप से ग्रहण किया जाता तो वह मिथ्या ज्ञान होता, किन्तु ऐसे ज्ञान म,

---

[1] तस्य दृश्यत्वानभ्युपगमे शशविषाणादि साम्यम। आत्मन प्रमेयता च नेष्ट ति न तत्सत्तया सिद्धि। तदभ्युपगतौ च प्रपचवन्मिथ्यात्व आत्मव्यक्तेरेकत्वाभिमानात् तद् व्यतिरिक्त पदार्थस्यासत्वाभिमानाच्च सत्ता समवायित्वानुपपत्ते।
-मेघनादारि, नय द्युमणि।

[2] अथ घटपटादि भेदाना व्यावर्तमानत्वेनापारमार्थ्यम आत्मनोऽपि घटपटादि सर्व पदार्थेभ्यो व्यावर्तमानत्वान्मिथ्यात्वापत्ति अभिन्यनक्त पारमार्थ्येऽभिव्यक्त्यापारमार्थ्यम न च सत्वस्यैव समस्त पदार्थेषु अनुवर्तमान परमार्थ्यम। घटादयोऽपि तदपेक्षया व्यावर्तन्ते अभावस्य पदार्थान्तर भावेऽपि तत्र सत्तानभ्युपगमात् सर्व पदार्थानुवृत्त्य भावात।
—वही।

[3] न च तस्य स्वय प्रकाशत्वान्न प्रमाणापेक्षेति स्वय प्रकाशत्वस्याऽपि प्रमाणाधीनत्वात् प्रमाणान्तर सिद्धात्मन स्वय प्रकाशत्वस्य साध्यत्वच्च। नहि धर्म्यप्रसिद्धौ धर्म साध्यता।
—वही।

सीप नहीं, किन्तु जो सामने है यह वह रजत रूप से जाना जाता है। सामान्य उक्ति यह है कि विचार जो विशेष व्यवहार से अनुगुण है, उसे ऐसे व्यवहार मे अनुभूत पदार्थ का सच्चा प्रतिनिधि मानना चाहिए (*यदर्थ व्यवहारानुगुणा या धी सा तदर्था*)। यह उक्ति यहाँ इस तरह लागू होती है कि, सामने जो यह' है वह व्यवहार मे ऐसा अनुभव किया जा सकता है और रजत लक्षण भी सच्चे रजत को ठीक तरह लक्ष्य करते हैं। इसलिए 'यह रजत विचार को, दो विचारो का समाहार (मिश्रण), 'यह' और रजत' का मिश्रण मानना चाहिए। इस प्रकार, उपरोक्त अर्थ म, ज्ञान, अख्यातिवाद के अनुसार सच्चा ज्ञान है। उपरोक्त स्पष्टीकरण के विषय मे, यह आक्षेप किया जाता है कि जिस प्रकार गुण और धर्म के दोनो विचार एक ही प्रत्यय मे आ सकते हैं तो एक ही भ्रम युक्त ज्ञान– यह' 'रजत' मे दो भिन्न विचारो की न्याय-युक्त एकता ग्रहण करने म कोई कठिनाई नहीं आ सकती। ऐसा एकीकरण (मिश्रण), यहाँ दो विचारो के एक ही क्षण मे उत्पन्न होने से और दोनो के बीच अवकाश नहीं होने के कारण शक्य है। यह अन्यथा ख्यातिवाद से भिन्न है, जिसमे एक पदार्थ दूसरा दीखता माना जाता है। इस मत के विरुद्ध पहला आक्षेप यह है कि, दोष, एक वस्तु को दूसरी वस्तु मे परिणत नहीं कर सकता, दूसरा यह है कि, अगर भ्रम, एक वस्तु का दूसरा होकर दीखना माना जाता है तो, ऐसे दृष्टान्तो मे जिन्हे सच्चा ज्ञान माना जाता है उनमे भी ऐसे भय का स्थान है, क्योंकि प्रत्येक ज्ञान शकास्पद हो जायगा और यह हमे सदेहवाद के घाट उतारेगा। अगर इसलिए, ऐसा सूचन किया जाता है कि भ्रम, सीप की उपस्थिति और रजत की स्मृति जनित प्रतिबिम्ब के बीच का भेद का अग्रहण है, तो वह भी असम्भव होगा। क्योंकि अगर भेद का अर्थ दो भिन्न वस्तु है (भेदो वस्तुस्वरूपमेव) तो भेद का अग्रहण (जो इस मत मे भ्रम का मूल कारण माना है) प्रत्यक्ष और स्मृति जनित प्रतिबिम्ब के तादात्म्य का ज्ञान होगा और वह विशेषण युक्त प्रत्यय का नहीं समझा जायगा जहा एक विचार (रजत) दूसरे विचार (यह आगे के सामने) को विशिष्ट करता दीखता है। तदुपरान्त, अगर दो स्वतन्त्र विचार जो द्रव्य गुण रूप से सम्बन्धित नहीं है, एक ही प्रत्यय के रूप मे मिथ्या ग्रहण किए जाते हैं तो कोई भी विचार किसी से इस प्रकार एक किया जा सकता है क्योंकि स्मृति जनित प्रतिबिम्ब जो हमारे भूतकाल के अनुभव मे सगृहीत हैं, वे असख्य हैं। पुन रजत जो भूतकाल मे अनुभव किया गया था वह जिस देश मे विद्यमान था उस विशेष सम्बन्ध के साथ अनुभव किया गया था, और रजत की प्रत्यभिज्ञा और स्मृति भी उस दैशिक गुण से सम्बन्धित होगी। यह दृष्टा के सामने जो वस्तु है उसके साथ मिथ्या सबध जोडना दोनो म दैशिक भेद होने के कारण असम्भव कर देगा। अगर ऐसा विवाद किया जाय कि दोष के प्रभाव के कारण *स्मृति जीवन प्रतिबिम्ब का दैशिक गुण बदल जाता* है तो वह अन्यथा ख्याति हो जायगी जो अख्यातिवाद मे अमान्य रहेगा। पुन जबकि द्रव्य गुणो को किसी प्रकार

के देशिक गुणों से सबधित होना आवश्यक है चाहे फिर मूल देशिक गुण बदल जाय या परिणत हो जाय तो ऐसे देशिक प्रतिबिम्ब को, द्रष्टा के सामने है ऐसा प्रतीत होने का कोई कारण नहीं होना चाहिए। यह भी कहना आवश्यक है, स्मृति प्रतिबिम्ब और प्रत्यक्ष के बीच विशिष्ट भेद को अवश्य ही देखा जायगा, क्योंकि अगर ऐसे विशिष्ट भेद नहीं देखे जाएँ तो स्मृति प्रतिबिम्ब, रजत प्रतिबिम्ब से भिन्न जानी नहीं जा सकेगी। यह नहीं कहा जा सकता कि यद्यपि प्रत्यक्ष, स्मृति प्रतिबिम्ब से भिन्न किया जा सकता है किन्तु स्मृति प्रतिबिम्ब प्रत्यक्ष से भिन्न नहीं किया जा सकता क्योंकि विवेक लक्षण दोनों मे एक ही है जो सफेद चमकीलेपन से अन्य और कुछ नहीं है। अगर ऐसा आग्रह किया जाता है कि देशिक तथा अन्य विशिष्ट गुण, स्मृति प्रतिबिम्ब मे आलेखित नहीं किए जाते वह केवल प्रतिबिम्ब रूप से दीखती है, तो आक्षेप किया जा सकता है कि प्रत्येक स्मृति प्रतिबिम्ब वर्तमान प्रत्यक्ष से सकीर्ण किया जा सकता है और एक पत्थर भी रजत दीख सकता है।

जबकि अनिर्वचनीय ख्याति और अख्याति दोनों ही, कुछ अर्थ मे यथार्थ ख्याति हैं इसलिए मेघनादारि ने इन दोनो भ्रम के वादों का खण्डन किया और यह बताने का प्रयास किया कि इन मतों मे यथार्थ ख्याति प्रतिपादित नहीं रहती। अब वे यह बताने का प्रयास करते हैं कि यथार्थ ख्याति के अन्य सभी सम्भावित अर्थ अप्रमाण हैं। यथार्थ ख्याति की मूल मान्यता यह है कि सभी ज्ञान सच्चे ज्ञान की तरह, यथार्थ वस्तु के अनुरूप होने चाहिए।[1] इस प्रकार दूसरे अर्थ बोधनों मे, यथार्थ ख्याति या आनुरूप्य सिद्धान्त का यह अर्थ हो सकता है कि ज्ञान, यथार्थ वस्तु से, या दृष्ट प्रत्यक्ष से उत्पन्न होता है या अर्थ हो सकता है कि वह अबाधित अनुभव है पहला विकल्प प्रतिपादित नहीं किया जा सकता क्योंकि रजत सीप के भ्रम मे भी रजत का विचार, यथार्थ वस्तु से उत्पन्न हुआ है। दूसरा मत भी अयोग्य है क्योंकि दूसरे मतानुसार रजत के भ्रम युक्त ज्ञान के अनुरूप वस्तु वहाँ सीप मे सचमुच उपस्थित नहीं है और जहा तक भूतकाल मे अनुभूत रजत की स्मृति जनित प्रतिबिम्ब के व्यापार का प्रश्न है (पूर्वानुभूत रजत सस्कार द्वारा) उसका कारणत्व सच्चे और भ्रम युक्त ज्ञान दोनो मे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। तीसरा विकल्प भी अमान्य है क्योंकि बाधता का सम्बन्ध ज्ञान से या विभावन से है वस्तु से नहीं है। अगर यह कहा जाता है कि ज्ञान भ्रम के प्रत्यक्ष को लक्ष्य करता है और इसलिए भ्रम युक्त वस्तु ही जो बाहर (सामने) विद्यमान है वही ज्ञान का विषय है, तो स्पष्ट आक्षेप यह होगा कि ज्ञान, फिर द्रष्टा के सामने अभ्रमयुक्त किसी वस्तु को लक्ष्य करता है और वह

---

[1] विप्रतिपन्न प्रत्ययो यथार्थ प्रत्ययत्वात्
सम्प्रतिपन्नप्रत्ययवदिति।   —नय द्युमणि, (हस्त०) पृ० १४०।

खण्डन नही किया जा सकता। अगर ज्ञान का विषय अभ्रमयुक्त कुछ वस्तु है, तो यह कहना व्यर्थ होगा कि भ्रमयुक्त प्रत्यक्ष आकार मात्र ही ज्ञान का विषय हो सकता है और अन्य नही हो सकता।

यह भी नही कह सकते हैं कि भ्रम के ज्ञान का कोई विषय नही है (निर्विषय-ख्याति) और उसे ज्ञान इस कारण कहते हैं कि, यद्यपि वह सच्चे ज्ञान की तरह प्रवृत्ति उत्पन्न तो नही कर सकता किन्तु प्रवृत्ति उत्पन्न कर सकता है ऐसा भास उत्पन्न करता है इसी मे सच्चे ज्ञान से इसका साम्य है। यह इसी प्रकार है जैसे शरद् ऋतु के बादल वर्षा नही ला सकते किन्तु बादल अवश्य कहलाते हैं। भ्रमयुक्त ज्ञान का विषय, न केवल भ्रम ही है किन्तु यह रूपी अभ्रम विषय है जिसे वह दृश्य रूप एव विशेषण रूप से लक्ष्य करता है। सत्य तो वास्तव मे यह है ज्ञान को दृश्य रूप होने के लिए यह अनिवार्य नही है कि वस्तु के सभी गुण प्रत्यक्ष ही दीखें अगर कोई भी लक्षण प्रकट हैं, तो वे ही केवल ज्ञान के लिए, उस वस्तु की दृश्यता स्थापित करने को पर्याप्त हैं। वस्तुस्थिति इसलिए यह है कि सारे ज्ञान दृश्य जगत् के, विशेष पदार्थ के अनुरूप है और उन्हे लक्ष्य करते हैं और तत्व मीमासायुक्त विश्वमीमासावाद की पूर्व मान्यता से पृथक किसी अन्य वाद से समझाया जा सकता है, जो होमोयमेरीया (HOMOIOMERIAE) वाद के निकट है।

अनन्ताचार्य, अपने 'ज्ञान यथार्थवाद' मे, मेघनादारि के दिए तर्कों की न्यूनाधिक रूप से पुनरावृत्ति करते हैं। वे कहते हैं कि ज्ञान कभी भी दृश्य विषय के अनुरूप सम्बन्ध पर आधारित हुए बिना सम्भव नही हैं। इसलिए ज्ञान के अर्थ को दृश्य वस्तु के अनुरूप होना चाहिए जिसे वह लक्ष्य करता है। इस प्रकार, जबकि रजत का ज्ञान होता है (रजत सीप भ्रम मे) तो उसे उसके अनुरूप दृश्य अधिष्ठान को लक्ष्य करना ही चाहिए।[1] भ्रम स्मृति प्रतिमा और प्रत्यक्ष के अविवेक युक्त ज्ञान से उत्पन्न होता है ऐसा मीमासको का ख्याल भी गलत है, क्योंकि ऐसी दशा मे हमे रजत याद आता है ऐसा अनुभव होना चाहिए और न कि उसे, हमारे सामने दृश्य वस्तु के रूप में देखना।[2] मेघनादारि और अनन्ताचार्य यह सिद्ध करने का बडा परिश्रम करते हैं

---

[1] तथा च रजत तत्व शुक्ति निष्ठ विषयतावच्छेदकत्वाभाववत् शुक्त्यवृत्तित्वात् यो यदवृत्ति स तन्निष्ठ धर्म निरूपितावच्छेदकत्वाभाववानिति।
—ज्ञान यथार्थवाद, हस्त०।

[2] रजत स्मरणे इद पदार्थ ग्रहण रूप ज्ञान द्वय कल्पने रजतम् स्मरामीति तथानुभव प्रसग, न तु रजत पश्यामीति, साक्षात्कारत्व व्यञ्जक विषयताया स्मरणेऽभावात्। —वही।

कि उनकी परिभाषा, सभी प्रकार के भ्रम के दृष्टा तो और स्वप्न म भी उपयुक्त है। इस विषय का विस्तृत वर्णन करना हमारे वर्तमान उद्देश्य के लिए अनावश्यक है।[1]

ज्ञान के स्वत. प्रामाण्य का सिद्धान्त

प्रमाण वस्तु का, यथार्थ ज्ञान है (तथा भूतार्थ ज्ञान हि प्रमाणमुच्यते), और *अप्रमाण या झूठा ज्ञान वस्तु का अयथार्थ ज्ञान है (अतथा भूतार्थ ज्ञान हि* अप्रमाणम्)। ऐसी प्रमाणता मेघनादारि कहते हैं ज्ञान द्वारा स्वयं प्रकट होती है (तथात्वावधारणात्मक प्रामाण्यमात्मनैव निश्चीयत)। इस परिभाषा से यह आलोचना नही सिद्ध होती कि ज्ञान निष्क्रिय है अत उसी समय सक्रिय नही माना जा सकता और इसलिए उसका प्रमाण निश्चित नही है (न च कर्म कर्तृता विरोध), क्योंकि जब वह पदार्थ का स्वरूपत विश्वस्त प्रतिनिधि है, इसलिए अपने स्वरूप को जैसा है वैसा प्रकट करना ही अपनी प्रमाणता का स्थापित करना है। अगर ज्ञान मे अपनी प्रमाणता प्रकट करने की शक्ति नही है, तो प्रमाणता प्रकट करने का कोई भी रास्ता नही रहेगा क्योंकि कोई अन्य अन्तवर्ती व्यापार द्वारा या किसी अन्य साधन के द्वारा उसकी प्रमाणता की स्वीकृति हमेशा वही प्रश्न खडा करेगा कि उन व्यापारो या साधनताओ का साक्षित्व (प्रमाणता) किस प्रकार स्वीकार किया जाय। ऐसी मान्यता के अनुसार जबकि ज्ञान स्वत प्रमाण नही है, प्रत्येक ऐसे प्रमाण को सिद्ध करने के लिए दूसरा प्रमाण आवश्यक होगा, और इसके लिए और कोई दूसरा इस प्रकार अनवस्था की स्थिति उत्पन्न होती है।

मेघनादारि अन्य मतो का खण्डन करते हुए बताते हैं कि अगर प्रमाणता, ज्ञान के सामूहिक कारणो मे मानी जाती है (जिससे आत्मा, इन्द्रिया और पदार्थ का समावेश है) तो पदार्थ को भी प्रमाण मानना पडेगा, और फिर कोई प्रमेय नही रहता। अगर स्वीकृति चेतना स्वरूप मान ली जाती है तो स्मृति ज्ञान का भी प्रमाण मानना पडेगा क्योंकि वह चेतना स्वरूप है। आगे अगर प्रमाण की स्वीकृति एक प्रकार की शक्ति है तो ऐसी शक्ति अनुभवगम्य न होने के कारण उसे किसी अन्य प्रमाण द्वारा प्रकट करना पडेगा। यदि, पुन प्रमाणता ज्ञान के कारणो द्वारा उत्पन्न होती मानी जाती है तो स्वत प्रमाणता का सिद्धान्त त्याग देना पडेगा। निर्बाध व्यवहार भी प्रमाणता की व्याख्या नही मानी जा सकती क्योंकि ऐसी अवस्था में स्मृति को भी स्वत प्रमाण मानना पडेगा। इसे केवल ज्ञान ही है ऐसी परिभाषा भी नही दी जा सकती, क्योंकि ज्ञान अपनी प्रमाणता जानने के लिए

---

[1] वही। तथा मेघनादारि नय द्यु मणि।

पीछे नही देख सकता इसलिए उसे किसी पर आश्रित होना पडेगा, तो इसका अर्थ यह रहेगा हमने परत प्रमाणता स्वीकार कर ली है। पुन उन दष्टा ता में जहाँ भ्रम का कारण नात है, नान मिथ्या होते हुए भी (अप्रतिहत) बिना प्रतिरोध के हमारे सामने प्रकट होता है जसे, सूय की गति। प्रत्यक ज्ञान अपनी प्रमाणता से सम्बन्धित है यह मा यता इन दष्टा तो म उपयुक्त नही होती। यदि पुन ऐसा माना जाता है कि जब कभी पिछला नान पहले ज्ञान का अस्वीकार करता है तब हमारे पास पहला नान, पिछले क्षण के नान से किस प्रकार खडित होता है उसका एक स्पष्ट दष्टान्त होता है। ऐसा भी आग्रह किया जा सकता है कि जब किसी वस्तु का जातिगत ज्ञान उसके सामा य नान को हटाता है तब एक नान दूसरे का स्थानापन्न है ऐसा दृष्टा त हमारे पास होता है यद्यपि यहा पहले नान की आलोचना नही होती।

भाट्ट मतानुसार जहा विषय उसके विशिष्ट नान लग्रग की अवस्था को पहुँचता है तब उसका ज्ञान एक आ तरिक व्यापार के रूप म अनुमित किया जाता है, तो यहाँ प्रमाणता और अप्रमाणता दोनो विषय पर ही आश्रित होनी चाहिए। किन्तु यह आग्रह किया जाता है कि प्रमाणता साधना एव ज्ञान का उपाधियो की दोष रहितता म पाइ जाती है तो वह परत प्रमाण बन जाएगा। प्रभाकर के मत मे हमे एक अधिक सुन्दर दष्टा त मिलता है जिसमे नान ही ज्ञाता विषय और नान का एक साथ प्रकट करता हुआ माना है क्योकि यहा नान का किसी बाह्य वस्तु पर आश्रित नही रहना पडता। इस दष्टा त के अनुसार स्मृति स्वत अप्रमाण हो सकती है जो पूव अनुभव पर आश्रित है। इस पर याय का आक्षेप यह है कि जबकि स्मृति भी एक प्रकार का नान है, और जबकि सब नान स्वय प्रकाश हैं तो प्रभाकर मत वादियो का न्याय सगति से (अविरुद्ध ही) स्मृति की स्वत प्रमाणता माननी चाहिए।

मेघनादारि मानते हैं कि नान की स्वत प्रमाणता के विरुद्ध ये सब आक्षेप झूठे हैं, क्योकि अगर नान की प्रमाणता को अय नान पर आधारित रहना पडता है तो अनवस्था दोष आता है। यदि अनवस्था दोष दूर करने के लिए किसी पीछे आने वाले ज्ञान को स्वत प्रमाण मान लिया जाता है तो वह स्वत प्रमाणता मान लेने के बराबर हो जाता है (अनवस्था परिहाराय कस्यचित् स्वतस्त्वागीकारे च न परत प्रामाण्यम्)। यह कहा जा सकता है कि हम प्रमाणता के नान से काय म प्रवत्त नही होते किन्तु प्रमाणता की सम्भावना से प्रवत होते हैं जो हमारे विषय के प्रति प्रवत्ति से परीक्षण (अनाततया नाततयव) किया जाता है। किन्तु ऐसी धारणा में प्रतिपक्षियो का परत प्रमाणता पर झुकना निरथक है क्योकि ऐसी धारणा इस मत पर खडी हुई है कि हमारी प्रवत्ति नान की प्रमाणता को पहले निश्चय किए बिना ही उत्पन्न होती है। जब हम यह दखते हैं कि एक व्यक्ति, वस्तु को देखकर उसके प्रति

प्रवृत्त होता है, हमारा स्वाभाविक तौर से यही मानना होता है कि उसे अपनी प्रवृत्ति के आधार पर अपने ज्ञान की प्रमाणता का अनुभव है क्योंकि उसके बिना यत्न या प्रयास नहीं हो सकता। ऐसे दृष्टा तो मे प्रमाणता के ज्ञान बिना ही ज्ञान प्रमाण है, ऐसा विवाद करना नितान्त अर्थहीन है। सत्य तो यह है कि प्रमाण और उसकी प्रमाणता एक ही वस्तु है। प्रमाणता उपस्थित ज्ञान के क्षेत्र के बाहर अन्य किसी मे है, ऐसा सोचना गलत है। जब हम आग देखते हैं तो आग के विचार के साथ ही उसके दाहक गुण को भी ग्रहण करते हैं किसी अदृष्ट शक्ति या आग की दाहक शक्ति को ग्रहण करने की राह नहीं देखते है। दाहक वस्तु के रूप मे अग्नि के ज्ञान मे ही उसका दाहक शक्ति के साथ सम्बन्ध भी समाविष्ट है। दाहक शक्ति अकेली का ज्ञान हमे किसी कर्म मे प्रवृत्त नहीं करेगा, क्योंकि हम पदार्थ के ज्ञान से प्रवृत्त होते हैं, उनकी शक्तियों से नहीं होते। इसलिए, पदार्थ को उसकी शक्ति से जुदा करना और शक्ति को हमारे प्रयास का कारण कहना गलत है। इसलिए, प्रमाण के ज्ञान मे, उसकी प्रमाणता समाविष्ट होती है। इस प्रकार प्रमाणता को विषय ज्ञान से भिन्न नहीं किया जा सकता।[1] आगे, प्रमाणता की अव्याहतता के रूप मे परिभाषा

[1] वेंकटनाथ के मामा रामानुजाचार्य एक आक्षेप की प्रतीक्षा करते है कि प्रत्यक्ष ज्ञान केवल वस्तु को ही प्रकट करता है। ऐसी वस्तु का प्रकट होना ज्ञान सम्बन्ध को भी सकलित नहीं करता, जो आवश्यक रूप से अति भिन्न प्रकार का हो क्योंकि ज्ञान का वस्तु से अनेक प्रकार का सम्बन्ध हो सकता है। वस्तु मात्र का प्राकट्य बिना विशिष्ट ज्ञान सम्बन्ध के इसलिए विभावना का समावेश नहीं करता, यद्यपि, इस वस्तु की सत्यता, दूसरे क्षण मे निश्चित की जा सकती है जब यह 'मैं इसे जानता हूँ' इस विभावना रूप से घटाया जाता है, वस्तु के प्रकट होने के क्षण मे, उसकी प्रमाणता निर्धारित करने की कोई सम्भावना नहीं है। इसके उत्तर मे रामानुजाचार्य कहते हैं कि वस्तु का प्रकट होना आवश्यक रूप से ज्ञान सम्बन्ध को सामान्य रूप से समावेश करता है और इसलिए विशेष क्षण मे प्राकट्य के प्रकार से वस्तु को ग्रहण करने के साथ साथ ही, किसी विशेष क्षण मे विशिष्ट ज्ञान सम्बन्ध का प्रकार भी ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार जबकि वस्तु का प्रकट होना विशिष्ट ज्ञान सम्बन्ध का निर्दिष्ट करता है तो सारे ज्ञान अव्यक्त रूप से विभावना जैसे माने जा सकते है और ज्ञान की स्वतः प्रमाणता पर कोई आक्षेप नहीं किया जा सकता।

अगर ज्ञान और वस्तु सर्वथा पृथक मानें जाय, जैसाकि उन्हे होना चाहिए, और अगर ज्ञान सम्बन्ध वस्तु के साथ अव्यक्त रूप से नहीं दिया जाता तो समस्त ज्ञान वस्तु रहित हो जाएँगे और इस प्रकार, भविष्य मे उन्हे सम्बन्धित करना असम्भव हो जाएगा।

—न्याय कुलिश (हस्त०)

नही दी जा सकती क्योंकि अगर परीक्षण प्रत्येक ज्ञान पर किया जाए तो अनवस्था स्थिति उत्पन्न हो जाएगी। यदि, किसी अनुभव की प्रमाणता के ज्ञान को, साधन और अनुभव की उपाधियो की दोष रहितता या योग्यता पर आश्रित रहना पडता है तो, जबकि ऐसे ज्ञान की प्रमाणता को साधन एव उपाधि की दोष रहितता के दूसरे ज्ञान पर आश्रित रहना पडेगा और उसे दूसरे पर, तो इस तरह स्पष्ट ही अनवस्था की स्थिति उत्पन्न होती है। जबकि ज्ञान साधारणत विषय के अनुगुण है तो साधारणतया, ऐसे ज्ञान की उपाधि और कारणो की सदोषता से भूल (भ्रम) उत्पन्न होने का कोई भय नही रहना चाहिए, यह तो कोई विशेष उदाहरण में ही ऐसी शका उत्पन्न होती है और तब ज्ञान के साधन और उपाधि की सदोषता या योग्यता के विषय मे परीक्षण करना पडता है। अगर प्रत्येक ज्ञान की प्रमाणता का परीक्षण होता है तो हम सदेहवाद के ग्रास हो जाएँगे। इस प्रकार प्रमाणता यह अर्थ रखती है कि वस्तु का किसी प्रकार से प्रकट होना किसी अन्य प्रमाण से दृढीकरण की अपेक्षा नही रखता (प्रमाणान्तरानपेक्षयार्थावच्छिन्नत्वम्), और प्रमाणता मे ऐसा विश्वास प्रमाण के साथ ही प्रकट होता है। स्मृति तो पूर्वानुभव पर आधारित है, और इसलिए उसकी प्रमाणता मे विश्वास, पूर्व ज्ञान की प्रमाणता पर आश्रित है, इसलिए इसे स्वत प्रमाण नही माना जा सकता।

वेंकटनाथ के मामा और उनके आचार्य रामानुजाचार्य, इस आक्षेप का पूर्ण ग्रहण करते हैं कि अगर ज्ञान की स्वत प्रमाणता स्वीकार की जाती है तो किसी भी अनुभव के बारे मे शका उपस्थित नही हो सकती।[1] रामानुजाचार्य का उत्तर है कि सारे ज्ञान स्वत प्रमाणता के सामान्य विश्वास से सम्बन्धित हैं किन्तु इससे कोई विशेष दशा मे संशय उत्पन्न होने से नहीं रुकता। इस मत के अनुसार स्वत प्रमाणता का अर्थ यह है कि सभी ज्ञान स्वत ही अपनी प्रमाणता के विषय में सामान्य विश्वास उत्पन्न करते हैं यद्यपि ये विशेष दिशा मे भ्रम का निष्कासन नही करते।[2]

वेंकटनाथ के अनुसार रामानुज सम्प्रदाय के सत्तामूलक पदार्थ

(क) द्रव्य

वेंकटनाथ ने अपने 'न्यायसिद्धांजन' और 'तत्व मुक्त कलाप' मे रामानुज दर्शन मे स्वीकृत या माने गए भिन्न पदार्थों का सरल वर्णन देने का प्रयास किया है जिन्हें

---

[1] सामान्यस्य स्वतोग्रहेणाभ्यास दशात्पन्न ज्ञाने तत्संशयो न स्यात्।
—तत्वचिन्तामणि (ए० एम० बी०) पृ० १८४।

[2] न्याय कुलिश, पृ० २७ (हस्त०)।

रामानुज ने, पाठकों के समक्ष प्रमुख रूप से नही रखा था। मुख्य विभाजन, द्रव्य और अद्रव्य का है। द्रव्य वह है जिसमे दशाएँ (दशावत्) हैं और जो विकार और परिणामशील है। द्रव्य को मानकर वे—बौद्ध मत, कि 'द्रव्य नहीं हैं, सारे पदार्थ केवल पृथक तत्वों का क्षणिक समाहार है जो एक क्षण अस्तित्व रखते हैं दूसरे क्षण मे नष्ट हो जाते हैं,' इस मत का खण्डन करने का प्रयास करते हैं। वभाषिक बौद्ध कहते हैं कि रूप, रस, स्पर्श और घ्राण ये चार मूल गोचर तत्व हैं, जो स्वय गुण हैं और ये स्वय किसी के गुण नही हैं। ये हमारी विशिष्ट इन्द्रियो द्वारा ग्रहण किए जाते हैं।[1] वात्सी पुत्रीय सम्प्रदाय शब्द को, एक पृथक गोचर तत्व के रूप मे समावेश करता है जो श्रवणेन्द्रियो द्वारा ग्रहण होता है। इसके विरोध मे वेंकटनाथ कहते हैं कि प्रत्येक प्रत्यक्ष अनुभव मे, हम ऐसा लगता है कि जिसे हम देखते हैं उसे हम स्पर्श करते हैं, यह अनुभव मिथ्या नहीं हो सकता। क्योकि ऐसी भावना नियत है और अनुभव मे अबाधित है (स्वारसिक बाधादृष्टेरनन्यथासिद्धेश्च)। ऐसा अनुभव, दृश्य क्षेत्र मे एक नित्य पदार्थ के विचार की प्रत्यभिज्ञा को अनुमित करता है जो अपरिणामी नित्य द्रष्टा द्वारा अनुभव किया जाता है और यह भी कि दो गोचर गुण एक ही पदार्थ को लक्ष्य करते हैं। यह केवल रूप की सवेदना से सम्बन्धित नही है क्योंकि रूप सवेदना स्पर्श सवेदना को अनुमित नही करती, न वह केवल स्पर्श को लक्ष्य करती है क्योकि उसका रूप से सम्बन्ध नही है। प्रत्यक्ष इसलिए एक ही वस्तु को लक्ष्य करता है जिसमे स्पर्श और रूप के गुण हैं। प्रत्यभिज्ञा का ऐसा अनुभव तत्वों के सघात के बौद्ध मत का भी खण्डन करता है। क्योकि ऐसा मत स्वाभाविक ही प्रश्न खडा करता है कि सघात, तत्व जो एकीकृत होते हैं उनसे भिन्न हैं या एक ही हैं। पिछले विकल्प के अनुसार पदार्थ एक ही है जिसमे स्पर्श और रूप के गुण दोनों ही हैं ऐसी प्रत्यभिज्ञा नही हो सकती। पहले विकल्प मे, जब सघात एकीकृत तत्वों से बाहर माना जाता है, ऐसा सघात भावात्मक या निषेधात्मक होना चाहिए। पहला विकल्प, द्रव्य को मान लेने के बराबर होता है, क्योकि केवल सयुक्त गुणों के अस्तित्व की धारणा अस्वीकार्य की गई है क्योंकि ऐसा कुछ भी नही हो सकता जो, न तो द्रव्य हो या न गुण हो या न विशिष्ट करता हुआ सम्बन्ध ही हो। दूसरे विकल्प मे, अगर सघात अस्तित्व नही रखता तो वह प्रत्यभिज्ञा भी उत्पन्न नही कर सकता। अगर सघात दृष्ट लक्षणो के बीच, अवकाश की अनुपस्थिति है ऐसा कहा जाता है तो भी, जब एक एक गुण उसके योग्य इन्द्रियो का ही अनुसरण करते हैं तो यह असम्भव है कि दो इन्द्रियो द्वारा दो भिन्न इन्द्रिय गुणों का अनुभव एक ही सामान्य पदार्थ को इगित करे। सघात की देशिक एकता कहकर भी व्याख्या नहीं

[1] एव प्रादुर्भावभापिका निराधारा निधर्मकाश्च रूपादयश्चत्वार पदार्था।
तत्वमुक्ताकलाप। —सर्वार्थ सिद्धि पृ० ८।

की जा सकती, क्योकि, उसे सघात का विचार उत्पन्न करने के लिए कालिक एकता को भी साथ लेना पडेगा। यह भी नही कहा जा सकता कि देश और काल दोनो एक ही हैं, क्योकि ऐसा मत जो क्षणिकवाद के अनुसार सत्य है क्षणिकवाद के खण्डन द्वारा मिथ्या है ऐसा आगे बताया जायगा। देश भी आकाश के स्वरूप जैसा नहीं हो सकता जो बौद्ध मतानुसार अनवराघ स्वरूप है और भावात्मक प्रत्यय नहीं है। देश की इन्द्रियगुणो के साथ भौतिक एकता भी नही हो सकती, क्योकि भिन्न इन्द्रिय-गुण, भिन्न क्षणो के लक्षण माने गए हैं।[1] अगर यह अर्थ है कि भिन्न इन्द्रियो के पीछे केवल एक ही पदार्थ है तो वह द्रव्य को मानना होता है।[2] अगर, इन्द्रिय गुण एक ही भौतिक पदार्थ में अस्तित्व रखने के कारण सघात रूप माने जाते हैं, तो भौतिक पदार्थ को, उसके मूल तत्व का अस्तित्व किसी अन्य पदार्थ मे हैं इस कारण सघात है ऐसा वर्णन करना पडेगा, और वह पुन किसी अन्य पदार्थ मे है और इस प्रकार अनवस्था दशा प्राप्त होती है। यह भी आग्रह नही किया जा सकता कि स्पर्श सवेदना रूप सवेदना से अनुमित की जाती है, क्योकि ऐसा अनुमान, रूप और स्पर्श गुणो की व्याप्ति के ज्ञान को, उसकी पूर्व उपाधि के रूप मे परिग्रहण करेगा, जोकि जबतक दोनो गुण एक ही पदार्थ मे हैं ऐसा ज्ञान नहीं होता अशक्य है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि स्पर्श और रूप गुण दोनो आपस मे सम्बन्धित हैं, यह इस भावना को उदय करता है कि जिसे हम देखते हैं उसे स्पर्श भी करते हैं, क्योकि ये दो सवेदनाएँ स्वरूप से भिन्न जानी गई हैं और भिन्न इन्द्रियो से उत्पन्न हैं। यह भी नही कहा जा सकता है कि हम जिसे देखते हैं उसे स्पर्श करते हैं, ऐसा हमारा मत *प्रत्यक्ष वासना के व्यापार से है, इसलिए मिथ्या है क्योकि इसी सादृश्यता को लेकर* और योगाचार के मत का अनुसरण करते हुए हम बाह्य वस्तु का भी विषेध कर सकते हैं। अगर ऐसा कहा जाता है कि इन्द्रिय गुण अनुभव मे बाधित नही होते, और इस प्रकार विज्ञानवाद मत मिथ्या है, तो यह अच्छी तरह बताया जा सकता है कि हमारा यह विचार कि हम पदार्थ का अनुभव करते हैं जिसमे स्पर्श और रूप गुण हैं ऐसा कहते हैं यह भी अनुभव मे बाधित नही होता। अगर ऐसा कहा जाता है कि यह अनुभव तर्क द्वारा प्रमाणित नहीं किया जा सकता, तो समान प्रबलता से यह सिद्ध किया जा सकता है कि बाह्य इन्द्रिय-गुणो के अस्तित्व को भी तर्क द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता। इसलिए हमारा सामान्य अनुभव कि पदार्थ एक द्रव्य है जिसमे भिन्न इन्द्रिय गुण हैं इसे अप्रमाणित नही किया जा सकता। वायु को छोडकर अन्य चार तत्व स्वय भिन्न लक्षण वाले हैं और इसलिए वे रूप और स्पर्श गुण-युक्त

---

[1] न चोपदानरूप स्पर्शरूपादिनां भिन्न स्वलक्षणोपादानत्वाभ्युपगमात्।
–सर्वार्थ सिद्धि, पृ० ६।

[2] एकोपादानत्वे तु तदेव द्रव्यम्।
–वही।

इत्यादि देखे जाते हैं और वे भिन्न इन्द्रिया द्वारा ग्राह्य हैं, यह भी मिथ्या है, क्योंकि यह आवश्यक रूप से इस धारणा का परिग्रहण नही करता कि वे भिन्न गुणा के आधार हैं, क्योकि अनुभव यह बताता है कि पदाथ, गुण युक्त है ऐसा ही साक्षात् ज्ञान होता है (अनुभूति)। कोई भी घडे को केवल द्रव्य गुण के रूप में नहीं देखता, किन्तु उसे गुण युक्त पदाथ ही देखता है। यह भी असम्भव है कि एक अगुण वस्तु के दो भिन्न स्वभाव हों क्याकि एक वस्तु, दो भिन्न स्वभाव वाली नहीं हो सकती। अगर ऐसा कहा जाता है कि एक ही पदार्थ म दो भिन्न गुण रह सकते हैं तो यह द्रव्य का मानने के बराबर हुआ जिसमे भिन्न गुण रहते हैं। यह भी मानना मिथ्या है कि रूप और स्पर्श गुण, एक साथ ग्रहण होते हैं इसलिए दोना का एक स्वरूप है, क्याकि एक ही भ्रम के दृष्टान्त म जहाँ सफेद सीप पीली दीखती है, तब सीप उसके सफेद गुण बिना ग्रहण होती है, ठीक उसी प्रकार जैसे पीला रग उसके अनुरूप पदार्थ के बिना ग्रहण होता है और यह नहीं कहा जा सकता कि, एक पीली सीप वहाँ पृथक रूप से नई उत्पन्न होती है क्याकि ऐसा मत इस अनुभव से साक्षात् बाधित होता है कि हम पीला रग देखते हैं और स्पर्श द्वारा उसका सीप के साथ तादात्म्य प्रतिपादन करते हैं। इसलिए, अनुभव युगपद् होने से, पदाथ में गुण का समवाय सम्बन्ध सिद्ध होता है, तादात्म्य नही।

इसके अतिरिक्त, बौद्ध मतवादी भी यह सिद्ध नहीं कर सकते कि स्पश और रूप की सवेदना एक साथ होती है। अगर ऐसा है तो दो भिन्न इन्द्रिया का साक्ष्य स्वाभाविक ही दो भिन्न लक्षणा को सूचित करता है। जब पदाथ समीप होता है *तो उसका स्पष्ट ज्ञान होता है और वह जब दूर होता है तब उसका अस्पष्ट ज्ञान* होता है। यह स्पष्टता और अस्पष्टता केवल इन्द्रिय गुणा को लक्ष्य नही करती, क्याकि तब उनका पदाथ के रूप में भेद नहीं जाना जायगा। वह परिणाम का भी लक्ष्य नही कर सकता, क्याकि परिमाण का विचार बौद्ध मतवादी मिथ्या मानते हैं। ऐसी परिस्थिति मे, यह मानना पडेगा कि ऐसे प्रत्यक्ष पदार्थ को ही लक्ष्य करते हैं।

बौद्धमतवादी ऐसा आग्रह करते हुए देखे गए हैं कि अगर गुण द्रव्य से भिन्न माने जाते हैं, तो यह पूछा जा सकता है कि इन धर्मों के और भी आगे धम हैं या धम रहित हैं। पिछले विकल्प म धम रहित होने से वे परिभाषित नही हो सकते या दान्तो मे प्रयुक्त नही किए जा सकते। पहले विकल्प मे अगर धर्म म और भी आगे धम हैं तो दूसरी कक्षा के धर्मों को अन्य धर्मों द्वारा जानना पडेगा, और फिर उनको अन्य के द्वारा, और इस प्रकार अनवस्था दोष उत्पन्न होता है। पुन धमत्व स्वय धर्म बन जायगा और यह नही कहा जा सकता कि धमत्व, धम का स्वरूप ही है *क्योंकि कोई भी वस्तु उसे ही लक्ष्य करके नही* समझाई जा सकती। अगर धमत्व धमसे भिन्न है तो ऐसा प्रत्यक्ष हमे अनवस्था स्थिति पर ले जायगा। इस पर

वेंकटनाथ का उत्तर है कि सारे धर्म धर्मरहित नहीं हैं। कुछ दृष्टान्तों में धर्म स्वयं विशेषित होता दीखता है, जोकि अनुभव से प्रमाणित है। उन दृष्टान्तों में जहाँ, धर्म निर्देश द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता, जैसेकि, 'यह धर्म ऐसा ऐसा है' (इत्थं भाव), वहाँ वह अपने ज्ञान के लिए अन्य धर्म पर आश्रित नहीं रहता। ऐसे गुणों के दृष्टान्त अमूर्त गुण एवं सामान्य के द्वारा दिए जा सकते हैं और उनसे विपरीत धर्मों के दृष्टान्त, विशेषण रूप गुणों द्वारा दिए जा सकते हैं जैसाकि 'सफेद घोड़ा' सफेद घोड़ा इस वाक्य में सफेद घोड़े के सफेदपन का भाग और विशिष्ट निर्देश हो सकता है जबकि शब्द 'सफेदपन' स्वयं सिद्ध है और उसके बारे में विशेष निर्देश की जिज्ञासा अस्वीकार्य होती है। न्याय दृष्टि से इन दोनों ही दृष्टान्तों में और अधिक विशिष्ट निर्देश की माँग की जा सकती है और अनवस्था दोष का भय भी हो सकता है परन्तु अनुभव में ऐसा नहीं होता।[1] इसके अतिरिक्त हम, अभिज्ञा की अभिज्ञा होना आवश्यक है ऐसा समझने पर अनवस्था स्थिति की कल्पना कर सकते हैं किन्तु यह केवल तर्क की पराकाष्ठा है, क्योंकि अभिज्ञा अपने को प्रकट करने में अपने बारे में ज्ञान होने के लिए सभी कुछ को प्रकट करती है और इस अनवस्था क्रम को बढ़ाने से कोई लाभ नहीं होता। इस प्रकार एक धर्म में और धर्म होना माना जा सकता है, किन्तु इनके द्वारा जो कुछ भी व्यक्त होता है वह गुण द्वारा ही प्रकट होता है ऐसा माना जा सकता है।[2] पुनः यह प्रतिपादन कि यदि धर्म स्वयं निधर्मी हैं तो वे अवाच्य हैं तो यह बौद्ध मतवादियों का स्वयं का महान् संकट में ला देगा जब वे पदार्थ को स्वलक्षण्य निधर्मी हैं और यदि जिसमें गुण नहीं है उसका वर्णन नहीं हो सकता, तो उसे स्वलक्षण कह कर विशेष निर्देश देना भी असम्भव है।[3]

ऐसा आग्रह किया जाय कि धर्म उसमें रहते हैं जो निधर्मी है या जिसमें धर्म है। पहले विकल्प का अर्थ यह होगा कि वस्तु अभाव रूप से अस्तित्व रखती है जो असम्भव है, क्योंकि सब कुछ सर्वत्र अस्तित्व रखेगा और तुच्छ वस्तु भी जो कहीं भी

---

[1] उदाहृतेषु नियता नियत निष्कर्षक शब्देषु जाति-
गुणादेः प्रधानतया निर्देशेऽपि सन्ति केचित्
यथा प्रमाणम् इत्थम्भावो त्वयाऽपि हेतु
साध्यादिधर्माणां पक्षधर्मत्वादि धर्मा
स्वीकार्या अनवस्था च कथंचिद् उपगमनीया।

—तत्त्व मुक्ता कलाप, सर्वार्थ सिद्धि, पृ० १६।

[2] स्वीकृत च संवेदनामवेदने शब्द नादादौ स्व-पर निर्वाहकत्वम्। —वही।

[3] किं स्व लक्षणादीनां जात्यादीनाञ्च सर्वत्ति सिद्धानां निधर्मकत्वे पि कथंचिद् अभिलापार्हत्व त्वयापि ग्राह्यम्। वही।

अस्तित्व रखती नहीं मानी गई है, वह भी अस्तित्व रखती मानी जाएगी। दूसरे विकल्प में, एक धर्म दूसरे धर्म में रहेगा जो आत्माश्रय होने से, निरर्थक प्रत्यय है। वेंकटनाथ का इस पर यह उत्तर है कि वे ऐसा नहीं मानते हैं कि धर्म अभाव (निषेध) के प्रतियोगी में रहता है या उसमें है जिसमें वह अब भी है, किन्तु यह मानते हैं कि एक विशेषित पदार्थ में धर्म, विशिष्ठ पदार्थ होने के नाते नहीं है किन्तु उससे पृथक स्वीकार करने के कारण है।[1] यह आग्रह नहीं किया जा सकता कि यह वास्तव में, अभाव प्रतियोगी में धर्म का अस्तित्व मानने का पुराने आक्षेप को अनुमित करेगा। इस पर वेंकटनाथ का उत्तर है कि विशिष्ट पदार्थ का विशेष रूप, उसके किसी अवयवों में नहीं रहता, और किसी भी अवयवों के गुण अवयवी में न भी रहें।[2] अगर प्रतितर्कमूलक पद्धति से, विशिष्ट पदार्थ में धर्म के अस्तित्व के प्रकार की आलोचना की जाती है तो यह निष्कर्ष निकलेगा कि विशिष्ट पदार्थ का प्रत्यय बिना पर्याप्त आधार के है या स्वबाधित है या ऐसा प्रत्यय स्वयं अस्वीकार्य है। ये सब मत निरर्थक हैं, क्योंकि प्रतिपक्षी की प्रचण्ड आलोचना भी अपने तर्क साधना में यही विशिष्ट पदार्थ के प्रत्यय का उपयोग करेगी। इसलिए यह मानना पड़ता है कि धर्म, विशिष्ट धर्मों में अनुसक्त है और यह अनुसक्ति अनवस्था दोष उत्पन्न नहीं करती।

(ख) प्रकृति की सत्ता के स्थापक सांख्य तर्कों की आलोचना

वेंकटनाथ, भौतिक मत के रूप में प्रकृति के सिद्धान्त को स्वीकारते हैं किन्तु वे यह सोचते हैं कि ऐसा सिद्धान्त केवल शास्त्र प्रमाण से ही स्वीकारा जा सकता है अनुमान द्वारा नहीं। इसलिए वे सांख्य के अनुमान की निम्न प्रकार से आलोचना करते हैं, न तो प्रकृति, और न उसके विकार, महत् अहंकार, तन्मात्र इत्यादि प्रत्यक्ष द्वारा जाने जा सकते हैं, न वे अनुमान द्वारा ही जाने जा सकते हैं। सांख्यकार मानते हैं कि कार्य में वही गुण हैं जो कारण में होते हैं। कार्य रूप यह जगत् सुख दुःख मोहात्मक है, इसलिए, उसका कारण भी सुख दुःख और मोहात्मक स्वरूप होना चाहिए। इस पर स्वाभाविक प्रश्न, कारण गुणों का कार्य के साथ सम्बन्ध में खड़ा होता है। वे एक नहीं हो सकते—कपड़े का श्वेतपन तंतु से जिसका कि वह बना है अभिन्न नहीं है, पदार्थ रूप से कार्य, कारण गुणों से एक नहीं है क्योंकि सफेद और कपड़ा दोनों एक नहीं हैं। आगे, ऐसा नहीं कहा जा सकता कि कार्य और कारण का तादात्म्य केवल यह अर्थ रखता है कि कार्य कारण के अधीन है, जैसे जब कोई

---

[1] वस्तु तस्तद् विशिष्टे विशेष्ये तद् विशिष्ट वत्य भाव तच्छून्ये वृत्ति स्याद् एव।
—वही पृ० १७।

[2] न च घटवती भूतले वर्तमानाना गुणानिना घटेऽपि वृत्ते दृष्टे। तत्व मुक्ता कलाप, सर्वार्थ सिद्धि, पृ० १८।

कहता है कि कपडा काय कारण मे समवाय सम्बन्ध से रहता है, अन्य किसी रूप से नही (अदष्टेरेव ततु समवेतत्वात् पटस्य ततुगुणत्वोक्ति), क्योकि स्पष्ट उत्तर यह है कि साख्य स्वय समवाय सम्बन्ध को स्वीकार नही करता, अवयव और अवयवी या पूर्ण और अश मे नितान्त भेद नही मानता। अगर ऐसा कहा जाता है कि अत मे कहने का तात्पय यह है कि काय कारण में रहता है तो यह सूचन किया जा सकता है कि ऐसी स्वीकृति मात्र से कुछ लाभ नही होता, क्योकि इससे, कारण प्रकृति मे कार्य पदाथ जैसे गुण क्या होने चाहिए यह नहीं समझाया जा सकेगा (न कारणावस्थस्य मुख दु खाद्यात्मकत्व सिद्धि)। अगर यह माना जाता जाता है कि काय म, कारण जैसे गुण होते हैं तब भी यह इस सामान्य मान्यता के विरुद्ध है कि काय गुण कारण गुण से जनित हैं, और इसके अतिरिक्त, इस मान्यता का यह अथ होगा कि काय में कारण गुणो के सिवाय और कोई गुण नही होने चाहिए। यह भी नहीं कहा जा सकता कि काय कारण का सजातीय है (सजातीय गुणवत्वम्) क्योकि साख्यकार महत् का, कारण रूप प्रकृति से अस्तित्व भिन्न मानते हैं, एक भिन्न पदाथ के रूप मे मानते हैं (विलक्षण महत्वाद्यधिकारणत्वाद्)। अगर ऐसा माना जाता है कि काय में केवल कारण के सदृश्य ही गुण होने चाहिए, तो इस स्वीकृति से ही यह माना जाएगा कि काय मे वैसे ही गुण हैं जो कारण म है, तो काय कारण मे भेद ही नही रहगा। यदि पुन यह माना जाता है कि कुछ ही विशेष गुण जो कारण के अयोग्य नही है व काय में स्थानान्तरित होते माने जा सकते हैं और गुणो का, कारण से काय मे सचारण का सम्बन्ध, कारण के मुख्य गुण के विशिष्ट निरीक्षण से मर्यादित किया जा सकता है, तो ऐसे दृष्टान्त जिसम जड गोबर से जीवित मक्खी उत्पन्न होती है, वे कार्य कारण के दृष्टान्त के रूप मे नही समझे जा सकेंगे।[1]

साख्यकार तक करते हैं कि यदि शुद्ध चैतन्य स्वभावत जगत् के पदार्थों के प्रति झुकता है तो मुक्त होने का कोई अवसर ही न रहेगा। इसलिए उसका सम्बन्ध, किसी अन्य मध्यस्थ पदाथ द्वारा ही मानना पडेगा। यह इन्द्रियाँ नही हो सकती, क्योकि मनस उनके बिना भी जगत् के पदार्थों की कल्पना कर सकता है। जब मनस निद्रा मे निष्क्रिय रहता है तब भी—वह अनेक पदार्थों के स्वप्न देख सकता है और इससे अहकार तत्व की पूव मान्यता ग्रहण करनी पडेगी और गाढ निद्रा मे, जब अहकार का काय स्थिर माना जाय, तब भी श्वासप्रश्वास की क्रिया रहती ही है जो एक दूसरे तत्व मनस की, पूव मान्यता, की ओर ले जाती है। किन्तु जबकि इसका व्यापार सीमित

---

[1] मृत सुवर्णादिवत् काय विशेष व्यवस्थापक कारण स्वभाव साजात्य विवक्षाया गोमय भक्षिकादि मारब्ध वृश्चिका दिषु व्यभिचारात्।

—तत्व मुक्ता कलाप सर्वार्थ सिद्धि, पृ० २२।

है तो यह किसी अन्य कारण की पूर्व कल्पना को उपस्थित करती है, अगर इस कारण को भी सीमित माना जाता है तो अनवस्था स्थिति उत्पन्न होती है। सांख्यकार, इसलिए इस पूर्व मान्यता पर रुक जाते हैं कि महत् का कारण असीम है और वह प्रकृति या अव्यक्त है। वेंकटनाथ का उत्तर यह है कि शुद्ध चैतन्य का, जगत् के विषयों के साथ सम्बन्ध, कर्म के साधनत्व से है। विचार व्यापार की सम्भावना के कारण मनस् की एक पृथक तत्व के रूप में अस्तित्व का अनुमान करना भी अशक्य है। क्योंकि मनस की पूर्व कल्पना भी विचार व्यापार को नहीं समझा सकेगी, क्योंकि मनस स्वयं, विचार उत्पन्न कर सकता है जिसके विचार रूप विकार हैं ऐसा नहीं माना जा सकता। स्वप्नावस्था में भी, स्वप्न समझाने के लिए, अहंकार की सत्ता को एक पृथक् तत्व के रूप में मानना आवश्यक नहीं है, क्योंकि यह मनस को संस्कार के साथ रहकर काम व्यापार से भी अच्छी तरह समझाया जा सकता है। गाढ निद्रा में श्वास प्रश्वास क्रिया, भी सामान्य जीव पेशीय व्यापार से समझाई जा सकती है और इसलिए महत् की पूर्व कल्पना आवश्यक नहीं है।

यह भी सोचना मिथ्या है कि कारण, कार्य से अधिक अमर्यादित होना चाहिए, क्योंकि यह सामान्य अनुभव द्वारा प्रमाणित नहीं है, जिसमें एक बड़ा घड़ा, मिट्टी के छोटे परिमाण के पिंड से बनाया जाता है। यह भी सोचना मिथ्या है कि जो कुछ भी कार्य में रहता पाया जाता है वह कारण में भी होना चाहिए (नहि यद् येनानुगतं तत्तस्य कारणमिति नियमः), क्योंकि गाय में जो भिन्न लक्षण पाए जाते हैं वे उसके कारण नहीं माने जाते। इसी मान्यता का यदि अनुसरण किया जाय तो हमें एक पृथक कारण की अपेक्षा करनी पड़ेगी और प्रकृति के इस पृथक कारण को प्रकृति के सामान्य गुणों तथा कार्य के विभिन्न विकारों की कल्पना करनी पड़ेगी। अर्थात् ऐसी स्थिति में प्रकृति स्वयं का अलग कारण प्रतिपादित करना पड़ेगा। (व्यक्ताव्यक्त साधारण धर्माणां तदुभय कारण प्रसंगात् तथा च तत्वाधिक्य प्रसंग)। इस प्रकार यह तर्क कि कार्य में कारणगत वे गुण तत्व अवश्य होने चाहिए, जो उसमें अनुगत हैं यह मिथ्या है। मिट्टीपन जो घड़े में अनुगत है, वह घड़े का कारण नहीं है। पुनः यह तर्क कि जो पदार्थ कार्य कारण भाव से सम्बंधित है उसका एक ही आकार होता है यह भी गलत है क्योंकि यदि यह सादृश्य तादात्म्य का अर्थ रखता है तो कार्य कारण में भेद नहीं किया जा सकता। अगर सादृश्य का अर्थ कुछ सादृश्य गुणों से है, तो ऐसा सादृश्य किसी अन्य पदार्थ से भी हो सकता है (जो कार्य कारण रूप नहीं हैं)। पुनः, इसी उपमान का सांख्य के पुरुष के सिद्धान्त पर प्रयोग करके (पुरुषों में चैतन्य का सामान्य गुण माना गया है), हम सांख्यकार को पुरुष का भी एक कारण मानने के लिए कह सकते हैं। आगे, दो घड़े गुण में एक समान हैं इसी कारण से वे एक ही मृत्पिंड से नहीं बने, और दूसरी ओर हमारे पास ऐसे दृष्टान्त हैं, जिनमें, नितान्त भिन्न कारण से कार्य उत्पन्न होते हैं जैसे गोमय से कीट। इस

प्रकार, हमारे सुख दुःख और मोहात्मक अनुभव से यह अनुमित नहीं होता कि सुख, दुःख और मोह के लक्षणों का एक सामान्य कारण होना चाहिए, क्योंकि ये अनुभव, किसी एक निर्दिष्ट दृष्टान्त में निश्चित कारण द्वारा समझाए जा सकते हैं, और इसलिए, त्रिगुण के लक्षणों का एक सामान्य कारण स्वीकारने की कोई आवश्यकता नहीं है, यदि, साधारण सुख दुःखात्मक अनुभवों को समझाने के लिए कारणरूप एक सुख दुःख मिश्र-तत्व को कारण के रूप में स्वीकारा जाता है, तो इस मिश्र तत्व के बारे में फिर प्रश्न खड़ा हो सकता है, जो अनवस्था की ओर ले जायगा। यदि तीन गुण जगत् के कारण माने जाते हैं, तो यह हमें, जगत् एक कारण से उत्पन्न है इसके स्वीकारने को बाध्य नहीं करेगा, क्योंकि यद्यपि, तीन गुण साम्यावस्था में हों, तो भी वे भिन्न प्रकार के कार्य उत्पन्न करने में निर्दिष्ट योग देते माने जा सकते हैं। इस प्रकार त्रिगुण या सांख्य की प्रकृति अनुमान द्वारा सिद्ध नहीं हो सकती। शास्त्र ही एक मार्ग है जिससे यह सिद्धान्त जाना जा सकता है। तीन गुण प्रकृति में स्थित हैं और सत्व, रजस और तमस की क्रमिक प्रधानता के अनुसार, तीन प्रकार के महत् उत्पन्न होते हैं। इन तीन महत् से तीन प्रकार के अहंकार उत्पन्न होते हैं। पहले (सात्विक) अहंकार से ग्यारह इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। अन्तिम (तामसिक) अहंकार से, तन्मात्र (या भूतादि) उत्पन्न होते हैं। दूसरे प्रकार का अहंकार (राजसिक) ग्यारह इन्द्रियाँ और भूतादि उत्पन्न करने में सहायक रूप से कार्य करता है। कुछ ऐसा भी कहते हैं कि कर्मेन्द्रिया राजसिक अहंकार से उत्पन्न होती हैं। यह स्वीकारा नहीं जा सकता, क्योंकि यह शास्त्र विरुद्ध है। तन्मात्र, तामस अहंकार और भूत की स्थूल तात्विक अवस्था के विकास की सूक्ष्म अवस्था है।[1] शब्द तन्मात्र (शब्द शक्ति) भूतादि से उत्पन्न होता है, और उसके स्थूल शब्द तत्व उत्पन्न होता है। पुनः रूप तन्मात्र (प्रकाश ताप शक्ति) भूतादि या तामस अहंकार से उत्पन्न होता है और उससे स्थूल ताप प्रकाश तत्व उत्पन्न होते हैं इत्यादि। लोकाचार्य कहते हैं कि तन्मात्र और भूत की उत्पत्ति के विषय में दूसरा मत भी है जिसका शास्त्र में भी समर्थन प्राप्त होता है, इसलिए वह उपेक्षा का पात्र नहीं है। वह इस प्रकार है, शब्द तन्मात्र भूतादि से उत्पन्न होते हैं और आकाश शब्द तन्मात्र से उत्पन्न होता है, आकाश पुनः स्पर्श तन्मात्र उत्पन्न करता है और इससे वायु उत्पन्न होती है, तेजस से रस तन्मात्र उत्पन्न होते हैं और इससे जल उत्पन्न होता होता है। जल से, पुनः गन्ध तन्मात्र उत्पन्न होते हैं और इससे पृथ्वी।[2]

[1] भूतानां व्यवहित सूक्ष्मावस्था विशिष्ट द्रव्यम् तन्मात्र दधिरूपेण परिणममानस्य पयसो मध्यमावस्थावद् भूतरूपेण परिणममानस्य द्रव्यस्य तत पूर्वाकाचिद् अवस्था तन्मात्रा। —न्याय सिद्धाञ्जन पृ० २५।

[2] यह मत विष्णु पुराण में माना गया है, १ २ ६६ इत्यादि। यहाँ स्पष्ट कहा है कि आकाश भूतादि स्पर्श तन्मात्र को उत्पन्न करते हैं। वरवर लोकाचार्य रचित

यह मत, वरवर द्वारा इस मान्यतानुसार समझाया गया है, जैसे एक बीज, तुषसहित, होने पर ही अकुर उत्पन्न कर सकता है, इसी प्रकार तन्मात्र भी भूतादि के कोष म रहकर ही विकार उत्पन्न कर सकते हैं।[1]

उपरोक्त बोधाय के अनुसार विकासक्रम निम्न प्रकार है भूतादि से शब्द तन्मात्र उत्पन्न होता है। फिर ऐसे शब्द तन्मात्र से स्पर्श तन्मात्र उत्पन्न होते हैं जो शब्द तन्मात्र को आवृत करते हैं। शब्द त मात्र द्वारा आवृत्त स्पर्श तन्मात्र, आकाश की आवश्यक सहायता से वायु उत्पन्न करते हैं। फिर इस स्पर्श तन्मात्र से रूप त मात्र उत्पन्न होते हैं। रूप त मात्र, बारी से, स्पर्श तन्मात्र को आवत्त कर रूप तन्मात्र वायु की सहायता से तेजस उत्पन्न करता है। पुन रूप तन्मात्र से रस त मात्र उत्पन्न होते हैं जो रस त मात्र को आवत करते हैं। रूप तन्मात्र से आवृत रस तन्मात्र स तेज की सहायता से अप उत्पन्न होता है जो पुन रस तन्मात्र से आवत हो, पानी की सहायता से पृथ्वी उत्पन्न करता है।[2]

वरवर कहते हैं कि 'तत्व निरूपण' मे उत्पत्ति का दूसरा विकास क्रम निम्न प्रकार दिया है। शब्द तन्मात्र भूतादि से उत्पन्न होता है उसकी स्थूल अवस्था से आकाश उत्पन्न होता है। भूतादि, शब्द त मात्र और आकाश को आवत करता है। भूतादि से

तत्वत्रय' पर अपनी टीका मे यह बताना चाहते हैं कि पराशर की टीका के अनुसार इसे त मात्र से तन्मात्र की उत्पत्ति के रूप मे समझाया है, यद्यपि यह विष्णु पुराण के व्यक्तार्थ का विरोध करता है जबकि उसमे भूतादि से तन्मात्र की उत्पत्ति मानी है। वे आगे और सूचित करते हैं कि महाभारत (शाति पव मोक्ष धम, अ० ३०) मे १६ विकार और आठ कारण (प्रकृति) का वर्णन है। किन्तु, इस सोलह विकारा की गणना म (११ इन्द्रिया और पाँच पदार्थ शब्द इत्यादि) पच तन्मात्र और पचभूत मे पृथक्कता नही की गई है क्योंकि इन दोना में, स्थूल, सूक्ष्म की अवस्था होने के कारण, मूल भेद नही है (तन्मात्राणा भूतेभ्य स्वरूप भेदाभावाद-वस्था भेद मात्रत्वात्)। इस बोधाय के अनुसार, आठ प्रकृति से तात्पर्य प्रकृति *महत् अहकार और पाँच भूत स्थूल रूप से है। सोलह विकारो मे समाविष्ट पाँच* पदार्थ तन्मात्र हैं जो भूतो की मूल अवस्था के परिणाम माने हैं।

[1] यथा त्वक शून्य बीजस्याकुर शक्ति र्नास्ति,
तथा वरण शून्यस्योत्तर काय शक्ति-र्नास्तीतिभानात्
कारण गुण विनोत्तरोत्तरगुणविशेषे पु
स्व विशेष्योऽक्त गुणातिशयानुपपत्ते ।

—'तत्वत्रय' पर वरवर का भाष्य, पृ० ३८।

[2] *तत्वत्रय' पर वरवर भाष्य, पृ० ३६।*

आवत स्थूल आकाश की सहायता द्वारा परिणत शब्द त मात्र से, स्पर्श त मात्र उत्पन्न होता है और ऐसे स्पर्श त मात्र से वायु उत्पन्न होती है। शब्द त मात्र फिर स्पर्श त मात्र और वायु, दोनो को आवत करता है और वायु की सहायता द्वारा, परिणत स्पर्श त मात्र से, रूप त मात्र उत्पन्न होता है। रूप त मात्र से उसी प्रकार, तेजस् उत्पन्न होता है, इत्यादि। इस मत में, स्पर्श और अ य त मात्रा की उत्पत्ति के लिए पूवगामी भूता की सहायता आवश्यक पायी गई है।

वेंकटनाथ इस मत को स्वीकारते हैं कि आकाश का स्थूल भूत, पिछले भूता को उत्पन्न करने मे सहायक का काय करता है इसलिए वे, त मात्रो के सयोग से स्थूल भूतों की उत्पत्ति होती है ऐसे साख्य मत की आलोचना करते हैं।[1] साख्यकार पुन सोचते हैं कि प्रकृति से भि न तत्वो की उत्पत्ति, अत स्थित हेतु के कारण है, पृथक् कारको के व्यापार से नही है। वेंकटनाथ, रामानुज के निष्ठावान् अनुयायी होने से, इसका खण्डन करते हैं और यह प्रतिपादन करते हैं कि प्रकृति का परिणाम क्रम, स्वय ईश्वर के प्रेरक व्यापार द्वारा ही हो सकता है।

(ग) अवयवी और अवयव के सबध मे न्याय परमाणुवाद का खण्डन

अवयव एक दूसरे से सबधित रहकर अवयवी का बनाते हैं, और अन्त में अविभाज्य परमाणु सयुक्त होकर एक अणु बनाते हैं, याय के इस मत का खण्डन करने में, वेंकटनाथ निम्न तर्कों का प्रयोग करते हैं। अवयवो के सयाग द्वारा (अणु से आरम्भ होकर) अवयवी का अवयवा के साथ सयोग का जहा तक प्रश्न है, वेंकटनाथ को इस पर कोई आक्षेप नहीं है। उनका आक्षेप, अणु के बनाने मे, परमाणु के सयोग की सम्भावना के विरोध मे है। यदि परमाणु अपने अवयव द्वारा सयुक्त होते हैं तो इन अवयवो के अ य अवयव होने की कल्पना की जा सकती है और इस प्रकार अनवस्था दोष उत्पन्न होता है। यदि वे अवयव, अवयवी से भिन्न नहीं माने जाते हैं तो भिन्न परमाणु उसी अणु के देश मे रहते हैं, ऐसा भली प्रकार माना जा सकता है, और इस प्रकार, वे घटक परमाणु से अधिक बृहत्तर परिमाण की राशि उत्पन्न नही करेंगे। और यह कल्पना भी नहीं की जा सकती कि अवयव की उपस्थिति के बिना अवयवी कैसे बन सकता है। इसी तक को लेकर, यदि परमाणु का सयोग, बृहत्तर परिमाण की उत्पत्ति का नहीं समझा सकता तो राशिभूत होकर भिन्न

---

[1] साख्यस्तु यद्यपि त मात्राणि साक्षात्तमसाऽहकारोत्पन्नानि तत्र शब्द त मात्र आकाशारम्भकमितराणि तु त मात्राणि पूव पूव त मात्र सहकृता युत्तरोत्तर भूतारम्भकाणित्या हु, तदसत्। आकाशात् वायुरित्याद्यन्यथा सिद्धापादान क्रम विशेषाभिधान दर्शनात्।

—न्याय सिद्धांजन, पृ० २५ २६।

परिमाण के पदार्थ (पर्वत, या राई का बीज) की सम्भावना समझ के बाहर ही हो जायगी। यदि ऐसा कहा जाता है कि अवयव, परमाणु के भिन्न पार्श्वों को लक्ष्य करते हैं, तब भी, यह भी कहा जा सकता है अवयव रहित परमाणु में पार्श्व हो नहीं सकते।

ऐसा माना गया है कि, ज्ञान, एक होते हुए भी, अनेकों को लक्ष्य कर सकता है, यद्यपि वह अखंड है। इस संबंध में यह आग्रह किया जा सकता है कि, यदि वह सभी पदार्थों को एक साथ लक्ष्य करता है तो घटक तत्व, पृथक रूप से लक्षित नहीं होंगे, और वह पदार्थों को भी पृथक् अंशों में लक्ष्य नहीं करेगा क्योंकि तब बुद्धि स्वयं अखंड (निरवयव) न होगी। नैयायिक भी, इसी सादृश्य को लेकर आग्रह कर सकते हैं कि आदर्शवादी इस कठिनाई का जो भी हल कर पाएँगे, वह परमाणुवाद के भी उपयुक्त होगा। इस पर आदर्शवादी का स्पष्ट उत्तर यह है कि ज्ञान के विषय में, अनुभव यह सिद्ध करता है कि वह एक और अखंड होते हुए भी अनेकों को लक्ष्य कर सकता है, पर नैयायिकों के पक्ष में ऐसा कोई लाभ नहीं है क्योंकि नैयायिक यह नहीं मानते कि अवयवी कभी भी बिना अवयव के संयुक्त हो सकता है। बौद्ध मत के संघातवाद के प्रति यह आक्षेप नहीं लगाया जा सकता, क्योंकि संघात संयोग से नहीं बनता है। परिच्छिन्न का विभु के साथ संबंध के विषय में नैयायिक आक्षेप तो करते देखे जा सकते हैं, किन्तु ऐसा संबंध मानना पड़ेगा क्योंकि नहीं तो आत्मा या आकाश का पदार्थों के साथ संबंध मानना पड़ेगा क्योंकि आत्मा या आकाश का पदार्थों के साथ संबंध समझाया नहीं जा सकेगा, यह भी नहीं माना जा सकता कि विभु पदार्थ के अवयव हैं। इसलिए अन्ततः यह मानना पड़ता है कि अखंड विभु पदार्थ का परिच्छिन्न वस्तु से संबंध है, और यदि उनकी प्रक्रिया मान ली जाती है, तो वही अवयव रहित परमाणु के संयोग को भी समझा सकता है। इस पर वेंकटनाथ का उत्तर है कि विभु का परिच्छिन्न पदार्थों के साथ संबंध का दृष्टान्त हमारे सामने तभी प्रस्तुत किया जा सकता है जब हमने अवयवी में कुछ निर्दिष्ट गुणों के खण्डन की कोशिश की होती, किन्तु हमारा मुख्य उद्देश्य नैयायिकों की इस असंगति को बताना है कि सभी अवयवों के संयोग, तथाकथित निरवयव परमाणु के संयोग द्वारा होने चाहिए। वास्तव में, मूल, निरवयवी परमाणु की मान्यता में रही है। यदि ऐसा माना जाता है कि अणु का विभाजन अंत में अवयव रहित परमाणु पर ही हमें ले जायगा, तो इसका स्पष्ट उत्तर यह है कि अवयवों के विभाजन से हम निरवयव पर नहीं जा सकते और अच्छा यही होगा कि त्रसरेणु को ही सबसे छोटे अंश के रूप में मान लिया जाय। अगर ऐसा कहा जाता है कि सारे त्र्यसरेणु ही परमाणु है, तो वह अदृश्य होगा, स्पष्ट उत्तर यह है कि परमाणुत्व और अदृश्यता में साधारणतया ऐसी व्याप्ति नहीं है। अच्छा उपाय यही है कि त्रसरेणु को ही भूत का अन्त्य परमाणु मान लिया जाय। इसलिए द्व्यणुक को भी मानने की आवश्यकता नहीं रहती।

वेंकटनाथ, और आगे, अवयव से अवयवी के बनने के सिद्धान्त पर आक्षेप करते हैं, और बताते हैं कि यदि इसे स्वीकारा जाता है तो पदार्थ का भार परमाणु के भार से होना चाहिए, किन्तु नैयायिकों के अनुसार परमाणु में भार नहीं माना गया है। योग्य मत, इसलिए, यह है कि कार्य, या तथाकथित अवयवी, अवयव की परिणत या विकार अवस्था मानी जाय। इस मत के अनुसार कारण व्यापार का कारण पदार्थ की दशा में परिवर्तन करना न्याययुक्त हो जाता है और कार्य में या अवयवी में नया पदार्थ उत्पन्न करना युक्त नहीं होता जैसाकि नैयायिक मानते हैं। पुन अवयव से अवयवी उत्पन्न होने के विषय पर विचार करते समय जब तन्तु पट का कार्य माना जाता है तो यह देखा जा सकता है कि उत्पत्ति के क्रम में एक तन्तु के बाद दूसरे के संयोग द्वारा कई नई विभिन्नताएँ प्राप्त होती हैं। ऐसे प्रत्येक योग से एक नया अवयवी बनता है जबकि क्रम कहीं भी समाप्त किया जा सकता है और ऐसे मत में दूसरा अवयवी उत्पन्न करने के लिए अवयवी में अवयवों का योग करना पड़ता है। यह स्पष्ट ही न्याय मत से विरुद्ध है जो उस सिद्धान्त का समर्थन नहीं करेगा जिसके अनुसार अवयव का अवयवी से जोड करने से ही दूसरा अवयव उत्पन्न होता है। नैयायिक आग्रह करते हैं कि यदि अवयवी को अवयव से पृथक् नहीं माना जाएगा और अवयवी परमाणु के संयोग से अन्य कुछ नहीं है यह समझा जाएगा तो परमाणु अदृश्य होने से अवयवी भी अदृश्य रहेगा। स्थूल अवयवी के उत्पादन की अस्वीकृति से तथाकथित यह स्पष्टीकरण, कि परमाणु में स्थूलता का भ्रम है भी अस्वीकृत हो जायगा।[1] प्रश्न अब यह है कि स्थूलता का क्या अर्थ है। अगर इसका अर्थ नया परिणाम है तो वह रामानुज मत में स्वीकृत है, जिसमें पृथक अवयवी की उत्पत्ति नहीं मानी है क्योंकि जिस प्रकार परमाणुवादी परमाणु से नए अवयवी का उत्पन्न होना सोचेंगे उसी प्रकार रामानुज भी नए परिमाण की उत्पत्ति मान लेंगे। यदि नैयायिक इस पर आक्षेप करते हैं और यह आग्रह करते हैं कि परमाणु से नया परिमाण उत्पन्न नहीं हो सकता तो उनसे पूछा जा सकता है कि वे फिर पृथक् पदार्थों के समाहार के बहुत्व के प्रत्यय को किस प्रकार समझाएँगे जिनमें से प्रत्येक स्वयं में एक माना जा सकता है। यदि ऐसा कहा जाता है कि बहुत्व के रूप में संख्या का प्रत्यय विविधता का ग्रहण करना मन की दोलायमान स्थिति से उत्पन्न होता है तो यह भी तर्क किया जा सकता है कि ऐसी दोलायमान स्थिति के अभाव में पृथक्कता ग्रहण नहीं की जा सकती जिससे स्थूल परिमाण का प्रत्यय उत्पन्न नहीं हो सकेगा। इसके अतिरिक्त इस तथ्य में कोई असंगति नहीं है कि यदि अवयव अदृष्ट हो, पर अवयवी दृष्ट हो। यदि स्थूलता का अर्थ, पृथक् अवयव द्वारा अधिक देश वेष्टित

[1] स्थूल द्रव्याभावे चाणु सहतौ स्थूलत्वाध्यासो न सिद्ध्येत्।

—सर्वार्थ सिद्धि, पृ० ४६।

करना है, तब भी यह अस्वीकृत है, क्योंकि छोटे अशों के समाहार मे, वे भिन्न देशिक इकाई वेष्टित करते जाने जाते हैं। यदि ऐसा आग्रह किया जाता है कि जब कोई पृथक अवयवी उत्पन्न होते नहीं माने हैं इसलिए स्थूल परिमाण दृष्ट नही होता, तो स्पष्ट उत्तर यह होगा कि स्थूलता के ज्ञान का अवयवी के ज्ञान से कोई सम्ब ध नहीं है। द्वयणुक की उत्पत्ति होने से पहले भी, सयोग करते परमाणु अपने व्यक्तिगत रूप से समष्टि रूप से अधिक देश वेष्टित करते मानने पडेगें, नही तो वे अपनी समष्टि से बृहत् परिमाण उत्पन्न नहीं कर सकेंगे। इस प्रकार, अवयव से पृथक अवयवी की उत्पत्ति मानने का कोई कारण नही है। त तु के विशिष्ट प्रकार के सयोग में, जिसमें नैयायिक सोचते हैं कि कपडा उत्पन्न होता है, रामानुजवादी सोचते हैं कि तंतु उसी दशा मे कपडा है और कोई पृथक कपडे की उत्पत्ति नही होती।[1] किन्तु यह *नही सोचना चाहिए कि पदार्थ की दशा मे थोडे से भी परिवर्तन से वह नया पदार्थ* बन जाएगा, जहाँ तक कि वह पदार्थ पर्याप्त रूप से इतना अपरिवर्तित है कि वह वसा ही है, ऐसा व्यवहार दृष्टि से जाना जाता है। रामानुजवादियो के अनुसार कारण व्यापार, वर्तमान में अस्तित्व रखने के कारण पदार्थ मे, केवल दशा और अवस्था का नया परिणाम ही लाता है। यह इस प्रकार साख्य के सत्कार्यवाद से भिन्न है, जिसके अनुसार कार्य, कारण व्यापार के प्राम्भ होने से पहले ही, कारण मे रहता है, वेंकटनाथ इसलिए साख्य के सत्कार्यवाद का खण्डन करते हैं।

(घ) साख्य के सत्कार्यवाद का खण्डन

साख्य, कार्य (घडा) कारण (मिट्टी) मे पहले से ही विद्यमान रहता है ऐसा सोचने मे गलती करते हैं, क्योंकि यदि ऐसा होता है तो कारण व्यापार निरर्थक होता है। साख्य यह अवश्य कह सकता है कि कारण व्यापार कारण मे जो अव्यक्त है उसे प्रकट करता है, कारण व्यापार का कार्य, इस प्रकार प्रकट करना है, उत्पन्न करना नही है। यह तो मिथ्या है, क्योंकि प्रकटीकरण (व्यग) और कार्य ये दो भिन्न प्रत्यय वाले, दो भिन्न शब्द हैं। व्यग, व्यक्त करने वाले कारक के व्यापार मे ही *केवल सहकारी के सहयोग से पदार्थ को किसी देश म, किसी विशिष्ट इन्द्रिय के* लिए प्रकट कर सकता है जहाँ प्रकट करने वाला कारक अस्तित्व रहता

---

[1] यदि ससप्टास्तन्तव एव पटस्ततस्तन्तु राशि मात्रेऽपि पटधी स्यादित्याह ससर्गादिरिति। नहि त्वयाऽपि तंतु-ससग मात्रम् पटस्यासमवायि कारण मिष्यते तथा सति कुविन्दा दि-व्यापार नरपेक्ष्य-प्रसगात् अतो यादृशा ससग विशेषादवयवी तवोत्पद्यते तादृश ससर्गविशिष्टास्तन्तव पर इति नातिप्रसग।

—अवाति प्रसग, सर्वार्थ सिद्धि पृ० ४८।

है।[1] यह पहले सिद्ध किया जाएगा कि पूर्व विद्यमान कार्य व्यक्त होता है उत्पन्न नहीं होता, तभी कारण व्यापार की उपाधियों के विषय में यह जिज्ञासा उपयुक्त होगी कि वे व्यंजक, कारक की आवश्यक उपाधियां संतुष्ट करती हैं या नहीं। किन्तु सांख्य ऐसा सिद्ध करने में सफल नहीं हो सकते। सांख्यकार कहते हैं कि कार्य कारण व्यापार के पहले ही अस्तित्व रखता है किन्तु कारण व्यापार स्वयं ही कार्य है, और यदि उनका पहला कथन सत्य है तो वह जब कार्य अव्यक्त था तब अविद्यमान था। यदि कारण-व्यापार कारण के अस्तित्व के समय भी था, तो कार्य भी, कारण में व्यक्त रूप से उपस्थित रहा होगा। सांख्य कहते हैं, असत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती, और इससे यह अर्थ निकलता है कि वस्तु सत् है क्योंकि वह उत्पन्न की जा सकती है, जो, स्पष्ट रूप से स्वबाधित है। कार्य कारण में पूर्व से ही सत् है यह मत अन्तिम आश्रय के रूप में मान लिया जा सकता था यदि अन्य मत उपलब्ध न होते, किन्तु कारण का सामान्य विचार, नियत अनन्यथा सिद्ध के रूप में उत्पत्ति के प्रसंग को भलीभांति समझा जा सकता था यदि अन्य मत उपलब्ध न होते, किन्तु कारण का सामान्य विचार, नियत अन्यथासिद्ध के रूप में उत्पत्ति के प्रसंग को भलीभांति समझा जा सकता है। इसलिए ऐसे निरर्थक सिद्धान्त की कोई आवश्यकता नहीं है। पुनः कार्य, कारण से, अव्यक्त शक्ति से अन्यथा कुछ नहीं है ऐसा मानने के बदले, यह कहना और अच्छा होगा कि कारण में ऐसी शक्ति है कि जिससे वह विशिष्ट दशाओं में कार्य उत्पन्न कर सकता है।[2] पुनः उपादान और सहकारी कारण के विषय में सोचा जाय कि यदि वे प्रयत्न प्रेरित करते हैं, जैसाकि वे सचमुच करते हैं तो उन्हें भी कार्य की अव्यक्त स्थिति के रूप में स्वीकारना चाहिए। किन्तु सांख्यकार इसे नहीं स्वीकारते, क्योंकि उनके अनुसार उपादान कारण ही अव्यक्त कार्य माना गया है। नहीं तो, पुरुष भी, जो प्रयोजनवत्ता की दृष्टि से, जगत् का उपादान कारण माना गया है उसे प्रकृति का अंग मानना पड़ेगा। पुनः नष्ट करने वाले कारक देखिए। क्या नष्ट करने वाले कार्य नष्ट करने वाले कारण में पहले से है? ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि वे एक दूसरे से नितान्त विरुद्ध हैं। यदि ऐसा नहीं होता तो वह उसे नष्ट नहीं कर सकता।[3] यदि ऐसा नहीं है और यदि वह नाशक से नष्ट हो जाता है, तो सब कुछ सब कुछ से नष्ट हो सकता है।

---

[1] कार्य-व्यंग्य शब्दौ च व्यवस्थित विषयौ लोके दृष्टौ कारक व्यंजक भेदाश्च कारक समग्रमपि एकमुत्पादयति व्यंजकन्तु सहकारि सम्पन्नं समानेन्द्रिय ग्राह्यम् समानदेश-स्थानि तादृशानि सर्वाण्यपि व्यनक्ति। —वही, पृ० ५५ ५६।

[2] यथा सर्वेषु द्रव्येषु तिला एव तैल गर्भा स्वकारण शक्त्या सृज्यन्ते तथा तत्तद् कार्य नियत पूर्व भाविततया तत्तद् उत्पादका स्वभावास्ते ते भावास्तथं वेति स्वीकार्यम्। —सर्वार्थ सिद्धि पृ० ५६।

[3] नाशकेषु च नाश्य वृत्तिरस्ति न वा। अस्ति चेत् पश्चाौ तूलवद् विरोध, न चेत् कथं सदैव तस्य नाशकम्। —वही, पृष्ठ ६०।

उपादान कारण के कार्य के बारे में यह बताया जा सकता है कि जिसमें से कार्य उत्पन्न किया जाता है (तज्जन्यत्व) ऐसी उसकी परिभाषा नहीं दी जा सकती क्योंकि तब निमित्तकारण का भी उपादान में समावेश हो जाएगा। उसे विकार भी नहीं कहा जा सकता (तद्विकारत्व) क्योंकि तब कार्य, कारण का केवल गुण ही होगा, और कार्य और कारण में भेद न रहेगा। किंतु हम देखते हैं कि पट तन्तु से भिन्न है।[1] यदि कार्य कारण से अभिन्न इस कारण माना जाता है कि यद्यपि कार्य कारण में कोई संयोग नहीं हो सकता तो भी पहला दूसरे से कभी बाह्य नहीं है, तो उत्तर यह है कि जिस मत के अनुसार कार्य पदार्थ नहीं है तो वहाँ संयोग आवश्यक नहीं है और यदि वह कारण का गुण है तो वह कभी उसके बाहर नहीं है।[2] कार्य एक अभिव्यक्ति है इस मत पर यह पूछा जा सकता है कि ऐसी अभिव्यक्ति नित्य है या स्वयं भी कार्य है। पहले विकल्प में अभिव्यक्ति के लिए कारण व्यापार की आवश्यकता नहीं रहती। दूसरे विकल्प में, यदि अभिव्यक्ति एक पृथक कार्य माना जाता है तो यह सत्यकार्यवाद का अंश में त्याग के समान होगा। यदि अभिव्यक्ति की अभिव्यक्ति के लिए, कारण व्यापार आवश्यक है, तो अनवस्था स्थिति उत्पन्न होगी। इसके अतिरिक्त, अभिव्यक्ति को ही कार्य माना जाता है तो जबकि वह पहले नहीं था, उसका उत्पन्न होना सत्कार्यवाद का त्याग होगा।

ऐसा आग्रह किया जा सकता है कि कार्य की उत्पत्ति कार्य जैसे स्वरूप से नहीं है क्योंकि हमेशा यही कहा जाता है कि कार्य उत्पन्न किया जाता है। इस प्रकार कार्य उत्पत्ति से भिन्न है। यदि यह स्वीकार कर लिया जाता है तो फिर कार्य व्यक्त हो सकता है इसे मान लेने में क्या कठिनाई है? यदि उत्पत्ति शब्द अधिक न्याय युक्त समझा जाता है, तो उसके विषय में भी यही प्रश्न हो सकता है कि उत्पत्ति उत्पन्न की जाती है या व्यक्त होती है पहले अर्थ में अनवस्था दोष उत्पन्न होता है और दूसरे में कारण व्यापार की अनावश्यकता। अभिव्यक्ति के विषय में भी वही कठिनाई है कि वह उत्पन्न की जाती है या व्यक्त और दोनों अवस्था में अनवस्था दोष आता है। इसका उत्तर यह है कि उत्पत्ति का अर्थ कारणों का व्यापार है और यदि वह व्यापार पुनः अपने कारण घटक के व्यापार से उत्पन्न माना जाता है और वह दूसरे, से, तो निस्संदेह अनवस्था ही आती है, किंतु वह दोष युक्त नहीं है और सभी को स्वीकृत भी है। जब धागे में विशिष्ट प्रकार का चालन होता है तब कपड़ा बनता

---

[1] तद्धर्मत्व हेतूक्त दोषादेव उभयत्र पटावस्था तत्त्वारम्भा नभवति त तुभ्यो भिन्नत्वात् घटवदिति प्रतिप्रयोगस्य शक्यत्वाच्च। —सर्वार्थ सिद्धि, पृ० ६०।

[2] तादात्म्य विरहेऽपि अन्यतरस्या द्रव्यत्वात् संयोगाभाव तद्धर्म स्वभाव-त्वादेव अप्राप्ति परिहारादिति अन्यथासिद्धस्य असाधकत्वात्। —वही, पृ० ६१।

है या अधिक अच्छी तरह कहा जाय कि ऐसे हलचल के पहले ही क्षण मे जब धागे की कपड़े जैसी अवस्था प्राप्त होती है, हम कहते हैं कि कपड़ा उत्पन्न होता है।[1] इसी कारण हम कह सकते हैं कि कार्य उत्पन्न किया जाता है। ऐसी उत्पत्ति मे फिर आगे उत्पत्ति नही है।

(ङ) बौद्ध क्षणिकवाद का खण्डन

बौद्ध मतवादी मानते हैं कि अर्थ क्रिया कारित्वाद यह सिद्ध करता है कि जो कुछ भी अस्तित्ववान् है वह क्षणिक है, क्योंकि वही कारण क्षमता बार बार उत्पन्न नहीं की जा सकती। इसलिए, प्रत्येक अर्थ क्रिया या कार्य की उत्पत्ति के अनुसार, एक पृथक पदार्थ मानना पड़ता है। जबकि क्षमता (अर्थ क्रिया कारित्व) दो भिन्न क्षणों मे एक ही नही हो सकती, तो उन्हे उत्पन्न करने वाले पदार्थ भी एक नहीं होंगे। जबकि एक ही पदार्थ मे भिन्न लक्षण, भिन्न क्षमता को लक्ष्य करते हैं, तो उनका एक ही पदार्थ मे आरोपण करना भी मिथ्या है। इसलिए, एक क्षण मे जितने भिन्न धर्म हैं उतने ही पदार्थ भी हैं। (यो तो विरुद्ध धर्माध्यासवान् स स नाना)। इस पर वेंकटनाथ का यह उत्तर है, पदार्थ, भिन्न विरोधी धर्म से सम्बन्धित नही है और यद्यपि कुछ दृष्टान्तो मे, जैसेकि बहती नदी, या दीप शिखा जैसे परिवर्तनशील पदार्थ अपरिणामी पूर्णता का भास उत्पन्न करते हैं किन्तु कुछ ऐसे भी दृष्टान्त हैं जिनमे हम अनुभव करते हैं कि एक ही वस्तु को हम देखते भी हैं और स्पर्श भी करते हैं ऐसी खरी प्रत्यभिज्ञा होती है। ऐसे दृष्टान्तो मे, संस्कार कार्य करते हों, इस तथ्य की इतनी अतिशयोक्ति नहीं करनी चाहिए कि हम प्रत्यभिज्ञा का केवल स्मृति व्यापार ही मानने लग जाएँ। प्रत्यभिज्ञा मे प्रत्यक्ष का आधिक्य है या नीचे स्तर पर हम उसे स्मृति और प्रत्यक्ष दोनो का संगठित कार्य कह सकते हैं। स्मृति प्रत्यभिज्ञा को दूषित कर देती है यह आक्षेप अयुक्त है क्योंकि प्रत्येक स्मृति मिथ्या नही होती। यह भी कहना ठीक नही है कि स्मृति केवल व्यक्तिगत (स्वगत) व्यापार है, इसलिए बाह्य पदार्थ, का निश्चय नही करा सकती, क्योंकि स्मृति, केवल व्यक्तिगत नही है किन्तु किसी वस्तु मे भूतकाल के बाह्य लक्षी काल धर्म को निर्दिष्ट करती है। पुन बौद्ध मतवादी कहते हैं कि एक वस्तु मे अनेक धर्मों का संयोग मिथ्या है। क्योंकि प्रत्येक धर्म विशिष्ट क्षणिक तत्व का कार्य (अर्थ क्रिया कारित्व) सूचित करता है और इसलिए प्रत्यभिज्ञा मे अनेक धर्मों का संयोग सदोष है। इस पर वेंकटनाथ उत्तर देते हैं कि यदि प्रत्यक्ष क्षणिक इकाई, स्वयं ही कार्य उत्पन्न करने मे समर्थ है तो उसे यह

---

[1] यदाहि तत्वादय व्याप्रि यन्ते तदा पट उत्पाद्यते इति व्यवहरन्ति आद्यक्षणे येद्विप्रन्न पटत्वावस्थैवदा पटोत्पत्तिरुच्यते सैव तदवस्थस्योत्पत्तिरिति भाष्यमपि तदभिप्राय मेव।
—सर्वार्थ सिद्धि पृ० ६२।

अपने स्वभाव से ऐसा करना चाहिए, और दूसरे सहयोगियों की अपेक्षा नहीं करनी चाहिए। उसी सादृश्य का अनुसरण करते हुए किसी भी एक क्षणिक ईकाई की स्वलक्षणता, किसी अन्य क्षण की अन्य स्वलक्षणता से एक नहीं होगी, और इस प्रकार तादात्म्य का विचार असम्भव हो जाएगा और हमें शून्यवाद पर ले आएगा। इसलिए, प्रत्येक धर्म, तत्व के अनुरूप पृथक् वस्तु होना चाहिए यह सोचना भूल है।[1] बौद्ध मतवादी ऐसा आगे आग्रह करते पाए गए हैं कि प्रत्यभिज्ञा का अनुभव, भूतकाल के क्षण का वर्तमान से तादात्म्य करता है, जो असम्भव है। वेंकटनाथ का उत्तर है कि यद्यपि भूतकाल को वर्तमान से जोड़ना अनर्थक है किन्तु उन्हें भूतकाल में जो वस्तु रह चुकी है, और जो वर्तमान में विद्यमान है, उससे सम्बन्धित करना असंगत नहीं है।[2] यह सत्य है कि भूतकाल को वर्तमान में स्वीकार करना स्वविरोधी है, किन्तु प्रसंग का सच्चा रहस्य यह है कि एक ही काल भिन्न उपाधियों से अनेक दीखता है। ऐसे प्रसंगों में, एक दूसरे द्वारा उपाधिगत कालक्षणों को भिन्न उपाधियों से सम्बन्धित करना व्याघात उत्पन्न करना है किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि भिन्न उपाधि और काल का उल्लेख अस्वीकार्य है क्योंकि यदि ऐसा होता तो, क्षणों की अनुक्रम-परम्परा का विचार भी अस्वीकार्य होगा जबकि क्षण परम्परा का विचार पूर्व और अपर को अनुमित करता है और वह किसी न किसी प्रकार, भूत, वर्तमान और भविष्य को एक साथ जोड़ देता है। यदि वह स्वीकारा नहीं जाय तो क्षणिकत्व का सिद्धांत त्याग देना पड़ेगा।[3] यदि ऐसा आग्रह किया जाता है कि क्षण सम्बन्धित का अर्थ कोई भी वस्तु की अपने आप की स्वलक्षणता है, तो उससे कोई नया ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। इस प्रकार, भूतकाल का वर्तमान से सम्बन्ध, कालिक विरोध की ओर नहीं ले जाता।

पुनः बौद्ध ऐसा आग्रह करते देखे गए हैं कि प्रत्यक्ष, वर्तमान क्षण को ही लक्ष्य करता है। यह हमें भूतकाल का ज्ञान नहीं दे सकता। इसलिए हमारा यह भ्रम

---

[1] विरुद्धानां देशकालाद्यसमाहित विरोधत्वेन स्वलक्षणस्यापि विरुद्धशत क्षुण्णतया नानात्वे तत्क्षोदानां च तथा-तथा क्षोदे किंचिदपि एकं न सिध्येत् तदभावे च कुतो नैकम् इति माध्यमिक मतापातः। —सर्वार्थ सिद्धि, पृ० ६६।

[2] काल द्वयस्याऽन्योन्यस्मिन्नभावेऽपि तदुभय सम्बन्धिनि वस्तुन्यभावाभावात्वस्तु तस्मिन् वस्तुन्यसम्बन्ध काल तस्य तत्र सद्भावं न ब्रूमः।

—वही, पृ० ६८।

[3] पूर्वापर काल योगो हि विरुद्धः स्वेनोपाधिनाऽवच्छिन्नस्यकस्य कालस्या वान्तरोऽपाधिभिर्नानात्वेऽपि तत्तदुपाधिनामेव तत्तदवान्तर काल द्वयान्वय विरोधः अन्यापेक्षया पूर्वापरकालयोरन्यस्य विरुद्धत्वे क्षण कालास्यपि अन्यापेक्षया पौर्वापर्यात् तत्काल वर्तित्वम् अपि वस्तुनो विरुद्धयेत। —वही।

है कि विद्यमान वस्तु ही वर्तमान में प्रवृत्त हो रही है, क्योंकि यह वासना व्यापार के कारण है जो भूत और वर्तमान में भेद नहीं करता, और वह सीप में रजत की तरह भूत में वर्तमान को आरोपित करता है। वेंकटनाथ उत्तर देते हैं कि प्रत्यक्ष वर्तमान क्षण में, वस्तु के अभाव के विरोध के रूप में ही केवल वस्तु की उपस्थिति सिद्धि करता है किन्तु इस कारण वह वस्तु की भूतकाल की सत्ता का निषेध नहीं करता। जिस प्रकार 'यह' वर्तमान क्षण में वस्तु की उपस्थिति बताता है, प्रत्यक्ष अनुभव 'वह यह है' वस्तु के भूत और वर्तमान में स्थायित्व को सिद्ध करता है।[1] यदि ऐसा आग्रह किया जाता है कि प्रत्यक्ष, अपने विषय को वर्तमान पदार्थ के रूप में प्रकट करता है, तो बौद्धों का यह मत कि प्रत्यक्ष निर्विकल्प है, और वह वस्तु को, काल धर्म से विशिष्ट वर्तमान वस्तु के रूप में प्रकट नहीं कर सकता, खण्डित होता है। यदि यह आग्रह किया जाता है कि प्रत्यक्ष प्रकटीकरण के क्षण में वस्तु की सत्ता प्रकट करता है तब भी यह बौद्ध मतानुसार असम्भव है, क्योंकि क्षणिक पदार्थ जो इन्द्रिय से संबंधित था, वह ज्ञान होने के समय पहले ही नष्ट हो गया है। इसलिए, किसी भी प्रकार बौद्ध मतवादी मानें, वह यह सिद्ध नहीं कर सकते कि प्रत्यक्ष वस्तु को वर्तमान के रूप में प्रकट कर सकता है, रामानुज मत में जबकि इन्द्रिय सन्निकर्ष, उससे संबंधित पदार्थ और उससे संबंधित काल क्षण निरन्तर हैं और मानसिक अवस्था भी निरन्तर है और इसलिए प्रत्यक्ष जिस वस्तु से इन्द्रिय संबंध था उसे ही प्रकट करता है। इन्द्रिय सन्निकर्ष का अन्त होने पर भी जिस पदार्थ से इन्द्रिय सन्निकर्ष था उसके ज्ञान को सूचना करती, मानसिक दशा जानी जाती है।[2]

पुन, यदि ऐसा आग्रह किया जाता है कि जो कुछ भी किसी से नियत रूप से उत्पन्न होता है वह कारण व्यापार की अपेक्षा बिना निरपेक्ष रूप से उत्पन्न होना चाहिए तो ऐसा कहना चाहिए कि जब पत्ते और फूल उगते हैं तब वे बिना उपाधि के उगते हैं जो निरर्थक है। इसके अतिरिक्त जब क्षणिक पदार्थों की श्रेणी में एक पदार्थ दूसरे का अनुसरण करता है तो कारण की अपेक्षा रखे बिना ही ऐसा करना चाहिए, तब एक तरफ जबकि पूर्ववर्ती तत्व को पदार्थ का कोई विशिष्ट कार्य नहीं पूर्ण करना पड़ता तो वह अब क्रिया रहित रहेगा और इसलिए नहीं सा होगा, और दूसरी तरफ जबकि प्रत्येक उत्तरगामी तत्व, किसी कार्य की अपेक्षा बिना उद्भव होता

---

[1] यथा इदमिति तत्काल सत्ता गृह्यते तथा तदिदमइति काल द्वय सत्वमपि प्रत्यक्षेणैव गृहीतम्।
—सर्वार्थ सिद्धि पृ० ६९।

[2] अस्मन्मते त्विन्द्रिय सम्प्रयोगस्य तद्विशिष्ट वस्तुनस्तदुपहित कालांशस्य च स्थायित्वेन धी क्षणानुवृत्तौ तद् विषयतया प्रत्यक्षोदयात् सम्प्रयोगानन्तरक्षणे धीरपि निवर्त्यते।
—वही, पृ० ७०।

है, वह पूर्व क्षण में भी उत्पन्न हो सकता है, यदि ऐसा है तो परम्परा नहीं रहेगी। पुन ऐसा तर्क किया जाता है कि जब जो कुछ उत्पन्न होता है वह अवश्य नष्ट होता है, इसलिए विनाश निरुपाधिक है, और बिना अपेक्षा के होता है। निषेध (अभाव) निरुपाधिक तभी हो सकता है जब वह भावत्व से अनुमित है जो वास्तव में उत्पन्न नहीं किया जाता किन्तु वह प्रत्येक भावत्व से सबंधित है (जैसे, गाय, घोडे का अभाव अनुमित करती है)। किन्तु जो अभाव उत्पन्न होते हैं वे उन्हें जिस प्रकार, एक कारण भाव पदार्थ को उत्पन्न कर सकता है ठीक उसी प्रकार अभाव भी उत्पन्न होने के लिए उन पर आश्रित है जैसाकि लकडी के प्रहार से घडे के नष्ट होने का दृष्टान्त है। अगर ऐसा तर्क किया जाता है कि लकडी का प्रहार कोई भी नाश उत्पन्न नहीं करता किन्तु घडे के टुकडा के रूप में अस्तित्व की एक नई परम्परा उत्पन्न करता है तो ऐसे भी अनेक दृष्टान्त है (दीप शिखा का बुझा देना) जिनमें नई परम्परा के उदय होने का कोई स्पष्टीकरण नहीं है। यदि तर्क किया जाता है कि निषेध (अभाव) कुछ भी नहीं है (शून्य) है और तुच्छ पदार्थ की तरह किसी कारण पर आश्रित नहीं है, जैसे आकाश-पुष्प, ऐसा स्पष्टीकरण निरर्थक रहेगा, क्योंकि अभाव या विनाश अस्तित्ववान् पदार्थ की तरह काल से मर्यादित है, इसलिए तुच्छ पदार्थ से भिन्न है (प्रतियोगिवदेव नियत कालतया प्रमितस्य अत्यन्त तुच्छता योगात्)। यदि अभाव को तुच्छ के बराबर माना जाए तो अभाव उतना ही अनादि हो जाएगा जैसा तुच्छ पदार्थ है और यदि ऐसा हो तो सभी अनादि होने के कारण कोई भाव पदार्थ न रहेगा। यदि अभाव तुच्छ है, तब भी अभाव के समय भाव पदार्थ रह सकता है, क्योंकि अभाव तुच्छ होने से किसी को मर्यादित नही कर सकेगा और यह पदार्थों की नित्यता के बराबर होगा जो बौद्ध क्षणवादियों को अस्वीकार रहेगा। यदि अभाव केवल विशिष्ट निर्दिष्ट धर्म रहित ही है तब वे स्वलक्षण पदार्थ के समान हो जाएँगे जो विशिष्ट निर्दिष्ट धर्म रहित हैं। यदि वे सब धर्म रहित होते (सब स्वभाव विरह) तो ऐसी प्रतिज्ञा (विभावना) जिसमें विधेय रूप से उनका स्वीकार किया जाता है उसमे उनका कोई स्थान नहीं रह सकेगा। यदि यह कहा जाता है कि अभाव वास्तव में धर्मवान् है तो उसमे यह धर्म होने से उसमें कोई धर्म नही है ऐसा नहीं होगा। यदि ऐसे अभाव पूर्वकाल में अस्तित्व नही रखते तो उनकी उत्पत्ति किसी कारण व्यापार पर आश्रित रहेगी। यदि पूर्वकाल मे उनका अस्तित्व है, तो कोई भाव पदार्थ न रहेगा (प्राक् सत्वे तु भावापह्नव)।

यदि आग्रह किया जाता है कि कार्य क्षण, कारण क्षण के युगपद् है, तो भाव-पदार्थ और उसका नाश एक ही क्षण में होगा, और यदि ऐसा है तो फिर नाश भाव पदार्थ के पहले क्या न होवे। यदि विनाश भाव पदार्थ की उत्पत्ति के उत्तर क्षण मे होना माना जाता है तो नाश निरुपाधिक न रहेगा। यदि भाव पदार्थ और उसके

नाश का क्रम भाव पदार्थ से सम्बन्धित है और उसकी उत्पत्ति से नहीं है, तब अस्तित्ववान पदार्थ नाश का कारण होगा। यह नहीं कहा जा सकता कि नाश अपने भाव से ही मर्यादित है, क्योंकि उसका अन्य सहकारी कारणों पर आश्रित होना, खण्डित नहीं किया जा सकता। ऐसा तर्क नहीं किया जा सकता कि क्षण की उत्पत्ति, उसका नाश भी है, क्योंकि यह स्वबाधित होगा। ऐसा कभी कभी माना जाता है कि भेद का अर्थ नाश नहीं है, और इसलिए दूसरे धर्म वाले क्षणों के उदय होने का अर्थ पूर्व क्षणों का नाश होना नहीं है। इस प्रकार, क्षण का नाश एक पृथक तथ्य मानना पड़ेगा, और इसलिए यह, क्षण की उत्पत्ति में ही समाविष्ट है और स्वभावज है।[1] इसका उत्तर यह है कि भिन्न धर्मयुक्त पदार्थ को भी पूर्व भावी पदार्थ का नाश मानना चाहिए, नहीं तो ऐसे भिन्न धर्म वाले पदार्थ के उदय का कारण देना असम्भव हो जायगा। यदि, पुनः नाश, पदार्थ का स्वरूप है तो यह स्वरूप वर्तमान पदार्थ के उदय होने के समय प्रकट हो सकता है और वह उसे अभाव की स्थिति पर ला देगा तो सभी वस्तु का सर्वव्यापी अभाव हो जायगा। यदि यह आग्रह किया जाता है कि एक पदार्थ अपना नाश स्वतः ही उत्पन्न करता है तो नाश निरपेक्ष है यह मानना निरर्थक रहेगा कि वह अन्य किसी उपाधि पर आश्रित नहीं है, और यदि यह सोपाधिक है तो यह मानना निरर्थक है कि यह किसी अन्य अवस्था पर निर्भर नहीं करता क्योंकि इसे जानने का कोई साधन नहीं है। यदि यह मान लिया जाता है कि पदार्थ अपना स्वयं नाश, सहकारी की सहायता से उत्पन्न करता है, तो क्षणिकवाद (खण्डित) व्यर्थ हो जाता है। यह पहले भी बताया गया है कि क्षणिकवाद का स्वीकार, स्पष्ट रूप से प्रत्यभिज्ञा के प्रसंग में बाधित होता है, जैसाकि हम विस्तार सहित कह चुके हैं। पुनः जब क्षणिकवादी कहते हैं कि सभी वस्तु क्षणिक है तो वे, कार्य-क्षण कारण क्षण द्वारा उत्पन्न होता है, इसे किस प्रकार समझा सकते हैं? यदि कारणता का अर्थ अनन्तर अनुक्रम से है तो एक विशिष्ट क्षण में जगत पूर्व क्षण के जगत से उत्पन्न होगा। समस्या यह है कि अनुक्रम का यह आनन्तर्य, स्वयं कार्यक्षण को उत्पन्न करने में शक्तिमान् है या वह काल और देश रूप सहकारी की आवश्यकता रखता है। यदि ऐसे सहकारी अनावश्यक हैं, तो दैनिक सह अस्तित्व या व्याप्ति से (जैसा धूम्र और आग में है) अनुमान ग्रहण नहीं होना चाहिए। यदि ऐसे सहकारी की अपेक्षा है तो इसका अर्थ यह होगा कि जो कोई भी जिस देश की इकाई में उत्पन्न होता है उसका कारण भी उसी देश की इकाई और उसी काल की इकाई में रहा है।

---

[1] यद् यतो भिद्यते न तत् तस्य ध्वंसः यथा रूपस्य रसः ध्वस्तु कस्यचिद् एव भवति इति तदात्मक अतः स्वो तपत्तावेष स्वात्मनि ध्वंसे सन्निहिते कथम् क्षणान्तरम् प्राप्नुयात्।

—सर्वार्थ-सिद्धि, पृ० ७२।

इस मत के अनुसार, काय क्षण, कारण के देश काल में होगा, और इस प्रकार, कारण देश या कारण काल, दो क्षणों मे सह अस्तित्व करेंगे। यदि यह मान लिया जाता है, तो क्षणिकवादी यह भी मान सकते हैं कि कारण दो क्षणो मे प्रवृत्त रहता है। इसलिए क्षणिकवादी जो प्रवृत्त काल और देश को नही मानता वह यह भी नही मान सकता कि परम्परा क्षण से मर्यादित है। यदि यह कहा जाता है कि कारणक्षण अपना काय उसी देश और काल में आरम्भ करता है जिसमें वह स्थित रहता है तो कारण काय श्रेणी मे ऐक्य नही रहेगा, और मा यतानुसार दोनो की अपनी भिन्न क्षण परम्पराए है। यहाँ एक दूसरे पर अध्यास हो सकता है किन्तु परम्परा की एकता नही हो सकती। यदि परम्परा की एकता नही मानी जाती है, तो यह अपेक्षा कि जिस प्रकार कपास के बीज को रगन पर वह लाल हो जाता है और उसी प्रकार, नैतिक स्तर म जहा वासना ह तहा तहाँ उसका विपाक ह, यह मान्यता निष्फल हो जाती है। कारण क्षण और कायक्षण के सह अस्तित्व मे साधारण काय कारण के सम्बन्ध मे जो एकता की अपेक्षा की जाती ह, वह एकता अनुमित नही होती और इसलिए यह कहना कठिन होगा कि इस काय का यह कारण है, क्योकि क्षणिकवाद काय और कारण के बीच सम्बन्ध को स्थापित नही कर सकता।

अब हम क्षणिकवाद के प्रत्यय का विश्लेषण करेंगे। इसके अथ ये हो सकते हैं–(१) एक पदाथ क्षण से सम्बन्धित है (क्षण सम्ब धत्व) या (२) काल क्षण से सम्बन्ध (क्षण काल सम्ब धत्वम्) या (३) क्षण मात्र तक ही अस्तित्व (क्षण मात्र वर्तित्व) या (४) दो क्षणो से सम्ब ध का अभाव (क्षण द्वय सम्बन्ध शून्यता) या (५) काल क्षण से अभिन्नता, क्षण कालत्व) या (६) क्षण धम से निश्चित होना (क्षणो पाधित्व)। पहला विकल्प अस्वीकाय है क्योकि जो स्थायी पदार्थों को मानते हैं वे भी क्योकि पदाथ काल मे स्थायी रहता है इसलिए वह किसी एक क्षण से सम्बन्धित है यह स्वीकार करते हैं। दूसरा विकल्प भी अस्वीकाय है क्योकि बौद्धवाद काल को क्षण से एक पृथक पदाथ नहीं मानते।[1] ऐसा मानने पर भी क्षण से पर काल को एक पदाथ के रूप म वास्तव मे मानना पडता है जो क्षणवाद को बाधित करता है। तीसरा विकल्प प्रत्यभिज्ञा के अनुभव से बाधित होता है जो यह प्रमाणित करता है कि हम जिसे देखते हैं उसे स्पश भी करते हैं। चौथा विकल्प भी उन्ही कारणो से अनुभव द्वारा बधित हाता है और यदि कोई तथाकथित पदाथ जो स्वय क्षण नही है, वह दो काल क्षणो से सम्बन्धित नहीं है, तो वह केवल तुच्छ रूप से ही अस्तित्व कर सकता है और अचम्भे की बात है कि बौद्ध मतवादी बहुधा सभी अस्तित्ववान् पदार्थों

---

[1] कालमेवानिच्छतस्ते कोऽसौ क्षणकाल कश्च तस्य सम्बन्ध।

–सर्वाथ सिद्धि, पृ० ७४।

की तुच्छ से तुलना करते हैं।[1] पाँचवाँ विकल्प भी अमान्य है, क्योंकि जैसेकि एक पदार्थ एक देश में रहता हुआ उससे एक (अभिन्न) नहीं हो सकता, उसी प्रकार, वह काल से भी एक नहीं हो सकता जिसमें वह अस्तित्व रखता है और यह साक्षात् अनुभव से भी बाधित है। छठा विकल्प भी अस्वीकार्य है, इस कारण कि, यदि पदार्थ अपने स्वरूप में, काल की उपाधि से मर्यादित है तो काल क्रम को समझाने के लिए हमारे पास कुछ भी नहीं है,[2] और हमारे सारे अनुभव जो ऐसे क्रम पर आधारित हैं वे बाधित हो जाएगे। यदि पदार्थ काल में नहीं रहते हैं और चिह्न छोड़े बिना नष्ट हो जाते हैं (निरन्वय विनाश), तो जगत् का साधारण अनुभव, जिसमें हम फल प्राप्ति के लिए करते हैं, समझाया नहीं जा सकेगा। जिस मनुष्य ने कुछ कर्म किए हैं वह फल के लिए एक क्षण भी प्रतीक्षा नहीं करेगा। रामानुज मत में आत्मा का स्थायित्व स्वचैतन्य से ठीक तरह समझाया गया है। यह मत कि ऐसा स्वचैतन्य आलय विज्ञान परम्परा में उत्पन्न केवल उत्तरोत्तर क्षणों का लक्ष्य करता है यह तो केवल वाद ही है जिसकी सिद्धि नहीं है और ऐसा मत, सुप्रमाणित उक्ति से अविरान् बाधित होता है कि एक व्यक्ति का अनुभव दूसरे के द्वारा स्मरण नहीं किया जा सकता (नान्यदृष्ट स्मरत्यन्य)। आलय विज्ञान परम्परा के क्षणों का एच्छिक प्रत्ययों से सम्बन्ध जोड़ने का भी कोई रास्ता नहीं है।

यदि पदार्थों की क्षणिकता से अर्थ यह है कि वे क्षण से मर्यादित या विकृत होते हैं तब भी प्रश्न उठता है कि यदि वे स्वयं क्षणिक नहीं है तो वे क्षण उपाधि युक्त कैसे है? यदि क्षण उपाधि से यह अर्थ है कि कारण (संहति) समन्वय, केवल कार्य के पूर्व गामी क्षण का प्रतिनिधित्व करते हैं (कार्य प्रागभाव समन्वित) तो प्रतिवादी तर्क कर सकता है कि कारणों का एकीकरण (समाहार) एकीकृत होने वाले पदार्थों से भिन्न है या अभिन्न, यह आलोचना नहीं की जा सकती क्योंकि दोनों प्रसंगों में, जबकि पदार्थ, रामानुज मत में, स्थायी होगा, इसलिए वह क्षण का उपाधि युक्त नहीं करेगा। उत्तर यह है कि एकीकरण न तो सम्बन्ध है और न सम्बन्धित पदार्थ है क्योंकि शब्द एकीकरण निर्दिष्ट रूप से प्रत्येक पदार्थ के लिए नहीं प्रयुक्त हो सकता, और इसलिए यह मानना चाहिए कि किसी उपाधि से संगृहीत कारण पदार्थ ही एकीकरण हैं। यदि ये पदार्थ उपाधिक्षण को निश्चित करते माने जाते हैं, तो उन्हें अवश्य ही स्थायी होना चाहिए। यदि ऐसा कहा जाता है कि एकीकृत करने वाली उपाधि,

---

[1] यस्मिन् नित्यता नास्ति कार्यतापि न विद्यते तस्मिन् यथा खपुष्पादाविति शक्य हि भाषितुम्।

—वही, पृ० ७५।

[2] यदा हि घटादयः स्वरूपेण क्षणोपाधयः स्युः कालतारतम्य धीः कुत्रापि न भवेत्।

—वही।

क्षण उपाधि है तो उत्तर यह है कि उत्पत्ति सबध करने वाली उपाधियाँ और निर्दिष्ट एकत्रित पदार्थ, दोनों के व्यापार से होनी चाहिए। इनमे से सबध करने वाली उपाधियाँ क्षणिक नही है और जबकि एकत्रित होने वाले पदार्थ सबधित होने तक वर्तमान रहेंगे, वे भी क्षणिक नहीं होंगे। इसलिए, ऐसा दीखता है कि क्षण की उपाधि, अन्तिम सहकारी या व्यापार है जो पूर्व पदार्थों या व्यापार को अपने साथ जोडती है, जिससे वह कार्य के अव्यवहित पूर्व क्षण की उपाधि की तरह बनती है। इस प्रकार, कुछ भी क्षणिक नहीं है। काल, स्वरूप से अमर्याद होने से उसे क्षणो के टुकडो में नही बाँटा जा सकता। तथाकथित क्षण किसी व्यापार या अस्तित्ववान् पदार्थ मे ही, किसी व्यावहारिक कार्य के लिए, विशेष दशा या उपाधि के निर्दिष्ट करने के लिए ही, आरोपित किया जा सकता है किन्तु पदार्थ जो अस्तित्व रखता है, वह काल में अस्तित्व रखता है इसलिए पूर्व और उत्तर क्षण की मर्यादा से ऊपर उठता है। इसलिए, यद्यपि काल की निर्दिष्ट इकाई, क्षण कही जा सकती है, अस्तित्ववान् पदार्थ, इसलिए, अपनी सत्ता के स्वरूप से क्षणिक नहीं है। क्योंकि बौद्ध, काल को नही मानते, इसलिए उनके क्षणिक समय को, जिसमे पदार्थ विद्यमान रहते हैं, क्षणिक कहना अनुचित है। प्रकृति स्वय प्रत्येक क्षण मे परिवर्तित होती है उनका यह मानना भी अनुचित है क्योकि वास्तव मे यह स्थायी पदार्थ के अस्तित्व को मानना होगा, जिसमे विकार उत्पन्न होते हैं।[1]

अत बौद्धो की यह मान्यता गलत है कि वस्तु का पूर्ण नाश होता है और वस्तु के किसी अश का अस्तित्व नही रहता, (निरन्वय विनाश) जसे दीप शिखा के बुझने पर उसका कोई अस्तित्व नही रहता क्योकि अनेक उदाहरणो से जैसे घट और पट के दृष्टान्तों द्वारा यह अनुभव होता है कि नाश से तात्पर्य केवल वस्तु की स्थिति का परिवर्तन मात्र है। अत निरन्वय विनाश अर्थात् पूर्ण नाश की मान्यता असिद्ध है। दीपशिखा के उदाहरण मे भी दीपशिखा का पूर्ण विनाश नही होता किन्तु उसका दृश्य स्वरूप अदृश्य रूप मे केवल बदल जाता है। जब दीपशिखा बुझ जाती है तब भी शिखा (बत्ती) के गरम होने का अनुभव विद्यमान रहता है और शिखा की यह गर्मी दीपशिखा द्वारा धारण किए गए ऊँचे तापमान का अवशिष्ट ताप मात्र है। यदि निरन्वय विनाश का सिद्धान्त माना जा सकता है तो इस प्रकार अवशेष तापमान की स्थिति का कोई अर्थ ही नही है। यदि इस उत्तर स्थिति से इन्कार किया जा

---

[1] सर्व-क्षणिकत्व साधयितुमुपक्रम्य स्थिर द्रव्य वृत्ति क्षणिक विकारवदिति कथ दृष्टातयेम तेपु च न त्वदभिमत क्षणिकत्व प्रदीपादिवदाशुतर विनाशित्व मात्रेण क्षणिकतोक्ते ।

–सर्वार्थ सिद्धि पृ० ७७।

सकता है तो उसकी पूर्व स्थिति के अस्तित्व का भी अस्वीकारा जा सकता है और इस प्रकार इस तर्क से सामान्य अनस्तित्व की स्थिति हो जायगी।

(च) कारणतावाद के विरुद्ध चार्वाकों की आलोचना का खण्डन

कारणत्व की समस्या, सहज ही कार्य और कारण के बीच काल सम्बन्ध का प्रश्न उपस्थित करती है, अर्थात्, कार्य, कारण के पूर्व है या कारण कार्य के पूर्व है या दोनों युगपद् हैं। यदि कार्य कारण के पूर्व है तो वह अपने अस्तित्व के लिए कारण व्यापार पर आश्रित न रहेगा और वह आकाश की तरह नित्य पदार्थ हो जायगा। यदि वह असत् है, तो किसी भी प्रकार से सत् नहीं किया जा सकता क्योंकि असत् की उत्पत्ति असम्भव है। यदि कार्य कारण के पूर्व उत्पन्न होता है तो वह तथाकथित कारण उसका कारण न होगा। यदि कार्य कारण युगपद् हैं तो यह निश्चित करना कठिन होगा कि कौन कार्य है और कौन कारण है। यदि कारण कार्य के पूर्व है तो पुनः यह पूछा जा सकता है कि कार्य पहले विद्यमान था या उसके साथ था। यदि वह पहले विद्यमान है, तो कारण व्यापार की आवश्यकता नहीं है और जो उत्तरकाल में होने वाला है तो जो पूर्व क्षण में उपस्थित था उससे सह अस्तित्व नहीं माना जा सकता। यदि कार्य का कारण से सह अस्तित्व नहीं है, तो एक विशेष कारण एक विशेष कार्य उत्पन्न करे और दूसरा नहीं, इसे निश्चित करने वाला कौनसा संबंध होगा? जबकि उत्पादन और उत्पादक समानार्थ नहीं हैं तो वह उससे भिन्न होना चाहिए। वह भिन्न होने से यह कहा जा सकता है कि उत्पादन का फिर आगे उत्पादन होना चाहिए और फिर उससे दूसरा और इस तरह यह अनवस्था पर पहुँचाएगा।

इन आक्षेपों के प्रति वेंकटनाथ का उत्तर है कि निषेध का स्वीकार से विरोध, एक ही देशकाल की इकाई के ही संबंध में युक्त हो सकता है। इसलिए, पूर्व क्षण में कार्य के अभाव का, उसके उत्तर क्षण के भाव से विरोध नहीं हो सकता। पूर्व क्षण के कारण का सम्बन्ध उत्तर क्षण के कार्य के साथ है यह साक्षात् अनुभव गम्य है। ऐसा सम्बन्ध संयोग नहीं है किन्तु एक का दूसरे पर पूर्वापर रूप से निर्भर है जैसाकि अनुभव में देखा जाता है। उत्पादन एक पृथक तत्व होने से उससे आगे उत्पादन की माँग करता है इत्यादि, इस प्रकार की तार्किक आलोचना रामानुज मत पर नहीं की जा सकती यहाँ कार्य को केवल कारण की परिणत अवस्था या दशा माना है। कार्य कारण पर इसी अर्थ में आश्रित है कि वह कारण की अवस्था के रूप में कारण से एक है।[1] तादात्म्य से यहाँ अभिन्नता का अर्थ नहीं किन्तु भिन्न

[1] नहि वयं मभिव्यक्ति वा कारण समवायादिकं वा जन्मेति ब्रूमः। किन्तूपादानावस्था विशेष तस्य कार्यावस्था सामानाधिकरण्य व्यपदेश तादात्म्येन तदाश्रय-वृत्ते।
—सर्वार्थ सिद्धि, पृ० ८०।

होते हुए भी अभिन्न स्थिति से है। भेद में कोई सम्बन्ध नहीं जोड़ा जा सकता, यह आक्षेप, हमारे कार्य कारण अनुभव से बाधित होता है, तथा अनेक अन्य दृष्टान्तों में बाधित होता है जैसे कि जब एक वक्ता अपने से भिन्न श्रोताओं में विश्वास उत्पन्न करने की कोशिश करता है। कारण में, कुछ व्यापार करने के गुण (किंचित्कर) होने से ही कारण कहलाता है और उस, कारणत्व के व्यापार के प्रति उसे दूसरा व्यापार उत्पन्न करना चाहिए और इस प्रकार अनवस्था दोष है, यह आक्षेप अप्रामाण्य है क्योंकि कार्य उत्पन्न करने मे, अनेक व्यापारों का अस्तित्व (जैसा अनुभव में देखा जाता है) अनवस्था दोष उत्पन्न नही करता क्योंकि उन्ही व्यापारों को स्वीकारा जा सकता है जो अनुभव मे प्रकट है। सहज उत्पत्ति के प्रसग में (द्वारान्तर निरपेक्ष) व्यापार परम्परा मानने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि, कारण, नियत पूर्ववर्ती के रूप मे साक्षात् अनुभवगम्य है। कारण क्योंकि कार्य उत्पन्न करता है इसीलिए कारण है, यह विचार कार्य की पूर्वसत्ता अनुमित करता है अत कारण व्यापार निरर्थक है यह आक्षेप अप्रामाण्य है क्योंकि कारणत्व का अर्थ कार्य के उत्पन्न होने के लिए अनुगुण व्यापार का होना है।[1] यह कार्य के पूर्व अस्तित्व को समाविष्ट नहीं करता क्योंकि कार्य उत्पन्न करने वाले व्यापार का होना, कार्य को, एक सत् तथ्य के रूप मे नहीं, किन्तु निरीक्षक चित्त मे पूर्व कल्पित तथ्य के रूप मे, लक्ष्य करता है। (कुर्वत्व निरूपण तु भाविनापि कार्येण बुद्धया रोहिणा सिद्धे)। यदि कार्य कारण के स्वरूप जैसा था तो वह पहले से वहीं होना चाहिए, और यदि वह नहीं था तो वह कभी भी उत्पन्न नहीं हो सकता, यह आक्षेप भी सबध नियत (स्वभावत) एक रूप है इस कल्पना के कारण (नियत प्रतिसम्बन्धिक स्वभावता एव) अयुक्त है। कार्य पदार्थ, कारण से सख्या एव धर्म की दृष्टि से भिन्न है किन्तु तो भी वे, पहला, दूसरे के साथ, एक दूसरे को निश्चित करते हुए आपस मे सबधित हैं (अन्योन्य निरूप्यतया)। कारण सहति मे पृथक् तत्व कार्य उत्पन्न नहीं कर सकते, इसलिए पूर्णरूप से सहति भी कार्य उत्पन्न नहीं कर सकती, यह आक्षेप अयुक्त है, क्योंकि व्यक्तिगत तत्वों की कार्य क्षमता, उनके सयुक्त उत्पादन की क्षमता के रूप म समझी गई है (समुदितानां कार्य-करत्वमेव हि प्रत्येकमपि हि शक्ति)। यह एक और आक्षेप कि कारण, कार्य उत्पन्न करने मे नष्ट हो जाता है क्योंकि वह स्वयं नष्ट होता है इसलिए उसे कार्य उत्पन्न नही करना चाहिए यह भी अयुक्त है, क्योंकि कार्य के उत्पादन के लिए केवल कारण के पूर्व क्षण मे अस्तित्व की ही आवश्यकता है। (पूर्वक्षण सत्वमेव हि कारणस्य कार्योपयोगि)।

---

[1] भावी कार्यानुगुण व्यापार वत्वमेव कारणस्य कुर्वत्वम।

—सर्वार्थ सिद्धि, पृ० ८१।

पुन ऐसा आग्रह किया जाता है कि नियत पूर्ववर्ती का प्रत्यय जो कारणत्व का निश्चित करता है, वह स्वय अनिश्चयात्मक है क्योंकि अवस्थिति के रूप मे काल मे कोई अपना गुण नही है। इसलिए, पूर्वापरता अन्य उपाधि द्वारा निश्चित की जानी चाहिए और कारण घटना को ही ऐसी उपाधि माना जा सकता है। यदि ऐसा है तो पूर्वापरता, जो इसमे कारण उपाधि से उत्पन्न होती मानी जाती है वह निश्चित करती नही मानी जाएगी। पुन यदि उपाधि, अवस्थिति के रूप म काल को, परम्परा में विभक्त कर देती है, तो जबकि काल को विविक्त नही माना गया है, तो मानी हुई उपाधियो को पूर्वकाल को ही लक्ष्य करना होगा तो, इस प्रसग से परम्परा न रहेगी। इसके अतिरिक्त, उपाधियाँ विशेष अवयवो को लक्ष्य करती हैं तो पहले विविक्त काल को मानना पडेगा।[1] उपरोक्त आक्षेप का यह उत्तर कि यदि उपरोक्त तर्क के बल पर काल, परम्परा के रूप मे स्वीकारा नही जाता, तो यदि वस्तुएँ काल म हैं तो वे नित्य हैं और यदि नही हैं, तो वे तुच्छ हैं अनर्थक है। आक्षेप करने वाला फिर कह सकता है कि सभी सामान्य नित्य सत्तावान् होने से, पूर्वापरता कभी भी आपस मे भी व्यक्तिगत रूप म उससे सबधित नहीं की जा सकती। जहाँ रोहिणी नक्षत्र, कृत्तिका नक्षत्र के उदय से अनुमित किया जाता है वहाँ पूर्वापरता इन दोनो के बीच नहीं है। इसका उत्तर अनुभव के आधार पर दिया जा सकता है कि विशेष धर्म रखने वाले तत्व, ऐसे अन्य विशिष्ट धर्म तत्व से उत्पन्न होते है जहाँ सामान्य और विशिष्ट मिलकर एक सयुक्त पूर्णता बनाते हैं—जो विशिष्ट तत्व हैं।[2] निर्दिष्ट कार्य से निर्दिष्ट कारण सबध, उनमे नियत पूर्ववर्ती प्रसग के बहुत से अनुभवो से जाना जाता है और यह, निर्दिष्ट कारण का निर्दिष्ट कार्य की एक रूपता सबध के विचार के विरोध को खण्डित करता है। कारण बहुलता का विचार भी इसलिए इसी कारण से खण्डित होता है। जहाँ एक कार्य भिन्न कारणो से उत्पन्न होता देखा जाता है, वहाँ अनिरीक्षण या मिथ्या निरीक्षण से ऐसा होता है। आप्त पुरुषो का सूक्ष्म निरीक्षण यह प्रकट करता है कि यद्यपि कुछ कार्य एक से दीखते हैं तो भी उनके व्यक्तिगत स्वरूप मे विशिष्टता है। इस निर्दिष्टता के कारण उन्हें प्रत्येक के निश्चित कारण से सबधित किया जा सकता है। प्रागभाव स्वय कार्य को निश्चित करता नहीं माना जा सकता, क्योंकि यह अभाव अनादि होने से, कार्य उत्पत्ति के प्रसग को

---

[1] काले च पूर्वत्वमुपाधि कृत चेत उपाधिद्वयमेव तदा तदधीन कालस्य पूर्व तत्व कालाधीनञ्चापाधे रित्यन्योन्याश्रय। अन्यापेक्षाया चक्रकमत वस्यादि कालस्य क्रमवदुपाधि सबध भेदाद् भेदश्च कृत्स्नैक देश विकल्प दुस्थ इति।

—सर्वार्थ सिद्धि पृ० ८२।

[2] एतद्धर्मकादेतद्धर्मकमुपजातमिति जात्युपाधि क्रोडीकृत रूपेण व्यक्तिपु नियत सिद्धे।

—वही, पृ० ८३।

नहीं समझा सकता। इसके अतिरिक्त, ऐसे अभाव, किसी न किसी रूप मे, अपने घटक क रूप म, उत्पन्न करने वाले काय को अनुमित करते हैं नहीं तो वह काय का प्रागभाव नहीं कहा जायगा। यदि एक काय, बिना कारण के विद्यमान रहता है, तो वह नित्य हो जायगा, और यदि वह बिना कारण असत् है तो वह तुच्छ है। यदि काय असगत रूप से उत्पन्न होता है तो उसका अव्यवहित पूववर्ती से, नियत एक रूप आश्रय नहीं समझाया जा सकेगा। इस प्रकार कारणत्व का सिद्धान्त चार्वाक द्वारा किए गए आक्षेपो से निर्दोष ठहरता है।

(छ) वेंकटनाथ के अनुसार इन्द्रियो का स्वरूप

नयायिक सोचते हैं कि चाक्षुष इन्द्रिय के आठ तत्व उपादान कारण हैं, क्योंकि वह यद्यपि अन्य इन्द्रिय सामग्री को नहीं देख सकती तो भी रूप को दीप की तरह ग्रहण कर सकती है। इसी प्रकार तक करते हुए वे मानते हैं कि स्पश इन्द्रिय वायु तत्व से बनी है, रसनेन्द्रिय जल तत्व से, घ्राणेन्द्रिय पृथ्वी तत्व स और श्रवणेन्द्रिय आकाश तत्व से बनी है। वेंकटनाथ का मुख्य आक्षेप इस मत से है कि यहाँ इन्द्रिया को, अपने अनुगुण प्रत्यक्ष का विशिष्ट और अति महत्वपूर्ण साधन माना गया है वे कहते हैं कि प्रत्यक्ष ज्ञान मे, ज्ञाता, विषय, प्रकाश, इन्द्रिया, इन्द्रिय सन्निकष, अवरोधों का अभाव और अन्य सहकारी, इस प्रकार एक साथ योग देते हैं कि केवल इन्द्रिय का ही महत्वपूर्ण कारण निर्दिष्ट करना असमव है। इन्द्रिय शक्ति को इन्द्रिया से भिन्न भी माना जाय तो भी उन्हें अहकार का विशिष्ट प्रकार माना जा सकता है और इसके लिए शास्त्र समथन भी है। चक्षु इन्द्रिय रूप देख सकती है केवल इसी आधार पर यह तक करना कि यह इन्द्रिय शक्ति रूप तत्व की बनी है यह मिथ्या है, क्योंकि केवल चाक्षुष इन्द्रिय शक्ति के कारण ही रूप का ज्ञान नहीं होता। चक्षु इन्द्रिय का रूप ज्ञान में अन्य सहकारी से अधिक प्राबल्य, जिससे कि उसकी रूप तत्व मे समानता बतायी जा सकती है, सिद्ध किया नहीं जा सकता।

वेंकटनाथ आग्रह करते हैं कि जिन कारणो से पाँच ज्ञानेन्द्रियो को स्वीकारा जाता है व ही पच कर्मेन्द्रियाँ और मनस को भी स्वीकारने पर अग्रसर करते हैं। ज्ञानेन्द्रियों का काय एक विशिष्ट प्रकार का माना गया है, जिसमे इन्द्रियाँ, विशिष्ट प्रकार से निर्दिष्ट दशा मे व्यापार कर सकती हैं यही तक कर्मेन्द्रियो के लिए भी स्वीकृत है। वे सूक्ष्म शरीर से उतनी ही सबधित हैं जितनी ज्ञानेन्द्रियाँ है और कर्मेन्द्रिया, इस शरीर के साथ उत्पन्न हुई हैं और इसके नाश के साथ वे भी नष्ट हो जाएगी यह यादव प्रकाश का मत मिथ्या है।[1] मनस प्रकृति के विकार का एक

[1] न्याय सिद्धाजन, पृ० २४।

विभाग होने से, सर्वव्यापी नही हो सकता। जो नित्य होता हुआ, किसी पदार्थ का उपादान नही है, वह सर्वव्यापी है यह तर्क मिथ्या है, क्योंकि यह शास्त्र प्रमाण द्वारा बाधित होता है और रामानुज मतानुसार, परमाणु पदार्थ के चरम घटक नहीं हैं। पुन यह भी तर्क कि जो विशिष्ट धर्म रहित है, जैसे काल, वह सर्वव्यापी है यह भी अमान्य है, क्योंकि रामानुज मतानुसार, कुछ भी विशिष्ट गुण रहित नहीं है। इस प्रकार तर्क करना कि मनस अति दूरस्थ अनुभवो को स्मरण कर सकता है इसलिए सर्वव्यापी है, यह भी दोषयुक्त है। क्योंकि ऐसा स्मरण, मन का निर्दिष्ट सस्कारो से सबध होने के कारण है।

इन्द्रियो को सूक्ष्म या अणु मानना पड़ता है और तो भी अपने व्यापार से या दूसरी वस्तु से सम्बन्धित होकर, व व्यापक रूप से काय कर सकती हैं।[1] इसी कारण, भिन्न मान के प्राणियो के देह मे, वे ही इन्द्रियाँ इस व्यापार द्वारा, छोटे या बडे क्षेत्र पर फैल सकती है, नही तो हमें उन्हे वे जिस शरीर मे काय करती हैं, उनके मान के अनुसार, छोटी या बडी हो जाती हैं ऐसा मानना पडेगा। यदि मनस विभु है या यदि वह शरीर के मान मे व्यापक है तो पाँचो इन्द्रियाँ एक ही क्षण म उदय हो जाएगी वकटनाथ इन्द्रियो का स्थान अन्त करण मानते हैं जहा से वे अपनी अपनी वत्रिकाओ म से विशिष्ट इन्द्रियो की ओर गमन करती हैं।

इन्द्रियाँ वत्तियो द्वारा काय करती है जो लगभग प्रकाश की गति से चलती हैं और विषय को ग्रहण करती हैं। इस प्रकार, वत्तियाँ एक जगह स दूसरी जगह क्रम से काय करती हैं और उनकी तीव्र गति के कारण निकट और दूरवर्ती पदार्थों के सम्बन्ध मे काय करती दीखती हैं, इससे ज्ञान युगपद् होता दीखता है। यही क्रम श्रवण ज्ञान के लिए भी युक्त है। जबकि रामानुज सम्प्रदाय के अनुसार इन्द्रियाँ अभौतिक हैं इसलिए उनके व्यापार भी अभौतिक वर्णन किए गए हैं।[2]

---

[1] सिद्धेऽपि ह्यणुत्वे विकास तथा वत्ति विशेष द्वारा व्यापक प्रचयाद्वा पृथुत्वम् अनौकायम्।

—सर्वाथ सिद्धि, पृ० ६८।

[2] साख्य मतानुसार जिसमे भी इन्द्रियाँ अभौतिक मानी गई हैं, वहाँ, वृत्ति, वस्तु से सम्बन्ध नही जोडती किन्तु वस्तु का आकार ग्रहण करती है। योग मत के अनुसार जैसाकि भिक्षु न समझाया है चित्त इन्द्रियों मे से जाता है और विषय के सयोग मे आता है और इन्द्रियो से सम्बन्धित हो विषय के आकार मे परिणत होता है। इसलिए परिणाम केवल चित्त का ही नहीं है किन्तु चित्त और इन्द्रियाँ दोनों का होता है।

(ज) वेंकटनाथ के अनुसार आकाश का स्वरूप

वेंकटनाथ, हमारे सुप्रमाणित अनुभवों के आधार पर, जैसाकि, संध्या समय नील या लाल आकाश तथा उसमें पक्षियों की गति देखते हैं—इस तथाकथित तथ्य को सिद्ध करने का विशद रूप से प्रयत्न करते हैं कि आकाश का चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है। वे इस मत को अस्वीकार करते हैं कि आकाश केवल हलचल द्वारा ही अनुमित किया जा सकता है, क्योंकि आकाश का अस्तित्व मोटी दीवारों में भी रहता है जहाँ हलचल असम्भव है। आकाश निरी शून्यता नहीं है पशुओं की, उसमें अप्रतिहत गति से आकाश का अस्तित्व सिद्ध होता है। कुछ बौद्ध और चार्वाक तर्क करते हैं कि केवल चार ही तत्व हैं आकाश केवल आवरणाभाव है। हम दीवार में आकाश नहीं देखते, किन्तु जब वह तोड़ दी जाती है तब हम कहते हैं कि हम आकाश देखते हैं। ऐसा आकाश अवरोध के अभाव के सिवाय अन्य कुछ नहीं हो सकता, क्योंकि यदि यह नहीं स्वीकारते तो कहीं भी अवरोध का अभाव न होगा ऐसे सभी प्रसंग आकाश की मान्यता द्वारा ही समझाए जाएंगे। यह अवरोध का अभाव, निरी शून्यता ही मृगतृष्णा जैसी भावरूप वस्तु का भ्रम उत्पन्न करता है। ये अनुभव, इन प्रसंगों में ठीक तरह से उद्धृत किए जा सकते हैं जहाँ दुःख का अभाव सुख के रूप में, और प्रकाश का अभाव नीले अंधकार के रूप में अनुभव होता है। हम इस तथ्य से सुपरिचित हैं कि भाषा प्रयोग, कभी कभी, वस्तु शून्य विचार उत्पन्न करता है जैसेकि जब कोई कहता है "शश के पने सींग।'

इस पर वेंकटनाथ उत्तर देते हैं कि पदार्थों का अस्तित्व अनुभव द्वारा ही समर्थित किया जा सकता है, और हम सबको आकाश का भाव रूप अनुभव है। जिसे हम अभाव कहते हैं वह भी भाव पदार्थ है। *यह कहना व्यर्थ है कि निषेधात्मक प्रत्यय,* भावसूचक प्रत्ययों से भिन्न होते हैं क्योंकि प्रत्येक निर्दिष्ट पदार्थ का निर्दिष्ट प्रत्यय रहता है, और ऐसा तर्क करना व्यर्थ है कि विशेष पदार्थ का अपना विलक्षण प्रत्यय क्या होना चाहिए।[1] अभाव, जिसका अभाव स्वीकारा जाता है उसका प्रतियोगी है। आकाश की भावात्मकता उसके भावात्मक अनुभव से सिद्ध है। किसी से व्याप्त जगह में आकाश नहीं है यह मत अयुक्त है क्योंकि जब आवृत पदार्थ तोड़ दिया जाता है तब हम आकाश देखते हैं और हम उसके आवृत होने के अभाव को स्वीकारते हैं। इस प्रकार आवरणाकाश, भावात्मक आकाश में उसके उद्देश के रूप में स्वीकारा जाता है क्योंकि हमारे आकाश के अनुभव से हम यह जानते हैं कि आकाश में आवरण नहीं

---

[1] नाभावस्य नि स्वभावता अभाव स्वभावतयैव तत्सिद्धे स्वान्यस्वभावतया सिद्धिस्तु न कस्यापि न चस्वेन स्वभावेन सिद्धस्य परस्वभावविरहादसत्व मतिप्रसंगात् ।
—सर्वार्थ सिद्धि, पृ० ११३ ।

है (इहावरणं नास्ति)। यदि यह नहीं स्वीकारा जाता, तो यहाँ कोई वस्तु है यह ज्ञान समझाया नहीं जा सकेगा, क्योंकि 'यहाँ' शब्द का कोई अर्थ न रहेगा यदि वह केवल अभाव की अनुपस्थिति है। यदि, पुन, आकाश, आवृत करने वाली वस्तु में अनुपस्थित है तो आकाश ऐसे पदार्थ की अनुपस्थिति है, ऐसी आकाश की व्याख्या करना अयुक्त होगा, जबकि कोई अपने आप में अस्तित्व नहीं रखता, तो उपरोक्त उपमा से प्रत्येक वस्तु अपना अभाव हो जायगी।[1] किसी समय आकाश में सतह का भ्रम उत्पन्न होता है यह भी इस कारण होता है कि वह एक वस्तु है जिस पर कुछ गुणों का अध्यास किया जाता है। यदि वह शून्य ही होता, तो उस पर मिथ्या गुणों का आरोपण नहीं हो सकता था। जब यह कहा जाता है कि दुःख का अभाव भ्रम से सुख माना जाता है, तब खरी बात यह है कि तथाकथित अभाव एक प्रकार की भावात्मकता ही है।[2] तुच्छ वस्तु के उदाहरण में जैसे कि शश के पैने सींग यहाँ शश में सींग स्वीकारे जाते हैं, और जब सींग ज्ञात होते हैं तब हमारे मन में विचार होता है कि तीखेपन का प्रत्यय सच है या झूठ। तीखेपन का स्वीकार इसलिए केवल निषेध नहीं है। जब किसी में मिथ्या तुच्छ विशेषण का निषेध किया जाता है तब भी उस विशेषण को किसी उद्देश्य के रूप में स्वीकारा जाता है जो सचमुच उसमें नहीं होता और इस प्रकार, ऐसे विचार में निरा शून्यत्व का मिथ्यात्व नहीं होता। जब कोई कहता है यहाँ कोई आवरण नहीं है उसे, जहाँ आवरण नहीं है, या उसका निषेध किया जाता है उस निधान (केंद्र) को बताना होगा, क्योंकि निषेध प्रतियोगी को अनुमित करता है। आवरण के निषेध का विधान शुद्ध आकाश होगा। यदि आवरण के निषेध का अर्थ नितान्त अभाव है (अत्यन्ताभाव) तो हम शून्यवाद में पड़ते हैं। यदि आवरण कहीं अस्तित्व रखता हो या कहीं हो तो दोनों प्रसंगों में आवरण की उत्पत्ति और विनाश को सिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि सत् वस्तु न तो उत्पन्न ही की जाती है और न नष्ट की जाती है और असत् वस्तु भी कभी न उत्पन्न की जाती है और न नष्ट। इस प्रकार, इन तथा अन्य कारणों से आकाश को, जो न तो नित्य है और न विभु है भाव पदार्थ मानना पड़ेगा, केवल आवरण का अभाव नहीं। दिक या आकाश की दिशाएँ, उत्तर, दक्षिणादि को पृथक तत्त्व नहीं मानना चाहिए, किन्तु वे आकाश हैं, जो द्रष्टा और दृष्ट देश सम्बन्ध की भिन्न उपाधियों के सम्बन्ध के कारण, भिन्न प्रकार के दिक दिखाई देते हैं।

---

[1] न स्वाकाशमात्रमावरणेऽस्वविद्यमानतया तदाभाव आकाश इति चायुक्त सर्वेषां स्वस्मिन्नविद्यमानतया स्वाभावत्व प्रसंगात्।

—सर्वार्थ सिद्धि पृ० ११४।

[2] दुःखाभावे सुखारोपात् अभावस्य भावान्तरत्वमात्रमेव ह्यसत्त्व सिद्धं तेन च स्वरूप-सन्नेवासौ।

—वही।

(झ) वेंकटनाथ के अनुसार काल का स्वरूप

काल नित्य और अनादि है क्योंकि कोई भी प्रत्यय जिसमे काल की उत्पत्ति के बाबत विचार प्राप्त होता है यह अर्थ निकलता है कि काल, उत्पत्ति के पहले अविद्यमान था। इस दृष्टि से यह अनुभव सहज है कि इसम पौर्वापर्य का विचार समाविष्ट है और इस प्रकार यह माना जा सकता है कि काल की पूर्व कल्पना के बिना काल की उत्पत्ति का ज्ञान नहीं हो सकता। काल, सभी दृष्ट पदार्थों के गुण के रूप मे, साक्षात् अनुभव गम्य है। यदि काल को अनुभव गम्य माना जायगा, तो जबकि वह, सभी दृष्ट वस्तुओं से निकट रूप से सम्बन्धित है तो प्रत्यक्ष द्वारा काल की अनुपलब्धि का अर्थ यह होगा कि दृष्ट वस्तु भी साक्षात् ग्रहण नही होती है, किन्तु अनुमान गम्य ही है। जो काल की पृथक सत्ता नहीं मानते वे भी इसे सूर्य की गति से सम्बन्ध से जनित असत् प्रत्यय के रूप मे समझाते हैं। इस प्रकार, काल प्रत्यय, चाहे सत् या असत् माना जाय, वह दृष्ट वस्तु का प्रकार या गुण ही समझा जाता है और साथ ही अनुभव किया जाता है। हमारे अनुभव के प्रकार के रूप म, जो कुछ भी पूर्वापर रूप से सोचा जाता है उससे अतिरिक्त कोई दूसरा काल है ही नही। यह तर्क किया जा सकता है कि प्रत्यभिज्ञा के अतिरिक्त, हमारे समस्त अनुभव वर्तमान से सम्बन्धित हैं और इसलिए, विषयों के प्रत्यक्ष अनुभव म पूर्वापर का विचार उपस्थित नही होता, जो काल का स्वरूप है इसलिए काल का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है। इस पर यह विवाद सूचित किया जा सकता है कि जब विषयों का ज्ञान होता है तब वे वर्तमान हैं या नहीं ऐसा ज्ञान होता है या नही या वर्तमान का ज्ञान किसी भी वस्तु के बिना संयोग के होता है। ऐसा मत, मैं यह देखता हूँ इस अनुभव से खडित होते हैं, यहाँ वस्तु, वर्तमान काल में देखी जाती है, यही बात सिद्ध होती है। प्रत्यक्ष, इस प्रकार वस्तु एव उसके वर्तमान काल धर्म दोनों को लक्ष्य करता है। यह नहीं कहा जाता है, क्योंकि इस प्रसग मे कम से कम, यह बताना पडेगा कि काल धर्म कहीं तो अनुभव किया गया था या स्वतन्त्र रूप से जाना गया था। ऐसा तर्क किया जाता है कि इन्द्रिय लक्षण, वर्तमान रूप से जाने जाते हैं, और यह वर्तमान का विचार भ्रम से काल पर थोपा जाता है। इस पर यह उत्तर दिया जा सकता है कि क्षणिक इन्द्रिय लक्षणों की गतिमान् परम्परा मे, किसी को 'वर्तमान' कहकर इगित करना असम्भव है, क्योंकि वे पूर्व और पर रूप से ही जाने जाते हैं किसी को 'वर्तमान' कहते तक वह भूत हो जाता है। इसलिए वर्तमान रूप से कालक्षण सिद्ध नहीं किया जा सकता। यदि वर्तमान के रूप म, काल किसी इन्द्रिय लक्षण मे स्वीकारा जाय, तो उसे काल म ही स्वीकारने मे क्या हर्ज है? यदि काल अविद्यमान है तो फिर उसके आरोपण की पूर्व कल्पना करने से क्या अर्थ है? यदि ऐसा माना जाता है कि काल का अध्यास केवल जिसमे उसे स्वीकारा जाता है उस वस्तु के बिना ही होता है, तब वह शून्य वादियों का अन्य दृश्याभासवाद ही होगा। रामानुज मतानुसार, किसी न किसी

प्रकार, काल मे वर्तमान लक्षण देने की सम्भावना है, जिस प्रकार कि वह इन्द्रिय गुणो के विषय मे भी स्वीकृत है। यह नही कहा जा सकता कि काल इन्द्रियगम्य पदार्थों का ही लक्षण है, इन इन्द्रियगम्य पदार्थों से अन्य कोई और काल नही है क्योकि इन्द्रियगम्य पदार्थों का वर्तमान रूप कालगत धर्म, इसी प्राक कल्पना से शक्य है कि वर्तमान काल जैसा कोई तत्व है। यदि 'वर्तमान' को अस्वीकारा जाता है, तो वह सर्वव्यापी अभाव हो जाएगा, क्योकि भूत और भविष्य तो ज्ञात होते ही नहीं है। तदुपरान्त वर्तमान को भूत और भविष्य से भिन्न या असम्बन्धित और स्वतन्त्र है ऐसा नहीं सोचा जा सकता। यदि भूत और भविष्य से वर्तमान का अस्तित्व है ऐसा माना जाता है, तो हमारे अनुभव का सम्बन्ध केवल भूत और भविष्य से होगा, और हमारे वर्तमान क्लेशो की कोई सम्भावना नहीं होगी। वर्तमान को इस प्रकार, व्यापार की परम्परा मानना चाहिए, जो आरम्भ हो चुकी है किन्तु उसका अन्त विपाक मे नहीं हुआ है।

यद्यपि काल एक और नित्य है किन्तु अन्य पदार्थों की तरह, जो एक ही कहने पर भी, विभिन्न उपाधि सम्बन्ध के कारण, अवस्थान्तर होने से, एक होते हुए भी अनेक दीखते हैं उसी प्रकार, काल भी मर्यादित और अनेक दीख सकता है। यद्यपि यह विचार मर्यादित काल को समझाने के लिए पर्याप्त समझा जाय, तो भी अन्य लोग सोचते हैं कि जहां तक काल, क्षणो का बना हुआ नही माना जाता, जिन क्षणो द्वारा परिवर्तनशील काल जाना जाता है वहां तक मर्यादा का विचार समझाने के लिए उपाधि सम्बन्ध असम्भव होगा। क्योकि ऐसा सम्बन्ध काल में मर्यादा की वास्तविकता की पूर्व कल्पना ग्रहण करता है जिस पर ही केवल उपाधियो का सम्बन्ध हो सकता है। इस प्रकार यादव प्रकाश मानते हैं, कि काल अनादि और अनन्त है, और वह क्षण द्वारा निरन्तर परिवर्तित होता रहता है, जिनके द्वारा काल का घटे, रात और दिन में विभाजन हो सकता है और जिनके द्वारा पुन, परिवर्तनशील पदार्थों के परिणाम नापे जा सकते हैं।[1] इस मत म, उपाधि प्रत्येक व्यक्ति के दृष्टिकोण से अपेक्षित है व्यक्ति अतिक्रमण करते काल का संग्रह करता है और अपनी आवश्यकतानुसार अपनी गणना की दृष्टि से, क्षण, घटे और दिन का विचार बनाता है। एक युक्त आक्षेप इस मत के विरुद्ध किया जा सकता है जब यह बताया जाय कि अविभक्त काल मे, उपाधि गुणो के सम्बन्ध मे जो आलोचना की गई थी वही इस मत के विरुद्ध भी की जा सकती है क्योकि यहां भी काल का क्षण रूपी अवयवो का बना माना है। क्योकि यह बराबर कहा जा सकता है कि अवयव उपाधि गुणो से सम्बन्धित होने के

---

[1] यादव प्रकाशैरप्यभ्युपगतोऽयं पक्ष कालोऽनाद्यनन्तोऽजस्र क्षण-परिणामी मुहुर्त्त होराद्यादि विभाग-युक् सर्वेषा परिणाम स्पद हेतु ।

—सर्वार्थ सिद्धि पृ० १४८-१४९ ।

लिए, और अवयवों की आवश्यकता रखेगा और यदि ऐसा है तो अनवस्था दोष उत्पन्न होगा और यदि ऐसा नहीं है तो यह मानना पडेगा कि पूरे क्षण को, उपाधि गुण के सम्बन्ध के लिए अवयवों की निश्चितता की आवश्यकता नही रहेगी। यदि पूरे क्षण को, ऐसे सम्बन्ध के लिए, अवयवों की निश्चितता आवश्यक नहीं रहती, तो फिर पूरे ही काल की आवश्यकता क्यो होगी ? द्रव्य मे गुण के सम्बन्ध की उपमा के आधार पर उपाधि गुण का यह स्पष्टीकरण (अविभक्त) भेद रहित काल को भी उपयुक्त है। वेंकटनाथ बताते हैं कि विभिन्न उपाधि गुणो के कारण, यद्यपि, क्षणो की कल्पना आगन्तुक है तो काल स्वय नित्य है। नित्य का अर्थ कभी नष्ट न होना है। काल का इस प्रकार ईश्वर से सहअस्तित्व है। अपने विकारो के सम्बन्ध मे वह एक उपादान कारण है और अन्य सभी के सम्बन्ध म निमित्त कारण है। ईश्वर सर्वव्यापी है यह शास्त्र कथन की सगति, काल का ईश्वर के साथ सहअस्तित्व मानकर, काल के सर्वव्यापी गुण से साधी जा सकती है।

(ट) वेंकटनाथ के अनुसार जीव का स्वरूप

वेंकटनाथ, पहले जीव की शरीर से भिन्नता, प्रतिपादन करने की कोशिश करते हैं और इस सम्बन्ध में सुविख्यात चार्वाक तर्कों का खण्डन करते हैं जिनके अनुसार जीव को शरीर से भिन्न नही माना है। वेंकटनाथ के तर्कों का मुख्य बल, हमारे उस अनुभव की साक्षी पर निर्भर है जिसमे हमें हमारा सारा शरीर और उसके अग 'मैं' के अधीन है ऐसा अनुभव होता है, जसे जब हम कहते हैं 'मेरा शरीर' 'मेरा सर' इत्यादि। वे कहते हैं कि यद्यपि हमारे एक शरीर के अनेक अग हैं और यद्यपि उनमें से कुछ नष्ट भी हो जाय, तो भी, इन परिवर्तनो के होते भी वे एक नित्य इकाई, आत्मा के अधीन माने जाते हैं जो सभी काल में स्थायी रहता है। यदि अनुभव अगो का धर्म होता तो किसी अग के नाश से, उस अग से सम्बन्धित अनुभव स्मरण नही किए जा सकते क्योकि यह माना नहीं जा सकता कि एक अग के अनुभव का दूसरे मे सचारण होता है। माता के अनुभव का भ्रूण भी अश भागी नहीं हो सकता। यह भी नही सोचा जा सकता कि भिन्न अगो के अनुभव किसी भी प्रकार से, सस्कार के रूप म, हृदय या मस्तिष्क मे सगृहीत होते हैं, क्योकि इसका साक्षात् ज्ञान भी नही हो सकता और न कोई आधार है जिससे यह अनुमान भी लगाया जा सके। इसके अतिरिक्त हृदय और मस्तिष्क में सस्कारो का अनवरत सग्रह होता है ऐसा सघात प्रत्येक क्षण मे, घटक रूप सस्कारो के क्षय और सग्रह के कारण, भिन्न होगा और इसलिए, ऐसे परिवर्तनशील तत्व द्वारा स्मृति को समझाना असम्भव हो जाएगा।[1]

---

[1] सवबोधश्चे हृत्कोशे सस्काराधान मित्यपि, न दृष्ट न च तत् क्लृप्तो लिंग किमपि दश्यते। न च सस्कार कोशस्ते सघातात्मा प्रतिक्षण प्रचयापचयाभ्यां स्याद् भिन्न स्मर्तात्र को भवेत्। —सर्वार्थ सिद्धि, पृ० १५३।

व्यक्ति का एकीकृत आचरण, चेतना के व्यक्तिगत इकाई की संख्या के सहयोग ऐसा नहीं माना जा सकता, क्योंकि ऐसे प्रसग मे प्रत्येक का विशिष्ट हेतु होना ए जो सघर्ष उत्पन्न करेगा, यदि हेतु नहीं है तो वे आपस मे क्यो सहयोग दें। एसा माना जाता है कि य व्यक्तिगत चेतन घटक तत्व स्वभाव से ही ऐसे हैं कि सघर्ष उत्पन्न किए, एक दूसरे का अर्थ साधन करते हैं, तो अधिक सामान्य वता यह होगी कि उनमे स्वाभाविक राग और द्वेष न होने से वे कार्य न करेंगे इसके परिणामस्वरूप पूर्ण व्यक्ति के सारे कार्य बन्द हो जाएगे। पुन जब कभी जन्मता है तो ऐसा देखा जाता है उसमे कर्म के प्रति कुछ सहज प्रवृत्ति होती है, स्तनपान करना, जो उस दिशा मे राग सिद्ध करती है और पूर्व जन्म के ऐसे व की मान्यता स्थापित करती है। इससे यह स्पष्ट होता है कि आत्मा, देह उसके अगो से भिन्न और विविक्त है। पूर्व जन्म के अनुभव और सस्कार बौद्धिक की विभिन्नता, अभिरुचि और प्रवृत्ति को समझाते हैं।[1]

यह भी नही माना जा सकता कि शरीर के भिन्न अगो की चेतना की इकाईया े सूक्ष्म और अव्यक्त हैं कि वे अपने व्यक्तिगत सामर्थ्य से व्यक्त नहीं हो सकती, ता भी वे पूर्ण व्यक्ति की चेतना के अभिव्यक्त करने मे मिलकर सहयोग दे सकती हैं, क्योंकि छोटे से छोटे अणुरूप जीव मे भी कर्म प्रवृत्ति पाई जाती है। इसके अतिरिक्त यदि, शरीर के भिन्न अगो से उद्भूत चेतना इकाईयाँ केवल अव्यक्त ही मानी जाती हैं तो यह मानना अनर्थक होगा कि वे केवल सगत रूप होने पर ही सचमुच चेतना उत्पन्न कर सकेंगी।

पुन चेतना एक गुण है जिसे किसी आधार की आवश्यकता होती है जिसमे वह रह सके, किन्तु जिस मत मे चेतना को भौतिक माना जाता है, वहा द्रव्य और गुण का मूल भेद नही देखा जाता है।[2] यह भी नही माना जा सकता है कि चैतन्य कुछ शारीरिक तत्वो का विशिष्ट विकार मात्र है, क्योंकि यह तो केवल एक मत ही है, जो किसी भी अनुभव से प्रमाणित नही हो सकता। पुन जो चार्वाक, अनुमान की प्रमाणता मानते हैं उनसे आग्रह किया जा सकता है कि शरीर एक भौतिक सघात है और इन्द्रिय गुणो का केवल समाहार होने से यह अन्य भौतिक पदार्थों जैसा भौतिक

---

[1] एव मनुष्यादि शरीर प्राप्ति दशायामदृष्ट विशेषात्वपूर्वजन्मानुभव सस्कार भेदैरेवम भिरुचि भेदाश्च युज्यन्ते।

—सर्वार्थ सिद्धि, पृ० १५३–१५४।

[2] ननु चैतन्यमिति न कश्चिद् गुण, यस्माधारो पेक्ष्य किन्तु या सौ युष्माक चैतन्य सामग्री सव चैतन्य पदार्थ स्यात्।

—वही पृ० १५४।

ही है, जबकि चेतना, स्वय चेतन होने के कारण, शरीर से सर्वथा भिन्न होने से इससे भी भिन्न है। आत्मा को देह से सकीर्ण करता सामान्य भ्रम कई प्रकार से समझाया जा सकता है। आक्षेप करने वाला कह सकता है कि यदि 'मेरा शरीर' मेरा हाथ' इन विचारो से यह तर्क किया जाय कि आत्मा शरीर से भिन्न है, तो 'मैं स्वय' इस अभिव्यक्ति से यह तर्क भी किया जा सकता है कि आत्मा की कोई और आत्मा है। इस पर वेंकटनाथ का उत्तर है कि 'मेरा हाथ' 'मेरा सर' ये कथन उसी प्रकार के हैं जैसेकि मेरा घर' और 'मेरी लकडी' है जहाँ दो वस्तुओ मे भेद का स्पष्ट ग्रहण होता है। मे स्वय' ऐसे कथन एक भाषा प्रयोग ह जिसमे षष्ठी का प्रयोग कल्पना से ही समझाया जा सकता ह, यह द्रष्टा के चित्त में, उस समय कही दो वस्तुओ के बीच काल्पनिक भेद प्रकट करता है जिस पर वह उपाधिग्रस्त दृष्टिकोण से बल देता है। वेंकटनाथ मानते हैं कि चार्वाक और भी तर्क कर सकते हैं जिसका उपयुक्त उत्तर दिया जा सकता ह।[1] तर्क और प्रति तर्कों की परम्परा देने के बजाय,

---

[1] चार्वाको के और तर्क इस प्रकार हैं—

जब कोई कहता है, मैं एक मोटा आदमी जानता हूँ' तब यह कहना कठिन होता है कि मोटापन शरीर मे है और जानना किसी और मे है। यदि कथन 'मेरा शरीर' का अर्थ यह है कि शरीर भिन्न है, तो 'मैं मोटा हू यह कथन शरीर और आत्मा की भिन्नता सिद्ध करता है। जो प्रत्यक्ष अनुभव मे है उसे खण्डित नही किया जा सकता, क्योकि ऐसे प्रसग में, आग को भी ठडा अनुमित किया जाएगा। प्रत्यक्ष शास्त्र प्रमाण से अधिक बलवान् हैं इसलिए अपने अनुभव पर सदेह करने का कोई कारण नही है इसलिए प्रत्यक्ष को सिद्ध करने के लिए अनुमान को लाने का कोई प्रयोजन नही है। साख्य का तर्क, कि सघात का परिणाम, किसी अन्य पदार्थ को अनुमित करता है जिसके लिए यह सघात है (खाट सोने वाले को अनुमित करती है) निरुपयोगी है, क्योकि दूसरे स्तर का पदार्थ जिसके लिए पहले स्तर का सघात उपयोगी है उसके लिए अन्य तीसरा पदार्थ भी हो सकता ह और उसके लिए फिर कोई और, इस प्रकार अनवस्था दोष उत्पन्न होता है। इस अनवस्था को रोकने के लिए, साख्यकार सोचते हैं कि पुरुष को अन्य पदार्थ की अपेक्षा नही है। किन्तु पुरुष को चरम पदार्थ मान लेने के बजाए, शरीर पर ही रुक जाना अच्छा है और शरीर को अपना हेतु मान लेना चाहिए। जीवित शरीर मे आत्मा होनी चाहिए क्योकि वह जीवित है यह तर्क अयुक्त है, क्योकि शरीर से भिन्न मानी हुई आत्मा का हमें अन्य साधनो से अनुभव नही है। कोई यह भी कह सकता ह कि जीवित शरीर में खपुष्प होना चाहिए क्योकि वह जीवित ह। चार्वाक अत मे अपने तर्क को पूरा करते हैं और कहते हैं कि शरीर एक स्वचालित यन्त्र ह जो किसी पृथक् तत्व के अधीक्षण की अपेक्षा

प्रति फलदायक माग, शास्त्र प्रमाण को स्वीकारना होगा, जो अपने स्वत प्रामाण्य में, निश्चित रूप से एव अर्थापत्ति द्वारा, शरीर से भिन्न, नित्य आत्मा की सत्ता प्रतिपादन करता है। शास्त्र की प्रमाणता, केवल कल्पित तर्क द्वारा खण्डित नही हो सकती।

ऐसा भी एक मत है कि चेतना इन्द्रियों का धर्म है, और भिन्न इन्द्रियो द्वारा ज्ञान उसी शरीर मे एकीकृत होता है, और इसी कारण आँखो से देखा पदार्थ भी, वही है जो स्पर्श द्वारा ग्रहण किया गया है ऐसा अनुभव शक्य है। दूसरा मत यह है कि ज्ञान इन्द्रियों का धर्म है, इन्द्रिय ज्ञान से सबधित सुख दु ख की सवेदनाएँ एक व्यक्ति को, पृथक पदार्थ के रूप म व्यवहार करने के लिए आकर्षित या प्रतिक्षिप्त कर सकती हैं जो दृश्य पदार्थ द्वारा आकर्षित या प्रतिक्षिप्त होता है। वेंकटनाथ ऐसे सिद्धान्त पर आक्षेप करते हैं कि यह हमारे इस मानसिक अनुभव को नहीं समझा सकते जिसमें हमें लगता है कि हम उसी पदार्थ को स्पर्श करते हैं जिसे हमने देखा है। इससे यह अनुमित होता है कि कोई एक पदार्थ है जो दो इन्द्रिया के ज्ञान से भी अतिरिक्त है, क्योंकि चक्षु और स्पर्शेन्द्रियो की मर्यादा अपने निर्दिष्ट इन्द्रियगुणो को ग्रहण करने तक ही है, और दोनों में से एक भी, भिन्न इन्द्रिय गुणो द्वारा, वस्तु की एकता प्रतिपादन करने में असमर्थ हैं। वेंकटनाथ आगे कहते हैं, कि यह मत कि भिन्न इन्द्रियों के सस्कार हृदय में इकट्ठे होते हैं और हृदय मे अनुभवो के ऐसे एकीकरण द्वारा वास्तविक व्यक्ति दीखता है यह अयुक्त है, क्योंकि शरीर के अन्दर सस्कारो के एकीकरण का ऐसा केन्द्र हमे जानने मे नहीं आता है, और यदि, शरीर मे ऐसा केन्द्र स्वीकारा जाता है तो पृथक आत्मा को, जिसमें सस्कार समाविष्ट हैं मानने मे कोई हानि नहीं है।[1]

चेतना को भी आत्मा नहीं माना जा सकता क्योकि चेतना अनुभव है और इसलिए वह किसी व्यक्ति म उसके पृथक और विविक्त रूप म होनी चाहिए। गतिशील चेतनावस्थाओं में ऐसा कुछ भी नही है जो चिरस्थायी है, जो अपने मे भूत और वर्तमान अवस्थाओं को एकीकृत कर सके और द्रष्टा या व्यक्ति का विचार उत्पन्न कर सके। इसलिए, यह मानना चाहिए कि स्वचेतन अहं है जिसमे समस्त ज्ञान और अनुभव

बिना, अपने आप कार्य करता है, और वह एक विशिष्ट भौतिक परिणाम है (अनधिष्ठित स्वय वाहक यन्त्र यायाद् विचित्र भूत परिणति विशेष सम्भवोऽय देह यन्त्र)।

—सर्वार्थ सिद्धि, पृ० १५७।

[1] त्वादिष्ठ सस्कार कोशे मानाभावात् अनेकेषामहमर्थाना मे शरीर यागे च तत्तश्च वरन् यथोपलम्भमेकस्मिन्नहम् अर्थे सर्वसंस्काराधीनम्।

—सर्वार्थ सिद्धि, पृ० १६०।

समाविष्ट हैं। ऐसा ग्रह, इस ग्रथ मे, स्वप्रकाश है कि अपने द्वारा स्वय प्रकट है, वह केवल ज्ञान का अधिष्ठान ही नही है। ऐसा स्वप्रकाश्य ग्रह गाढ निद्रा मे भी विद्यमान है और हमारे 'मैं सुखपूवक सोया' इस उत्तरकाल के स्मरण से प्रमाणित होता है और वह किसी अनुभव से बाधित नहीं होता। जब कोई किसी को 'तुम' या 'यह' कहकर पुकारता है, तब भी, उत्तरकाल में यह 'मैं' के रूप म स्वप्रकट है। ऐसा ग्रह आत्मा को लक्ष्य करता है, जो सच्चा कर्त्ता, सुख दु ख का अनुभविता और ज्ञाता है और सच्चा नैतिक कर्त्ता है, और इसलिए वह, अपनी जैसी दूसरी आत्मा से, निर्दिष्ट कम और उनके फल की ओर ले जाते विशिष्ट प्रयत्नो के कारण भिन्न है। व्यक्ति के प्रयास, पूव जन्म के कम के फलो से पूव निश्चित होते हैं और ये उससे पूव जन्म के कर्मों से। जो यह कहते हैं कि प्रयास अप्रयास की ओर ले जाता है, वे अपना ही विरोध करते हैं क्योकि व्यवहार, कम, प्रयास की सफलता पर आश्रित हैं। वे ही प्रयत्न, जो असमव की प्राप्ति की ओर या उन पदार्थों की ओर किए जाते हैं जिसम प्रयास की आवश्यकता नही है, वे ही केवल निरुपयोगी हैं, जबकि और सब प्रयत्न फल देते ही हैं।

ब्रह्म एक ही है, वह भिन्न चित्तो के सबध से नाना रूप दीखता है, वेंकटनाथ की दृष्टि से कि ऐसा मत अयुक्त है क्योकि हम जानते हैं कि एक ही व्यक्ति पुनजन्म मे अनेका देहा के ससग म आता है, और भिन्न शरीरो से ऐसा ससग व्यक्ति मे भेद उत्पन्न नही कर सकता और यदि ऐसा है, अर्थात् भिन्न देह से सबध, व्यक्ति मे भेद नही उत्पन्न करता तो एक ही ब्रह्म भिन्न चित्तो के सबध से नाना रूप क्यो हो जायगा इसका कोई कारण नही दीखता। पुन जिस मत मे जीव, यद्यपि एक दूसरे से सचमुच भिन्न है किन्तु शुद्ध सत्ता ब्रह्म के मात्र अग होने के कारण अभिन्न है यह मत भी अयुक्त है क्योकि यदि ब्रह्म जीव से इस प्रकार अभिन्न है वह भी सभी दु ख और अपूर्णताओ का भागी होगा, जो निरथक है।

ब्रह्मदत्त मानते थे कि ब्रह्म ही नित्य और अजात है व्यक्तिगत आत्मा उसम से उत्पन्न हुई है। वेंकटनाथ इसकी आलोचना करते हैं और इस वाद का प्रतिपादन करते हैं कि सभी आत्मा अज और असृष्ट हैं। उन्हें चिर और नित्य मानना चाहिए क्योकि यदि वे, शरीर में रहते हुए परिवतनशील माने जाँय तो सहेतुक प्रवृत्ति की निरन्तरता नही समझाई जा सकेगी। यदि शरीर के साथ उनका नाश होता है तो कमवाद और नैतिक उत्तरदायित्व में विश्वास त्यागना पडेगा।

आत्मा विभु (सवव्यापी) नही है, क्योकि उपनिषदा मे ऐसा कहा है वह शरीर से बाहर जाता है। नयायिक आत्मा के विभुत्व के बारे मे इस प्रकार तक देते हैं— पाप और पुण्य प्रत्येक आत्मा से सम्बन्धित हैं और व भौतिक जगत् मे और दूर स्थानो

में भी ऐसे परिवर्तन उत्पन्न कर सकते हैं जो उस आत्मा को सुख-दुःख दे सकते हैं, पुण्य और पाप तो विशिष्ट आत्मा से सम्बंधित हैं, इसलिए वे दूरस्थ स्थान पर परिवर्तन नहीं कर सकते, जब तक कि आत्मा और उनके (पाप पुण्यों के) स्थानों में सह अस्तित्व नहीं है। यह मत रामानुजवादियों पर नहीं लागू होता क्योंकि उनके अनुसार पाप और पुण्य का अर्थ, व्यक्ति के कर्मानुसार उस पर अनुग्रह या कोप है और ईश्वर के अनुग्रह और कोप का व्यापार अमर्याद है।[1]

प्रतिपक्षी के दृष्टिकोण से, आत्मा का विभु भी मान लिया जाय, तो भी वह भले बुरे फलों का होना नहीं समझा सकेगा, क्योंकि आत्मा का उन दूरस्थ स्थानों में सह अस्तित्व भी हो, तो भी उसके अदृष्ट उसकी समस्त व्यापक आत्मा में कार्य नहीं करते केवल अंशभाग में ही करते हैं और इसलिए जबकि वह, जिस स्थान में कर्म फल उत्पन्न होता है उससे सह अस्तित्व में नहीं है वह इसे ठीक तरह नहीं समझा सकता।

(त) वेंकटनाथ के अनुसार मुक्ति का स्वरूप

वेंकटनाथ कहते हैं कि कुछ लोग ऐसा आक्षेप करते हैं कि यदि जीव अनादि काल से बन्धन में था तो कोई कारण नहीं है कि उसे भविष्य में क्यों मुक्त होना चाहिए? इसके उत्तर में सबमान्य आशा है कि किसी न किसी समय, अनुकूल सहकारियों का ऐसा पुंज आयगा और हमारे कर्म इस प्रकार फलित होंगे कि वे, विवेक दृष्टि और सभी सुखों से विरक्ति उत्पन्न कर, हमें बंधन से मुक्त कर देंगे, जिससे ईश्वर को अपना अनुग्रह दिखाने का अवसर मिल सके। इस प्रकार यद्यपि प्रत्येक जीव अनादि काल से बंधन में है तो भी उन सबों को, क्रम से, मुक्ति पाने का योग्य अवसर मिलता है। इस प्रकार ईश्वर, केवल उन्हीं पर मुक्ति की कृपा करते हैं जो अपने कर्म द्वारा उसके योग्य होते हैं और इस विचार दृष्टि से सम्भव हो सकता है कि कोई एक ऐसा समय होना चाहिए जब सभी मुक्त हो जायेंगे और संसार चक्र का अंत हो जायगा। ऐसे संसार क्रम का अंत ईश्वर की स्वेच्छा से होगा, और इस प्रकार, ऐसी अवस्था में ईश्वर की स्वतंत्र और सहज प्रवृत्ति में बाहर से बाधा उत्पन्न हो जायगी, इस प्रकार भय के लिए लेश मात्र भी स्थान नहीं है। मनुष्य, दुःख के अनुभवों से मुक्ति की ओर अग्रसर होता है जो इस जगत् के सुखों को नहीं सा कर देता है। वह समझता है कि सांसारिक सुख अल्प व अस्थिर है और दुःख से सबद्ध हैं। ऐसी मुक्ति ईश्वर भक्ति द्वारा ही प्राप्त हो सकती है, यहाँ भक्ति से, राग सहित

---

[1] इह हि धर्माधर्म शब्द्‌ कर्म निमित्तेश्वर प्रीति कोप-रूप-बुद्धि वाचक।
अस्ति ह्येषु भुमे स्वसौ तुष्यति दुष्कृते तु न तुष्यते सौ परम शरीरी इति।

—सर्वार्थ सिद्धि, पृ० १७९।

ध्यान या स्मरण समझा गया है।[1] ऐसी भक्ति से ज्ञान भी उत्पन्न होता है, और ऐसे ज्ञान मे भक्ति का भी समावेश है।[2] भक्ति का अर्थ यहाँ ध्रुवानु स्मृति से है, और इसलिए इसका अनवरत अभ्यास होना चाहिए। मुक्ति केवल ज्ञान से ही प्राप्त है, यह शकर अनुयायियो का मत मिथ्या है। उपनिषद् मे ज्ञान को ध्रुवानुस्मृति कहा गया है, और इसका अभ्यास होते रहना चाहिए, तभी वह उपासना कही जा सकती है, जो भक्ति ही है।[3]

विहित कर्म सच्चे ज्ञान के उदय मे प्रतिबधक कर्मों के बुरे प्रभावो का निवारण करके, भक्ति के अर्थ में, ज्ञान उत्पन्न करने मे सहायक होते हैं। इस प्रकार शास्त्रोक्त कर्म, भक्ति के साथ साथ नहीं करने चाहिए, और वे दोनो मिलकर मुक्ति का कारण नहीं हैं, किन्तु विहित कर्म, विरोधी कर्मों के प्रतिब धक प्रभावो का निवारण करने मे सहायक हैं ऐसा समझना चाहिए।[4] यज्ञादि शास्त्रोक्त कर्म का, भक्ति साधना से विरोध नहीं है क्योंकि जिन देवताओ का वेद में उल्लेख है वे ब्रह्म को लक्ष्य करते हैं और ऐसा माना जा सकता है कि ब्रह्म ही वष्णवो के एकमात्र देव भगवान् है। भक्त को नित्य और नैमित्तिक कर्म का त्याग नहीं करना चाहिए, क्योकि केवल स्वधर्म का अ त हो जाना कोई अर्थ नही रखता, कर्म रहित होने का सच्चा अर्थ निस्वार्थ होकर कर्म करना है। यह मानना मिथ्या है कि दुनिया को छोडकर स यासी बन जाते हैं वे ही मुक्ति पाते हैं क्योकि किसी भी वर्ण का मनुष्य क्यो न हो और किसी आश्रम म क्यों न हो, यदि वह अपने सामा य वर्णोचित धर्म का पालन करता है और ईश्वर के प्रति ध्रुवानुस्मृति युक्त है तो वह अवश्य मुक्ति पायगा।

यहाँ पर यह बताना उपयुक्त होगा कि इस सम्ब ध में धर्म तीन प्रकार के माने गए हैं। जो निता त आवश्यक हैं, उ हें नित्य कर्म कहा है। उ हें करने से न कोई पुण्य या लाभ होता है कि तु न करने से दुष्परिणाम होता है। जो विशेष प्रसगो मे करना आवश्यक है उ हे नैमित्तिक कहा है। यदि इ हें विशिष्ट परिस्थितियो मे न किया जाय तो पाप लगता है कि तु उनके करने से कोई विशेष पुण्य नहीं मिलता। जो कर्म किसी सुख कामना से किए जाते हैं जसेकि स्वर्गप्राप्ति पुत्रोत्पत्ति इत्यादि,

---

[1] महनीय विषये प्रीतिर्भक्ति प्रीत्यादयश्च ज्ञानविशेषा इति वक्ष्यते स्नेहपूर्व मनुध्यान भक्ति। —सर्वार्थ सिद्धि पृ० १६०।

[2] भक्ति साध्य प्रापकज्ञानमपि भक्ति लक्षणोपेतम्। —वही पृ० १६१।

[3] एकस्मि नेव विषये वेदनोपासन शब्दयो व्यतिकरेणोऽप्रक्रमोपसहार दर्शनाच्च वेदनमेव उपासनतया विशेष्यते सा मुक्ति साधनतयोक्ता हि वित्ति भक्ति-रूपत्व पर्यत विशेषण विशिष्टा। —वही, पृ० १६१ १६२।

[4] वही, पृ० १६४ १६५।

इन्हें काम्य कर्म कहते हैं। अब जो पुरुष मुक्ति पाना चाहता है उसे काम्य कर्म त्यागना चाहिए, शास्त्र निषिद्ध कर्म न करना चाहिए और नित्य और नैमित्तिक कर्म करते रहने चाहिएँ। यद्यपि, नित्य और नैमित्तिक कर्म किसी प्रकार के फल से अवश्य ही सम्बन्धित है क्योंकि वे न करने से होने वाले पापों का निवारण करते हैं, तो भी ये निषेधात्मक फल देते हैं और मुक्ति प्राप्त करने वालों के लिए वर्जित नहीं हैं। क्योंकि ऐसे लोगों के लिए केवल वे ही कर्म वर्जित हैं जो नियत फल देते हैं, इससे यह अर्थ नहीं है कि उसे ईश्वर को प्रसन्न करने वाले कर्म भी नहीं करने चाहिए, क्योंकि सकाम कर्म वे ही हैं जो अपने सुख की कामना से किए जाते हैं और ये हमेशा दुष्परिणामयुक्त रहते हैं।[1]

यह हम पहले ही कह चुके हैं कि नैमित्तिक कर्म करने चाहिए, किन्तु इनमें से कुछ प्रायश्चित कर्म हैं जिनसे हमारे कर्म के पाप का निवारण होता है। सच्चे भक्त को ये प्रायश्चित कर्म नहीं करने चाहिए, क्योंकि ईश्वर का ध्यान ही हमारे सभी पापों को धो डालने में समर्थ है, और साथ में पुण्यों को भी। क्योंकि पुण्यकर्म स्वर्ग सुख उत्पन्न करते हैं इसलिए पाप कर्म की तरह, ये भी मुक्ति में बाधक हैं। जो कुछ भी चित्त को, संकुचित कामनाओं द्वारा संकुचित बनाता है वह पाप युक्त है। इस दृष्टि से विचार करने पर तथाकथित पुण्य कर्म भी, मुक्ति की इच्छा रखने वाले भक्त के लिए हानिकारक हैं।[2] धर्म का अर्थ सापेक्षता है, जो कर्म, सामान्य जनों के लिए धर्म्य है वह ही मुक्ति की इच्छा का 'उच्च' आदर्श रखने वाले पुरुष के लिए निषिद्ध हैं।[3] सच्चे भक्त के लिए जिसने ब्रह्म ज्ञान प्राप्त कर लिया है और जो ईश्वर में ध्यान में लगा हुआ है पाप और पुण्य कर्म निरुपयोगी हैं क्योंकि पुराने कर्म ध्यान से भस्म हो जाते हैं और नए कर्म ज्ञानी से सम्बन्धित नहीं हो पाते।

रामानुज सम्प्रदाय परलोक विद्या के विषय में विचार, जैसाकि वेंकटनाथ ने समझाया है, यह है, सच्चे भक्त की आत्मा मूर्धन्य नाडी से बाहर निकलती है और क्रमानुसार अधिष्ठाता देवताओं द्वारा क्रम से मृतात्मा को ऊपर से ऊपर ले जाती हैं। क्रम यह है अग्नि, दिवस, शुक्ल पक्ष सक्रांति, वर्ष, वायु सूर्य, चंद्र, विद्युत, वरुण,

---

[1] अनर्थाविनाभूतसुख कामनातो निवृत्त कर्म निष्कामम्।

—सर्वार्थ सिद्धि, पृ० २०२।

[2] तदेव धी संकोचक कर्म ध्वंसे धीविकासएव एव ब्रह्मानुभूति।

—वही, पृ० १२०।

[3] ए एव धर्म सोऽधर्मस्तत् प्रति नर भवेत्।
पात्र कर्म विशेषेण देश कालावपेक्ष्यच॥

—वही, पृ० २२१।

इन्द्र और प्रजापति।[1] उपरोक्त क्रमानुसार अधिष्ठाता देवतागण मृतात्मा को एक स्तर से ऊपर उठाने हेतु परमात्मा द्वारा नियुक्त माने गए हैं।

पूर्ण मुक्तावस्था मे बुद्धि का पूर्ण विकास होता है। यद्यपि यह अवस्था भक्ति साधना स प्राप्त है, तो भी इसका नाश नही हो सकता क्योकि यह, पाप और पुण्य जो चित्त को सकुचित कर सकते हैं सभी कारणो से सम्ब ध विच्छेद का फल है। इसलिए इस अवस्था से च्युति नही है।

मुक्त पुरुष स्वेच्छा से शरीर धारण कर सकता है। उसका देह ब धन रूप नही हैं, क्योकि वे ही ब धन मे गिरते हैं जिनका शरीर कम की उपाधि से युक्त है। मुक्तावस्था ब्रह्म की नित्य प्राप्ति द्वारा पूर्ण सुखावस्था है, मुक्त ईश्वर का दास है। यह दास भाव दु ख नही उत्पन्न करता, क्योकि दासता, पाप से सम्बधित होने पर ही दु ख ला सकती है। मुक्त पुरुष इस अथ म सव शक्तिमान् है कि भगवान् उसकी इच्छाएँ कभी नही टालता।

मुक्त पुरुष, सभी वस्तुओ को अश रूप मे, भगवान् मे समाविष्ट मानता है, इसलिए ससार के काय उसे दु खी नही करते, यद्यपि उसे यह ज्ञान भी हो कि भूतकाल में ससार की अनेक वस्तुओ ने उसे दु ख दिया था।

वेंकटनाथ जीवन्मुक्ति नही मानते क्योकि मुक्ति की प्रत्येक परिभाषा मुक्ति का कम जनित जीवन इ द्रिया और देह से पथकता बताती हैं। इसलिए, हम, जब जीवन्मुक्ति के बारे मे सुनते हैं तो अथ यह है कि उसकी अवस्था मुक्त जसी है। अद्वैतवादियो का कहना कि ज्ञान के साथ मूल अविद्या नष्ट हो जाती है, तो भी उसकी आशिक अवस्था मुक्त पुरुष को शरीर के ब धन म रख सकती है यह मिथ्या है। क्योकि यदि मूल अविद्या नष्ट हो गई है ता फिर उसकी अवस्थाए कैसे रह सकती हैं। इसके अतिरिक्त यदि वे ज्ञान होने के उपरा त रहती हैं, तो यह कल्पना करना असभव हो जाता है कि वे किस प्रकार मुक्त पुरुष की मृत्यु के बाद नष्ट हो जायेंगी।

रामानुज दर्शन मे ईश्वर का स्थान

हमने देखा कि रामानुज के मतानुसार ईश्वर की सत्ता शास्त्र प्रमाण द्वारा ही जानी जा सकती है, अनुमान द्वारा नही। वेंकटनाथ बताते हैं कि साख्य मतानुसार, जगत् की उत्पत्ति पुरुष के सानिध्य द्वारा प्रकृति के व्यापार से होती है यह मिथ्या है क्योकि उपनिषद् स्पष्ट कहते हैं कि जिस प्रकार मकडी अपना जाला बनाती है उसी प्रकार

---

[1] सर्वार्थ सिद्धि, पृ० २२६ २२७।

ईश्वर जगत् की रचना करता है। उपनिषद् और आगे कहते हैं कि ईश्वर ने प्रकृति और पुरुष दोनों में प्रवेश किया और सृजन के समय रचना कर्म उत्पन्न किया।[1] ईश्वर के सम्बन्ध में योग दर्शन का यह भी मत कि वही एक मुक्त पुरुष है जो हिरण्यगर्भ के शरीर में प्रवेश करता है या अन्य दूसरा शुद्ध शरीर धारण करता है, शास्त्र विरुद्ध है। यह सोचना व्यर्थ है कि जगत्-रचना मुक्त पुरुषों के क्रिया-व्यापार से होती है, क्योंकि यह जितना शास्त्र विरुद्ध है उतना ही सामान्य सम्भावना के भी विपरीत है, क्योंकि असख्य मुक्त पुरुषों में इच्छा की ऐसी एकता नहीं हो सकती जो बिना अवरोधों के जगत् रचना को सम्भव बना सके। इस प्रकार शास्त्र प्रमाण के बल पर स्वयं ईश्वर ने प्राणियों के हित के लिए या अपनी लीला के लिए, इस जगत् की रचना की है। लीला के आनन्द को नकारात्मक स्थिति अर्थात् आलस्य की क्लान्ति दूर करना, नहीं समझना चाहिए, किन्तु स्वयं को आनंदित करने वाला व्यापार समझना चाहिए।[2] जब कहा जाता है कि भगवान् रुष्ट है इससे यह नहीं समझना चाहिए कि वे निराश हुए हैं क्योंकि वे स्वयं परिपूर्ण हैं और उन्हें कुछ भी पाना या खोना बाकी नहीं है। इसलिए ईश्वर के कोप को जो दण्डनीय हैं, उन्हें दण्ड देना, समझना चाहिए।

रामानुज के मतानुसार जीव और जगत् ईश्वर की देह या 'शरीर' है। शेषार्य वंश के अनन्ताचार्य अपने 'न्याय सिद्धांजन' में, वेंकटनाथ के इस मत का अनुसरण करते हुए उसे और विशद करते हैं और ईश्वर के शरीर के प्रत्यय की सूक्ष्म विवेचना करते हैं, जो हमारे ध्यान देने योग्य है। इसे वे अस्वीकार करते हैं कि शरीर प्रत्यय, जाति को अनुमित करता है क्योंकि यद्यपि शरीर प्रत्यय, शरीर के सभी व्यापारों या क्रियाओं के लिए प्रयुक्त होता है तो भी, यह प्रत्यय किन्हीं न किन्हीं विशिष्ट दृष्टान्तों से ही सम्बन्धित होता है इसलिए सामान्य स्वयम् शरीरत्व के प्रत्यय की सत्ता मानने को बाध्य नहीं करता। जो कुछ भी इस विषय में कहा जा सकता है वह यह कि शरीरत्व का सम्बन्ध व्यक्तिगत शरीरों से है।[3] समस्त जाति प्रत्यय, इसीलिए

---

[1] प्रकृतिं पुरुषं चैव प्रविश्यात्मेच्छया हरिः।
क्षोभयामास सम्प्राप्ते सर्गकाले व्ययाव्ययौ।

—सर्वार्थ सिद्धि, पृ० २५२।

[2] क्रीडा योगादर्शीत-योग तदभावाद्वा तदभाव स्यात् नैव क्रीडा हि प्रीति विशेष प्रभव स्वयं प्रिया व्यापार। —वही पृ० २५५।

[3] न चे दम् शरीरमिदं शरीरमिनित्यनुगत प्रतीतिरेव तत्साधिका अनुगतप्रतीते बाधक विरहे जाति साधकत्वा दिति वाच्यम् सिद्धान्ते अनुगत प्रतीते संस्थान विषयकत्वेन तदरिक्त जाति साधकत्वासम्भावात्।

—अनन्ताय शरीरवाद (हस्त०)।

समाहार रूप से, विशेष प्रकार के वर्ग से सम्बन्धित होते हैं और इस रूप में ये सेना इत्यादि समुदायवाचक नामों के निकट समझे जा सकते हैं।[1] वात्स्य श्रीनिवास, अपने 'रामानुज सिद्धान्त संग्रह' में जाति प्रत्यय को, अन्योन्याश्रय वर्ग के निकट जैसे *प्रत्यय पर आधारित मानते हैं। वे कहते हैं कि जब दो आश्रय वर्ग में, दोनों ही* गाय कहलाते हैं, तब दो व्यक्तिगत आश्रय वर्ग से अन्य और कुछ नहीं दीखता। दोनों ही गाय कहलाते हैं इसका कारण दोनों वर्गों के बीच रहा यह सादृश्य है।[2] इस प्रकार समान वर्ग के विशिष्ट सादृश्यत से उत्पन्न जाति प्रत्यय के अतिरिक्त अन्य कोई पदार्थ नहीं है (तावद्विषयकज्ञानरूपजातिविषयकत्वांगीकारेण)।

अनन्ताचार्य 'रामानुज भाष्य' में शरीर की परिभाषा इस प्रकार देते हैं जो चैतन्य के हेतु या स्वार्थ के लिए पूर्णतया नियन्त्रित या अधिकृत किया जा सके, और जो साध्य *के साधन रूप है। (चेतनस्य यद्द्रव्यं सर्वात्मना स्वार्थे नियन्तुं धारयितुं शक्यं तच्छेष्टैक* स्वरूपंच तत्तस्य स्वरूपम्)। 'श्रुत प्रकाशिका' के रचयिता, सुदर्शनाचार्य, इस परिभाषा का यह बोधार्थ करते हैं कि जब किसी की चेष्टा, किसी चेतना की इच्छा या कल्पना द्वारा पूर्णतया नियमित होती है और इस प्रकार नियन्त्रित रहती है तब पहला दूसरे का शरीर कहलाता है (कृतिप्रयुक्तस्वीयचेष्टासामान्यकस्वरूपनियाम्यत्वं शरीरपदप्रवृत्ति-निमित्तम्)।[3] जब यह कहा जाता है कि यह शरीर इस जीव का है तब आधेयत्व का अर्थ

---

[1] एक जातीयमिति व्यवहारस्य तत्तदुपाधि विशेषेणोपपत्तेः राशि-सैन्य परिषदरण्या-दिव्यवयव्यवहारादिवत्, उपाधिश्चायमनेकेषाम् एक स्मृति समारोहः ।

—न्याय सिद्धाञ्जन, पृ० १८० ।

[2] अय सास्नादिमानयमपि सास्नादिमानिति सास्नादिरेव अनुवृत्त व्यवहार विषयो दृश्यते, अनुवृत्त धी व्यवहार विषयस्तदतिरिक्तो न कश्चित् अपि दृश्यते। तस्मादुभय-सम्प्रतिपन्न सस्थानेनैव सुसदृशोपाधिवशादनुगत धी व्यवहारोपपत्ता अतिरिक्त कल्पने मानाभावात्,सुदृशत्वमेव गोत्वादीनामनुवृत्तिः ।

—रामानुज सिद्धान्त संग्रह, हस्त० ।

वात्स्य श्रीनिवास सुसादृश्य को एक विशेष धर्म मानते हैं, जो भेद के होते भी सामान्यता के ग्रहण का कारण है। (प्रतियोगि निरूप्य प्रतिव्यक्ति विलक्षण विषय निष्ठ सदृश व्यवहार साधारण कारण धर्म विशेष सौसादृश्यम्। इस सादृश्य के कारण हम समान पदार्थ को संज्ञा दे सकते हैं। जब यह दो पदार्थों में रहती है तब धर्म सादृश्य कहते हैं। जब वह अद्रव्य में होती है तब हम स्वरूप सादृश्य कहते हैं।

[3] शरीरवाद (हस्त०)।

यह होता है कि उस शरीर के साधारण व्यापार उस चेतन के कारण हैं,[1] इसी सादृश्य के आधार पर नौकर अपने स्वामी का शरीर नहीं कहा जा सकता। इस परिभाषा के अन्तर्गत पूर्व कल्पना यह है कि व्यक्तिगत जीव पशु और वृक्षादि की गति, और ईश्वर अधिष्ठित जड पदार्थों की गति यद्यपि हम उन्हें न देख पाते[2] तो भी उन विशिष्ट जीवों की इच्छा शक्ति से है।

शरीर की मनोजीव विज्ञान सम्बन्धी क्रियाएँ अधिष्ठातृ शक्ति की सूक्ष्म इच्छा द्वारा होती है इसका कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है, इस आक्षेप को उठाकर 'रामानुज भाष्य' में शरीर की दूसरी परिभाषा दी गई है। इस परिभाषा के अनुसार जो चेतन की इच्छा द्वारा सम्पूर्ण रूप से नियन्त्रित होकर गिरने से रोका जा सके, वही शरीर है।[3] तो भी इस परिभाषा पर आक्षेप किया जा सकता है क्योंकि यह जीव ईश्वर का देह है इस प्रयोग को नहीं समझा सकती (यस्यात्मा शरीरम्)। जीव म भार परिमाण नही है। इसलिए यह सोचना निरर्थक है कि ईश्वर उन्हें पतन से रोकता है और ईश्वर का जीव से यही सम्बन्ध है। इसलिए परिभाषा मे यहाँ तक परिवर्तन किया जा सकता है कि विशिष्ट जीव की इच्छा द्वारा, स्पष्ट सम्बन्ध से पूर्णतया जो नियमन मे है वही शरीर है।[4] इस परिवर्तन पर भी आगे और आक्षेप किया जा सकता है कि यह परिभाषा अब भी काल इत्यादि व्यापक पदार्थों का समावेश नहीं करती। अब दो सर्वव्यापक पदार्थों के बीच संयोग, नित्य और सहज माना गया है। इसलिए, ईश्वर का काल इत्यादि से संयोग, ईश्वरेच्छा से होता है ऐसा नही माना जा सकता, और यदि इसे शरीर का व्यवच्छेदक धर्म माना जायगा तो काल इत्यादि ईश्वर का शरीर नहीं कहा जा सकेगा। इसलिए शरीर की दूसरी ही परिभाषा देनी पडेगी कि शरीर चेतन के अधीन और आश्रित एक द्रव्य है। परतन्त्रता और अधीनता विशिष्ट उत्कृष्ट गुण के अर्थ मे समझना चाहिए। इस सबंध

---

[1] एतज्जीवस्येद शरीरमित्यादौ आधेयत्व तस्य च शरीर पदार्थैकदेशे कृतिमत्त्वमाद्या तज्जीव निष्ठ-कृति प्रयुक्त स्वीय चेष्टा सामान्यकमिदम् इति बोध।

—वही।

[2] जीव शरीरे वृक्षादौ ईश्वर शरीरे पर्वतादौ च सूक्ष्मस्य तत्तत्कृति प्रयुक्त-चेष्टाविशेषस्य अगीकारान्न शरीर-व्यवहार विषयत्वानुपपत्ति। —वही।

[3] यस्य चेतनस्य यद्द्रव्यम् सर्वात्मना धारयितु शक्य तत्तस्य शरीरमिति कृति प्रयुक्त-स्वप्रतियोगिक-पतन प्रतिबन्धक-संयोग-सामान्य व त्व शरीर-पद प्रवृत्ति निमित्तम्।

—वही।

[4] पतन प्रतिबन्धकत्व परित्यज्य कृति प्रयुक्त स्वप्रतियोगिक-संयोग-सामान्यस्य शरीर-पद प्रवृत्ति-निमित्तत्व-स्वीकारेऽपि क्षति विरहात्। —शरीरवाद।

चेतन में कारण या कार्यत्व का उत्कृष्ट गुण उत्पन्न होता है। जब ब्रह्म कारण ना जाता है तब वह (कारणत्व) जीव जीव और जड की सूक्ष्मावस्था से ब्रह्म के म्बन्ध मे समझा जा सकता है और उसकी नाना जगत् के रूप में परिणामावस्था, सूक्ष्म था के स्थूल परिणाम के रूप मे तथा जीवों के कर्म और पुनर्जन्म द्वारा पूर्णता को हुंचने के प्रयास के रूप मे समझा जा सकता है। जड और जीव के सम्बन्ध से हित, ब्रह्म स्वयं न कारण और न कार्य कहा जा सकता है। उसे, जीव और जड ो कार्य और कारणावस्था के सम्बन्ध में ही कारण और कार्य माना जा सकता है। सलिए ये ईश्वर के शरीर कहलाते हैं क्योंकि वे अपनी ही अवस्थाओं द्वारा ब्रह्म को ारण और कार्य के रूप मे प्रतिबिम्बित करते हैं।

परिभाषा मे और भी इस प्रकार परिवर्तन की आवश्यकता है, क्योंकि शरीर का *यमन वह सम्बन्ध है जो किसी काल मे न होता हो ऐसा नहीं है।* यह सम्बन्ध पृथक सिद्ध नहीं है किन्तु वह जीव और शरीर का व्यावर्तक गुण है अर्थात् जहाँ क दोनों सत्ता रखते हैं वहा तक नियामक और नियन्त्रित का सम्बन्ध रहता ही है यावत्सत्वमसम्बन्धनाथयो रेवापृथकसम्बन्धा भ्युपगमात्)।[1] इस प्रकार मुक्त जीव के ो शरीर है और ऐसा माना जाता है कि मृत्यु के बाद जीव से सम्बन्धित शरीर नष्ट ो जाता है, तथाकथित मृत शरीर वह नहीं है जिसके साथ जीव का सम्बन्ध था।[2] न्तु फिर आक्षेप किया जा सकता है कि जीव का गाढ सम्बन्ध होने से, वह शरीर : कार्य और प्रयत्नों को निश्चित करता है, इसलिए जीव (आत्मा) शरीर का शरीर हा जा सकता है। इस आक्षेप का निवारण करने के लिए परिभाषा मे फिर रिवर्तन किया जाता है ज्ञान उत्पन्न करने के सम्बन्ध में, कारणत्व या कार्यत्व को श्चित करने वाला अपृथक सम्बन्ध ही केवल शरीर की उपाधि कही जा सकती है। हने का तात्पर्य यह है कि शरीर आत्मा से अपृथक रूप से सम्बन्धित होते हुए, ज्ञान त्पन्न कराता है, और यही शरीर का व्यावर्तक धर्म मानना चाहिए।[3] शरीर की

---

[1] शरीरवाद (हस्त०) पृ० ८।

[2] मृत शरीरस्य जीव-सम्बन्ध रहिततयापि अवस्थान दर्शनेन यावत्सत्वम् असम्बन्धा महत्वविरहादिति चेत् न पूर्वशरीरतयावस्थितस्य द्रव्यस्य चेतना वियोगान्तरक्षणे एव नाशाभ्युपगमेन अनुपपत्ति विरहात् —वही।

[3] स्वचेतरीत्व हि तन्निष्ठातिशयाधायकत्व प्रकृते चतन्निष्ठातिशय कार्यत्व-कारणत्वा न्यतरस्यो ज्ञानावच्छिन्नानुयोगिताका पृथक सिद्धि सम्बन्धा वच्छिन्न कार्यत्व कारणत्वा न्यतरावच्छेदकत्व शरीरपद प्रवृत्तिनिमित्तम् इत्यर्थ। वही।

जीव और जड की सूक्ष्मावस्था से युक्त ब्रह्म कारण है और जड और जीव की स्थूलावस्था से युक्त ब्रह्म कार्य है। *जड और जीव की स्थूल सूक्ष्मावस्था इस*

यह परिभाषा याय से भिन्न है जिसमे शरीर का चेष्टा, इन्द्रिय और भोग का आश्रय माना है।[1] क्योकि ऐसी परिभाषा मे जबकि शरीर का दूर सीमान्त मे भी व्यापार हो सकता है, जिससे जीव की मूल इच्छा का निकट आश्रय (आधार) न हो, इसलिए आश्रय (आधार) के विचार का इतना विस्तृत करना पडेगा कि जिससे सुदूरवर्ती अगो का उन अगो से सम्बन्ध समाविष्ट हो सके जो जीव से प्रेरित किए गए थे। परोक्ष सम्बन्ध के इस सिद्धान्त का विस्तार करते हुए, हाथ मे पकडी हुई वस्तु की क्रिया को भी इसमे समावेश किया जा सकता है और इस दशा मे बाह्य वस्तु भी शरीर कहा जा सकता है जो असम्भव है। नयायिक इसके बचाव मे, समवाय सम्बन्ध को लाते हैं जिसके द्वारा शरीर के अग, दूसरी वस्तुओं की अपेक्षा, भिन्न रूप से आपस में सम्बन्धित हैं। किन्तु यह पहले ही कहा जा चुका है कि रामानुज मत में समवाय नही माना गया है।

ब्रह्मन् प्रकृति और जीवरूप शरीर द्वारा, जगत् का उपादान कारण माना जा सकता है। जिस प्रकार व्यक्तिगत जीव, अपने कर्मों द्वारा, सुख दुःख का निमित्त कारण है, ठीक उसी प्रकार, ब्रह्म उपादान का कारण होते हुए भी निमित्त कारण हैं, और कर्म जीव मे होने से जीव उपादान कारण है। दूसरी ओर ईश्वर स्वय शरीर से पृथक, नित्य अपरिणामी माना जा सकता है। इस प्रकार, इन दो दृष्टि-कोणों से, ईश्वर उपादान एव निमित्त कारण माना जा सकता है और अपरिणामी कारण भी माना जा सकता है।

भास्कर और उनके अनुयायी मानते हैं कि ब्रह्म मे दो अश हैं चिदश और अचिदश वह अचिदश द्वारा परिणत होकर अचिद् परिणामो की उपाधियो से कर्म चक्र मे प्रवृत्त होता है। भास्कर ऐसा मानता है कि उपाधियाँ, ब्रह्म के अग हैं, और प्रलयावस्था मे भी वे सूक्ष्म रूप से रहती हैं और उपाधियाँ, जो ब्रह्म को मर्यादित करती हैं वे केवल मुक्तावस्था मे ही ब्रह्म मे लय होती हैं। वेंकटनाथ सोचते हैं उपाधि के प्रत्यय द्वारा स्पष्टीकरण अनर्थ उत्पन्न करता है। यदि उपाधि सयोग से जीव को बनाती है तो फिर जबकि वे सब ईश्वर से सम्बन्धित हैं, तो ईश्वर को भी मर्यादित करेगी। यदि उपाधि का घटाकाश और मठाकाश की उपमा से समझा जाय, जहाँ आकाश निरन्तर रहता है और घट इत्यादि उपाधियुक्त पदार्थों की हलचल से ही उनम

प्रकार ब्रह्म की कारण एव कार्यावस्था निश्चित करती है। सूक्ष्म चिच्चिद्वि-शिष्ट ब्रह्मण कारणत्वात्स्थूलचिदचिद्विशिष्टस्य च तस्य कार्यत्वात् ब्रह्म निष्ठ-कार्यत्व कारणत्वा यतरावच्छेदकत्वस्य प्रपच सामान्ये सत्वात्।

—वही।

[1] चेष्टेन्द्रियार्थाश्रय शरीरम्। —न्यायसूत्र १ १ २।

आकाश मर्यादित दीखता है, तब मुक्ति और बन्धन का प्रश्न ही नहीं उठ सकता। उपाधि के प्रत्यय को आधार और आधेय की उपमा से भी नहीं समझाया जा सकता, जैसेकि घडे मे पानी, क्योकि ब्रह्म निरन्तर और अविकल होने से, वह निरर्थक ठहरेगी। उपाधियां जीव का निर्माण नही कर सकती क्योकि वे भौतिक हैं। यादव प्रकाश मानते हैं कि ब्रह्म सर्वात्मक सद्रूप है जिसमे चेतना, जड और ईश्वर रूप तीन शक्तियाँ हैं और वह इन शक्तियो द्वारा अनेक परिणाम करता है जो सागर मे फेन, तरग इत्यादि की तरह, उसमे समाए हुए है और एक भी हैं। वेंकटनाथ कहते है कि जगत् को इन अस्थिर दृष्टिकोणो से समझाने के बजाय, शास्त्र का अनुसरण करना उत्तम है कि ब्रह्म शरीर द्वारा इन परिणामो से सम्बन्धित है। ईश्वर, जगत् और चैतन्य शुद्ध सत्ता के भासमान परिणाम हैं, जसाकि कात्यायन कहते हैं, यह मानना भी गलत है।[1] क्योकि शास्त्र निश्चित रूप से कहते है कि ईश्वर और अपरिणामी ब्रह्म एक ही हैं। यदि परिणाम, ब्रह्म की शक्तियों के परिणाम द्वारा होता है तो ब्रह्म जगत् का उपादान कारण नही हो सकता और न ये परिणाम, ब्रह्म की रचना ही कही जा सकती है। यदि ऐसा कहा जाता है कि ब्रह्म अपनी शक्ति से भिन्न और अभिन्न दोनो ही है, तो ऐसा मत जैन सिद्धान्त की तरह सापेक्ष बहुत्ववाद जैसा होगा। आगे एक और मत है कि ब्रह्म अपने शुद्ध स्वरूप से यह जगत्, जीव और ईश्वर है यद्यपि ये भिन्न है और यद्यपि ब्रह्म का शुद्ध स्वरूप उनमें समान एव योग्य प्रकार से स्पष्ट नहीं प्रकट होता। वेंकटनाथ कहते हैं कि ऐसा मत अनुभव एव शास्त्र विरुद्ध है। पुन और एक मत है जिसके अनुसार ब्रह्म चित् और आनन्द का सागर है और स्वानुभव आनन्द से वह अनेक रूप में परिणत होता है वह एक छोटे अश को जड बनाता है और उसके विकारो मे चिदश प्रेरित करता है। इस प्रकार, ब्रह्म अनेक मर्यादित जीवो के रूप मे परिणाम पाता है जो सुख दुख अनुभव करते हैं और यह सारा भ्रम उसके लिए आनन्द का स्रोत हो जाता है। यह कोई दुर्लभ घटना नही है कि कुछ लोग अपने को दुखी कर आनन्द लेते हैं। अवतार का प्रसग इस विषय का समर्थन करता है, नहीं तो, वे अपनी स्वेच्छा से सुख दुख अनुभव करते हैं यह निरर्थक ठहरेगा। वेंकटनाथ कहते हैं कि यह मत पूर्णरूप से खोखला है। ऐसे कुछ मूर्ख ही हो सकते हैं जो दुख पूर्ण कर्मों को भूलकर उन्हे सुख के स्रोत समझें। किन्तु यह तो कल्पनातीत है कि ब्रह्म, जो सव शक्तिमान् और सर्वज्ञ है ऐसा कार्य करे जिससे उसे तनिक भी दुख और वेदना हो। एक ही व्यक्ति की वेदना पर्याप्त पाप है और जगत् के समस्त जीवो की वेदना अति असह्य होगी। इसलिए ब्रह्म अपनी स्वेच्छा से इन सब दुखो

---

[1] ईश्वर व्याकृत प्राणे विराट सिन्धु रिवो मिमि।
यत् प्रनृत्य दिवा भाति तस्मै सद् ब्रह्मणे नम।
—सर्वार्थ सिद्धि मे उद्धत कात्यायन कारिका।

को हुए बिना क्यो उठाना पसद करेगा ? अवतार काय को तो रग भूमि पर नाटक के रूप मे ही समझना चाहिए। आगे, यह मत शास्त्र प्रमाण को बाधित करता है। वेंकटनाथ सोचते हैं उनके सप्रदाय का मत इन सब आक्षेपो से मुक्त है क्योकि जीव और ब्रह्म न तो केवल अभिन्न ही है और न अभेद में भेद है कि तु वह द्रव्य गुण का सम्ब ध है। गौण तत्व के दोष द्रव्य को प्रभावित नहीं करते और न उनका सबध द्रव्य रूपी ब्रह्म को दूषित कर सकता है, क्योकि सम्ब ध कर्माश्रित हैं।[1]

धम पक्ष मे वेंकटनाथ, पचरात्र ग्रथो मे विस्तार से कहे गए सभी प्रमुख धार्मिक मतो को मानते हैं। ईश्वर सवज्ञ, सव शक्तिमान् और पूर्ण है। वह आप्तकाम है इसका अथ यह है कि उसमे कोई इच्छाएँ नही हैं। अथ यह है कि उसकी इच्छाएँ निराशा उत्पन्न नही करती और उसके नियत्रण में है। हम जिन्हें पाप और पुण्य कहते हैं वे भी उसकी कृपा और रोष से होते हैं। उसका रोष दुःख या वेदना नही लाता। रोष का केवल अथ यह है कि ईश्वर की अभिवृत्ति हमे दण्ड देने की है या वह हम पर कृपा न करने की है।[2]

शास्त्रोक्त विधि उसकी आज्ञाएँ हैं। कम और उनके फल के बीच अदृष्ट का अपूव जैसा कोई साधन नही है, जो कम समाप्त होने पर बना रहता है और कम के फल देता है। ईश्वर ही एक निरतर सत्ता है वह हमारे कर्मों से खुश है या रुष्ट है और वह अपनी इच्छानुसार कम फल देता है।[3] शास्त्र केवल इतना ही बताते हैं कि कौन से कम उसे रुचते हैं और कौन से उसकी आज्ञा के विरुद्ध हैं। यज्ञ का उद्देश्य ईश्वर की पूजा है और इन यज्ञ मे जिन देवताओ की पूजा होती है वह ईश्वर स्वय के भिन्न नाम हैं। इस प्रकार इस मत में, सारे धम और नीति को, ईश्वर की आज्ञा और उसकी पूजा का रूप दिया गया है। ईश्वर ही की कृपा से जब किसी की बुद्धि विशद हो जाती है तो उसे मुक्ति मिलती है, और ईश्वर के अनन्त स्वरूप के निरन्तर अनुभव से वह आनन्द के सागर म डूबा रहता है जिसकी तुलना में सासारिक सुख

---

[1] अस्मन्मते तु विशेषणगता दोषा न विशेष्य स्पृशन्ति ऐक्य भेदाभेदागीकारात्, अकमवश्य-ससगज दोषाणामसम्भवाच्च।

—तत्वमुक्ताकलाप, पृ० ३०२।

[2] आप्तकाम शब्दस्तावदीप्सितुरेष्टव्याभावमिच्छा राहित्य वा न ब्रूते-इष्ट सवमस्य प्राप्त एव भवतीति तात्पय ग्राह्यम् सर्व कार्य विषय प्रतिहतान्याधीने चावान् ईश्वर, जीवस्तु न तथा।

—वही पृ० ३८६।

[3] ततत्कर्माचरण-परिणतेश्वर बुद्धि विशेष एव अदृष्टम्।

—वही पृ० ६६५।

दु खरूप हैं।[1] मनुष्य अपने प्रयासा से पुण्यशील या अधर्मी नहीं बन सकता किन्तु ईश्वर अपनी खुशी और रोष से मनुष्य का धर्मी और अधर्मी बनाता है, और तदनुसार प्रतिफल या दण्ड देता है और पाप और पुण्य जसाकि कहा गया है मनुष्य के आत्मीय गुण नही है किन्तु ईश्वर के ही भाव प्रदर्शित करते हैं कि वह खुश है या रुष्ट। जिन्हें वह ऊपर उठाना चाहता है उनसे उच्च कम कराता है और जिन्हें नीचे गिराना चाहता है उनसे पाप कम कराता है। अतिम चुनाव और निणय उसी के हाथ में है, मनुष्य उसके हाथो मे साधन मात्र है। मनुष्य के कम स्वय फल नहीं दे सकते, किन्तु अच्छे और बुरे फल ईश्वर की खुशी और रोष के अनुसार होते हैं।[2]

शकर मत का द्वन्द्वात्मक तर्कानुसार खण्डन

जिन पाठका ने अभी तक इस पुस्तक का अनुसरण किया है उन्हें पता चला होगा कि श्री वैष्णव सप्रदाय के विरुद्ध मुख्य विरोधी शकर और उनके अनुयायी थे। दक्षिण भारत मे श्री वैष्णव, शैव और जैन मत के और भी विरोधी थे। श्री वैष्णव, शव और जैन मत मे परस्पर एक दूसरे का उत्पीडन एक साधारण ऐतिहासिक वृत्तान्त है। किसी स्थानीय शासक या आचाय के प्रभाव से एक धम से दूसरे धम मे परिवतन करना भी होता रहता था। नारायण विष्णु या कृष्ण की, शिव से श्रेष्ठता तथा शिव की नारायण इत्यादि से श्रेष्ठता सिद्ध करने वाले अनेक ग्रन्थ रचे गए। *माधव और उनके अनुयायी भी श्री वैष्णव सप्रदाय के विरोधी थे, किन्तु कुछ लोग* माधव के दशन को श्री वैष्णव सप्रदाय के लगभग निकट मानते थे, किन्तु लोग माधव के मत का बलपूवक खण्डन करते थे और महाचार्य का 'पाराशय विजय' और परकाल यति का विजयी द्र पराजय' नामक ग्रन्थ माधव के विरुद्ध इस विवाद के दृष्टान्त के रूप मे दिए जा सकते हैं। श्री वैष्णवा ने भास्कर और यादव प्रकाश के मतो का खण्डन किया। उदाहरण के तौर पर, रामानुज का वेदाथ सग्रह या वेंकटनाथ का 'वादित्रय खण्डन के नाम दिए जा सकते हैं। किन्तु श्री वैष्णव सप्रदाय के मुख्य विरोधी शकर और उनके अनुयायी रहे। 'शत दूषणी एक प्रकार वितण्डावादी ग्रथ है, जिसम वेंकटनाथ शकर मत का खण्डन करने का भरसक प्रयत्न करते हैं। यह ग्रथ सौ विवाद ग्रस्त विषयो पर आधारित है जो अपने नाम से ग्रन्थ का अभिप्राय स्पष्ट करता है। किन्तु मूल ग्रथ जो श्री सुदशन प्रेस काजीवरम् से छपा है उसम केवल

---

[1] *तत्व मुक्ता कलाप पृ० ६६३ ४।*

[2] स एवैनं भूतिं गमयति स एन प्रीत प्रीणाति एष एव साधु कम कारयति त क्षिपामि अजस्र अनुमानित्यादिभि प्रमाणशत ईश्वर प्रीति कोपाभ्या रव धर्माधम-फल प्राप्तिरव गम्यते। —वही पृ० ६७०।

६६ विवादग्रस्त विषय हैं यह इस लेखक को हस्तलिखित ग्रन्थ से पता चलता है। छपी हुई प्रति में, वाधूल श्री निवास के शिष्य, महाचार्य या रामानुज दास की टीका है। किन्तु ग्रन्थ ६६ विवाद विषय पर पूर्ण होता है और दूसरी दो टीकाएँ भी खो गई लगती हैं। छपी पुस्तक में दो और विवाद के विषय हैं ६५ और ६६ जिनकी टीका उपलब्ध नहीं है और ग्रन्थ के सम्पादक पी० बी० अनन्ताचार्य कहते हैं कि ग्रन्थ ६६वें विवाद पर पूर्ण हुआ है (समाप्ता च शतदूषणी)। यदि सम्पादक का कथन प्रामाणिक माना जाय तो यह मानना पड़ता है कि 'शत दूषणी' में प्रयुक्त शत शब्द बहुवाचक आशय रखता है सौ नहीं। यह अनुमान करना कठिन है कि शेष ३४ खण्डन वेंकटनाथ ने लिखे थे और अब खो गए हैं या उन्होंने केवल ६६ विवाद विषय लिखे, जो अब उपलब्ध हैं। इसमें से बहुत में कोई नया विचार नहीं मिलता और बहुत से विषय केवल सैद्धान्तिक एवं साम्प्रदायिक हित की दृष्टि से लिखे गए हैं उनमें से दार्शनिक एवं धार्मिक प्रश्न कुछ भी नहीं है इसलिए, उन्हें यहाँ त्याग दिया गया है केवल ६१ विवाद विषय ही दिए हैं। ६२वें विषय में, शंकर वेदान्त द्वारा, शूद्रों को ब्रह्मज्ञान से वर्जित करने को अयुक्त बताया है। ६३ में, अधिकार विवेक की चर्चा की है, ६४ में शंकर मत के संन्यासियों के पहनावे और सम्प्रदाय चिह्न को अयुक्त बताया है। ६५ में विशेष वर्ग के संन्यासियों से सम्बन्ध रखने का निषेध किया है। ६६ में यह बताया है शंकर मत की ब्रह्मसूत्र से एकवाक्यता नहीं हो सकती।

पहला आक्षेप

निर्गुण ब्रह्म, इस बात का संतोषजनक स्पष्टीकरण नहीं कर सकता कि ब्रह्म शब्द किस प्रकार, उचित रूप से निर्गुण पदार्थ को निर्दिष्ट कर सकता है। क्योंकि यदि वह निर्गुण है तो वह ब्रह्म शब्द द्वारा प्रधान अर्थ में या लक्षणों द्वारा निर्दिष्ट नहीं किया जा सकेगा। यदि वह प्रधान अर्थ में निर्दिष्ट नहीं कर सकता, तो दूसरे अर्थ में भी असम्भव है मुख्य अर्थ का जब कुछ अंश असम्भव होता है तभी लक्षणा उपयुक्त होती है। यह शास्त्र प्रमाण से भी जानते हैं कि ब्रह्मन् शब्द, प्रधान अर्थ में, अनन्त श्रेष्ठ गुणयुक्त महान् सत्ता के लिए प्रयुक्त किया गया है। बहुत से मूल पाठों में निर्गुण अंश का उल्लेख है इस आक्षेप के रूप में नहीं रखा जा सकता, क्योंकि इन्हें दूसरे अर्थ में भी समझाया जा सकता है और यदि कोई शंका उत्पन्न भी होती है तो प्रतिवादी इस तथ्य का दुरुपयोग नहीं कर सकता है कि ब्रह्म निर्गुण है। यह कहना भी कठिन है कि ब्रह्मन् शब्द केवल लक्षणा द्वारा ही शुद्ध ब्रह्म को ही लक्ष्य करता है, क्योंकि शास्त्र कहते हैं कि ब्रह्म शब्द के अर्थ का अनुभव साक्षात् अपरोक्ष होता है। इसलिए ब्रह्म के विषय में प्रतिवादी के मत से ब्रह्म शब्द निरर्थक हो जायगा।

दूसरा आक्षेप

शंकर मतवादियों के अनुसार ब्रह्म के निर्गुण अर्थ में ब्रह्म के विषय में कोई

जिनासा नहीं की जा सकती। शकर कहते हैं कि ब्रह्म, सामान्य रूप से हमारी आत्मा के रूप मे जाना जाता है, ब्रह्म की जिज्ञासा उसके विशेष स्वरूप के लिए होती है, अर्थात् वह चेतनायुक्त शरीर है, महेश्वर है या शुद्धात्मा है या अन्य कोई वस्तु है जिसके बारे मे मतभेद है। वेंकटनाथ आग्रहपूर्वक यह कहते हैं कि यदि ब्रह्म की स्ववेद्यता अनादि है तो वह हमारी जिज्ञासा पर आश्रित है और वह काम होगा और इस अर्थ मे ब्रह्म साक्षात्कार एक काम होगा, जो निश्चित रूप से शकर के आशय से विरुद्ध है। इस प्रकार ब्रह्म के सामान्य एव विशिष्ट स्वरूप के विषय मे जिज्ञासा, अपने सच्चे स्वरूप के लिए नही हो सकती। यदि इसलिए शकर मतवादी यो कहे कि यह जिज्ञासा ब्रह्म के सत्य स्वरूप के विषय म नहीं है, किन्तु उपहित ब्रह्म के विषय म है, तो फिर इस जिज्ञासा से प्राप्त ज्ञान भी भ्रमरूप होगा और ऐसे मिथ्या ज्ञान से कोई लाभ न होगा। पुन जब ब्रह्म अविकल और स्वय वेद्य है, तो उसे सामान्य या विशिष्ट रूप से जानने में कोई सार नहीं है, क्योकि इसम ऐसा भेद माना नहीं जा सकता। वह या तो पूर्ण रूप से जाना जायगा या सर्वथा नही जाना जायगा, इसमें अश का भेद नही किया जा सकता जिससे ज्ञान की भिन्न कक्षाओं (स्तर) को अवसर मिले। जिज्ञासा से तात्पर्य ही यह है कि वस्तु सामान्य रूप से जानी गई है किन्तु उसे और विस्तृत रूप मे जानना है, क्योकि शकर का निर्गुण अखड ब्रह्म ऐसी जिज्ञासा का विषय नही हो सकता, इसलिए ऐसे ब्रह्म की खोज भी नही हो सकती। जिज्ञासा सगुण विषय के बारे म ही हो सकती है, जिसका सामान्य या विशिष्ट ज्ञान शक्य है। शकर मतवादी न्याय दृष्टि से यह आग्रह नहीं कर सकते कि उनके मत मे सामान्य और विशेष गुणो का भेद शक्य है क्योकि यह समर्थन किया जा सकता है कि यद्यपि ब्रह्म सामान्य रूप से जाना जा सकता है, तो भी उसे माया प्रपच से भिन्न स्वरूप से जानने को अवकाश रहता है, जबकि ब्रह्म म कोई विशिष्ट स्वरूप नही है, इसलिए, उसे सामान्य रूप से नहीं जाना जा सकता (निर्विशेष सामान्य निषेध)। यदि यह आग्रह किया जाता है कि जगत् के मिथ्यात्व का ज्ञान ही ब्रह्म का ज्ञान है तो फिर वेदान्त और नागार्जुन के शून्यवाद मे कोई अन्तर न रहेगा।

तीसरा आक्षेप

इस आक्षेप म वेंकटनाथ, शकर के इस मत के विरुद्ध हैं कि ज्ञान कर्मातीत है, वह ज्ञान कर्म-समुच्चयवाद के सिद्धान्त के पक्ष में बहुधा दोहराए गए तर्क देते हैं।

चौथा आक्षेप

वेंकटनाथ कहते हैं कि सारे भ्रम और मूल, जगत् प्रपच मिथ्या है, इस ज्ञान से दूर नही हो सकते। शास्त्रोक्त कर्म, परम ज्ञान प्राप्त होने पर भी, अनिवार्य रूप से आवश्यक हैं। यह पीलिया से पीडित रोगी के दृष्टान्त से स्पष्ट हो जाता है। पीलापन भ्रम है इस ज्ञान मात्र से पीला देखना नष्ट नही होता, औषधि सेवन से ही वह नष्ट

होगा। चरम मुक्ति, महान् देव-ईश्वर की आराधना और भक्ति से प्राप्त हो सकती है, केवल दार्शनिक ज्ञान के प्राकट्य से नहीं मिल सकती। यह भी असम्भव है कि अद्वैत ग्रंथ के श्रवणमात्र से मुक्ति मिल सकती है यदि ऐसा होता तो शंकर स्वय मुक्त हो गए होते। यदि वे मुक्त थे तो वे ब्रह्म से एकरस हो गए होते और वे अपने शिष्यो को अपने मत का उपदेश कर नहीं सकते थे। अद्वैत ग्रंथो का अर्थ ग्रहण साक्षात्कार है, यह मत भी अमान्य है, क्योंकि हमारा साधारण अनुभव बताता है कि शास्त्र ज्ञान, शब्द ज्ञान है और इसलिए वह साक्षात् और अव्यवहित नहीं कहा जा सकता।

पाँचवा आक्षेप

शंकराचार्य का उपरोक्त आक्षेप पर यह उत्तर है कि यद्यपि समस्त पदार्थों का आत्मा से तादात्म्य का चरम ज्ञान प्राप्त हो जाने पर भी जब तक यह शरीर नष्ट नहीं होता तब तक जगत् प्रपच का भ्रम कायम रहता है। वेंकटनाथ पूछते हैं कि यदि सत्य ज्ञान से अविद्या नष्ट हो जाती है तो फिर जगत् किस प्रकार बना रहता है? यदि ऐसा कहा जाय कि अविद्या के नष्ट हो जाने पर भी वासनाए रह सकती हैं तो उसका उत्तर दिया जा सकता है कि यदि वासनाए अस्तित्व रख सकती हैं तो अद्वैतवाद का स्वत खण्डन हो जाता है। यदि वासना ब्रह्म का अंग है तो वह उनके सम्बध से दूषित हो जायगा। यदि वासना अविद्याजनित है तो उसे अविद्या के साथ नष्ट हो जाना चाहिए। अविद्या नष्ट होने के बाद भी यदि वासना पुन रहती है तो उसे किस प्रकार नष्ट किया जायगा? यदि वह अपने आप नष्ट हो जाती है तो फिर अविद्या भी अपने आप नष्ट हो सकती है। इस प्रकार, अविद्या के नाश और ब्रह्म ज्ञान की प्राप्ति के बाद, वासना तथा तज्जनित जगत् प्रपच के रहने का कोई कारण नहीं है।

सातवा आक्षेप

शंकर और उनके अनुयायी कहते हैं कि वेदान्त उपदेश के श्रवण के योग्य अधिकारी के चित्त म अद्वैत ग्रथ के कथन मात्र स साक्षात् और अचिर ही परमज्ञान उत्पन्न हो जाता है। अद्वैत ग्रन्थो के श्रवण म, आत्मा ही ब्रह्म है, यह ज्ञान साक्षात् और अचिर उत्पन्न होता है यह मानना ही पडेगा क्योंकि दूसरा और कोई रास्ता ही नहीं है जिससे इसे समझाया जा सके। इस पर वेंकटनाथ कहते हैं कि यदि शब्द श्रवण की साधनता मात्र से ही साक्षात् ज्ञान होता है इसे अद्वैत ग्रन्थो के आशय को अनुभव करने का एक विशिष्ट दृष्टान्त माना जाता है, क्योंकि ब्रह्म ज्ञान प्राप्त करने का और कोई मार्ग नहीं है तो अनुमान और अन्य शब्दो का ज्ञान भी साक्षात् अनुभव प्राप्त करा सकता है क्योंकि उन्ह भी, उसी प्रकार शुद्ध ज्ञान को प्रकट करने का कारण माना जा सकता है। इसके अतिरिक्त, यदि शब्द ज्ञान के कारण विद्यमान है तो उसके द्वारा जनित ज्ञान को किस प्रकार रोका जा सकता है, कारणो के समाहार से साक्षात् अनुभव किस प्रकार उत्पन्न किया जा

सकता है, जब वे उसे कभी उत्पन्न नहीं कर सकते। किसी विशेष समय में प्राप्त हुआ ज्ञान जो एक व्यक्तिगत चैतन्य का प्रकटीकरण है उसे सभी पुरुषों और सभी काल के ज्ञान से अभिन्न है, ऐसा नहीं माना जा सकता और इसलिए ऐसे ज्ञान को अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न करने वाला भी नहीं माना जा सकता। यदि ऐसा माना जाता है कि जो कुछ, चैतन्य का, विशिष्ट प्रकार से ज्ञान कराता है उससे अतिरिक्त, शुद्ध चैतन्य का अनुभव कराने वाला अन्य कोई कारण नहीं है तो यह सभी प्रमाणों के विषय में भी उपयुक्त होगा, इसलिए अद्वैत ग्रन्थों के विषय को ऐसा एकीकृत अधिकार नहीं दिया जा सकता जो अनुमान और शब्द के विषय नहीं माने जाय, यह असम्भव है। 'तुम दसवें हो' इस वाक्य के दृष्टान्त में, यदि जिस व्यक्ति को यह निर्देश किया गया वह जान जाय कि वह दसवां है तो ऐसे वाक्य के अर्थ की समझ केवल उसे पहले जो अनुभव हुआ उसी की पुनरावृत्ति होगी, यदि वह यह नहीं समझा कि वह दसवां है तो उसे इस वाक्य द्वारा कहा गया सत्य जिसका सज्ञापन शाब्दिक अभिव्यक्ति से किया गया है, साक्षात् अपरोक्ष नहीं कहा जा सकता। यहाँ इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि ज्ञान का विषय वही रह सकता है, तो भी जिसके द्वारा ज्ञान दिया गया है, उसके कारण भिन्न हो सकते हैं। इस प्रकार, वही विषय कुछ अंश में प्रत्यक्ष रूप से और कुछ अंश में अप्रत्यक्ष रूप से जाना जा सकता है। पुनः ब्रह्म का साक्षात् अनुभव होता है इसे माना जा सकता है किन्तु इसका तत्वमसि आदेश से प्रथम बार ग्रहण होना शब्द ज्ञान है और दूसरे क्षण में साक्षात् और अपरोक्ष अनुभव होता है। यदि प्रथम ज्ञान साक्षात् और अपरोक्ष न माना जाय, तो फिर दूसरा क्या माना जाय ? पुनः शंकर का यह कहना कि जगत् प्रपंच के मिथ्या ज्ञान का विनाश किसी अन्य प्रकार से नहीं समझाया जा सकता, इसलिए अद्वैत ग्रन्थों द्वारा प्राप्ति या ज्ञान अपरोक्ष मानना चाहिए क्योंकि मिथ्यात्व का सत्ता के साक्षात् और अपरोक्ष अनुभव से निरास होता है। किन्तु जगत् मिथ्या नहीं है यदि इसे मिथ्या इसलिए माना जाता है कि वह जाना जा सकता है फिर तो ब्रह्म भी ज्ञेय है अतः मिथ्या हो जाएगा। यदि पुनः जगत् प्रपंच मिथ्या माना जाता है तो उसे सच्चे ज्ञान से नष्ट होने के लिए कहने में कोई अर्थ नहीं है क्योंकि जो कभी सत् न था उसे नष्ट भी नहीं किया जा सकता। यदि यह कहा जाता है कि जगत् प्रपंच नष्ट नहीं होता किन्तु उसके ज्ञान का अन्त होता है तो यह बताया जा सकता है कि मिथ्या ज्ञान का, मानसिक स्थिति के परिवर्तन से भी अन्त हो सकता है जैसेकि गाढ निद्रा में मिथ्या रजत का भ्रम चला जाता है या उसे अनुमान इत्यादि ज्ञान द्वारा हटाया जा सकता है। यह अनुमान आवश्यक नहीं है कि भ्रमयुक्त ज्ञान साक्षात् और अपरोक्ष ज्ञान द्वारा ही हटाया जाना चाहिए। पुनः यदि ऐसा माना जाता है कि जगत् प्रपंच के अन्त होने का अर्थ उसके कारण नष्ट होना है, तो उसका उत्तर यह है जबतक कि कारण स्वयं का किसी अन्य साधन द्वारा नाश नहीं करता, सत्ता का साक्षात् अनुभव असम्भव है।

जहा तक आँखो की पुतली पर अगुली का दबाव ह वही तक चद्रमा दो दीखेंगे। इसलिए जगत् प्रपच का मिथ्यापन साक्षात् अपरोक्ष ज्ञान से ही नष्ट होने की बात सोचना निरर्थक है। यदि जगत् प्रपच के मिथ्यापन का निरसन यही अर्थ रखता है कि उसे बोध करने वाले ज्ञान का उदय हुआ ह तो यह परोक्ष ज्ञान द्वारा भी किया जा सकता है जसाकि द्विचद्र दर्शन का मिथ्या ज्ञान दूसरे पुरुष की साक्षी से 'चद्र एक ही है' इससे निरास किया जा सकता ह किन्तु जगत् मिथ्या नही ह ऐसा ही नहीं है और इसलिए नष्ट नही हो सकता, किन्तु शब्द प्रमाण साक्षात् अनुभव दे सकता है यह नही माना जा सकता, यदि ऐसा वह कर भी सके, तो अन्य सहकारी उपाधियो का होना आवश्यक होगा, जैसेकि, चाक्षुप प्रत्यक्ष मे, अवधान, सतर्कता और अन्य भौतिक परिस्थितियाँ सहकारी उपाधियाँ मानी जाती हैं। इस प्रकार शाब्दिक ज्ञान ही केवल साक्षात् और अपरोक्ष अनुभव नही प्राप्त करा सकता। यह भी सोचना उचित नही है कि प्रत्यक्ष ज्ञान, अप्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा बाधित नही हो सकता, क्योकि यह प्रसिद्ध ही है कि दीये की शिखा की निरन्तरता के विचार का निषेध इस समझ से होता है कि शिखा निरन्तर नही हो सकती और ऐसा जो दीखता है वह वास्तव में क्रमबद्ध, भिन्न शिखाओ की परम्परा है। इस प्रकार अद्वैत ग्रन्थ के आशय का अनुभव, यदि साक्षात् अनुभव का कारण भी समझा जाय, तो भी यह विश्वास नहीं किया जा सकता कि वह अन्य ज्ञान द्वारा बाधित नही है।

दसवा आक्षेप

शुद्ध निर्विशेष चैतन्य की सत्ता का खण्डन करते हुए वेंकटनाथ आग्रह करते हैं कि यदि ऐसी वस्तु विद्यमान थी तो वह अपनी सत्ता अपने आप प्रकट नही कर सकती थी, क्याकि यदि वह प्रकट करती है तो वह अविकारी नही कही जा सकती, यदि वह सभी विशेषो का मिथ्यात्व स्थापित करती है तो ये विषय उसके अग होगे। यदि उसकी सत्ता अन्य प्रमाणो द्वारा प्रमाणित की जाती है तो वह स्वप्रकाश नही थी, तब पुन, यह पूछा जा सकता है कि यह शुद्ध चैतन्य किसे प्रकट करता है? शाकर मतवादियो का उत्तर है कि वह किसी व्यक्ति के सामने स्वय नही प्रकट करती, अनुभव उसकी सत्ता का ही होता है। किन्तु यह उत्तर सामान्यत अभिव्यक्ति शब्द से जो समझ मे आता है, उससे अपेक्षा कही दूर है, क्योकि अभिव्यक्त होना किसी व्यक्ति के लिए ही होना चाहिए। विशेष चैतन्य के विरोध म जो यह मुख्य आक्षेप है कि ऐसे चैतन्य का अनुभव नहीं हो सकता इसलिए उसकी श्रेष्ठता एव पूर्व अस्तित्व या विषयों को प्रकट करने का सामर्थ्य, जो उस पर थोपा जाता है वह भी मान्य नहीं हो सकता। गाढ निद्रा में आनन्द के अनुभव का दृष्टान्त निरर्थक है, क्योकि इस अवस्था म शुद्ध निर्विषय चैतन्य का अनुभव आनन्द के रूप म होता है तो किसी को आनन्द का स्वानुभव नहीं होगा, क्योकि वह निर्विषय नहीं कहलायगा। निद्रा से उठने के उत्तर काल

का अनुभव, द्रष्टा को यह नहीं बता सकता कि वह लम्बे समय तक निर्विषय चैतन्य का अनुभव करता रहा था, क्योंकि उसकी प्रत्यभिज्ञा नही है और प्रत्यभिज्ञा के तथ्य का तथाकथित निर्विषयता से समीकरण नही किया जा सकेगा।

ग्यारहवा आक्षेप

निर्विकल्प ज्ञान की सत्ता का खण्डन करते हुए वेंकटनाथ कहते हैं कि तथाकथित निर्विकल्प ज्ञान सविशेष पदार्थ को लक्ष्य करता है (निर्विकल्पक मपि सविशेष विषयकमेव)। इन्द्रिय सन्निकर्ष के पहले ही क्षण मे इन्द्रियों द्वारा, पदार्थ ही सारा, अपने विभिन्न गुणो सहित, ग्रहण होता है और यही उत्तरकाल म बुद्धि प्रत्यय के रूप मे विशद किया जाता है। निर्विकल्प अवस्था का मुख्य रूप यह है कि ज्ञान की उस अवस्था मे, पदार्थ के किसी पार्श्व या गुण पर बल नही दिया जाता। यदि ज्ञान के विषय सचमुच सविकल्प गुण नही जाने गए होते तो ज्ञान की उत्तर अवस्था मे वे कभी भी नही जाने जा सकेंगे और निर्विकल्प सविकल्प कोटि तक विकास नही कर सकेगा। लक्षण पहली अवस्था मे गृहीत होते हैं किन्तु ये लक्षण उत्तर काल मे ऐसे समान लक्षणो की स्मृति होने के कारण सविकल्प रूप धारण करते हैं। इस प्रकार शुद्ध निर्विकल्प पदार्थ, प्रत्यक्ष का विषय कभी भी नहीं हो सकता है।

बारहवा आक्षेप

शंकर मतवादियो का विवाद यह है कि प्रत्यक्ष साक्षात् शुद्ध सत्ता से सम्बन्धित है और पश्चात् वह अज्ञान से नाना रूप से सम्बन्धित हो जाता है, और इसी सम्बन्ध के द्वारा ही वे प्रत्यक्ष अनुभूत होते हैं ऐसा भासता है। वेंकटनाथ कहते हैं कि सत्ता और उसके गुण दोनो ही एक साथ इन्द्रिय प्रत्यक्ष होते हैं क्योंकि वे हमारे ज्ञान को निश्चित करने वाले पदार्थ के अग हैं। सामान्य भी हमारे साक्षात् ज्ञान के विषय हो सकते हैं जब ये सामान्य उत्तरकाल म आपस म एक दूसरे से विविक्त किए जाते हैं तभी भिन्न क्रिया वाले पृथक मानसिक व्यापारो की आवश्यकता रहती है। पुन, यदि प्रत्यक्ष निर्विकल्प सत्ता को ही लक्ष्य करता है, तो फिर विभिन्न पदार्थ और उनके आपस के भेद के अनुभव को कैसे समझाया जा सकेगा ?

तेरहवा आक्षेप

भेद को पदार्थ या धर्म के रूप म ग्रहण करना मिथ्या है शंकर मतवादियो के इस मत को खण्डन करते हुए वेंकटनाथ कहते हैं कि भेद का अनुभव सामान्य है, इसलिए उसे अस्वीकार नही किया जा सकता। अति विवादग्रस्त, भेद का अभाव भी भेद' से भिन्न है यह भेद के अस्तित्व को सिद्ध करता है। भेद को खण्डन करने का कोई भी प्रयत्न अभेद का भी खण्डन किए बिना नहीं रहेगा क्योंकि ये दोनो

सापेक्ष हैं और यदि भेद न हो, तो अभेद या तादात्म्य भी नहीं है। वेंकटनाथ आग्रहपूर्वक कहते हैं कि वस्तु अपने स्वयं से अभिन्न है, और अन्य से भिन्न है, और इस प्रकार भेद और अभेद दोनों को मानना पड़ता है।

चौदहवां आक्षेप

शंकर के अनुयायी कहते हैं कि जगत् प्रपंच ज्ञेय होने से रजत शख शुक्तिका की तरह मिथ्या है। किंतु जगत् मिथ्या है, इस प्रतिज्ञा का क्या अर्थ है? वह शशविषाण की तरह तुच्छ नहीं हो सकता क्योंकि यह अनुभव विरुद्ध है और शंकर के अनुयायी भी इसे स्वीकार नहीं करेंगे। दूसरा अर्थ यह भी नहीं हो सकता कि जगत् सत् और असत् दोनों से भिन्न है, क्योंकि ऐसा पदार्थ हमें मान्य नहीं है। यह भी अर्थ नहीं हो सकता कि जगत् सत्य दीखता है तो भी उसका निरास हो सकता है (प्रतिपन्नोपाधौ निषेध प्रतियोगित्वम्), क्योंकि इस निषेध का यदि आग निषेध नहीं है तो यह या तो स्वरूप से ब्रह्मरूप होगा और इसलिए जगत् प्रपंच की तरह मिथ्या होगा, या उससे भिन्न होगा। पहला विकल्प हमें इस अर्थ में स्वीकृत है कि जगत् ब्रह्म का अंश है। यदि जगत्-प्रपंच का निरास हो सकता है और यदि वह साथ ही साथ ब्रह्म से अभिन्न भी है तो निरसन स्वयं ब्रह्म पर भी लागू होगा। यदि दूसरा विकल्प देखा जाय तो उसकी सत्ता जबकि, निषेध (अभाव) की व्याख्या से अनुमित है तो उसे स्वयं अस्वीकार नहीं किया जा सकता। यह भी नहीं कहा जा सकता कि मिथ्यात्व का अर्थ, जगत् का एक वस्तु में जहाँ वह अस्तित्व नहीं रखती न दीखना भास होना है–(स्वात्यंता भावसमानाधिकरणतया प्रतीयमानत्वम्) क्योंकि जगत् का इस प्रकार से मिथ्यापन कि जहाँ वह प्रतीत होता है वहाँ वह नहीं है प्रत्यक्ष से समझा नहीं जा सकता, और यदि आधार का ही प्रत्यक्ष नहीं है तो फिर अनुमान असम्भव है। यदि सारे प्रत्यक्ष मिथ्या माने जाते हैं तो सारे अनुमान भी असम्भव हो जाएँगे। ऐसा कहा जाता है कि जगत् प्रपंच मिथ्या है क्योंकि वह परम सत्ता ब्रह्म से भिन्न है। वेंकटनाथ इसके उत्तर में कहते हैं कि वे जगत् को ब्रह्म से भिन्न स्वीकार करते हैं, यद्यपि वह ब्रह्म से पृथक नहीं हो सकता, और न वह स्वतंत्र सत्ता रख सकता है। इतने पर भी यह आग्रह किया जाता है कि जगत् मिथ्या है क्योंकि वह सत्ता से भिन्न है तो उत्तर यह है सत्ताएँ भिन्न भिन्न हो सकती हैं। यदि ऐसा माना जाता है कि ब्रह्म ही केवल सत्य है और उसका निषेध आवश्यक रूप से मिथ्या होगा, तो उत्तर यह है कि यदि ब्रह्म सत्य है और उसका निषेध भी सत्य है। वेंकटनाथ मानते हैं जगत् की सत्ता प्रमाण द्वारा सिद्ध की जा सकती है (प्रामाणिक)। सत्य रामानुज की व्याख्या के अनुसार व्यवहारोपयोगी है (व्यवहार योग्यता सत्वम्), और जगत मिथ्या है इस कथन का मिथ्यात्व जगत् की सत्यता के वास्तविक अनुभव से समझा जाता है। पुनः जगत् का मिथ्यात्व, न्याय प्रमाण द्वारा सिद्ध करने का प्रयत्न नहीं किया जा

सकता क्योंकि वे जगत् के अंतर्गत हैं और इसलिए वे स्वयं मिथ्या होंगे। पुनः यह कहा जाय कि ब्रह्म कुछ अर्थ में ज्ञेय है और उसी प्रकार जगत् भी, तर्क करने के लिए यह स्वीकार किया जा सकता है कि ब्रह्म परमार्थिक दृष्टि से ज्ञेय है, इसलिए जगत् उस दृष्टि से ज्ञेय नहीं है, क्योंकि यदि ऐसा है तो, शंकर मतवादी उसे मिथ्या नहीं कह सकते। यदि ऐसा है तो शंकर मतवादी कैसे तर्क कर सकते हैं कि जगत् मिथ्या है क्योंकि वह ज्ञेय है, उस प्रसंग मे ब्रह्म भी मिथ्या होगा ?

सोलहवां आक्षेप

पुनः ऐसा तर्क किया जाय कि जगत् के पदार्थ मिथ्या हैं क्योंकि यद्यपि सत्ता वही रहती है किन्तु उसके विषय सर्वदा बदलते रहते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि घड़ा है कपड़ा है किन्तु ये विद्यमान पदार्थ परिवर्तित होते रहते हैं सत्ता केवल अपरिवर्तित रहती है। अब यह प्रश्न किया जा सकता है, इस परिवर्तन का क्या अर्थ है ? इसका अर्थ तादात्म्य का भेद नहीं हो सकता, क्योंकि उस अवस्था में, ब्रह्म सभी पदार्थों से भिन्न होने से मिथ्या माना जा सकता है। यदि ब्रह्म, मिथ्या जगत् से अभिन्न माना जाय, तो ब्रह्म स्वयं मिथ्या होगा, या फिर जगत् प्रपंच, ब्रह्म से अभिन्न होने के कारण सत्य हो जायगा। देशिक व कालिक परिवर्तन मिथ्यात्व सिद्ध नहीं कर सकते रजत शंख शुक्ति मिथ्या नहीं है क्योंकि वह और कहीं विद्यमान नहीं है। ब्रह्म स्वयं, इस अर्थ मे परिणामी है कि वह असत रूप से विद्यमान नहीं है या एक पदार्थ के रूप में, जो न सत और न असत है। परिणाम यहाँ विनाश के अर्थ मे प्रयुक्त नहीं किया जा सकता, क्योंकि, जब रजत सीप का भ्रम जान लिया जाता है कोई ऐसा नहीं कहता कि रजत सीप का नाश हो गया। (बाध विनाशयोर्विविक्तेन यैव व्युत्पत्त)। विनाश मे वस्तु का लय हो जाता है जबकि बाधा या व्याघात, जो देखा था उसका अभाव है। घड़ा विद्यमान है कपड़ा विद्यमान है ऐसे वाक्यों मे, सत्ता, घड़े और कपड़े को विशेषित करती है किन्तु घड़ा या कपड़ा सत्ता को विशेषित नहीं करता। पुनः यद्यपि ब्रह्म सर्वत्र सत्ता रखता है फिर भी वह हममे घड़ा है या कपड़ा है' जैसे ज्ञान का उत्पन्न नहीं करता। पुनः सत्ता मे काल परिवर्तन ऐसी ही सत्ता पर आधारित है किन्तु वह किसी भी सत्ता को मिथ्या नहीं कर सकता। यदि किसी अप्रकट काल मे होना, मिथ्यात्व की कसौटी समझी जाती है तो ब्रह्म भी मिथ्या है क्योंकि वह भी मुक्ति के पहले अपने को प्रकट नहीं करता। यदि ऐसा कहा जाता है कि ब्रह्म सदा स्वप्रकाश है, किन्तु उसका प्रकट होना मुक्ति प्राप्ति तक किसी प्रकार छिपा रहता है तो यह भी बलपूर्वक कहा जा सकता है कि कपड़ा और घड़ा भी उसी प्रकार अव्यक्त रूप से प्रकट रहते है। यदि, प्रकाशन की नित्यता, या उसका अबाध स्वरूप उसकी सत्ता का माप नहीं माना जा सकता, क्योंकि उसकी निर्दोषता ही उसके प्रकाशन की नित्यता का कारण है और इसकी सत्ता के स्वरूप को निश्चित

करने से कोई सम्ब ध नहीं है । जबकि साधारण पदार्थ घडा कपडा इत्यादि किसी काल म अस्तित्व रखते दीखते हैं वे स्वप्रकाशता की अभिव्यक्ति हैं, इसलिए सत् हैं ।

विरोधी तक भी यहाँ दिए जा सकते हैं । ऐसा कहा जा सकता है कि जो मिथ्या नहा है उसकी निर तरता प्रकट होती है या वह परिवतनशील नहीं है । ब्रह्म मिथ्या है क्योंकि वह किसी के साथ रहकर निर तर नहीं है और सबसे भिन्न है ।

सत्रहवा आक्षेप

शकर मतवादी मानते हैं कि जबकि द्रष्टा और (दृश्य) दृष्ट के बीच सम्ब ध की सत्ता (चाह किसी प्रकार का हो) समझाना असम्भव है तो दृष्ट वस्तु या ज्ञान का अथ मिथ्या ही मानना पडता है । वेंकटनाथ इसके उत्तर मे कहते हैं कि जगत् का मिथ्यापन आवश्यक रूप से अर्थापत्ति के रूप म नहीं लिया जा सकता, क्योंकि द्रष्टा और दृष्ट के बीच सम्ब ध स्थापित करना दृष्ट को अस्वीकार करने से नहीं किन्तु स्वीकार करने स सम्भव है । फिर भी ऐसा कहा जाता है कि जबकि द्रष्टा और दृष्ट के बीच सम्ब ध, तक द्वारा तुच्छ सिद्ध किया जा सकता है तो आवश्यक अनुमान यह निकलता है कि दृष्ट वस्तु मिथ्या है । इस पर उत्तर यह है कि सम्ब ध का मिथ्यापन सम्बन्धित वस्तु का मिथ्यापन नहीं सिद्ध करता, शश और विषाण के बीच सम्ब ध अविद्यमान हो सकता है किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि शश और विषाण दोनो अविद्यमान हैं । इसी तक का आश्रय लेकर स्वय द्रष्टा का भी मिथ्या सिद्ध किया जा सकता है तो भी ऐसा विवाद किया जाता है कि द्रष्टा, स्वप्रकाश होने से स्वय वद्य है और इसलिए उसे मिथ्या नहीं कहा जा सकता तो उसका उत्तर यह है कि देखने की क्रिया का अभाव होने पर भी यदि द्रष्टा स्वप्रकाश माना जा सकता है तो फिर द्रष्टा ही जब नहीं स्वीकारा जाता है तो दृश्य को भी वसा ही मानने मे क्या हानि है ? फिर भी यदि, यह कहा जाता है कि वस्तु का ज्ञान, वस्तु स्वय की तरह स्वत सिद्ध नहीं माना जा सकता है तो प्रश्न किया जा सकता है कि चैतन्य को कभी स्वप्रकाश रूप देखा जाता है, यदि कहा जाता है कि चैत य का स्वप्रकाशत्व अनुमान द्वारा सिद्ध किया जा सकता है, तो प्रतिवाद म यह माना जायगा कि जगत का स्वप्रकाशत्व भी योग्य अनुमान द्वारा सिद्ध किया जा सकता है । पुन यह प्रश्न किया जा सकता है कि यदि शकर मतवादी, ब्रह्म का स्वप्रकाश स्वरूप अनुमान द्वारा सिद्ध करना चाहते हैं और उसकी विषयता (दृश्यत्व) अस्वीकृत होती है तो इस प्रकार उनकी मूल प्रतिज्ञा कि ब्रह्म किसी ज्ञान व्यापार का विषय नहीं हो सकता, विफल होती है ।

शकर मतवादी अवश्य ही यह विवाद कर सकते हैं कि रामानुज मतानुयायी भी मानते हैं कि पदार्थ आत्मा के ज्ञान द्वारा प्रकट होते हैं और इसलिए वे दृष्टा पर आश्रित है । इस विवाद का उत्तर यह है कि रामानुज मतानुयायी स्वचैतन्य के अस्तित्व को

मानते हैं, जिसके द्वारा ज्ञाता स्वयं ज्ञात होता है। यदि इस स्वचैतन्य को मिथ्या माना जाता है तो स्वयं प्रकाश आत्मा भी मिथ्या हो जायगी और स्वचैतन्य सत्य माना जाता है, तो उसके बीच सम्बन्ध भी सत्य है। यदि स्वप्रकाश चैतन्य का प्रत्यक्ष ज्ञान असम्भव माना जाता है फिर भी वह सत्य है तो उसी उपमान के आधार पर जगत के न दीखने पर भी उसका सत्य माना जा सकता है।

ज्ञाता ज्ञेय है वह मिथ्या है यह आक्षेप अमान्य है, क्योंकि ज्ञाता और ज्ञेय के बीच तक संगत रूप स सम्बन्ध सोचना कठिन है क्योंकि सम्बन्ध का तार्किक स्वरूप सोचना कठिन होने के कारण ही केवल, सम्बन्धित पदार्थ की सत्ता को अमान्य नहीं किया जा सकता, जबकि वह अविरोध रूप से अनुभव गम्य है। इसलिए सम्बन्ध किसी न किसी प्रकार मानना ही पड़ता है। यदि सम्बन्ध अनुभवगम्य होने से सत्य माना जाता है तो जगत भी सत्य है क्योंकि वह भी अनुभव गम्य है। यदि जगत मिथ्या है इसलिए वह समझ के बाहर है तो मिथ्यात्व भी समझ में न आने से मिथ्या ठहरेगा।

भूत और भविष्य के बीच कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता, यह आक्षेप आधाररहित है क्योंकि दो वस्तु वर्तमान समय में विद्यमान हैं इस तथ्य का यह अर्थ नहीं होता कि वे अवश्य ही सम्बन्धित है जैसे कि नाश और विषाण। यदि यह कहा जाता है कि वर्तमान काल में विद्यमान वस्तु आवश्यक रूप से सम्बन्धित नहीं है, यह सत्य हो सकता है तो भी कुछ ऐसे पदार्थ वर्तमान काल में हैं जो सम्बन्धित हैं, और ऐसी भी वस्तु वर्तमान में है जो अन्य वस्तु से भूत और भविष्य में सम्बन्धित है। यह निस्सन्देह सत्य है कि वर्तमान और भविष्य में विद्यमान वस्तुओं के बीच संयोग संबंध असम्भव है, किन्तु इससे हमारा मत य दूषित नहीं होता, क्योंकि कुछ पदार्थ आपस में वर्तमान काल से संबंधित हैं और कुछ पदार्थ आपस में अन्य प्रकार से भूत और भविष्य काल से संबंधित हैं। वर्तमान, भूत और भविष्य के बीच कैसा संबंध रहता है यह अनुभव द्वारा ही सीखा जा सकता है। यदि देशिक सन्निकर्ष वर्तमान पदार्थ का विशिष्ट लक्षण है तो कालिक सन्निकर्ष वर्तमान भूत और भविष्य के बीच रहेगा ही। फिर भी, सम्बन्ध का अर्थ सन्निकर्षता नहीं होना आवश्यक है निकटता और दूरी दोनों ही सम्बन्ध की उपाधियां हो सकती हैं। संबंध को अनुभव के आधार पर मानना चाहिए और वे अपने विशिष्ट स्वरूप में विलक्षण और अनिर्वचनीय हैं। किसी माध्यम द्वारा उन्हें समझाने का प्रयत्न अनुभव के प्रतिकूल पड़ेगा। यदि इस आधार पर सभी सम्बन्धों को खण्डन करने का प्रयत्न किया जायगा कि संबंध अन्य संबंधों से अनुमित करेगा और अनवस्था दोष हो जायगा, तो इसका उत्तर यह है कि संबंध को खण्डन करने का प्रयत्न स्वयं संबंध को समाविष्ट करेगा, और इसलिए स्वयं प्रतिवादी की धारणा के आधार पर वह खंडित होगा। संबंध स्वयं सिद्ध है और अपनी सत्ता के लिए दूसरे सम्बन्धों पर आश्रित नहीं है।

अठारहवां आक्षेप

वेंकटनाथ, स्वयप्रकाश ब्रह्म, अपने से बाहर, किसी पदार्थ को प्रकाश का विषय ही नहीं बना सकता, शंकर के अनुयायियों के इस मत का खण्डन करते हुए तर्क करते हैं कि यदि ब्रह्म में अविद्या अनादिकाल से है तो ब्रह्म के लिए उसके पंजे में से निकलने का कोई मार्ग नहीं होने से मुक्ति भी असम्भव हो जायगी। तब प्रश्न किया जा सकता है कि अविद्या ब्रह्म से भिन्न है या नहीं? यदि वह भिन्न है तो, शंकर का अद्वैतवाद टूट जाता है और यदि वह अभिन्न है तो एक ओर, ब्रह्म उससे मुक्त नहीं हो सकता, और दूसरी ओर अविद्या का अहंकार, राग इत्यादि के रूप में ब्रह्म के स्वरूप में एकरस हो जाने से ब्रह्म का विकास नहीं हो सकता। यदि इस अविद्या को मिथ्या माना जाय और इसलिए वह ब्रह्म के स्वतन्त्र स्वरूप को बन्धन में डाल नहीं सकती, तो भी यह आक्षेप किया जा सकता है कि यदि अविद्या ब्रह्म के स्वरूप को आवृत करती है तो फिर वह अपनी स्वय प्रकाशयता किस प्रकार प्राप्त करता है, और यदि वह ऐसा नहीं कर सकता है तो अर्थ यह होगा कि वह नष्ट हो गया, क्योंकि स्व-प्रकाश्यता ब्रह्म का स्वरूप है। यदि अविद्या एक स्वतन्त्र वस्तु के नाते अस्तित्व रखती है और ब्रह्म के स्वरूप को आवृत करती है तो यह सोचना कठिन होगा कि एक वस्तु का अस्तित्व केवल ज्ञान से किस प्रकार नष्ट हो सकता है। रामानुज के मतानुसार, तो ज्ञान, ब्रह्म का गुण या लक्षण है जिसके द्वारा अन्य वस्तु जानी जाती है अनुभव भी यह बताता है कि ज्ञाता अपने ज्ञान के विषय को प्रकट करता है और इस प्रकार ज्ञान ज्ञाता का विलक्षण गुण धर्म है जिसके द्वारा विषय जाना जाता है।

उन्नीसवां आक्षेप

वेंकटनाथ, अविद्या ब्रह्म में रहती है, शंकर के इस मत के खण्डन में अज्ञान के प्रत्यय को स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं। वे कहते हैं कि अज्ञान का, ज्ञातत्व शक्ति का पूर्ण अभाव अर्थ नहीं लगाया जा सकता, क्योंकि यह शक्ति ब्रह्म का सारभाव है इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। इस (अज्ञान) का ज्ञानोदय से पूर्व का अज्ञान भी शंकर मतवादी ज्ञान को ब्रह्म का गुण या लक्षण नहीं मानते। किसी विशेष ज्ञान का अभाव, यह अर्थ भी उपयुक्त नहीं होता क्योंकि शंकर मतवादी ज्ञान को ब्रह्म का गुण या लक्षण नहीं मानते किसी विशेष ज्ञान का अभाव, यह अर्थ भी उपयुक्त नहीं होता, क्योंकि शंकर मतवादी ब्रह्म चैतन्य को ही मात्र चैतन्य स्वीकारते हैं। अज्ञान, ज्ञानाभाव भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि उसे भाव रूप माना है। अज्ञान जो ज्ञान से नष्ट किया जा सकता है वह जिसे ज्ञान है उसमें ही होना चाहिए और उसे निर्दिष्ट वस्तु को लक्ष्य करना चाहिए जिसके विषय में अज्ञान है। अब जबकि शंकर मतवादी ब्रह्म को ज्ञाता नहीं मानते हैं, तो उसके साथ किसी प्रकार के अज्ञान का संसर्ग सोचना असम्भव है। रामानुज के अनुयायी द्वारा जो मत प्रतिपादन किया

गया है वह यह है कि व्यक्तिगत ज्ञाता में अज्ञान इतना ही है कि वे चेतन तत्व के रूप में अपने सच्चे स्वरूप को नहीं जानता क्योंकि वहाँ अपने का, शरीर, इन्द्रियाँ, उसके राग पूर्वग्रह और विचारों के संसर्ग में रखता है। जब वह अपनी इस मूर्खता का अनुभव करता है तो उसका अज्ञान नष्ट हो जाता है। केवल इसी अर्थ में अज्ञान का ज्ञान द्वारा निरास होता है ऐसा कहा जा सकता है किन्तु यह सब ब्रह्म का शुद्ध चैतन्य मानने पर असम्भव हो जायगा। रामानुज मतानुसार, व्यक्तिगत ज्ञाता अपने सच्चे स्वरूप से सर्वज्ञ है मिथ्या पूर्वग्रह और राग ही, इस सर्वज्ञता को आवृत कर देते हैं जिससे वे साधारण ज्ञाता की तरह दीखते हैं जो निर्दिष्ट परिस्थितियों में ही वस्तु को जान सकते हैं।

बीसवाँ आक्षेप

वेंकटनाथ चित्सुखाचार्य द्वारा 'तत्त्व प्रदीपिका' में दी हुई अनुभूति की परिभाषा अपरोक्ष ज्ञान जो फिर चैतन्य का विषय नहीं बन सकता, (अवेद्यत्वे सति अपरोक्ष व्यवहार योग्यत्व) का खण्डन करते हुए इसके विरुद्ध निम्न आक्षेप प्रस्तुत करते हैं। शंकर मतवादी आग्रह करते हैं कि यदि अनुभूति स्वयं पुनः ज्ञान व्यापार का विषय हो जायगी तो अनुभूति रूप स्थिति नष्ट हो जायगी और वह अन्य विषयों में एक विषय की तरह मानी जायगी जैसेकि घड़ा। यदि अनुभूति से यह अर्थ लगाया जाता है कि वह इस क्रिया के समय स्वयं प्रकट है और प्रकाशित होने के लिए अन्य ज्ञान पर आश्रित नहीं है तो यह रामानुज मत में भी स्वीकारा गया है। तदुपरान्त आगे, यह साक्षात् ज्ञान, स्वप्रकट होने के समय, ज्ञाता की आत्मा को भी प्रकाशित होने से समाविष्ट करता है। अतः जहाँ तक, अनुभूति का यह अर्थ है वहाँ तक स्वप्रकाश्यता के नियम को कोई स्थान नहीं है।

अनुभूति शब्द का दूसरा अर्थ भी माना है अर्थात् अनुभूति देश, काल और व्यक्तिगत नियम से मर्यादित होकर पृथक् व्यक्तिगत ज्ञान के रूप में उत्पन्न नहीं होती। किन्तु ऐसी अनुभूति का कभी अनुभव नहीं होता, क्योंकि हम इतना अनुभव नहीं करते कि ज्ञान किसी व्यक्ति को हुआ है या उसे नहीं हुआ है। किन्तु हम अपने ज्ञान के बारे में ऐसा भी कहते हैं कि भूतकाल या भविष्य में होगा, जैसेकि मैं जानता हूँ मैंने जाना इत्यादि। उससे यह सिद्ध होता है कि ज्ञान काल से सीमित है। यह पूछा जा सकता है कि यह अपरोक्ष अनुभूति ब्रह्म को प्रकट करती है या किसी अन्य को, यदि ब्रह्म को प्रकट करती है तो उसका विषय अवश्य है। यदि ऐसा माना जाता है कि ऐसा करने में वह जो हाल ही में स्वतः व्यक्त हुआ है उसे ही प्रकाशित करती है तो भी वह किसी को व्यक्त करती है चाहे वह जो कुछ हाल ही में व्यक्त हो चुका है। इससे इस प्रतिज्ञा में अवेद्यत्वे सति अपरोक्ष व्यवहार योग्यत्वम्' बाध उत्पन्न होगा,

क्योंकि उपरोक्त तर्क का अनुसरण करते हुए यद्यपि ब्रह्म को अपरोक्ष माना जाय तो भी वह अनुभूति का विषय हो सकता है ऐसा बताया गया है। यदि दूसरे विकल्प में, यह अनुभूति किसी अन्य वस्तु को प्रकाशित करती है, तो यह प्रतिवादी को उस निष्कर्ष पर ले जायगा, जो वह नहीं चाहता और स्वबाधित भी होगा।

जैसे कोई कहे कि वह घड़े को जानता है या नारंगी को जानता है उसी प्रकार कोई यह भी कहा जा सकता है कि वह विषय की तरह दूसरे की या अपनी भी अभिज्ञा जानता है। इस प्रकार, एक अभिज्ञा दूसरे विषय की तरह दूसरे की अभिज्ञा का विषय बन सकती है। पुनः यदि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की अभिज्ञा नहीं जान सकता तो फिर दूसरे के मानस को समझने के लिए भाषा व्यवहार का अन्त हो जाना चाहिए।

यदि अपरोक्षानुभूति, स्वयं, अभिज्ञा का विषय नहीं हो सकती तो यह अर्थ होगा कि वह सर्वथा अज्ञात रहती है और परिणामतः उसकी सत्ता तुच्छ होती है। आग्रहपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि तुच्छ वस्तु अनुभव नहीं की जा सकती क्योंकि वह तुच्छ है, किन्तु कोई सत्ता ज्ञात नहीं होती इसलिए वह तुच्छ नहीं हो जाती, क्योंकि पूर्व प्रतिज्ञा (वाक्य) सोपाधिक नहीं है। शंकर मतवादी यह नहीं मानते कि अपरोक्ष अनुभूति के अतिरिक्त सभी पदार्थ तुच्छ हैं। यह भी माना जा सकता है कि तुच्छ वस्तु अपरोक्ष अनुभूति नहीं है क्योंकि वह तुच्छ है, किन्तु इस प्रसंग में यह भी माना जा सकता है कि ये पदार्थ (घड़ा इत्यादि) भी अपरोक्ष अनुभूति नहीं हैं क्योंकि उनमें घटत्व इत्यादि निर्दिष्ट धर्म हैं। दृढ़तापूर्वक यही स्पष्ट करना है कि साधारण पदार्थ अपरोक्ष अनुभूति से इसलिए भिन्न नहीं हैं कि वे ज्ञेय हैं किन्तु उनमें निर्दिष्ट धर्म है। एक वस्तु ज्ञेय होने के कारण, अपरोक्ष अनुभूति नहीं कही जा सकती, वह सर्वथा दोषपूर्ण है।[1] यदि पुनः ब्रह्म की अपरोक्षानुभूति है तो दर्शन एवं शास्त्र कोई भी ब्रह्म के स्वभाव के सम्बन्ध में उसका परिचय नहीं करा सकेंगे।

इक्कीसवां आक्षेप

शंकर मतवादी व्यक्तिगत ज्ञान की उत्पत्ति को अस्वीकार करते हैं। उनके मतानुसार सभी प्रकार के तथाकथित ज्ञान (अनुभव) अविद्या के भिन्न प्रकारों का, स्वप्रकाश शुद्ध चैतन्य से सम्बन्धित होने पर, उदय माना गया है। इस मत का खण्डन करते हुए, वेंकटनाथ आग्रहपूर्वक कहते हैं कि विभिन्न अनुभव किसी काल में उत्पन्न होते हैं यह सामान्य अनुभव द्वारा प्रमाणित है। यदि शुद्ध चैतन्य सर्वदा विद्यमान है और व्यक्तिगत ज्ञान को अस्वीकार किया जाता है तो सभी विषयों को एक साथ व्यक्त होना

---

[1] शत दूषणी। २७८।

चाहिए। तो भी, यदि, यह निश्चित किया जाता है कि शुद्ध चैतन्य सर्वदा विद्यमान रहता है फिर भी विभिन्न ज्ञान अपेक्षित कारण की परिस्थितियों से मर्यादित हैं तो प्रत्युत्तर यह है कि इतनी अनन्त सख्यक कारण परिस्थितियाँ द्वारा शुद्ध चैतन्य को मर्यादित करना स्वय शकर मत के विरुद्ध होगा, क्योंकि यह उनके अद्वैतवाद से असगत होगा। अब यदि पुन, यह कहा जाता है कि ज्ञान के प्रकार शुद्ध चैतन्य के स्वरूप को सचमुच प्रभावित करते हैं, तो शुद्ध चैतन्य परिणामी हो जाता है जो शकर मत के विरुद्ध है। यदि यह माना जाता है कि आकार शुद्ध चैतन्य पर आरोपित किए जाते हैं, और इन आरोपणों द्वारा निर्दिष्ट विषय बारी बारी से, चैतन्य द्वारा प्रकाशित होते हैं तो स्थिति यह है कि विषय या पदार्थ प्रकाशित हो इसलिए ऐसे प्रकाशन शुद्ध चैतन्य के स्वरूप पर मिथ्या आरोपणों के माध्यम द्वारा होने चाहिए। यदि विषयों का साक्षात् प्रकाशन असम्भव है तो शुद्ध चैतन्य के स्वरूप पर दूसरे आरोपण के लिए दूसरे आरोपण का माध्यम आवश्यक होगा और उसे अन्य की आवश्यकता रहेगी, इस प्रकार अनवस्था स्थिति उत्पन्न होगी। यदि आरोपण मिथ्या नहीं है तो चैतन्य परिणामी बन जाता है और पुराना आक्षेप उपस्थित हो जायगा। फिर भी यदि यह आग्रह किया जाता है कि पदार्थ किसी भी प्रकार की अपेक्षित परिस्थितियाँ एव शुद्ध चैतन्य की ओर से किसी निर्दिष्ट योगदान पर आधार रखे बिना प्रकाशित होते हैं तो सभी विषय (जबकि वे सभी शुद्ध चैतन्य से सम्बन्धित है) साथ प्रकाशित होंगे। यदि पुन, सभी ज्ञान शुद्ध चैतन्य के स्वरूप पर अध्यास मात्र है तो, विशिष्ट ज्ञान के मिथ्या आरोपण के समय जैसे कि घड़ा कुछ भी नहीं अस्तित्व रखेगा जो शून्यवाद की परिस्थिति उत्पन्न करेगा। यह भी प्रश्न किया जा सकता है कि यदि शकर मतवादी जगत् और ज्ञाता के बीच सम्बन्ध न समझा सकने की अशक्यता के कारण, जगत् का निषेध करने को तत्पर हैं तो वह ऐसे जगत् का ब्रह्म के साथ सम्बन्ध समझाने के प्रयत्न का आरम्भ ही कैसे कर सकते हैं?

दूसरी ओर हमारा सामान्य अनुभव इस तथ्य को प्रमाणित करता है कि ज्ञान होता है ठहरता है, चला जाता है और वह हमसे चला गया है। इस प्रत्यक्ष अनुभव के अतिरिक्त हम भूत और भविष्य की घटना का ज्ञान होना कठिन नहीं है, इसलिए यह आक्षेप कि वर्तमान अनुभव भूत और भविष्य से सम्बन्धित नहीं हो सकता अप्रामाण्य है। भूत और भविष्य के पदार्थों का अनुभव उनके वर्तमान में अविद्यमान होने से नहीं हो सकता यह भी अप्रामाण्य है, क्योंकि भूत और भविष्य के पदार्थ भी अपने निर्दिष्ट कालिक सम्बन्ध में विद्यमान हैं। अनुभव की प्रमाणता बाधा के अभाव पर निर्भर है और इस तथ्य पर नहीं कि वह वर्तमान के पदार्थ से सम्बन्धित है क्योंकि इसके बिना वर्तमान क्षण के सभी मिथ्या अनुभव प्रमाण मानने पड़ेंगे। इस प्रकार जबकि, जो प्रत्यभिज्ञा जहाँ नहीं है किन्तु जो साक्षात् और अपरोक्ष अनुभव

तथा अनुमान, दोनो से उत्पन्न होती है, उसका अनुभव शक्य है तो शकर मतवादियो का व्यक्तिगत ज्ञान की आपत्ति का न मानना अप्रमाण है। रामानुज के मत मे, ज्ञान, निसदेह ही नित्य माना गया है तो भी इस ज्ञान के निर्दिष्ट काल धम और निर्दिष्ट अवस्थाए मानी हैं। इसलिए जहाँ तक इन धर्मो तथा अवस्थाओ का सम्बन्ध है, उनकी उत्पत्ति और अन्त, निर्दिष्ट अपेक्षित परिस्थितियो के प्रभाव मे शक्य है। पुन यह आक्षेप की शुद्ध चैतन्य अनादि है इसलिए यह अपरिणामी है, अप्रमाण है, क्योकि शकर मतवादी अविद्या का भी अनादि किन्तु परिणामी मानते हैं। इस सम्बन्ध मे यह सूचित किया जा सकता है कि तथाकथित निर्विषय चैतन्य अनुभवगम्य नही है। गाढ निद्रा या मूर्च्छा मे भी चेतना द्रष्टा से सम्बन्धित है इसलिए वह निर्विषय नही है।

बाईसवा आक्षेप

शकर मतवादी यह आग्रह करते हैं कि शुद्ध चैतन्य, अजात होने से, अपरिणामी है, *यदि अपरिणामी शब्द का अर्थ, अस्तित्व का अन्त न होना है तो यह बताया जा* सकता है कि शकर मतवादी अज्ञान का अजात किन्तु नाशवान् मानते हैं। इसलिए ऐसा कोई कारण नही है कि एक पदार्थ के अजात होने से वह नाशवान् नही होना चाहिए। यदि आग्रहपूर्वक ऐसा कहा जाता है कि अविद्या का नाश भी मिथ्या है तो उसी दृढता से यह भी बताया जा सकता है कि सभी पदार्थों का विनाश भी मिथ्या है। तदुपरान्त, जबकि शकर मतवादी, किसी परिणाम का सत्य नही मानते तो उनके द्वारा दिया तर्क वाक्य 'जो अजात है वह अपरिणामी है निरर्थक हो जाता है। शकर और रामानुज के ब्रह्म के स्वरूप सम्बन्धी विचारो में यह भेद है कि शकर के अनुसार ब्रह्म नितान्त अपरिणामी और निर्गुण है और रामानुज के अनुसार ब्रह्म अपने मे जगत् और जीव तथा उनमे होने वाले परिणामो को धारण करता हुआ निरपेक्ष है। वह अपरिणामी केवल इसी अर्थ मे है कि सभी गत्यात्मक परिणाम भीतर से उत्पन्न होते हैं और उसके बाहर कुछ भी नही है जो उसे प्रभावित कर सके। अर्थात् ब्रह्म निरपेक्ष है यद्यपि अतर मे परिणामी है फिर भी वह नितान्त स्वाश्रित और स्वस्थित है और अपने से बाहर किसी से सर्वथा अप्रभावित है।

तेईसवा आक्षेप

शकर मतवादी आग्रहपूर्वक कहते हैं कि शुद्ध चैतन्य नाना रूप नही हो सकता क्योकि वह अजात है, क्योकि जो नाना रूप है वह उत्पन्न हुआ है जैसे घडा। यदि शुद्ध चैतन्य ही अविद्या की उपाधि से नाना रूप दीखता है, तो इस सम्बन्ध मे यह प्रश्न किया जा सकता है कि यदि शुद्ध चैतन्य अन्य किसी से विविक्त नहीं किया जा सकता तो वह देह से भी एक रूप हो सकता है यह मान्यता शकर मत के विरुद्ध है। फिर भी यदि यह उत्तर दिया जाता है कि शुद्ध चैतन्य और देह के बीच तथाकथित

भेद केवल मिथ्या भेद है फिर तो उसे मानना ही पड़ेगा जो कि शंकर के अनुयायियों द्वारा मान्य, ब्रह्म के अपरिणामी स्वरूप का विरोध करेगा। यदि, देह और शुद्ध चैतन्य के बीच वास्तविक भेद को अस्वीकार किया जाता है, तो (यह आग्रह किया जा सकता है कि) इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वस्तु, जो सचमुच भिन्न है वह उत्पन्न होती है (जैसे घड़ा), किन्तु शंकर मतवादियों के अनुसार घट इत्यादि ब्रह्म से भिन्न नहीं हैं इसलिए उपरोक्त निष्कर्ष समर्थन में नहीं दिया जा सकता। इसके अतिरिक्त जबकि अविद्या अज्ञात है, तो शंकर मतवादियों की उक्ति के अनुसार यह निष्कर्ष उत्पन्न होगा कि वह ब्रह्म से भिन्न नहीं होगी जिसे वे निस्सन्देह ही सरलता से नहीं मानेंगे। यह भी नहीं माना जा सकता कि एक अभिज्ञा दूसरे से इस मान्यता के आधार पर भिन्न नहीं है कि भिन्न अभिज्ञाएं, एक ही चैतन्य पर आरोपित भासमान आकार हैं क्योंकि जहाँ हम भेद को मानते हैं हम उन्हें भासमान भेद और भासमान आकार ही कहते हैं और यदि भासमान भिन्न आकार मान लिए जाते हैं तो यह नहीं कहा जा सकता कि वे भिन्न नहीं हैं। पुन, ऐसा आग्रह किया जाता है कि एक ही चन्द्र तरंगमय पानी के कारण अनेक रूप दीखता है उसी प्रकार वही अभिज्ञा अनेक रूप में दीखती है, यद्यपि वह एक ही है। इसका उत्तर यह दिया जा सकता है कि वह सादृश्य मिथ्या है। चन्द्र का प्रतिबिम्ब चन्द्र से एक नहीं है, उसी प्रकार, भासमान विषय अनुभव से एक नहीं है। यदि ऐसा कहा जाता है कि समस्त चन्द्र प्रतिबिम्ब मिथ्या हैं तो उसी सादृश्यता के अनुसार, सभी अनुभव मिथ्या हो सकते हैं और तब यदि एक ही चैतन्य, सभी अनुभवों के अधिष्ठान रूप सत्य है तो सभी अनुभव समान रूप से सत्य एवं मिथ्या कहे जा सकते हैं। पुन सिद्धान्त दृष्टि से चैतन्य व्यक्तिगत ज्ञान से भिन्न नहीं है यह मत प्रतिपादनीय नहीं है क्योंकि रामानुजवादी, चैतन्य का ऐसा अमूर्त सिद्धान्त नहीं मानते हैं, उनकी दृष्टि में सभी ज्ञान निर्दिष्ट एवं व्यक्तिगत हैं। इस सम्बन्ध में यह सूचित किया जा सकता है कि रामानुज मतवादियों के अनुसार चैतन्य जीवों में नित्य गुण के रूप में विद्यमान है अर्थात् वह उपाधि एवं परिस्थितियों के अनुसार परिणत हो सकता है।

चौबीसवाँ आक्षेप

शुद्ध चैतन्य के निर्गुण स्वरूप पर आक्षेप करते हुए, वेंकटनाथ कहते हैं कि निर्गुण होना भी विशिष्ट धर्म है। यह निषेधात्मक होने से अन्य गुणों से भिन्न है। निषेधात्मक गुणों को भावात्मक गुणों जैसे ही आक्षेप योग्य समझना चाहिए। पुन शंकर मतवादी ब्रह्म को निरपेक्ष और अपरिणामी मानते हैं और ये भी गुण हैं। यदि उत्तर दिया जाता है कि गुण भी मिथ्या हैं, जो उनसे विपरीत गुण सत्य ठहरेंगे, अर्थात् ब्रह्म परिणामी माना जायगा। पुन यह प्रश्न किया जा सकता है कि निर्गुण ब्रह्म की सत्ता किस प्रकार सिद्ध की गई है। यदि इसे बुद्धि द्वारा सिद्ध नहीं

किया गया है तो पूर्व मान्यता असंगत है, यदि वह बुद्धि द्वारा सिद्ध किया गया है तो, बुद्धि ब्रह्म में विद्यमान होनी चाहिए, और इससे वह बुद्धि विशिष्ट हो जायगा।

पच्चीसवां आक्षेप

वेंकटनाथ, शंकर मतवादियों की इस मान्यता को अस्वीकार करते हैं कि जो अपने आपको प्रकाशित करता है या जो स्वयं प्रकाश्य है 'उसे' आत्मा कहना चाहिए। इस आधार पर, चैतन्य आत्मा है, क्योंकि वह अपने आपको प्रकाशित करता है। वेंकटनाथ आगे आग्रह करते हैं कि ज्ञान का प्रकट होना सर्वथा निरुपाधिक नहीं है क्योंकि प्रकाशन ज्ञाता की आत्मा को होता है, वह न अन्य किसी को या सभी को होता है यह तथ्य स्पष्ट बताता है कि वह आत्मा द्वारा मर्यादित है। यह भी इंगित किया जा सकता है ज्ञान का प्रकाशन उसे स्वयं ही नहीं होता, किन्तु एक ओर आत्मा को होता है और दूसरी ओर विषय को इस अर्थ में कि वे ज्ञान के घटक हैं। पुनः यह सामान्य अनुभव द्वारा सिद्ध है कि चेतना आत्मा से भिन्न है। यह भी प्रश्न किया जा सकता है कि यदि वह चैतन्य आत्मा से अभिन्न है तो वह अपरिणामी है या परिणामी ? क्या उसे अपरिणामी मानना असम्भव होगा ? पहले विकल्प में, यह आगे प्रश्न किया जा सकता है कि इस अपरिणामी चैतन्य का कोई आधार है या नहीं, यदि नहीं है तो वह बिना किसी आधार कैसे टिक सकता है ? यदि उसका कोई आधार है तो उस आधार को ज्ञाता उचित रूप से माना जा सकता है, जैसाकि रामानुज मतवादी मानते हैं। यहाँ यह भी सूचित किया जाय कि ज्ञान, गुण या धर्म होने के कारण, उसका आत्मा से, जो गुण का अधिष्ठान है तादात्म्य नहीं किया जा सकता।

छब्बीसवां आक्षेप

शंकर मतवादी यह प्रतिपादन करते हैं कि ब्रह्म शुद्ध चैतन्य है। इसलिए आत्मा का 'मैं' के रूप में अनुभव मिथ्या है और इसी कारण मुक्ति तथा गाढ़ निद्रा में वह अनुपस्थित है। इस पर वेंकटनाथ का प्रत्युत्तर यह है कि यदि 'मैं' का विचार गाढ़ निद्रा में नहीं होता है तो आत्म चेतना की निरन्तरता असम्भव है। यह निस्संदेह ही सत्य है कि गाढ़ निद्रा में आत्मा का 'मैं' प्रत्यय के रूप में प्रकट रूप से अनुभव नहीं होता किन्तु इस कारण वह उस समय अविद्यमान नहीं है, क्योंकि 'मैं' के रूप में आत्मा की निरन्तरता इस तथ्य से अनुमित है कि गाढ़ निद्रा के पहले एवं पश्चात् भी वह अनुभव होता है इसलिए वह निद्रा के समय में भी विद्यमान होगा। और आत्म-चेतना स्वयं भूत और भविष्य को निरन्तरता के रूप में लक्ष्य करती है। यदि इस अहं प्रत्यय का निद्रा में नाश होता है तो अनुभव की निरन्तरता समझायी नहीं जा सकती। (मध्ये चाहमर्थाभावे संस्कार धारा भावात्, प्रतिसंधानाभाव प्रसंगाच्च)।

यह तथ्य सिद्ध है कि ज्ञाता के अभाव में ज्ञान एवं अज्ञान दोनों ही नहीं रह सकते। यह भी नहीं कहा जा सकता कि अनुभव की निरन्तरता शुद्ध चैतन्य या अविद्या को, गाढ़ निद्रा में प्रेषित कर दी जाती है क्योंकि शुद्ध चैतन्य अनुभव का आगार नहीं हो सकता, और यदि अविद्या आगार है तो वह ज्ञाता होगी जो असम्भव है और प्रत्य भिज्ञा समझायी नहीं जा सकेगी, क्योंकि अविद्या से सम्बन्धित अनुभव, उस तत्व द्वारा नहीं स्मरण किया जा सकता जिसे अहं प्रत्यय लक्ष्य करता है। इसके अतिरिक्त निद्रा से उठने के बाद मनुष्य का यह अनुभव कि मैं इतनी देर सुख से सोया बताता है कि जो तत्व अहं प्रत्यय द्वारा लक्ष्य किया जाता है वह निद्रा के अन्तर्गत भी अनुभव किया गया था। गाढ़ निद्रा की अवस्था को लक्ष्य करता हुआ भी अनुभव मैं इतना गहरा सोया कि मैंने अपने को भी नहीं जाना यह बताता है कि आत्मा उस समय *निर्दिष्ट शारीरिक एवं देश और काल के सम्बन्ध से अज्ञात है।* इस पर *विवाद नहीं* किया जा सकता कि अहं प्रत्यय को लक्ष्य करने वाला तत्व मुक्ति में भी रह नहीं सकता क्योंकि यदि मुक्ति में कोई ऐसा तत्व नहीं है तो कोई भी उस अवस्था को प्राप्त करने का प्रयास नहीं करेगा। मुक्ति के समय शुद्ध निर्गुण ब्रह्म के अनुभव का अर्थ आत्मा का विनाश होगा और कोई भी कभी अपने विनाश में रुचि नहीं रखेगा। तदुपरान्त यदि अहं प्रत्यय को लक्ष्य करने वाला तत्व मन नहीं है तो अहं प्रत्यय द्वारा निर्दिष्ट तत्व जिसका कि बहुधा शरीर एवं इन्द्रियों से तादात्म्य किया जाता है यह मत (शंकर मतवादी बहुधा ऐसा कहते हैं) निरर्थक ठहरेगा। यदि भ्रम मिथ्या आभास के मिथ्या आरोपण के कारण होता है जैसेकि देह या इन्द्रियों का शुद्ध चैतन्य पर तो उस अहं का इन्द्रियों तथा देह रूप से, भ्रम नहीं कहा जायगा। यह भी नहीं कहा जा सकता कि आत्मा के अहं प्रत्यय रूप अनुभव में दो भाग हैं शुद्ध चैतन्य जो नित्य और सत है और अहंता, जो मिथ्या आभास मात्र है। क्योंकि यदि यह अहं अनुभव में ऐसा है तो वह अन्य अनुभवों में भी यह या वह के रूप से बाह्य विषय में भी हो सकता है। इसके अतिरिक्त, यदि ऐसा है तो स्वगत जैसे विशिष्ट अनुभव को विषयगत अनुभव से भिन्न कैसे किया जायगा? वह कौनसा धर्म है जो स्वगत अनुभव की विशिष्टता है? इस प्रकार यह विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि अहं तत्व आत्मा का सच्चा स्वरूप है।

सत्ताइसवां आक्षेप

शंकर मतानुयायियों का यह आग्रह कि ज्ञाता के रूप में आत्मप्रत्यय होता है, मिथ्या है क्योंकि परम सत्ता रूप ब्रह्म पूर्णतः अपरिणामी है। कारण यह है कि ज्ञाता होने का उसका आरोपित गुण इस प्रकृति से मेल नहीं खाता। इस सम्बन्ध में यह उत्तर दिया जा सकता है कि यदि ज्ञातभाव को उसका परिणामी गुण मान लिया जाए तो सत्ता या स्वयं प्रकाशता को भी गुण मानना पड़ेगा फिर इनका उसकी प्रकृति

से मेल न बैठेगा। नानत्मा में परिवतन से आत्मा के अपरिवर्त्य स्वभाव पर जरा भी असर नहीं पड़ता, क्योंकि ज्ञान के परिवतन से आत्मा परिवर्तित नहीं होती।

अट्ठाइसवा आक्षेप

यह सुविदित है कि शकर मतवादी, शुद्ध चैतन्य को समस्त आकार और आभास का द्रष्टा साक्षी मानते हैं, और इस साक्षित्व व्यापार द्वारा ही ये सब प्रकाशित होते हैं। उसी साक्षी चैतन्य द्वारा चेतना की निरतरता स्थिर रहती है और गाढ निद्रा म भी जो आनन्द का अनुभव हाता है वह इसी साक्षी चैतन्य द्वारा भासित होता है। रामानुज मतानुवादी इस साक्षि चैतन्य का अस्वीकार करते हैं साक्षी का प्रयोजन ज्ञाता के व्यापार द्वारा सिद्ध हाता है जिसकी चेतना, जाग्रत स्वप्न और सुषुप्ति मे भी निरन्तर रहती है। वेंकटनाथ आग्रहपूर्वक कहते हैं कि आनन्द की अभिव्यक्ति अशुद्ध चैतन्य से अभिन्न है वह शुद्ध चैतन्य के स्व प्रकाशत्व से ही अनुमित है। यह भी बताना उचित होगा कि गाढ निद्रा म इन्द्रिय सुख अभिव्यक्त नहीं किए जा सकते यदि ऐसा है तो फिर गाढ निद्रा म आनन्द के अनुभव को समझाने के लिए साक्षि चैतन्य का क्या माना जाय? जबकि ब्रह्म का सच्चा ज्ञाता नहीं माना गया है, इसलिए साक्षी का प्रत्यय और ज्ञाता एक नहीं हैं। उसका केवल प्रकाशन भी नहीं हो सकता क्योंकि यदि वह अपने को ब्रह्म रूप से प्रकाशित करता है, तो साक्षि चैतन्य के माध्यम की आवश्यकता नहीं रहती। यदि वह अविद्या के रूप में प्रकाशन करता है तो इसके सम्बन्ध मे ब्रह्म मिथ्या हो जायगा। यह नहीं हो सकता कि साक्षि चैतन्य का व्यापार ब्रह्म के समान हो, और तब भी वह अविद्या का स्वरूप ग्रहण करता रहे क्योंकि वह ब्रह्म और अविद्या दोनो मे अभिन्न नहीं हो सकता। यदि साक्षि चैतन्य का व्यापार मिथ्या है, तो असत्य साक्षी मानने के कारण अनावस्था दोष आता है। इस तरह जिस किसी प्रकार से साक्षि चैतन्य को समझा जाय, हम उसे तर्क से या अनुभव से उसे सगत ठहराने म निष्फल रहते हैं।

उनतीसवा और तीसवा आक्षेप

वेंकटनाथ आग्रह करते हैं कि शकर मतवादी शास्त्र प्रमाण को प्रत्यक्ष अनुभव से श्रेष्ठ मानते हैं यह गलत है। वास्तव मे शास्त्र का ज्ञान प्रत्यक्ष अनुभव के बिना असम्भव है इसलिए शास्त्रों को इस प्रकार समझाना चाहिए कि वे प्रत्यक्ष से विरोध में न आवें। इसलिए, जबकि प्रत्यक्ष नानात्व को सिद्ध करता है तो नानात्व को मिथ्या सिद्ध करने वाले शास्त्र का अर्थ निस्सदेह अप्रमाण होगा। उसके बाद शकर मतवादी, मिथ्या साधना द्वारा सच्चे ज्ञान प्राप्त करने के अनेक गलत दृष्टान्त देते हैं तथा आग्रह करते हैं (जैसे कि मिथ्या सर्प से जो डर उत्पन्न होता है, अक्षर द्वारा पदार्थ सूचित करना जबकि अक्षरों का समूह तो रेखाओं का समाहार है)। किन्तु वेंकटनाथ

का उत्तर यह है कि उन सभी दृष्टान्तों में जहाँ मिथ्यात्व से सत्य की प्राप्ति मानी गई है वहाँ हम मिथ्यात्व से सत्य की ओर नहीं पहुँचते किन्तु एक सच्चे ज्ञान से दूसरे सच्चे ज्ञान की ओर पहुँचते हैं। रेखाएँ, किसी वस्तु की सच्ची प्रतीक हैं इसी कारण, वे उसका प्रतिनिधित्व करती हैं और मिथ्यात्व के सत्य की प्राप्ति के कोई भी उदाहरण नहीं दिए जा सकते। इसलिए यदि शास्त्र भी मिथ्या है (परिणाम रूप में) जैसाकि शंकर मतवादी कहेंगे तो उनके लिए हम ब्रह्म ज्ञान प्राप्ति कराना असम्भव हो जायगा।

इकतीसवाँ आक्षेप

शंकर के अनुयायियों का यह मत है कि सच्चे ज्ञान से इसी जीवन में मुक्ति प्राप्त हो सकती है जिसे कि वे जीवन्मुक्ति कहते हैं। रामानुज मतवादी इसे अस्वीकार करते हैं। वे ऐसा मानते हैं कि सच्चे ज्ञान द्वारा मुक्ति नहीं मिल सकती किन्तु सच्चे ज्ञान के संयोग से उचित कर्म और उचित भाव द्वारा मुक्ति मिल सकती है। जगत् के पदार्थों से सच्चा वियोग शरीर के न रहने पर ही होता है। वेंकटनाथ यह बताते हैं कि जहाँ तक देह है एकाकार रूप से परम ज्ञान का अनुभव सम्भव है, क्योंकि ऐसे पुरुष को अपने शरीर और उसके नाना सम्बन्ध का भान अवश्य ही होगा, यदि ऐसा कहा जाय कि यद्यपि शरीर रहता है किन्तु उसे मिथ्या या असत् माना जा सकता है, तो इसका अर्थ यह होगा कि वह शरीर रहित है और तब जीवन्मुक्ति और विदेह मुक्ति में भेद असम्भव हो जायगा।

बत्तीसवाँ आक्षेप

शंकर मतवादी आग्रहपूर्वक कहते हैं कि अज्ञान या अविद्या, यद्यपि ज्ञान विरोधी है तो भी वह भावात्मक पदार्थ है जैसाकि प्रत्यक्ष अनुमान एवं शास्त्र प्रदर्शन करते हैं। वेंकटनाथ इसे अस्वीकार करते हुए यह कहते हैं कि यदि अज्ञान को ज्ञान विरोधी माना जाता है तभी ऐसा हो सकता है जबकि वह ज्ञान का निषेध करता है अर्थात् उसे अभावात्मक होना चाहिए। ऐसा अभाव किसी ज्ञान के विषय का स्पष्ट ही सम्बन्ध करता और यदि यह मान लिया जाता है तो ज्ञान का विषय जान लिया होना चाहिए क्योंकि नहीं तो निषेध उसे सम्बद्ध नहीं कर सकता। इस पर शंकर मतवादी शायद यह कहें कि ज्ञान का निषेध और विषय जिसे वह सम्बद्ध करता है, ये दोनों इस तरह से स्वतन्त्र वस्तु हैं कि ज्ञान का निषेध आवश्यक रूप से बाध्य नहीं करता कि ज्ञान का विषय ज्ञात होना चाहिए। इसलिए, यह कहना उचित है कि ज्ञान का अभाव स्वतः स्थापित रूप से है। इस पर स्पष्ट उत्तर यह है कि अनादि विषय के प्रसंग में, जहाँ विषय बिना किसी पदार्थ की उपस्थिति निषेध का बोध करती है उसी प्रकार जहाँ किसी ज्ञान के अभाव (पदार्थ) का विषय है किसी भी (पदार्थ) का अस्तित्व उसे

आवश्यक रूप से बाध करता है। इसलिए 'मैं कुछ नहीं जानता यह अनुभव किसी भी ज्ञान से बाधित होगा। यदि यह आग्रह किया जाता है कि ज्ञान का निषेध और उसका अनुभव दो भिन्न क्षण में हो, और उसका अनुभव विरोधात्मक न हो, तो उत्तर यह है कि प्रत्यक्ष सर्वदा वर्तमान काल में अस्तित्व रखने वाले पदार्थों को ग्रहण करता है। यद्यपि, गाढ निद्रा में अज्ञान के तथाकथित प्रत्यक्ष के प्रसंग में, अज्ञान का ज्ञान अनुमान द्वारा हुआ हो ऐसा माना जाय और मैं अज्ञ हूँ मैं अपने को या दूसरों को नहीं जानता, 'ऐसे प्रसंगों में, स्पष्ट रूप से अज्ञान का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। इसलिए यह असम्भव है कि मैं का अनुभव भी हो और वह अज्ञ भी रहे। इस प्रकार अज्ञान अनुभव निरर्थक रहेगा। पुन अभाव (निषेध) के अनुभव का आवश्यक प्रतियोगी लक्ष्य करना चाहिए इससे यह अर्थ होगा कि प्रतियोगी का ज्ञान है और वह सर्वव्यापी अभाव के अनुभव को बाध करेगा जो सर्वथा ज्ञानरहित है। तो भी यह आग्रह किया जाय कि अज्ञान का ज्ञान उसके अभाव का अनुभव नहीं है, किन्तु एक भावात्मक पदार्थ का अनुभव है और इसलिए उपरोक्त विवाद में दिए गए आक्षेप यहाँ निरुपयोगी रहेंगे।

इस पर प्रत्युत्तर यह है कि अज्ञान नामक भाव पदार्थ की मान्यता जो प्रत्यक्ष अनुभव का विषय है, ज्ञान विरोधी पदार्थ को अनुमित कर सकती है क्योंकि अज्ञान का 'अ' नञ अनुपस्थिति या निषेध के अर्थ में प्रयुक्त होता है। यदि ऐसा है तो यह आग्रह किया जा सकता है कि विरोध का अनुभव दो पद लक्षित करता है वे हैं जो विरोध करता है और जिसका विरोध किया जाता है। इस प्रकार, अज्ञान अनुभव ज्ञान को भी समाविष्ट करेगा इसलिए जब अज्ञान का विरोधी प्रकाशित होता है तब अज्ञान कैसे दीखेगा? इसलिए यह स्पष्ट है कि अज्ञान को केवल अभाव मानने के बजाय भाव पदार्थ मानने से कोई लाभ नहीं होता। भाव रूप अज्ञान का प्रत्यय ऐसे किसी नए उद्देश्य की पूर्ति नहीं करता है जो कि अज्ञान का ज्ञानाभाव प्रत्यय उसी प्रकार न कर सकता हो। यदि भाव पदार्थ ब्रह्म के प्राकट्य को मर्यादित करता हुआ माना जाता है तो अभाव भी वही कर सकता है। शंकर मतवादी स्वयं मानते हैं कि ज्ञान अज्ञान को, जो ज्ञान के उदय का प्रागभाव है निरास करके प्रकट होता है और इस प्रकार एक रूप से वे इसे अज्ञान का अभावात्मक रूप मानते हैं। मैं मुग्ध हूँ (मुग्धोऽस्मि) इस माने हुए अनुभव में विरोध के प्रत्यय का समावेश होता है। मुग्ध शब्द में निषेधात्मक प्रत्यय न होने से यह अर्थ नहीं निकलता है कि वह निषेधात्मक नहीं है। इस प्रकार भाव रूप अज्ञान प्रत्यक्ष से प्रमाणित नहीं है।

यह सूचित किया गया है कि अज्ञान की सत्ता इस मान्यता पर सिद्ध की जा सकती है कि यदि प्रकाश अंधकार को दूर करके प्रकट होता है उसी प्रकार, ज्ञान को भी भाव रूप अज्ञान को दूर करके प्रकट होना चाहिए। अनुमान ज्ञान का एक प्रकार

है, और इसलिए उसे अपने व्यापार को आश्रय करने वाले किसी भी अज्ञान को दूर करना चाहिए। जबकि यह अज्ञान अपने को प्रकट नही कर सकता तो यह सहज अनुमान किया जायगा कि कोई दूसरा अज्ञान आश्रित कर रहा है और जिसे दूर किए बिना वह अपने को प्रकट नही कर सका, तो इस प्रकार अनवस्था स्थिति आ जाएगी। यदि अज्ञान प्रच्छन्न मानते हैं तो अनुमान अज्ञान को साक्षात् नष्ट करता है यह भी माना जा सकता है, जब कभी ज्ञान किसी पदार्थ को प्रकाशित करता है तब वह उससे सम्बन्धित अज्ञान को दूर करता है। शास्त्र भाव रूप अज्ञान का समर्थन नही करते हैं। इस प्रकार भाव रूप अज्ञान का प्रत्यय न्यायविरुद्ध है।

चालीसवां आक्षेप

अज्ञान ब्रह्म मे नही किन्तु जीव मे रहता है यह मान्यता गलत है। यदि अज्ञान जीव के अपने सच्चे स्वरूप में (अर्थात् ब्रह्म रूप से) रहता है तो अज्ञान वस्तुतः ब्रह्म मे ही रहता है। यदि ऐसा माना जाता है कि अज्ञान प्रत्येक जीव के अपने वास्तविक स्वरूप में नही किन्तु सामान्यतः समझे जाने वाले जन्म मरणादि धर्मयुक्त रूप मे रहता है तो कहने का अर्थ यह होता है कि अज्ञान भौतिक द्रव्य से सम्बन्धित है और वह दूर नही किया जा सकता, क्योकि भौतिक बन्धनों में बद्ध जीव में अज्ञान को दूर करने की इच्छा कभी नही हो सकती न उसमें उसे नाश करने की शक्ति ही है। पुनः यह प्रश्न किया जाय कि अज्ञान व्यक्तिगत जीवों में भेद करता है तो वह भिन्नता जीवों में एक है या अनेक। पहले प्रसग के अनुसार एक जीव की मुक्ति से अज्ञान हट जाने पर सभी मुक्त हो जाएगे। दूसरे प्रसग मे यह कहना कठिन है कि अविद्या पहले है या जीवो का आपस मे भेद, इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष उत्पन्न होगा, क्योकि शंकर मतवादी जीवो मे भेद की सत्ता नही मानते। 'अज्ञान ब्रह्म से सम्बन्धित है' इस मतानुसार, जीवों के बीच भेद मिथ्या होने से भिन्न जीवो के अनुसार भिन्न अज्ञान मानने की आवश्यकता नही रहती। कुछ भी हो अविद्या, चाहे सत्य हो या भ्रम रूप हो, वह जीवों की भिन्नता नही समझा सकती। पुनः यदि अज्ञान जो जीवो में भेद उत्पन्न करने वाले माने गए हैं, वे ब्रह्म मे रहते है ऐसा माना जाता है तो ब्रह्म नहीं जाना जा सकता। अज्ञान जीवों में रहते है इस वाद के अनुसार पुनः पुरानी कठिनाई सम्मुख आती है कि अविद्या का भेद प्राथमिक है या जीवों का भेद। यदि उस समस्या का इस प्रस्ताव से हल करने का मतलब है कि यहा अनवस्था स्थिति बीज और अकुर जैसे दोषपूर्ण नहीं है तो यह बताया जा सकता है कि अज्ञान, जो जीवो में भेद उत्पन्न करता है उनका जीव ही आधार है इस मान्यता को स्वीकारने पर अनवस्था का कोई स्थान नही रहता। बीज जो अकुर पैदा करता है वह अपने आपको उत्पन्न नही करता। यदि यह सूचन किया जाता है कि पूर्वगामी जीवो की अविद्या उत्तरकालीन जीवों का उत्तरकालीन जीवों को उत्पन्न करती है तो जीव नाशवान् हो जाएगे। इस

प्रकार किसी भी प्रकार हम इस मत का समर्थन करना चाहे कि अविद्या प्रत्येक जीवो मे रहती है तो हमे भारी असफलता का सामना करना पडता है।

इकतालीसवा आक्षेप

ऐसा कहा जाता है कि अविद्या दोष ब्रह्म मे है। यदि यह अविद्या दोष ब्रह्म से भिन्न है तो वह वास्तव म द्वैतवाद स्वीकार करने जैसा होता है, यदि ऐसा नही है अर्थात् ब्रह्म से भिन्न नही है, तो ब्रह्म स्वय सभी भ्रमो और भूलो का उत्तरदायी है जो अविद्या जनित हैं और ब्रह्म के नित्य होने से, सभी भ्रम और भूल भी अवश्य नित्य होगे। यदि ऐसा कहा जाय कि भ्रम और भूल, ब्रह्म के किसी अन्य सहकारी से सम्बन्धित होने पर उत्पन्न होते हैं तो इस पर पुराना प्रश्न खडा किया जा सकता है कि वह सहकारी कारण ब्रह्म से भिन्न है या नही, और वह सत् है या असत्। फिर ऐसा सहकारी कारण आत्मा और ब्रह्म के तादात्म्य के सच्चे ज्ञान से उत्पन्न होने का प्रागभाव रूप नही हो सकता क्योकि तब फिर शकर मतवादियो द्वारा प्रतिपादित भाव रूप अज्ञान का सिद्धान्त सर्वथा अनावश्यक और अयोग्य हो जायगा। ऐसा अभाव ब्रह्म से अभिन्न नही हो सकता क्योकि तब सत्य के उदय एव अज्ञान के नाश के साथ स्वय ब्रह्म का अन्त हो जायगा। जबकि ब्रह्म से बाहर सब कुछ मिथ्या है यदि ऐसी कोई वस्तु है जो ब्रह्म के प्रकाश का अवरोध या उसमें विकृति उत्पन्न करती है (यदि विकृति किसी भी अर्थ मे सत् हो) तब वह वस्तु भी ब्रह्म होगी और ब्रह्म के नित्य होने से वह विकृति भी नित्य होगी। यदि जो दोष अवरोधक के रूप म कार्य करता ह उसे असत् और अनादि मान लिया जाता है तो भी उसे किसी का आधार होना चाहिए और वह अनवस्था दोष उत्पन्न करेगा। यदि वह किसी भी कारण पर आश्रित नही है तो वह ब्रह्म जसा होगा जो निरर्थक दोष पर आश्रित हुए बिना प्रकाशित होता है। यदि ऐसा कहा जाता ह कि यह दोष अपनी एव दूसरो की भी रचना करता ह तो जगत् की रचना किसी अन्य दोष पर अवलम्बित हुए बिना प्रकट होगी। यदि ऐसा कहा जाय कि दोष की अपनी रचना करने म कोई असगति नही ह जसे कि भ्रम एक प्रकार से अपनी ही रचना ह, अर्थात् वह अपने से बना ह तो शकर मतवादी अपने ही मत का खण्डन करेंगे क्योकि वे अवश्य ही मानते हैं कि अनादि जगत्, सजन दोष के व्यापार स ह। यदि अविद्या स्वय मिथ्या आरोपण नही है, तो वह या तो सत्य होगी या तुच्छ। यदि वह भ्रम और कार्य दोनो ही मानी जाती ह तो वह अनादि नही होगी। यदि उसका आरम्भ ह तो उसे जगत् प्रपच से परिच्छिन्न नही किया जा सकता। यदि भ्रम और उसकी रचना अभिन्न मानी जाय, तब भी अविद्या अपने से अपनी रचना करती है यह पुरानी कठिनाई वैसी ही बनी रहती है। पुन अविद्या, ब्रह्म को किसी सहकारी दोष की सहायता के बिना दीखती है तो वह ऐसा निरन्तर करती रहेगी। यदि यह आग्रह किया जाता

है कि जब अविद्या का अ त होता है उसकी अभिव्यक्तिया का भी अन्त हो जायगा, तब भी कठिनाई उपस्थित होती है जिसका शकर मतवादियो ने स्वय सूचन किया है क्योकि हम जानते हैं कि उनके मतानुसार प्रकाशन और प्रकाश्य मे भद नही है और दोनो के बीच कोई कारण व्यापार भी नही है। जो प्रकाशित होता है उसे प्रकाश तत्व स पृथक नही किया जा सकता।

यदि यह आग्रह किया जाता है कि जब तक सच्चे ज्ञान का उदय नही होता तब तक ही अविद्या प्रकट रहती है तो ऐसा नही कहा जा सकता कि सच्चे ज्ञान के उदय होने का प्रागभाव जगत् प्रपच का कारण है और अविद्या मानना अनावश्यक है? यदि यह कहा जाता है कि नानारूप जगत् प्रपच का अभाव कारण नही माना जा सकता, तो उतने ही बलपूर्वक यह भी आग्रह किया जा सकता है कि यह स्थिति नाना रूप जगत् प्रपच को उत्पन्न करने मे सक्षम भी मानी जा सकती है। यदि ऐसा माना जाता है कि आँख मे भावात्मक दोष कई भ्रम उत्पन्न कर सकता है तो दूसरी ओर यह भी आग्रह किया जा सकता है कि परिच्छेद एव भेद का न देखना भी बहुधा अनेक भ्रम उत्पन्न करता है। यदि ऐसा कहा जाता है कि अभाव काल से मर्यादित नही है और इसलिए वह काल की भिन्न परिस्थितियो मे नाना प्रकार के जगत् प्रपच उत्पन्न करने मे शक्तिमान् नही है और इसी कारण से, भाव रूप अज्ञान मानना अधिक ठीक है तब भी उसी आग्रह से यह प्रश्न किया जा सकता है कि काल धर्म से अमर्यादित अनादि अज्ञान, काल से मर्यादित होकर, सच्चे ज्ञान के उदय तक, नाना रूप जगत् प्रपच को किस प्रकार उत्पन्न करता रहता है। उत्तर मे यदि यह कहा जाता है कि अविद्या का गुण यही है तो फिर यह पूछा जा सकता है कि अभाव के ऐसे स्वभाव या धर्म को मानने मे हानि भी क्या है? यह कम से कम हमे भाव रूप अज्ञान के विचित्र एव पूर्व कल्पना को मानने से बचाता है। यह आग्रह किया जाय कि अभाव एकरस एव निराकार है और इसलिए उसमें धर्म परिणाम नही हो सकता जबकि अविद्या भावरूप पदार्थ होने से विवर्त परम्परा म परिणत हो सकती है। इस सम्बन्ध म यह आग्रह किया जा सकता है कि अविद्या का धर्म इस विवर्त परिणाम के अतिरिक्त और कुछ नही है यदि ऐसा है जबकि अविद्या का धर्म ही नानारूप परिणाम की परम्परा होना है, तो हर समय हर प्रकार के भ्रम बने रह सकते हैं। भ्रम को विवर्त का परिणाम भी नही माना जा सकता क्योकि अविद्या ऐसे कार्य उत्पन्न करती मानी है। यदि ऐसा आग्रह किया जाता है कि अविद्या स्वय, अनुभव मे आने वाले विवर्त परिणामों मे भिन्न एक विशिष्ट पदार्थ है तब भी वही पुराना प्रश्न खडा हो जायगा कि वह सत् है या असत्। पहला विकल्प मानने पर द्वैतवाद का स्वीकार होगा, और दूसरा विकल्प अर्थात् यदि वह मिथ्या है तो भिन्न देश और काल से मर्यादित विविध विवर्त की परम्परा ऐसे पूर्वगामी असत्य कल्पनाओ को मानने के लिए बाध्य करेगा। यदि यह कहा जाता है कि पूर्वगामी परिणाम की परम्परा उत्तरकाल

के परिणामों की अनन्त परम्परा को निश्चित करती हैं, यह मान्यता तार्किक दोषयुक्त नहीं है, तो भी इस परिस्थिति को समझाने के लिए अविद्या को स्वीकार करना आवश्यक नहीं है। क्योंकि ऐसा माना जा सकता है कि ब्रह्म में किसी बाह्य कारण पर आश्रित हुए बिना भिन्न परिणाम उत्पन्न होते हैं। ब्रह्म में अनवरत भिन्न भिन्न धर्म परिणाम (सत् या असत्) रूप से परिणत होते रहते हैं, ऐसी मान्यता इस निष्कर्ष पर ले जायगी कि इन परिणामों से परे कोई ब्रह्म है ही नहीं, यह आक्षेप निष्प्रमाण है क्योंकि हमारा प्रत्यक्ष अनुभव बताता है कि मिट्टी के पिंड में होने वाले परिणाम उसकी सत्ता को अप्रमाण सिद्ध नहीं करते हैं। ऐसे मत में ब्रह्म को भ्रम का अधिष्ठान माना जा सकता है। दूसरी ओर मिथ्या अविद्या की मान्यता स्वीकार करने पर ही अधिष्ठान की सत्ता का न्यायपूर्ण नहीं प्रतिपादित किया जा सकता, क्योंकि मिथ्या का अधिष्ठान स्वयं मिथ्या होगा। इसलिए यदि ब्रह्म को उसका आधार माना जाय, तो वह स्वयं मिथ्या होगा और हम शून्यवाद में पड़ेंगे।

पुनः यह पूछा जाय, कि अविद्या स्वयं प्रकाश्य है या नहीं। यदि वह नहीं है, तो वह तुच्छ हो जाती है यदि वह स्वप्रकाशित है तो फिर पूछा जा सकता है कि प्रकाशत्व उसका स्वरूप है या नहीं। यदि है तो वह ब्रह्म जैसी स्वयं प्रकाश होगी और दोनों में भेद न रहेगा। यदि अविद्या का प्रकाशत्व ब्रह्म में है तो ब्रह्म नित्य ज्ञान से, कोई ऐसा समय न होगा जब अविद्या प्रकाशित न हो। प्रकाशत्व, ब्रह्म या अविद्या का धर्म भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि ऐसा नहीं माना गया है कि दोनों में से कोई उसका ज्ञाता है। यदि ऐसा आग्रह किया जाता है कि ज्ञातृ धर्म मिथ्या आरोपण के कारण है तो यह आक्षेप किया जा सकता है कि जहाँ तक अविद्या के प्रत्यय का स्पष्ट न किया जाय वहाँ तक ऐसे मिथ्या आरोपण का अर्थ समझ के बाहर है। मिथ्या आरोपण की मान्यता के आधार पर ही ज्ञातृ भाव सम्भावित है और उपरोक्त मान्यता के आधार पर मिथ्या आरोपण, ज्ञाता की मान्यता पर निर्भर है। यदि यह ब्रह्म के कारण है, तो ब्रह्म के नित्य होने से, मिथ्या आरोपण भी नित्य होंगे। यदि वह अकारण है तो सारा जगत प्रपंच अकारण हो जायगा।

अविद्या के अधिष्ठान का कोई भी विचार समझ के बाहर है। उसका कोई आधार नहीं है, वह या तो ब्रह्म जैसा स्वतन्त्र होना चाहिए या तुच्छ। यदि उसका कोई आधार है और वह आधार ब्रह्म का स्वरूप है तो यह समझना कठिन हो जाता है कि नित्य शुद्ध ब्रह्म, स्वभाव से विरोधी अविद्या का किस प्रकार अधिष्ठान हो सकता है। यदि इस समस्या का निराकरण इस मान्यता में पाया जाता है कि अविद्या मिथ्या है, तो यह आग्रह किया जा सकता है कि यदि वह मिथ्या है तो फिर उसे अन्त करने का प्रयत्न निरर्थक है। यदि उत्तर में यह कहा जाता है कि असत् होने पर भी वह दीखती है और इस आभास के अन्त के लिए प्रयत्न किया जाता है, तो उसका भी यह प्रत्युत्तर दिया जा सकता है, भास भी अविद्या जितना ही मिथ्या

है। यदि यह माना जाता है कि यद्यपि वह मिथ्या है फिर भी वह किसी के हित म हानि पहुँचा सक्ती है ता उसका मिथ्यात्व नाम मात्र का होगा, क्योंकि उसका काय वास्तव मे सत माना गया है। यदि ब्रह्मन् अपने अध्यस्त या मर्यादित स्वरूप से अविद्या का अधिष्ठान माना जाता है तो यह अध्यास या बन्धन किसी अन्य अविद्या के द्वारा होने से यह परिस्थिति भ्रम पदा करेगी। यदि यह माना जाता है कि मर्यादित या अमर्यादित ब्रह्म से पृथक् कोई एक वस्तु अविद्या का आधार है, तो यह मत त्याग देना होगा कि ब्रह्म अविद्या का आधार है फिर इस आधार का कोई अन्य आधार ढूढने म कठिनाई उपस्थित होगी। यदि यह कहा जाता है कि अविद्या, ब्रह्म की तरह अपना ही आधार है किन्तु ब्रह्म स्वय अपना अधिष्ठान नही है ता फिर अविद्या के लिए कोई अन्य आधार न रहेगा। यदि ऐसा कहा जाता है कि अधिष्ठान को उपाधि के आधार पर समझाया जा सकता है, तो भी यह आधार के आकार की (आधाराकारोपाधि) उपाधि किस प्रकार बिना आधार के हो सकती है। यदि इसके और आधार साचे जाते हैं तो अनवस्था दोष उत्पन्न हागा। पुन यदि यह माना जाता है कि जो मिथ्या है उसे आधार की आवश्यकता नही है ता यह आग्रह किया जा सकता है कि शकर मतवादियो के अनुसार भ्रम अधिष्ठान पर ही होता है फलत पृथ्वी पर विद्यमान घडा भी भ्रम है। इसके अतिरिक्त अविद्या का यह मिथ्या अनुभव मर्यादित या भ्रमपूर्ण अनुभव नहीं है जसेकि यह अनुभव या अन्य चित्त की अवस्थाओं का अनुभव होता है, क्योंकि ये अविद्या के काय माने गए हैं। यदि वे नही हैं, तो वे किसी अन्य दोष के कारण होगे और वे किसी अन्य के कारण हागे इस प्रकार अनवस्था स्थिति उत्पन्न हागी। यदि यह कहा जाता है कि अविद्या अपने अनुभव से भिन्न कुछ नहीं है तो जबकि सभी अनुभव ब्रह्ममय हैं तो ब्रह्म स्वय मिथ्या होगा। पुन यदि अविद्या ब्रह्म के स्वरूप को आवृत्त कर प्रकट हाती है ता सभी शुद्ध ज्ञान आवृत होने और लुप्त हो जाने से स्वय अविद्या भी जो उससे प्रकट हुई है सहज ही लुप्त हो जायगी। यदि वह ब्रह्म रूप से प्रकट होती है और उसका अपना स्वरूप आवृत रहता है, तो स्वय ब्रह्म के ही प्रकट रहने से बन्धन का प्रश्न उठता ही नहीं है। यह स्पष्ट है कि वह अविद्या और ब्रह्म दोनो ही रूपा से प्रकट नही हो सकती क्योकि यह स्वबाधित होगा। क्योकि ज्ञान अज्ञान का नष्ट करता है। यदि ऐसा माना जाता है कि जिस प्रकार दपण, बिम्ब को प्रतिबिम्बित करता है जिसमे दपण का धम अपने को प्रकट कर सकता है और सच्चा मुँह छिप जाता है उसी प्रकार अविद्या बिम्ब प्रकट करती है और स्वय अविद्या एव ब्रह्म छिपा रहता है। अर्थात अपने और ब्रह्म दोनो को छिपा भी सकती है। इस पर उत्तर यह दिया जा सकता है कि तादात्म्य अध्यास के सभी प्रसगा मे भेद का अग्रहण ही भ्रम का कारण होता है। किन्तु ब्रह्मन् और अविद्या दोनो निकटवर्ती देश मे इस प्रकार स्थित नहीं हैं कि जिससे इनके तादात्म्य अध्यास की, ऐसे ही निकटवर्ती देश के कारण हाने वाले भ्रमो के अन्य

उदाहरण से तुलना की जा सके। यदि ऐसा कहा जाता है कि अविद्या, द्रव्य न होने के कारण, जो भी आलोचना सद्रूप, विद्यमान द्रव्यों के बारे में की जा सकती है, वह अविद्या पर उपयुक्त नहीं हो सकती, तो ऐसा सिद्धान्त लगभग शून्यवाद जैसा होगा, क्योंकि शून्यवादी यह मानते हैं कि उनके विरुद्ध की हुई आलोचनाएँ शून्यवाद के सिद्धान्त का खण्डन नहीं करतीं।

बयालीसवां आक्षेप

शंकर मतवादी अविद्या और माया को दो भिन्न प्रत्यय मानते हैं। माया दूसरा को भ्रम में डालती है और अविद्या स्वयं को। माया शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है किन्तु शंकर मतवादियों की धारणा को कोई भी अर्थ संतुष्ट नहीं करता। यदि ऐसा माना जाता है कि माया शब्द में, जिसका ब्रह्म अधिष्ठान है, यह विलक्षणता है कि वह अपने भिन्न रूप दूसरों को प्रकट करती है और उन्हें मोहित करती है तो इसे अविद्या प्रत्यय से पृथक् करना कठिन हो जाता है। यदि ऐसा माना जाता है कि अविद्या का प्रयोग, भ्रम उत्पन्न करने वाले कर्ता के संकुचित अर्थ में किया जाता है जैसाकि रजत शुक्ति के दृष्टान्त में है, तो माया भी अविद्या कही जा सकती है क्योंकि वह भी जगत प्रपंच प्रत्यक्ष कराती है। इसका कोई भी कारण नहीं है कि रजत शुक्ति-भ्रम के कारण को अविद्या क्यों कहा जाय और ऐसे भ्रम को सापेक्ष रूप से बाधित करने वाले सच्चे ज्ञान का ऐसा न कहा जाय। ईश्वर भी अविद्या ग्रस्त माना जा सकता है, क्योंकि उसके सर्वज्ञ होने से, उसे सभी जीवों का ज्ञान है जिसके अन्तर्गत मिथ्या ज्ञान का भी समावेश है। यदि ईश्वर को भ्रम का ज्ञान नहीं है, तो वह सर्वज्ञ न होगा। यह भी मानना गलत है कि माया के सिवाय ब्रह्म के सम्पूर्ण जगत् प्रकट है, और यदि यह ब्रह्म को मिथ्या प्रकट करने के अतिरिक्त सभी को प्रकट करती है और यदि ब्रह्म स्वयं भ्रम में न रहे जो कि जगत प्रपंच का मिथ्या रूप जानता है, तब तो ब्रह्म की अज्ञानावस्था का निराकरण करना ही कठिन होगा। यदि ब्रह्म, सभी पदार्थों का दूसरों का भ्रम है ऐसा जानता है तो उसे दूसरों को जानना चाहिए और साथ ही साथ उनमें रहे भ्रमों को भी फिर इसका अर्थ यह होगा कि ब्रह्म स्वयं अविद्या से प्रभावित है। मिथ्यात्व का ज्ञान भ्रम हुए बिना किस प्रकार हो सकता है यह समझना कठिन है, क्योंकि मिथ्यात्व निरा अभाव नहीं है किन्तु एक वस्तु का, जहाँ वह नहीं है उस स्थान पर दीखना है। यदि ब्रह्म दूसरों को केवल भ्रम में देखता है तो इससे यह अर्थ सिद्ध नहीं होता कि वह अपनी माया से दूसरों को मोहित करता है। कोई बाजीगर हो सकता है जो अपनी झूठी चाल से अपना जादू दिखाने का प्रयत्न करे। ऐसा माना जाय कि माया और अविद्या में यह भेद है कि अविद्या भ्रममय अनुभवों को उत्पन्न कर अनुभव करने वालों के हित को नुकसान पहुँचाती है, जबकि ब्रह्म जो इन जीवों को और उनके अनुभवों को, अपनी माया दृष्टि का देखता है जो उसके हित

को क्षति नहीं पहुँचाती है। इसका यह उत्तर है कि यदि माया किसी के हित का क्षति नहीं पहुँचाती तो उसे दोष नहीं कहा जा सकता। यहाँ आक्षेप किया जा सकता है कि दोष का हानिकारक एवं लाभप्रद फलों से कोई सम्बन्ध नहीं है, किन्तु उनका सम्बन्ध केवल सत्य और मिथ्या से ही है। ऐसा मत स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि मिथ्या और सत्य का उपयोग दृष्टि से मूल्य है और जो भी मिथ्या है वह किसी के हित को नुकसान पहुँचाता है, यदि ऐसा नहीं है तो, कोई भी उसे निवारण करने का प्रयत्न न करेगा। यदि ऐसा तर्क किया जाता है कि माया ब्रह्म मे दोष रूप नहीं है किन्तु उसका गुण है तो यह कहा जायगा कि यदि ऐसा है तो कोई भी उसे हटाने की चिंता न करेगा। पुनः यदि माया ब्रह्म का गुण है, और ऐसे महान् व्यक्ति का प्रयोजन सिद्ध करता है फिर एक छोटा जीव तो हिम्मत ही नहीं कर सकता। यदि जीव ऐसा कर भी सके तो वह सर्वशक्तिमान् सत्ता के व्यावहारिक पक्ष को हानि पहुँचायगा क्योंकि माया एक गुण होने के कारण ब्रह्म के लिए अवश्य ही उपयोगी हो सकती है। माया बिना कारण अपने आपसे नष्ट नहीं की जा सकती, क्योंकि ऐसा मानने से हम क्षणिकवाद मानना पडेगा। यदि माया नित्य और सत् है तो यह हमे द्वैतवाद मानने को बाध्य करेगी। यदि माया ब्रह्म के अन्तर्गत मानी जाय तो ब्रह्म केवल प्रकाश होने से और माया का उसमे समावेश होने से, उसमे जगत् प्रपंच उत्पन्न करने की शक्ति न रहेगी जो उसमे मानी गई है। पुनः माया नित्य होने से मिथ्या नहीं हो सकती। पुनः यदि, ब्रह्म मे से माया का प्रकट होना सत्य माना जाता है तो ब्रह्म का अज्ञान भी सत्य है यदि ब्रह्म म से मिथ्या प्राकट्य है तो ब्रह्म, माया का अपनी लीला के साधन हेतु उपयोग करता है ऐसा मानना निरर्थक होगा। ब्रह्म एक छोटे बालक की तरह झूठे प्रतिबिम्ब चित्रों से खेलता है यह मानना नितान्त अर्थ शून्य है। यदि जीव और ब्रह्म एक ही हैं, तो जीवगत अज्ञान ब्रह्म मे अज्ञान अनुमित नहीं करेगा यह मानना तर्क विरुद्ध होगा। पुनः यदि जीव और ब्रह्म सचमुच भिन्न हैं तो फिर उनके तादात्म्य का ज्ञान कैसे मुक्ति प्रदान कर सकता है? इस प्रकार माया और अविद्या एक दूसरे से भिन्न हैं यह समझ के बाहर है।

तेतालीसवा आक्षेप

शंकर के अनुयायी यह मानते हैं कि अद्वैत के ज्ञान से मुक्ति प्राप्त होती है। अब यह ज्ञान ब्रह्म ज्ञान से भिन्न नहीं हो सकता, क्योंकि यदि ज्ञान विषयरहित है तो वह ज्ञान नहीं है, क्योंकि शंकर मतवादी यह मानते है कि ज्ञान, विषय की वृत्ति रूप चित्त की स्थिति ही हो सकती है (वृत्ति रूप हि ज्ञानं सविषयमेव इति भवतामपि सिद्धान्तम्)। यह ब्रह्म ज्ञान से एक (अभिन्न) भी नहीं हो सकता क्योंकि यदि ऐसा ज्ञान मुक्ति प्रदान कर सकता है तो शुद्ध ब्रह्म का ज्ञान भी वही करा सकता है। ऐसा माना जा सकता है कि रजत सीप के दृष्टान्त मे जब चमकता 'इद' तत्व मे प्रकट है

तो वह रजत के भ्रम के अनुभव के बाधा के समान है और ब्रह्म के सत्य स्वरूप को प्रकट करने वाले तादात्म्य ज्ञान का प्रकट होना, जगत प्रपंच का बाधित होना माना जा सकता है। इस पर यह उत्तर है कि 'इद' की सीप के रूप में सत्ता और उसके रजत रूप भास में तादात्म्य नहीं है। इस प्रकार, एक ज्ञान दूसरे की बाधा कर सकता है किंतु आलोचना के इस दृष्टान्त में, तादात्म्य ज्ञान के विचार में कोई नया तत्व नहीं है जो ब्रह्म ज्ञान में पहले से विद्यमान न था। यदि तादात्म्य विचार सविषय ज्ञान माना जाता है तो वह ब्रह्म ज्ञान से भिन्न होगा और वह स्वयं मिथ्या होने से, भ्रम को दूर नहीं करेगा। ज्ञात वस्तु फिर प्रत्यभिज्ञात होती है यह उदाहरण भी शंकर मत का उपयुक्त समर्थन नहीं है क्योंकि यहाँ प्रत्यभिज्ञा रूप ज्ञान, मूल परिचयात्मक ज्ञान जैसा एक रूप नहीं है, जबकि तादात्म्य ज्ञान ब्रह्म ज्ञान से अभिन्न ही माना गया है। पुन, यदि ऐसा माना जाता है कि वृत्तिरूप सविषय ज्ञान भ्रम को दूर करता है और ब्रह्म ज्ञान उत्पन्न करता है, तो भ्रम सत्य ठहरेंगे क्योंकि वे अन्य वस्तु की तरह नष्ट किए जा सकते हैं।

यदि ऐसा कहा जाता है कि तादात्म्य का प्रत्यय, अविद्या उपहित ब्रह्म को लक्ष्य करता है तो अर्थ यह होगा कि साक्षी चैतन्य द्वारा जगत प्रपंच उत्पन्न होता है और ऐसा प्रकट होना भ्रम को दूर नहीं करेगा।

पुन यह प्रश्न किया जा सकता है कि जो ज्ञान, यह विचार उत्पन्न करता है कि ब्रह्म के अतिरिक्त सभी कुछ मिथ्या है, इसे भी मिथ्या माना जा सकता है या नहीं क्योंकि यह स्वबाधित होगा। यदि जगत् प्रपंच में मिथ्यात्व का विचार स्वयं मिथ्या माना जाय, तो जगत् को सत्य मानना पड़ेगा। यदि यह आग्रह किया जाता है कि जैसे वन्ध्या स्त्री के पुत्र की मृत्यु की कल्पना में बन्ध्या एवं पुत्र दोनों ही मिथ्या हैं उसी प्रकार यहाँ भी जगत् एवं मिथ्यात्व दोनों ही मिथ्या हैं। किन्तु यह उत्तर दिया जा सकता है कि उपरोक्त दृष्टान्त में बन्ध्या स्त्री और पुत्र की मृत्यु का मिथ्यात्व दोनों मिथ्या नहीं हैं। पुन यदि, जगत् प्रपंच का मिथ्यात्व सत्य है तो इससे द्वैतवाद प्रतिपादित होता है।

पुन यदि अनुमान जगत प्रपंच को बाधित करता है तो यह मानने का कोई कारण नहीं है कि वेद के अद्वैतवादी पाठ के श्रवण मात्र से जगत् प्रपंच का बाध हो जायगा। यदि जगत् प्रपंच का विरोध (बाध) ब्रह्म स्वयं के द्वारा उत्पन्न होता है तो ब्रह्म नित्य होने से जगत् भ्रम कभी न होगा। पुन ब्रह्म को अपने शुद्ध स्वरूप में जगत भ्रम के व्यापार में सहायक माना है क्योंकि यदि ऐसा न हो तो भ्रम कभी भी नहीं उत्पन्न हो सकता। यह एक विचित्र सिद्धान्त है कि यद्यपि ब्रह्म अपने शुद्ध स्वरूप से जगत प्रपंच का सहायक है तो भी श्रुति पाठ एवं उनके ज्ञान रूपी अपने अशुद्ध स्वरूप में ब्रह्म, भ्रम को दूर कर सकता है। इसलिए चाहे जिस प्रकार, हम अज्ञान

का दूर करने की सम्भावना का सोचें हम सभ्रमावस्था का सामना करना ही पडता है।

चवालीसवा आक्षेप

अविद्या के अ त का विचार भी अयुक्त है। क्याकि इस सम्ब ध मे प्रश्न यह उपस्थित होता है कि वह अविद्या का अत स्वय सत् है या असत। यदि यह असत है ता ऐस अत से अविद्या उ मूलित की जा सकेगी यह आशा खडित हो जाती है, अ त हाना स्वय अविद्या की अभिव्यक्ति है। यह नही कहा जा सकता कि अविद्या के अ त का आधार आत्मा है क्योकि तब आत्मा को परिणामी मानना पडेगा और यदि किसी प्रकार अविद्या के अ त के लिए किसी सच्चे कारण को आधार के रूप म माना जाता ह ता अ त (निवृत्ति) सत्य हाने से द्वैतवाद उपस्थित हो जाता है। यदि इसे भ्रम माना जाता है और उसक पीछे कोई दोष नही है तो फिर जगत प्रपच को समझाने के लिए अविद्या रूपी दोष की मा यता अनावश्यक है। यदि वह अविद्या एव ब्रह्म की तरह आधार रहित ह तो अविद्या का उससे सम्ब ध जोडना कोई अथ नही रखता। अविद्या के अ त होने के बाद भी वह फिर क्या न दिखाई देती, इसका भा काई योग्य कारण नही दीखता है। यदि यह सूचित किया जाता ह कि, अविद्या के अ त का काय ब्रह्म के अतिरिक्त सभी कुछ मिथ्या ह यह बताना ह और ज्याही यह काय पूण हा जाता ह अविद्या का अत भी पूण हो जाता ह ता फिर एक दूसरी कठिनाई का सामना करना पडता ह। क्याकि यदि अविद्या के अ त का अ त उसका अथ है अर्थात अविद्या पुन स्थापित हा जाती है। यह आग्रह किया जाय कि जब घडा उत्पन्न किया जाता ह तो यह अथ हाता है कि उसके प्रागभाव का नाश हो गया और जब वह घडा फिर जब नष्ट किया जाता है तो इससे यह अथ नही निकलता कि प्रागभाव फिर उत्पन्न हो जाता है, वसा यहाँ भी हो सकता ह। इसका यह उत्तर है कि य दोना दृष्टा त भिन्न हैं उपरोक्त दृष्टा त म एक अभाव का अभाव भावात्मक पदाथ से ह जबकि अविद्या क अ त म निषेध के लिए कोई पदाथ नही ह इसलिए इस दृष्टा त म अभाव, तार्किक अभाव होगा, जा निषेध किए पदाथ को स्वीकार कराएगा, जो अविद्या है। यदि ऐसा कहा जाता ह कि ब्रह्म, अविद्या के निषध के लिए विद्यमान ह तो कठिनाई यह होगी कि ब्रह्म जो अविद्या और उसके अ त का निषेध ह नित्य होने से जगत प्रपच की किसी भी काल म उत्पत्ति नही होनी चाहिए।

यदि अविद्या का अ त भ्रम रूप नही है, और यदि उसका समावेश ब्रह्म के स्वरूप म किया जाता ह तो ब्रह्म अनादि होने से अविद्या सवदा उसम अ तनिहित माननी चाहिए। यह नहीं कहा जा सकता कि ब्रह्म का अस्तित्व स्वय अज्ञान का अ त ह ता फिर अविद्या के अ त का ब्रह्म के स्वरूप की पहिचान के साथ काय कारण सम्ब ध से जोडना असम्भव हागा।

यदि ऐसा सूचन किया जाता है कि ब्रह्म के स्वरूप को प्रतिबिम्बित करती वृत्ति, ब्रह्म के अज्ञान के अन्त को बताती है और यह वृत्ति अन्य कारण द्वारा दूर की जा सकती है तो इसका उत्तर यह है कि ऐसी वृत्ति भ्रम रूप है और इसका अर्थ यह होता है कि अविद्या का अन्त भी भ्रम रूप है। ऐसे मत की आलोचना ऊपर दी गई है। अविद्या का अन्त होना सत्य नहीं है क्योंकि वह ब्रह्म के बाहर है न वह सत्य है और सत्य से भिन्न कुछ और असत्य है क्योंकि यह सचमुच अन्त नहीं प्राप्त करायगा। इसलिए अन्ततोगत्वा, यह न तो असत होगी और न उपरोक्त वस्तुओं से भिन्न होगी, क्योंकि भाव और अभावात्मक तत्त्व का ही सत और असत स्वरूप होता है। अनान, असत् और सत से भिन्न है उसका अन्त सत्य है क्योंकि यह सिद्ध किया जा सकता है। इसलिए अन्त को सत और असत् पदार्थों से भिन्न और विलक्षण मानना पड़ता है। इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि यदि अज्ञान असत जैसा (असतीव) माना जाता है तो दोनों अभाव के दोनों अर्थों में अर्थात् अभाव भाव का दूसरा नाम मात्र ही है और अभाव स्वयं एक स्वतन्त्र पदार्थ है तो अविद्या का मानना द्वैतवाद को उपस्थित करेगा। यदि इसे तुच्छ माना जाता है, तो वह भासमान न होगी, और ऐसी तुच्छ वस्तु का संसार से विरोध [नहीं] [होगा। इस प्रकार, अविद्या का अन्त मुक्ति प्राप्त नहीं कराएगा। पुन यदि अविद्या का अन्त असत है तो इससे अविद्या सत है यह अनुमित होगा। अविद्या का अन्त घड़े के नाश के समान नहीं है जो सचमुच सत्ता रखता है, जिससे कि वह यद्यपि असत रूप दीखे फिर भी घड़े को भावात्मक पदार्थ माना जा सकता है। अविद्या का नाश इसके समान नहीं है क्योंकि इसका कोई रूप नहीं है। यदि ऐसा माना जाता है कि अविद्या का अन्त पांचवें प्रकार का है अर्थात सत् असत सदसत से भिन्न है तो यह वास्तव में माध्यमिकों का अनिर्वचनीय सिद्धान्त मानने जैसा है, क्योंकि यह भी जगत को पांचवें प्रकार का वर्णन करता है। ऐसे नितान्त विलक्षण और अनिर्वचनीय पदार्थ का किसी से सम्बन्ध जोड़ने का कोई भी मार्ग नहीं है।

पैंतालीसवां आक्षेप

शंकर मतवादी ऐसा विवाद करते हैं कि वेद ब्रह्म को लक्ष्य नहीं कर सकते जो सभी प्रत्यक विशिष्ट गुण से रहित है। इसका वेंकटनाथ यह उत्तर देते हैं कि ब्रह्म विशिष्ट गुणयुक्त है और इसलिए यह न्यायपूर्ण है कि वेद उसे लक्ष्य करें। यह भी सोचना गलत है कि ब्रह्म स्वयं प्रकाश होने से शब्द द्वारा प्रकाशित नहीं हो सकता क्योंकि रामानुज सम्प्रदाय के द्वारा यह सिद्ध किया जा चुका है। प्रकाश रूप तत्त्व फिर भी अभिज्ञा का विषय हो सकता है। शंकर मतवादी कभी कभी ब्रह्म को गुण रहित अवस्था भी कहते हैं किन्तु यह स्वयं एक गुण है इसका वे ब्रह्म के विशेषण रूप में उपयोग करते हैं। इसके अतिरिक्त यदि ब्रह्म वेदों के द्वारा लक्ष्य नहीं किया जा

सकता तो ये वेद स्वय निरर्थक होगे। यह भी सोचना गलत है कि वेद ब्रह्म को केवल गौण रूप से लक्ष्य करते हैं जैसे कोई चद्र दीखता है ऐसा बताने के लिए पेड के शिखर की ओर लक्ष्य करता है (शाखा चद्रदर्शन) क्योंकि चाहे कोई भी पद्धति हो ब्रह्म वद द्वारा लक्ष्य होता है। असप्रज्ञात् समाधि की अवस्था भी नितान्त अननुमेय नही है। इस अवस्था के बारे मे कोई कुछ भी शब्द या प्रत्यय का प्रयोग नहीं कर सकता। यदि ब्रह्म सर्वथा गुण रहित है तो यह नही माना जा सकता कि वह वेद द्वारा अर्मनिहित रूप से भी लक्ष्य किया जा सकता है। वेद जो ऐसा कहते हैं कि ब्रह्म वाचा और मन से परे हैं (यतो वाचो निवर्तन्ते) उनका अर्थ यह है कि ब्रह्म में अनन्त गुण हैं। इस प्रकार, शकरवादियो का यह कहना पूर्ण रूप से न्याय विरुद्ध है कि ब्रह्म वेद द्वारा लक्ष्य नही हो सकता।

सतालीसवां आक्षेप

शकरवादी ऐसा मानते हैं कि सभी सविकल्प ज्ञान मिथ्या है, वह रजत सीप की तरह सविकल्प है। यदि सभी कुछ सविकल्प रूप मिथ्या है तो सभी भेद जो विशिष्टता का समावेश करते हैं वे सब मिथ्या होगे और इस प्रकार अन्त में अद्वैत ही रहेगा। ऐसे मत की निरुपयोगिता वेंकटनाथ यह कहकर बताते हैं कि ऐसा अनुमान, अपने सभी अवयवो मे सविकल्प प्रत्यय ग्रहण करता है, और इसलिए मूल प्रतिज्ञा की दृष्टि मे नितान्त अप्रमाण होगा। इसके अतिरिक्त यदि सविकल्प ज्ञान मिथ्या है, तो समर्थन के अभाव मे निर्विकल्प ज्ञान भी मिथ्या होगा। यह भी सोचना मिथ्या है कि अन्य प्रभिज्ञा द्वारा प्रमाण की कमी के कारण सविकल्प ज्ञान मिथ्या है, क्योंकि एक भ्रम दूसरे भ्रम द्वारा प्रमाणित हो सकता है और तब भी मिथ्या हो सकता है और अत का ज्ञान भी प्रमाण की कमी के कारण मिथ्या होगा, इस प्रकार उस पर आधार रखने वाली सभी प्रमाण शृंखला मिथ्या होगी। यह भी सोचना मिथ्या है कि सविकल्प प्रत्यय अर्थक्रियाकारित्व की कसौटी पर कसे नही जा सकते हैं क्योंकि हमारे सभी व्यवहार सविकल्प विचारो पर आधारित हैं। यह भी स्वीकार नही किया जा सकता कि सप्रत्ययात्मक ज्ञान जिनमे सामान्य का निवेश है वे मिथ्या हैं क्योंकि वे किसी भी प्रकार न तो बाधित होते हैं या शकास्पद ही हैं। इस प्रकार यदि सभी सविकल्प ज्ञान मिथ्या माने जाते हैं, तो ऐसी मान्यता हमें अद्वैतवाद की ओर तो नही किन्तु शून्यवाद पर ले जायगी। इसके अतिरिक्त यदि ब्रह्म का निर्विकल्प स्वरूप हमारे बाह्य वस्तु के निर्विकल्प ज्ञान से अनुमित किया जाता है तो निर्विकल्प ज्ञान के मिथ्यात्व के सादृश्य के अनुसार ब्रह्म ज्ञान भी मिथ्या होगा।

पचपनवां आक्षेप

शकर मतवादी मानते हैं कि सभी कार्य मिथ्या हैं क्योंकि वे, तार्किक परिस्थिति

से विचार करने पर स्वबाधित होते हैं। कारण से सम्बन्धित होकर उत्पन्न काय उससे सम्बद्ध होता है या असम्बद्ध ? पहले विकल्प मे, काय और कारण सम्बन्ध से जुडने वाले दो तत्व होने से, काय को कारण से ही क्यो उत्पन्न होना चाहिए और काय से नही, इसका कोई नियम नहीं होगा। यदि कारण काय को बिना सम्बन्ध के उत्पन्न करता है, तो कोई भी किसी को उत्पन्न कर सकता है। पुन यदि काय कारण से भिन्न है तो आपस मे भिन्न पदाथ एक दूसरे को उत्पन्न करेंगे। यदि वे अभिन्न हैं, तो एक दूसरे का उत्पन्न नही कर सकते। यदि ऐसा कहा जाता है कि कारण वह है जो नियत पूववर्ती है और काय नियत उत्तरवर्ती है तो पदाथ प्रागभाव से पूर्व विद्यमान होना चाहिए। पुन यदि काय उपादान कारण से उत्पन्न हुआ माना जाता है, जिसका परिणाम हुआ है तो प्रश्न किया जा सकता है कि वे परिणाम किसी अन्य परिणाम से उत्पन्न हुए होंगे और यह हमे दोषपूर्ण अनवस्था को ले जायगा। यदि काय अपरिणत हुए कारण से उत्पन्न हुआ माना जाता है तो वह उपादान कारण मे नित्य काल तक रहेगा। इसके अतिरिक्त काय मिथ्या रजत जैसा है जो आदि और अन्त मे असत है। किसी तत्व की उत्पत्ति, भाव रूप या अभाव रूप तत्व से नहीं हो सकती क्योंकि काय जैसे कि घडा अपने कारण मिट्टी से, मिट्टी म परिवतन किए बिना अर्थात् उसे किसी भी रूप में निषेध किए बिना उत्पन्न नही किया जा सकता, दूसरी ओर, यदि उत्पत्ति अभाव से मानी जाती है तो वह स्वय अभाव होगी। इसलिए कारण सम्बन्ध का किसी भी प्रकार सोचा जाय, वह व्याघात से पूर्ण ठहरता है।

वेंकटनाथ का उत्तर यहाँ इस प्रकार है कि काय उत्पत्ति के लिए कारण से सम्बन्धित है या नहीं, यह आक्षेप इस मत से निरस्त होता है कि काय, कारण से असम्बन्धित है किन्तु इससे यह अथ नही होता कि जो भी कारण से असम्बन्धित है वह काय होना चाहिए क्योंकि सम्बन्धित न होना मात्र काय को इस प्रकार उत्पन्न करने को प्रेरित नहीं करता कि असम्बन्धित होना ही किसी को किसी से काय रूप से जोड देगा। कारण में रही विशिष्ट शक्ति विशिष्ट कार्य को उत्पन्न करने मे दायित्व रखती है और ये अन्वय व्यतिरेक की सामान्य पद्धति से जानी जा सकती है। कारण अवयवो का आपस का सम्बन्ध ही काय मे स्थानान्तरित होता है। यह प्रसिद्ध है कि कारण सवथा भिन्न प्रकार के काय उत्पन्न करते हैं जैसे कि एक घडा, लकडी और चाक से उत्पन्न होता है। उपादान कारण भी काय रूप उपादान कारण से बहुत भिन्न होता है। यह अवश्य ही स्वीकृत है कि काय विकृत कारण से उत्पन्न होता है, क्योंकि कारण मे कैसा भी परिवतन, फिर वह सहकारी कारण की आसन्नता ही क्यो न हो विकार ही होगा। किन्तु यदि जिस अथ में काय विकार माना जाता है उस अथ में वह कारण में नही स्वीकारा जाता तो उस अथ म यह कहा जा सकता है कि काय अविकृत कारण से उत्पन्न होता है। यह कहना मिथ्या होगा कि कोई भी

काय किसी भी अविकृत कारण से उत्पन्न होता है क्योंकि काय अविकृत कारण से योग्य काल परिस्थिति तथा अपेक्षित कारणों के सम्बन्ध से उत्पन्न होता है। यह भी सूचन करना मिथ्या होगा कि काय का परिणाम के क्रम में पृथक्करण किया जा सकता है इस मान्यता से अनन्तर पूर्ववर्ती के रूप से कारण को ढूँढना असम्भव हो जायगा, और काय इस प्रकार न ढूँढा जा सकने से काय भी नहीं समझा जा सकेगा क्योंकि काय ही प्रत्यक्ष देखने में आता है और यह कारण को अनुमित करता है जिसके बिना वह उत्पन्न नहीं हो सकता। यदि यह आग्रह किया जाता है कि काय नहीं देखा जाता या वह बाधित होता है तो स्पष्ट उत्तर यह है कि न देखना और बाध होना काय है और उनके द्वारा काय का अस्वीकार करना यह आलोचना ही स्वबाधित होती है।

जब उपादान कारण काय रूप में परिणत हो जाता है, उसके कुछ अंश काय के अन्य पदार्थों के रूप में परिणत होने पर भी अपरिणामी रहते हैं और उसके कुछ गुण कुछ ही कार्यों में उपलब्ध होते हैं। इस प्रकार जब सोना चूडी के रूप में और चूडी हार के रूप में परिणत होती है, सोने के स्थायी धर्म चूडी एवं हार में वैसे ही रहते हैं किन्तु चूडी का विशिष्ट रूप हार में नहीं जाता। पुनः यह आक्षेप कि काय कारण में पहले से विद्यमान है, तो फिर कारण व्यापार की आवश्यकता नहीं रहती जैसाकि पहले उसका खण्डन किया जा चुका है और यह भी बताया जा चुका है कि सभी काय रजत सीप की तरह मिथ्या हैं यह प्रतिपादन भी मिथ्या है, क्योंकि ये काय अन्य भ्रमों की तरह बाधित नहीं होते। यह भी सूचन करना गलत है, काय आदि एवं अन्त में अस्तित्व नहीं रखता इसलिए मध्य में भी अस्तित्व नहीं रखता क्योंकि काय का मध्य में अस्तित्व साक्षात् अनुभवगम्य है। दूसरी ओर यह सूचित किया जा सकता है कि काय क्योंकि मध्य में है इसलिए आदि और अन्त में भी है।

शंकर मतवादी यह कहते हैं कि काय रूप से भेद के सभी विचार, एक नित्य तत्व के ऊपर आरोपित किए गए हैं जो सभी तथाकथित भिन्न तत्वों में व्याप्त है और यह व्याप्त तत्व ही सत्य है। इस मान्यता के विरोध में शंकर मतवादियों से यह पूछा *जा सकता है कि वे ब्रह्म और अविद्या दोनों में व्याप्त ऐसे तत्व को ढूंढ निकालें।* यह कहना मिथ्या होगा कि ब्रह्म अपने में और अविद्या में भी है क्योंकि ब्रह्म में द्वैत नहीं हो सकता और अपने में भ्रम का आरोप भी नहीं कर सकता।

यह सुझाव कि दीप की लौ एक रूप से दीखती है वह मिथ्या है इसलिए सभी प्रत्यक्ष मिथ्या हैं। यह स्पष्ट ही मिथ्या है क्योंकि पहले दृष्टान्त में भ्रम का कारण, समान ज्वाला का अतिशीघ्र एकीकरण है, किन्तु यह प्रत्येक प्रत्यक्ष के लिए अनुपयुक्त है।

द्रव्य के रूप में कार्य कारण में अस्तित्व रखता है किन्तु कार्यावस्था के रूप में वह कारण में अस्तित्व नहीं रखता। सत्कार्यवादियों का यह आक्षेप कि यदि कार्यावस्था कारण में विद्यमान न होती तो वह उत्पन्न नहीं की जा सकती थी, और यह भी कि किसी से कुछ भी उत्पन्न हो सकता है यह निरर्थक है, क्योंकि कार्य विशिष्ट शक्ति द्वारा उत्पन्न किया जाता है जो कार्य रूप से, विशिष्ट देशकाल की परिस्थितियों में व्यक्त होता है।

एक प्रश्न पूछा जाता है कि कार्य, भाव या अभाव पदार्थ से उत्पन्न किया जाता है या नहीं, अर्थात् जब कार्य उत्पन्न किया जाता है तब वह द्रव्य अवस्था के रूप में उत्पन्न किया जाता है या नहीं। वेंकटनाथ का उत्तर है कि द्रव्य नित्य स्थायी रहता है। केवल अवस्था और उपाधियाँ जब कार्य उत्पन्न होता है, तब परिणत होती हैं। क्योंकि कार्य की उत्पत्ति में कारण की अवस्था ही में परिणाम होना है न कि कारण के द्रव्य में। इस प्रकार द्रव्य की दृष्टि से ही कार्य और कारण में एकता है उनकी अवस्था की दृष्टि से नहीं है क्योंकि कारण अवस्था के अभाव से ही कार्यावस्था उत्पन्न होती है। यह सुझाव कभी दिया जाता है कि कार्य क्योंकि न तो वह नित्य विद्यमान रहता है और न अविद्यमान रहता है इसलिए मिथ्या होना चाहिए। किन्तु यह स्पष्ट रूप से गलत है क्योंकि एक पदार्थ उत्तर क्षण में नष्ट किया जा सकता है इसलिए इससे यह अर्थ नहीं होता कि वह जब प्रत्यक्ष था तब अविद्यमान था। विनाश का अर्थ यह है कि पदार्थ जो विशिष्ट क्षण में विद्यमान था वह दूसरे क्षण में नहीं है। व्याघात का अर्थ यह है कि पदार्थ का जब अनुभव हुआ था तब भी वह अविद्यमान था। अभाव मात्र विनाश नहीं है क्योंकि प्रागभाव भी विनाश कहा जा सकता है क्योंकि वह भी अविद्यमान है। उत्तर क्षण में अविद्यमान (अभाव) होना भी विनाश नहीं है क्योंकि तब तुच्छ वस्तु भी विनाश (अभाव) कही जाएगी। रजत सीप का दृष्टान्त विनाश का दृष्टान्त नहीं है, क्योंकि वह स्पष्ट ही अनुभव के व्याघात का दृष्टान्त है। इस प्रकार उत्पत्ति विनाश और अभाव के प्रत्ययों का यदि विश्लेषण किया जाय तो हम यह पाएंगे कि कार्य का प्रत्यय कभी भी भ्रम नहीं माना जा सकता।

सतावनवाँ आक्षेप

ऐसा कहा जाता है कि ब्रह्म आनन्द स्वरूप है किन्तु यह ठीक ही कहा जा सकता है कि किसी भी अर्थ में आनन्द को समझा जाय तो भी यह स्वीकार करना असम्भव होगा कि ब्रह्म आनन्द स्वरूप है। यदि आनन्द का अर्थ उस तत्व से है जो सुखदायक अनुभव उत्पन्न करता है तो ब्रह्म ज्ञान गम्य होगा। यदि उसका अर्थ केवल सुखकारक (अनुकूल) अनुभव मात्र ही है, तो ब्रह्म निर्विकल्प शुद्ध चैतन्य नहीं होगा। यदि इसका अर्थ केवल अनुकूल वृत्ति से है तो द्वैत भाव अनुमित होता है। यदि इसका अर्थ दुःख के अभाव से है तो ब्रह्म भाव रूप न होगा और यह सभी ने अच्छी तरह माना है कि ब्रह्म उभय सामान्य या तटस्थ है। इसके अतिरिक्त, स्वयं शंकर मतवादी

के अनुसार ब्रह्मानुभव की स्थिति, निद्रा जसी, भाव रूप स्थिति है। इस प्रकार इस समस्या को किसी भी प्रकार देखा जाय, निर्विकल्प ब्रह्म आन द स्वरूप है यह प्रतिपादन अप्रमाण रहता है।

अठावनवा आक्षेप

यदि ब्रह्म निर्विकल्प है ता उसे नित्य नही माना जा सकता। यदि नित्यता का अथ सदा विद्यमान रहना है तो अविद्या भी नित्य होगी, क्योकि उसका भी सबध सन्त काल से है और काल स्वय उससे हो उत्प न माना गया है। यदि ऐसा आग्रह किया जाता है कि समस्त काल से सम्ब ध का अथ सभी काल मे अस्तित्व होना नहीं है, ता नित्यता की यह परिभाषा मानना कि जो समस्त काल मे विद्यमान रहता है, मिथ्या है केवल यह कहना ही पर्याप्त होगा कि सत्ता स्वय नित्य है। 'समस्त काल का समावेश का केवल (अस्तित्व) सत्ता मात्र से विविक्त करना यह बताता है कि अस्तित्व और नित्यता म भेद है। नित्यता, इस प्रकार सभी काल मे अस्तित्व का अथ रखेगी जा अविद्या के बारे मे स्वीकार किया जा सकता है। नित्यता की ऐसी भी व्याख्या नही की जा सकती कि जिसका समय मे अ त नही होता क्योकि एसी परिभाषा काल का दी जा सकती है जिसका काल मे अ त नही होता। यह भी नही कहा जा सकता कि जा आदि और अन्त मे बाधित नही हाती वह नित्यता है, क्योकि तब जगत् प्रपच भी नित्य होगा। पुन यह समझना कठिन है कि शकर मतवादी चैत य को किस प्रकार नित्य मानते हैं क्योकि यदि इस सामा य चत य के बारे मे स्वीकार किया जाता है, तो यह साक्षात् प्रत्यक्ष अनुभव के विरुद्ध है, और यदि यह परम चत य के बारे मे स्वीकारा जाता है तो यह साक्षात् अनुभव के विरुद्ध है। पुन नित्यता को सार रूप या स्वरूप नही माना जा सकता क्योकि तब वह स्वयप्रकाशता से अभिन्न हो जायगी, और ब्रह्म नित्य है यह कहना अनावश्यक होगा। यदि इसे ज्ञान गम्य गुण माना जाता है तो यदि यह गुण चत य म अस्तित्व रखता है तो चत य ज्ञेय हा जायगा। यदि वह चैत य मे नही है तो उसका ज्ञान, चैत य की नित्यता अनुमित नही करेगा। यह भी नही कहा जा सकता कि जो कुछ उत्पन्न नही होता है वह नित्य है क्याकि तब प्रागभाव नित्य हो जायगा। यदि ऐसा कहा जाता है कोई भी भाव रूप पदाथ जो उत्पन्न नही किया जाता वह नित्य है तो अविद्या भी नित्य हागी। इस प्रकार निर्विकल्प शुद्ध चैत य की नित्यता का सिद्ध करन का कोई भी प्रयास निष्फल रहता है।

इकसठवा आक्षेप

शकर मतवादी बहुधा ऐसा कहते हैं कि आत्मा एकत्व रूप है। यदि आत्मा से यहां अहकार का अथ है तो सभी अहकार एक से ही या एक ही हैं ऐसा नही माना

जा सकता, क्योंकि यह प्रसिद्ध है कि दूसरे के अनुभव हम अपने में कभी अनुभव नहीं करते हैं। यह भी नहीं कहा जा सकता कि हम सबों के चैतन्य की एकता है क्योंकि तब हम एक दूसरे के चित्त को जान लेंगे। यह मानने योग्य नहीं दीखता कि हम में अन्त स्थित सत्ता एक ही है क्योंकि इसका अर्थ यह होगा कि सभी जीव एक हैं। हम सर्वव्यापी सत्ता को सोच सकते हैं मान सकते हैं किन्तु इसका अर्थ सत् पदार्थों की एकता नहीं होगी। पुन, जीवों की एकता सत्य नहीं मानी जा सकती, क्योंकि जीवों को असत्य माना है। यदि जीवों की एकता मिथ्या है तो यह समझ में नहीं आता कि ऐसे सिद्धान्त का प्रतिपादन क्यों करना चाहिए। जो कुछ भी हो, जब हमें हमारे व्यावहारिक जीवन से काम है तो हमें जीवों की भिन्नता माननी पड़ती है और उनकी एकता को सिद्ध करने का कोई प्रमाण नहीं मिलता। इस प्रकार जैसाकि शंकर-मतवादी सोचते हैं, जीव एक ही है, यह गलत है।

मेघनादारि

आत्रेयनाथ सूरि के पुत्र मेघनादारि रामानुज सम्प्रदाय के अति प्राचीन अनुयायी दीखते हैं। उन्होंने कम से कम दो पुस्तकें लिखीं, 'नयप्रकाशिका' और नय द्यु मणि' ये दोनों ही अभी तक हस्तलिखित रूप में ही हैं, लेखक को केवल दूसरी (पिछली) पुस्तक ही प्राप्त हुई है। रामानुज के प्रामाण्यवाद पर मेघनादारि के अति महत्वपूर्ण योगदान को विस्तृत रूप से हमने वेंकटनाथ के इसी विषय पर प्रतिपादन के प्रसंग में विवेचन किया है। इसलिए रामानुज दर्शन के कुछ अन्य विषयों पर ही, उनके मत की चर्चा यहाँ प्रस्तुत की जायगी।

स्वत प्रामाण्यवाद

वेंकटनाथ अपने तत्वमुक्ताकलाप' एवं सर्वार्थ सिद्धि' में कहते हैं कि ज्ञान, विषय को यथार्थ रूप में प्रकट करता है। मिथ्या भी कम से कम यहाँ तक सत्य है कि वह मिथ्या के विषय को इंगित करता है। मिथ्यात्व या मिथ्या विशेष दोषपूर्ण उपाधियों के कारण हैं।[1] घड़ा है जब यह ज्ञान होता है तो घड़े का अस्तित्व उसका प्रमाण है (प्रामाण्य) और यह घड़ा अस्तित्ववान् है इस ज्ञान से ही जाना जाता

---

[1] ज्ञानानां यथावस्थितार्थप्रकाशकत्वं सामान्यमेव भ्रान्तस्यापि ज्ञानस्य धर्मिण्यभ्रान्तत्वात् तो वह्न्यादे र्दाहकत्ववज्ज्ञानानां प्रामाण्यं स्वाभाविकमेव उपाधेमणि मन्त्रवद्दोषोपाधिवशादप्रामाण्यं भ्रमादो।

—सर्वार्थ सिद्धि, पृ० ५५४।

है।[1] सीप में भी जब रजत का ज्ञान होता है, तब भी उसी ज्ञान में, दृष्ट रूप से रजत के अस्तित्व का ज्ञान अनुमित है और इस प्रकार भ्रम रूप ज्ञान में भी जहाँ तक वह प्रत्यक्ष के विषय की सत्ता बताता है, उस अंश में स्वतः प्रामाण्य है।[2]

मेघनादारि, जो सम्भवतः वेंकटनाथ के पूर्वगामी रहे होंगे, स्वतः प्रामाण्यवाद का भिन्न वर्णन करते हैं। ये कहते हैं कि प्रमाणता ज्ञान की प्रतीति के कारण है (प्रामाण्य ज्ञान सत्ता प्रतीति कारणादेव) क्योंकि प्रमाणता का कारण होना चाहिए उसका और कोई दूसरा कारण उपलब्ध नहीं होता।[3]

नैयायिक मीमांसकों के स्वतः प्रामाण्यवाद के विरोध में तर्क करते हैं कि ज्ञान के प्रत्येक प्रसंग में स्वतः प्रमाणता उत्पन्न नहीं होती है क्योंकि मीमांसक यह मानते हैं कि वेद नित्य हैं और इस प्रकार उनकी स्वतः प्रमाणता की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती। ऐसा भी नहीं माना जा सकता कि स्वतः प्रमाणता केवल कुछ ही प्रसंगों में उत्पन्न होती है क्योंकि यदि ऐसा होता है तो यह प्रतिज्ञा निषिद्ध होती है कि सभी ज्ञान स्वतः प्रमाण है इसलिए युक्त मत यह है कि वही ज्ञान स्वतः प्रमाण है जो व्यवहार में अबाधित हो (अबाधित व्यवहार हेतुत्वमेव ज्ञानस्य प्रामाण्यम्)।[4] स्वतः प्रमाणता एक विशिष्ट शक्ति नहीं मानी जा सकती क्योंकि ऐसी शक्ति इन्द्रियगोचर नहीं है इसलिए उसे अनुमान या अन्य साधन द्वारा ही जानना पड़ता है जिन इन्द्रियों द्वारा ज्ञान प्राप्त किया जाता है, उनसे भी एक स्वतन्त्र नहीं मानी जा सकती क्योंकि ऐसी इन्द्रियों की सत्ता स्वयं ही केवल ज्ञान द्वारा अनुमित की जाती है न कि केवल सत्य ज्ञान द्वारा।

शंकर मतवादियों के विरोध में तर्क करते हुए नैयायिक ऐसा कहते देखे गए हैं कि उनके मतानुसार ज्ञान स्वयं प्रकाश होने के कारण, ज्ञान की प्रमाणता को अबाधित अनुभूति या अन्य साधनों द्वारा, निश्चित करने के लिए कोई मार्ग नहीं है जबकि, उनके अनुसार, सभी मिथ्या है इसलिए उनके दर्शन में प्रामाण्यता या अप्रामाण्यता का कोई स्थान नहीं होना चाहिए क्योंकि यदि यह भेद माना जाता है तो द्वैतवाद उपस्थित हो जाता है। इस पर मेघनादारि कहते हैं कि यदि स्वतः प्रामाण्य स्वीकार नहीं किया जाता, तो प्रमाणता का सारा विचार ही त्याग देना पड़ता है क्योंकि यदि प्रमाणता, ज्ञान की योग्य उपाधियों के ज्ञान या दोष की अनुपस्थिति के ज्ञान से

---

[1] घटोऽस्तीति ज्ञानमुत्पद्यते तत्र विषयास्तित्वमेव प्रमाण्यं तत्तु तेनैव ज्ञानेन प्रतीयते अतः स्वतः प्रामाण्यम्। वही।

[2] देखो वही।

[3] नय द्युमणि पृ० २१ (हस्त०)

[4] वही पृ० २२।

उत्पन्न होती है, तो ऐसे ज्ञान को स्वत प्रामाण्य मानना पडेगा, फिर इसे किसी अन्य ज्ञान पर अवलम्बित होना पडेगा और उसे किसी अन्य पर, इस तरह अनवस्था दोष होगा। इसलिए ज्ञान को स्वरूप से ही स्वत प्रामाण्य मानना चाहिए, और उसकी अप्रमाणता तभी अवगत होती ह जबकि ज्ञान के कारण दोष और दोष रूप सह कारियो का योगज्ञान, अन्य साधना द्वारा जाना जाता है। किन्तु कुमारिल के अनुयायियो क अनुसार स्वत प्रमाणता सिद्ध करने की पद्धति की आलोचना की जा सकती ह क्योकि उनकी प्रणाली के अनुसार ज्ञान का अस्तित्व विषय के प्राकट्य से केवल अनुमित ही किया जाता ह यह अनुमान आगे ज्ञान की स्वत प्रमाणता को भी नही प्राप्त करा सकता। जो घटक ज्ञान उत्पन्न करते हैं वे ही स्वत प्रामाण्य उत्पन्न करते हैं यह अस्वीकार्य है, क्योकि इन्द्रियो का भी ज्ञान का कारण मानना पडता है, जोकि सदोष हो सकती हैं। पुन ऐसा माना गया है कि तथाभूत, ज्ञान ही प्रमाण है, और अतथाभूत अप्रामाण्य है ऐसा अप्रामाण्य और प्रामाण्य स्वय ज्ञान द्वारा ही प्रकट होता है। मघनादारि उत्तर देते हैं कि यदि ऐसी तथाभूतता विषय का गुण है तो वह ज्ञान का प्रामाण्य स्थापित नही करती यदि वह ज्ञान का गुण है तो स्मृति का भी स्वत प्रमाणित मानना पडेगा क्याकि उसम भी तथाभूतता है। पुन प्रश्न खडा होता है कि स्वत प्रामाण्य उत्पन्न होता है या जाना भी जाता है। पहले प्रसग मे, स्वत प्रामाण्य की स्वय प्रकाशता त्याग देनी पडेगी और पिछले प्रसग मे, कुमारिल का मत अप्रतिपादनीय हो जाता है क्योकि इसके अनुसार ज्ञान स्वय, विषय के प्राकटय से अनुमित होने के कारण उसकी स्वत प्रमाणता स्पष्टत स्वय प्रकाशित नही हो सकती।

मेघनादारि, इसलिए, विवाद करते हैं कि अनुभूति स्वय उसकी प्रमाणता है ज्ञान का प्रकाशित करने म ही वह उसकी प्रमाणता का विश्वास भी साथ लाती है। अप्रमाणता दूसरी ओर दूसरे स्रोतो द्वारा सूचित होती है। अनुभूति स्वरूपत स्मृति से भिन्न होती है।[1] इस विवाद का सारा भार (बल) उनके मत मे, इसी मे है कि प्रत्येक ज्ञान, अपनी ज्ञातता क साथ उसकी सचाई वहन करता है और क्याकि यह प्रत्यक ज्ञान क साथ प्रकट होता है इसीलिए उसी अर्थ म सभी ज्ञान स्वत प्रामाण्य हैं। एसी स्वत प्रमाणता इसलिए उत्पन्न नही की जाती क्योकि वह व्यवहारत ज्ञान से अभिन्न है। मेघनादारि बताते हैं कि यह मत रामानुज स्वय के स्वत प्रामाण्यवाद के सिद्धान्त स स्पष्टत विरुद्ध है जिसके अनुसार स्वत प्रमाणता ज्ञान के कारण से उत्पन्न होती है। किन्तु इस सम्बन्ध मे रामानुज के कथन का भिन्न प्रकार

---

[1] अनुभूतित्व वा प्रामाण्यमस्तु तच्च ज्ञानावान्तर जाति, साच स्मृतिज्ञान जातित पृथक्तया लोकत एव सिद्धा अनुभूत स्वसत्तया एव स्फूर्ते।

—नय द्युमणि, पृ० ३१।

से अर्थ लगाना होगा, क्योंकि ईश्वर और मुक्त जीवों में ज्ञान नित्य और अनादि होने के कारण कोई भी मत जो स्वतः प्रमाणता की परिभाषा इस प्रकार करता है कि, जिस स्रोत से ज्ञान उत्पन्न होता है उसी से वह भी उत्पन्न है[1] अनुपयुक्त ठहरेगा।

काल

मेघनादारि के अनुसार काल एक पृथक् तत्व नहीं है। वे यह बताने का कठिन प्रयास करते हैं कि स्वयं रामानुज ने ब्रह्मसूत्र की अपनी टीका में 'वेदान्त दीप' और वेदान्त सार' में, काल को, एक पृथक तत्व के रूप में निराकृत किया है। काल का विचार सूर्य के पृथ्वी के सम्बन्ध में रात्री चक्र के आपेक्षिक स्थान से उत्पन्न होता है। सूर्य की आपेक्षिक स्थिति से मर्यादित पृथ्वी के देश की परिवर्तित अवस्था काल है।[2] यह मत वेंकटनाथ के मत से नितान्त भिन्न है, जिसे हम आगे वर्णन करेंगे।

कर्म और उनके फल

मेघनादारि के अनुसार कर्म, ईश्वर की प्रीति अप्रीति द्वारा अपने फल देते हैं। यद्यपि सामान्य कर्म को पाप और पुण्य की संज्ञा दी जाती है, तो भी सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो पाप और पुण्य को कर्म के फल मानना चाहिए और ये फल ईश्वर की प्रीति और अप्रीति से अन्यथा कुछ नहीं हैं। भूतकाल में किए अच्छे कर्म भविष्य में, सहायक प्रवृत्ति सामर्थ्य और उनके अनुरूप परिस्थिति द्वारा अच्छे कर्मों को निश्चित करते हैं और बुरे कर्म मनुष्य को बलात् बुरे कर्मों में प्रवृत्त करते हैं। प्रलय के समय भी पृथक रूप से धर्म और अधर्म नहीं होते, किन्तु जीव के कर्मों से उत्पन्न ईश्वर की प्रीति और राग, उसके सुख दुःख का स्वरूप और विस्तार इसके सृष्टि क्रम के समय धर्म या अधर्म के प्रति उसकी प्रवृत्ति को निश्चित करते हैं। कर्म के फल स्वर्ग या नरक में और इस पृथ्वी पर अनुभव किए जाते हैं जब जीव स्वर्ग या नरक से पृथ्वी पर जा रहा होता है तब यह नहीं होता, क्योंकि उस समय सुख दुःख का अनुभव नहीं होता वह तो एक संक्रमण की अवस्था है। पुनः उन यज्ञों के अतिरिक्त जो दूसरे मनुष्यों को पीड़ा या दुःख पहुँचाने के लिए किए जाते हैं स्वर्ग प्राप्ति या अन्य सुख हेतु से किए गए यज्ञों में पशुओं की हिंसा पाप नहीं है।[3]

---

[1] वही पृ० २८।

[2] सूर्यादि सम्बन्ध विशेषोपाधित पृथिव्यादि देशनामेव काल संज्ञा।

—नय द्युमणि पृ० १६८।

[3] वही, पृ० २४३-४६।

वात्स्यवरद

वेदों का अध्ययन करना चाहिए, शास्त्राज्ञा के इस सिद्धान्त के विषय में, वरद अपनी 'प्रमेय माला' में, शाबर भाष्य से विरुद्ध यह मत प्रतिपादित करते हैं कि शास्त्र आज्ञा वेद के अध्ययन मात्र से परिपूर्ण होती है उनके पाठों के अर्थ की जिज्ञासा की अपेक्षा नहीं करती। ऐसी जिज्ञासा, यज्ञ के सचमुच अनुष्ठान में उनके अर्थ की सामान्य जिज्ञासा और मानेच्छा से उद्भूत होती है। ये वैदिक विधि के अंग नहीं हैं।

वात्स्यवरद यह मानते हैं कि वेदों का अध्ययन एवं ब्रह्म जिज्ञासा एक ही शास्त्र के अंग हैं, अर्थात् पिछला पहले का परिशेष ही है, और वे बोधायन का उल्लेख कर उसे प्रमाणित करते हैं।

शंकर ने सोचा था कि केवल विशिष्ट वर्ग के लिए मीमांसा का अध्ययन करने के लिए कहा गया है जो ब्रह्म जिज्ञासा रखते थे उनके लिए आवश्यक नहीं है। पूर्व और उत्तर मीमांसा भिन्न प्रयोजन के लिए हैं और भिन्न लेखकों द्वारा लिखी गयी हैं। इसलिए इन्हें एक ही ग्रन्थ के दो खंड या भाग नहीं मानना चाहिए। इसका वात्स्य-वरद, बोधायन का अनुसरण करते हुए अपवाद लेते हैं क्योंकि उनके अनुसार यद्यपि पूर्व और उत्तर मीमांसा दो भिन्न लेखकों द्वारा लिखी गई हैं तो भी ये दोनों मिलकर एक ही मत का प्रतिपादन करते हैं और ये दोनों एक ही पुस्तक के दो प्रकरण या भाग माने जा सकते हैं।

पूर्व मीमांसा जगत् की सत्ता में विश्वास करती है जबकि ब्रह्म सूत्र इसे अस्वीकार करता है इसलिए इन दोनों का एक ही हेतु नहीं हो सकता शंकर के इस मत का उल्लेख करते हुए भी वात्स्यवरद जगत् की सत्ता स्वीकार करते हैं। सभी ज्ञेय पदार्थ मिथ्या हैं शंकर का यह तर्क आत्मा के लिए भी प्रयुक्त होता है क्योंकि अनेक उपनिषद् आत्मा को दृश्य कहते हैं। जगत् मिथ्या है उनकी इस उक्ति से यह अर्थ निकलेगा कि मिथ्यात्व भी मिथ्या है क्योंकि वह जगत् का अंग है। ऐसा तर्क शंकर को स्वीकार्य होना चाहिए क्योंकि वे स्वयं शून्यवाद के निरास में इसका प्रयोग करते हैं।

शंकर मतवादियों द्वारा भेद पदार्थ अस्वीकार करने के विषय में वात्स्यवरद कहते हैं कि प्रतिवादी यह किसी प्रकार भी स्वीकार नहीं कर सकते कि भेद देखा जाता है, क्योंकि उनके सभी तर्क, भेद की सत्ता की मान्यता पर आधारित हैं। यदि भेद न हो, तो पक्ष न होंगे और न किसी मत का खण्डन ही होगा। यदि यह मान लिया जाता है कि भेद अनुभवगम्य है तो प्रतिपक्षी को यह मानना पड़ेगा कि भेद का अनोखा एवं योग्य कारण होना चाहिए। भेद के विचार में मुख्य विषय यह है कि वह अपने स्वरूप से ही द्विविध धर्म रखता है अपनी जाति के पदार्थों से सामान्य समानता का धर्म और वह धर्म जिससे वह अन्य से भिन्न है। दूसरे धर्म में वह अन्य को अपने

मे समाविष्ट करता है। जब यह कहा जाता है एक पदार्थ भिन्न है तो उसका अर्थ यह नहीं होता कि भेद उस वस्तु से अभिन्न है या वह वस्तु का केवल दूसरा नाम ही है, कि तु उसका अर्थ यह है कि भिन्न जानी हुई वस्तु दूसरी वस्तुओं से बाहर लक्ष्य करती है। अन्य पदार्थों की ओर बाहर लक्ष्य, जब पदार्थ के साथ सोचा जाता है तब यह भेद का अनुभव उत्पन्न करता है।

भेद का विचार अभाव के विचार का सन्निविष्ट करता है जैसाकि अन्यत्व या भिन्नत्व के विचार में है। क्या यह अभाव, जिसे भिन्न सोचा जाता है, उन विषयों से स्वरूप से भिन्न है या अन्य विषयों के 'इतर' से भिन्न है ? क्योंकि अभाव साक्षात् प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता, ता भेद भी प्रत्यक्ष द्वारा साक्षात् गम्य नहीं हो सकता। विशिष्टाद्वैत मत इसे स्वीकार करता है कि भेद साक्षात् अनुभव गम्य है। इसे सिद्ध करने के लिए, वात्स्यवरद अभाव का विशिष्ट अर्थ करते हैं। वे मानते हैं कि एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ में अभाव, दूसरे पदार्थ में विशिष्ट गुणों के होने से होता है, जो पहले पदार्थ के साथ संबंध का सन्निवेश करता है। इस प्रकार अभाव का विचार पदार्थ के विशिष्ट परिणत गुण से उत्पन्न होता है, जिसमें अभाव स्वीकार किया जाता है। बहुत से शंकर मतवादी अभाव को भाव रूप मानते हैं किन्तु वे उसे एक विशिष्ट पदार्थ मानते हैं जो अनुपलब्धि प्रमाण द्वारा अभाव के प्रतियोगी रूप मे जाना जाता है। यद्यपि वह भाव रूप है तो भी उनके मतानुसार अभाव का विचार जिसमें अभाव स्वीकार किया गया है, उस पदार्थ के विशिष्ट परिणत धर्म से नहीं जाना जाता है। किन्तु वात्स्यवरद मानते हैं कि अभाव का विचार जिसमें अभाव स्वीकारा गया है उस पदार्थ के विशिष्ट परिणत धर्म के ज्ञान से उत्पन्न होता है।[1] एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ की भिन्नता के रूप में जो अभाव प्रकट होता है उससे यह अर्थ निकलता है कि पिछला पदार्थ, पहले पदार्थ के विशिष्ट गुणों मे सन्निविष्ट है जिससे दूसरे को लक्ष्य करना शक्य हो जाता है।

वात्स्यवरद इस मत पर जोर देते हैं कि सत्य ज्ञान अनन्त इत्यादि लक्षण ब्रह्म को लक्ष्य करते हैं इससे यह प्रकट है कि ईश्वर के ये गुण हैं और ये सब एक ही ब्रह्म का *लक्ष्य करते हैं ऐसी अद्वैतवादी व्याख्या मिथ्या है।* वे ब्रह्म के अनन्त और *अमर्याद* स्वरूप का भी वर्णन करते हैं और किसी उचित अर्थ मे जगत् और जीव ब्रह्म के शरीर माने जा सकते हैं इसे स्पष्ट करते हैं जीव ईश्वर के लिए अस्तित्व रखते हैं जो उनका अंतिम साध्य है। वे इस ग्रन्थ में बाह्य कर्मकाण्ड के ही कुछ विषयों का भी उल्लेख करते हैं जैसेकि मुण्डन संन्यासी द्वारा यज्ञोपवीत ग्रहण करना इत्यादि।

---

[1] प्रतियोगि बुद्धौ वस्तु विशेष धीरे वोपेता नास्तीति व्यवहार हेतुः।
—वरद प्रमेय माला, पृ० ३५ (हस्त०)।

वरद अपने 'तत्व सार' मे, रामानुज भाष्य के कुछ रोचक विषय सगृहीत करते हैं और उनका गद्य और पद्य मे अर्थ करते हैं। उनमें से कुछ विषय निम्नाकित हैं (१) ईश्वर की सत्ता तर्क द्वारा सिद्ध नही की जा सकती किन्तु शास्त्र प्रमाण द्वारा ही स्वीकृत की जा सकती है (२) उपनिषद् के महत्वपूर्ण पाठो का विशिष्ट अर्थ बोधन जैसेकि कप्यास स्थल इत्यादि, (३) रामानुज के अनुसार वेदान्त के महत्वपूर्ण अधिकरणों की निष्पत्ति (४) अभाव एक प्रकार का केवल स्वीकार है यह सिद्धान्त (५) भासमान द्वैत एव अद्वैतवादी ग्रन्थो का अर्थ बाधन, (६) जगत् की सत्ता के विषय मे चर्चा इत्यादि।

'तत्व सार' ने इसके बाद वाधुल नरसिंह के गुरु वाधुल वरद गुरु के शिष्य, वाधुल वेंकटाचार्य के पुत्र वीर राघवदास द्वारा रत्नसारिणी नामक दूसरी टीका को प्रोत्साहित किया। वात्स्यवरद के कुछ ये ग्रन्थ हैं 'साराथ चतुष्टय' आराधना सग्रह 'तत्व निर्णय, प्रपन्न पारिजात, यति लिंग समर्थन और पुरुष निर्णय।'

रामानुजाचार्य द्वितीय या वादिहंस नवाम्बुद

पद्मनाभाचार्य के पुत्र रामानुजाचार्य द्वितीय अत्रि कुल के थे। वे रामानुज सम्प्रदाय के प्रसिद्ध लेखक वेंकटनाथ के मामा थे। उन्होंने न्याय कुलिश लिखा, जिसका उल्लेख बहुधा वेंकटनाथ की 'सर्वार्थ सिद्धि' में आता है। उन्होंने एक और ग्रन्थ रचा जो 'मोक्ष सिद्धि' है। रामानुज के विचारो का उनके द्वारा किया गया अर्थ बाधन वेंकटनाथ द्वारा स्पष्ट किए रामानुज के प्रामाण्यवाद के सदर्भ में पहले ही दिया जा चुका है। उनके दूसरे योगदान सक्षेप में निम्न प्रकार हैं।

अभाव रामानुजाचार्य द्वितीय, अभाव को पृथक् पदार्थ नही मानते। वे सोचते हैं कि एक पदार्थ के अभाव का अर्थ उससे भिन्न किसी दूसरे पदार्थ से ही होता है। इस प्रकार घटे के अभाव का अर्थ, उससे भिन्न किसी दूसरे की सत्ता से है। अभाव का सच्चा विचार केवल भेद ही है। अभाव का भाव पदार्थ के विरोधी रूप से वर्णन है इस प्रकार, अभाव का किसी भाव पदार्थ से सम्बन्धित किए बिना सोचने का कोई मार्ग नहीं है। किन्तु एक भाव पदार्थ, अभाव के सम्बन्ध द्वारा अपनी विशिष्टता की आवश्यकता नहीं रखता।[2] यह भी प्रसिद्ध है कि अभाव का अभाव भाव के

[1] अपने 'तत्व निर्णय' मे वे ये सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि महत्वपूर्ण श्रुतिपाठ के अनुसार नारायण ही महान् देव हैं। इस पुस्तक मे वे 'पुरुष निर्णय' का उल्लेख करते हैं जिसमे वे कहते हैं कि उन्होंने इस विषय की विस्तार से चर्चा की है।

[2] अभावस्य तद्रूप यद्भाव प्रतिपद्यता
नैवम् धाप्यसौ यस्मान् भावोत्तीर्णेन साधित। —न्याय कुलिश हस्त०, ।

अस्तित्व से अन्यथा कुछ भी नही है। अभाव का अस्तित्व प्रत्यक्ष, अनुमान या उपमान द्वारा नही हो सकता। वेंकटनाथ इस विचार को आगे स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि अभाव में अनुपस्थिति का विचार अभावात्मक पदार्थ का भिन्न प्रकार के देश काल धर्मों के सहचार से उत्पन्न किया जाता है।[1] इस प्रकार जब ऐसा कहा जाता है कि यहाँ घडा नही है तो उसका अर्थ यह होता है कि घडा अन्य जगह पर विद्यमान है। ऐसा तर्क किया जाता है कि अभाव को भाव पदार्थ का अस्तित्व नही माना जा सकता और यह प्रश्न किया जा सकता है कि यदि अभाव को अभाव नहीं माना जा सकता तो फिर अभाव के अभाव का भाव पदार्थ की सत्ता कैसे मानी जा सकती है। जिस प्रकार जो अभाव का स्वीकार करते हैं वे अभाव एवं भाव पदार्थ की सत्ता को आपस मे विरोधी मानते हैं उसी प्रकार, रामानुजवादी भी भाव पदार्थ की सत्ता मानते है और अभाव का भिन्न देश काल धर्मों से विरोध करने वाला पदार्थ मानते है। इस प्रकार अभाव का पृथक् पदार्थ मानना आवश्यक नही है। जब एक विद्यमान पदार्थ के नष्ट होने की बात कही जाती है, तब केवल उसकी अवस्था का परिणाम होता है। प्रागभाव एवं प्रध्वंसाभाव दो पदार्थों का आगे पीछे क्रम से आने के सिवाय और कुछ अर्थ नही रखते और ऐसी अवस्थाओं की अनन्त परम्पराएं हो सकती हैं। यदि इस मत का अंगीकार नहीं किया जाकर और प्रध्वंसाभाव और प्रागभाव अभाव के पृथक भेद रूप से माने जाय तो प्रागभाव का विनाश और प्रध्वंसाभाव का प्रागभाव, अभाव की अनन्त परम्परा पर आश्रित हो जाएगे और हमे अनवस्था दोष पर ले जाएगे। नई अवस्था का अनुक्रम ही पुरानी अवस्था का विनाश माना जाता है, क्योंकि पहली दूसरी से भिन्न अवस्था ही है। कभी कभी ऐसा माना जाता है कि अभाव शून्यता मात्र है और वह भाव पदार्थ से कोई सम्बन्ध नही रखता। यदि ऐसा हो तो एक ओर अभाव अकारण हो जायगा और दूसरी ओर वह किसी का कारण न रहगा और इस प्रकार अभाव अनादि और अनन्त हो जायगा। ऐसी परिस्थिति मे सारा जगत् अभाव की पकड मे आ जायगा और जगत् के समस्त पदार्थ नष्ट हो जाएगे। इस प्रकार अभाव को एक पृथक पदार्थ के रूप मे मानना आवश्यक है। एक भाव पदार्थ का दूसरे से भेद ही अभाव है।

दूसरी समस्या इस सम्बन्ध मे जो उपस्थित होती है वह यह है कि यदि अभाव का एक पृथक पदार्थ नहीं माना जाता तो अभाव रूप कारण को कैसे माना जा सकता है। यह प्रसिद्ध है कि कारण अन्यथान्याश्रय द्वारा तभी कार्य उत्पन्न कर सकते हैं जबकि

---

[1] तत्तत्प्रतियोगि भाव स्फुरण सहकृतो देशकालादि भेद एव स्वभावात् नञ प्रयोग मपि सहते।

—सर्वार्थ सिद्धि, पृ० ७१४।

उनकी उत्पादक शक्ति का विरोध करने वाले निषेधात्मक कारण न हों। इस शक्ति को रामानुज सम्प्रदाय में सहकारी तत्वों की अयोग्य आश्रयता के रूप में स्वीकार किया गया है जो कारण कार्य उत्पत्ति में सहायक है (कारणस्य कार्योपयोगी सहकारि-कलाप शक्तिरिति उच्यते)।[1] इस पर रामानुजाचार्य का उत्तर यह है कि निष्फल करने वाले कारणों को पृथक कारण नहीं माना जाता किन्तु अन्य सहकारी तत्वों के साथ निष्फल करने वाले कारकों की उपस्थिति जो सहकारी कारण तत्वों को कार्य उत्पन्न करने में निरुपयोगी बना देती है वह कार्य को निष्फल कर देती है। इस प्रकार दो प्रकार के सहकारी तत्वों का समाहार होता है जहाँ कार्य उत्पन्न होता है या नहीं होता है, और इन समाहारों का भेद एक प्रसंग में कार्य को उत्पन्न करने में और अन्य में उत्पन्न न करने में दायित्व रखता है किन्तु इससे यह अर्थ नहीं निकलता कि अवरोधक तत्वों की अनुपस्थिति या अभाव, कारण उत्पन्न करने में योगदान करती है। एक प्रसंग में उत्पन्न करने की शक्ति थी, और दूसरे में ऐसी शक्ति नहीं थी।[2] रामानुजाचार्य शक्ति को एक पृथक अतीन्द्रिय तत्व नहीं मानते हैं किन्तु वह कार्य उत्पन्न करने वाली शक्ति को निगूढ विशिष्टता है ऐसा मानते हैं। (शक्तिगत जात्यनभ्युपगमे तदभावात् शक्तस्यैव जाति कार्य नियामिका न तु शक्ति जातिरिति)।[3]

जाति

रामानुजाचार्य जाति को व्यक्ति के अमूर्त सामान्य के रूप में स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार दूसरों के सदृश किसी भी अंश का एक रूप संघात (सुसदृश संस्थान) जाति है।[4]

---

[1] सर्वार्थ सिद्धि पृ० ६८५।

[2] सिद्ध वस्तु विरोधी घातक साध्य-वस्तु विरोधी प्रतिबन्धक, कथं यदि कार्य तद् विरुद्धत्वमिति चेन्न इत्थं कार्य कारण पौष्कल्ये भवति तदपौष्कल्ये न भवति अपौष्कल्यं च क्वचित् कारणानामन्यतम वैकल्यात् क्वचित् शक्ति-वैकल्यादिति, मियत यद्यपि शक्ति न कारणं तथापि शक्तस्यैव कारणत्वात् विशेषणाभावेऽपि विशिष्टाभाव-न्यायेन कारणाभाव। तदुभयकारणे न प्रागभावस्थिति करणात् कार्य विरोधीति प्रतिबन्धको भवति तत्र यथा कारण वैकल्य दृष्ट रूपेण मुक्तोऽभाव कारण न स्यात् तथा शक्ति विघ्नित यो हि नाम प्रतिबन्धक कारणं किंचिद् विनाश्य कार्य प्रतिबध्नाति न तस्याभाव कारणमिति सिद्धम्।

—न्याय कुलिश, हस्त०।

[3] वही।

[4] न्याय कुलिश, हस्त०।

रामानुजाचार्य के अनुयायी वेंकटनाथ, जाति को सौसादृश्य कहकर व्याख्या करते हैं। न्यायमत जाति के मत की आलोचना करते हुए वे कहते हैं, कि जो जाति को प्रकट करता है वह स्वयं जाति से प्रकट होता है, तो इन जातियों को दूसरों के द्वारा प्रकट होना चाहिए और इन्हें फिर दूसरों से जो अन्त में अनवस्था दोष उत्पन्न करता है। यदि इस दोष से बचने के लिए ऐसा माना जाता है कि जाति को व्यक्त करने वाले इसकी श्रेणी के अंश के व्यक्त होने के लिए जाति की अपेक्षा नहीं होती, तो फिर यह कहना उचित होगा कि सदृश व्यक्ति जाति को व्यक्त करते हैं और जाति को एक पृथक् पदार्थ मानना आवश्यक है। यह स्पष्ट है कि जाति का विचार उन गुण धर्मों से उत्पन्न होता है जिस सम्बन्ध में कुछ व्यक्तियों की सहमति है यदि ऐसा है तो यही जाति के विचार को समझाने के लिए पर्याप्त होगा। ये गुण धर्म ही जिनका सादृश्य दूसरे पदार्थों के सदृश धर्मों का याद कराता है जाति के विचार का उत्पन्न करते हैं।[1] जब किसी में कोई अंश या गुण जाने जाते हैं वे स्वाभाविक रीति से दूसरे में ऐसे ही सदृश अंश या गुणों का स्मरण कराते हैं और यह तथ्य ही कि ये दो एक दूसरे के साथ साथ चित्त में बने रहते हैं सादृश्य कहलाते हैं।[2] कुछ गुण या धर्म दूसरों को क्या याद कराते हैं यह समझ के बाहर है, केवल *यही कहा जा सकता है* कि वे स्वभावतः ऐसा करते हैं, और वे चित्त में एक दूसरे के साथ साथ रहते हैं इसी तथ्य के कारण सादृश्य और सामान्यता सम्भावित है। कोई और दूसरा पृथक तत्व नहीं है जिसे सादृश्य या सामान्य कहा जा सके। रामानुजाचार्य और वेंकटनाथ की *सामान्य की परिभाषा* में कुछ भी भेद नहीं है यद्यपि रामानुजाचार्य उसे सदृशों का समाहार और वेंकटनाथ उसे सादृश्य कहते हैं तो भी वेंकटनाथ का सादृश्य का विचार उसके अन्तर्गत समाहार को घटकों के अंश के रूप में, सन्निवेश करता है क्योंकि वेंकटनाथ के अनुसार सादृश्य कोई अमूर्त पदार्थ नहीं है किन्तु वह *अंशों का मूर्त समाहार है जो स्मृति में* एक दूसरे से निकट रहता है। वेंकटनाथ यह अवश्य बताते हैं कि सामान्य केवल अवयवों के समाहार को ही लक्ष्य करता है ऐसा नहीं है क्योंकि उन

---

[1] केचिद्धी संस्थान भेदाः प्रकचन् खलु मिथः ससादृश्य रूपा भान्ति ये भवदीय सामान्य मभिप्रयुज्यते त एव सौसादृश्य व्यवहार विषय भूता सामान्य व्यवहार निर्वहन्तु तस्मात्तेषां सर्वेषां मन्यो य सापेक्षैक स्मृति विषय तया तत्तद् ऐकावमश स्तत ज्जातीयत्वावमश।

–सर्वार्थ सिद्धि, पृ० ७०४।

[2] यद्यपि एकैकस्य सास्नादि धर्म स्वरूपं तथापि तन्निरुपाधि नियत स्वभाव तो नियत तैः तैः सास्नादिभिः र्यन्निरूढ ससप्रतिद्वन्द्विक स्यात् इदं मेव अन्योन्य-सप्रतिद्वन्द्विक रूपं सादृश्य शब्द वाच्यम् अभिधीयते।

–वही।

निरवयव पदार्थों के सम्बन्ध में, जैसेकि गुण मे अवयवों का समाहार नहीं सोचा जा सकने पर भी सामान्य का प्रत्यय प्रयुक्त हो सकता है। इसी कारण वेंकटनाथ, सादृश्य को सामान्य की केवल उपाधि मानते हैं और संस्थान को समावेश नहीं करते, जैसाकि रामानुजाचार्य ने किया है।

स्वत प्रामाण्य

अक्सर ऐसा तर्क किया जाता है कि प्रमाणता और अप्रमाणता के निश्चय के लिए भी, अन्य वस्तु की तरह अन्वय व्यतिरेक विधि का प्रयोग निर्णयात्मक कसौटी है। गुणों की उपस्थिति जो प्रमाणता की समर्थक है और दोषों की अनुपस्थिति जो प्रत्यक्ष की प्रमाणता में बाधक है उन्हें किसी ज्ञान की प्रमाणता या अप्रमाणता का निर्णायक मानना चाहिए। इस पर रामानुजाचार्य कहते हैं कि प्रमाणता का समर्थन करने वाले गुणों का निश्चय करना दोषाभाव के विश्वास के बिना निश्चित नहीं हो सकता और दोषाभाव भी प्रमाण के पोषक गुणों की उपस्थिति के ज्ञान के बिना नहीं जाना जा सकता, इसलिए जबकि वे अन्योन्याश्रित हैं उनका स्वतंत्र रूप से रूप निश्चित करना भी असम्भव है। इस प्रकार सूचन किया जाता है कि प्रमाणता एवं अप्रमाणता को निश्चित नहीं किया जाता है किन्तु उनके विषय में शंका ही होती है। इस पर उत्तर यह है कि जहाँ तक कुछ ज्ञान नहीं है वहां शंका कैसे उपस्थित हो सकती है। इसलिए प्रमाणता और अप्रमाणता निश्चित होने के पहले एक मध्यस्थ स्थिति है। ज्ञान यथार्थ या अयथार्थ है यह ज्ञान होने के पहले अर्थ-प्रकाश होना चाहिए जो अर्थ की दृष्टि से स्वत प्रमाण है और अपनी प्रमाणता के लिए वह दूसरी किसी विधि के प्रयोग पर अवलम्बित नहीं है क्योंकि वह भविष्य के अर्थ के सत्य और मिथ्यापन की भी समस्त निश्चितता का आधार है। इसलिए ज्ञान का यह अंग, जो मूल अंग है—अर्थात् अर्थ प्रकाश स्वत प्रमाण है। यह कहना मिथ्या है कि यह ज्ञान स्वयं नि स्वभाव है क्योंकि यह वस्तु ढाक या शिंशपा का वृक्ष है यह जानने के पहले उसे वृक्षत्व रूप से निश्चित करने के समान अर्थ प्रकाश धर्मवाला है।[1] सहायक गुणों का ज्ञान प्रमाणता का कारण नहीं है किन्तु जब प्रमाणता निश्चित हो जाती है तब उन्हें प्रमाणता का सहायक माना जा सकता है। स्वत प्रामाण्य ज्ञान का होता है तथात्व का नहीं। यदि तथात्व भी साक्षात् प्रकट होता-तो फिर ऐसे

---

[1] यथार्थ परिच्छेद प्रामाण्यमयथार्थ परिच्छेदे अप्रामाण्य कथ तदुभय परित्यागे अर्थ परिच्छेद सिद्धि इति चेन्न, अपरित्याज्यत्वाभ्युपगमात्। तथा साधारणमेव हि अर्थ परिच्छेदं ब्रूम शिंशपापलाशादिषु इव वृक्षत्वम्।

—न्याय कुलिश हस्त०।

तथात्व के विषय में भी कभी शंका उत्पन्न हो सकती है। जब कुमारिल के अनुयायी ज्ञान को स्वतः प्रामाण्य कहते हैं तो इसका अर्थ यह नहीं हो सकता कि ज्ञान ही स्वयं तथ्य को तथात्व प्रदान करता है क्योंकि वे ज्ञान को स्वयं प्रकाश नहीं मानते। इन्होंने प्रमाणता को प्रकाश करने वाले अन्य साधनों को माना है। इसलिए उन्होंने प्रमाणता को प्रकाश करने वाले अन्य साधनों को माना है। इन साधनों की प्रमाणता को पुनः अन्य सहायक साधनों की प्रमाणता पर अवलम्बित होना पड़ेगा और इस प्रकार अनवस्था दोष उत्पन्न होगा। प्रमाणता के निश्चय के लिए हमें कार्य की क्षमता एवं उसके समर्थन द्वारा अभिनिश्चयन पर अवलम्बित रहना पड़ेगा। इस प्रकार यदि प्रमाणता सहायक गुणों के समर्थन पर आश्रित है, तो फिर स्वतः प्रमाणता रहती ही नहीं है। इस मतानुसार वेद भी स्वतः प्रमाण न रहेंगे। वे इसलिए दोषरहित हैं कि मोहग्रस्त मानव द्वारा उनका निर्माण नहीं हुआ तो उनके कोई सहायक गुण भी न होंगे क्योंकि वे किसी आप्त जन की कृति नहीं हैं (मीमांसा मतानुसार)। इसलिए, उनकी प्रमाणता के विषय में सचमुच शंका हो सकती है। तथात्व की सच्चाई ज्ञान के अतिरिक्त किसी अन्य पर आश्रित है अर्थात् अतथात्व का मिथ्यापन। यदि वह ज्ञान के कारण पर आश्रित होती तो फिर झूठा ज्ञान भी सच्चा होगा। इसलिए वेदों की प्रमाणता के लिए यह मानना पड़ता है कि वे परम आप्त पुरुष के वाक्य हैं। ज्ञान केवल विषय को प्रकट नहीं करता किन्तु विशिष्ट द्रव्य या पदार्थ को प्रकट करता है और वह वस्तु के ज्ञान में प्रकट होने तक ही प्रमाण है।[1] इस प्रकार ज्ञान की प्रमाणता का सम्बन्ध विशिष्ट पदार्थ के सामान्य गुणों से है उसके निर्दिष्ट विस्तृत कर्मों से नहीं है।[2] इस प्रकार की प्रमाणता, केवल ज्ञान के आकार को ही लक्ष्य करती है विषयगत समर्थन को नहीं करती।[3] इसमें जहाँ कहीं भी शंका के स्थान हों, वहाँ सहायक गुणों द्वारा तथा दृढ़ीकरण द्वारा निश्चित करना चाहिए और जब भूल के अवसरों को अन्य साधनों द्वारा हटा दिया जाता है तब मौलिक प्रमाणता अबाध रहती है।

स्वप्रकाशत्व

रामानुजाचार्य सबसे पहले स्वप्रकाशत्व के विरुद्ध नैयायिकों के आक्षेप का वर्णन करते हैं। नैयायिक यह तर्क करते देखे गए हैं कि पदार्थ अस्तित्ववान् हैं किन्तु वे

[1] यद् धी ज्ञाने विद्यते तत्त्व तस्य लक्षणमुचित वस्तु प्रकाशत्वमेव ज्ञाने विद्यते न तु विषय प्रकाशत्व यतो विज्ञाने समुत्पन्ने विषयोऽयमिति नाभाति किं तु घटोऽयमिति।
— न्याय कुलिश हस्त०।

[2] ज्ञानाना सामान्य रूपमेव प्रामाण्य नवैशेषिक रूपम्। —वही।

[3] तस्माद् बोधात्मकत्वेन प्राप्ता बुद्धे प्रमाणता। —वही।

विशिष्ट परिस्थिति में ज्ञेय बनते हैं और इससे यह स्पष्ट होता है कि सत्ता ज्ञान या प्रकाशत्व से भिन्न है। इस दृष्टि से तर्क करते हुए यह कहा जा सकता है कि सत्ता रूप से ज्ञान उसके प्रकाशत्व से भिन्न है।[1] यदि ज्ञान स्वयं स्वप्रकाश होता तो वह किसी परिस्थिति से, सन्निकर्ष या पदार्थ के सम्बन्ध द्वारा आश्रित न रहता और इस तरह कोई भी व्यक्तिगत ज्ञान सामान्य ज्ञान हो जाता। इसके अतिरिक्त दूसरी ओर, ज्ञान को, यदि पदार्थ के साथ उसके सम्बन्ध से मर्यादित होने की आवश्यकता रहती है तो वह ज्ञान स्वप्रकाश नहीं होगा तथा ज्ञान के अखण्ड होने के कारण, उसमें ऐसा विचार नहीं किया जा सकता कि एक अंश दूसरे को प्रकाशित करता है। अखण्ड तत्वों के सम्बन्ध में यह सोचना सम्भव नहीं है कि ज्ञान स्वप्रकाश होना चाहिए क्योंकि वह एक ही साथ कारक और विषय दोनों नहीं हो सकता। पुनः यदि ज्ञान स्वप्रकाश होता तो, अन्तर्निरीक्षण द्वारा चेतना और उसके पुनर्ज्ञान के भेद को नहीं समझाया जा सकता। फिर यह स्मरण रखना चाहिए कि एक ज्ञान का दूसरे ज्ञान से भेद अर्थ भेद पर आश्रित है। इसके अतिरिक्त एक ज्ञान का दूसरे से कोई भेद नहीं है। यदि बाह्य विषय, ज्ञान का घटक न होता तो ज्ञान के प्रकाश और पदार्थ के प्रकाश में कोई भेद न रहता। यदि ज्ञान स्वतः ही स्वप्रकाश होता तो उसके बाहर विषय का कोई स्थान नहीं रहता, और वह हमें निरपेक्ष प्रत्ययवाद (आदर्शवाद) की ओर ले जाता इसलिए इसकी उपपत्ति या तो मीमांसा मतानुसार होगी, जिसके अनुसार ज्ञान बाह्य विषय में ऐसा धर्म उत्पन्न करता है कि पदार्थ के उस ज्ञेय धर्म से ज्ञान अनुमित किया जा सकता है अथवा इस न्याय दृष्टि से कि ज्ञान विषय को प्रकट करता है। इस प्रकार यह मानना पड़ता है कि ज्ञान और उसके पदार्थ के बीच किसी प्रकार का ज्ञान सम्बन्ध होना चाहिए और इन सम्बन्धों का विशिष्ट स्वरूप ही प्रत्येक प्रसंग में ज्ञान गुण को निश्चित करेगा। अब फिर प्रश्न किया जा सकता है कि यह ज्ञान सम्बन्ध केवल पदार्थ का इंगित करता है या पदार्थ ज्ञान को? पहले प्रसंग में पदार्थ ही प्रकट होगा और दूसरे में ज्ञान ही अपना विषय होगा जो निरर्थक है। यदि ज्ञान, पदार्थ को विशिष्ट सम्बन्ध के बिना प्रकाशित करता है तो कोई भी ज्ञान किसी पदार्थ या सभी पदार्थों को प्रकाशित करेगा। ज्ञान ज्ञान व्यापार को अनुमित करता है, और यदि इस व्यापार को स्वीकार नहीं किया जाता तो ज्ञान को प्रकाशित नहीं किया जा सकता, क्योंकि ज्ञान की विषयरूपता ही ऐसे व्यापार का अनुमित करती है। इसलिए निष्कर्ष यह है कि जैसे ज्ञान अन्य पदार्थों को प्रकाशित करता है वैसे यह अनुव्यवसाय से पुनः प्रकाशित होता है। मैं देखता हूँ यह केवल ज्ञान प्रकाशत्व का प्रसंग नहीं है किन्तु उस विशिष्ट पदार्थ को जिसे देखा है उसका पुनर्ज्ञान (अनुव्यवसाय)

---

[1] सर्वस्य हि स्वतः स्वगोचर ज्ञानाधीन प्रकाश
संविदामपि तथैव अभ्युपगतमुचितं। — न्याय कुलिश, हस्त०।

मात्र अनुमित होता है कोई प्रत्यय नही होता अत ज्ञात और अज्ञात के सम्बन्ध मे हमेशा एक रेखा खींची जा सकती है। अगर केवल पदार्थ प्रकाशित होता, उसका ज्ञान नही तो कोई क्षण भर के लिए भी उसके प्रत्यक्ष से न चूकता। यदि ज्ञान मात्र अपने कार्य से अनुमित होता हर एक उसका अनुभव कर लेता लेकिन किसी को भी ज्ञात और अज्ञात के भेद बोध मे क्षण भर के लिए भी हिचक न होती। यह भी कहना गलत है कि ज्ञान जाँच पडताल के बाद ही उदित होता है क्योंकि वर्तमान ज्ञान में जो कुछ भी ज्ञान का विषय बनता है, साक्षात् ही होता है और अतीत ज्ञान म भी ऐसी अनुमित नही होती कि स्मृत होने के कारण ज्ञान हो पाया बल्कि अतीत ज्ञान की स्मृति के रूप मे साक्षात् प्रतीति होती है क्योंकि यदि उसे अनुमान कहा जाय, तो पुन प्रत्यक्षण को भी स्मृत्यनुमान माना जा सकता है।

पुन कोई वस्तु जो ज्ञान का विषय हुए बिना अस्तित्व रखती है उसकी अभिव्यक्ति सोपाधिक ज्ञान की सस्थिति मे त्रुटि की उपस्थिति के कारण सदोष हो सकती है पर तु ज्ञान के स्वत त्रुटिपूर्ण होने की कोई सम्भावना नही होती और परिणामत ज्ञेय होने के अतिरिक्त उसका कोई अस्तित्व नहीं होता। सुख या दुःख की अनुभूति मे जसे कोई स देह नही होता उसी प्रकार ज्ञान के विषय म भी कोई स देह नहीं होता इससे यह प्रतीत होता है कि जब जब ज्ञान होता है, वह स्वत सु यक्त होता है। यह सोचना गलत है कि यदि ज्ञान स्वप्रकाश होगा तो उसमे और विषयार्थ म भेद न रहेगा क्योंकि भेद स्पष्ट ही है, ज्ञान स्वत ही निराकार है, जबकि विषय अर्थ रूप है। दो पदार्थ जो एक ही प्रकाश मे दीखते हैं जैसेकि द्रव्य और गुण पदार्थ और उनकी सख्या, वे इसी कारण अभिन्न नही हैं। यह नही कहा जा सकता कि ज्ञान और उसके विषय अभिन्न हैं क्योंकि वे एक ही साथ प्रकाशित होते हैं क्योंकि उन दोनों का एक ही साथ प्रकाशित होना, यह बताता है कि ये दो भिन्न ही हैं। ज्ञान और उनके अर्थ एक ही प्रकाश मे प्रकाशित हो जाते हैं और यह निश्चित करना असम्भव है कि कौन पहले और कौन पीछे प्रकट होता है।

श्रुति के प्रमाणानुसार आत्मा भी ज्ञान के स्वरूप जैसा है। आत्मा ज्ञान के स्वरूप जसा है इसलिए स्वप्रकाश है और इसलिए यह नहीं मानना चाहिए कि वह मानस प्रत्यक्ष है।

रामानुजदास या महाचार्य

रामानुजदास जो महाचार्य भी कहलाते थे, व बाधुल श्री निवासाचार्य के शिष्य थे। उन्हें रामानुजाचार्य द्वितीय से सकीर्ण नही करना चाहिए, जो पद्मनाभार्य के पुत्र और वेदान्त देशिक के मामा थे और वे वादीहसनवाबुद नाम से जाने जाते थे। उन्होंने कम से कम तीन ग्रन्थ रचे सद्‌विद्या विजय अद्वैत विजय' और 'परिकर विजय।

है। इसलिए ज्ञान अपने से प्रकाशित न होकर, अनुव्यवसाय से प्रकाशित होता है। इस पर रामानुजाचार्य आक्षेप खड़ा करते हैं यह प्रश्न किया जा सकता है कि वह पुनर्ज्ञान ज्ञाता से फिर से ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा के बावजूद होता है या अनिच्छा से। पहले प्रसंग मे जबकि पुनर्ज्ञान स्वतः ही उपस्थित होता है अर्थात्, पुनर्ज्ञान ज्ञाता की इच्छा से उद्भूत है तो ऐसी इच्छा पूर्व ज्ञान से उत्पन्न होनी चाहिए और वह अपने से पूर्व इच्छा को मानने को बाध्य करेगा और वह उससे पूर्व को इस प्रकार अनवस्था दोष खड़ा होगा। इस पर नैयायिक उत्तर देते हैं कि सामान्य पुनर्ज्ञान किसी इच्छा के बिना ही होता है, किन्तु विशिष्ट पुनर्ज्ञान इच्छा का कार्य है। सामान्य पुनर्ज्ञान स्वभावतः होता है क्योंकि सभी सांसारिक मनुष्यों को अपने जीवन भर मे कुछ न कुछ ज्ञान होता ही रहता है। जब किसी को विशिष्ट ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा होती है तब ज्ञान का मानस प्रत्यक्ष होता है।

इस पर रामानुजाचार्य का यह उत्तर है कि सामान्य अस्तित्ववान् पदार्थ के विषय में, उसकी सत्ता और उसके ज्ञान के प्रकाश में भेद है क्योंकि वह सर्वथा सत्ता एवं ज्ञान के विशिष्ट सम्बन्ध पर आश्रित है किन्तु स्वप्रकाश पदार्थ के सम्बन्ध में, जहाँ ऐसे सम्बन्ध की आवश्यकता नहीं रहती वहाँ उसकी सत्ता और प्रकाशता में भेद नहीं होता। अग्नि दूसरे पदार्थों को प्रकाशित करती है किन्तु स्वयं को प्रकाशित होने के लिए उसे, दूसरा की सहायता की आवश्यकता नहीं होती। स्वप्रकाशता से यही अर्थ है। जैसेकि कोई भी पदार्थ दूसरे पदार्थ पर स्वयं प्रकाशित होने के लिए अपनी जाति पर आश्रित नहीं रहता, इसी प्रकार ज्ञान अपने प्रकाश के लिए दूसरे ज्ञान की सहायता की आवश्यकता नहीं रखता। दूसरे पदार्थों को प्रकाशित करने के लिए जिन सम्बन्धों की आवश्यकता होती है वे ज्ञान स्वयं को प्रकाशित करने के लिए आवश्यक नहीं होते।[1] ज्ञान स्वयं प्रकाश है अतः हमारे व्यवहार को साक्षात् प्रभावित करता है लेकिन वह इस सहायता के लिए किसी और पर निर्भर नहीं है। यह बिल्कुल अनुभव विरुद्ध है कि ज्ञान को अपनी अभिव्यक्ति के लिए किसी दूसरे ज्ञान की अपेक्षा होती है और यदि इसे हमारा अनुभव समर्थन नहीं देता तो इस असाधारण सिद्धान्त की स्वीकृति मे क्या औचित्य है कि किसी ज्ञान को अपनी अभिव्यक्ति के लिए किसी दूसरी ज्ञान प्रक्रिया की अपेक्षा होती है। मात्र उसी का ज्ञान का विषय कहा जा सकता है जो अस्तित्ववान् होते हुए भी अनभिव्यक्त रहता है। लेकिन यह नहीं कहा जा सकता कि एक अज्ञात ज्ञान था क्योंकि ज्ञान अपनी अभिव्यक्ति के लिए अन्य पदार्थों की तरह समय की प्रतीक्षा में नहीं रहता। अतीत ज्ञान के विषय का जो

---

[1] ज्ञानमनन्याधीनप्रकाशं अर्थ प्रकाशकत्वात् दीपवत्।

—न्याय कुलिश हस्त०।

मात्र अनुमित होता है कोई प्रत्यय नही होता अत ज्ञात और अज्ञात के सम्बन्ध मे हमेशा एक रेखा खींची जा सकती है। अगर केवल पदार्थ प्रकाशित होता, उसका ज्ञान नहीं तो कोई क्षण भर के लिए भी उसके प्रत्यक्ष से न चूकता। यदि ज्ञान मात्र अपने कार्य से अनुमित होता, हर एक उसका अनुभव कर लेता लेकिन किसी को भी ज्ञात और अज्ञात के भेद बोध मे क्षण भर के लिए भी हिचक न होती। यह भी कहना गलत है कि ज्ञान जाँच पडताल के बाद ही उदित होता है, क्योकि वर्तमान ज्ञान मे जो कुछ भी ज्ञान का विषय बनता है, साक्षात् ही होता है और अतीत ज्ञान मे भी ऐसी अनुमिति नही होती कि स्मृत होने के कारण ज्ञान हो पाया बल्कि अतीत ज्ञान की स्मृति के रूप मे साक्षात् प्रतीति होती है क्योकि यदि उसे अनुमान कहा जाय, तो पुन प्रत्यक्षण को भी स्मृत्यनुमान माना जा सकता है।

पुन कोई वस्तु जो ज्ञान का विषय हुए बिना अस्तित्व रखती है उसकी अभिव्यक्ति सोपाधिक ज्ञान की संस्थिति में त्रुटि की उपस्थिति के कारण सदोष हो सकती है परन्तु ज्ञान के स्वत त्रुटिपूर्ण होने की कोई सम्भावना नही होती और परिणामत ज्ञेय होने के अतिरिक्त उसका कोई अस्तित्व नहीं होता। सुख या दुःख की अनुभूति मे जैसे कोई सन्देह नहीं होता उसी प्रकार ज्ञान के विषय मे भी कोई सन्देह नहीं होता, इससे यह प्रतीत होता है कि जब जब ज्ञान होता है वह स्वत मुक्त होता है। यह सोचना गलत है कि यदि ज्ञान स्वप्रकाश होगा तो उसमे और विषयार्थ मे भेद न रहेगा, क्योकि भेद स्पष्ट ही है ज्ञान स्वत ही निराकार है जबकि विषय अर्थ रूप है। दो पदार्थ जो एक ही प्रकाश मे दीखते हैं जैसेकि द्रव्य और गुण, पदार्थ और उनकी संख्या, वे इसी कारण अभिन्न नही हैं। यह नही कहा जा सकता कि ज्ञान और उसके विषय अभिन्न हैं क्योकि वे एक ही साथ प्रकाशित होते हैं क्योकि उन दोनो का एक ही साथ प्रकाशित होना, यह बताता है कि ये दो भिन्न ही हैं। ज्ञान और उनके अर्थ एक ही प्रकाश मे प्रकाशित हो जाते हैं और यह निश्चित करना असम्भव है कि कौन पहले और कौन पीछे प्रकट होता है।

श्रुति के प्रमाणानुसार आत्मा भी ज्ञान के स्वरूप जैसा है। आत्मा ज्ञान के स्वरूप जैसा है इसलिए स्वप्रकाश है और इसलिए यह नही मानना चाहिए कि वह मानस प्रत्यक्ष है।

रामानुजदास या महाचार्य

रामानुजदास जो महाचार्य भी कहलाते थे, व बाधुल श्री निवासाचार्य के शिष्य थे। उन्हे रामानुजाचार्य द्वितीय से संकीर्ण नही करना चाहिए जो पद्मनाभार्य के पुत्र और वेदान्त देशिक के मामा थे और वे वादीहंसनवाम्बुद नाम से जाने जाते थे। उन्होने कम से कम तीन ग्रन्थ रचे, सद्विद्या विजय' अद्वैत विजय और 'परिकर विजय।

वे अपने 'सद्विद्या विजय' मे शकराचार्य के इस सिद्धान्त का खण्डन करते हुए कि भावरूप अज्ञान की सत्ता प्रत्यक्ष, अनुमान और अर्थापत्ति इत्यादि भिन्न प्रमाणों द्वारा जानी जा सकती है, कहते हैं कि अज्ञान का अनुभव जैसेकि 'मैं अज्ञानी हूँ' अज्ञान का पूर्ण रूप से अनुभव कहा जा सकता (कृत्स्नाज्ञानप्रतीतिस्तावद्सिद्धा), क्योंकि वह समस्त विषयों का, सभी ज्ञान का निषेध करते हुए कभी भी लक्ष्य नहीं कर सकता। शंकर मतवादी द्वारा अन्तःकरण भी प्रत्यक्ष ज्ञान की वृत्ति गत वस्तुओं को लक्ष्य करता नहीं माना गया है। जब कभी भी कोई अपने अज्ञान का अनुभव करता है उस समय उसके अहंकार के प्रकाश की अवस्था होती है और उसे इस स्थिति का ज्ञान ही होता है कि वह अज्ञ है ऐसे अनुभव में अज्ञान सर्वांग रूप से प्रकाशित होता है ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उस समय अहंकार प्रकाशित होता है। यदि अज्ञान अपने सर्वांग रूप से प्रकाशित नहीं होता तो अज्ञान किसी विशिष्ट विषय के सम्बन्ध में ही केवल प्रकाशित होता है और यदि ऐसा है तो फिर भावरूप अज्ञान की मान्यता निरुपयोगी है। पुनः अज्ञान, या ज्ञानाभाव यदि किसी विशेष पदार्थ को लक्ष्य करता है तो उसमें उस पदार्थ का ज्ञान सम्मिलित है और इसलिए अज्ञान का ही केवल अनुभव नहीं किया गया है और भावरूप अज्ञान की मान्यता, इस साधारण मत से अधिक नहीं है जिसके अनुसार ऐसे प्रसंगों में गाढ निद्रा के अतिरिक्त पदार्थ के ज्ञान का ही केवल अभाव है। अज्ञान के अनुभव की अन्य सभी अवस्थाओं में अज्ञान का अनुभव विशेष पदार्थ के ज्ञान के अभाव को लक्ष्य करता है। अज्ञान के समान उदाहरण यही अर्थ रखते हैं कि उनके पदार्थ केवल सामान्य रूप से जाने जाते हैं उनका विशेष विस्तार के साथ ज्ञान नहीं होता। पुनः ऐसा नहीं कहा जा सकता कि अज्ञान का भाव रूप से (ज्ञान सामान्य विरोधी) निर्देश करने के लिए ही माना गया है। क्योंकि 'मैं अज्ञ हूँ' ऐसे अनुभव में अज्ञान स्व में है ऐसा ज्ञान होता है और उन सामान्य अर्थों का भी जिनसे हम अज्ञ हैं। इसके अतिरिक्त अज्ञान का जबकि शुद्ध चैतन्य अधिष्ठान है और अन्तःकरण का उसका आधार नहीं माना जाता, तो फिर 'मैं अज्ञ हूँ' यह अनुभव किस प्रकार से इस भावरूप पदार्थ का लक्ष्य कर सकता है? यदि यह माना जाता है कि क्योंकि अन्तःकरण शुद्ध चैतन्य पर आरोपण मात्र है जो अज्ञान का आधार है अतः अज्ञान चित्त-व्यापार के रूप में प्रकट हो सकता है क्योंकि अहं और अज्ञान, शुद्ध चैतन्य पर आरोपित होने के कारण, उसी एक ही अधिष्ठान चैतन्य—से प्रकाशित हो सकते हैं। उत्तर यह है कि ऐसा स्पष्टीकरण स्पष्ट रूप से गलत है क्योंकि यदि अहंकार और अज्ञान एक ही मूलभूत चैतन्य से प्रकाशित होते हैं तो अज्ञान अहंकार का विधेय नहीं हो सकता। यदि एक ही शुद्ध चैतन्य, अहंकार और अज्ञान को प्रकाशित करता है, तो वे दोनों भिन्न नहीं दीखेंगे और उद्देश्य विधेय के क्रम से स्पष्ट नहीं ग्रहण होंगे। पुनः यदि यह माना जाता है कि अज्ञान अहंकार के विधेय के रूप से ही प्रकाशित होता है क्योंकि वह शुद्ध चैतन्य पर आधारित है तो फिर 'मैं घड़े को नहीं जानता' ऐसे अनुभव में अज्ञान बाह्य

पदार्थों का (जो शुद्ध चत य पर स्वत त्र ही आरोपित है) किस प्रकार लक्ष्य करेगा ? यदि ऐसा कहा जाता ह कि जबकि एक ही गुद्ध चत य पर, बाह्य पदाथ अनान और अहकार, सभी आरोपित हैं और अनान हमेशा वाह्य पदार्थों से सम्ब घित है, तो यह कह सकते हैं कि जब कभी घडा जाना जाता है अज्ञान अ य पदार्थो से (जसेकि कपडा) सम्बधित होन से वह शुद्ध चैत य से भी सम्ब धित है जिस पर घडा एक आरोपण है। वास्तव मे वह घडे से भी सम्ब धित होगा, जिसका परिणाम यह हागा कि हम घडा नही जानते' हैं एसा अनुभव। ऐसा तक किया जा सकता है कि घडे का भावरूप से ज्ञान ही अनान के सम्ब घ म बाधक हा सकता है। इस पर यह उत्तर है कि जब कोइ यह कहता है मैं इस पड का नही जानता तब 'इस वे बारे में नान है और पड के स्वरूप के बारे मे अज्ञान है इमलिए यहा पर भी घड के एक ही पहलू के बारे म अगत ज्ञान और अशत अनान हो सकता है। शका के प्रसग में हमे ज्ञान और अनान की एक ही पदाथ म स्थिति माननी पडती है और यह जिज्ञासा के सभी प्रसगा मे सत्य है जहा एक पदाथ सामा य दृष्टि से ज्ञात हा किन्तु विशिष्ट विस्तार म अज्ञात हो।

या अवस्था भी माना जा सकता है और अज्ञान के अनुभव को ज्ञान के अभाव का अनुभव कह कर समझाया जा सकता है। जबकि सब स्वीकृत करते हैं कि ज्ञानाभाव भावरूप अज्ञान जैसे एक पृथक पदार्थ को मानना लेश मात्र भी संगत नहीं है। पुनः ज्ञात विषय की स्मृति के लोप के विषय में कोई यह कह सकता है कि वह उस वस्तु को नहीं जानता था। किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि जब उसने यह पदार्थ जाना था तब उसे उस पदार्थ के अज्ञान का साक्षात् अनुभव था। रजत शुक्ति के भ्रम के अनुभव के पश्चात् *हम कह सकते हैं कि मैंने अब तक रजत को नहीं जाना था,* इसे कैसे समझाया जायगा? इसका स्पष्ट उत्तर यह है कि ऐसे सभी प्रसंगों में हम केवल अनुमान ही करते हैं कि उन पदार्थों के ज्ञान का अभाव था। विवादास्पद प्रसंग में भी हम इसी मत का ग्रहण कर सकते हैं कि गाढ निद्रा में कुछ भी ज्ञान नहीं था। किन्तु हम यह नहीं कह सकते कि हमें भाव रूप अज्ञान का साक्षात् अनुभव था। शंकर मतानुयायी कहते है कि अज्ञान एक भाव पदार्थ है वह अनुमान से भी सिद्ध किया जा सकता है क्योंकि उनके मतानुसार जिस प्रकार प्रकाश भाव रूप अंधकार को हटाकर वस्तुओं को प्रकाशित करता है उसी प्रकार, ज्ञान भी अज्ञान से ढकी हुई वस्तुओं को प्रकट करता है। इसका खण्डन करते हुए महाचार्य शंकर मत के अनुसार न्याय वाक्य के शास्त्रीय एवं पाण्डित्यपूर्ण विवेचन में पड जाते है जिसे यहाँ ठीक तरह से उल्लेख नहीं किया जा सकता। हमारे ध्यान करने योग्य मुख्य विषय और जो *दर्शन की दृष्टि से महत्वपूर्ण भी है* वह *रामानुज सम्प्रदाय का* मत है जिसके अनुसार ज्ञान के द्वारा वस्तु प्रकट हुई है इसलिए भावरूप अज्ञान अवश्य ही हटाया गया होगा यह नहीं माना गया है। शंकर अनुयायी यह आक्षेप करते हैं कि अज्ञान को, आत्मा के आनन्द का आवृत करने वाला एक पृथक तत्व नहीं माना जायगा तो, मुक्ति को समझाना कठिन हो जायगा। इस पर महाचार्य का यह उत्तर है, मुक्ति का बन्धन का नाश कहकर भी समझाया जा सकता है। मनुष्य जितना भावरूप सुख का प्राप्त करना चाहता है उतना ही अभाव रूप दुःख का हटाना चाहता है। यह समझना मिथ्या है कि जहाँ तक बन्धन मिथ्या नहीं है वहाँ तक वह दूर नहीं किया जा सकता, क्योंकि यह सुविख्यात है कि विष का प्रभाव गरुड पक्षी का ध्यान करने से दूर किया जा सकता है। इसी प्रकार संसार का बन्धन भी ईश्वर का ध्यान करने से दूर किया जा सकता है यद्यपि वह सत्य है। ज्ञान रूप ध्यान अज्ञान का ही नहीं हटा सकता किन्तु सच्चे बन्धन को भी दूर कर सकता है। मुक्ति *आनन्द की नित्य अभिव्यक्ति* इस प्रकार मानी जा सकती है और यह अनिवार्य रूप से आवश्यक नहीं है कि सुख या आनन्द की अभिव्यक्ति अन्य समान्य शारीरिक सुख की तरह शरीर से सम्बन्धित होना चाहिए।[1]

---

[1] सद्विद्या विजय, पृ० ३७७५ (हस्त०)।

शंकर अनुयायी कहते हैं कि अपरिणामी आत्मा, जगत् प्रपंच का उपादान कारण नहीं हो सकता, और न कोई भी हो सकता है, वह अर्थापत्ति से अनुमित होता है कि जगत् का उपादान कारण अज्ञान हो सकता है क्योंकि ऐसा ही उपादान कारण जगत् प्रपंच का अज्ञान स्वरूप स्पष्ट कर सकता है। ब्रह्म को बहुधा जगत का उपादान कारण कहा जाता है और वह प्रपंच में अंत स्थित शुद्ध सत्ता के रूप में अधिष्ठान कारण है यहाँ तक ही सत्य है। अज्ञान परिणामी कारण है और इसलिए जगत् के गुण धर्म भी अज्ञान जैसे हैं।

इस पर महाचार्य का उत्तर यह है, यद्यपि जगत् की रचना मिथ्या मान ली जाय, तो भी उससे आवश्यक रूप से भाव रूप अज्ञान को मानने का परिणाम नहीं निकलता। इस प्रकार, भ्रम रूप रजत बिना कारण के उत्पन्न होता है, या आत्मा जगत् का उपादान कारण माना जा सकता है, जो यद्यपि अखंड है किंतु भ्रम से जगत् रूप दीख सकता है। यह नहीं कहा जा सकता कि मिथ्या कार्य का मिथ्या पदार्थ ही कारण होगा। क्योंकि ऐसा सामान्यीकरण नहीं किया जा सकता। मिथ्यात्व के लिए सामान्य गुण की उपस्थिति यह निश्चित नहीं कर सकती कि मिथ्या पदार्थ आवश्यक रूप से मिथ्या कार्य का कारण होना चाहिए क्योंकि दूसरी दृष्टि उसमें और अन्य सामान्य गुण भी होंगे और कार्य कारण में गुणों की निरपेक्ष सदृशता निस्सदेह ही नहीं है।[1] इसके अतिरिक्त, कार्य में, आवश्यक रूप से सत्ता की एकता नहीं होती जो परिणामी उपादान कारण में होती है इसलिए ब्रह्म का जगत् का उपादान कारण मानना असम्भव है जबकि जगत् में ब्रह्म जैसी निर्मलता न हो। यदि ब्रह्म जगत् का परिणामी कारण माना जाता है, तो निस्सदेह ही उसकी सत्ता जगत् की जैसी नहीं हो सकती किन्तु यदि कोई पदार्थ इसके रूप में प्रकट हो सकता है तो उसे परिणामी कारण कहा जा सकता है और उसके लिए उस कार्य जैसी सत्ता का होना आवश्यक नहीं है। इस प्रकार अविद्या का नाश और अंत दोनों ही कार्य माने गए हैं और तो भी उनकी सत्ता उनके कारण जैसी नहीं है।[2] इसलिए यह तर्क नहीं किया जा सकता

---

[1] ननु उपादानोपादेययोः सालक्षण्य नियम दर्शनादेव तत्सिद्धिरिति चेत्सर्वथा सालक्षण्यस्य मृद्घटयोरप्यदर्शनात् किंचित् सारूप्यस्य शुक्ति रजतादावपि पदार्थत्वादिनासत्वात्।
—वही पृ० ५७७।

[2] यदुक्तं ब्रह्मणः परिणामितया उपादानत्वे परिणामस्य परिणामि समान-सत्ताकत्व नियमेन कार्यस्यापि सत्यत्व-प्रसंग इति तत्र किं परिणाम शब्देन कार्य मात्र विवक्षितं, उत रूपान्तरापत्ति ध्वंसस्य अविद्या निवृत्तेश्च परिणामि समान सत्ताकत्वाभावात् न हि तद्रूपेण परिणामि किंचिदस्ति न द्वितीयः रूपान्तरापत्ते परिणामि मात्र-सापेक्षत्वात् गौरवेण स्वसमान सत्ताक परिणाम्यपेक्षाभावात्।
—सद्विद्या विजय, पृ० ७१।

कि यदि ब्रह्म को जगत् का परिणामी कारण मान लिया जाय, तो जगत ब्रह्म जैसा सत्य हो जायगा। पुन जगत मे ब्रह्म के गुणधर्मों का न दीखना कम के प्रभाव के कारण अच्छी तरह समझाया जा सकता है। जगत् का अब्रह्म स्वरूप भी समझाने के लिए अज्ञान की पृथक मान्यता आवश्यक नही है। मुक्ति या अनात्म के अन्त के रूप मे वर्णन करना भी आवश्यक नही है क्योंकि वह अवस्था स्वयं आनन्दावस्था होने के कारण हमारे प्रयत्नो का उद्देश्य मानी जा सकती है और अविद्या की मान्यता और उसकी निवृत्ति निर्मूल है।

महाचार्य ने पाठो के प्रमाण द्वारा यह बताने का प्रबल प्रयास भी किया कि शास्त्रो ने भी अविद्या को भाव रूप नही स्वीकारा है।

दूसरे अध्याय मे महाचार्य यह बताने का प्रयत्न करते हैं कि अज्ञान को एक आवृत करने वाले स्वतन्त्र पदार्थ मानने की कोई आवश्यकता नही है। शकर मतवादी तर्क करते हैं कि यद्यपि आत्मा का अहं प्रत्यय मे अनुभव होता है फिर भी उस अहं अनुभव मे पूर्णानन्द ब्रह्म का तादात्म्य रूप से अनुभव नही होता और इसलिए यह मानना आवश्यक है कि ब्रह्म के विशुद्ध रूप को ढक देने वाला कोई अज्ञान पदार्थ है। इस पर महाचार्य उत्तर देते हैं कि अज्ञान क्योंकि अनादि माना गया है, उसकी आवरण शक्ति भी अनादि होगी और फिर मुक्ति असम्भव होगी, तथा यदि ब्रह्म आवृत हो सकता है तो उसके स्वप्रकाश स्वरूप का भी अन्त हो जायगा और वह अज्ञ हो जायगा। इसके अतिरिक्त अनुभव इस प्रकार होता है मैं अज्ञ हूँ और वास्तव मे अज्ञान अहं को लक्ष्य करता दीखता है। यदि यह माना जाता है कि आवरण का अस्तित्व अन्तःकरण द्वारा ब्रह्म की अपूर्णता समझाने के लिए ही केवल स्वीकारा गया है तो यह भली प्रकार बताया जा सकता है कि ब्रह्म अहं रूप से मर्यादित दीखना अन्तःकरण की उपाधि से भी समझाया जा सकता है जिसके द्वारा ब्रह्म प्रकट होता है और इसके लिए माया का पृथक आवरण स्वीकार करना आवश्यक नही है।

पुन यह पूछा जा सकता है कि यह आवरण अज्ञान से भिन्न है या अभिन्न। पिछले प्रसंग मे, वह सदा ही अप्रकट रहेगा, और जगत का भास असम्भव हो जायगा। यदि आवरण अज्ञान से भिन्न कुछ वस्तु है और जबकि वह शुद्ध चैतन्य से किसी भी प्रकार सम्बन्धित नही है, तो उसका व्यापार जगत प्रपंच को समझा नही सकेगा। यदि यह आवरण अज्ञान को अनिर्वचनीय कर देता है, तो यह पूछा जा सकता है कि यह आवरण अज्ञान से भिन्न है या अभिन्न ? पिछले विकल्प मे, वह उस पर आश्रित न रहेगा और पहले विकल्प मे अज्ञान को ब्रह्म का विरोधी मानना निरर्थक होगा। इस प्रकार, जिन उपाधियो द्वारा ब्रह्म प्रकट होता है वही ब्रह्म के जगत् के पदार्थों के रूप मे मर्यादित स्वरूप को समझाने में पर्याप्त हैं तो अज्ञान को पृथक तत्व मानना अनावश्यक है।

पुन यदि अज्ञान शुद्ध साक्षी चैतन्य का आवरण कर सकता है तो सारा जगत् अंधा हो जायगा, और कहीं कुछ भी ज्ञान न होगा। यदि साक्षी चैतन्य आवृत नहीं हो सकता तो फिर ब्रह्म भी आवृत नहीं हो सकता। उसके अतिरिक्त यदि ब्रह्म सर्वदा स्वप्रकाश है, तो वह अज्ञान द्वारा कभी भी आवृत नहीं किया जा सकता। यदि यह कहा जाता है कि ब्रह्म के स्वप्रकाशत्व का अर्थ यह है कि वह अवेद्य और अपरोक्ष है तो आवरण का विचार लाना ही अनावश्यक है क्योंकि जो जाना नहीं जा सकता (अज्ञेय) वह इन दोनों में से एक भी नहीं है। पुन, शंकर के अनुयायी मानते हैं कि अज्ञान ब्रह्म के आनन्द अंश को ढकता है चित् का नहीं। यह स्पष्ट रूप से असम्भव है, क्योंकि उनके अनुसार चित् और आनन्द एक हैं और यदि ऐसा है तो फिर आनन्द अंश ढक जाने पर चित् बाकी कैसे बच सकता है और एक ही अखण्ड तत्व ब्रह्म, दो भागों में कैसे विभक्त किया जा सकता है जिसका एक भाग आवृत होता है और दूसरा नहीं? पुन यदि आत्मा आनन्द स्वरूप माना जाता है और हमारी सुख के प्रति आसक्ति, ब्रह्म पर अहंकार के मिथ्या आरोपण द्वारा समझायी जाती है जबकि संसार की सभी वस्तुएँ आत्मा पर मिथ्या आरोपण मात्र ही हैं तो वे सभी आत्मा की तरह नित्य होंगी और दुःख भी हमारे लिए सुखकारक होगा।

तीसरे अध्याय में महाचार्य शंकर अनुयायियों के अज्ञान के अधिष्ठान के मत का खण्डन करते हैं। शंकर सम्प्रदाय के कुछ प्रवर्तक यह मानते हैं कि विषयों के अज्ञान अंश उन विषयों में निहित शुद्ध चैतन्य द्वारा धारण किए जाते हैं। यद्यपि इन अज्ञान तत्वों में विकार विद्यमान हैं तो भी उनका हमारे अहं से सम्बन्ध हो सकता है क्योंकि दोनों पदार्थ और अहं, अज्ञान भूमिका की अवस्थाएं हैं। इस पर महाचार्य कहते हैं कि यदि जगत् के सभी पदार्थों के पृथक् और भिन्न अज्ञान कारण हैं तो यह सोचना गलत है कि सीप के अज्ञान द्वारा भ्रम रूप रजत उत्पन्न किया जाता है। यह कहना अधिक अच्छा होगा कि प्रमाता के अज्ञान ने अन्तःकरण से बाहर निकलने पर रजत-भ्रम उत्पन्न किया। यदि सीप के अज्ञान को अनादि माना जाता है तो उसे मूल अज्ञान का विकार मानना निरर्थक है और यदि इसे विकार नहीं माना जाता तो उसका नाश नहीं समझाया जा सकता।

पुन कुछ अन्य लोग भी हैं जो यह मानते हैं कि पदार्थवर्ती अज्ञान किसी दृष्टि से ज्ञाता में भी रहता है और इस प्रकार ज्ञाता और ज्ञेय में सम्बन्ध हो सकता है। इस पर महाचार्य कहते हैं कि ऐसा मत असम्भव है, क्योंकि पदार्थांतगत चैतन्य ज्ञाता में निहित चैतन्य से भिन्न है और यदि यह माना जाता है कि शुद्ध चैतन्य अन्त में एक ही है तो सभी पदार्थ उसी प्रकार प्रकाशित होने चाहिए, जिस प्रकार कोई भी पदार्थ एक समय में एक ज्ञान द्वारा प्रकाशित होता है। पुन यदि विषयगत एवं ज्ञातृगत चैतन्य भेद रहित है तो फिर मनुष्य को मैं अज्ञ हूँ ऐसा कहते हुए अज्ञान का क्या

अनुभव होना चाहिए ? यह अज्ञान का भाव ज्ञाता में क्या अनुभव होना चाहिए और विषय में नहीं, जबकि दोनों के अन्तर्गत चैतन्य एक ही है इसका कोई भी कारण नहीं दीखता। इसके अतिरिक्त, प्रसग मे, जब एक व्यक्ति को किसी पदार्थ का ज्ञान होता है तो उस पदार्थ का सभी का ज्ञान हो जायगा।

अन्य और भी हैं जो यह कहते हैं कि युक्तिगत अज्ञान को यह अनुभव का आधार है और युक्तिगत चैतन्य उसका विषय है। इस पर महाचार्य यह कहते हैं कि यह अनुभव के अन्तर्गत चैतन्य द्वारा आधारित अज्ञान का परिणाम नहीं हो सकता और यदि ऐसा है तो वह भिन्न पदार्थों को नहीं समझा सकता।

पुन अन्य और हैं जो यह सोचते हैं कि जब कोई यह कहता है कि वह सीप को नहीं पहचानता तो वहाँ अज्ञान मूल अज्ञान का लक्ष्य करता है, क्योंकि यद्यपि अज्ञान का सम्बन्ध शुद्ध चैतन्य से है, वह सीप के अन्तर्गत चैतन्य से अभिन्न होने से सीप से भी सम्बन्ध रखता है और उसका इसी प्रकार ग्रहण भी हो सकता है। हमें यह भी मानना पड़ेगा कि मिथ्या रजत भी अज्ञान से बना है, क्योंकि मिथ्या रजत का जबकि प्रत्यक्ष होता है तो उसका द्रव्य के रूप मे कोई उपादान कारण भी होना चाहिए।

इस पर महाचार्य का उत्तर यह है कि स्वगत अज्ञान के समाकल्पन का सम्बन्ध मूल अज्ञान से है, विषयों के द्रव्य के रूप में पृथक, अज्ञान को स्वीकार करने में कोई युक्ति नहीं है। यह सूचन नहीं किया जा सकता कि प्रत्येक ज्ञान के साथ उससे सम्बन्धित अज्ञान का अन्त होता है इससे अज्ञान एक पृथक पदार्थ के रूप में सिद्ध होता है क्योंकि ऐसे अज्ञान का हट जाना केवल एक अनुमान ही है, और यह भी माना जा सकता है कि विशिष्ट ज्ञान का अभाव, विशिष्ट अनुभव से होता है। प्रागभाव किसी पदार्थ की उत्पत्ति से नष्ट होता है। जब कोई कहता है कि मैंने अभी तक घड़े को नहीं जाना उसे अब जानता हूँ' ज्ञान के अभाव का या अज्ञान का अन्त यहाँ विषय से साक्षात् और अपरोक्ष सम्बन्ध है जो ज्ञाता है। किन्तु पदार्थ को आवृत करते अज्ञान का निरसन ज्ञान के अनुभव से केवल उपलब्ध अनुमान ही है वह साक्षात अपरोक्ष ज्ञान नहीं हो सकता। पुन यदि मूल अज्ञान विषयगत शुद्ध चैतन्य को आवृत करता माना जाता है, तो विषय को ढकने के लिए पृथक अज्ञान मानना अनावश्यक है। यदि यह माना जाता है कि विषयातगत शुद्ध चैतन्य ब्रह्म से अभिन्न होने से जिसे मूल अज्ञान कहा जाता है, वह विषयाभास मे मर्यादित रूप से चेतना मे दीख सकता है, तो यह पूछा जा सकता है कि मूल अज्ञान से सम्बन्धित होने के कारण, पदार्थ ज्ञात होते हुए भी क्यो अज्ञात दीखता है। पुन, 'मैं नहीं जानता' ऐसे अनुभव के सन्दर्भ में मूल अज्ञान अन्तःकरण से सम्बन्धित नहीं हो सकता क्योंकि वह भौतिक पदार्थ है और वह स्वप्रकाश्य शुद्ध चैतन्य में नहीं हो सकता। जैसा भी वह है वह अपने बारे में अज्ञ नहीं हो सकता।

उपरान्त यह भी कहा जा सकता है कि यद्यपि आत्मा चेतना मे प्रकट होती है तो भी बहुधा वह शरीर से सम्बन्धित रहता है और यद्यपि विषय सामान्य रूप से ज्ञेय होते हैं तो भी उनके विशेष रूप अज्ञेय बने रह सकते हैं, यह परिस्थिति बहुधा अनिश्चितता उपस्थित करती है कि यह सब अज्ञान की मान्यता के अतिरिक्त और किसी प्रकार से नही समझाया जा सकता। यह सब स्वीकार किया जाय कहने पर भी अज्ञान को एक आवरण करने वाला तत्व मानना अयुक्त है। अनवधारण और आवरण दोनो एक नहीं है। मृगतृष्णा मे जल का दीखना अनवधारण से दाकास्पद हो सकता है और यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि अज्ञान ने यदि आवत किया होता तो जल का दीखना भी नही हो सकता था। यह भी नही कहा जा सकता कि आवरण के कारण अनवधारण है क्योकि यह सहज ही आग्रह किया जा सकता है कि जबकि आवरण, सत्ता या स्वप्रकाशता के रूप मे प्रकट नही हो सकती तो वह स्वय अनवधारण का परिणाम है। यदि यह आग्रहपूर्वक कहा जाता है कि अनवधारण स्वय आवरण का स्वरूप निर्माण करता है (अनवधारणत्वम् एव आवरणम्), तो यह कहा जा सकता है कि आवरण का कारण व्यक्तिगत अह अभिन्न नहीं दीखता, किन्तु इससे यह अर्थ नही होता कि हमारे मर्यादित जीव के अनुभव मे अनिश्चितता है। यदि ऐसी अनिश्चितता होती तो अह का अनुभव सदेहरहित रूप से न होता। पुन यदि अज्ञान ही अनवधारण स्वरूप है तो, उसमे आवरण का पृथक धर्म आरोपित करना निरर्थक है। यदि यह माना जाता है कि अज्ञान केवल शुद्ध चैतन्य द्वारा ही आधारित है, तो जीव का आवागमन के चक्र में क्यो पडना चाहिए, इसका कोई कारण नही दीखता, क्योकि ऐसे अज्ञान का जीवो से कोई सम्बन्ध न होगा। यदि यह आग्रह किया जाता है कि वह चैतन्य जीव द्वारा अभिव्यक्त होता है, तो यह भी आग्रह से कहा जा सकता है कि चैतन्य जीव और ईश्वर दोनो के अन्तर्गत है तो ईश्वर भी आवागमन के चक्र मे फस जायगा।[1]

ऐसा कभी कहा जाता है कि अन्त करण को ही सुख दुख का अनुभव होता है और यही बन्धन है। अन्त करण स्वय शुद्ध चैतन्य पर मिथ्या आरोपण होने से अन्त करण के धर्म चैतन्य मे हैं ऐसा दीखता है। इस पर महाचार्य का उत्तर है कि यदि बन्धन अन्त करण में है तो फिर शुद्ध चैतन्य बद्ध नही माना जायगा। क्योकि यदि बन्धन के दुख शुद्ध चैतन्य के अन्त करण से मिथ्या तादात्म्य के कारण हैं तो बन्धन अन्त करण के कारण नही है किन्तु मिथ्या विचार से है। इसी प्रकार, महाचार्य,

[1] अज्ञानस्य चैतन्यमात्राश्रयत्वे जीवे ससार हेतुता नस्यात् वैयधीकरण्याच्चैतन्यस्यैव जीवे शविभागात् सामान्याधिकरण्ये ईश्वरस्यापि ससार प्रसग।

—सद् विद्या विजय पृ० १०७ (हस्त०)।

शंकर के अनुयायियों द्वारा अज्ञान की सत्ता एवं तत् सम्बन्धी जगत् रचना को समझाने के लिए दिए गए अनेक वैकल्पिक बोधार्थों की आलोचना करते हैं और अन्त में अपना यह मत प्रतिपादन करने का प्रयास करते हैं कि किसी भी प्रकार से अज्ञान का सम्बन्ध सोचना व्याघात से परिपूर्ण है, जिसे सुलझाना अगम्य है।

पुनः चतुर्थ खंड में महाचार्य यह तर्क वितर्क करते हैं कि अज्ञान पारमार्थिक सत्य नहीं माना जा सकता क्योंकि तब अद्वैतवाद न रहेगा। उसे व्यवहार (व्यावहारिक) गत ज्ञात विषयों का द्रव्य भी नहीं माना जा सकता क्योंकि तब वह भ्रम के अनुभवों का द्रव्य नहीं हो सकेगा। यह कभी कभी आग्रह किया जाता है कि मिथ्या वस्तु से भी जैसे कि मिथ्या भय-सचमुच रोग होता है और मृत्यु भी और इसलिए अज्ञान से भी सच्चा ज्ञान उत्पन्न हो सकता है। महाचार्य इस सादृश्य को मिथ्या बताते हैं क्योंकि उपरोक्त उदाहरण में भी ज्ञान ही उक्त परिणामों को उत्पन्न करता है। यदि अविद्या मिथ्या है तो सभी भौतिक परिणाम भी मिथ्या होंगे क्योंकि कार्य सर्वदा कारण से अभिन्न होता है। यदि यह आग्रह किया जाता है कि जबकि जगत के पदार्थ मिथ्या हैं तो ब्रह्म जो श्रेष्ठ ज्ञान है और स्वयं अविद्या का कार्य है वह भी मिथ्या होगा।

आगे यदि अज्ञान एक माना जाता है तो फिर सीप के ज्ञान से कभी अज्ञान का का अन्त हो जाना चाहिए क्योंकि अज्ञान के अन्त के बिना सीप नहीं जानी जाती। यह नहीं कहा जा सकता कि सीप के ज्ञान से ही उसे छिपाने वाला आवरण हटाया गया है और अज्ञान का अन्त नहीं हुआ क्योंकि अनुभव यह प्रमाणित करता है कि अज्ञान हटता है कि आवरण। इस प्रकार अनेक अज्ञान की सत्ता मानने में बाध्य होना पड़ता है। क्योंकि यदि यह माना जाता है कि ज्ञान केवल आवरण को ही हटाता है तो अंतिम मुक्ति ज्ञान भी किसी विशिष्ट आवरण को ही हटाएगा, और इससे मूल अज्ञान का नाश न होगा। पुनः अज्ञान की जो ज्ञान द्वारा नष्ट किया जाता है ऐसी व्याख्या की गई है। यदि ऐसा है तो यह स्पष्ट ही मिथ्या है कि ज्ञान का अज्ञान का कार्य माना जाय। कार्य कारण पदार्थ को नष्ट नहीं कर सकता। पुनः यदि ऐसा माना जाता है कि मनुष्य की मुक्ति के समय अज्ञान नष्ट हो जाता है तो ऐसा अज्ञान यदि वह एक ही है तो वह सम्पूर्ण नष्ट हो जायगा और फिर कोई अज्ञान न बचेगा जो अन्य अमुक्त जीवों को बन्धन में डालेगा। ऐसा माना गया है कि अज्ञान मिथ्या है क्योंकि इसका ज्ञान से नाश होता है इसी के साथ यह भी स्वीकार किया गया है कि अज्ञान श्रुति द्वारा नष्ट होता है और जब एक वस्तु दूसरे सच्चे पदार्थ द्वारा नष्ट होती है तो पहली वस्तु मिथ्या नहीं कही जा सकती।

पुनः अविद्या को जिसका अन्त ज्ञानजन्य है ऐसा कहा है। अब ब्रह्म स्वयं अविद्या का अन्त है किन्तु वह ज्ञानजन्य नहीं है। यदि ज्ञान ज्ञान के अन्त का

साधन (ज्ञान सा"यत्वात्) माना जाता है, तो इससे यह अथ आवश्यक रूप से नही निकलता कि उसने अ त कर दिया है (न च स्व ज यत्वमेव स्वसाध्यत्वम्)। यदि ये दो प्रत्यय एक ही माने जाते हैं तो अविद्या सम्ब ध जिसको अविद्या का साधन माना जा सकता है उसे भी अविद्याज"य मानना पडेगा, जो आत्माश्रय दोष उत्पन्न करता है।[1] इसी सादृश्यता से तर्क करते हुए, कोई यह भी कह सकता है कि अविद्या सम्ब"ध का अ"त अविद्या के अ त पर आश्रित है किन्तु इस प्रसग म स्वय अविद्या के अ"त का अथ अविद्या से सम्ब ध जोडना होता है इस प्रकार यह केवल पुनरुक्ति होती है।

पुन साधारण मिथ्या दृष्टिकोण को, जो सच्चे ज्ञान से हट जाते हैं उन्हें अविद्या से विविक्त करने हेतु अनादि कि तु नान द्वारा सा त कहा गया है। अब यह प्रश्न किया जा सकता है कि अविद्या का नाश करने वाले इस नान का स्वरूप क्या है? क्या वह शुद्ध चत य है या केवल अ"त करण की अवस्था या वत्ति है। यदि वह शुद्ध चत य है तो वह सस्कारो का नष्ट नही कर सकता क्याकि वत्ति ही चित्त के सस्कारा को नष्ट कर सकती है और अविद्या अनादि सस्कार है तो वह शुद्ध चैत य रूप नान से नही हटायी जा सकती, इस प्रकार उसे अनादि मानना निरुपयोगी होता है। दूसरा ज्ञान जो अविद्या को नष्ट करता है वह केवल अ त करण की वत्ति ही है यह भी ठीक नही हो सकता क्याकि ऐसा माना गया है कि वत्ति नान केवल अज्ञान के आवरण को ही हटा सकता है किन्तु अनान का नही। यदि यह कहा जाता है कि वत्ति अज्ञान एव आवरण दोनो का हटाती है तो अनान की यह परिभाषा वह ज्ञान द्वारा हटाया जा सकता है अतिव्याप्त हो जाती है क्याकि वह आवरण को भी इगित करेगी जिसका अनान की परिभाषा म समावेश नही है। पुन यदि अनान अनेक माने जाते हैं तो ऐसी नानावस्था केवल साधारण पदार्थों का आवत करने वाले अनान का ही हटा सकेगी इसलिए वह पूर्ण अविभक्त अनान के लिए उपयुक्त न हो सकेगी जो केवल अखड सत्ता के अपरोक्ष नान से ही हट सकता है, क्याकि यह नान अत करण वत्ति नही होगी जो सवदा परिमित होती है।[2] यहाँ भी अज्ञान को ब्रह्म के स्वरूप को आवत करता हुआ मानना चाहिए और अनान के अ त का साक्षात् कारण नान नहीं है किन्तु आवरण का हटाना है दूसरा, आवरण का हटाना नान से होता है और इसलिए परिभाषा के अनुसार इसे ही अज्ञान कहना चाहिए, क्योकि आवरण अनादि है और नान द्वारा नष्ट होता है। महाचाय आगे अविद्या की परिभाषा की अनेक आलोचनाए करते हैं तो अधिकतर पाडित्यपूर्ण हैं और इसलिए वे यहाँ उल्लेखनीय नहीं हैं।

---

[1] सद् विद्या विजय, पृ० ११६।

[2] वही।

पांचवें खंड में महाचार्य अविद्या प्रकाशित होती है या प्रकट होती है इस पर विवाद करते हैं। यदि अविद्या स्वप्रकाश है, तो वह ब्रह्म जैसी सत् और चिद्रूप होती। यदि ब्रह्म का प्रकाश अविद्या की अभिव्यक्ति है, तो ब्रह्म नित्य होने से अविद्या की अभिव्यक्ति भी नित्य होगी, फिर भी अविद्या भासमान होती है वहां तक ही अपनी सत्ता रखती है ऐसा सदा माना गया है इसलिए वह मिथ्या है (मिथ्यायस्य प्रतिभास-समान कालीनत्व नियमात्)। यदि अविद्या के प्रकाश का ब्रह्म के प्रकाश से अभेद माना जाता है, तो जहां तक ब्रह्म का प्रकाश रहता है वहां तक अविद्या भी रहेगी इस तरह, अविद्या भी नित्य होगी। पुन यदि यह आग्रह किया जाता है कि जब अविद्या का अन्त होता है तो उसके ब्रह्म के प्रकाश से अभेद का भी अन्त होगा और इसलिए ब्रह्म नित्य होगा और अविद्या नाशवान् होगी। इस वाद में एक और कठिनाई बताई जा सकती है। यदि अविद्या ब्रह्म के प्रकाश से अभेद रूप है तो या तो दूसरा मिथ्या होगा या पहला सत्य होगा। यह सुझाव देना अर्थहीन होगा कि वे भिन्न होते हुए भी अभिन्न सत्ता रूप हैं (भिन्नत्वे सति अभिन्न सत्वाकत्वम्)। यहां पर जो आलोचना दी गई है वह सिद्धांत तक ही प्रयुक्त हो सकती है। जबकि अविद्या प्रकाश का, ब्रह्म के स्वरूप का ढकने वाला प्रकाश है ऐसा समझाया जाय (अविद्या-वच्छिन्न ब्रह्म स्वरूप अविद्या प्रकाश) या उससे मर्यादित या उसके प्रतिबिम्बित होता है ऐसा समझाया जाय।

दूसरे खंड में महाचार्य अविद्या का अन्त किया जा सकता है इस विचार की असंगति बताने का प्रयत्न करते हैं। वे कहते हैं कि शुद्ध चैतन्य अविद्या को नष्ट कर सकता है यह नहीं माना जा सकता। फिर अविद्या की सत्ता कभी हो ही नहीं सकती क्योंकि शुद्ध चैतन्य सर्वदा विद्यमान है, वह स्वयं अविद्या का नाश करता है और इसलिए उसके नाश के लिए किसी प्रयास की आवश्यकता नहीं रहती। यदि शुद्ध चैतन्य अविद्या को नष्ट नहीं कर सकता तो वह वृत्ति के प्रतिबिम्ब द्वारा (वृत्ति प्रतिबिम्बत्वम्) भी ऐसा नहीं कर सकता क्योंकि वह अपरिमित चैतन्य से अधिक और कुछ नहीं है। (चैतन्यादधिक विषयत्वाभाव तद्वदेव निवर्त्तकत्वासम्भवात्)। यदि वृत्ति प्रतिबिम्बित शुद्ध चैतन्य अविद्या का नाश नहीं कर सकता, तो वृत्ति उपहित या मर्यादित होकर भी ऐसा नहीं कर सकता। वृत्ति अपने से उसे हटा नहीं सकती क्योंकि वह जड़ है। यदि ऐसा माना जाता है कि ज्ञान अज्ञान द्वारा उत्पन्न भ्रम विचार का नष्ट करता है वह शुद्ध चैतन्य से अभिन्न है तो यही मानना चाहिए कि शुद्ध चैतन्य ही अज्ञान को नष्ट करता है, ऐसे मत के विरोध में अभी हाल ही आक्षेप दिए जा चुके हैं। यदि ज्ञान और अज्ञान भिन्न हैं तो यह सोचना मिथ्या है कि ज्ञान अज्ञान का नष्ट करता है क्योंकि ज्ञान एक व्याघात है जो अज्ञान का नष्ट करता है और मान्यता के अनुसार अविद्या ज्ञान नहीं है। इसके अतिरिक्त अज्ञान को नष्ट करने वाले प्रकाश के आगे और कोई आवरण नहीं माना जा सकता जो उससे हटाया

जाता है, इसलिए वह सच्ची दृष्टि से ज्ञान नहीं कहा जा सकता क्योंकि शंकर-मतवादियों की मान्यता के अनुसार ज्ञान आवरण नष्ट करके कार्य करता है आगे, यह ज्ञान जगत के समस्त पदार्थों का विरोधी है ऐसा माना गया है और यदि यह ऐसा है तो यह कैसे कहा जा सकता है कि इसी ज्ञान द्वारा ही अज्ञान नष्ट होता है ? पुनः यदि ऐसा माना जाता है कि भ्रम ब्रह्म पर सभी वस्तु का आरोपण ही है और ज्ञान इस मिथ्या आरोपण को हटाता है तब ज्ञान जबकि वह आवरण हटाकर ही कार्य करता हुआ माना गया है तो यही मानना चाहिए कि अज्ञान ही मिथ्या आरोपण को आवृत करता था यदि ऐसा है तो हमारे जागतिक अनुभव में ज्ञान ही प्रकट न होगा।

पुनः अविद्या का अन्त ही स्वयं समझ के बाहर है क्योंकि वह ब्रह्म के स्वरूप से भिन्न नहीं हो सकता। यदि ऐसा है तो द्वैत हो जाता है और मुक्ति असम्भव हो जायगी। यदि वह ब्रह्म से एक है तो ऐसा होने से वह नित्य रहेगा और उसके बारे में प्रयत्न का कोई अवकाश न रहेगा। यह भी नहीं कहा जा सकता कि अविद्या और ब्रह्म आपस में विरोधी है, क्योंकि अविद्या का ब्रह्म ही आधार है और इसलिए वह विरोधी नहीं है।

लोकाचार्य के 'श्रीवचन भूषण' में प्रपत्ति-सिद्धान्त का प्रतिपादन और सौम्य जामातृ की उस पर टीका

श्रीवचन भूषण के अनुसार भगवान की कृपा सर्वदा उनके न्याय में निमग्न रहती है किन्तु तो भी यह अस्तित्व रखता है और हम उसे विशेष उपाधियों के कारण समझ नहीं सकते। वह हमारे प्रयत्न से उत्पन्न नहीं होती क्योंकि तब भगवान् सदा कृपालु न रहेंगे (अनुभूत न्यायाद्युद्भावक पुरुषकार सापेक्षकत्व नित्याद्भूत-दया विमत्व व्याहत स्यात्) ३५ वीं।

भगवान् की दया उसी पर अवलम्बित है, और किसी पर नहीं किन्तु नारायण में लक्ष्मी निहित है और वह उनका सार रूप है या उनका शरीर है और जिन्होंने स्वेच्छा से अपना संकल्प पूर्णरूपेण नारायण से एकीकृत कर लिया है। यद्यपि ऐसा कल्पना के अनुसार लक्ष्मी नारायण के आश्रित है तो भी भक्त के लिए नारायण और लक्ष्मी एक ही हैं और उसके लिए भगवान् की दया अखंड रूप में लक्ष्मी और नारायण की ही दया है।

लक्ष्मी को नारायण की प्रीति का परम हेतु माना गया है जिन्होंने उनका अपना अंग माना है और लक्ष्मी ने भी अपने को उनसे इस प्रकार अभिन्न कर लिया है कि उनका, नारायण से पृथक अस्तित्व नहीं है। वास्तव में लक्ष्मी के लिए नारायण का अपनी इच्छा से अनुरूप करने में कोई विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ता, क्योंकि वहाँ

द्वैत भाव का नाम तक नहीं है, और इस कारण, भक्त को लक्ष्मी पर पृथक रूप से निष्ठा रखने की आवश्यकता नहीं रहती। लक्ष्मी का स्वरूप भगवान् की दया का शुद्ध सार है।[1]

जब भक्त अपनी स्वतंत्रता एवं पृथक अस्तित्व के मिथ्या विचारों के कारण भगवान् से वियुक्त अवस्था में होता है तब उसे अपनी स्वतंत्रता की मान्यता को त्याग देने एवं भगवान् को अपना परम ध्येय मानने की विरोधी दशा में प्रयत्न करना पड़ता है। किन्तु, एक बार उसने अपने मिथ्या अहंकार को त्याग दिया और अपने को भगवान् के पूर्ण रूपेण शरणागत कर दिया तो फिर उसके लिए और कोई प्रयत्न करना बाकी नहीं रहता। ऐसी अवस्था में लक्ष्मी के प्रभाव से भक्त के सभी पाप नष्ट हो जाते हैं और उनके प्रभाव द्वारा भगवान् उस पर दया करते हैं।[2] लक्ष्मी भी मनुष्य के हृदय में नैतिक अंत प्रबोधन द्वारा भगवान् की मैत्री साधने की आवश्यकता की भावना उत्पन्न करती है। वे द्विविध कार्य करती हैं, पहले वह मनुष्य के मन को मोड़ती हैं जो अनादि अविद्या के प्रभाव में ईश्वर के बजाय सांसारिक रसों में फंसा हुआ है और दूसरा वे भगवान् का हृदय द्रवित करती हैं जो मनुष्यों को उनके कर्मानुसार फल देने पर तुले हैं और उन्हें कर्म बन्धन का अतिक्रमण कर भक्तों पर आनन्द वर्षा करती है।

भगवान् की रक्षा पाने के रूप में प्रपत्ति पवित्र और अपवित्र स्थानों की मर्यादित उपाधियों से नियमित नहीं है और न किसी विशेष काल, या कोई विशेष प्रकार या जाति नियम, अथवा किसी भी प्रकार के फल के बंधन से भी बाधित है। जब भगवान् प्रपत्ति द्वारा किसी को स्वीकारते हैं तो उसके सभी विहित और अविहित दोषों को क्षमा कर देते हैं। कुटिलता (असरलता) और क्रूरता ही वे दोष हैं जिन्हें वे क्षमा नहीं करते। लोग अपने को निःसहाय पाकर बचने का और कोई चारा नहीं होने के कारण प्रपत्ति अपनाते हैं या इसलिए वे ऐसा करते हैं वे ज्ञानी हैं और निश्चित रूप से यह जानते हैं कि यही श्रेष्ठ उपाय है या उन्हें भगवान् में आर्वारा की

---

[1] देव्या कारुण्य रूपा ये॒ति तद्गुण सारत्वेन कारुण्य स्वयमवेति।

—श्रीवचन भूषण (हस्त०)।

[2] प्रपत्तेर्देश नियम काल नियम प्रकार नियम अधिकारि नियम फल नियमश्च नास्ति।

—श्रीवचन भूषण व्याख्या हस्त०।

टीका में उपरोक्त विचार भारद्वाज संहिता के उद्धरण से पुष्ट होता है—

ब्रह्म क्षत्र विश शूद्रा स्त्रियश्चा तर जातय।
सव एव पपद्येरन् सव धातारमच्युतम्।

—वही।

तरह, सहज ही प्रीति है।[1] पहले दृष्टान्त में, सच्चा ज्ञान और भक्ति कम से कम हैं, दूसरे दृष्टान्त में, अज्ञान इतना अधिक नहीं है किन्तु भक्ति साधारण कोटि की है, तीसरे में, अज्ञान कम से कम है, और प्रीति उत्कृष्ट है और वास्तव में, प्रीति की उत्कटता में, भगवान् के स्वरूप का सच्चा ज्ञान भी डूब गया है। पहले में अपने अज्ञान का भान प्रबलतम है दूसरे में अपनी दय एवं अज्ञान का भाव भगवान् के सच्चे स्वरूप के ज्ञान और उनके साथ अपने सम्बन्ध के ज्ञान से सतुलित है।

जिस भक्त ने अति प्रेम में, भगवान की शरण ले ली है उसका कभी उनसे सयोग और कभी वियोग रहता है। पहली अवस्था में वह उदार गुण पूर्ण भगवान् के साक्षात् सम्बन्ध से हर्षोन्माद से भर जाता है। किन्तु वियोग के क्षण में उस सयोग और हर्षोन्माद की स्मृति से उसे असीम दुःख होता है। ऊपर कहा गया है कि भगवान् की दया निरन्तर और सतत होती है किन्तु यह होते हुए भी हमारी स्वतन्त्रता की भावना हम में मिथ्या अहंता लाकर भगवान् की दया का अवरोध करती है। प्रपत्ति धारण करने से अवरोधक भाव हट जाते हैं और वह भगवान् का हम पर अपनी दया करने में सहायक होता है। इस विचार से प्रपत्ति एक निषेधात्मक साधन ही समझना चाहिए। भावात्मक उपाय भगवान् है जो दया करते हैं। इसलिए प्रपत्ति को हमारी मुक्ति का कारण नहीं समझना चाहिए। वह केवल अवरोधक भावों को ही हटाती है और इसलिए उसे हमारी प्राप्ति कराने में कारण रूप नहीं समझना चाहिए—क्योंकि वह कारण, मात्र भगवान् ही है। भगवान् इस प्रकार प्राप्ति का साधन और हेतु दोनों हैं और भक्त के लिए उनकी प्राप्ति ही एक परम साधन है। यहाँ पर प्रतिपादित प्रपत्ति का मत स्पष्ट रूप में अन्य साधनों की आवश्यकता का अस्वीकार करता है। प्रपत्ति का सार भगवान् की शरणागति में निहित निष्क्रिय भाव तथा भगवान् का उसके प्रति अनुराग दिखाने का अवसर देने में है। जब भक्त इस चिन्ता का अन्त कर देता है कि वह किस प्रकार मुक्त होगा तब भगवान् उसे बचाने की इच्छा में प्रवृत्त होते हैं।[2] भक्त के भगवान् से इस प्रकार के सम्बन्ध के मत में, इस दार्शनिक सिद्धान्त का सन्निवेश है कि जीवों का अस्तित्व भगवान् के लिए है उन्हें अपने स्वयं का कोई उद्देश्य पूर्ण करना नहीं है। अज्ञान के कारण ही जीव अपना

---

[1] अन्तिम प्रकार के मनुष्यों के दृष्टान्त के रूप में 'श्रीवचन भूषण व्याख्या' की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जा सकती हैं, भक्ति पारवश्यन प्रपन्ना भगवत्प्रेम पौष्कल्येन पादौ स्तब्धौ मनः शिथिलं भवति चक्षु भ्रमति पादौ हस्तौ च निश्चेष्टौ इति उक्त प्रकारेण शिथिल करणत्वेन साधनानुष्ठान योग्यता भावादनन्य गतिकास्तस्तस्मिन् भारं समर्पणं कृतम्। —हस्त०।

[2] अस्य इच्छा निवृत्ता चेत् तस्येच्छा अस्य कार्यकरी भवति।

—श्रीवचन भूषण व्याख्या हस्त०।

कोई स्वतन्त्र हेतु मानता है। भगवान् में उत्कट प्रेम द्वारा इस स्थिति का अस्वीकार, उनके आपस के सम्बन्ध को दार्शनिक तथ्य से आध्यात्मिक तथ्य के रूप में अनुभव कराता है।

जीव चित् और आनन्द रूप है और अणु है ये उसके तटस्थ लक्षण हैं। भगवान् और जीव के अन्तरंग सम्बन्ध का उनकी दासता से ही श्रेष्ठ रूप से वर्णित किया जा सकता है।

प्रपत्ति के साथ सर्वगात्मक राग इस प्रकार का है कि भक्त भगवान् के प्रति अपने मृदु प्रेम से उनमें भी वही राग उत्पन्न करता है जिसमें प्रेम भाव एक ओर आनन्दानुभव माना जाय और दूसरी ओर प्रेमी और प्रेमिका का सम्बन्ध माना जाय। निम्न कोटि की पहली प्रपत्ति सर्वदा स्वाभाविक अनुराग से प्रेरित नहीं होती, किन्तु अपनी निस्सहायता एवं अकिंचनता के भान से होती है।[1] उपेय की दूसरी अवस्था में भक्त भगवान् के प्रति गहन प्रेम में इतना प्रेरित होता है कि वह अपने बारे में कुछ भी नहीं सोचता, और प्रेम का उन्माद इतना गहरा हो जाता है कि वह उसे शरीर के विनाश की ओर ले जा सकता है। इसे पारिभाषिक शब्द में राग प्राप्त प्रपत्ति कहा है।

भक्त और भगवान् के सम्बन्ध को प्रेमिका की प्रेमी से लगन तथा गोपी और कृष्ण की उपमा से समझाया गया है, और ऐसा माना गया है कि यह गहरा भाव कामुक प्रेम जैसा है जो प्रेमी और प्रेमिका के विवाह की ओर ले जाता है। भक्ति, अज्ञान से असम्बद्ध एक विशिष्ट प्रकार की चेतना है जो गहन राग के रूप में प्रकट होता है। भक्त विरह पीडित स्त्री की सभी अवस्थाओं को अनुभव करता है। भक्त प्रेमी के समस्त भाव, भगवान् की प्रीति जगाने के लिए है। जिस प्रकार प्रेम से अभिभूत स्त्री का व्यवहार प्रेमी में स्मित उत्पन्न करने या आँखों में प्रकाश लाने के हेतु होता है ठीक उसी प्रकार भक्त का राग, भगवान् को रिझाने के हेतु होता है।[2] इसे सिद्ध प्रेम माना गया है। ऐसे प्रेम से उन्मत्त भक्तों का धर्म का कोई बन्धन नहीं

---

[1] इसे उपाय अवस्था कहा है जहाँ भक्त भगवान् को अपनी परम प्राप्ति के साधन के रूप में खोजता है।

[2] अप्रधान निवृत्तिपूर्वकभक्तिरूपापन्न ज्ञान प्रसाधितम्। महद् विवाह जनक काम समुद्रतुल्यतया वर्धयन् मेच सदृश विग्रहोऽस्मत् कृष्ण इत्येव भूत प्रवर्तिहेतो भक्तेरुत्पादको वर्धकश्च। सा एव हि तस्य भक्ति पारवश्य निबन्धना प्रवृत्तिरुपाय फलमित्युच्यते प्राप्यत्वरया स्त्री व्रतया नेत्र भ्रमणेन एतस्य सभ्रमा सर्वे मद् विपर्यासा कृत्वा एवमवस्था लब्धा इति त मुख विकासाय क्रियमाण कैंकर्यवद् पेयान्तरभूता।

—श्रीवचन भूषण व्याख्या हस्त।

ड़ाता। जिन भक्तों की प्रेमी की उन्मत्तावस्था इतनी है कि वे प्रपत्ति की वैधी या उपाय अवस्था के नियमों की राह नहीं देख सकते और उन्हें पालन भी नहीं कर सकते, वे ही माना भगवान् से अपने द्रवित हृदय से भटने का बाध्य हो जाते हैं। प्रपत्ति के साधारण नियम उन्हें बाधित नहीं है। उपरोक्त कथनानुसार प्रपत्ति की तीनों अवस्थाओं का पालन करने में स्वगत परिश्रम (पुरस्कार) आवश्यक यहीं तक है कि जीव शरणागत रहे जिससे भगवान् उनके दोष और त्रुटियों का स्वीकार करने के लिए राजी हो जाय और उन्हें अपनी भगवत् कृपा से हटा दें। जो प्रपत्ति की अवस्था में आगे बढ़े हुए है अर्थात् जो परमात हैं भगवान् उनमें प्रारब्ध कर्मों का भी हटा देते हैं और सत्वर मुक्ति प्रदान करते हैं।

जो प्रपत्ति धारण करता है वह मुक्ति पाने की चिन्ता भी नहीं करता, उसे किसी विशेष प्रकार की मुक्ति मिल जाय इस पर भी वह रुचि नहीं दिखाता। मुक्ति चाहना और साथ ही साथ जीवन की किसी विशेष स्थिति का पसन्द करना अहंकार है। किन्तु जिस पुरुष ने हृदय से प्रपत्ति मार्ग अपनाया है उसे अहंकार के अंतिम सूक्ष्म संस्कारों का भी नष्ट करना चाहिए। अहंकार एक ओर अज्ञान बढ़ाता है, क्योंकि मिथ्या अज्ञान द्वारा ही मनुष्य अपना स्वतंत्र अस्तित्व मानता है, दूसरी ओर अहंकार क्रोध का सूचक है। ऊपर कहा जा चुका है कि भगवान् कपट के अतिरिक्त सभी पापों को माफ कर देते हैं। इसलिए प्रपत्ति के लिए मूलत अहंकार का नाश अवश्य होना चाहिए। अहंकार के नाश द्वारा ही प्रपत्ति के योग्य पूर्ण शरणागति सम्भवित है।[1]

प्रपत्ति द्वारा परम श्रेय की चार पूर्वावस्थाएँ निम्न हैं (१) ज्ञान दशा, अर्थात् वह अवस्था जिसमें गुरु के उपदेश से भक्त भगवान् के सम्बन्ध में आत्म ज्ञान प्राप्त करता है (२) वरण दशा, इस अवस्था में भक्त निस्सहाय शरणागति भाव से, भगवान् को ही एक ही मात्र रक्षक के रूप में अपनाता है। (३) प्राप्ति दशा, भगवान् की प्राप्ति की दशा (४) प्राप्यानुभव दशा, अर्थात् भगवान् को पाकर वह परम श्रेय को पहुँचता है।[2]

प्रपत्ति का सिद्धान्त, अवश्य ही अत्यंत पुरातन है। यह अहिर्बुध्न्य संहिता लक्ष्मी तंत्र भारद्वाज संहिता और पंचरात्र ग्रंथ में पाया जाता है। श्री वैष्णव के लेखक इसे तैत्तरीयोपनिषद् कठोपनिषद् और श्वेताश्वतरोपनिषद्, महाभारत और रामायण

---

[1] एवं भूतस्य शरीर स्थिति हेतु प्रारब्ध कर्मेति नवक्तु शक्यत सर्व-पापेभ्य मोक्षयिष्यामीत्य नेन विरोधात्।

[2] श्रीवचन भूषण व्याख्या, हस्त०।

जैसे और पुराने ग्रंथों में खोजते हैं। अहिर्बुध्न्य संहिता में प्रतिपादित प्रपत्ति का उल्लेख हो चुका है। भारद्वाज संहिता में, प्रपत्ति को भगवान् में आत्मसमर्पण कहा गया है, और उसका वर्णन बहुत कुछ अहिर्बुध्न्य संहिता जैसा ही है। जो भक्त प्रपत्ति का मार्ग धारण करता है वह वैष्णवों के साधारण धर्म और वर्णाश्रम धर्म से मुक्त नहीं होता। भारद्वाज संहिता में इस मार्ग के प्रतिकूल एवं अनुकूल कर्मों का विस्तार सहित वर्णन किया गया है। रामानुज अपने शरणागति गद्य में, उस प्रपत्ति मार्ग का समर्थन करते हैं जिसमें भक्त केवल नारायण की ही शरण नहीं लेता किन्तु लक्ष्मी की भी लेता है। किन्तु शरणागति गद्य या गीता की टीका में भी यह उल्लेख नहीं है कि जिसने प्रपत्ति को अपनाया वह वर्णाश्रम तथा अन्य धर्मों से मुक्त है और न उनके समझाए अनुसार लक्ष्मी का कार्य प्रपत्ति के फल को देता है। भगवत् गीता के श्लोक द्वारा (सर्व धर्मान् परित्यज्य (१८ ६६) समझाते हुए वे कहते हैं कि भक्त को अपने सभी साधारण धर्म बिना फलाशा के पालन करना चाहिए।[1] प्रारब्ध कर्मों के नाश के बारे में भी रामानुज और वेंकटनाथ मानते हैं कि यद्यपि बहुत से भगवान् की कृपा से नष्ट हो जाते हैं तो भी कुछ अंश रह ही जाता है।[2] वात्स्यवरद प्रपन्न

---

[1] वेंकटनाथ अपनी तात्पर्य दीपिका में गीता पर रामानुज भाष्य (श्लोक १८ ६६) पर कहते हैं एतच्छ्लोकापात प्रतीत्या कूट युक्तिभिश्च यथा वर्णाश्रम धर्म स्वरूप-त्यागादिपक्षा नादेति तथा उपपादितम्।

[2] साध्य भक्तिस्तु सा हन्त्री प्रारब्धस्यापि भूयसि। (शरणागति गद्य पर, वेंकटनाथ की रहस्य रक्षा नामक टीका, पृ० ५० वाणी विलास प्रेस १९१०)।

न्यास विंशति और न्यास तिलक में जिसकी वेंकटनाथ के पुत्र वरदनाथ की न्यायतिलक व्याख्या में इस पर टीका की है प्रपत्ति का वर्णन लोकाचार्य के वर्णन जैसा ही है। प्रपत्ति दक्षिण वैष्णव पंथ का प्राचीन सिद्धांत है और उसके मूल भूत गुण बहुत कुछ सात्यंतिक है। न्यास तिलक व्याख्या में इस पर बड़ा बल दिया गया है कि भगवान् की प्राप्ति के लिए प्रपत्ति, भक्ति से भिन्न मार्ग है और उससे श्रेष्ठ है। श्री वचन भूषण में भक्ति को प्रपत्ति के मार्ग का मध्यस्थ मानने की प्रवृत्ति है। न्यास तिलक व्याख्या में यह कहा है कि प्रपत्ति और भक्ति में मुख्य भेद पहला यह है कि पहला निरंतर ध्यान रूप है जबकि दूसरा यह एक बारगी करना पड़ता है दूसरा भेद यह है कि प्रारब्ध कर्म पहले से नष्ट नहीं होते जबकि दूसरे में भगवान् की कृपा से वे नष्ट किए जा सकते हैं तीसरा यह कि पहले में अनेक सहायक पूजा पद्धति का भाग रहती है—निरंतर कर्म और निरन्तर प्रयत्न—जबकि दूसरे में अमाप श्रद्धा है चौथा भक्ति चिरकाल में फल देती है जबकि प्रपत्ति उन्हीं के लिए है जो अचिरात फल चाहते हैं पांचवां भक्ति के भिन्न उद्देश्य

पारिजात मे इसी विचार का अनुसरण करते है। वेंकटनाथ भी, न्यास विंशति मे, और न्याय तिलक में इसी मत की पुनरावृत्ति करते हैं और अण्णाचार्य, वेदान्ती रामानुज के शिष्य इस मत का अपने प्रपत्ति प्रयोग में अनुसरण करते हैं। वेंकटनाथ के पुत्र वरदनाथ भी न्यास तिलक व्याख्या और न्यासकारिका मे इस मत को दोहराते हैं। तेंगलाई पंथ के नेता, लोकाचार्य और सौम्य जामातृ के मत इनसे इस बात मे भिन्न हैं कि उपरोक्त प्रपत्तिसिद्धान्त जबकि निम्न कोटि के लोगों के लिए ठीक हो सकता है, उच्च कोटि के भक्त जो भगवान् के प्रेम मे बिलकुल उन्मत्त हो गए है, वे इसी मानसिक अवस्था के कारण कोई साधारण धर्म का पालन नहीं कर सकते और इसलिए उन्हें इनसे सर्वथा मुक्त कर दिया गया है। उनके प्रारब्ध कर्म भी भगवान् की कृपा से सर्वथा नष्ट हो सकते हैं। वडगल और तेंगल पंथ मे अधिकतर भेद, तंगले मत द्वारा उच्च प्रकार की प्रपत्ति पर बल देना ही है।

कस्तूरी रंगाचार्य

कस्तूरी रंगाचार्य जो श्री रंग सूरि भी कहलाते थे सम्भवत सौम्य जामातृ मुनि के शिष्य थे और सम्भवत १५वीं शताब्दी के अंतिम भाग में या सोलहवीं के आरम्भ में रहे होंगे। रामानुज के मत में अधिक परिवर्तन नहीं हुआ दीखता है जैसाकि शंकर के मत में पाया जाता है। रामानुज के अनुयायियों ने आगामी शताब्दों के अन्तर्गत रामानुज के सिद्धान्तों का सरलार्थ करने में और उनके सिद्धान्त की पुष्टि में नए तर्क देने में या उनके प्रतिवादियों के तर्कों के खंडन मे और दूसरी प्रणालियों के सिद्धान्तों में दोष दर्शन करने में लगभग सारा प्रयत्न लगा दिया। वेंकटनाथ द्वारा भक्ति का स्वरूप और मुक्ति का अंतिम स्वरूप और उनसे सम्बन्धित अन्य विषयों का

हो सकते हैं और तदनुसार भिन्न फल भी दे सकते हैं, जबकि प्रपत्ति, निस्सहाय शरणागति रूप होने से सभी फल तुरन्त ही लाती है। उत्कट श्रद्धा प्रपत्ति की नींव है। अनेक अवरोधों में से यह श्रद्धा और भगवान् के प्रति राग भक्त को अपनी सिद्धि प्राप्त कराता है। इन कारणों से भक्ति मार्ग प्रपत्ति से निम्न कोटि का है। गुरु के प्रति प्रपत्ति भगवान मे प्रपत्ति का एक भाग माना गया है। श्री वचन भूषण और न्यास तिलक में प्रपत्ति के विचार में भेद यह है कि न्यास तिलक में, जिन्होंने प्रपत्ति मार्ग अपनाया है उनके लिए भी शास्त्रोक्त विधि का त्याग और निषिद्ध कर्मों का वर्जन अनिवार्य माना है, क्योंकि शास्त्र भगवान् के आदेश हैं। श्री वचन भूषण के अनुसार जिस मनुष्य ने प्रपत्ति का मार्ग अपनाया है वह प्रपत्ति द्वारा उत्पन्न मानसिक स्थिति के कारण, शास्त्रोक्त धर्म पालन करने के लिए असमर्थ हो जाता है। वह इसलिए उनसे अतीत हो जाता है।

समझाने के प्रयत्न से अवश्य ही साम्प्रदायिक मत भेद खड़ा हो गया। कुछ बाह्य कर्म काण्ड में भी इसी समय से भेद देखा जा सकता है। एक पथ[1] (वडकलै या उत्तर कलाय) के अग्रणी वेंकटनाथ थे और दूसरा पथ (तेंगलै या दक्षिण कलाय लोकाचार्य और सौम्य जामातृ मुनि के नेतृत्व में था।

कस्तूरी रंगाचार्य ने कार्याधिकरणवाद और कार्याधिकरण तत्व नामक दो ग्रंथ रचे जिनमें उन्होंने इन दो पथों के महत्वपूर्ण भेदों का विवरण किया है और तेंगले या दक्षिणकलाय पथ का समर्थन किया है। ब्रह्म सूत्र (४-३, ६-१५) के कार्याधिकरणवाद नामक विषय पर रामानुज के स्पष्टीकरण के अवसर पर एक विवाद खड़ा हो गया था। इस टीका में, ज्ञान या उपासना द्वारा, निरपेक्ष अमरत्व प्राप्त किया जा सकता है इस विषय पर उपनिषद् के पाठों से कुछ कठिनाइयाँ खड़ी हो गई। बादरी कहते हैं कि सर्जित किए जीवों में महान् हिरण्यगर्भ की उपासना से नित्य अमरत्व प्राप्त होता है। जैमिनि कहते हैं कि केवल परम ब्रह्म की उपासना से ही अमरत्व प्राप्त हो सकता है। बादरायण तो उनके मतों का निरस्कार करते हैं और इसमें मानते हैं कि जो लोग अपनी आत्मा को प्रकृति से स्वभावतः पृथक मानते हैं और ब्रह्म का अंश मानते हैं वे ही नित्य अमरत्व पाते हैं।

जो भौतिक गुणों से अपनी मूल भिन्नता अनुभव नहीं कर सकते जिससे कि वे संयुक्त हुए दीखते हैं वे परम अमरता को प्राप्त नहीं कर सकते और उन्हें जन्म मरण के चक्र में जाना पड़ता है। जो ब्रह्म से अपना सम्बन्ध योग्य प्रकार से समझकर उपासना करते हैं वे ही परम अमरता प्राप्त करते हैं। रंगाचार्य ने उपासना का स्वरूप गीता में कहे अनुसार ब्रह्म की श्रद्धापूर्वक उपासना के रूप में वर्णित किया है। (श्रद्धापूर्वकम् ब्रह्मोपासनम्)। श्रद्धा साधारण अर्थ में विश्वास कहा जाता है। रंगाचार्य और तेंगले पथ के विचारकों द्वारा श्रद्धा विशेष अर्थ में प्रयुक्त की गई है। इस प्रकार पहली अवस्था भगवान् के उदार और श्रेष्ठ गुणों का पूर्ण अनुभव है दूसरी अवस्था इस अनुभव से राग की उत्पत्ति है तीसरी अवस्था, भगवान् को अंतिम उद्देश्य के रूप में मानना और उन्हें हमारे स्वरूप की पूर्णता समझना है, चतुर्थ अवस्था उन्हें हमारे जीवन का एक मात्र प्रिय जन मानना है पाँचवी अवस्था उनसे तीव्र प्रीति के कारण उनके वियोग को अशक्य अनुभव करना है छठी अवस्था भगवान् हमारी परिपूर्णता का एक मात्र साधन है ऐसा अखंड विश्वास है और सातवीं और अंतिम

---

[1] सर्वासु विप्रतिपत्तिषु पूर्वा कक्ष्या वेदान्ताचार्य तदनु-
संधिनाम् उत्तराकक्ष्या सेज्ञानाम् उत्तरा त
लोकाचार्य तदनुसंधिना दक्षिण कलाय समानामिति विवेको बोध्य।
—कार्यकारणाधिकरण वाद, ८२।

अवस्था, उन्हें दृढ़ता से ग्रहण करने के लिए उद्यत होना है। श्रद्धा सातवीं अवस्था है जो पिछली सभी अवस्थाओं के साथ उन्हें एकाकार करने वाली अवस्था है। इस श्रद्धा के साथ भगवान् की उपासना को भक्ति भी कहा जाता है। भगवान की उपासना उनके प्रति अथाह प्रीति है (प्रीतिरूपापशान्तत्व लक्षणम्)। भौतिक तत्वों से हमारे स्वरूप की भिन्नता का अनुभव ही केवल पर्याप्त नहीं है। जो पंचाग्निविद्या-पद्धति का अनुसरण करते हैं उन्हें विवेक ज्ञान ही मिलता है, वे भगवान को अपनी परिपूर्णता का अन्तिम ध्येय नहीं समझते।

उत्तर कलाय, और दक्षिण कलाय के बीच विवाद का पहला विषय कैवल्य के स्वरूप के बारे में है जिसके अनुसार आत्मानुभव ही पुरुषार्थ है (आत्मानुभव लक्षण-कैवल्याख्या-पुरुषार्थ)। उत्तरकालाय के अग्रणी वेंकटनाथ यह सोचते हैं कि जो लोग ऐसी मुक्ति पाते हैं उन्हें पुनः वापस आना पड़ता है अर्थात् ऐसी मुक्ति नष्ट होती है। दक्षिण कलाय पंथ तो इसे नित्य मुक्ति मानता है। इस प्रकार, वेंकटनाथ, अपने न्याय सिद्धाञ्जन में कहते हैं कि भौतिक तत्वों से भिन्न ऐसा आत्मानुभव पर्याप्त नहीं है किन्तु यह आत्मा भगवान का अंश है और उनके सर्वथा अधीन है और यह मत श्रीभाष्य में माना गया है।[1] ये अपना स्वरूप आनन्द रूप अनुभव करना और भगवान के आनन्दमय स्वरूप का अनुभव करने में भेद करते हैं। पहला दूसरे के बिना हो सकता है। यह मानना पड़ता है कि कैवल्य में अचित् संसर्ग रहता है क्योंकि यहाँ कर्म का सर्वथा नाश नहीं होता क्योंकि अपने सच्चे स्वरूप को पहचानना अपने को भगवान का अंश समझना है और जहाँ तक इसकी प्राप्ति नहीं होती वहाँ तक हम माया से प्रभावित हैं। ऐसे पुरुषों को भगवान के दर्शन में माया अवरोध करती है। जिन्होंने कैवल्य प्राप्त किया है उनकी गति क्या होती है–इस विषय में वेंकटनाथ तो कुछ भी निश्चित रूप से नहीं कह सकते। वे केवल यह प्रतिपादन करते

---

[1] परम पुरुष विभूतिभूतस्य प्राप्तुरात्मनः स्वरूप याथात्म्य वेदनमपवर्ग साधनाभूत परम पुरुष वेदनापयोगितया आवश्यकम्। न स्वत एव उपायत्वे नेत्युक्तम्।

—न्याय सिद्धाञ्जन पृ० ८२।

वेंकट अपने मत की पुष्टि के लिए वरद विष्णु मिश्र का उल्लेख करते हैं 'निःशेष कर्म क्षयाभावात् कैवल्य प्राप्तौ न मुक्तिः'।

वे संगति माला का उल्लेख करते हैं जहाँ विष्णुचित्त कहते हैं कि मनुष्य ब्रह्म प्राप्ति की इच्छा रखते हुए भी ऐसी गलतियाँ कर सकता है कि सच्ची ब्रह्मावस्था प्राप्त करने के बजाय वह कैवल्य की निम्नावस्था प्राप्त कर ले जैसे कि कोई स्वर्ग प्राप्ति के लिए यत्न करता हुआ ऐसी गलती कर दे कि वह स्वर्ग प्राप्त करने के बजाय ब्रह्म राक्षस बन जाय। —वही पृ० ८४।

हैं कि व नित्य बाह्य स्थिति प्राप्त नही कर सकते। वे इस बारे म भी अनिश्चित हैं कि कैवल्य प्राप्त पुरुषो का देह से ससग रहता है या नही। उन्हें इसका भी ज्ञान है कि कवल्य के बारे में उनका स्पष्टीकरण सभी शास्त्र पाठो से पुष्टि मगत नही है किन्तु वे सोचते हैं कि जबकि कुछ शास्त्र पाठ उनके मत का समथन करते हैं तो अन्य पाठो को भी उसी दृष्टि से देखना चाहिए।

कस्तूरी रगाचाय तो प्राचीन द्रविड ग्रन्थो क प्रमाणानुसार और गीता तथा अन्य ग्रन्थो के आधार पर यह प्रतिपादन करते हैं कि आत्म ज्ञान से मुक्ति पाने वाले निरपेक्ष अमरता को प्राप्त होते हैं। आत्म ज्ञान द्वारा मुक्ति तथा भगवान से सम्बन्ध रखते हुए आत्म ज्ञान क बीच केवल भेद, अनुभव की महानता तथा प्रचुरता म ही है पिछला पहले से इसी दृष्टि स उच्च है।[1] उत्तर कलाय और दक्षिण कलाय में अन्य भेद उपरोक्त कहे गए विषयो से निकट सम्बन्ध रखते हैं। इनका विवरण कार्याधिकरणवाद के दूसरे प्रकरण मे, निम्न प्रकार से दिया गया है। उत्तरकालायवादी सोचते हैं कि जो आत्म ज्ञान की मुक्ति कैवल्य के रूप म प्राप्त करते हैं वे अतिम मुक्ति पाने वाले पुरुषो से अन्य प्रणाली म होकर उच्च लोक को प्राप्त करते हैं। दक्षिण कलायवादी इसे अस्वीकार करते हैं। दूसरा पहले मतवादी यह मानते हैं कि प्रकृति के तत्वो से नितान्त पृथक हो जाना मुक्ति के समान है पिछले मतवादी इसे अस्वीकार करते हैं तीसरा उत्तरकलाय, मानते हैं कि जो कवल्य प्राप्त कर लेते हैं वे सूक्ष्म अचित् अशुद्धताओ से सम्बन्धित रहते हैं उन्हें दूरस्थ अथ मे ही मुक्ति प्राप्त है ऐसा माना जा सकता है। दक्षिण मतवादी इसे चाहते है। चौथा पहले मत क अनुसार जो कवल्य प्राप्त करते हैं उनका स्थान प्रकृति के अचित् जगत् के क्षेत्र मे ही रहता है इसलिए उनकी अवस्था परिवतनशील रहती है किन्तु पिछले मतवादी इसे अस्वीकार करते है। पाचवा पचाग्नि विद्या द्वारा जो ज्ञान प्राप्त करते हैं वे कवल्य प्राप्त पुरुषो स भिन्न होते हैं ऐसा उत्तरकलाय मानते हैं किन्तु दक्षिण कलाय कहते हैं ऐसा और नही भी हो सकता है। छठा, उत्तरकलाय यह मानते हैं कि जब कोई पचाग्नि विद्या द्वारा जो ज्ञान उत्पन्न करते हैं वे भौतिक जगत् (प्रकृति) के क्षेत्र म ही रहते हैं जब वे केवल आत्म ज्ञान ही प्राप्त करते हैं किन्तु जब वे ब्रह्म के साथ अपना सम्बन्ध अपना स्वरूप जान लेते हैं, तब वे प्रकृति से ऊपर उठ जाते है दक्षिण कलाय ऐसा नही मानते। सातवा उत्तरकलाय का यह कहना है कि पचाग्नि विद्या द्वारा जो ज्ञान प्राप्त करते हैं और जो भगवान से अपना क्या सम्बन्ध है इसे जानते हैं उनम समान गुण धम होते हैं दक्षिण कलाय इसे नही मानते हैं। आठवा, पहले यह मानते है कि

[1] कार्याधिकरणवाद, ३ ७६। कस्तूरी रगाचाय द्रविड और सस्कृत ग्रन्थो के इस मत के समथन म बहुत से उद्धरण देते हैं।

प्रकृति के प्रतीत होने पर स्वानुभव में कोई भेद नहीं हो सकता किन्तु दक्षिण कलाय इसे भी नहीं मानते।[1]

अपने कार्याधिकरण तत्व में रंगाचार्य उन्हीं तर्कों का और उन्हीं विषयों पर विवेचन करते हैं जो कार्याधिकरणवाद में हैं।

शैल श्री निवास

शैल श्रीनिवास श्रीनिवास ताताचार्य के पुत्र कौण्डिन्य श्रीनिवास दीक्षित के शिष्य थे। वे अपने ज्येष्ठ भ्राता अन्नयार्य दीक्षित के ग्रन्थों से बहुत प्रभावित थे उनके कुछ ग्रन्थ अपने बड़े भाई द्वारा लिखे ग्रन्थों के विस्तार ही हैं। उन्होंने जो ग्रन्थ लिखे उनमें से विरोध भजनी एक है। शैल श्रीनिवास ने कम से कम छः ग्रन्थ रचे, विरोध निरोध भेद दर्पण अद्वैत वन कुठार सार दर्पण' मुक्ति दर्पण 'ज्ञान रत्न दर्पण' 'गुण दर्पण और भेद मणि'।

विरोध निरोध में, जो सम्भवतः उनका अन्तिम ग्रन्थ है, वे मुख्यतः शंकर अनुयायियों द्वारा रामानुज के सिद्धान्तों पर की हुई आलोचनाओं का तथा अन्य वेदान्त के लेखकों की आलोचनाओं को, जैसेकि रामानुज के सिद्धान्त शास्त्र प्रमाणित नहीं है—यह बताकर समझाने की कोशिश करते हैं कि शास्त्र रामानुज के पक्ष में है, अन्य वेदान्त मतों के पक्ष में नहीं हैं।

विरोध निरोध के पहले अध्याय में शैल श्री निवास सबसे पहले, इस मत को लेते हैं कि ब्रह्म जगत् का उपादान एवं निमित्त कारण है—जो उनके अनुसार तभी सम्भव है जबकि ब्रह्म चित् अचित् विशिष्ट हो (ब्रह्मणि चिदचिद् विशिष्टरूपतामन्तरेण न घटते)। ब्रह्म स्वरूप से अपरिणामी है किन्तु चित् और अचित अंशों में परिणामी है। ब्रह्म कारण रूप से चित् और अचित् की सूक्ष्म अवस्था से सम्बन्धित है जब वह परिणत होता है जीव कर्म परिपाक के कारण ज्ञान की भिन्न अवस्था में विकास और विस्तार करते हैं और अचित गोचर जगत् के रूप में स्थूल अवस्था में परिणत होता है, इन दोनों में अन्तर्यामी रूप से भगवान का अंश, इतना ही परिणाम हो पाता है जितना इन दो परिणामी तत्वों के संयोग द्वारा सम्भव है।[2]

---

[1] कार्याधिकरणवाद, २७।

[2] अविद्यास्य कारणावस्थाया शब्दादि विहीनस्य भाग्यत्वाय शब्दादिमत्वया स्वरूपा यथाभावरूप विकारो भवति उभय प्रकार विशिष्टे नियन्त्र तदवस्था तदुभय-विशिष्टता रूप विकारो भवति।

—विरोध निरोध हस्त०।

शास्त्र जब ब्रह्म को अपरिणामी कहते हैं तब उनके कहने का तात्पर्य यही है कि जिस प्रकार जीव और जड कर्म द्वारा परिणाम पाते हैं उस प्रकार वह परिणाम नहीं पाता। किन्तु इससे ब्रह्म उपादान कारण है यह असिद्ध नहीं होता।[1] ब्रह्म के दो अंश हैं एक द्रव्यगत दूसरा विशेषणात्मक। द्रव्यात्मक भाग, उसके सूक्ष्म अचिदंश द्वारा स्थूल अचित् अंश उससे अपृथक होने के कारण उसमें समाविष्ट रहता हुआ माना गया है। ब्रह्म का चिदंश भी है जो विचार अनुभव द्वारा बहुत् होता है और जीव रूप व्यवहार करता है। इस प्रकार ब्रह्म चित् अचित् अंश द्वारा विकार पाता है और इस दृष्टि से भगवान अपने दो अंश द्वारा तथा अन्तर्यामी रूप से स्वतन्त्र सम्बन्धित होकर विकासात्मक है। वेंकटनाथ से विपरीत, शैल श्रीनिवास मानते है कि यह कारण विकार सांख्य परिणाम जैसा है[2] विकार का अर्थ यहाँ अवस्था-परिवर्तन से है। वह इस प्रकार साक्षात चित और विचारात्मक (आध्यात्मिक) अंश में परिणत होता है और नियता रूप से परोक्ष रूप से परिणत होता है, यद्यपि वह स्वयं नित्य रहता है। इस पर कि यदि चित और अचित विकारी होते हुए माने गए हैं तो ब्रह्म को उनसे विशेषित होकर कारण मानने का कोई अर्थ नहीं है। इसका उत्तर यह है कि ब्रह्म को शास्त्र प्रमाण के आधार पर कारण माना गया है। जहाँ तक ब्रह्म नियता और अपने में अपरिणामी रहता है उसे निमित्त कारण माना है।[3]

दूसरे अध्याय में शैल श्रीनिवास रामानुज के जीव सिद्धान्त के विरुद्ध आलोचनाओं का उत्तर देते हैं और कहते हैं कि जीव का अज्ञान और ज्ञान की वृद्धि से सकुचन तथा विकास यह अनुमित नहीं करता कि वह अनित्य है क्योंकि अनित्यता या विनाश उसी में कहा जा सकता है जिसमें अवयवों का घटना बढ़ना होता है (अवयवो-पचयापचयारेव अनित्यत्व व्याप्यतया)। ज्ञान अखण्ड है इसलिए उसमें वास्तव में विकास या सकुचन नहीं हो सकता। सकुचन या व्यापन वास्तव में कर्म के प्रभाव के कारण ज्ञान का विषय के साथ सम्बन्ध का अभाव है या दीप के प्रकाश की तरह

---

[1] चिदचिद्गतकर्माद्यधीनविकारत्व निर्विकारत्व श्रुतिर्निषेधति स्वयतादृश जगदुपादानत्व नसा श्रुतिर्बाधते। —वही।

[2] विशिष्ट ब्रह्मकारणम् इत्युक्त तेन कार्यमपि विशिष्टमत्र तत्र च ब्रह्मण उपादानत्व विशेषणांश विशेष्यांश प्रति तत्र चाचिदंश प्रति यदुपादानत्व तत सूक्ष्मावस्था चिदंश द्वारक तत्र तत्र द्वारभूता चिदंश गत-स्वरूपान्यथाभाव रूप एव विकार स च अपृथक सिद्ध वस्तु गतत्वात् ब्रह्मन्यपि एव च साख्याभिमतोपादान तायां सिद्धान्तेऽप्यनपायात न कोऽपि विरोध।

—विरोध निरोध।

[3] तेन तदेव प्रकारं निमित्त सद्वारकम् उपादानम्। —वही।

विषय के साथ सम्बन्ध का विस्तार है, कर्म इसलिए उपाधि माना गया है जो ज्ञान की विषय के प्रति गति को मर्यादित करता है, यही कारण है कि उसे आलंकारिक भाषा में संकुचन कहा है। ज्ञान के इस स्वरूप के कारण कि वह कर्म द्वारा अवरुद्ध न होते हुए भी सारे शरीर में व्याप्त है और सभी दुःख और सुख को ग्रहण कर सकता है, यद्यपि ज्ञान आत्मा में है जो अणु है। इस प्रकार, ज्ञान विभु है।[1] ज्ञान भी स्वरूप से नित्य है यद्यपि वृत्ति दृष्टि से परिवर्तनशील है।

तीसरे प्रकरण में श्रीनिवास इस प्रश्न पर विचार करते हुए कि जीव उत्पन्न होते हैं या नित्य हैं वे इस निष्कर्ष पर आते हैं कि वे स्वरूप से अजन्मा हैं। किन्तु अपने ज्ञान की विशिष्ट दशा की दृष्टि से वे उत्पन्न भी कहे जा सकते हैं।[2] नित्य ज्ञान की उत्पत्ति, ज्ञान की व्याप्ति या संकुचन की दृष्टि से ही सम्भव है जो शरीर तथा अन्य सहकारियों की क्रिया से है। इसी अर्थ में ज्ञान यद्यपि नित्य होते हुए भी अपनी अनेक अभिव्यक्तियों द्वारा उत्पन्न होता है।

चौथे प्रकरण में श्रीनिवास उसी प्रश्न की विवेचना करते हैं जिस पर उपनिषद् भी आग्रह करते हैं कि एक को जानने से सब कुछ जाना जाता है। वे मध्य और शंकर के मतों की आलोचना करते हैं और यह मानते हैं कि एक के ज्ञान का अर्थ ब्रह्म के ज्ञान से है जो चित और अचित से सम्बन्धित होने से इन दोनों के ज्ञान का भी समावेश करता है। इस विषय पर उनकी विवेचना आखिर तक शास्त्र पाठों के अर्थ के आधार पर की गई है।

पांचवें प्रकरण में, श्रीनिवास जीव किस प्रकार कर्ता कहा जा सकता है इसे समझाते हैं। कर्तृत्व वह प्रयास है जो किसी कर्म को उत्पन्न करता है (कार्यानुकूल कृतिमत्त्वम्)। रामानुज मत में प्रयत्न एक विशेष बौद्धिक अवस्था है और इसलिए जीव में हो सकती है और इसलिए प्रयत्न जो किसी कर्म को उत्पन्न करता है वह भी जीवगत है जो स्वरूप से नित्य होते हुए भी अवस्था दृष्टि से परिणामी है।[3] जीव का कर्तृत्व तो अवश्य, भगवान् द्वारा नियन्त्रित रहता है यद्यपि कर्म का भाग जीव ही

---

[1] वही।

[2] तत्र निषेध वियदादिवत् जीवस्वरूपोत्पत्ति प्रतिषेधन्ति उत्पत्ति विषयास्तु तु स्वासाधारण धर्मभूत ज्ञान विशिष्ट वेषेण उत्पत्तिं वदन्ति।

—विरोध निरोध हस्त०।

[3] प्रयत्नादेवु हि विशेषरूपतया कार्यानुकूलकृतिमत्त्वस्यापि कर्तृत्वस्य ज्ञानविशेष रूपतया तस्य स्वाभाविकतया तदात्मना जीवस्य ज्ञानस्य नित्यत्वेऽपि तत्परिणाम विशेषस्य अनित्यत्वात्।

—वही।

पाता है, क्योंकि भगवान् का निर्देश जो जीवों के प्रयत्न को निश्चित करता है वह उनके कर्मानुसार होता है। वह वस्तुतः नियतत्ववाद और प्रसगवाद का मिश्रण है।

सातवें प्रकरण मे श्रीनिवास यह विवाद करते है कि ज्ञान यद्यपि सब यापी है तो भी वह किसी व्यक्ति विशेष मे उसके देह से सम्बधित कर्मानुसार ही प्रकट होता है और इसलिए उसे सभी प्रकार के दुःख और सुख उठाना पडे ऐसा सम्भव नही है और उसे अपनी ही अनुभव परम्परा से मर्यादित होना भी आवश्यक नही है। आठवें तथा नवें अध्याय मे वे यह प्रतिपादित करने का प्रयास करते है कि मुक्तावस्था मे जीव अपने सभी कर्मों एव पाप और पुण्य से मुक्त हो जाता है, किन्तु इस अवस्था मे भगवान् उन्हे अनेक प्रकार के सुखो को भोगने के लिए विलक्षण शरीर देने की कृपा भी कर सकते हैं। शेष उन्नीस अध्यायो मे शैल श्रीनिवास रामानुज प्रणाली के महत्वपूर्ण धार्मिक सिद्धान्तो का परिचय कराते हैं और शास्त्रो के आधार पर उनका विवेचन करते है जिन्हे दार्शनिक दृष्टि से महत्व का न होने के कारण छोडा जा सकता है।

भेद दर्पण मे भी शैल श्रीनिवास उन महत्वपूर्ण सिद्धान्तो का उल्लेख करते हैं जिनमे शकर और रामानुज एक मत नही है और वे शास्त्रो की आलोचना द्वारा यह बताने का प्रयास करते है कि रामानुज द्वारा किया गया श्रुति का बोधार्थ ही केवल सच्चा है।[1] यह ग्रन्थ दार्शनिक दृष्टि से नितान्त निरुपयोगी है। उपरोक्त कहे अन्य ग्रन्थो मे भी शैल श्रीनिवास रामानुज सिद्धान्त को श्रुति आलोचना की शैली से प्रतिपादन करने में रुचि बताते है और इसलिए इनका वर्णन दर्शन के विद्यार्थियो के लिए बहुत ही कम मूल्य रखता है।

'सिद्धान्त चिन्तामणि' मे शैल श्रीनिवास ब्रह्म कारणत्व पर विवेचना करते है। ब्रह्म, जगत् का निमित्त एव उपादान कारण, दोनो ही है। ऐसा ब्रह्म हमारे ध्यान का विषय है। ध्यान के विषय मे ज्ञान और सकल्प होना चाहिए। एक निर्गुण पदार्थ ध्यान का विषय नहीं बन सकता। ब्रह्म का ठीक प्रकार से ध्यान किया जा सके इसलिए उसके कारणत्व का उचित निश्चय होना आवश्यक है। ध्यान करने के लिए झूठे गुणो का निवेश करना अर्थ नही रखता। यदि जगत भ्रम रूप है तो ब्रह्म का कारणत्व भी भ्रम है और इससे हम उसके सच्चे स्वरूप को जान नही होगा। यदि भगवान जगत का सच्चा कारण है तो जगत भी सत्य होगा। ऐसा कभी कभी कहा जाता है कि एक ही वस्तु उपादान एव निमित्त कारण दोनो नही हो सकती (समवाय समवायि भिन्न कारण निमित्तकारण मिति) घडे का उपादान कारण मिट्टी है और निमित्त कारण कुम्हार चाक इत्यादि हैं। इस पर उत्तर यह है कि ऐसा

---

[1] भेदाभेद श्रुति व्रातजात स देह स तत
भेद दर्पणमादाय निश्चि व तु विपश्चित । —भेद दर्पण, हस्त०।

आक्षेप निरर्थक है, क्योंकि जो निमित्त कारण है वह उपादान कारण नहीं हो सकता यह निश्चित करना कठिन है। क्योंकि कुम्हार का चाक, यद्यपि अपने से निमित्त कारण है तो भी वह अपने आकार और रूप इत्यादि का उपादान कारण है। इसलिए वे दोनों एक ही पदार्थ में साथ नहीं रह सकते, ऐसा विचारने का कोई आधार नहीं है। आगे यह विवाद किया जा सकता है कि एक ही वस्तु दूसरी को उत्पन्न करने में उपादान और निमित्त कारण नहीं हो सकती। उत्तर यह दिया जा सकता है कि दंड की आन्तरिक रचना, अपने आकार का उपादान कारण है और साथ ही साथ दूसरी वस्तुओं के सम्बन्ध में विनाश का निमित्त कारण है। अथवा ऐसा विवाद किया जाय कि काल वस्तुओं की उत्पत्ति एवं विनाश दोनों का कारण है (काल घट संयोगाख्यि प्रति कालस्य निमित्तत्वात उपादानत्वाच्च)। इस पर व्यक्त उत्तर यह होगा कि एक ही वस्तु का उपादान या निमित्त कारण रूपी व्यवहार विशिष्ट परिस्थिति एवं प्रसंग से मर्यादित होता है। पृथक् विशिष्ट परिस्थिति का सम्बन्ध कारण के स्वरूप में परिवर्तन कर देता है और इसलिए एक ही वस्तु उपादान एवं निमित्त कारण दोनों ही है यह कहना अयथार्थ होगा। विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्म के कारणत्व के विचार में यह आक्षेप अधिक कठिनाई उत्पन्न कर देता है क्योंकि हमारे मतानुसार, ब्रह्म स्वस्वरूप से निमित्त कारण और स्वभाव (वेष) से वह अचित् और चिद्रूप माना जा सकता है। उसे उपादान कारण भी माना जा सकता है।[1] कभी कभी यह आक्षेप किया जाता है कि यदि ब्रह्म जैसाकि श्रुति में कहा गया है अपरिणामी है तो ब्रह्म का, निमित्त और उपादान कारण होने से परिणाम से किस प्रकार सम्बन्ध सोचा जा सकता है और परिणाम देह के सम्बन्ध से ही प्राप्त है। इसके अतिरिक्त भगवान् का शरीर से सम्बन्ध न तो सादृश्य है और न मन कल्पना सृष्टि है। शरीर का सामान्य अर्थ यह होता है वह कोई चेतन वस्तु द्वारा नियन्त्रित है।[2] इसका उत्तर यह है कि ब्राह्मण स्वयं अपरिणामी रह सकता है और अपने द्विविध शरीर द्रव्यों में परिणामों का कारण हो सकता है। आक्षेप यह है कि जड जगत प्राणियों के शरीर से इतना भिन्न है कि उसे शरीर कहना अनुचित होगा। उत्तर यह दिया जाता है कि प्राणियों के शरीरों में बहुत प्रकार की

---

[1] एवं हि ब्रह्मण्यपि नोपादानत्व निमित्तयो विरोध तस्य चिदचिद विशिष्ठ वेषेण उपादानत्वात स्वरूपेण निमित्तत्वाच्च। तत्तदवच्छेदक भेद प्रयुक्त तद्भेदस्य तस्य तत्रापि निष्प्र त्यूहत्वात।

—सिद्धान्त चिन्तामणि हस्त०।

[2] यस्य चेतनस्य यद् द्रव्यम् सर्वात्मना स्वार्थे नियाम्य तत्तस्य शरीरम्।

—वही।

यह विषय श्री शैल निवास द्वारा सार दर्पण में विस्तार से कहा गया है।

भिन्नताएं है जैसेकि मनुष्य का शरीर और अणु कीट का शरीर। इस परिस्थिति में हम शरीर की एक सामान्य परिभाषा स्वीकार करनी पड़ती है जो व्यक्तिगत भेद को छोड़कर सभी शरीरों के लिए प्रयुक्त हो सकती है। उपरोक्त दी हुई परिभाषा सभी प्राणियों के शरीर के तथा ब्रह्म के शरीर रूप में जगत् के संप्रत्यय के लिए भी प्रयुक्त हो सकता है। यह अंतर्यामी ब्राह्मण के श्रुतिपाठ से भी समर्थन पाता है जहां जगत को ब्रह्म का शरीर कहा है। यदि श्रुति समर्थित देह की परिभाषा, हमारे जगत के साधारण से ज्ञान से भिन्न दीखती हो जिससे हम जगत शरीर है ऐसा प्रकट नहीं होता तो ऐसी अवस्था में श्रुति प्रमाण मान्य समझना चाहिए क्योंकि हमारा प्रत्यक्ष ज्ञान मिथ्या कहकर समझाया जा सकता है किन्तु वैज्ञानिक परिभाषा एवं श्रुति प्रमाण की अवज्ञा नहीं की जा सकती। हमारा सामान्य प्रत्यक्ष सर्वदा प्रमाण नहीं होता। हम चंद्र को छोटी थाली के परिमाण में देखते हैं जबकि श्रुति प्रमाण उसे बहुत बड़ा बताती है। जब दो प्रमाणों में विरोध होता है तब अनन्यथा सिद्धत्व के आधार पर एक या दूसरे पक्ष में निर्णय करना पड़ता है। जो प्रमाण अनन्यथा सिद्ध है उसे स्वीकारना पड़ता है और जो ऐसा नहीं होता उसे पहले प्रमाण के अधीन होना पड़ता है। कभी कभी श्रुति का इसलिए इस प्रकार बाधाय करना पड़ता है कि वे प्रत्यक्ष का बाधित न करें जबकि अन्य प्रसंगों में प्रत्यक्ष प्रमाण को श्रुति के बल पर त्याग देना पड़ता है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि पिछले प्रमाण का साक्षित्व बलवत्तर होगा क्योंकि अनेक गलतियां हो सकती हैं जिन प्रसंगों में उक्त प्रमाणों में कोई भी असन्दिग्धता नहीं हो सकती। पुनः केवल प्रमाणों का इकट्ठा करने में कोई शक्ति नहीं है क्योंकि एक अथवा दूसरे को निदान करें वहाँ प्रमाणों की बहुलता असंदिग्धता नहीं लाती।[1] प्रमाणों के विरोध होने पर संशय का निवारण और असंदिग्धता की प्राप्ति अनन्यथा सिद्धत्व सिद्धान्त के आधार पर प्राप्त की जाती है। जो अनन्यथा सिद्ध है उसे अन्यथा सिद्ध से बलवत् मानना चाहिए।[2] हमारा ज्ञान अपनी ही उपाधियों से मर्यादित है और इसलिए वह यह विवेक नहीं कर सकता कि जगत वास्तव में पर ब्रह्म की देह है और इसलिए वह श्रुति प्रमाण का बाध नहीं कर सकते जो जगत को भगवान का शरीर कहते हैं। शुद्ध अद्वैत का प्रतिपादन करती श्रुतियां केवल ब्रह्म के द्वैत का निरसन करने के लिए ही कही गई है किन्तु उनका जगत् ब्रह्म का शरीर है इस प्रकार बोधाय किया जा सकता है। द्वैतवाद के अस्वीकार का यही

---

[1] नव परत्वादुत्तरेण पूर्वबाध इति युक्तम् धारावाहिक भ्रम स्थले व्यभिचारात् अत एव न भूयस्त्वमपि निर्णायकं शतान्ध न्यायेन अप्रयोजकत्वाच्च।

–सिद्धान्त चिन्तामणि, हस्त०।

[2] अनन्यथासिद्धत्वमेव विरोध्यप्रामाण्य व्यवस्थापकतावच्छेदकमिष्यते।

–वही।

अर्थ है कि ब्रह्म जैसा अन्य कोई नहीं है। इस प्रकार चित अचित रूप ब्रह्म जगत का उपादान कारण है और इच्छा और विचार के रूप मे ब्रह्म, जगत का निमित्त कारण है। ब्रह्म म यह द्विविध कारणत्व उपरोक्त कही ब्रह्म की दो अवस्थाओं को लक्ष्य करता है जो ब्रह्म से एक साथ सत्ता रखती हैं।[1]

वेदान्त ग्रन्थो मे पचमी विभक्ति द्वारा एक कथन है जिसके अनुसार जगत उपादान कारण रूप से ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है। पचमी विभक्ति सवदा कारणत्व को लक्ष्य न कर उपादान का ही करती है।[2] किन्तु यह भी निर्देश किया जाता है कि काय कारण से उत्पन्न है और यह आक्षेप किया जा सकता है कि जगत ब्रह्म के अन्दर और बाहर न होने से वेदान्त ग्रन्थ म पचमी का प्रयोग याय सगत नहीं हो सकता। इसका उत्तर यह है कि उपादान कारण का विचार या पचमी के प्रयोग से यह आवश्यक नहीं है कि काय उत्पन्न होना चाहिए और कारण स देश काल दृष्टि से भिन्न होना चाहिए। इसका यद्यपि यह अथ माना जाता है तो भी यह सोचा जा सकता है कि ब्रह्म मे चित और अचित के रूप मे सूक्ष्म अश व्यक्त है और इन्ही में से जगत व्यक्त रूप से उत्पन्न हुआ है। ऐसे परिणाम का अथ यह नहीं होता कि काय कारण से बाहर व्यक्त होना चाहिए क्योकि जब समस्त कारण द्रव्य का परिणाम हो जाता है तो काय कारण से देश दृष्टि से बाह्य नहीं हो सकता।[3] यह सच है कि सभी उपादान कारणो का रूपान्तर होता है। किन्तु विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त मे इस बारे मे कोई कठिनाई नहीं है क्योकि विशिष्टाद्वैत मे यह माना गया है कि ब्रह्म का रूपान्तर होता है और ब्रह्म अचित् एव चिद् रूप शरीर के सम्बन्ध म ही नियमित होना है। भगवान अपने सकल्प स ही निमित्त कारण है और सकल्प भी एक प्रकार का ज्ञान है।

---

[1] सव शरीर भूताविभक्त नाम रूपावस्थापन्न चिदचिद् विशिष्ट वेषण ब्रह्मण उपादानत्व तदुपयुक्त-सकल्पादिविशिष्ट स्वरूपण निमित्तत्व च निष्प्रत्यूह मिति निमित्तत्वापादानत्वयोरिहा पप्य वच्छेदकभेद प्रयुक्त भेदस्य दुरपह्नवत्वात्तयोरेकाश्रय वृत्तित्वस्य प्रागुपपादित्वात् न ब्रह्मणो अभिन्न निमित्तापादानत्वे कश्चिद् विरोध ।

–सिद्धान्त चिन्तामणि हस्त० ।

[2] यथा यतो इमानि भूतानि जायन्ते ।

[3] उपादानत्व स्थलेऽपि न सवत्र लोकेऽपि विश्लेष कृत्स्न परिणामे तदसम्भवात् किन्त्वकदेश-परिणाम एवेति तदभिप्रायक प्रत्याख्यान वाच्यम्। तच्चेहापि सम्भवति विशिष्टैक-देश-परिणामाङ्गीकारत्। अतो न तद् विरोधे, किच सूक्ष्म चिदचिद्-विशिष्टमुपादानत्वम इति वक्ष्यते तस्माच्च स्थूलावस्थस्य विश्लेषो युज्यते विश्लेषो हि न सर्वात्मना कारण-देश परित्याग ।

–वही, हस्त ।

श्री शैल निवास 'भेद दर्पण' में विशिष्टाद्वैत मत के सभी मुख्य वादों का उपनिषद् तथा अन्य श्रुति ग्रन्थों द्वारा अनुमोदन करते हैं। उपरान्त कहे गए अन्य ग्रन्थों में वे उन्हीं विषयों पर विवाद करते हैं जो विरोध निरोध में किए गए हैं, किन्तु उनके विवाद का ढंग यहाँ कुछ भिन्न है। जिस विषय को एक ग्रन्थ में संक्षिप्त रूप से कहा है उसे दूसरे में विस्तार से कहा गया है, जैसे कि कारणत्व की समस्या 'सिद्धान्त चिंतामणि' का मुख्य विषय है यद्यपि वह 'विरोध निरोध' में अंश मात्र ही कहा गया उनका नय द्युमणि संग्रह,' गद्य पद्य में, उनके 'नयद्युमणि' नामक बहुत गद्य का संक्षिप्तीकरण है जिसका वे 'नयद्युमणि संग्रह' में बहुधा उल्लेख करते हैं। श्री शैल निवास ने 'नयद्युमणि दीपिका' नामक एक और ग्रन्थ लिखा है जो 'नयद्युमणि संग्रह' से बड़ा है। सम्भवत: वह 'नयद्युमणि' से छोटा है जिसे वे बड़ा ग्रन्थ है ऐसा उल्लेख करते हैं।[1] नयद्युमणि दीपिका तथा 'नयद्युमणि संग्रह' में दार्शनिक दृष्टि से कोई महत्वपूर्ण विषय नहीं है वे सामान्यतः सुदर्शन सूरि कृत 'श्रुत प्रकाशिका' में दिए गए विषयों को ही स्पष्ट करते हैं। उन्होंने 'औंकार वादार्थ', 'ज्ञानदतारतम्य खण्डन, 'षडर्थाधिकरण मारणी विवरणी' और जिज्ञासा दर्पण' भी लिखे। वे संभवतः १५वीं शताब्दी में विद्यमान थे।

श्रीनिवास ने पहले सारदर्पण लिखा और फिर सिद्धान्त चिन्तामणि' और 'विरोध निरोध' लिखे। वास्तव में उनका 'विरोध निरोध' यदि वह अन्तिम ग्रन्थ न हो तो अन्तिम ग्रन्थों में से एक है। पहले अध्याय में वे उसी विषय का प्रतिपादन करते हैं जिसका 'सिद्धान्त चिन्तामणि' में है और वे ब्रह्म, जगत् का उपादान और निमित्त कारण है इसे समझाने का प्रयास करते हैं। दूसरे अध्याय में, वे इस मत का विरोध करते हैं जिसके मतानुसार ज्ञान से सम्बन्धित जीव या ज्ञान स्वरूप जीव भगवान् को जगत के रूप में अभिव्यक्ति के साधन हैं। आक्षेपकार यह कहता है कि विचार गतिशील है जो संकोच या विस्तार करता रहता है और इसलिए वह आत्मा का स्वरूप नहीं हो सकता जो नित्य है। जैन दर्शन में आत्मा जिस शरीर को वह धारण करता है उसके अनुसार घटता बढ़ता है ऐसा माना गया है, यहाँ उचित रूप से आपत्ति की जा सकती है कि आत्मा के ऐसे मत के अनुसार आत्मा अनित्य ही मानना पड़ेगा। किन्तु विशिष्टाद्वैत मत में केवल विचार को घटता बढ़ता माना गया है। विचार का घटना बढ़ना यही अर्थ रखता है कि वह कम या ज्यादा वस्तुओं को ग्रहण करता है और यह विचार इस विचार से भिन्न है जिसके अनुसार एक वस्तु *अंगों के योग या* ह्रास से छोटी बड़ी होती है। विचार का संकोच या विस्तार कर्मानुसार है और इसलिए उसे अनित्य नहीं माना जा सकता। ज्ञान अपने स्वरूप से ही अवयव रहित

---

[1] दुर्भाग्यवश यह 'नयद्युमणि' लेखक को हस्तगत न हो सका।

और सर्वव्यापी है, उसका संकोच पाप कर्मों द्वारा है जो बहुधा माया या अविद्या रही है।[1] विशिष्टाद्वैतवादी ज्ञान को, न्याय मतानुसार उपाधि के सम्बन्ध से उत्पन्न होना नहीं मानते, किन्तु वे उसे नित्य होते भी आगन्तुक धर्मवत् मानते हैं। पृथ्वी अपने स्वरूप से नित्य है और नित्य रहते हुए भी उसका घड़े इत्यादि के रूप से रूपान्तर होता है। इस प्रकार आत्मा की नित्यता का विचार, ज्ञान की नित्यता के विचार से भिन्न है, क्योंकि ज्ञान का सर्वव्यापी होते हुए भी अवरोध के कारण जो विषय से सम्बन्ध होने में बाधा डालते हैं रूपान्तर होता रहता है।[2] सर्वव्यापी सम्बन्ध ज्ञान का आवश्यक लक्षण है, किन्तु उपरोक्त लक्षण अवरोध के कारण बाधित होता है जिसके फलस्वरूप सबंध में भी रुकावट उत्पन्न होती है। इसी ज्ञान की रुकावट और बढ़ोतरी की क्रिया को ज्ञान का विस्तार अथवा संकोच माना जाता है। मूलतः ज्ञान का लक्षण अनादि आत्मा है, किन्तु व्यवहार में ज्ञान स्मृति दृष्टि और विचार आदि परिवर्तनशील लक्षणों से जाना जा सकता है। अतः ज्ञान के भावपक्ष और व्यवहार पक्ष का भेद समझना आवश्यक है। जैन मत का इस प्रश्न पर यह आक्षेप है कि विचार के विस्तार अथवा संकोच के लिए अज्ञान की विशेष स्थिति की मान्यता अनावश्यक है क्योंकि आत्मा कर्म के प्रभाव के फलस्वरूप परिवर्तनशील प्रतीत होता है। इसके प्रत्युत्तर में यह कहा जा सकता है कि वेदादि शास्त्रों में आत्मा को अपरिवर्तनशील माना है अतः अज्ञान की अतिरिक्त स्थिति के आधार पर ही परिवर्तन की व्याख्या की जा सकती है। इस प्रकार ज्ञान को शुद्ध भाव अथवा आत्म तत्व ही कहा जायगा और ज्ञान को आत्मा का धर्म अथवा लक्षण या प्रकार कहना असंगत है। क्योंकि ज्ञान सर्वव्यापी है और अवरोध के फलस्वरूप इसका परिवर्तन होता है। अतः आत्मा अनादि है किन्तु जब ज्ञान के सम्बन्ध के प्रकाश में इसका विस्तार अथवा संकोच होना जाना जाता है तब यह प्रतिभासित ज्ञान अशाश्वत प्रतीत होता है।[3] ज्ञान स्वयं में कोई खण्डन नहीं है, अतः ज्ञान अखण्ड है और शाश्वत है। अतः अनित्य केवल सम्बन्ध के फलस्वरूप सापेक्ष स्थिति है और यह आत्मा का कोई धर्म अथवा लक्षण नहीं है।

---

[1] ज्ञानस्य स्वाभाविक प्रसरणसौपाधिकस्तु संकोचः उपाधिस्तु प्राचीन कर्म एव।

–विरोध निरोध, पृ० ३९ ४० हस्त।

[2] न हि यादृशम् आत्मना नित्यत्वं तादृग् ज्ञानस्यापि नित्यत्वम् अभ्युपगच्छाम कारण व्यापार वैयर्थ्य प्रसंगात्। किन्तु तार्किकाद्यभिमत ज्ञानस्य आगन्तुक धर्मत्वम् निराकर्तुं दृशेरिव स्वरूपतो नित्यत्वमात्र तुकावस्थाश्रयत्वं च, तेन रूपेण नित्यत्वं तु घटात्वाद्यवस्थाविशिष्टवेशेण मृदादेरिव इष्टमेव।

–विरोध निरोध, पृ० ४४।

[3] नित्यानित्य विभाग स्वरूप द्वारकत्व स्वभाव द्वारकत्वाभ्यां व्यवस्थित इति कश्चिद् दोष।

–विरोध निरोध (हस्त०)।

कतिपय उपनिषदों की मान्यता के अनुसार आत्मा को अनादि माना गया है, किन्तु कतिपय उपनिषद् आत्मा का उत्पन्न जात घोषित करते हैं। इस कठिनाई का क्या हल निकाला जाय ? इस प्रश्न पर श्रीनिवास का मत है कि आत्मा अनादि और शाश्वत है और आत्मा का निर्माण नहीं किया जा सकता। आत्मा स्वभाव से ही ज्ञानमय है और ज्ञान आत्मा की शक्ति है। किन्तु ज्ञान सर्वव्यापी सम्बन्ध की दृष्टि से बाद का परिणाम है और इस दृष्टि से आत्मा को भी निर्मित मान लिया गया है। अनादि और नित्य को भी इस विशेष परिस्थिति में निर्मित माना जा सकता है।[1] तात्पर्य यह है कि भगवान् के रचना व्यापार के पश्चात् आत्मा अव्यक्त रूप से चेतन है उसका सच्चा चेतनागत व्यापार भगवान के रचना व्यापार के परिणामस्वरूप उसका उत्तरकालीन विकास ही है।

पुनः उपनिषद् कहते हैं कि ब्रह्म को जानने से सब कुछ जाना जाता है। शंकराचार्य के अनुसार समस्त जगत् ब्रह्म की ऐन्द्रजालिक रचना है केवल ब्रह्म ही सत्य है। इस परिस्थिति में सद्रूप ब्रह्म के ज्ञान से सभी भ्रम रूपी रचना का ज्ञान हो जाना यह असम्भव है क्योंकि सत्ता और भास सर्वथा दो भिन्न वस्तुएँ हैं और इसलिए एक के ज्ञान से दूसरे का ज्ञान नहीं हो सकता। विशिष्टाद्वैत मत में यह कहा जा सकता है कि ब्रह्म जो सूक्ष्म चिदचिद् शरीर रूपी कारण ज्ञान से संयुक्त है अतः कार्यरूपी स्थूल चिद्चिद् शरीर भी ब्रह्म के ज्ञान से जाना जा सकता है।[2]

यह नहीं समझना चाहिए कि कर्म करने से नित्य आत्मा का रूपान्तर होता है क्योंकि जीव, ज्ञान कर्म की दृष्टि से परिणाम पाता हुआ भी, अपने में नित्य रह सकता है। विशिष्टाद्वैत मत में इच्छा और संकल्प ज्ञान के प्रकार ही मान गए हैं और इसलिए कर्म करने में होने वाले चित्त के परिणामों का केवल ज्ञान से ही सम्बन्ध है।[3] यह पहले ही बताया जा चुका है कि सम्भवतः ज्ञान, सार रूप से नित्य है और कर्म रूप से परिणामी है। इस प्रकार की क्रिया और कर्म जीव के ही धर्म हैं।

---

[1] स्वासाधारण धर्मभूत ज्ञान विशिष्ट वेषण उत्पत्ति वदन्ति सिध्यस्यापि हि वस्तुन धर्मांतर विशिष्ट वेषण साध्यतावीक्षाणो दृष्टा।

—उपरोक्त।

[2] सूक्ष्म चिदचिच्छरीरके ब्रह्मणि ज्ञाते स्थूल चिदचिच्छरीरकस्य तस्य ज्ञानमत्राभिमतम्।
—विरोध निरोध हस्त०।

[3] इह प्रयत्नादेबु द्धि विशेष रूपतया कार्यानुकूल कृतिमत्वस्यापि कर्तृत्वस्य ज्ञान विशेष रूपतया तस्य स्वाभाविकतया तदात्मना जीवस्य ज्ञानस्य नित्यत्वेऽपि तत्परिणाम-विशेषस्यानित्यत्वाच्च।
—वही।

'विरोध निरोध' २७ अध्यायों में लिखा गया है किन्तु बहुत से अध्यायों में प्रतिपक्षी द्वारा प्रस्तुत धार्मिक अन्धविश्वासों के कारण किए आक्षेपों का खण्डन किया गया है जिसका विशेष दार्शनिक महत्व नहीं है। इसलिए उन्हें इस पुस्तक में प्रस्तुत नहीं किया गया है।

रंगाचार्य[1]

शंकर के अनुयायी ऊमा महेश्वर ने 'विरोध वरूथिनी' नामक पुस्तक लिखी जिसमें रामानुज भाष्य एवं सम्प्रदाय के अन्य समान ग्रन्थों में एक सौ विसंवादों को बताने का विचार किया था जैसे कि 'शतदूषणी' इत्यादि में, किन्तु रोग के कारण उनकी वाचा जाती रही और केवल वे २७ विसंवादों की ही आलोचना कर सके।[2] इस पुस्तक के खण्डन में रंगाचार्य ने 'कुदृष्टि ध्वान्त मार्तण्ड' लिखा। ऐसा भी दीखता है कि अण्णयार्य के पौत्र और श्रीनिवास तातार्य के पुत्र श्रीनिवास दीक्षित ने भी 'विरोध विरूथिनी' के खण्डन में 'विरोध विरूथिनी प्रमाथिनी' नामक पुस्तक लिखी। 'कुदृष्टि ध्वान्त मार्तण्ड' का पहला अध्याय भी 'विरोध विरूथिनी प्रमाथिनी' कहलाता है।

ऊमा महेश्वर कहते हैं कि रामानुज मतानुसार चिद् अचिद् रूप नानात्वयुक्त यह जगत् अविभक्त एवं सूक्ष्म रूप से मूल कारण ब्रह्म में स्थित है। नानात्व युक्त व्यक्त जगत् और सुख दुःख अनुभव करते हुए जीवों के रूप के वास्तविक परिणाम में यही अवस्था परिणाम होता है और ब्रह्म क्योंकि इस स्थूल परिणाम रूप जगत् को अपने में विशिष्ट गुण रूप में धारण करता है इसलिए वह इससे सम्बन्धित रहता है। इसलिए इसे ब्रह्म का ही परिणाम मानना चाहिए। किन्तु पुनः रामानुज अनेक श्रुति वाक्यों का उल्लेख करते हैं जिसमें ब्रह्म को अपरिणामी कहा गया है।

---

[1] श्रीरामानुज योगि पाद कमल स्थानाभिषेक गतो जीयात्सोऽयम्,
अनन्त पुरुष गुरु-सिंहासनाधीश्वर
श्रीरंग सूरि श्री शैले तस्य सिंहासने स्थित
कुदृष्टि ध्वान्त मार्तण्ड प्रकाशयति सम्प्रति"

इस प्रकार ये अनन्तार्य के शिष्य थे जो मध्य १६वीं शताब्दी में थे। 'सन्मार्गदीप' के अन्त में वे कहते हैं कि राममिश्र द्वारा इसी विषय पर रचित ग्रन्थ के खण्डन में यह ग्रन्थ रचा गया था। राममिश्र १६वीं शताब्दी के अन्त में थे और उन्होंने 'स्नेह पूर्ति' लिखा था।

[2] ऊमा महेश्वर ने और भी ग्रन्थ लिखे ऐसा कहा जाता है जैसा कि 'तत्व चन्द्रिका,' 'अद्वैत कामधेनु' 'तप्त मुद्रा विद्रावण,' प्रसंग रत्नाकर, और रामायण टीका।

इसका उत्तर यह है कि चिदचिद् जिस प्रकार परिणाम पाते हैं वह सब नियत् ब्रह्म जिस प्रकार उनसे परिणाम उत्पन्न करता है इससे भिन्न है इसलिए ब्रह्म का कारणत्व, चिदचिद् के परिणाम से प्रभावित नहीं होता। ब्रह्म के कारणत्व को इस प्रकार से अप्रभावित रहने को ही ब्रह्म का अपरिणामित्व कहा गया है। शंकर के मत में व्यक्त जगत् माया का परिणाम होने के कारण किसी भी प्रकार ब्रह्म जगत का उपादान नहीं माना जा सकता। शंकर का ब्रह्म शुद्ध चिद्रूप होने के कारण, उसमें निमित्त कारणता निवश नहीं की जा सकती। यदि ब्रह्म में किसी प्रकार का परिणाम, किसी भी प्रकार से नहीं साधा जा सकता और वह नितान्त अपरिणामी रहता है तो वह कारण कभी भी नहीं माना जा सकता। कारणत्व का अर्थ परिणाम उत्पन्न करने की शक्ति या परिणत होने की शक्ति से है। यदि ये दोनों ही ब्रह्म में अशक्य हैं तो ब्रह्म को अविरोध रूप से कारण नहीं माना जा सकता। रामानुज मतानुसार तो, ब्रह्म नितान्त अपरिणामी नहीं है, क्योंकि परिणाम उत्पन्न करने वाला स्वयं ही परिणाम के अनुरूप बदलता है (ब्रह्म समसत्ताक विकारागी कारात्)। परिणाम समसत्ताक होने से उसे अपरिणामी भी माना जा सकता, यद्यपि ब्रह्म जगत का अन्तिम आधार है, तथा जगत की वस्तुओं के अन्तवर्ती कारण होते हैं जिनमें वे रहते माने जा सकते हैं, फिर भी जब ब्रह्म सत्ता का अन्तिम और चरम आधार है इसलिए सभी पदार्थ उसी के द्वारा धारण किए गए हैं।

कारण की अन्य यथा सिद्ध, नियत पूर्ववर्ती रूप से व्याख्या की जा सकती है। (अन्य यथासिद्ध नियत पूर्व वर्तिता) ब्रह्म निस्सदेह ही सभी पदार्थों का अन्तिम पूर्ववर्ती तत्व है और उसका अनन्यथा सिद्धत्व श्रुति द्वारा प्रमाणित है। वह चिदचिद् में विकार उत्पन्न करता है और इसलिए उसे निमित्त कारण मानना चाहिए इससे वह उपादान कारण नहीं कहा जा सकता। ऐसा नहीं है क्योंकि वही एक अन्तिम पूर्ववर्ती वस्तु है। ब्रह्म प्रथमतः चित् और अचित् को, सूक्ष्म रूप में अपने में अविभक्त रूप से धारण करता है और उत्तरकाल में वह अपने सकल्प द्वारा ऐसे परिणाम अपने में उत्पन्न करता है कि चित और अचित स्थूल रूप से परिणत होते हैं। वह अपना मूल एकरस स्वभाव त्याग देता है और अपने चित अचित रूप सच्चे अंशों के सम्बन्ध में कम से कम, परिणत अवस्था ग्रहण करता है जो सूक्ष्मावस्था में उससे अविभक्त थे। ब्रह्म के स्वरूप का यह परिवर्तन परिणाम कहा जाता है। ब्रह्म में जबकि इस प्रकार परिणाम होता पाया जाता है इसलिए उसे न्याय सगति से जगत का उपादान कारण कहा जा सकता है। सागर और तरंग का दृष्टान्त इस समझ के साथ सगतिपूर्ण लगता है। जिस प्रकार मृत्तिका घड़े इत्यादि के रूप में परिवर्तित होती है तब भी इन परिवर्तनों में मृत्तिका ही रहती है इसी प्रकार ब्रह्म भी व्यक्त जगत् के रूप में

परिणत होता हुआ भी सर्वदा एक माना जा सकता है।[1] जिस प्रकार घडा और बर्तन मिथ्या नहीं हैं उसी प्रकार जगत भी मिथ्या नहीं है। किन्तु जगत का सच्चा अर्थ उसे ब्रह्म से एक मानना पडेगा। घडे का ऊपरी और नीचे का भाग घडे के अंग रूप में न देखने पर भिन्न दीखता है और उस परिस्थिति में उन्हें पृथक रूप से दो मानना मिथ्या होगा, क्योंकि वे अपना अर्थ तभी सफल करते हैं जबकि उन्हें सम्पूर्ण घडे के अंग माना जाय। जब उपनिषद् नानात्व को मिथ्या बताते हैं तब श्रुति का अर्थ यह है कि नानात्व अपना सम्पूर्ण अर्थ तभी फलीभूत कर पाते हैं जबकि उन्हें ईश्वर, ब्रह्म के एकत्व अंग के रूप में समझा जाय।

शंकर मतवादी अन्यथाख्याति में विश्वास नहीं करते। उनके अनुसार भ्रम का अर्थ अनिर्वचनीय मिथ्या वस्तु उत्पन्न करना है। एक व्यक्ति का जब वह देखने में गलती करता है तब विशेष काल में ऐसी वस्तु दीखती है। भ्रम की वस्तु प्रत्यक्ष अनुभव के समय विद्यमान नहीं थी यह सिद्ध नहीं किया जा सकता। ऐसी अवस्था में उस वस्तु की अन्य काल में अनुपस्थिति उसके मिथ्यापन को सिद्ध नहीं कर सकती, क्योंकि एक वस्तु एक काल में उपस्थित हो और दूसरे में नहीं हो इससे यह मिथ्या है यह सिद्ध नहीं होता। मिथ्यापन को इस प्रकार द्रष्टा के दृष्टिकाल के आपेक्षिक सम्बन्ध से व्याख्यायित करना चाहिए। जब एक द्रष्टा को सच्चे पदार्थ का ज्ञान होता है और वह यह भी जानता है कि एक वस्तु दूसरी होकर दीखती है तब वह अनुभव के मिथ्यापन को जानता है। किन्तु दृष्टिकाल में उसे एक ही प्रकार का ज्ञान होता है और उसे बाध (भ्रमगति) का ज्ञान नहीं है तब उसका उस समय का अनुभव मिथ्या नहीं कहा जा सकता। किन्तु जबकि स्वप्न के अनुभव उसी काल में विरोध करते नहीं जाने जाते, रजत शुक्ति का भ्रम भी भ्रम काल में मिथ्या नहीं जाना जाता, और जबकि जगत का अनुभव जाग्रदावस्था में बाधित नहीं होता इसलिए वह अपनी अवस्था के सम्बन्ध से मिथ्या नहीं माना जा सकता। स्वप्नावस्था के अनुभव का मिथ्यापन केवल दूसरी अवस्था एवं काल से अपेक्षित है। शंकर मतवादियों के ऐसे मतानुसार सभी ज्ञान आपेक्षिक हो जाते हैं और किसी भी अवस्था के

---

[1] बहु स्यां प्रजायेयेत्यादिश्रुति सृष्टेः प्राङ् नाम रूप विभागाभावेन एकत्वावस्थापन्नस्य सूक्ष्म चिदचिद् विशिष्ट ब्रह्मणः पश्चान्नामरूप विभागेन एकत्वावस्था प्रहाणपूर्वक स्थूल चिदचिद् वैशिष्ट्य लक्षणं बहुत्वापत्तिर्हि प्रस्फुटं प्रतिपाद्यते सर्व हि ब्रह्मणः परिणामो नाम, प्रागवस्थाप्रहाणेनावस्थान्तर प्राप्तेरेव परिणाम शब्दार्थत्वात् यथा सर्व मृद्‌द्रव्य विकृतिभूत घटादि कार्यजात कारणभूत मृद्द्रव्याभिन्नमेव न तु द्रव्यान्तरं तथा ब्रह्मापि जगत अभिन्नमेव।

—श्रुतदृष्टि ध्वान्त मार्तण्ड, पृ० ६६।

अनुभव की प्रमाणता निश्चित नहीं हो पाती। बौद्ध और उनके शास्त्रों के अनुसार, ब्रह्म का विचार मिथ्या है, और इस प्रकार यदि हम उनके अनुभव को मान्य करें तो, ब्रह्म का विचार आपेक्षिक रूप से सत्य है। ऐसे मत को ग्रहण करने से हम ऐसी अनिश्चित अवस्था पर आ जाते हैं जिसमें से निकलना ही नहीं हो सकता।[1]

—∞—

[1] रंगाचार्य ने कम से कम एक और पुस्तक लिखी जो 'सन्मार्ग दीपिका' थी। यह कर्मकाण्ड प्रधान होने से इस पुस्तक में वर्णन के लिए अयोग्य है।

अध्याय इक्कीसवाँ

निम्बार्क-सम्प्रदाय की दर्शन-प्रणाली

निम्बार्क-सम्प्रदाय की गुरु-शिष्य-परम्परा

निम्बार्क, निम्बादित्य या नियमानन्द एक तेलुगु ब्राह्मण थे जो सम्भवतः बेलारी जिले में निम्ब या निम्बपुर शहर में रहते थे। हरिव्यास देव की 'दश श्लोकी' पर टीका में ऐसा कहा है कि उनके पिता का नाम जगन्नाथ था और माता का नाम सरस्वती। किन्तु उनके जीवन काल का निश्चित करना कठिन है। सर र०ग भाण्डारकर अपने 'वैष्णविस्म, शविस्म एंड माइनर रिलीजस सिस्टम्स' नामक ग्रन्थ में कहते हैं कि वे रामानुज के थोड़े ही समय बाद हुए। वे इस प्रकार तर्क करते हैं निम्बार्क से उत्तरोत्तर रूप से गुरु परम्परा में हरिव्यास देव ३२वें गुरु गिने जाते हैं और भाण्डारकर ने जो हस्तलिखित ग्रन्थ पाया उसमें यह सूची है। यह ग्रन्थ सम्वत् १८०६ या ई० स० १७५० में दामोदर गोस्वामी के जीवन काल में लिखा गया था। दामोदर गोस्वामी के जीवनकाल के १५ वर्ष गिनने पर हम सन् १७६५ पर आते हैं। मध्व से ३३वां उत्तराधिकारी सन् १८७६ में मरा और मध्व सन् १२७६ में मरे। इस प्रकार मध्व की ३३ गुरु परम्परा का कार्यकाल ६०० वर्ष का है। इस कसौटी से सन् १७६५ में ६०० वर्ष निकालने पर हम निम्बार्क के काल को ११६५ मान सकते हैं। इसलिए, इसको निम्बार्क के मृत्यु का समय मानना चाहिए और इसका अर्थ यह होता है कि वे रामानुज के कुछ समय बाद मरे और वे उनके कनिष्ठ समकालीन हो सकते हैं। भाण्डारकर, इस प्रकार सरसरी तौर पर, प्रत्येक गुरु के धर्म के शासन काल को १८ वर्ष का मानते हैं। किन्तु पं० किशोरदास कहते हैं कि पं० अनन्तराम देवाचार्य द्वारा लिखी हुई जीवनी में निम्बार्क से १२वां गुरु सम्वत् १११२ या सन् १०५६ में हुआ माना है और प्रत्येक गुरु के १८ साल के शासनकाल का परीक्षण लगाते हुए हम सन् ८६८ में निम्बार्क के काल पर आते हैं इसके अनुसार वे रामानुज के बहुत समय पहले रहे होंगे। किन्तु निम्बार्क और श्रीनिवास की रचनाओं के आन्तरिक परीक्षण से यह प्रमाणित नहीं होता। पुनः कैटलाग ऑव संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन दी प्राइवेट लाइब्रेरीज आव दी नॉर्थ वेस्टर्न प्रोविन्सेज, पार्ट I बनारस १८७४ (या एन० डब्ल्यू० पी० केटलाग हस्त स० २७४) में, 'मध्व मुख मर्दन,' जो मदनमोहन पुस्तकालय बनारस में सुरक्षित है निम्बार्क

द्वारा लिखा है ऐसा कहा जाता है। यह हस्तलिखित ग्रन्थ हम प्राप्त नहीं हो सका। किन्तु यदि केटलोग के लेखकों के वर्णन को माना जाय तो निम्बार्क को मध्व के पश्चात् रखना पड़ेगा। इस उत्तरकाल के समर्थन में एक ही तर्क मिलता है कि मध्व जो १४वीं शताब्दी में हुए उन्होंने 'सर्वदर्शन संग्रह' में तत्कालीन सभी महत्वपूर्ण प्रणालियों का उल्लेख किया किन्तु निम्बार्क का नहीं किया है। यदि निम्बार्क १४वीं शताब्दी के पहले हुए होते तो सर्वदर्शन संग्रह में उनका कम से कम कुछ तो उल्लेख होता या किसी और लेखक ने ही उनका उल्लेख किया होता। रा० राजेन्द्रलाल मित्रा की मान्यता है कि निम्बार्क ने श्री ब्रह्मा और सनक सम्प्रदायों का उल्लेख किया है अतः वे रामानुज मध्व और वल्लभ के उत्तर काल में हुए हैं जबकि स्पष्ट और निश्चित प्रमाण यह सिद्ध करने को प्राप्त नहीं है कि निम्बार्क वल्लभ के बाद हुए, फिर भी उनकी गुरु परम्परा की वृहत् सूची के आधार पर उनका समय अधिक पूर्वकाल में रखना उचित न होगा। पुन, मध्व मुख मर्दन यदि सचमुच उन्हीं का ही लिखा माना जाय जैसाकि एन डब्ल्यू केटलाग बताया है तो इस मान्यता के आधार पर उनका जीवन काल हम चौदहवीं शताब्दी के उत्तर चतुर्थांश या पन्द्रहवीं के आरम्भ में रखने में प्रवृत्त होते हैं। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि निम्बार्क से लेकर अब तक ४३ गुरु हुए जिसका यह अर्थ होता है कि प्रत्येक गुरु का अधिष्ठित काल १० या १२ वर्ष का है, जो असम्भव नहीं है। निम्बार्क दर्शन की आन्तरिक परीक्षा से यह पता चलता है कि वे रामानुज सम्प्रदाय के अधिक ऋणी रहे हैं निम्बार्क के भाष्य की शैली भी अधिकतर स्थानों पर विषय के आमुख की शैली में रामानुज भाष्य पर ढाली गई है। निम्बार्क रामानुज के बाद जीवित रहे दूसरा यह एक अतिरिक्त कारण है।

निम्न ग्रन्थ उन्होंने लिखे हैं ऐसा माना गया है

(१) वेदान्त पारिजात सौरभ (२) दश श्लोकी (३) कृष्ण स्तव राज (४) गुरु परम्परा (५) मध्व मुख मर्दन (६) वेदान्त तत्व बोध (७) वेदान्त सिद्धान्त प्रदीप (८) स्वधर्माध्व बोध (९) श्रीकृष्ण स्तव। किन्तु पहले तीन ग्रन्थों के अतिरिक्त दूसरे सब हस्तलिखित दशा में हैं और उनमें से अधिक मिलते भी नहीं।[1]

---

[1] वेदान्त तत्व बोध अवध केटेलोग १८७७ ४२ और ८२८ में सूचित है जिसका प० देवीप्रसाद ने संकलन किया है।

वेदान्त सिद्धान्त प्रदीप और 'स्वधर्माध्व बोध' आर० एल० मित्रा के नोटिसेज आव संस्कृत मेनुस्क्रिप्ट स० २८२६ और १२१६ में मिलते हैं और गुरु परम्परा केटलॉग आव मेनुस्क्रिप्ट इन दी प्राइवेट लाइब्रेरी आव एन डब्ल्यू पी भाग १-१० इलाहाबाद १८७७ ८६ में मिलता है।

इनमें से प्रस्तुत लेखक केवल 'स्वधर्माध्व बोध' को ही प्राप्त कर सका, जो बंगाल एशियाटिक सोसायटी में रखा हुआ है। यह कहना कठिन है कि यह ग्रन्थ निम्बार्क द्वारा ही लिखा गया है कुछ भी हो, इसमें निम्बार्क सम्प्रदाय के अनुयायियों ने अधिकांश रूप से हेर फेर किया है। क्योंकि इसमें कई पद्य जहां तहां डाल दिए हैं जिसमें निम्बार्क को अवतार माना है और उनकी स्तुति की गई है। उन्हें उत्तम पुरुष से भी सम्बोधित किया गया है और उनके मत को 'निम्बार्क मत' कहा गया है जिसे निम्बार्क ने स्वयं न लिखा होगा। पुस्तक में केवल भेदवादी का उल्लेख है जो मध्व सम्प्रदाय का ही संकेत करने वाला होना चाहिए। यह विचित्र प्रकार का ग्रन्थ है जिसमें भिन्न विषय सम्बन्धित एवं असम्बन्धित हैं और शैली भी अव्यवस्थित है। इस ग्रन्थ में अनेक धर्मों तथा 'सन्यासी सम्प्रदायों' का भी उल्लेख है।

हरिगुरुस्तव माला में प्राप्त गुरु परम्परा की सूची जो रा० गो० भाण्डारकर के रिपोर्ट ग्रान दी सर्च ग्रार संस्कृत मनुस्क्रिप्ट १८८२–८३ में सूचित है, उसके अनुसार हंस जो राधा और कृष्ण की सम्मिलित रूप हैं निम्बार्क सम्प्रदाय के प्रथम गुरु माने गए हैं। उनके शिष्य कुमार थे जो चतुर्व्यूह रूप थे। कुमार के शिष्य नारद, जो त्रेतायुग में प्रेम भक्ति के आचार्य थे। निम्बार्क नारद के शिष्य थे और वे नारायण की सुदर्शन शक्ति के अवतार थे। ऐसा माना जाता है कि उन्होंने द्वापर में कृष्ण भक्ति का प्रचार किया था। उनके शिष्य श्रीनिवास थे जो नारायण के शंख के अवतार माने जाते हैं। श्रीनिवास के शिष्य विश्वाचार्य थे जिनके शिष्य पुरुषोत्तम थे, जिनके स्वरूपाचार्य नामक शिष्य थे। इन सबों को भक्त कहा गया है। स्वरूपाचार्य के शिष्य माधवाचार्य थे जिनके शिष्य बलभद्राचार्य थे, और उनके शिष्य पद्माचार्य थे जो बड़े वितण्डावादी कहे जाते थे। उन्होंने भारत के भिन्न प्रान्तों में जाकर लोगों को शास्त्रार्थ में हराया था। पद्माचार्य के शिष्य श्यामाचार्य थे और उनके शिष्य गोपालाचार्य थे जो वेद और वेदान्त के प्रकाण्ड विद्वान थे। कृपाचार्य उनके शिष्य थे जिन्होंने देवाचार्य को शिक्षा दी जो बड़े वितण्डावादी माने गए थे। देवाचार्य के शिष्य सुन्दर भट्ट थे और उनके शिष्य पद्मनाभाचार्य थे। इनके शिष्य उपेन्द्र भट्ट थे शिष्यों की परम्परा इस प्रकार है रामचंद्र भट्ट, कृष्ण भट्ट, पद्माकर भट्ट, श्रावण भट्ट, भूरि भट्ट, माधव भट्ट, श्याम भट्ट, गोपाल भट्ट, बलभद्र भट्ट, गोपीनाथ भट्ट (ये शास्त्रार्थ में बड़े निपुण थे) केशव गंगल भट्ट, केशव काश्मीरी, श्री भट्ट और हरिव्यास देव। हरिव्यास देव तक की परम्परा सभी प्राप्त गुरु सूचियों परस्पर मिलती हैं किन्तु इनके बाद ऐसा लगता है कि सम्प्रदाय में दो विभाग हो गए और गुरु-परम्परा की दो सूचियां प्राप्त होती हैं। भाण्डारकर ने हरिव्यासदेव को निम्बार्क के पश्चात् ३२वां गुरु माना है। हरिव्यास देव और उनकी परम्परा के उत्तराधिकारी परमानन्द गोस्वामी का जीवनकाल

डा भाण्डारकर ने १७५० १७५५ निश्चित माना है। कुछ सूचियों के अनुसार, हरि-व्यासदेव के पश्चात्, परशुरामदेव, हरिवन्शदेव, नारायणदेव, वृन्दावनदेव, गोविन्ददेव हुए। इनकी सूची के अनुसार, स्वयभूरामदेव, हरिव्यासदेव के बाद हैं और उनके बाद कम हरदेव, मथुरादेव, श्यामदेव, सेवादेव, नरहरिदेव, दयारामदेव, पुराणदेव, मनीषी देव, राधाकृष्ण शरण देव हरिदेव और व्रजभूषणशरण देव हैं जो १९२४ में जीवित थे और सन्तदास बाबाजी जो हरिव्यासदेव से तेरहवें गुरु थे, १९३५ में मरे। सूचियो के परीक्षण से यह प्रमाणित रूप से सिद्ध होता है कि प्रत्येक गुरु का शासन काल लगभग १४ वष का रहा। यदि हरिव्यासदेव १७५० मे मरे, और सन्तदास बाबाजी जो उनसे तेरहवें गुरु थे उनकी मृत्यु १९३५ मे हुई, तो १३ गुरुओ का काल १८५ वष का हुआ। इस प्रकार प्रत्येक गुरु की धर्माध्यक्षता का काल लगभग १४ वष का होता है। हरिव्यासदेव से पीछे की ओर गणना करते, प्रत्येक गुरु का १४ वष का काल मानते, हम निम्बाक के काल को १४वीं शताब्दी के मध्य का मान सकते है।

जैसाकि हम कह चुके हैं निम्बाक की ब्रह्मसूत्र पर टीका 'वेदान्त पारिजात सौरभ' कही गई है। वेदान्त कौस्तुभ' नामक ग्रन्थ पर टीका उनके ही शिष्य श्री निवास ने लिखी थी। मुकुन्द के शिष्य, केशव काश्मीरी भट्ट ने 'वेदान्त कौस्तुभ पर वेदान्त कौस्तुभ प्रभा नामक टीका लिखी। उन्होने भगवत् गीता पर तत्त्व प्रकाशिका नामक टीका और भागवत पुराण के दशम स्कन्द पर 'तत्त्व प्रकाशिका-वेद स्तुति टीका नामक टीका तथा तैत्तरीय उपनिषद् पर तैत्तरीय प्रकाशिका' नाम की टीका लिखी थी ऐसा कहा जाता है। उन्होने एक और पुस्तक क्रम दीपिका नामक लिखी थी, जिस पर गोविन्द भट्टाचाय ने टीका लिखी थी।[1] 'क्रम दीपिका' अष्टाध्यायी ग्रन्थ है जिसमे निम्बाक सम्प्रदाय के धार्मिक कर्मकाण्ड का मूलत वणन है। इस ग्रन्थ में अनेक प्रकार के मन्त्र तथा उन पर ध्यान का अधिकाश वणन है। श्रीनिवास ने एक और भी ग्रन्थ लिखा जो 'लघु स्तव राज स्तोत्र है, जिसम वे अपने गुरु निम्बाक की प्रशसा करते हैं। पुरुषोत्तम प्रसाद ने इस पर टीका लिखी है जिसका नाम गुरु भक्ति मन्दाकिनी है। वेदान्त सिद्धान्त प्रदीप, जो निम्बाक द्वारा रचा गया है ऐसा कहा जाता है इस ग्रन्थ के उपसहार का अध्ययन करने से तथा *रा० ला० मित्रा द्वारा नोटिसेज ऑव सस्कृत मेनुस्क्रिप्ट (एन० एस० न० २८२६)* में दिए गए सार से यह पता चलता है यह कूट ग्रन्थ है। ऐसा लगता है कि यह शाकर वेदान्त के अद्वैतवाद के सिद्धान्त का स्पष्टीकरण करता है, निम्बाक की दश श्लोकी' जो सिद्धान्त रत्न कहलाती है उसकी कम से कम तीन

[1] ये केशव काश्मीरी भट्ट उन केशव काश्मीरी भट्ट से भिन्न है जिन्होंने चैतन्य से शास्त्राथ किया था जसाकि चैतन्य चरितामृत म वणन है।

टीकाएँ हैं, 'वेदान्त रत्न मंजूषा,' पुरुषोत्तम प्रसाद कृत अज्ञात लेखक की 'लघु मंजूषा' और हरिवंश मुनि की टीका। पुरुषोत्तम प्रसाद ने निम्बार्क की दस श्लोकी पर 'वेदान्त रत्न मंजूषा' नामक एक टीका लिखी और जिसे हम अभी 'गुरु भक्त मंदाकिनी' कह चुके हैं। उन्होंने बीस, प्रकरण के 'श्रुत्यन्तर सुर द्रुम' नामक निम्बार्क के श्रीकृष्ण स्तव पर टीका लिखी तथा 'स्तोत्र त्रयी' भी लिखी।[1] इस टीका में लगभग वही विवेचन पाया जाता है जो 'परपक्ष गिरि वज्र' में है जिसका वर्णन पृथक खण्ड में किया गया है। यहां विवाद खास तौर पर शांकर वेदान्त पर ही किया गया है। पुरुषोत्तम रामानुज मत की भी कड़ी आलोचना करते हैं जिसमें अशुद्ध चित् और अचित् को श्रेष्ठ और उत्कृष्ट ब्रह्म का अंश माना गया है और वे यह सूचित करते हैं कि वह सर्वथा असम्भव है। निम्बार्क-सम्प्रदाय के अनुसार जीव ब्रह्म से भिन्न है। उनकी ब्रह्म से अभिन्नता पर इस ग्रंथ में है कि ब्रह्म से पृथक् उनकी सत्ता नहीं है। पुरुषोत्तम भेदवादी मध्व की भी आलोचना करते हैं। तादात्म्य प्रतिपादन करने वाले श्रुतिपाठ इतने ही सबल हैं जितने द्वैतवाद को प्रतिपादन करने वाले हैं और इसलिए हम तादात्म्य प्रतिपादन करते श्रुति पाठों के बल पर यह स्वीकार करना पड़ता है कि जगत् ब्रह्म में अस्तित्व रखता है और द्वैत को प्रतिपादन करने वाले श्रुति पाठों के बल पर हम यह स्वीकार करना पड़ता है कि जगत ब्रह्म से भिन्न है। भगवान् जगत् का उपादान कारण हैं इसका सच्चा अर्थ यह है कि यद्यपि सब कुछ ब्रह्म से ही उत्पन्न होता है तो भी भगवान् का स्वरूप इन सब उत्पत्ति के होते हुए भी एक ही रहता है। भगवान् की शक्ति भगवान में ही निहित है और यद्यपि वह अपनी शक्ति की भिन्न अभिव्यक्तियों द्वारा सभी कुछ उत्पन्न करते हैं तो भी वह अपने में अपरिणामी रहते हैं।[2]

---

[1] श्रुति सिद्धान्त मंजरी नामक 'श्रीकृष्ण स्तव' पर एक और टीका है जिसका लेखक अज्ञात है।

[2] यथा च भूमेस्तथाभूत शक्तिमत्त्या ओषधीनां जन्म मात्र तथा सर्व कार्योत्पादनार्ह लक्षणा चिन्त्यानन्त सर्वशक्ते रक्षर पदार्थाद्ब्रह्मणो विश्व सम्भवति इति, यथा स्वस्वाभाविकालाधिक-सातिशय शक्तिमन्त्याऽचेतनस्य स्तद तच्छ क्रियानुसारेण स्व स्व कार्यभावापत्तावपि अप्रच्युत स्वरूप प्रत्यक्ष प्रमाण-सिद्ध, तर्हि अचिन्त्य-सर्वाचिन्त्य विश्वाख्या कार्योत्पादनार्ह शक्तिमतो भगवत उक्तरीत्या जगद् भावापत्तावप्यप्रच्युतस्वरूपत्व किं अशक्यमति शक्ति-विक्षेप संहरणस्य परिणाम शब्द वाच्यत्वाभिप्रायेण क्वचित् परिणामोक्ति। स्वरूप परिणामाभावश्च पत्रमेव निरूपित, शक्ते शक्तिमतो पृथक सिद्धत्वात्।

—श्रुत्यन्तर सुर द्रुम, पृ० ७६३-४।

पुरुषोत्तम, देवाचार्य कृत 'सिद्धान्त जाह्नवी' का उल्लेख करते हैं इसलिए वे उनके बाद हुए होंगे। प० किशोरदास का 'श्रुत्यन्तसुर द्रुम' की प्रस्तावना के अनुसार वे १६२३ में जन्मे थे और वे नारायण शर्मा के पुत्र थे। प्रस्तुत लेखक को यह मत मान्य नहीं है। प० किशोरदास के अनुसार वे धर्म देवाचार्य के शिष्य थे।[1] देवाचार्य ने ब्रह्म सूत्र पर 'सिद्धान्त जाह्नवी' नामक टीका लिखी, जिस पर सुन्दर भट्ट ने सिद्धान्त सेतुका नामक टीका लिखी।

निम्बार्क के दर्शन का सामान्य विवेचन

निम्बार्क के अनुसार ब्रह्म जिज्ञासा तभी हो सकती है जबकि किसी ने शास्त्रोक्त कर्मकाण्ड की पुस्तकों का अध्ययन किया हो जिनसे अनेक प्रकार के पुण्य फलों की उपलब्धि होती है और यह अनुभव किया हो कि वे सब फलभोग से दूषित हैं और नित्य आनन्द की प्राप्ति नहीं करा सकते। ऐसा ज्ञान होने के बाद ही जब जिज्ञासु ने भिन्न शास्त्रों के अध्ययन से यह जान लिया है कि ब्रह्म ज्ञान अपरिणामी नित्य और निरन्तर आनन्दावस्था प्राप्त कराता है, तब ही वह इस भगवान की कृपा द्वारा प्राप्त करने को उत्सुक होता है और वह श्रद्धा और प्रेम से गुरु के पास ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान सीखने के लिए जाता है। ब्रह्म श्रीकृष्ण हैं जो सर्वज्ञ हैं सर्व शक्तिमान और परम कारण हैं और सर्वव्यापी सत्ता हैं। इस सत्ता का केवल निरन्तर प्रयत्न द्वारा, मनन और भक्ति के साधन से अपने को उसके स्वरूप में ओतप्रोत रखने से ही, अनुभव किया जा सकता है। ब्रह्म सूत्र के पहले सूत्र का सार भक्त के इस कर्त्तव्य में रहा है कि वह ब्रह्म को पाने के लिए सतत प्रयत्न करे।[2] शिष्य ब्रह्मनिष्ठ गुरु के वचन श्रवण करता है जिसे ब्रह्म के स्वरूप की साक्षात् अनुभूति होती है और जिसके शब्द ठोस अनुभूति में ओतप्रोत होते हैं। वह गुरु की शिक्षा के सार और अर्थ को समझने का प्रयास करता है जो गुरु के अनुभव से ओतप्रोत रहते हैं, शिष्य द्वारा इसका अर्थ समझने का प्रयास श्रवण है। यह शंकर मत में श्रवण के सामान्य अर्थ से भिन्न है जहाँ इस उपनिषद् के पाठों का श्रवण माना गया है। दूसरा पद मनन है यहाँ अपने विचारों का इस प्रकार संगठन करना कहा गया है जिससे गुरु द्वारा कहे सत्य के

---

[1] प० किशोरदास वेदान्त मञ्जूषा की प्रस्तावना में अपना ही विरोध करते हैं और ऐसा लगता है कि वे जो कालगणना देते हैं वह अधिकतर कल्पित है। प० किशोरदास आगे कहते हैं कि देवाचार्य सन १०५५ में हुए। इससे तो निम्बार्क का समय रामानुज के पहले हो जायगा जो असम्भव दीखता है।

[2] कर्त्तव्य का यह स्वरूप क्योंकि ब्रह्म सूत्र के पाठ से ही प्रकट है कि ब्रह्मत्व निदिध्यासन जैसे क्रम द्वारा ही प्राप्त होता है इसलिए इसे अपूर्व विधि कहा है।

प्रति चित्त की रुचि इस प्रकार ढले कि उसमे विश्वास का विकास हो। तीसरा पद, निदिध्यासन है जो चित्त वृत्तियो का निरंतर ध्यान द्वारा एकत्रित करता है जिससे गुरु द्वारा प्रेरित और उनके द्वारा कहे गए सत्य पर श्रद्धा जगे और अत मे उनका अनुभव प्राप्त हो। अंतिम प्रक्रिया का सफल अत हो ब्रह्म का अनुभव प्राप्त कराता है। वैदिक धर्म का अध्ययन और उनकी कार्य क्षमता, ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा उत्पन्न करता है जिससे नित्यानद की प्राप्ति होती है। इस हेतु की प्राप्ति के लिए शिष्य उसके पास जाता है जिससे ब्रह्म का साक्षात्कार हो। शिष्य मे ब्रह्म ज्ञान की प्राप्ति इस आध्यात्मिक क्रम द्वारा सम्भव है जिसके श्रवण, मनन और निदिध्यासन तीन अंग हैं।

निम्बार्क दर्शन के अनुसार, जो एक प्रकार का भेदाभेद वाद है अर्थात् जिस मत मे ब्रह्म, भेद होते हुए भी अभेद स्वरूप है स्वयं ब्रह्म ने चित् और अचित् मे परिणाम किया है। जिस प्रकार प्राण भिन्न क्रियात्मक और नानात्मक इद्रिय व्यापारो द्वारा अभिव्यक्त होता है फिर भी उनसे अपनी स्वतत्रता, अखडता एव भेद बनाए रखता है इसी प्रकार, ब्रह्म भी अनंत जीव और जड मे अपने को खोए बिना अभिव्यक्त करता है। जिस प्रकार मकडी अपने मे से जाला बनाने पर भी उससे स्वतत्र रहती है इसी प्रकार ब्रह्म भी असख्य जीव और जड मे विभक्त होता हुआ भी अपनी पूर्णता एव शुद्धता बनाए रहता है। जीव के सभी व्यापार और उनका अस्तित्व भी ब्रह्म पर इस अर्थ मे अवलम्बित है (तादात्म्य स्थिति पूर्विका) कि ब्रह्म सभी का उपादान एव निमित्त कारण है।[1]

शास्त्रो मे द्वैतवाद और अद्वैतवाद के प्रतिपादक अनेक पाठ हैं उन दोनो मतो के बीच सामजस्य स्थापित करने का एक मार्ग यही है कि हम इस मध्यस्थ मत को स्वीकारें कि ब्रह्म जीव और जड युक्त जगत् से एक साथ भिन्न और अभिन्न है। ब्रह्म का स्वरूप इस प्रकार माना गया है कि वह जीव और जडयुक्त जगत से अध्यास या मायता के कारण नही किन्तु उसके विलक्षण चैतन्य स्वरूप के कारण जड और चेतन युक्त जगत से एक साथ भिन्न और अभिन्न है। इसी कारण इस भेदाभेद मत को 'स्वाभाविक भेदाभेदवाद' कहा है। शुद्ध द्वैतवाद के अनुसार ब्रह्म केवल निश्चयात्मक कारण ही माना जायगा और इसलिए सारे श्रुतिपाठ जो ब्रह्म को उपादान कारण कहते हैं या ब्रह्म का समस्त जीवो से तादात्म्य करते हैं उन्हें नगण्य करना पडेगा। वेदान्त का अद्वैतवाद भी मान्य नही हो सकता क्योकि परम सत्ता के रूप मे, शुद्ध भेदरहित, निर्गुण चैतन्य प्रत्यक्ष योग्य नही होगा क्योकि वह इन्द्रियातीत है। वह न अनुमान द्वारा ग्राह्य होगा क्योकि वह विशिष्ट लिंग रहित है न वह शब्द प्रमाण

---

[1] श्रीनिवास की निम्बार्क कृत ब्रह्मसूत्र पर वेदान्त पारिजात सौरभ टीका।
—ब्रह्मसूत्र, पृ० १ १ १ से ३ पर।

द्वारा गम्य होगा क्योंकि वह शब्दातीत है। जिस प्रकार किसी का, जिसके दृष्टि पथ मे चद्र है उसका चद्र के प्रति परोक्ष रूप से, वृक्ष शाखा द्वारा ध्यान आकर्षित किया जा सकता है, इसी प्रकार ब्रह्म को भी अन्य प्रत्यया द्वारा उद्बाधित किया जा सकता है जो उसके निकट है या सबधित है, यह मा यता टिक नही सकती, क्योंकि उपरोक्त दृष्टा त मे चद्र और वृक्ष की शाखा दोना इन्द्रिय ग्राह्य है जबकि ब्रह्म निता त इन्द्रिया तीत है। पुन यदि यह सोचा जाता है कि ब्रह्म तक सिद्ध है तो भी यह मा यता मिथ्या होगी क्योंकि जो कुछ भी तक सिद्ध है, या दिखाया जा सकता है, वह मिथ्या है। आगे यदि वह किसी प्रमाण से सिद्ध नही है तो ब्रह्म शशविषाणवत् तुच्छ होगा। यदि एसा माना जाता है कि, ब्रह्म स्वप्रकाश होने से उसे सिद्ध करने क लिए कोई प्रमाण आवश्यक नही है, तो ब्रह्म का स्वरूप वणन करने वाली श्रुतिया व्यथ हो जावेगी। इसके अतिरिक्त, शुद्ध निगुण ब्रह्म किसी भी अशुद्धता से सवथा असग होने से उसे सभी बन्धनो से नित्य मुक्त मानना पडेगा और इस प्रकार मुक्ति प्राप्त करने की शिक्षा देने वाले सभी श्रुतिपाठ निरथक हो जाएग। शकर मतवादियो का यह उत्तर कि सारी द्वत अवस्था मिथ्या होने पर भी भासमान है और व्यावहारिक प्रयोजन साधती है टिक नही सकता, क्योंकि जब श्रुति बधन का नष्ट होना कहती है तब वह मानती है कि वह सत्य था और उसका नाश भी सत्य है। पुन भ्रम किसी अधिष्ठान म ही शक्य होता है जबकि उसम सामा य एव विशेष गुण होते हैं और भ्रम तब ही उत्पन्न होता है जबकि पदाथ उसके विशिष्ट गुण सहित ज्ञान न होकर सामा य रूप से ही जाना जाता है। किन्तु यदि ब्रह्म सवथा निगुण है तो उसका किसी भी भ्रम का अधिष्ठान होना भी असम्भव है। पुन जबकि अज्ञान क किसी प्रकार के कोई आश्रय या विषय का समझाना कठिन है तो भ्रम भी स्वय समझ के बाहर हो जाता है। ब्रह्म शुद्ध ज्ञान स्वरूप होने से अज्ञान का आश्रय या विषय नही माना जा सकता। जीव स्वय अज्ञान का काय होने से अज्ञान का आश्रय नही हो सकता। इसके अतिरिक्त, जबकि ब्रह्म शुद्ध प्रकाश स्वरूप है और अज्ञान तिमिर रूप है तो पहला दूसरे का आश्रय नहीं माना जा सकता, जसेकि सूय अधकार का आश्रय नहीं माना जा सकता।

भ्रम की उत्पत्ति म होन वाल व्यापार अज्ञान द्वारा होते नहीं माने जा सकते क्योंकि अज्ञान अचेतन है इसलिए वह कर्ता नहीं माना जा सकता। ब्रह्म का भी कारण नही माना जा सकता क्योंकि वह शुद्ध और निश्चल है। पुन ब्रह्म का नाना प्रकार की अनभीष्ट घटनाओ यथा पापी, पशु इत्यादि के रूप मे मिथ्याभास होना समझाया नहीं जा सकता, क्योंकि यदि ब्रह्म सवज्ञ चेतन और स्वतत्र है तो वह अपनी ऐसी अवाछनीय दशाओ म परिणाम होना स्वीकार नहीं कर सकता, जिसका अनुभव पुनज म द्वारा अनेक पशु योनियो म भुगतना पडता है। यदि ब्रह्म को इन अनुभवो का ज्ञान नहीं है तो उस अज्ञानी मानना पडेगा और उसकी स्वप्रकाश्यता लुप्त हो

गी। पुन यदि अज्ञान सत वस्तु माना जाता है तो द्वैतवाद स्वीकारना पडता
यदि वह असत माना जाता है तो वह ब्रह्म का आवरण नही कर सकता।
यदि ब्रह्म स्वप्रकाश्य है तो वह छिपाया कसे जा सकता है और उसके विषय म
कसे हो सकता है ? यदि सीप अपने स्वरूप से प्रकट हाती है तो उसका रजत
भ्रमपूर्ण अनुभव नही हो सकता। यदि पुन ब्रह्म का स्वरूप अज्ञान द्वारा
है तो प्रश्न यह खडा हाता है कि अज्ञान ब्रह्म का अश रूप से या पूर्ण रूप से
ण करता है। पहली मा यता अमान्य है क्योकि तब जगत पूर्ण रूप से अघा
यगा (जगदाध्य प्रसगात) और पिछला विकल्प असम्भव है क्योकि ब्रह्म एक
जिसके न गुण धम हैं न अवयव। अद्वैतवादी इसे निगु ण और अखड मानते
यदि यह माना जाता है कि सामा य रूप से अज्ञान द्वारा केवल आनदाश ही
ाता है और सत् अश अनावृत रहता है तो यह अथ होगा कि ब्रह्म के विभाग हो
हैं और ब्रह्म का मिथ्यापन ऐसे अनुमना द्वारा सिद्ध किया जा सकेगा 'ब्रह्म
है क्योकि उसमे घडे की तरह अश है (ब्रह्म मिथ्या साशत्वात् घटादिवत)।
उपरोक्त आक्षेप के उत्तर मे यह तक किया जा सकता है कि अज्ञान के विरोध
क्षप माने नही जा सकते क्योकि अज्ञान सवथा मिथ्या ज्ञान है। जिस प्रकार
क उल्लू सूय के ज्वल त प्रकाश म भी निरा अधकार देखता है उसी प्रकार मैं
हूँ यह अपरोक्ष अनुभव सभी को प्रकट है। निम्बार्क सम्प्रदाय के अनुयायी
राम अपने वेदा त बोध में ऐसी मा यता के विरोध मे और आक्षेप खडे करते
वे कहते हैं कि मैं अज्ञ हूँ इस अपरोक्ष अनुभव म मैं' जो अपरोक्ष अनुभव गम्य
शुद्ध ज्ञान नहीं है। क्योकि शुद्ध ज्ञान अज्ञ के रूप मे अनुभव नही हो सकता।
अहकार मात्र नही हो सकता क्योकि तब अनुभव 'अहकार अज्ञ है इस प्रकार
है। यदि अहकार से शुद्ध आत्मा का अथ है तब ऐसी आत्मा का मुक्ति स
अनुभव नही हो सकता। अहकार शुद्ध चत य और अज्ञान से कोई भिन्न वस्तु
हो सकती क्योकि यह वस्तु निस्सदेह ही अज्ञान का काय होना चाहिए जो ब्रह्म
ज्ञान के साथ सयोग के पहले विद्यमान नही हो सकती। शकर मतवादियो का
र है कि अज्ञान केवल मिथ्या कल्पना होने से ब्रह्म के स्वरूप का दूषित नही कर
ता, जो शाश्वत अधिष्ठान है यह भी अमान्य है क्योकि यदि अज्ञान को मिथ्या
ना माना जाय तब भी ऐसी कल्पना करने वाला कोई होना चाहिए। किन्तु
कल्पना करने वाला ब्रह्म या अज्ञान इन दोनो वस्तुओ म से कोई भी नहीं हो
ता क्योकि पहला शुद्ध निगु ण है, इसलिए वह कल्पना नही कर सकता, और
रा जड और अचेतन है इसलिए कल्पना रहित है। यह भी सोचना मिथ्या है कि
शुद्ध चैतन्य रूप से अज्ञान का मूल विरोधी नहीं है क्योकि, ऐसा कोई ज्ञान नही
ा अज्ञान विरोधी न हो। इसलिए, शकर मतवादी मैं अज्ञ हूँ इसमे 'मैं' तत्व
द्ध करने मे सफल नही हो सकते।

इसलिए निम्बार्क के दृष्टिकोण से अंतिम निष्कर्ष यह है कि ब्रह्म से सहयोग र जगत् प्रपंच को उत्पन्न करने वाला कोई भी अज्ञान जैसा विश्व व्यापी सिद्धांत मान्य है। अज्ञान जीव या आत्मा का गुण है जो ब्रह्म से स्वरूपतः भिन्न है किन्तु उसके संपूर्ण रूप से अधीन है। वे उसके शाश्वत अंग हैं अणु रूप हैं, और शक्ति मर्यादित हैं। कर्म की अनादि शृंखला से बंधे होने के कारण वे, स्वाभाविक रूप ज्ञान दृष्टि से अंध हैं।[1]

शंकर मतवादी यह प्रतिपादन करते हैं कि आत्म और अनात्म के सच्चे स्वरूप में भेद न करने की स्वाभाविक त्रुटि के कारण मिथ्या प्रत्यक्ष, मिथ्या ज्ञान और भ्रम उत्पन्न होता है। अनंतराम का ऐसे स्पष्टीकरण के विरोध में यह आक्षेप है कि यह त्रुटि ब्रह्म या अज्ञान पर नहीं लादी जा सकती है। जबकि अन्य सभी वस्तु भ्रम के उत्तरकाल के कार्य हैं उन पर भ्रम उत्पन्न करने का दायित्व नहीं रखा जा सकता।[2]

शंकर ने अपनी टीका में कहा था कि शुद्ध चैतन्य पूर्णतया असिद्ध नहीं है, क्योंकि उस हम अहं अनुभव द्वारा लक्ष्य करते हैं। इस पर स्वाभाविक आक्षेप यह उठता है कि हमारे अहं अनुभव द्वारा लक्षित वस्तु शुद्ध चैतन्य नहीं हो सकती क्योंकि फिर तो शुद्ध चैतन्य अहं का धर्म हो जाता—यह मत निम्बार्क दर्शन के अनुकूल है किन्तु शंकर मतवादियों द्वारा पूर्णतया अस्वीकृत है। यदि इसे मिथ्या माना जाता है तो यह मानना पड़ता है कि जहाँ भ्रम होता है वहाँ अहं अनुभव होता है। इस मान्यता के अनुसार भ्रम वहीं उत्पन्न हो सकता है जहाँ अहं अनुभव होता है।[3] यहाँ अन्योन्याश्रय दोष उत्पन्न हो जाता है। अन्योन्याश्रय दोष का बचाव इस मान्यता पर किया जावे कि अध्यास अनादि है यह भी निरुपयोगी है। क्योंकि भ्रम स्वरूपतः अनादि है यह मान्यता मिथ्या है क्योंकि यह सुविदित है कि भ्रम पूर्व प्रमाणित ज्ञान संस्कारों के व्यापार से ही शक्य है।[4] पुनः शुद्ध चैतन्य का अज्ञान में प्रतिबिम्बित होना अशक्य है क्योंकि प्रतिबिम्ब दो समान सत्ता वाले पदार्थों में ही शक्य है। अन्य दृष्टि से देखने पर भ्रम को असंगत मानना पड़ता है। भ्रम विशेष भौतिक परिस्थितियों के

---

[1] परमात्म भिन्नोऽल्प शक्तिस्तदभिन्न सनातनस्तदंशभूतोऽनादि कर्मात्मिका विद्यावृत्त धर्मभूतज्ञानो जीव क्षेत्रनादिशब्दाभि धेयस्तत्प्रत्ययाश्रय इति।

—वेदांत तत्व बोध पृ० १२।

[2] वही पृ० १३।

[3] अध्यस्तत्वे तु अध्यासे सति भासमानत्वम् तस्मिन सति स इत्य न्योन्याश्रय दोष।

—वही पृ० १४।

[4] अध्यासो नानादि पूर्व प्रमाहित संस्कार जन्यत्वात्।

—वेदांत तत्व बोध, पृ० १४।

कारण उत्पन्न होता है जैसेकि सन्निकर्ष इंद्रिय दोष, संस्कार व्यापार इत्यादि। ग्रह के अपरोक्ष अनुभव के कथित प्रसंग में ये सब अनुपस्थित होते हैं।

शंकर मतवादी माया को अनिर्वचनीय कहते हैं। अनिर्वचनीय का अर्थ यह माना है कि जो प्रत्यक्ष में दीखे किन्तु अंततोगत्वा बाधित हो जाता हो। शंकर मतवादी मिथ्या व या अभाव जो जो बाधित हो सकता है—ऐसी व्याख्या करते हैं। माया की घटना अनुभव में भासमान होती है और इसलिए उन्हें अस्तित्ववान् माना है। वह बाधित हो सकती है इसलिए उसे असत् माना है। माया में यह सत असत् का जो एकत्व है वही उसकी अनिर्वचनीयता है। इसका अनन्तराम यह उत्तर देते हैं कि बाध होना अभाव का अर्थ नहीं रखता। एक विशेष पदार्थ के रूप में जसेकि घड़ा दंड के प्रहार से नष्ट किया जा सकता है इस प्रकार एक ज्ञान दूसरे ज्ञान को नष्ट कर सकता है। दंड के प्रहार से घड़े का नष्ट होना इस विचार का समावेश नहीं करता कि घड़ा असत था। इसलिए, पूर्व ज्ञान का उत्तर ज्ञान से बाध पहले का मिथ्यात्व या अनस्तित्व समाविष्ट नहीं करता। सभी ज्ञान अपने में सत्य हैं जो कि उनमें से कुछ दूसरे को नष्ट कर सकते हैं। निम्बार्क मतवादी इसे ही सतख्याति वाद कहते हैं। उनके अनुसार सतख्यातिवाद यह अर्थ रखता है कि सभी ज्ञान (ख्याति) किसी सत पदार्थ से उत्पन्न होते हैं जिन्हें उनका कारण मानना चाहिए (सद्हेतुका ख्याति सत ख्याति)। ऐसे मत के अनुसार इसलिए मिथ्या ज्ञान का मूल कारण, कोई अस्तित्ववान् पदार्थ होना चाहिए। यह भी सोचना मिथ्या है कि मिथ्या या अस्तित्वविहीन वस्तु प्रभाव उत्पन्न कर सकती है, ठीक उसी प्रकार जैसे भ्रम रूप काला नाग भय नहीं करता किन्तु सच्चे सर्प की स्मृति ऐसा करती है इसलिए यह सोचना गलत है कि मिथ्या जगत् प्रपंच हमारे बंध का कारण हो सकता है।

जबकि भ्रम नश्वर नहीं है तो यह सोचना व्यर्थ है कि हमारे सभी प्रत्यक्ष, अनुमान और अन्य प्रकार के ज्ञान अहंकार से संयुक्त हैं तथा केवल भ्रम रूप से उत्पन्न होते हैं। सच्चा ज्ञान आत्मा का धर्म माना जाना चाहिए और ज्ञान की उत्पत्ति के वृत्ति के माध्यम की आवश्यकता नहीं है। अज्ञान जो ज्ञान के उदय को रोकता है वह हमारे कर्म हैं जो अनादि काल से संचित हुए हैं। इंद्रियों के व्यापार से हमारी आत्मा हमसे बाहर विस्तृत होती है और इन्द्रिय गोचर पदार्थों के ज्ञान से भर जाती है। इसी कारण जब इंद्रियाँ प्रवृत्त नहीं होतीं तब गोचर पदार्थों का ज्ञान नहीं होता, जैसाकि गाढ़ निद्रा में होता है। आत्मा, इस प्रकार सच्चा ज्ञाता है और सच्चा कर्त्ता है और उसके ज्ञाता एवं कर्ता के अनुभवों को किसी भी कारण भ्रम-व्यापार के कार्य नहीं मानना चाहिए।[1]

---

[1] वेदान्त तत्त्व बोध, पृ० २०।

आत्मा शुद्ध चैतन्य स्वरूप है पर उसे सच्चा ज्ञाता मानना चाहिए। ज्ञान ज्ञाता होकर व्यवहार नहीं कर सकता, जिस प्रकार कि पानी पानी से मिलकर विविक्त नहीं रह सकता, निम्बार्क मतवादी इस आक्षेप को अप्रामाण्य ठहराते हैं। निम्बार्क मत की इस मान्यता का समर्थन करने के लिए पुरुषोत्तम अपनी वेदान्त रत्न मंजूषा में सूर्य का दृष्टान्त देते हैं जो प्रकाश एवं प्रकाश का ज्ञाता दोनों ही है। जब एक पानी की बूंद दूसरी बूंद में मिलाई जाती है, यद्यपि यह जानने में नहीं आने पर भी संख्या एवं गुण की दृष्टि से दोनों बूंदों की विशेषता रहती है। भेद का अग्रहण इसे सिद्ध नहीं करता कि दोनों बूंदें एक रस हो गई हैं। दूसरी ओर, जबकि दूसरी बूंद के अंश पहले से भिन्न हैं तो उनकी पृथक् सत्ता माननी पड़ेगी चाहे वे दोनों मिल गयी हों। ज्ञातृभाव आत्मा का सहज धर्म मानना चाहिए शंकर मतवादियों द्वारा इसकी व्यवस्था जो बताई गई है कि ज्ञात धर्म शुद्ध चैतन्य का वृत्ति में प्रतिबिम्बित होने से है यह असफल है। पानी में पड़ा सूर्य का प्रतिबिम्ब चमकता गोला नहीं माना जा सकता। इसके अतिरिक्त प्रतिबिम्ब दो दृश्य वस्तुओं के बीच नहीं हो सकता, न शुद्ध चैतन्य और न अन्तःकरण वृत्ति ही दृश्य वस्तु मानी जा सकती है जिसमें प्रतिबिम्ब की मान्यता न्यायसंगत दिखाई जा सके।

अहं का अनुभव आत्मा को ही अपरोक्ष रूप से लक्ष्य करता है इस विषय में किसी प्रकार का भ्रम नहीं है। अहं अनुभव इस प्रकार आत्मा के स्वरूप का निरंतर प्रकटीकरण है। गाढ़ निद्रा के बाद हम कहते हैं कि 'मैं ऐसा अच्छा सोया कि अपने को भी भूल गया। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं लगाना चाहिए कि अहं अनुभव अनुपस्थित है या वहाँ आत्मा का प्रकाश नहीं है। मैंने अपने को नहीं जाना यह अनुभव देह के अनुभव को तथा चित्त व्यापार को लक्ष्य करता है किन्तु यह नहीं सूचित करता कि स्ववेद्य चैतन्य ने अपने को प्रकाशित करना बंद कर दिया था। गाढ़ निद्रा में अपनी अनुभूति का निषेध विशिष्ट सम्बन्धों के निषेध का भी लक्ष्य करता है (जैसेकि शरीर इत्यादि) जिससे साधारणतः अहं जुड़ा रहता है। निषेध या अभाव के ऐसे दृष्टान्त भी दिए जा सकते हैं, 'मैं इस कमरे में इतनी देर नहीं था' 'मैं उस समय जीवित न था' इत्यादि, यहाँ अभाव अहं से सम्बन्धित वस्तु से है न कि अहं से। आत्मा को अहं अनुभव में अभिव्यक्त ही नहीं मानना चाहिए किन्तु उसे जो ज्ञान होता है उससे भी भिन्न मानना चाहिए। केवल गाढ़ निद्रा में ही आत्मा का अनुभव नहीं रहता, किन्तु मुक्तावस्था में भी निरन्तर रहता है भगवान भी अपनी पूर्ण स्वतन्त्रता में अपनी अहंकारातीत अवस्था में स्वचैतन्य रहते हैं। वे दयालु हैं परम गुरु हैं और हमारे ज्ञान का अधिष्ठाता देव है। जीव की तरह भगवान भी कर्ता है जगत सृष्टा है। यदि ब्रह्म स्वभाव से कर्ता न होता तो माया का संयोग होते हुए भी वह जगत् कर्ता नहीं हो सकता था। ब्रह्म से विपरीत, जीवों की प्रवृत्तियों को व्यक्त करने के

लिए कर्मेन्द्रिया पर आश्रय रखना पडता है। आत्मा को भी सुख दुख का अनुभव होता है। जीवो का कर्तृत्व और सत्ता तो अन्त में भगवान् की इच्छा के अधीन है, तो भी, क्योंकि वह किसी को सुख और किसी को दुख देता है इसलिए भगवान् पक्षपाती है या निदय है ऐसा मानने का कोई भी कारण नहीं है, क्योकि वह परमेश्वर है, जो भिन्न लोगो को भिन्न प्रकार से निर्देश देता है और उन्हें उनके कर्मानुसार सुख-दुख देता है। तात्पय यह है कि भगवान यद्यपि, लोगो को सुख दुख देते हैं और उन्हें पाप पुण्यानुसार कम कराते हैं तो भी वे अन्त म कर्म के बधन में नही हैं और वे अपनी कृपा द्वारा उन्हें कभी भी बन्धन मे मुक्त करा सकते हैं।[1] कम सिद्धान्त यान्त्रिक सिद्धान्त है और भगवान् अधिष्ठाता रूप से प्रत्यक प्रसग म निर्णय देते हैं। वे इस प्रकार कम सिद्धान्त के विधायक हैं किन्तु उससे बध नही हैं। जीव भगवान के ही स्वरूप के अंश हैं, और इसलिए अपने, स्वरूप, सत्ता एव प्रवृत्ति के लिए उसी पर आश्रित हैं (तदायत्त स्वरूप स्थिति पूर्विका)। भगवान अन्तिम सत्य होने से जीव और जड जगत् भगवान के अंश होने के कारण उसी के स्वरूप से सम्मिलित होने के कारण अपना स्वरूप और सत्ता पाते हैं। इसलिए व अपनी सत्ता और प्रवृत्ति के लिए उसी पर आश्रित हैं।

जीव असख्य है और अणु रूप हैं। किन्तु अणु होते हुए भी वे शरीर के सभी भागो की सवेदनाओ को, अपने म स्थित सवव्यापी ज्ञान के गुण से जानते हैं। यद्यपि जीव अणु एव अखड हैं, वे भगवान के सवव्यापी स्वरूप से पूर्णत व्याप्त हैं। अणु रूप जीव, अनादि कम की मेखला से वेष्टित हैं जो उनके शरीर का कारण है, और फिर भी वे मुक्त हो जाते हैं जब गुरु द्वारा शास्त्र वचन सुनकर उनके सशय छूट जाते हैं और व जब भगवान के सच्चे स्वरूप का गहरा ध्यान करते हैं जिससे व भगवान म लय हो जाते हैं। भगवान अपनी दया और कृपा दिखाने मे पूर्णत स्वतन्त्र हैं। *किन्तु होता ऐसा है कि वे उन्ही पर दिखाते हैं जो भक्ति और पुण्य कम द्वारा उसके* योग्य हैं। भगवान, अपने सर्वातिशायी रूप में, अपने जगत, जीव और ईश्वर इन तीनो रूपो से भी परे हैं। अपने शुद्ध एव सर्वातिशायी रूप मे वह किसी भी परिणाम से सवथा दूषित नही हैं और वह शुद्ध सत्ता आनन्द और चैतन्य के अभेद है। ईश्वर के रूप में वह अनेक जीवो द्वारा जो उसके ही अंश हैं अपने अनन्त आनन्द का अनुभव करता है। जीवो के अनुभव, इसलिए उसके अंश रूप से उसी मे समाविष्ट हैं क्योकि जीवो के अनुभव उसके ईक्षण के ही कारण हैं। मनुष्य के अनुभवो की सत्ता तथा उनका क्रम भगवान् के द्वारा नियमित हैं तथा उसी के अन्तगत है। जीव इस प्रकार

---

[1] न वय ब्रह्म नियन्तृत्वस्य कम सापेक्षत्व ब्रूम, किन्तु पुण्यादि कम कारयितृत्वे तत्फल-दातृत्वे च।

—वेदान्त रत्न मजूषा, पृ० १४।

एक दृष्टि से उससे भिन्न है और दूसरी दृष्टि से उसके अंश मात्र हैं। भास्कर के दर्शन में एकत्व पर बल था क्योंकि भेद उपाधि के कारण माना गया है। किन्तु यद्यपि निम्बार्क की प्रणाली को एक प्रकार का भेदाभेदवाद या द्वैताद्वैतवाद माना जा सकता है किन्तु यहां बल केवल एकत्व पर ही नहीं है किन्तु भिन्नता या भेद पर भी है। जबकि अंश, पूर्ण से भिन्न नहीं हो सकता जीव भी ईश्वर से कभी भिन्न नहीं हो सकते। किन्तु बन्धन की अवस्था में जीव ईश्वर से इस एकता को भूल सकते हैं और अपने को कर्म और अनुभव में स्वतन्त्र समझने लगते हैं। जब प्रेम से त्याग उत्पन्न होता है तब जीव जो स्वयं ब्रह्म से पूर्णतया नियमित और नियमित है तथा वह उसका अंश है ऐसा अनुभव करता है, उसे सभी कर्मों से विरक्ति उत्पन्न होती है और वह उनसे प्रभावित नहीं होता। इसलिए अन्तिम प्राप्य या ध्येय भगवान से हमारा सम्बन्ध क्या है यह अनुभव करना सभी कर्मों, इच्छा और हेतुओं का त्याग करना है और हम उसके अंश है ऐसा अनुभव करना है। ऐसा व्यक्ति पुनः कभी बन्धन के पंजे में नहीं पड़ता और ईश्वर के भक्तिपूर्वक ध्यान के नित्य सुख में रहता है। मुक्तावस्था में भक्त अपने को भगवान से एकरूप अनुभव करता है और वह उसकी शक्ति के अंश रूप में वास करता है (तत्तादात्म्यानुभवपूर्वक विश्वरूपे भगवति तच्छक्त्यात्मनावस्थानम्)।[1] इस प्रकार, मुक्तावस्था में भी भगवान और मुक्त जीवों में भेद रहता है, यद्यपि वे इस अवस्था में आनन्द से परिपूर्ण रहते हैं। भगवान के सच्चे स्वरूप का अनुभव होने पर एवं हमारा उसके साथ सम्बन्ध होने पर तीनों प्रकार के कर्म (संचित क्रियमाण और प्रारब्ध) नष्ट हो जाते हैं।[2] इस प्रणाली में अविद्या का अर्थ अपने स्वरूप का, एवं भगवान के साथ सम्बन्ध का अज्ञान माना गया है जो कर्म तथा देह इन्द्रियों और सूक्ष्म भूतों के साथ सम्बन्ध का कारण है।[3] प्रारब्ध कर्म या जो कर्म फलीभूत हो रहे हैं वे आवश्यकतानुसार, इस जन्म या दूसरे जन्म में बने रह सकते हैं क्योंकि जहाँ तक वे मुक्त नहीं होते वहाँ तक विदेह मुक्ति नहीं होती।[4] संत की अवस्था भगवान के स्वरूप में भक्तियुक्त निरंतर तथा ध्रुव स्मृति में रहती है (ध्यान परिपाकेन ध्रुव स्मृति पर भक्त्याख्य ज्ञानाधिगमे) ऐसा संत, सभी किए हुए संचित एवं उत्तरकाल में होने वाले अच्छे और बुरे कर्मों के दूषित प्रभाव से

[1] परपक्षगिरि वज्र, पृ० ५६१।

[2] वही, पृ० ५६८।

[3] वही।

[4] विद्वषां विद्यामाहात्म्यात् संचित क्रियमाणयोरलेश विनाशौ, प्रारब्धस्य तु कर्मणो भोगेन विनाशः तत्र प्रारब्धस्य एतच्छरीरेण इतर शरीरै र्वा भुक्तत्वा विनाशान्मोक्ष। इति संक्षेप।

—वही, पृ० ५८३।

मुक्त हो जाता है। (तत्र उत्तर भाविन क्रियमाणस्य पापस्य चाश्लेष तत्प्राग्भूतस्य सचितस्य तस्य नाश । वेदान्त कौस्तुभ प्रभा' ४ १-१३)। वर्ण एव आश्रम धर्म, ज्ञान के उदय मे लाभप्रद हैं इसलिए, उन्हें ज्ञान आने पर भी करते रहना चाहिए, क्योंकि इस दीप की ज्योति हमेशा जलती रखना चाहिए (तस्मात् विद्योदयाय स्वाश्रम कर्माग्निहोत्रादि कृत ग्रहस्थेन, तपा जपादीनि कर्माणि ऊर्ध्व रेतोभिरनुष्ठेयानि इति सिद्धम्) कर्मों का सचय जो मुक्त होने लगा है उसे मुक्त होकर रहना चाहिए ऐसे कर्मों के फल, स त को एक या अनेक जन्म मे भोगने पडते हैं। ब्रह्म प्राप्ति ईश्वर की ध्रुव स्मृति में और उसमें अश रूप से वास करने मे है, जो ईश्वर मे निरन्तर भक्ति पूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने के बराबर है। यह स्थिति भगवान की सत्ता रूप से एक रस होने से और उसमे मिल जाने से स्वत त्र या पृथक् है जो स्थिति प्रारब्ध कर्म के सत योनि शरीर में सम्पूर्ण भोग से या आने वाले जन्म मे मुक्त होकर, नाश होने पर प्राप्ति होती है। स त, प्रारब्ध क्षय होने पर, सूक्ष्म शरीर मे स्थित सुषुम्ना नाडी से अपना स्थूल शरीर छोडता है और प्राकृत मण्डल का अतिक्रमण कर सीमा त देश पर विरजा नदी पर पहुँचता है जो भौतिक जगत् और विष्णु लोक के बीच है।[1] यहाँ वह अपना सूक्ष्म शरीर परमेश्वर मे छोड देता है और भगवान के सर्वातिशायी स्वरूप मे प्रवेश करता है (वेदा त कौस्तुभ प्रभा ४ २ १५)। मुक्त जीव इस प्रकार भगवान म उसकी विशिष्ट शक्ति के रूप मे रहते हैं जिन्ह वह अपने हेतु फिर भी उपयोग कर सकते हैं। ऐसे मुक्त पुरुष सासारिक जीवन जीने के लिए कभी नहीं भेजे जाते। यद्यपि मुक्त पुरुष भगवान से एक हो जाते हैं फिर भी उनका जगत् के व्यवहार पर कोई अधिकार नही होता जो सर्वथा भगवान द्वारा ही नियन्त्रित होता है।[2]

यद्यपि हम ईश्वर के सकल्प से स्वप्न अनुभव करते हैं और यद्यपि वह नियन्ता बना रहता है और वह हमारे अनुभवा की सभी अवस्थाओ मे वास करता है तो भी वह हमारे सासारिक जीवन के अनुभवो से दूषित नही होता। (वेदा त कौस्तुभ और उसकी टीका प्रभा ३ २ ११)। हमारे अनुभव के विषय स्वय सुख-दु खात्मक नही होते किन्तु ईश्वर उन्ह, हमारे पाप और पुण्य के फल स्वरूप एसा बना देते हैं। ये विषय अपने म उदासीन पदार्थ हैं न सुखात्मक हैं न दु खात्मक (वेदान्त कौस्तुभ

---

[1] पर लोक गमने देहादुत्सर्पण समये एव विदुष पुण्य पापे निरवशेष क्षीयते विद्या हिस्व-सामर्थ्यादेव स्वफल भूत ब्रह्म प्राप्ति प्रतिपादनाय एन देवयानेन पथा गमयितु सूक्ष्म शरीर स्थापयति।

—वेदान्त कौस्तुभ प्रभा, ३ ३ २७।

[2] मुक्तस्य तु पर ब्रह्म साधर्म्येऽपि निखिल चेतना चेतनपतित्वतन्नियन्तृत्व तद्विधारकत्व-सवगतत्वाद्यसम्भवात् जगद् व्यापार वजम् ऐश्वर्यम। वही, ४ ४ २०।

प्रभा ३ २ १२)। ईश्वर और जगत् का सम्बन्ध सर्प और उसकी कुण्डली जैसा है। सर्प की कुण्डलावस्था उससे भिन्न है और न अभिन्न है। इस प्रकार ईश्वर और जीव का सम्बन्ध दीप और प्रभा जैसा भी है (प्रभा तद्वतारिव) या सूर्य और उसके प्रकाश जैसा है। ईश्वर अपने मे अपरिणामी रहता है और केवल अपनी शक्ति से ही चित् अचित् शक्ति के रूप मे परिणत होता है।[1] जिस प्रकार जीव ब्रह्म से पृथक सत्ता नही रख सकते उसी प्रकार स्थूल जगत् भी उससे भिन्न सत्ता नही रख सकता। जगत् इसी रूप से ईश्वर का अंश है और उसे इसी अर्थ मे उससे एक माना है। क्योंकि जगत् का धर्म ईश्वर के स्वरूप से भिन्न है इसलिए वह ईश्वर से भिन्न माना गया है।[2]

वेदोक्त वर्णाश्रम धर्म विविदिषा उत्पन्न करने के लिए करना चाहिए किन्तु एक बार सच्चा ज्ञान उत्पन्न हो जाने पर फिर उक्त धर्म पालन आवश्यक नहीं है। (वही ३ ४ ६)। ज्ञानी पुरुष अपने किए कर्मों से प्रभावित नही होता। किन्तु यद्यपि धर्म पालन करना विद्या प्राप्त करने मे सहायक है किन्तु अनिवार्य नही है, और ऐसे अनेक व्यक्ति है जो वर्णाश्रम धर्म पालन किए बिना भी विद्या प्राप्त करते हैं।

माधव मुकुन्द का अद्वैतवादियो के साथ विवाद

(क) अद्वैत वेदान्त का मुख्य सिद्धान्त एव चरम साध्य अमान्य है

माधव मुकुन्द जो बंगाल मे अरुणघटा नामक गाँव के निवासी माने जाते है उन्होने पर पक्ष गिरि वज्र या 'हार्द सचय' नामक ग्रन्थ लिखा, जिसमे उन्होने शंकर और उनके अनुयायियो द्वारा वेदान्त के अद्वैतवादी निरूपण की निरर्थकता बताने का अनेक प्रकार से प्रयत्न किया है।

वे कहते हैं कि शंकर मतवादी जीव ब्रह्म का ऐक्य प्रतिपादन करने मे रत है और यही उनके सभी विवादो का मुख्य विषय रहा है। यह (ऐक्य) तादात्म्य भ्रम पूर्ण या विपरीत हो सकता है। प्रथम विकल्प के अनुसार, द्वैतवाद या अनेकत्ववाद सत्य होगा और दूसरे विकल्प के अनुसार, अर्थात तादात्म्य सत्य है तो तादात्म्य मे

---

[1] अनन्त गुण शक्तिमतो ब्रह्मण परिणामि स्वभावाचिच्छक्ते स्थूलावस्थाया सत्या तदनन्तरात्मत्वेन तत्रावस्थानेऽपि परिणामस्य शक्तिगतत्वात् स्वरूपे परिणामाभावात् कुण्डल दृष्टा तो न दोषावह अपृथक सिद्धत्वेन अभेनेऽपि भेद ज्ञापनाथ।

—वेदान्त कौस्तुभ प्रभा, ३ २ २६।

[2] जीववत् पृथक स्थित्यनह विशेषणत्वेन अचिद्वस्तुनो ब्रह्माशत्व विशिष्ट वस्त्वेकदेशत्वेन अभेद व्यवहारो मुख्य विशेषण विशेष्यया स्वरूप स्वभाव भभेदेन च भेद-व्यवहारो मुख्य।

—वही ३ २ ३०।

पूर्व कल्पित द्वैत भी सत्य होगा।[1] शंकर मतवादी तादात्म्य के एक ही पहलू में रुचि नहीं रखते किन्तु ब्रह्म जीव के ऐक्य सिद्ध करने में भी रुचि रखते हैं। तादात्म्य की सिद्धि आवश्यक रूप से द्वैत के अभाव की सत्ता अनुमित करती है। यदि ऐसा अभाव मिथ्या है तो तादात्म्य भी मिथ्या होगा, क्योंकि तादात्म्य की सत्ता अभाव की सत्ता पर अवलम्बित है। यदि द्वैत का अभाव सत है तो द्वैत भी किसी अर्थ में सत होगा और तादात्म्य केवल कुछ विशेष पहलू में ही अभाव की सत्ता अनुमित कर सकता है।

शंकर मतवादी द्वारा द्वैत या भेद को पदार्थ के रूप में स्वीकृति के विरुद्ध, ये आक्षेप हैं, पहला, भेद एक सम्बन्ध होने से दो पदार्थों का सन्निवेश करता है और इसलिए अपने अधिष्ठान से एक रूप नहीं हो सकता जिसमें कि वह रहता है। (भेदस्य नाधिकरण स्वरूपत्वम्)। दूसरा यदि भेद अधिकरण से भिन्न स्वरूप है तो हम दूसरी कोटि का भेद लाना पड़ेगा और वह दूसरे को लाएगा, इस प्रकार अनवस्था-स्थिति उत्पन्न होगी। पहले आक्षेप का उत्तर यह है कि भेद का इस या उस अधिकरण की दृष्टि से सम्बन्ध नहीं है किन्तु अधिकरण के प्रत्यय मात्र की दृष्टि से है (भूतलत्वादिना निरपेक्षत्वेऽपि अधिकरणात्मकत्वेन सापेक्षत्वे क्षतेरभावात्)।[2] भेद का भेद लाने की अनवस्था स्थिति का आक्षेप अप्रमाण है क्योंकि सभी भेद अपने अधिकरण से एकरूप हैं। इसलिए भेद की परम्परा में प्रत्येक में भेद का स्वरूप निर्दिष्ट हो जाता है और अनवस्था स्थिति का अन्त हो जाता है। 'भूतल पर घड़ा है' इस उदाहरण में, घट के भेद का स्वरूप घटत्व है जबकि भेद के भेद में दूसरी कोटि के भेद में, विशिष्ट प्रकार का निर्दिष्ट भिन्नत्व है। इसके अतिरिक्त, जबकि भेद पदार्थ के विशिष्ट प्रकार को प्रकट करता है, उसमें ये कठिनाईयाँ उत्पन्न नहीं हो सकतीं। भेद जब देखा जाता है तब हम, भेद को, वह जिन दो वस्तुओं के बीच रहता है उनसे उसे एक भिन्न पदार्थ के रूप में नहीं देखते।[3] हम जीव ब्रह्म के ऐक्य में भी अन्योन्याश्रय का दोष देख सकते हैं क्योंकि यह जीव के ब्रह्म से तादात्म्य पर आश्रित है।

इस विषय का और परीक्षण किया जाय तो पता चलता है कि भेद उत्पन्न होते हैं इसी कारण इस पर कोई भी आक्षेप नहीं लग सकता, क्योंकि वे केवल होते हैं

---

[1] द्वितीय ऐक्य प्रतियोगिक भेदस्य पारमार्थिकत्व प्रसंगात्।

—पर पक्ष गिरि वज्र पृ० १२।

[2] परपक्षगिरिवज्र पृ० १४।

[3] नाप्यन्योन्याश्रयः भेद प्रत्यक्षे प्रतियोगितावच्छेदक स्तम्भत्वादि प्रकार ज्ञानस्यैव हेतुत्वात् न तावद् भेद प्रत्यक्षे भेदाश्रयाद् भिन्नत्वेन प्रतियोगि ज्ञान हेतु।

—परपक्षगिरिवज्र, पृ० १४, १५।

उत्पन्न नहीं किए जाते या वे जाने जा सकते हैं इस कारण भी उन पर आरोप नहीं लग सकते क्योंकि यदि वे कभी नहीं दीखते तो शंकर के अनुयायी तथाकथित भ्रम या भेद के दूषित प्रत्यक्ष को दूर करने के लिए इतने आतुर न होते, या यह सिद्ध करने मे अपनी शक्ति न व्यय करते कि ब्रह्म सभी भौतिक इत्यादि मिथ्या पदार्थ से भिन्न है और सं त भी नित्य और अनित्य का भेद नहीं कर सकेंगे। पुन, यह माना है कि ऐसा भी ज्ञान है जो भेद के विचार को बाधित करता है। किन्तु यदि इस ज्ञान में भेद स्वय का समावेश होता है तो वह बाध नहीं कर सकता। जो भी कुछ किसी अर्थ को लक्षित करता है वह अर्थ को उससे प्रतिबंधित करके ही ऐसा करता है और ऐसे सभी प्रतिबंधो म भेद का समावेश होता ही है। ज्ञान जो भेद के मिथ्यात्व को सिद्ध करता है (अर्थात् वह भेद नहीं है या यहाँ भेद नहीं है इत्यादि) वह भी भेद की सत्ता सिद्ध करता है। इसके अतिरिक्त यहाँ प्रश्न खडा किया जा सकता है कि जो विचार भेद को बाधित करता है वह स्वय भिन्नत्व से भिन्न है ऐसा ज्ञात होता है या नहीं। पहले प्रसग म विचार की प्रमाणता भेद को दूषित नहीं करती और दूसरे प्रसग म अर्थात यदि वह भिन्नत्व से भिन्न है ऐसा ज्ञात नहीं होता—वह उसम अभिन्न हो जाता है और उसे बाधित नहीं कर सकता।

यदि ऐसा विवाद किया जाता है कि उपरोक्त प्रक्रिया म भेद का पदार्थ के रूप मे केवल परोक्ष रूप से ही प्रतिपादन करने का प्रयत्न किया है और भेद के प्रत्यय के स्पष्टीकरण म कुछ साक्षात् नहीं कहा गया है तो उत्तर यह है कि जिन्होने एकत्व के प्रत्यय को स्पष्ट करने का प्रयास किया है वे अधिक सफल नहीं हुए हैं। यदि ऐसा आग्रह किया जाता है कि यदि आत्यंतिक रूप म एकत्व या तादात्म्य को अन्त म नहीं स्वीकारा जाता तो वह शून्यवाद को लायगा तो उतने ही बलपूर्वक यह भी आग्रह पूर्वक किया जा सकता है कि भेद पदार्थ का प्रकार होने से भेद का निषेध पदार्थ का निषेध होगा और यह भी शून्यवाद को लाएगा। किन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि यद्यपि भेद भिन्न होने वाले पदार्थ का प्रकार मात्र ही है तो भी जिन धर्मों के कारण भेद ज्ञात होता है (मेज कुर्सी से भिन्न है, यहाँ मेज का भिन्नत्व उसका प्रकार ही है, यद्यपि वह कुर्सी के भिन्नत्व के कारण ही समझ म आता है) जिनम भेद प्रकार के रूप में रहता है उन पदार्थों का घटक नहीं है। शंकर अनुयायी द्वैत के खडन म इस तरह मानते हैं कि मानो कि ऐसा खडन ही अद्वैत का प्रतिपादन है। एकत्व का विचार इस प्रकार एक तरफ यद्यपि ऐसे खण्डन पर आश्रित है फिर भी दूसरी तरफ, उससे अभिन्न है क्योंकि ऐसे सभी खण्डन काल्पनिक माने गए है। इसी प्रकार यह आग्रह किया जा सकता है कि भेद की सिद्धि दूसरे पदार्थों के साथ सम्बन्ध को समावेश करती है किन्तु तो भी वह जिस पदार्थ का प्रकार है उससे स्वरूपत अभिन्न है, दूसरे पदार्थ के साथ सम्बन्ध समझने के हेतु से ही आवश्यक है।

यह भी ध्यान रखना चाहिए कि जबकि भेद पदार्थ का प्रकार मात्र ही है इसलिए पदार्थ के ज्ञान का अर्थ आवश्यक रूप से, उसमें विद्यमान सभी भिन्नताओं का ज्ञान है। एक पदार्थ विशेष प्रकार से जाना जा सकता है तो भी वह भेद रूप से अज्ञात भी रह सकता है ठीक जिस प्रकार अद्वैतवादी यह मानते हैं कि शुद्ध चैतन्य सर्वदा प्रकाशित रहता है किन्तु तो भी वह सभी वस्तुओं के एकत्व के रूप में अज्ञात रहता है। दो पदार्थों के बीच के भेद को समझाने के लिए अनवस्था दोष लाने जैसी तार्किक प्राथमिकता आवश्यक नहीं है। किन्तु दोनों एक ही चेतना के विषय होते हैं और एक का ज्ञान दूसरे से भिन्नत्व के रूप में प्रतीत होता है। इसी प्रकार की पृथक्ता अद्वैतवादियों को भी जीव और ब्रह्म की एकता के ज्ञान को समझाने के लिए बतानी चाहिए, नहीं तो, उनके लिए भी अनवस्था के दोष का अभियोग खड़ा हो सकता था। क्योंकि जब कोई कहते हैं ये दो भिन्न हैं उनका द्वैत और भेद उनके भेद के ज्ञान पर आश्रित है जो विद्यमान रहता हुआ उनमें तादात्म्य स्थापित करने से रोकता है। यदि ऐसा माना जाता है कि द्वैत काल्पनिक है और एकत्व सत्य है तो ये दो भिन्न कोटि की सत्ता वाले होने के कारण एक का व्याघात दूसरे का स्वीकृति की ओर अनिवार्यतः नहीं ले जाता। यह याचना करना कि तादात्म्य ज्ञान में दो सापेक्ष पदार्थों का सम्बन्ध आवश्यक नहीं है यह असत्य है क्योंकि तादात्म्य दो वस्तुओं का निषेध करने पर ही ज्ञान होता है।

इस प्रकार उपरोक्त विवेचन से, शंकर मतवादियों का मुख्य सिद्धान्त की सभी वस्तु ब्रह्म से अभिन्न है, असिद्ध होता है।

निम्बार्क के अनुसार मुक्ति का ध्येय ईश्वर के भाव को प्राप्त करना है (तद्-भावापत्ति)। यही जीवन का अंतिम उद्देश्य और प्रयोजन है। शंकर के अनुसार मुक्ति जीव की ब्रह्म से अंतिम एकता या तादात्म्य में है। ब्रह्म वास्तव में जीव से एक है और हमारे व्यावहारिक जीवन में दीखने वाला भेद अज्ञान या मिथ्या अनुभव से है जो हम पर द्वैत का मिथ्या विचार आरोपित करता है। माधव मुकुन्द आग्रह करते हैं कि ऐसे मत के अनुसार, जबकि जीव और ब्रह्म एक ही हैं तो फिर उनके लिए प्राप्त करने को कुछ नहीं रहता। इस प्रकार यहाँ सचमुच उद्देश्य प्राप्ति के प्रयत्न का कोई प्रयोजन नहीं है। माधव मुकुन्द शंकर के मत की निष्फलता दिखाने के लिए कहते हैं कि यदि चरम चैतन्य एक माना जाता है तो वह अनेक जीवों के अनुभव से चित्रित रहेगा। वह भिन्न उपाधियों के कारण भिन्न दिखाई देता है ऐसा नहीं माना जा सकता, क्योंकि हम अपने अनुभव में यह पाते हैं कि यद्यपि नाना इन्द्रियों द्वारा हमें भिन्न अनुभव होते हैं तो भी वे एक ही व्यक्ति के अनुभव हैं ऐसा स्पष्ट अनुभव भी होता है। उपाधियों की भिन्नता होने के कारण वे भिन्न जीवों के अनुभव की इकाईयाँ होने चाहिए यह निश्चय नहीं निकलता जैसाकि शंकर मतवादी मानते हैं।

शुद्ध निर्विशेष चैतन्य को अनेक अन्त करण से तादात्म्य किया जा सकता है यह भी नहीं माना जा सकता। पुन शकर मतवादी यह मानते हैं कि गाढ निद्रा में (अन्त करण) चित्त का लय होता है। यदि ऐसा होता है और यदि शुद्ध निर्विशेष चैतन्य अन्त करण के अध्यास से अपने को व्यक्त कर सकता है तो स्मृति के रूप में चैतन्य की निरन्तरता स्पष्ट नहीं की जा सकती। यह तक नहीं किया जा सकता कि ऐसी निरन्तरता, गाढ निद्रा मे अन्त करण के सस्कार युक्त रहने से बनी रहती है (सस्कारात्मनावस्थितस्य), क्याकि सस्कारावस्थित अन्त करण मे स्मृति नही रह सकती, क्योकि ऐसे प्रसग में गाढ निद्रा म भी स्मृति का होना सिद्ध होगा।

आगे, यदि अनुभव अज्ञानावस्था म होते हैं तो मुक्ति जिसका शुद्ध चैतन्य से ही सम्बन्ध है वह, जो बन्धन म था उस वस्तु से किसी अन्य को लक्ष्य करेगी। दूसरी ओर अनुभव शुद्ध चैतन्य के हैं तो मुक्ति एक साथ भिन्न अनुभव के अनुसार, नाना विध विरोधी अनुभवो से सम्बन्धित नही हो जायगी।

शकर मतवादी आग्रह कर सकते हैं कि उपाधियाँ जो अनुभव उत्पन्न करती हैं, शुद्ध चैतन्य से सम्बन्धित होती हैं और इसलिए परोक्ष रूप से, अनुभव कर्ता और मुक्ति पाने वाले के बीच निरन्तरता है। इस पर उत्तर यह है कि शोक का अनुभव, उपाधियो का पर्याप्त वर्णन है। जब ऐसा है तो जहाँ शोक का अनुभव नही है वहाँ उपाधियाँ, जिनका पर्याप्त वर्णन है वे भी नही हैं। इस प्रकार जो बन्धन का दु ख पाता है और वह जो मुक्ति पाता है उनमें अलगाव बना रहता है।

पुन, जबकि यह माना गया है कि उपाधि शुद्ध चैतन्य के अन्तर्गत है, तो यह भला प्रकार पूछा जा सकता है कि मुक्ति मे एक उपाधि का लय होता है या अनेक का। पहले प्रसग म मुक्ति हमेशा रहेगी क्याकि कोई न कोई उपाधि प्रत्येक क्षण लय होती ही रहती है और दूसरे प्रसग मे मुक्ति होगी ही नही क्योंकि असख्य जीवो के अनुभवो को निश्चित करने वाली सभी उपाधियाँ कभी भी लय नही हो सकती।

यह भी पूछा जा सकता है कि उपाधि शुद्ध चैतन्य से अश रूप से या पूर्ण रूप से सम्बन्धित है। पहले विकल्प म अनवस्था दोष होगा और दूसरे मे शुद्ध चैतन्य का अनेक इकाई म विभाजन हो जाना अस्वीकार्य होगा।

इसके अतिरिक्त यह पूछा जा सकता है कि उपाधियाँ शुद्ध चैतन्य से निरपेक्ष या सापेक्ष रूप से सम्बन्धित हैं। पहले विकल्प मे अनवस्था दोष आयगा और दूसरे से, मुक्ति असम्भव हो जायगी। बिम्बवाद भी इस परिस्थिति का स्पष्टीकरण नही कर सकता क्योकि प्रतिबिम्ब तभी स्वीकार हो सकता है जबकि प्रतिबिम्बित प्रतिमा, पदार्थ की ही कोटि की हो। अविद्या ब्रह्म से दूसरी कोटि की सत्ता की वस्तु है

इसलिए अविद्या मे ब्रह्म का प्रतिबिम्ब न्याययुक्त नही है। पुन, बिम्ब के प्रसग मे जो प्रतिबिम्बित होता है और जिसमें बिम्ब पडता है दोनो भिन्न स्थान पर होने चाहिए जबकि अविद्या और ब्रह्म के प्रसग मे ब्रह्म अविद्या का अधिष्ठान है। उपाधि ब्रह्म के एक भाग म नही रह सकती और न वह उसके पूण भाग मे ही रह सकती है, क्याकि ऐसी अवस्था मे प्रतिबिम्ब असम्भव हो जायगा।

निम्बाक की प्रणाली म, द्वैतवाद एव अद्वैतवादी श्रुति-पाठा को पूण स्थान है, द्वतवादी पाठ जीव और ब्रह्म के भेद को सिद्ध करते हैं और अद्वैतवादी पाठ अतिम उद्देश्य की ओर सूचन करते हैं जिसमे जीव ब्रह्म का अश है और एक है ऐसा अनुभव करते हैं किन्तु शकर की प्रणाली म जहा द्वैतवाद स्वीकार नही किया गया है, गुरु-शिष्य उपदेश को स्थान नही है क्याकि ये सब अज्ञान के अध्यास हैं।

(ख) शकर के मायावाद के विभिन्न पहलुओ का खण्डन

शकर के मायावाद म यह मा यता निहित है कि भ्रम के अधिष्ठान का अपूण या खण्ड ज्ञान होता है। भ्रम मे अज्ञात भाग पर विशिष्ट भासा का अध्यास होता है। वृक्ष का ठूठग्रश रूप म एक लम्बी वस्तु सा दिखाई देता है कि तु ठूठ क रूप मे उसका अय भाग इन्द्रिय का विषय नही होता है इसी भाग के सम्ब ध मे ही भ्रम का आरोपण अर्थात मनुष्य का आरोपण नवय होता है जिसके कारण लम्बा भाग मनुष्य के रूप म दीखता है। कि तु ब्रह्म अखड है और उसमे विभागा की कल्पना ही नही की जा सकती। इसलिए ब्रह्म का पूण रूप से ही ज्ञान होना चाहिए वहा भ्रम का कोई स्थान नहीं रहता। पुन भ्रामक आभास का अथ है कि भ्रम का अध्यास किसी पदाथ पर किया जाना चाहिए। किन्तु अविद्या जो अनादि होने से वह स्वय भ्रम है ऐसा नही माना जा सकता। अनादित्व क दृष्टा त का सहारा लेकर ब्रह्म को भी आभास माना जा सकता है। ब्रह्म अधिष्ठान होने के कारण मिथ्या नहीं हो सकता, यह उत्तर निरथक है क्याकि यद्यपि अधिष्ठान भ्रम का मूल है किन्तु इससे यह निष्कष नही निकलता कि अधिष्ठान सत्य होना चाहिए। अधिष्ठान की स्वतत्र सत्ता है क्याकि वही अज्ञान से सम्बधित है जो भ्रम का आधार बन सकता है, ऐसा आक्षेप व्यथ है क्याकि परम्परागत भ्रम मे जहाँ प्रत्येक अवस्था अविद्या से सम्बधित है वहाँ अधिष्ठान भी असत् हो सकता है। ऐसे मत के अनुसार शुद्ध ब्रह्म अधिष्ठान नहीं बन सकता किन्तु भ्रम युक्त ब्रह्म अज्ञान से सम्बधित रहता है। इसके अतिरिक्त यदि अविद्या और उसके प्रकार सवथा असत् है तो उन पर आरोपण नही हो सकता। जो सचमुच अस्तित्व रखता है उसका कहो अध्यारोपण हो सकता है किन्तु जो है ही नहीं उसका अध्यारोपण किस प्रकार हो सकता है। शश विषाण जैसी तुच्छ वस्तु कभी भी अध्यास का आधार नहीं बन सकती, क्याकि जो नितान्त असत् है वह दीख भी नहीं सकता।

पुन, भ्रम संस्कार व्यापार के कारण होता माना गया है, किन्तु अनादि विश्व-प्रपंच में संस्कार भी अनादि और अधिष्ठान के साथ अस्तित्व रखने वाले मान जाएँगे इसलिए वे सत् होंगे। संस्कार भ्रम से पूर्व अस्तित्व रखने वाले होने चाहिए और इसलिए वे मिथ्या नहीं हो सकते और यदि ये मिथ्या नहीं हैं तो वे सत् हैं। पुन संस्कार ब्रह्म में नहीं रह सकते क्योंकि फिर वह निर्गुण और शुद्ध नहीं रह सकता वे जीव में भी नहीं रह सकते क्योंकि वे भ्रम से ही उत्पन्न होते हैं जो (भ्रम) फिर संस्कार व्यापार से उत्पन्न होते हैं। भ्रम सादृश्य का भ्रम में महान् योग है किन्तु ब्रह्म जो अधिष्ठान है और शुद्ध एवं निर्गुण है वह किसी के सदृश नहीं है। ब्रह्म के ऊपर किसी कल्पित समानता का आरोपण करना भी असम्भव है क्योंकि ऐसे कल्पित अध्यास के पूर्व काल में भ्रम का होना आवश्यक है। पुन, सभी भ्रम का आरम्भ होता है जबकि जो पदार्थ मिथ्या नहीं है जैसे कि जीव वे अनादि काल से पाए जाते हैं। अहंकार भ्रम का अधिष्ठान बनता है यह भी मानना गलत है क्योंकि वह स्वयं भ्रम का कार्य है।

इसके अतिरिक्त यह मान्यता जगत्आभास विश्व भ्रम है जो शुद्ध चैतन्य से आध्यासिक सम्बन्ध से युक्त है, यह अप्रमाण है। किन्तु शंकर मतवादी यह स्वीकारते हैं कि बाह्य जगत् और ज्ञाता के बीच सम्बन्ध चित्तवृत्ति द्वारा होता है। इसके अतिरिक्त यदि शुद्ध चैतन्य अभी है तो वह इसी कारण मिथ्या ज्ञान का आधार नहीं बन सकता। यदि शुद्ध चैतन्य मिथ्या ज्ञान है, तो स्पष्ट ही मिथ्या ज्ञान का आधार नहीं हो सकता। कुछ ज्ञात सम्बन्ध जैसे कि संयोग और समवाय ज्ञेय और ज्ञान के बीच नहीं पाए जाते केवल इसी तथ्य से यह सिद्ध नहीं होता कि उनका सम्बन्ध मिथ्या होना चाहिए क्योंकि उनके बीच अन्य प्रकार के सम्बन्ध हो सकते हैं। ज्ञान और ज्ञेय का एक विशिष्ट प्रकार का सम्बन्ध माना जा सकता है। यह भी सोचना गलत है कि सभी सम्बन्ध मिथ्या हैं वे मिथ्या विश्व के घटक हैं विश्व मिथ्या इसलिए माना जाता है क्योंकि सम्बन्ध मिथ्या है और इस प्रकार अनवस्था दोष उत्पन्न होगा। पुन यदि सम्बन्ध दो वस्तुओं को जोड़ने वाला माना जाता है तो संबंध को सम्बन्धित पदार्थ से जोड़ने के लिए दूसरे सम्बन्ध की आवश्यकता होगी और अनवस्था दोष उत्पन्न होगा यह अग्राह्य तर्क है। यही आपत्ति मिथ्या सम्बन्ध के बारे में भी दिया जा सकता है। यदि ऐसा माना जाता है कि क्योंकि सभी सम्बन्ध मिथ्या हैं इसलिए उपरोक्त खण्डन उपयुक्त नहीं है तो यह बताया जा सकता है कि यदि सम्बन्ध का क्रम उलटा कर दिया जाय तो घट माया कार्य होने के बजाय माया घट का कार्य होगा। इस प्रकार शंकर मतवादियों को ही नहीं किन्तु बौद्धों को भी सम्बन्ध को नियमित क्रम मानना पड़ता है। निम्बार्क मत में सभी सम्बन्धों को सत् माना है क्योंकि वे भगवान् की शक्ति की अभिव्यक्ति के भिन्न प्रकार हैं। सम्बन्ध को अस्वीकार भी किया जाय तो भी ब्रह्म के स्वरूप का यथातथ्य वर्णन नहीं किया जा सकता।

(ग) शंकर-मतवादियों के अज्ञान मत का खण्डन

अज्ञान का अनादि भाव रूप पदार्थ माना है जो ज्ञान द्वारा निवृत्त होता है (अनादि भावत्वे सति ज्ञान निवर्त्यत्वम्)। यह परिभाषा व्यर्थ है क्योंकि यह प्रत्यक्ष होने से पहले साधारण पदार्थ को प्राकृत करने वाले अज्ञान के लिए उपयुक्त नहीं होती। अज्ञान वस्तु के अभाव के लिए भी उपयुक्त नहीं होता क्योंकि वह भाव रूप है। जिन लोगों ने ब्रह्म प्राप्ति की है उनमें वह ब्रह्म प्राप्ति होने पर भी वर्तता है इसलिए अज्ञान, ज्ञान द्वारा नष्ट होता है यह मिथ्या सिद्ध होता है। स्फटिक में प्रतिबिम्ब के कारण लाल रंग का दिखना यह जानते हुए भी कि स्फटिक सफेद है और लाल रंग प्रतिबिम्ब के कारण है बना रहता है। यहाँ भी अज्ञान ज्ञान से निवृत्त नहीं होता। यह भी सोचना गलत है कि अज्ञान जो दोष जनित है उसे अनादि माना जाय। इसके अतिरिक्त, यह बताया जा सकता है कि अभाव को छोड़कर सभी पदार्थ जो अनादि हैं वे भी आत्मा की तरह अनादि हैं और यह एक विचित्र मान्यता है कि अज्ञान एक ऐसी वस्तु है जो अनादि होने पर भी नाशवान् है। पुनः अज्ञान को सत् और असत् दोनों से विलक्षण मानकर भी इसे भाव पदार्थ कहा गया है। यह कल्पना करना भी कठिन है कि जबकि निषेधात्मक पदार्थ अज्ञान के कार्य माने जाते हैं तब स्वयं अज्ञान को भाव पदार्थ माना जाय। इसके अतिरिक्त, मिथ्या या भ्रम जो ज्ञानाभाव जनित है उसे निषेधात्मक पदार्थ मानना पड़ेगा, किन्तु भ्रम होने से उसे अज्ञान का कार्य मानना पड़ेगा।

'मैं अज्ञ हूँ' इस तथाकथित अनुभव में अज्ञान की सत्ता का कोई प्रमाण नहीं है। वह शुद्ध ब्रह्म नहीं हो सकता, क्योंकि तब वह अशुद्ध कहा जायगा। वह भाव रूप ज्ञान भी नहीं हो सकता, क्योंकि यही तो सिद्ध करने का विषय है। आगे यदि अज्ञान का प्रतिपादन करने के लिए हमें ज्ञान का सहारा लेना पड़ता है और यदि ज्ञान का प्रतिपादन करने के लिए अज्ञान का सहारा लेना पड़ता है तो यहाँ दुश्चक्र उपस्थित हो जाता है। वह अहं अर्थ भी नहीं हो सकता क्योंकि वह स्वयं अज्ञान का कार्य है, इसलिए वह अज्ञान के अनुभव का अधिष्ठान नहीं बन सकता। अहं का अज्ञ रूप में अनुभव नहीं हो सकता क्योंकि वह स्वयं अज्ञान का कार्य है। अहं को अज्ञान के समानार्थ कभी नहीं माना जाता और इस प्रकार अज्ञान का भाव रूप से गुण या द्रव्य के रूप में अनुभव किया जाता है इसे सिद्ध करने का कोई साधन नहीं है। अज्ञान इस प्रकार ज्ञानाभाव से अन्य और कुछ नहीं है और शंकर मतवादियों को इसे मानना चाहिए क्योंकि उन्हें 'मैं जो तुम कहते हो उसे नहीं समझता' इस अनुभव की प्रमाणता स्वीकार करनी पड़ती है, जो शंकर मतवादियों द्वारा अन्य प्रसंग पर स्वीकारा गया है और जो ज्ञानाभाव से अन्य कुछ नहीं है। उपरोक्त उदाहरण, ज्ञानाभाव के ऐसे दृष्टान्तों से किसी भी प्रकार से भिन्न है, इसका कोई प्रमाण नहीं है। पुनः यदि

अज्ञान पदार्थ का आवृत करता माना जाता है तो परोक्षवृत्ति के प्रसंग में (शंकर-मतानुसार वृत्ति अज्ञान आवरण को नहीं हटाती) हम यह अनुभव होना चाहिए कि हम ही परोक्षवृत्ति के विषय से अज्ञ हैं क्योंकि तब अज्ञान का आवरण बना रहता है।[1] इसके अतिरिक्त, माने हुए अज्ञान के सभी अनुभव ज्ञानाभाव के ज्ञान के रूप में समझाए जा सकते हैं। उपरोक्त प्रकार से मुकुन्द माधव अज्ञान के वादों की और मत के भिन्न पहलुओं की आलोचना करते हैं। किन्तु विवाद की पद्धति का जो इन तार्किक खण्डनों में उपयोग किया गया है उसका वेंकटनाथ एवं व्यास तीर्थ ने उपयोग किया है उससे तत्वतः भिन्न न होने के कारण हम मुकुन्द माधव के प्रतिपादन को विस्तार से देना आवश्यक नहीं समझते।

माधव मुकुन्द के अनुसार प्रमाण

निम्बार्क के अनुयायी आठ में से केवल तीन प्रमाण (प्रत्यक्ष अनुमान और शब्द) ही मानते हैं। प्रत्यक्ष, अनुमान उपमान, शब्द, अर्थापत्ति अनुपलब्धि, सम्भव अर्थात् छोटे का बड़े में समावेश होना, जैसे दस का सौ में और इतिहास (ऐतिह्य) आठ प्रमाण हैं। प्रत्यक्ष दो प्रकार का है बाह्य और आभ्यन्तर। पांच ज्ञान इन्द्रियों के अनुसार बाह्य पांच प्रकार है। मानस प्रत्यक्ष आभ्यन्तर प्रत्यक्ष भी कहलाता है जो दो प्रकार का है लौकिक और अलौकिक। सुख दुःख का प्रत्यक्ष सामान्य लौकिक प्रत्यक्ष का उदाहरण है जबकि आत्मा का स्वरूप ईश्वर और उनके गुण पर आभ्यन्तर प्रत्यक्ष के उदाहरण हैं। पर आभ्यन्तर प्रत्यक्ष पुनः दो प्रकार का है, एक जो वस्तु के ध्यान करने से प्रकाशित होता है और दूसरा जो श्रुति वाक्यों पर ध्यान करने से होता है। श्रुति कहती है कि परम सत्य मन से अनुभव नहीं होता या इसका अर्थ या तो यह होता है कि परम सत्य मन से अनुभव नहीं होता इसका अर्थ या तो यह होता है कि परम सत्य अपनी समग्रता में मन द्वारा प्रत्यक्ष नहीं है या गुरु द्वारा सिखाए बिना या योग्य संस्कार उत्पन्न हुए बिना परम सत्ता का ज्ञान नहीं हो सकता। ज्ञान जीव का अनादि नित्य सर्वव्यापी धर्म है। किन्तु हमारी बद्धावस्था में यह ढके हुए दीप की रश्मि की तरह संकुचित रूप में है। जिस प्रकार घड़े में छिपे हुए दीए की रश्मि छेद पार करके कमरे में जा सकती है और कमरे के दरवाजे से बाहर जाकर किसी पदार्थ को प्रकाशित कर सकती है उसी प्रकार ज्ञान भी प्रत्येक जीव में चित्त वृत्ति द्वारा इन्द्रियों तक पहुँचकर फिर उनकी वृत्ति द्वारा विषय तक पहुँचता है और उन्हें प्रकाशित करके ज्ञान और विषय दोनों को प्रकाशित करता है।

---

[1] परोक्षवृत्तेर्विषयावरका ज्ञान निवर्तकत्वेन परोक्षतो नातऽपि न जानामि त्वनुभवा-पाताच्च। —परपक्षगिरिवज्र पृ० ७६।

अज्ञान जो विषय के ज्ञान से नष्ट होता है वह संकुचित अवस्था का आंशिक अंत है जो ज्ञान को प्रकाशित करता है। ज्ञान का अर्थ इस कथन में यह है कि ज्ञान विशिष्ट आकार लेकर उसे प्रकाशित करता है। विषय जैसे हैं वैसे ही रहते हैं किंतु वे ज्ञान के संयोग से प्रकट होते हैं और उसके बिना अप्रकट रहते। आभ्यान्तर प्रत्यक्ष के प्रसंग में इन्द्रियों के व्यापार की आवश्यकता नहीं रहती, इसलिए सुख और दुःख का मन को साक्षात् अनुभव होता है। आत्मचेतना और आत्म अनुभव में, आत्मा स्वयं स्वप्रकाश्य होने से, आत्मा की दिशा में जाने वाली वृत्तियाँ, संकुचित अवस्था को हटाती हैं और आत्मा के स्वरूप को प्रकट करती हैं। इस प्रकार ईश्वर का अनुभव उनकी कृपा से और चित्त की ध्यानावस्था द्वारा अवरोधों को हटाने से हो सकता है।[1]

अनुमान में पक्ष में हेतु के, ज्ञान को, जिसकी साध्य से व्याप्ति है जो दूसरे शब्दों में परामर्श कहलाता है, (वह्नि व्याप्य धूमवानयम् एवं रूप) अनुमान कहा है और इससे ज्ञान होता है (पर्वत में आग लगी है)। अनुमान दो प्रकार के हैं, स्वार्थानुमान और परार्थानुमान दूसरे में तीन ही अवयवों की (प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण) की आवश्यकता मानी है। तीन प्रकार के अनुमान केवलान्वयी, केवल व्यतिरेकी और अन्वय व्यतिरेकी माने जाते हैं। इन तीन प्रकार के अनुमानों से उत्पन्न व्याप्ति के अतिरिक्त, श्रुति को भी व्याप्ति का प्रकार माना है। इस प्रकार का श्रुति वाक्य है कि आत्मा अविनाशी और अपने धर्म से कभी रहित नहीं होता (अविनाशी वारे आत्मा अनुच्छित्तिधर्मा) इसे व्याप्ति माना है जिससे ब्रह्म जैसे आत्मा का अविनाशीपन अनुमित किया जा सकता है।[2] निम्बार्क के अनुमान के विषय के अन्य कोई महत्व पूर्ण अंग नहीं है।

सादृश्यता का ज्ञान उपमान के पृथक् अनुमान से होता है ऐसा माना है। सादृश्यता का ऐसा ज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा या श्रुति द्वारा हो सकता है। एक पुरुष चन्द्र और मुख में सादृश्यता देखे या वह श्रुति से आत्मा का ईश्वर के स्वरूप से सादृश्य और इस सादृश्यता से वह इसे समझ सकता है। इसे अनुमान के दृष्टान्तों में समावेश किया जा सकता है। (उपमानस्य दृष्टान्त मात्रक विग्रहत्वेनानुमानावयवे उदाहरणे अन्तर्भाव। परपक्षगिरिवज्र पृ० २५४)।

जिससे किसी के अभाव का ज्ञान होता है उसे अनुपलब्धि प्रमाण माना है। यह चार प्रकार की है, प्रागभाव, अन्योन्याभाव ध्वंसाभाव, और अत्यंताभाव (कालत्रयेऽपि नास्तीति प्रतीति विषय अत्यंता भाव)। किंतु अभाव या अनुपलब्धि को एक पृथक् प्रमाण के रूप में मानना आवश्यक नहीं है क्योंकि निम्बार्क मत के

---

[1] परपक्षगिरिवज्र पृ० २०३ २०६।

[2] परपक्षगिरिवज्र, पृ० २१०।

अनुसार अभाव या अनुपलब्धि को एक पृथक प्रमाण नहीं माना गया है। अभाव का ज्ञान पदार्थ के प्रतियोगी को, जिससे उसका सयोग नहीं है प्रत्यक्ष अनुभव करने के सिवाय और कुछ नहीं है। घडे का प्रागभाव मृत्पिण्ड मात्र है घडे के विनाश का अभाव घडे के टुकडे हैं। अन्या याभाव वह पदार्थ है जा दूसरे से भिन्न अनुभव किया जाता है, और अत्यन्ताभाव अभाव का प्रतियोगी मात्र है। इस प्रकार अभाव प्रमाण को प्रत्यक्ष के अन्तर्गत समाविष्ट किया जा सकता है। अर्थापत्ति को अनुमान का ही एक प्रकार कहा जा सकता है। सम्भव को आगमन का ही एक प्रकार माना जा सकता है।

निम्बार्क सम्प्रदाय में, शकर मत के अनुसार ही स्वत प्रामाण्यवाद माना गया है। दोष के न रहने पर प्रमा उत्पन्न करने वाली सामग्री विषय का जसा है वैसा ज्ञान कराती है इसे निम्बार्क मत मे स्वतस्त्व कहा है अर्थात् उपरोक्त स्वत प्रामाण्यवाद की परिभाषा है। (दोषाभावत्वे यावत्स्वाश्रय भूत प्रमाग्राहक सामग्रीमात्र ग्राह्यत्वम्)।[1] जिस प्रकार नेत्र रगीन पदार्थ देखते समय उस पदार्थ के रूप और आकार को भी देखते हैं इसलिए वे पदार्थ के ज्ञान के साथ उसकी प्रमाणता भी ग्रहण करते हैं।

भगवान् के स्वरूप का वर्णन तो, केवल श्रुति द्वारा ही हो सकता है क्योंकि श्रुतियो की शक्ति सीधे ईश्वर से ही उत्पन्न होती है। जीवो की शक्ति निस्सदेह ईश्वर से ही प्राप्त है, किन्तु वे ईश्वर का बोध नही करा सकतीं क्योंकि वे जीव के अपूर्ण मन से दूषित होती हैं। मीमासक यह सोचने मे गलती करते हैं कि वेद के सभी पाठो का अर्थ धार्मिक कर्मकाड है, क्योंकि सभी कर्मों का अन्तिम निष्कर्ष ब्रह्म-जिज्ञासा मे पूर्ण होता है और इसके द्वारा मुक्ति की योग्यता उत्पन्न होती है। इस प्रकार इस दृष्टि से सभी कर्मों के पालन का उद्देश्य मुक्ति प्राप्ति है।[2] जिसने ब्रह्म प्राप्ति कर ली है, उसके लिए धर्म पालन आवश्यक नहीं रहता, क्योंकि सभी कर्मों का यही अन्तिम फल है और बुद्धिमान पुरुष को कर्म करके और अन्य कुछ भी प्राप्त करना शेष नही रहता। जिस प्रकार भिन्न प्रकार के बीज बोए जाने भी पर यदि पानी न बरसे तो वे भिन्न प्रकार के वृक्ष उत्पन्न नही करेंगे, उसी प्रकार कर्म अपने आप फल नही दे सकते। ईश्वर की कृपा से ही कर्म अपना निर्दिष्ट फल देते हैं। इसलिए नमित्तिक कर्म चित्त शुद्धि मे सहायक हैं, उन्हे स्वतन्त्र रूप से अन्तिम ध्येय नहीं माना जा सकता जो जिज्ञासा उत्पन्न करने तथा ईश्वर से अन्तिम एकता प्राप्त करने का रहा है।

---

[1] परपक्षगिरिवज्र पृ० २५३।

[2] वही पृ० २७६-२८०।

रामानुज और भास्कर के मतों की आलोचना

रामानुज और उनके अनुयायियों का यह मानना है कि जीव और जड जगत् भगवान के गुण है। विशेषण का काम एक पदार्थ को उसके जैसे दूसरे पदार्थ से भिन्न करना है। इस प्रकार, जब कोई कहता है 'राम दशरथ का पुत्र है' तब दशरथ पुत्र का बलराम और परशुराम से भेद स्पष्ट हो जाता है। किंतु जीव और जड-जगत् को ब्रह्म का विशेषण कहने से कोई हेतु सिद्ध नही होता, क्योंकि वे ब्रह्म का अपने जैसे अन्य पुरुषों से भेद नही करते, क्योंकि रामानुज मतवादी भी जीव, जड जगत् और दोनो के अन्तर्यामी ईश्वर के अतिरिक्त अन्य पदार्थ नहीं स्वीकारते। जब भेद करने के लिए कुछ नही है तब जीव और जड का प्रत्यय असाधारण धर्म के रूप में भी व्यर्थ हो जाता है। विशेषण का दूसरा कार्य पदार्थ को ठीक तरह समझने मे सहायता करना है। जीव और जड का ब्रह्म के गुण के रूप मे ज्ञान हमें ब्रह्म को और अच्छी तरह समझने मे सहायक नही हैं।

पुन, यदि ब्रह्म, जीव और जड से सम्बन्धित है तो वह उनके दोषो से भी सम्बन्धित होना चाहिए। यह तर्क किया जा सकता है कि ब्रह्म जिसमे जीव और जड रहते है वह स्वयं विशेषित है या नही। पहले विकल्प के अनुसार, रामानुज मतवादियों को शंकर के अनुयायियों की तरह निर्गुण सत्ता को स्वीकारना पडता है और ब्रह्म मे एक अंश ऐसा भी मानना पडता है जिसका निर्गुण सत्ता के रूप मे अस्तित्व है। यदि ब्रह्म, अंश रूप से सगुण और अंश रूप से निर्गुण है तो वह अपने कुछ अंशो मे ही सर्वज्ञ होगा। यदि शुद्ध असंग ब्रह्म सर्वज्ञ माना जाता है तो एक ब्रह्म सर्वज्ञता और अन्य गुणो से सम्बन्धित होगा और दूसरा ब्रह्म जीव और जड से सम्बन्धित होगा और इस प्रकार अद्वैतवाद खण्डित हो जायगा। शुद्ध ब्रह्म जीव और जड के बाहर होने से, वे दोनों नियन्ता के बिना रहेंगे और ब्रह्म से स्वतंत्र होंगे। इसके अतिरिक्त इस मत के अनुसार ब्रह्म कुछ अंश मे उत्तम एवं शुद्ध गुणो से युक्त होगा और दूसरे अंशो मे भौतिक जगत् एवं अपूर्ण जीवों के दूषित गुणों से युक्त होगा। दूसरे विकल्प के अनुसार, अर्थात्, जड और जीव विशिष्ट ब्रह्म ही परम सत्ता है तो यहाँ एक नही किन्तु दो भिन्न मिश्र तत्वों का समावेश होता है और ब्रह्म पहले की तरह दो विरुद्ध, शुद्ध और अशुद्ध गुणों से युक्त होगा। पुन यदि ब्रह्म को सग्रथित इकाई माना जाता है और यदि जड और जीव जो आपस मे परिच्छिन्न और भिन्न है व यद्यपि ब्रह्म मे भिन्न होते हुए भी उसके अंग माने जाते हैं तो इस परिस्थिति मे यह कैसे सोचा जा सकता है कि ये अंग ब्रह्म से, अभिन्न होने पर भी भिन्न हो सकते हैं।[1]

---

[1] परपक्ष गिरि वज्र पृ० ३४२।

निम्बार्क के मत मे श्रीकृष्ण ही ईश्वर या परम ब्रह्म हैं वे जीव और जड जगत् को धारण करते हैं जो उसके अंग हैं और पूर्ण रूप मे उससे नियन्त्रित हैं। इसलिए उनकी परतन्त्र सत्ता है। परतन्त्र सत्ता दो प्रकार की होती है, जीव, जाकि जन्म मरण में आते दीखते हैं अपनी प्रकृति में नित्य हैं और अनित्य, जड द्रव्य जिससे शरीर निर्माण होता है उसके अधिष्ठान है। श्रुति जिस द्वैत का वर्णन करती हैं वह यह द्वैत सबध, परम द्रव्य ब्रह्म, जो केवल पूर्ण स्वतन्त्र है तथा जीव और जड जिनकी परतन्त्र सत्ता है, इनके बीच का है। श्रुति, जो द्वैत को अस्वीकार करती है, परम द्रव्य को लक्ष्य करती है जो स्वतन्त्र है और सभी सत्ता का सामान्य आधार भी है। श्रुति ब्रह्म को नेति नेति कहकर वर्णन करती है वह यह सूचित करती है कि ब्रह्म किस प्रकार सभी वस्तुओं से भिन्न है या दूसरे शब्दों में यो कहती है कि किस प्रकार ब्रह्म जड और जीव से भिन्न है जो भौतिक उपाधियो से मर्यादित है।[1] ब्रह्म इस प्रकार परम सत्ता है सभी उत्तम और श्रेष्ठ गुणो का आधार है और अन्य सभी परतन्त्र वस्तुओ से भिन्न है। अद्वैतवादी ग्रन्थ उपरोक्त तथ्य को लक्ष्य करते हैं कि जड जगत् और असत्य जीव तो परतन्त्र हैं वे ब्रह्म से पृथक सत्ता नहीं रख सकते और इसी अर्थ मे वे इससे एक हैं। उनकी सत्ता ब्रह्मात्मभाव में है और उससे पूरी तरह से व्याप्त है (तद्व्याप्यत्व) और उसी से आधारित हैं और उसी मे उनका वास है तथा उससे पूर्णतया नियन्त्रित हैं।[2] जिस प्रकार सभी पदार्थ घडे, पत्थर इत्यादि मे द्रव्य होने के कारण द्रव्यत्व रूप से व्याप्त हैं उसी प्रकार जीव और जड ईश्वर से व्याप्त होने के कारण ईश्वर कहे जा सकते हैं। किन्तु जिस प्रकार इनमें से वास्तव मे, कोई भी द्रव्य नही माना जा सकता इसी प्रकार जीव और जड को ईश्वर से अभिन्न नही कहा जा सकता।[3]

---

[1] वस्तुतस्तु नेति नेतीति नञ्भ्या प्रकृत स्थूल सूक्ष्मत्वादि धर्मवत् जड वस्तु तदवच्छिन्न जीववस्तु विलक्षण ब्रह्मेति प्रतिपाद्यते।

—परपक्षगिरिवज्र, पृ० ३४७।

[2] तयोश्च ब्रह्मात्मकत्व तन्नियम्यत्व तद्व्याप्यत्व तदभिन्नसत्व तदाधेयत्वा दियोगेन तदपृथकसिद्धित्वात् अभेदोऽपि स्वाभाविक।

—वही, पृ० ३५५।

[3] यथा घटो द्रव्य पृथ्वी द्रव्यमित्यादो द्रव्यत्वावच्छिन्नेन सह घटत्वा वच्छिन्न-पृथिवीत्वा वच्छिन्नयो सामानाधिकरण्य मुख्यमेव विशेषस्य सामान्याभिन्नत्व नियमात् एव प्रकृतेऽपि सावज्ञाद्यन ताचिन्त्या परिमितविशेषा वच्छि नेनापरिच्छिन्न शक्ति विभूतिकेन सत्पदार्थेन पर ब्रह्मणा स्वात्मक चेतन चेतनत्वावच्छिन्नयोस्त दात्मरूपयोस्त्वमादि पदार्थयो सामानाधिकरण्य मुख्यमेव।

—परपक्षगिरिवज्र, पृ० ३५५-५६।

भास्कर के अनुयायी भी जीव को मिथ्या मानने म गलती करते हैं क्योंकि वे शुद्ध ब्रह्म पर मिथ्या उपाधि के आरोपण से मिथ्या दीखते है। तथाकथित उपाधियों का ब्रह्म पर आरोपण नही समझा जा सकता है। इसका अर्थ भी यह हो सकता है कि अणु रूप जीव ब्रह्म पर उपाधि के आरोपण के कारण है जिसके कारण पूर्ण ब्रह्म भी स्वय जीव रूप से दीखता है या जिससे ब्रह्म विभाजित हो जाता है और इसी विभाजन के कारण अनक जीव रूप दीखता है, या ब्रह्म इन उपाधियो से विशिष्ट हो जाता है या उपाधियाँ स्वय जीव रूप दीखती ह। ब्रह्म एकरस और अखड होने के कारण विभाजित नही हो सकता। यदि वह विभाजित भी हो जाय तो जीव इस विभाजन से उत्पन्न होने के कारण कालगत होगे और इसलिए नित्य न होगे और यह मानना पडेगा कि इस मत के अनुसार जितने जीव है उतने भागो म ब्रह्म को विभाजित होना पडेगा। यदि यह माना जाता है कि उपाधियुक्त ब्रह्म के अश ही जीव दीखते हैं तो ब्रह्म उन उपाधियो से दोषयुक्त हो जायगा और वह अश बनकर जीव को उत्पन्न करेगा। इसके अतिरिक्त, उपाधियो के स्वरूप म परिवर्तन होते रहने के कारण जीवो का स्वरूप भी परिवर्तित होता रहेगा और इस प्रकार वे सहज ही बन्धन और मुक्ति पाते रहेंगे।[1] यदि उपाधि के परिवर्तन से ब्रह्म म भी परिवर्तन होता है तो ब्रह्म अखड और सर्व यापी न रहेगा। यदि ऐसा माना जाता है कि ब्रह्म पूर्णतया उपाधि ग्रस्त हो जाता है तो एक ओर शुद्ध परब्रह्म न रहेगा और दूसरी ओर, सभी शरीर म एक ही आत्मा रहेगी। पुन, यदि जीव ब्रह्म से सर्वथा भिन्न माने जाते हैं, तो फिर वे ब्रह्म के उपाधिग्रस्त होने के कारण उत्पन्न होते हैं यह कथन त्याग देना पडेगा। यदि ऐसा माना जाता है कि उपाधियाँ स्वय जीव या आत्मा हैं तो यह चार्वाक जसा भौतिकवाद हो जाता है। पुन यह नहीं माना जा सकता कि उपाधियाँ केवल ब्रह्म के नैसर्गिक गुणो को आवृत करती हैं, जैसाकि सर्वज्ञता इत्यादि परन्तु ये स्वाभाविक गुण होने के कारण हटाई नही जा सकती। एक दूसरा प्रश्न खडा हो सकता है कि ये स्वाभाविक गुण ब्रह्म से भिन्न हैं या नही या भेद मे अभेद रूप हैं। वे ब्रह्म से सर्वथा भिन्न नही हो सकते क्योंकि यह मानने से द्वैत आ पडता है। वे ब्रह्म से अभिन्न भी नही हो सकते क्योंकि तब वे ब्रह्म के गुण नही माने जा सकेंगे। यदि वे अपना ही स्वरूप हैं तो आवृत नही किए जा सकते, क्योंकि ऐसे प्रसग मे ब्रह्म की सर्वज्ञता का अन्त हो जायगा। यदि ऐसा माना जाता है कि वे भेद मे अभेद रूप हैं तो यह निम्बार्क मत को मानना होगा।

---

[1] किंच उपाधौ गच्छति सति उपाधिना स्वावच्छिन्न ब्रह्म प्रदेशाकर्षणा योगात् अनुक्षणमुपाधि सयुक्त प्रदेशभेदात् क्षणे क्षणे बध मोक्षौ स्याताम्।

—परपक्षगिरिवज्र पृ० ३५७।

निम्बार्क के मत मे श्रीकृष्ण ही ईश्वर या परम ब्रह्म हैं वे जीव और जड जगत् को धारण करते हैं जो उसके अंग हैं और पूर्ण रूप से उससे नियन्त्रित हैं। इसलिए उनकी परतन्त्र सत्ता है। परतन्त्र सत्ता दो प्रकार की होती है, जीव, जोकि जन्म मरण में आते दीखते हैं अपनी प्रकृति में नित्य हैं और अनित्य, जड द्रव्य जिससे शरीर निर्माण होता है उसके अधिष्ठान है। श्रुति जिस द्वैत का वर्णन करती हैं वह यह द्वैत सबध, परम द्रव्य ब्रह्म, जो केवल पूर्ण स्वतन्त्र है तथा जीव और जड जिनकी परतन्त्र सत्ता है, इनके बीच का है। श्रुति, जो द्वैत को अस्वीकार करती है, परम द्रव्य को लक्ष्य करती है जो स्वतन्त्र है और सभी सत्ता का सामान्य आधार भी है। श्रुति ब्रह्म को नेति नेति' कहकर वर्णन करती है वह यह सूचित करती है कि ब्रह्म किस प्रकार सभी वस्तुओं से भिन्न है या दूसरे शब्दों में यों कहती है कि किस प्रकार ब्रह्म जड और जीव से भिन्न है जो भौतिक उपाधियों से मर्यादित है।[1] ब्रह्म इस प्रकार परम सत्ता है सभी उत्तम और श्रेष्ठ गुणों का आधार है और अन्य सभी परतन्त्र वस्तुओं से भिन्न है। अद्वैतवादी ग्रन्थ उपरोक्त तथ्य को लक्ष्य करते हैं कि जड जगत् और असंख्य जीव तो परतन्त्र हैं वे ब्रह्म से पृथक सत्ता नहीं रख सकते और इसी अर्थ में वे इससे एक हैं। उनकी सत्ता ब्रह्मात्मभाव मे है और उससे पूरी तरह से व्याप्त है (तद्व्याप्यत्व) और उसी से आधारित हैं और उसी मे उनका वास है तथा उससे पूर्णतया नियन्त्रित हैं।[2] जिस प्रकार सभी पदार्थ घड़े पत्थर इत्यादि मे द्रव्य होने के कारण द्रव्यत्व रूप से व्याप्त हैं उसी प्रकार जीव और जड ईश्वर से व्याप्त होने के कारण ईश्वर कहे जा सकते हैं। किन्तु जिस प्रकार इनमें से वास्तव मे, कोई भी द्रव्य नहीं माना जा सकता, इसी प्रकार जीव और जड को ईश्वर से अभिन्न नहीं कहा जा सकता।[3]

---

[1] वस्तुतस्तु नेति नेतीति नञ्भ्यां प्रकृत स्थूल सूक्ष्मत्वादि धर्मवत् जड वस्तु तदवच्छिन्न जीववस्तु विलक्षणं ब्रह्मेति प्रतिपाद्यते।

—परपक्षगिरिवज्र, पृ० ३४७।

[2] तयोश्च ब्रह्मात्मकत्व तन्नियम्यत्व तद् व्याप्यत्व तदभिन्नसत्व तदाधेयत्वा दियोगेन तदपृथकसिद्धित्वात् अभेदोऽपि स्वाभाविक।

—वही, पृ० ३५५।

[3] यथा घटो द्रव्य पृथ्वी द्रव्यमित्यादौ द्रव्यत्वावच्छिन्नेन सह घटत्वा वच्छिन्न पृथिवीत्वा वच्छिन्नयो सामानाधिकरण्य मुख्यमेव विशेषस्य सामान्याभिन्नत्व-नियमात् एव प्रकृतेऽपि सावनाद्यनन्ताचिन्त्या-परिमितविशेषा वच्छिन्नेनापरिच्छिन्न शक्ति विभूतिकेन सत्पदार्थेन पर ब्रह्मणा स्वात्मक चेतन चेतनत्वावच्छिन्नयोस्त दात्मरूपयोस्त्वमादि पदार्थयो सामानाधिकरण्य मुख्यमेव।

—परपक्षगिरिवज्र पृ० ३५५-५६।

भास्कर के अनुयायी भी जीव को मिथ्या मानने में गलती करते हैं क्योंकि वे शुद्ध ब्रह्म पर मिथ्या उपाधि के आरोपण से मिथ्या दीखते हैं। तथाकथित उपाधियों का ब्रह्म पर आरोपण नहीं समझा जा सकता है। इसका अर्थ भी यह हो सकता है कि अणु रूप जीव ब्रह्म पर उपाधि के आरोपण के कारण है जिसके कारण पूर्ण ब्रह्म भी स्वयं जीव रूप से दीखता है या जिससे ब्रह्म विभाजित हो जाता है और इसी विभाजन के कारण अनेक जीव रूप दीखता है, या ब्रह्म इन उपाधियों से विशिष्ट हो जाता है या उपाधियाँ स्वयं जीव रूप दीखती हैं। ब्रह्म एकरस और अखंड होने के कारण विभाजित नहीं हो सकता। यदि वह विभाजित भी हो जाय तो जीव इस विभाजन से उत्पन्न होने के कारण कालगत होंगे और इसलिए नित्य न होंगे, और यह मानना पड़ेगा कि इस मत के अनुसार जितने जीव हैं उतने भागों में ब्रह्म को विभाजित होना पड़ेगा। यदि यह माना जाता है कि उपाधियुक्त ब्रह्म के अंश ही जीव दीखते हैं तो ब्रह्म उन उपाधियों से दोषयुक्त हो जायगा और वह अंश बनकर जीव का उत्पन्न करेगा। इसके अतिरिक्त उपाधियों के स्वरूप में परिवर्तन होते रहने के कारण, जीवों का स्वरूप भी परिवर्तित होता रहेगा और इस प्रकार वे सहज ही बन्धन और मुक्ति पाते रहेंगे।[1] यदि उपाधि के परिवर्तन से ब्रह्म में भी परिवर्तन होता है तो ब्रह्म अखंड और सर्वव्यापी न रहेगा। यदि ऐसा माना जाता है कि ब्रह्म पूर्णतया उपाधि ग्रस्त हो जाता है, तो एक ओर शुद्ध परब्रह्म न रहेगा, और दूसरी ओर सभी शरीर में एक ही आत्मा रहेगी। पुन, यदि जीव ब्रह्म से सर्वथा भिन्न माने जाते हैं, तो फिर वे ब्रह्म के उपाधिग्रस्त होने के कारण उत्पन्न होते हैं यह कथन त्याग देना पड़ेगा। यदि ऐसा माना जाता है कि उपाधियाँ स्वयं जीव या आत्मा हैं, तो यह चार्वाक जैसा भौतिकवाद हो जाता है। पुन यह नहीं माना जा सकता कि उपाधियाँ केवल ब्रह्म के नैसर्गिक गुणों को आवृत करती हैं जैसाकि सर्वज्ञता इत्यादि परन्तु ये स्वाभाविक गुण होने के कारण हटाई नहीं जा सकतीं। एक दूसरा प्रश्न खड़ा हो सकता है कि ये स्वाभाविक गुण ब्रह्म से भिन्न हैं या नहीं या भेद में अभेद रूप हैं। वे ब्रह्म से सर्वथा भिन्न नहीं हो सकते, क्योंकि यह मानने से द्वैत आ पड़ता है। वे ब्रह्म से अभिन्न भी नहीं हो सकते क्योंकि तब वे ब्रह्म के गुण नहीं माने जा सकेंगे। यदि वे अपना ही स्वरूप हैं तो आवृत नहीं किए जा सकते, क्योंकि ऐसे प्रसंग में ब्रह्म की सर्वज्ञता का अन्त हो जायगा। यदि ऐसा माना जाता है कि वे भेद में अभेद रूप हैं तो यह निम्बार्क मत को मानना होगा।

---

[1] किंच उपाधौ गच्छति सति उपाधिना स्वावच्छिन्न ब्रह्म प्रदेशाकर्षणा योगात् अनुक्षणमुपाधि संयुक्त प्रदेशभेदात् क्षणे क्षणे बंध मोक्षौ स्याताम्।

—परपक्षगिरिवज्र पृ० २५७।

पुन, यदि ऐसा माना जाता है कि सर्वज्ञता इत्यादि स्वाभाविक गुण भी उपाधि के कारण हैं तो यह पूछा जा सकता है कि ये उपाधियाँ ब्रह्म से भिन्न हैं या अभिन्न। दूसरे (पिछले) विकल्प के अनुसार उनमें ब्रह्म में नानात्व उत्पन्न करने की शक्ति न होगी। पहले विकल्प के अनुसार, यह पूछा जा सकता है कि वे अपने से कार्यान्वित होते हैं या किसी अन्य कारण या ब्रह्म से कार्यान्वित होते हैं। पहले मत के अनुसार यह स्वगतिवाद की आलोचना का ग्रास होगा, दूसरा हमें अनवस्था दोष की ओर ले जायगा और तीसरा आत्माश्रय की स्थिति को पहुँचायगा। इसके अतिरिक्त, इस मत में, ब्रह्म नित्य होने से, उसकी गति भी नित्य होगी और उपाधियों के नाश का अन्त कभी भी न आयगा इस प्रकार मुक्ति अशक्य हो जायगी। उपाधियों का मिथ्या असत् या तुच्छ नहीं माना जा सकता, क्योंकि तब यह निम्बार्क मत के मानने के बराबर हो जायगा।[1]

यह आगे पूछा जा सकता है कि उपाधियाँ किसी कारणवशात् आरोपित होती हैं या अकारण ही। पहले विकल्प में अनवस्था दोष आता है और दूसरे में मुक्त पुरुष भी फिर बद्ध हो सकता है। पुन, यह पूछा जा सकता है कि सर्वज्ञता इत्यादि गुण जो ब्रह्म में हैं वे ब्रह्म को पूर्ण रूप से व्याप्त करते हैं या उसके कुछ अंश को। पहले मतानुसार, यदि गुण ब्रह्म को पूर्णतया व्याप्त करते हैं तो मुक्ति असम्भव है और चेतना का सारा क्षेत्र अज्ञान आवृत होने के कारण पूर्ण अंधकार का प्रसंग उपस्थित होगा (जगदान्ध्य प्रसंग)। दूसरे मतानुसार, सर्वज्ञता केवल ब्रह्म का एक ही गुण या एकांशिक होने से ब्रह्म के पूर्णत्व का अन्त होता है।

भास्कर के मत का अनुसरण करते हुए यह पूछा जा सकता है कि मुक्त जीवों की पृथक् सत्ता है या नहीं। यदि पहला विकल्प माना जाता है और यदि उपाधियों का नाश होने पर भी जीव अपनी पृथक् सत्ता रखते हैं तो फिर भेद उपाधि द्वारा जनित हैं यह मत त्याग देना पड़ेगा (औपाधिक भेद वादो दत्त जलांजलि स्यात्)। यदि जीवों की पृथक्ता मुक्तावस्था में बनाई नहीं रखी जा सकती, जो उनके स्वरूप का नाश होता है और यह शंकरानुयायियों के मायावाद मानने के बराबर होगा, जो यह मानते हैं कि ईश्वर और जीव के मुख्य गुण नाशवान् हैं।

यह मानना गलत है कि जीव ब्रह्म के अंश मात्र हैं क्योंकि इस प्रसंग में अंश से बना होने के कारण ब्रह्म स्वयं नाशवान् होगा। जब श्रुति जगत् और जीव को ब्रह्म का अंश कहती है तो उसके कहने का बल ब्रह्म अनन्त है और जगत् उसकी तुलना में कहीं छोटा है इस बात पर है। यह भी कल्पना करना कठिन है कि अन्तःकरण ब्रह्म के स्वरूप को मर्यादित करने में किस प्रकार कार्य कर सकता है। ब्रह्म किस प्रकार

---

[1] परपक्षगिरिवज्र, पृ० ३५८।

इन उपाधियों का अपना स्वरूप दूषित करने देता है। ब्रह्म ने इन जीवों को उत्पन्न करने के लिए इन उपाधियों को नहीं बनाया है, क्योंकि जीव, उपाधियों के पहले अस्तित्व में नहीं थे। इस प्रकार ब्रह्म भेदाभेदवाद का सिद्धान्त जो उपाधियों के कारण माना गया है (औपाधिक भेदाभेदवाद) सर्वथा गलत है।

निम्बार्क के मतानुसार इसलिए, ब्रह्म और जीव के बीच भेद और अभेद स्वाभाविक है और जैसा भास्कर सोचते हैं वैसा औपाधिक नहीं है। सर्प का कुण्डलाकार उसके लम्बे आकार से भिन्न है जो उसका स्वरूप है, कुण्डल का सर्प से कोई पृथक अस्तित्व नहीं है। कुण्डलाकार का सर्प के स्वाभाविक स्वरूप में वास है ही। किन्तु वहाँ यह अपृथक है अदृश्य है और सर्प ही है जिससे वह आश्रित और संपूर्णतः व्याप्त है। इस प्रकार जीव और जगत् एक दृष्टि से ब्रह्म से पूर्णतया अभिन्न हैं, क्योंकि वह उनका आधार है और उसमें पूर्णतया व्याप्त है, और उस पर आश्रित है फिर भी दूसरी दृष्टि से ब्रह्म से, दृश्य रूप और व्यापार रूप से भिन्न है।[1] दूसरा दृष्टान्त जिसके सहारे निम्बार्कमतानुयायी अपनी बात स्पष्ट करना चाहते हैं वह है सूर्य और उसकी किरणों का दृष्टान्त। किरणें एक ओर सूर्य से अभिन्न हैं, फिर भी वे भिन्न रूप से प्रत्यक्ष का विषय होती हैं।

इस मत का रामानुज से यह भेद है कि जबकि रामानुज जीव और जड को ब्रह्म को विशिष्ट करते हुए मानते हैं और इस अर्थ में वे उससे अभिन्न हैं, निम्बार्क मतवादी जड और जीव द्वारा ब्रह्म के स्वरूप के नित्य विकार के प्रसंग को अस्वीकार करते हैं।

जगत् की सत्ता

शंकर मतवादी मानते हैं कि यदि जगत् जो कार्य रूप होने से सत् होगा तो उसका ब्रह्म ज्ञान होने पर निरास न किया जा सकेगा, यदि वह तुच्छ है तो वह प्रत्यक्ष नहीं दीखेगा। किन्तु जगत् हमें प्रत्यक्ष दीखता है और उसका बोध भी होता है इसलिए वह अनिर्वचनीय है यह कहने का अर्थ यही होता है कि वह मिथ्या है।[2]

---

[1] यथा कुण्डलावस्थापन्नस्य अहेः कुण्डलं व्यक्तापन्नत्वात् प्रत्यक्ष प्रमाण गोचरं तद्भेदस्य स्वाभाविकत्वात् लम्बायमानावस्थायां तु सर्पायतावच्छिन्न-स्वरूपेण कुण्डलस्य तत्र सत्त्वेऽपि अव्यक्त-नामरूपतापत्त्या प्रत्यक्षागोचरत्व सर्वात्मकत्व-तदाधेयत्व-तद्व्याप्यत्वादिना तदपृथक्सिद्धत्वादभेदस्यापि स्वाभाविकत्वम्।

—परपक्षगिरिवज्र पृ० ३६१।

[2] असतश्चेन्न प्रतीयते सच्चेन्न बाध्यते, प्रतीयते बाध्यते च अतः सदसद् विलक्षणं हि अनिर्वचनीयमेव अभ्युपगन्तव्यम्। —परपक्षगिरिवज्र, ३८४।

परन्तु इस अनिवचनीयता का अर्थ क्या है ? इसका अर्थ यह नहीं है कि वह खरगोश के सींग जैसे निर्मूल पदार्थ की तरह पूर्णतया असत् है। इसका यह भी तात्पर्य नहीं है कि जो पूर्णतया असत् होगा, वह आत्मा होगा। किन्तु सभी पदार्थ या तो है या नहीं है। (सत् या असत्) क्योंकि सत और असत से भिन्न कोई वस्तु नहीं होती। यह ऐसी भी नहीं हो सकती जिसका कोई परिभाषा ही नहीं की जा सके, क्योंकि इसे अभी ही अनिवचनीय कहकर परिभाषा दी गई है (नापि निवचनानहत्वम् अनेनैव निरुच्यमानतया असभवात्)। इसे अभाव का प्रतियोगी भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि तुच्छ वस्तु भी ऐसी नहीं है और ब्रह्म भी जो सत है और निगुण है यह भी किसी सत्ता का प्रतियोगी नहीं है। यदि ऐसा कहा जाता है कि ब्रह्म, मिथ्या भास का प्रतियोगी है तो वह तथाकथित अनिवचनीय के विषय में सच कहा जा सकता है। ब्रह्म किसी भी सत्ता का प्रतियोगी नहीं है जो उसकी कोटि का हो। वह सत और असत दोनो का प्रतियोगी नहीं है ऐसी व्याख्या भी ब्रह्म की नहीं की जा सकती क्योंकि तुच्छ वस्तु का कोई प्रतियोगी नहीं होता, क्योंकि तुच्छ वस्तु अपने स्वय के अभाव का प्रतियोगी नहीं होती। इसके अतिरिक्त, ब्रह्म और तुच्छ वस्तु निगुण हैं तो वे दोनो ही सत और असत वस्तु के प्रतियोगी माने जा सकते हैं और इस प्रकार वे अनिवचनीय माने जा सकते हैं।

यह भी नहीं कहा जा सकता कि अनिवचनीयता एक ऐसा वस्तु है जिसका वह पर्याप्त रूप से ऐसी है या ऐसी नहीं है इस प्रकार वर्णन नहीं किया जा सकता। इस प्रकार ब्रह्म में और अनिवचनीयता में कोई भेद न रहेगा। यदि ऐसा कहा जाता है कि अनिवचनीय वह है जिसकी सत्ता के विषय में कोई प्रमाण दिया नहीं जा सकता, तो वही ब्रह्म के विषय में भी कहा जा सकता है क्योंकि ब्रह्म प्रत्यय रहित शुद्ध सत्व होने से उसे किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं किया जा सकता।

पुन जब ऐसा कहा जाता है कि अनिवचनीय सत और असत दोनो ही नहीं है तो सत और असत शब्द के अर्थ समझ के परे हो जाते हैं। क्योंकि सत् शब्द का अर्थ सामान्य सत्ता नहीं हो सकता, ऐसा प्रत्यय न ब्रह्म और न जगदाभास में रहता है। सत् का अर्थक्रियाकारित्व की परिभाषा भी नहीं दी जा सकती और न उसे बाधरहित कहा जा सकता है, न अभाव ही कहा जा सकता है जिसकी बाध सम्भव है क्योंकि जगदाभास जिसका बोध होता है वह अभाव रूप नहीं माना गया है वह असत और सत् दोनो रूप नहीं है। सत् और असत् की, जो सिद्ध नहीं किया जा सकता, ऐसी भी परिभाषा नहीं कर सकते क्योंकि ब्रह्म एक ऐसी वस्तु है जो न सिद्ध ही है और न असिद्ध ही की जा सकती है। इसके अतिरिक्त, जगत प्रपच को ऐसा नहीं कहा जा सकता कि वह सत् और असत् से भिन्न है क्योंकि उसकी व्यावहारिक सत्ता मानी गई है। पुन यह भी आग्रह किया जा सकता कि यदि किसी वस्तु का ठीक

तरह से सत या असत रूप से वर्णन नहीं कर सकते तो वह पदार्थ सर्वथा अवास्तव होना चाहिए, यदि कोई वस्तु सत और असत रूप से ठीक तरह वर्णित नहीं हो सकती, तो वह अवास्तव है यह अर्थ नहीं निकलता। अविद्या का अंतिम प्रलय असत या सत है ऐसा हम वर्णन नहीं कर सकते परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि ऐसा प्रलय स्वयं अवास्तविक और अनिर्वचनीय है (नानिर्वाच्यश्च तत्क्षय)।

पुन, 'जगत का ज्ञान से लय होना' इस सीधे वाक्य से जगत का मिथ्यात्व आवश्यक रूप से अनुमित नहीं होता। यह मानना गलत है कि ज्ञान मिथ्या अज्ञान का नाश करता है क्योंकि ज्ञान, अपने जैसे विषय वाले अभाव का नाश करता है, एक पदार्थ का ज्ञान, जैसेकि घडे का ज्ञान किसी दूसरी वस्तु के ज्ञान से निरास किया जा सकता है, संस्कार प्रत्यभिज्ञा से हटाए जा सकते हैं, मोह सांसारिक वस्तुओं में दोष दर्शन से हटाया जा सकता है और उसी प्रकार पाप पुण्य कर्म से। प्रस्तुत प्रसंग में भी, यह भली प्रकार मानना चाहिए कि केवल ब्रह्म के ज्ञान से नहीं किंतु उसके स्वरूप के ध्यान से जगत् की वस्तुओं के विषय में मिथ्या विचार हटते हैं। इस प्रकार बंधन भी सत्य है और वह ब्रह्म के स्वरूप के ध्यान से नहीं हट सकता, यदि श्रुति ऐसा कहती है, तो इस विषय में कोई आक्षेप भी नहीं किया जा सकता। जो काटा जा सकता है या हटाया जा सकता है वह आवश्यक रूप से मिथ्या होना चाहिए यह किसी भी न्याययुक्त मान्यता से अनुमित नहीं होता। पुन यह अनुभव से सुविदित है कि जो नष्ट किया जाता है और जो नष्ट करता है उनकी एक ही कोटि की सत्ता होती है, यदि ब्रह्म ज्ञान जगत के प्रति दृष्टिकोण को मिटा सकता है तो वह दृष्टिकोण भी सत्य होना चाहिए। जैसे ज्ञान और ज्ञेय एक ही कोटि की वस्तुएँ हैं उसी प्रकार दोष का अधिष्ठान भी हैं ब्रह्म और अज्ञान एक ही कोटि की वस्तु है और इसलिए दोनों सत्य हैं।

आगे, यदि जिसे अज्ञान कहा जाता है वह मिथ्या ज्ञान ही केवल है तो जब वह आत्म ज्ञान से हट जाता है तो उसे जीवन मुक्ति या सिद्धावस्था में बने रहने का कोई कारण नहीं है। इसलिए, एक वस्तु ज्ञान से मिट सकती है केवल इसी कारण वह मिथ्या है यह केवल उसका ज्ञान से विरोध प्रकट करता है। इसलिए संसार भी सत्य है और बंधन भी। बंधन किसी प्रकार के ज्ञान से नहीं हटता किंतु ईश्वर कृपा से हटता है।[1] सच्चे ज्ञान का कार्य भगवान् को कृपा करने के लिए जगाना है जिससे बंधन की ग्रंथि कट जाय।

पुन, सभी श्रुति की इस बात पर एक वाक्यता है कि इस दृश्य जगत का ईश्वर द्वारा धारण एवं रक्षण किया जाता है। यदि यह जगत केवल मिथ्या प्रपंच ही होता

---

[1] वस्तुतस्तु भगवत्प्रसादादेव बंध निवृत्तिर्न प्रकारान्तरेण।
—परपक्षगिरिवज्र, पृ० २८८।

तो यह कहने का कोई अर्थ ही न होता कि भगवान् ने इसे धारण किया है। क्योंकि जगत मिथ्या है यह जानकर वह उसे रक्षण और पालन करने के लिए कोई प्रयत्न नहीं करता। यदि भगवान् स्वयं अज्ञान के प्रभाव में है, ऐसा माना जाता है तो वह ईश्वर ही नही कहा जा सकता।

पुरातन विवाद प्रणाली स्वीकार करते हुए माधव मुकुन्द कहते हैं कि जगत् को जिस प्रकार मिथ्या कहा गया है उसे कभी भी सिद्ध या प्रमाणित नहीं किया जा सकता। जगत् मिथ्या है इसे सिद्ध करने का एक प्रमाण यह दिया जाता है कि वह ज्ञेय है या दृश्य है। किन्तु यदि वेदान्तग्रन्थ, ब्रह्म के स्वरूप के विषय में लिखते हैं तो उन पाठों के अर्थ ज्ञान से, ब्रह्म का स्वरूप बुद्धिगम्य हो जायगा और इसलिए मिथ्या होगा। यदि ऐसा आग्रह किया जाता है कि ब्रह्म सोपाधिक रूप से ही बुद्धिगम्य *होता है और वह उपाधियुक्त ब्रह्म मिथ्या माना जाता है तो उत्तर यह है कि जब ब्रह्म* अपने शुद्ध स्वरूप से प्रकट नही हो सकता तो उसकी शुद्धता सिद्ध नहीं की जा सकती। यदि ब्रह्म का शुद्ध स्वरूप बुद्धि के विषय के रूप मे श्रुति के वर्णन के अनुसार प्रकट नहीं हो सकता, तो वह स्वप्रकाश्य नही है यदि वह बुद्धि की वृत्ति से व्यक्त होता है तो वृत्ति से व्यक्त होने के कारण मिथ्या है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि क्योंकि जो कुछ भी अशुद्ध है वह पर प्रकाश्य है इससे यह तात्पर्य निकलता है कि जो कुछ भी अज्ञात है वह स्वप्रकाश्य है क्योंकि शुद्ध सत्ता जो नितान्त अज्ञात है वह व्यतिरेक व्याप्ति से लक्षित नहीं की जा सकती या जानी नहीं जा सकती। इस प्रकार अशुद्ध ही स्वयं एक केवल भाव पदार्थ के रूप मे जाना जाता है, शुद्ध से विरोधी तत्व के रूप मे नहीं जाना जाता क्योंकि ऐसा ज्ञान, शुद्धता के ज्ञान को अनुमित करेगा। यदि इसलिए, स्वप्रकाश्यता के विधेय की शुद्धता विरोधी के रूप मे अशुद्धता में अस्वीकार नहीं किया जाता तो स्वप्रकाश्यता भी शुद्धता मे स्वीकृत नही की जा सकती। इसके अतिरिक्त, यदि शुद्ध ब्रह्म बुद्धि द्वारा कभी भी ज्ञात नहीं हो सकता तो मुक्ति कभी शक्य न होगी या मुक्ति केवल उपाधियुक्त ब्रह्म से होगी।

इसके अतिरिक्त, यदि सभी पदार्थ ब्रह्म पर अध्यास के कारण हैं तो उनके ज्ञान के साथ ब्रह्म का भी ज्ञान होना चाहिए। श्रुति भी ऐसा कहती है, 'ब्रह्म मन द्वारा देखा जाना चाहिए और कुशाग्र बुद्धि द्वारा ग्रहण किया जाना चाहिए,' ब्रह्म मन द्वारा और कुशाग्र बुद्धि द्वारा ग्रहण करना चाहिए। (मन सेवानु द्रष्टव्यम् दृश्यते त्वग्र्या बुद्ध्या)। और भी श्रुतिपाठ हैं जो ब्रह्म को ध्यान का विषय बताते हैं (त पश्यति निष्कल ध्यायमानम्)।

पुन मिथ्या को निश्चित करने वाली अनुभव क्षमता या बुद्धिगम्यता को चैतन्य से सम्बन्धित होने के अर्थ म परिभाषित किया जाता है, जबकि शुद्ध चैतन्य का भ्रम द्वारा सम्बन्धित होना माना गया है तो ब्रह्म भी प्रत्यक्ष हो सकता है इस प्रकार की

आपत्ति उठाई जा सकती है। इस सम्बन्ध मे, यह समझना कठिन है कि, ब्रह्म जिसका अज्ञान से कोई विरोध नही है, उसका वृत्ति से या चेतनावस्था से संयोग होने पर, अज्ञान से किस प्रकार विरोध हो सकता है। इस प्रकार मानने के बजाय यह अच्छी तरह माना जा सकता है कि पदार्थ का अपने ही अज्ञान से विरोध हो जाता है जबकि वह वृत्ति से सम्बन्धित हो जाता है जब वह उसी अन्तर्वस्तु को अपना विषय बनाए रहता है। ऐसी मान्यता के अनुसार दृश्यता चित्तवृत्ति युक्त चैतन्य से नही होती, क्योंकि उपाधि का सम्बन्ध विषय से होता है न कि चैतन्य से। इस प्रकार यह अच्छी तरह माना जा सकता है कि एक पदार्थ अपनी ही चित्त वृत्ति द्वारा उपाधि युक्त होकर दृश्य बनता है। चित्त वृत्ति का शुद्ध चैतन्य पर बिम्ब पड़ना चाहिए यह मान्यता अनावश्यक है, क्योंकि यह भली प्रकार माना जा सकता है कि अज्ञान वृत्ति द्वारा ही नष्ट होता है। एक विषय या पदार्थ, वृत्ति द्वारा ही ज्ञात होता है और *किसी भी वस्तु का मान होने के लिए यह आवश्यक नही है कि वृत्ति, प्रत्यय या* प्रतिकृति को चैतन्य मे प्रतिबिम्बित होना चाहिए। पुनः यदि ब्रह्म अपना ही ज्ञेय विषय नही बन सकता, तो उसे स्वप्रकाश्य भी नही कहा जा सकता। क्योंकि स्वप्रकाश्यता का अर्थ यही है कि वह अपने को स्वतन्त्र रूप से प्रकट करे और उससे यह अर्थ निकलता है कि ब्रह्म स्वयं अपना विषय है। यदि जो अपना विषय नही हो सकता उसे ही स्वप्रकाश्य कहा जा सकता है तो भौतिक पदार्थ भी स्वप्रकाश्य कहे जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त, निर्विशेष ब्रह्म मे अपने स्वरूप से अतिरिक्त परोक्षता या स्वप्रकाश्यता नहीं हो सकती (निर्विशेष ब्रह्मणि स्वरूप भिन्नापरोक्षस्य अभावेन)।

अद्वैतवाद मे आत्मा को शुद्ध ज्ञान स्वरूप माना गया है जिसमे ज्ञातृ ज्ञेय भाव नही है। किन्तु जो यह दोनो ही नही है उसे ज्ञान कैसे कहा जा सकता है, क्योंकि ज्ञान को विषय को प्रकाशित करने वाला माना है। यदि जो विषय को प्रकट नही करता उसे ज्ञान कहा जा सकता है तो घडा भी ज्ञान कहलाया जा सकता है। पुनः, एक प्रश्न स्वाभाविक तौर से खडा होता है कि यदि ज्ञान आत्मा से अभिन्न है तो वह प्रमा होगा, या अप्रमा यदि प्रमा है तो अज्ञान इसके द्वारा प्रकाश पाता है वह भी प्रमा कहलाएगा, और यदि वह अप्रमा है तो वह किसी दोष के कारण होगा, और आत्मा मे कोई ऐसा दोष नही है। यदि वह न तो सच्चा या झूठा ज्ञान है तो ज्ञान होगा ही नही। पुनः, यदि जगत् प्रपंच भ्रम है, तो वह ब्रह्म पर अध्यस्त होगा। यदि ब्रह्म अध्यास का अधिष्ठान है, तो वह सामान्य तौर से जानने मे आने वाला कोई एक पदार्थ होगा किन्तु उसका विस्तार से ज्ञान नही होगा। किन्तु ब्रह्म कोई ऐसा पदार्थ नही है जिसका हम सामान्य या विशेष रूप से ज्ञान हो। ब्रह्म, इसलिए अध्यास का अधिष्ठान नही माना जा सकता। इस सम्बन्ध मे आगे यह ध्यान में रखना चाहिए कि यदि जगत् असत् था तो उसका अनुभव नही हो सकता था, तुच्छ

वस्तु किसी के अनुभव में नहीं आती। भ्रम-जनित सर्प भी सच्चा भय पैदा कर सकता है यह तर्क अप्रमाण है, क्योंकि भ्रम जनित सर्प भय उत्पन्न नहीं करता किन्तु सर्प का सच्चा ज्ञान उसे उत्पन्न करता है। एक बच्चा सच्चे सर्प को पकड़ने से नहीं डरता क्योंकि उसे सर्प के विषय में कोई ज्ञान नहीं होता और न उसके हानिकारक गुणों का ज्ञान होता है। स्वप्न को भी भगवान् द्वारा उत्पन्न की गई सच्ची कृतियाँ मानना चाहिए उसे मिथ्या आरोपण नहीं मानना चाहिए। स्वप्न, स्वप्न द्रष्टा को ही दीखते हैं और किसी को नहीं, इसलिए वे मिथ्या हैं यह तर्क अप्रमाण है, क्योंकि एक व्यक्ति के भाव और विचार उससे निकटवर्ती को मालूम नहीं हो सकते।[1]

जगत् इस प्रकार ब्रह्म पर मिथ्या आरोपण नहीं है किन्तु ब्रह्म की विभिन्न शक्तियों का परिणाम है। इस मत का सांख्य से यह भेद है कि सांख्य कुछ प्राकृत तत्वों के सम्पूर्ण परिणाम को मानता है जबकि निम्बार्क ब्रह्म की विभिन्न शक्तियों के परिणाम को मानते हैं। ब्रह्म स्वयं नित्य अपरिणामी एवं अविकारी रहता है केवल उसकी शक्तियाँ ही परिणाम पाती हैं और दृश्य जगत उत्पन्न करती हैं।[2]

जगत् ब्रह्म के माया में प्रतिबिम्बित होने से उत्पन्न होता है या इससे उपाधि ग्रस्त होने से उत्पन्न होता है, यह स्पष्टीकरण अप्रमाण है क्योंकि माया दूसरी ही कोटि का पदार्थ है ब्रह्म का उसमें प्रतिबिम्बित होना या उपाधिग्रस्त होना नहीं हो सकता। एक चोर को स्वप्न की डोरी से नहीं बांधा जा सकता।

वनमाली मिश्र

भारद्वाज वंश के वनमाली मिश्र वृन्दावन से दो मील दूरी पर त्रियग के निवासी थे उन्होंने अपने वेदान्त सिद्धान्त संग्रह में जो 'श्रुति सिद्धान्त संग्रह' भी कहलाता है निम्बार्क मत के महत्वपूर्ण सिद्धान्त प्रतिपादित किए हैं। ग्रन्थ कारिकाओं और उनकी टीकाओं की शैली में लिखा गया है। इस ग्रन्थ का आधार निम्बार्क की ब्रह्म सूत्र टीका तथा उसकी अन्य टीकाएँ हैं।

वे दुःख का कारण, आत्मा से बाह्य पदार्थों के प्रति मोह को मानते हैं सुख इसका विरोधी है।[3] स्वार्थ दृष्टि से किए गए कर्म वेदनिषिद्ध कर्मों का करना तथा वेद विहित कर्मों का न करना पाप उत्पन्न करता है। इसके विपरीत कर्म तथा वे जो भगवान् को प्रिय हैं, पुण्य उत्पन्न करते हैं। पाप और पुण्य का मूल, भगवान् की

---

[1] परपक्षगिरिवज्र, पृ० ४२६।

[2] वही, पृ० ४२६।

[3] श्रुति सिद्धान्त संग्रह, १, ६, १०, ११।

शक्ति ही है जो भगवान् के गुणों को आवृत कर कार्य करती हैं। अविद्या सत् और भाव रूप है और प्रत्येक जीव में भिन्न है। यह मिथ्या या भ्रम को उत्पन्न करती है जिससे वस्तु अयथार्थ दीखती है और यही मिथ्या ज्ञान पुनर्जन्म का कारण है।[1] प्रत्येक जीव में अविद्या भिन्न है। इसी अविद्या के कारण व्यक्ति अपनी सम्पत्ति से ममत्व करके मोहित होता है और इसी के कारण उसे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अनुभव होता है। वास्तव में सभी के सारे कर्म भगवान् के कारण हैं और जब कोई यह अनुभव कर लेता है तब उसका मोह टूट जाता है और वह फलाशा त्याग देता है। अविद्या, चित्त और सुख दुःख के अनुभव उत्पन्न करती है, यही मिथ्या मोह उत्पन्न करती है जिससे वह इन अनुभवों को अपना मान लेता है और ज्ञान और आनन्दमूलक अपने स्वरूप को अनुभव करना छोड़ देता है। केवल विदेह ही इस अवस्था का भोग करते हैं, जीवन मुक्त और सन्त इसे अंश रूप में ही भोगते हैं। अज्ञान जनित मोह के कारण ही मनुष्य ईश्वरेच्छा पर अग्रसर होने के लिए जागृत होता है। किन्तु अज्ञान सचमुच अज्ञान है इसलिए दुःख का अनुभव भी सच्चा है। हमारा पुनर्जन्म वेद विरुद्ध कर्म करने से या अपनी इच्छाएँ पूर्ण करने के कारण होता है।[2] भगवान् द्वारा ही हमारे सारे कर्म होते हैं और कर्त्ता किसी भी प्रकार स्वतन्त्र नहीं है ऐसा अनुभव करने से आत्मा शुद्ध होती है। जब मनुष्य यह अनुभव करता है कि दूसरे पदार्थ से मिथ्या सम्बन्ध जोड़ने से और अपने को सचमुच स्वतन्त्र मानने से वह दुःख का भागी होता है तब वह अपने कर्मों और सुख दुःख से विरक्त हो जाता है और सभी पदार्थों को दुःख रूप समझने लगता है। यही विरक्ति भगवान् को प्रिय है। वेद में भक्ति प्राप्त करने के लिए श्रवण, मनन निदिध्यासन रूप साधन कहे गए हैं।[3] निदिध्यासन, श्रवण और मनन करने पर ही होता है, क्योंकि निदिध्यासन साक्षात् अनुभव है जो श्रवण और मनन के बिना शक्य नहीं है। उपरोक्त प्रक्रिया से ही चित्त शुद्ध होता है जो

---

[1] प्रति जीव विभिन्ना स्यान् सत्या च भावरूपिणी।
अतस्मिंस्तद्धियो हेतु निदान जीव समृतो।

—श्रुति सिद्धान्त सग्रह, १-१५।

[2] अत काम्य निषिद्धम् च दुःख बीज त्यजेत् बुध। श्रुति सिद्धान्त सग्रह पृ० ६३। वनमाली मिश्र के अनुसार मनुष्य अपने कर्मानुसार मृत्युपर्यन्त स्वर्ग या नरक में जाता है और अपने फल का भोग प्राप्त करने पर या दुःख उठाकर वह वृक्ष रूप से जन्मता है उसके बाद तिर्यक् योनि में, फिर यवन या म्लेच्छ योनि में, फिर निम्न जाति में और अन्त में ब्राह्मण कुल में जन्म लेता है।

[3] अन्याय विषय पुरो ब्रह्माकारधिया सदा।
निदिध्यासन शब्दार्थो जायते सुधियां हि स।

—वही, २-१३।

भगवान् को प्रिय है और जिस प्रकार संगीत के अभ्यास से ही राग और स्वर अपरोक्ष होते हैं उसी प्रकार भगवान् अपरोक्ष होते हैं। यह अपरोक्ष अनुभव अपने आपका ही है। क्योंकि इस अवस्था मे चित्त व्यापार नही रहता। वत्यात्मक अनुभव का अन्त होना भगवान् के अपरोक्ष अनुभव के बराबर है। यह अवस्था अविद्या या मनोनाश की अवस्था है।[1] इस प्रकार मनुष्य परम मुक्ति की अवस्था मे भगवान् का आनन्द स्वरूप मे अनुभव करता है, लेकिन तब भी वह भगवान् के सभी गुणो का अनुभव नही कर सकता क्योंकि भगवान् भी अपने सारे गुणो को नही जानते। ऐसी मुक्ति भगवत्कृपा से ही प्राप्य है। ऐसी मुक्तावस्था म मनुष्य, एक मछली जिस प्रकार उदधि मे तैरती है, ऐसे वह भगवान् मे वास करता है। भगवान् अपनी कृपा की सहजता से संसार रचना करते हैं अपनी कृपा को बढावा देने के लिए ऐसा नही करते, उसी प्रकार मुक्त भी भगवान् मे अपने स्वरूप का सहजता से स्मरण करते हैं अपना आनन्द बढाने के लिए नही करते।[2] भगवान् हमारे अन्तर मे ही विराजमान हैं और उसे हम साक्षात् करते हैं तब ही हम मुक्ति पाते हैं। कुछ लोग इस लोक म मुक्ति पाते हैं और कुछ परलोक मे जहाँ से वे अपने कर्मानुसार गमन करते हैं। किन्तु सभी प्रकार की मुक्ति, अज्ञान के नाश से, मनुष्य की स्वस्थिति में वास है।[3] जीवन मुक्त या सन्त पुरुष वे हैं जिनकी अविद्या का नाश हो गया है किन्तु अभी उन्ह अपने

---

[1] ब्रह्म गोचरस्य वेदान्त वासित मनसि उत्पन्नस्य आपरोक्ष्यस्य य प्रागभाव तस्य अभावो ध्वसो ज्ञान तद् ध्वसा यतररूपा ज्ञान ब्रह्मण सम्बन्ध ससार दशाया नास्ति। —वही, २-१६।

[2] आनदोद्रक्तो विष्णोर्यथा सृष्ट्यादि चेष्टनम्।
तथा मुक्तचिता क्रीडा न त्वानद विवर्द्धये। —वही, २-३७।

[3] स्वरूपेण स्थिति मुक्ति रज्ञान ध्वस पूर्वकम्। (वही २-५८ यह मुक्ति चार प्रकार की हो सकती है, सारूप्य, अर्थात् कृष्ण बाह्य रूप जैसी, सालोक्य अर्थात् विष्णु लोक म वास, सायुज्य, या भगवान् मे लय होना, सामीप्य या भगवान् के किसी रूप से सम्बन्धित होकर उनके पास रहना। भगवान म लय होना उनसे एक होना नही समझना चाहिए। यह अथ पशुओ का वन म भ्रमण करने जसा है। मुक्त जीव भगवान् से भिन्न हैं किन्तु वे भगवान् मे वास करते हैं (एव मुक्त वा हरे भिन्न रमन्ते तत्र मोदत वही २६१) वे भगवान् मे से बाहर भी आ सकते हैं, और हम भी सुनते हैं कि वे उत्तरोत्तर अनिरुद्ध, प्रद्युम्न, सकर्षण और वासुदेव के शरीर मे प्रवेश करते हैं। इन मुक्त जीवो का ससार रचना और सहार स कोई वास्ता नही होता। वे यह परिणाम होते रहते भी वसे ही बने रहते है। वे महाभारत के नारायणीय भाग मे वर्णित श्वेतद्वीपवासी जसे हैं। तो भी व भगवान् के नियन्त्रण मे हैं और इस नियन्त्रण का किसी प्रकार का दु ख नही उठाते।

प्रारब्ध का फल भोगना बाकी है। भगवत्प्राप्ति सचित और क्रियमाण को नष्ट कर सकती है किन्तु प्रारब्ध को नष्ट नहीं कर सकती।

यह समझना गलत है कि हर कोई आनन्द का अनुभव कर सकता है, इच्छित अवस्था केवल वही है जिसमे व्यक्ति अनिरोध आनन्द अनुभव कर सके।[1] गाढ निद्रा की अवस्था मे आनन्द का थोडा अनुभव हो सकता है, किन्तु पूर्ण आनन्द नही अनुभव किया जा सकता जैसाकि मायावादी मानते हैं। मायावादी और बौद्ध म कोई भी भेद नहीं है केवल कहने के ढग में ही भेद है।[2]

आत्मा को अणु माना है किन्तु उसकी सत्ता अह प्रत्यय से सिद्ध होती है, (अह प्रत्ययवेद्य), जो समस्त अनुभव भोगता है। भगवान् पर आश्रित होते हुए भी वह सचमुच कर्ता है जो अविद्या से प्रभावित होकर ऐसा करता है। आत्मा की सत्ता भी जीवन की सभी अवस्थाओ की निरन्तरता से सिद्ध होती है। स्वार्थ कर्म के प्रति सभी जीवो की ममता यह सिद्ध करती है कि प्रत्येक आत्मा को अपने मे अनुभव करता है और यह आत्मा प्रत्येक म भिन्न है। जीव और ईश्वर म भेद यह है कि जीव की शक्ति और ज्ञान सीमित है और वह परतत्र है और ईश्वर सवज्ञ सव शक्तिमान् और स्वतत्र है वह जीवो म अविद्या शक्ति द्वारा स्वतत्रता का मिथ्या विचार पैदा करता है। जीव इस प्रकार ईश्वर स भिन्न है किन्तु वे मुक्तावस्था म ईश्वर म रहते हैं और उनके सभी कर्म ईश्वर की अविद्या शक्ति से नियत्रित हैं इसलिए उन्हें ईश्वर से एक भी माना जा सकता है। जीव का चित्त ईश्वर की अविद्या का काय है जीव का जगत् अनुभव भी, ईश्वर की क्रिया के कारण है। आत्म स्वरूप होने से जीव को ईश्वर के स्वरूप का शुद्ध आनन्द के रूप मे अनुभव होता है। जीव की स्वरूपावस्था ही उनकी मुक्तावस्था है। जीव अपने स्वरूप से सत चित आनन्द रूप हैं और अणु होने पर भी अन्तर्वृत्ति द्वारा अपने सारे शरीर का अनुभव कर सकते हैं जिस प्रकार कि दीप अपने प्रकाश से सारे कमरे को प्रकाशित करता है। दु ख का अनुभव भी अन्त करण का शरीर के भिन्न भागो मे प्रसारण और अविद्या से शक्य है जिस अविद्या के कारण जीव अपने पर अन्य वस्तुओ का अध्यास करता है। जीव का दूसरे पदार्थों से सम्बन्ध प्रत्येक के अन्त करण से शक्य है इसलिए प्रत्येक जीव के अनुभव का क्षेत्र भी उसके अन्त करण के व्यापार तक ही सीमित है। प्रत्येक जीव मे पृथक् अन्त करण है।

---

[1] पुरुषार्थ सुखित्व हि नत्वानन्द स्वरूपता। —वही, २ ६९।

[2] भेदतो न विशेषोऽस्ति मायि सौगतयोमते।
भगीमात्र भिदा तु स्यात् एकस्मिनपि दर्शने। —वही, २–११६।

उपनिषद् ईश्वर का सब कहते हैं, (सब खल्विद ब्रह्म) और यह इसलिए सभी में व्याप्त है और सबा का नियता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जीव उस पर आश्रित हैं और आधारित है (तदाधारत्व), कि तु इससे यह अर्थ नहीं निकलता कि वे उससे अभिन्न हैं। ईश्वर स्वय अपने आप सभी वस्तुओं को रच सकता है किन्तु केवल अपनी लीला के लिए क्रीडा के लिए वह प्रकृति की ओर जीवा के कर्मों से उत्पन्न नियति की, सहायता लेता है। यद्यपि ईश्वर मनुष्या का अपनी इच्छानुसार कम करने देता है किन्तु उसका नियत्रण अनादि अदृष्ट के अनुसार होता है। यहाँ पर जो कमवाद प्रतिपादित किया गया है वह पतजलि के कमवाद से भिन्न है। पतजलि और उनके टीकाकारा के अनुसार मनुष्य अपने सुख दु ख रूप कर्मों के फलो का भोग अपनी स्वतत्रता से भोगता है कि तु यहाँ मनुष्य के कम ईश्वर द्वारा, उनके पिछले शुभाशुभ कर्मानुसार नियत्रित हैं जो अनादि हैं। इस प्रकार हमारे साधारण जीवन में हमारे सुख दु ख ही नहीं, कि तु अच्छे और बुरे कम करने की शक्ति भी हमारे पिछले कम द्वारा ईश्वर के नियत्रण से निश्चित हैं।

बाइसवाँ अध्याय

विज्ञान भिक्षु का दर्शन

विज्ञान भिक्षु के दर्शन का विहगावलोकन

अन्तिम ध्येय दु ख का अ त नही है किन्तु दु ख के अनुभव का अन्त है क्योंकि मुक्तावस्था म दु ख के अनुभव का अन्त होता है, दु ख की मुक्ति नही होती क्योकि वह ससार म बना रहता है और दूसरे दु खी हुआ करते हैं। केवल मुक्त लोग ही दु ख का अनुभव नही करते। मुक्ति की चरम अवस्था आनदावस्था नही हो सकती, क्योंकि वहाँ चित्त और इन्द्रियाँ नहीं रहती इसलिए आन द का अनुभव नही हो सकता। आत्मा आनन्द स्वरूप नही हो सकता और साथ ही उसका भोक्ता भी नही बन सकता। जब यह कहा जाता है कि आत्मा आनन्द स्वरूप है वहाँ आनन्द शब्द का अर्थ पारिभाषिक रूप से दु ख का अभाव है।

भिक्षु सत्ता के स्तरो को मानते हैं। व मानते हैं कि एक दूसरो से अधिक स्थायी और सत्य है। जबकि परमात्मा एक ही और वह न परिणाम ग्रस्त है और न उसका प्रलय हाता है। वह प्रकृति तथा उसक विकार और पुरुष से अधिक सत्य है। यह मत पुराण म भी प्रतिपादित है कि जगत का अ तिम स्वरूप ज्ञानरूप है जो परमात्मा का रूप है। इसी वास्तविक रूप मे जगत् अ तिम माना गया है प्रकृति और पुरुष की तरह नहीं जा परिणामी हैं। प्रकृति, ईश्वर की अव्यक्त शक्ति के रूप स, जहाँ तक सत्ता रखती है असत् मानी गयी है, किन्तु जहाँ तक वह विकार परिणाम से व्यक्त होती है उसे सत् माना है। मुक्ति पच तन्मात्रा और ग्यारह इन्द्रियो से युक्त सूक्ष्म शरीर के विच्छेद से प्राप्त हाती है। इस विच्छेद के परिणामस्वरूप, शुद्ध चैतन्य रूप आत्मा ब्रह्म मे सागर म नदिया की तरह लय हा जाती है। यह अवस्था अभिन्नता की नहीं है किन्तु भेद म अभेद अवस्था है। साख्य के अनुसार, सुख दु ख रूपी कम विपाक जहाँ तक भुक्त नहीं हाते, वहाँ तक मुक्ति नहीं मिलती अर्थात् अविद्या के नाश होने पर भी, प्रारब्ध भुक्त हाने तक मुक्ति रुक जाती है। योगी, अवश्य ही, असप्रज्ञात समाधि म डूब सकता है जिसस प्रारब्ध अनुभव दूर किया जा सकता है। असप्रज्ञात समाधि से वह स्वेच्छा से मुक्तावस्था मे जा सकता है। केवल उपनिषद् के पाठों का अर्थ समझने से मुक्तावस्था प्राप्त नहीं होती किन्तु विचार द्वारा ज्ञान प्राप्त करने पर तथा योग की उत्तरोत्तर समाधि अवस्था क अभ्यास से प्राप्त होती है।

जगत् चैतन्य स्वरूप ब्रह्म से, साक्षात प्रकट नहीं होता, और न काल, प्रकृति और पुरुष, ब्रह्म मे से परिणाम द्वारा प्रकट होते हैं। यदि जगत, ब्रह्म से साक्षात् ही प्रकट हुआ होता तो पाप और बुराइयाँ ब्रह्म से उत्पन्न हुई मानी जाती। ईश्वर के अनादि सकल्प द्वारा सत्व के सयोग से ब्रह्म पूर्व सर्ग के प्रारम्भ म ईश्वर रूप से काय करता है और सचमुच पुरुष और प्रकृति का उत्पन्न करता है जो ब्रह्म मे अव्यक्त हैं और दोनो का सयोग कराता है। जिस क्षण ब्रह्म, पुरुष और प्रकृति को उत्पन्न करता है उसे काल माना जा सकता है। इस अर्थ मे काल को, बहुधा ब्रह्म का गत्यात्मक कारक माना जाता है। यद्यपि पुरुष अपने आप में सवथा सक्रिय है, किन्तु उनमें प्रकृति के सयोग के कारण आदोलन का भास होता है, जो सवदा गतिशील है। काल ब्रह्म का गत्यात्मक कारक होने से स्वाभाविक तौर से प्रकृति की गति से सम्बन्धित है क्योकि पुरुष और प्रकृति, स्वय दोनो अपने आप मे सक्रिय हैं और ब्रह्म की गत्यात्मक शक्ति से क्रियमाण होते हैं। वास्तविक सत्ता के सभी रूपो मे काल मर्यादित और निश्चित है, और इस कारण अनित्य और कुछ अश मे काल्पनिक है। गत्यात्मक क्रिया के समस्त व्यापारो में निहित नित्य शक्ति के रूप मे काल नित्य कहा जा सकता है। जो काल, प्रकृति पुरुष का सयोग स्थापित करता है तथा महत् को भी उत्पन्न करता है वह अनित्य है और इसलिए प्रलय के समय यह सयोग न रहने के कारण, नही रहता। कारण यह है कि प्रकृति और पुरुष का सयोग कराने वाला काल निश्चित काल है वहाँ एक ओर ब्रह्म के सकल्प द्वारा मर्यादित है और दूसरी ओर विकारो से भी मर्यादित है जि हे वह उत्पन्न करता है। यह निश्चयात्मक काल ही भूत भविष्य और वतमान के रूप मे निर्दिष्ट किया जा सकता है। किन्तु वतमान, भूत और भविष्य मे परिणाम सन्निविष्ट है और यह क्रिया या गति की अपेक्षा करता है, यह क्रिया या गति जो काल के भूत वतमान और भविष्य रूप व्यक्त रूप से असग हैं, नित्य ह।[1]

---

[1] अथववेद १९ ५४। अथववेद में काल को पृथ्वी और आकाश का जनयिता कहा है और सभी पदाथ काल मे ही बसते हैं। *तपस और ब्रह्म भी काल मे हैं, काल* सभी का ईश्वर है। काल सभी जीवो को उत्प न करता ह। ससार काल द्वारा गतिशील किया गया है, उसी से उत्पन्न किया गया है और उसी ने ससार को धारण किया ह। काल ब्रह्म होकर परमेष्ठिन् को धारण करता ह। श्वेताश्वतर उपनिषद् मे काल को सूय ने मूल कारण के रूप में धारण किया है ऐसा कहा गया ह। मैत्री उपनिषद् में (४–१४) काल से सभी जीव उत्प न होते हैं उसी मे वे बढते हैं और लय होते हैं। काल निगु ण रूप ह (कालात् सर्वन्ति भूतानि कालात् वृद्धि प्रयान्ति च। काले चास्त नियच्छन्ति कालो मूर्तिरमूर्तिमान्)।

उसी ग्रन्थ में यह भी कहा है कि ब्रह्म के दो रूप हैं काल और अकाल।

अथर्ववेद के निम्न उद्धरण से यह ज्ञात होगा कि पुरातन काल में किस प्रकार काल एक पृथक वस्तु या शक्ति थी, जिससे सभी वस्तुएं उत्पन्न होती हैं, उसी से पालित होती हैं और अन्त में लय होती हैं। ईश्वर, परमेष्ठिन् ब्रह्मन् या प्रजापति काल से उत्पन्न हैं। मैत्री उपनिषद् में काल को अकाल भी कहा है।[1] अकाल सनातन प्राकृत काल है जो अमाप और अथाह शक्ति है। सर्ग की उत्पत्ति के बाद जब वह सूर्य की गति के रूप में नापा जाता है तब वह माप्य होता है। निसर्ग का सारा घटना-चक्र, इस प्रकार, काल की शक्ति का प्रादुर्भाव या अभिव्यक्ति है जो बिना किसी नियंता के होता है। काल का ऐसा विचार सौंदर्यधर्मी है क्योंकि परमेष्ठी और प्रजापति जैसे महान् देव भी इसी से उत्पन्न हैं।

महाभारत के अनुशासन पर्व के पहले अध्याय में, गौतमी जिसके पुत्र को सर्प ने डस लिया था शिकारी जो सर्प को मारने पर बल दे रहा था, मृत्यु या सर्प और काल के बीच एक संवाद है। इस संवाद से ऐसा प्रतीत होता है कि काल सभी घटनाओं का चालक ही नहीं है किन्तु सत्व रजस और तमस की सभी अवस्थाएँ, स्वर्ग और पृथ्वी के सभी स्थावर और जंगम, सभी आंदोलन और उनका अन्त सूर्य, चंद्र, जल, अग्नि आकाश पृथ्वी, नदियाँ, सागर और जो कुछ भी चेतन और जड़ है वे सभी काल स्वरूप हैं और काल से ही उत्पन्न होकर वे काल में ही समाते हैं। काल इस प्रकार का मूल कारण है। काल अवश्य ही, कर्म सिद्धान्त के अनुसार कार्य करता है, इस प्रकार काल और कर्म का अनादि सम्बन्ध है जो सभी घटनाओं का व्यापार निश्चित करता है। कर्म भी स्वयं काल से उत्पन्न है और काल भविष्य में होने वाले प्रकार को भी निश्चित करता है। यह काल की दूसरी अवस्था का वर्णन है जो काल का अतःस्थ एवं सर्वातिग्राही कारण के रूप में विचार है। यहाँ काल कर्म द्वारा नियन्त्रित है। काल की तीसरी अवस्था, जो पुराणों में मिलती है और जिसे भिक्षु भी मानते हैं, वह ब्रह्म में नित्य गत्यात्मक शक्ति के रूप में है जो भगवान् के संकल्प से क्रियाशील होती है।[2]

---

[1] जो सूर्य से पहले है वह अकाल है और अखंड है तथा जो सूर्य के बाद है वह काल है और सखंड है।

[2] अहिर्बुध्न्य संहिता में, जो पंचरात्र मत का ग्रन्थ है, नियति और काल, अनिरुद्ध से उत्पन्न पर काल की शक्ति की दो अभिव्यक्तियाँ हैं। इस काल से पहले सत्व गुण उत्पन्न होता है फिर उससे रजोगुण और तमोगुण उत्पन्न होते हैं।

आगे यह भी कहा है कि काल सभी का संयोग वियोग कराता है। काल अवश्य ही अपनी शक्ति को विष्णु की सुदर्शन शक्ति से पाता है। प्रकृति का विकार परिणाम भी काल के ही कारण है।

पुरुष शब्द का श्रुति में एक वचन में प्रयोग किया गया है किन्तु यह जाति को उद्देश्य करके कहा गया है, देखें सांख्य सूत्र १–१५४ (नाद्वैत श्रुति विरोधो जातिपरत्वात्)।[१] परम पुरुष या ईश्वर तथा सामान्य पुरुषों में भेद यह है कि सामान्य पुरुष कर्मानुसार सुख दुःख का अनुभव करते हैं, जबकि ईश्वर सत्वमय देह के प्रतिबिम्ब के कारण सदा आनन्द का नित्य और निरंतर अनुभव करता है। सामान्य पुरुषों में सुख दुःख का अनुभव असाधारण धर्म के रूप से नहीं है क्योंकि जीवनमुक्तावस्था में ऐसा अनुभव नहीं रहता है। ब्रह्म अवश्य ही, दूसरों के सुख दुःख के अनुभवों से क्लिष्ट हुए बिना अनुभव कर सकते हैं। चरम सिद्धान्त या ब्रह्म, शुद्ध चैतन्य है जो पुरुष प्रकृति तथा उनके विकारों के अन्तर्गत है और ये स्वरूप से ब्रह्म के आविर्भाव हैं, इसलिए आपस में सम्बन्धित दीख सकते हैं। प्रकृति का व्यापार भी अन्त में शुद्ध चैतन्य की सहज गति के कारण ही है, जो मूल सत्ता है।

विवेक और अविवेक भेद और अभेद का ज्ञान बुद्धि का गुण है, इसी कारण पुरुष अपने को बुद्धि से परिच्छिन्न नहीं कर सकते जिनसे वे सम्बन्धित हैं। पुरुष का बुद्धि से संयोग यह बताता है कि उसमें भेद और अभेद दोनों की विशेषता है। कठिनाई यह है कि विवेक के प्रकाश पर अविवेक की शक्ति का इतना विरोध है कि विवेक व्यक्त हो नहीं पाता। योग का उद्देश्य अविवेक की शक्ति को निर्बल करना है और अन्त में उसे निर्मूल करना है जिससे विवेक प्रकट हो जाय। अब यह पूछा जा सकता है कि अन्तराय का स्वरूप क्या है। उत्तर यह दिया जा सकता है कि वह अविवेक है जो प्रकृति के विकारों के संयोग से, राग द्वेष से उत्पन्न होता है और ज्ञान को उभरने नहीं देता। सांख्य तो यह कहता है कि विवेक के उदय का न होना, पुरुष और बुद्धि के स्वरूप में अतिसूक्ष्मता होने के कारण है जिससे वे एक दूसरे से इतने मिलते जुलते हैं कि उनमें विवेक करना कठिन हो जाता है किन्तु सांख्य के इस मत से यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि इन दो तत्वों के बीच अति सूक्ष्मता ही विवेक

सांख्य कारिका की माठर वृत्ति को काल के सिद्धान्त का जगत् कारण के रूप में लक्ष्य करती है (कालः सृजति भूतानि कालः संहरते प्रजाः। कालः सुप्तेषु जागर्ति तस्मात् कालः तु कारणम्) और उसका यह कहकर खण्डन करती है कि काल जैसे पृथक वस्तु नहीं है (कालो नाम न कश्चित् पदार्थोऽस्ति) केवल तीन ही पदार्थ हैं व्यक्त, अव्यक्त और पुरुष और काल इनके अन्तर्गत है (व्यक्त मव्यक्त पुरुष इति त्रय एव पदार्थाः तत्र कालो अन्तर्भूतः)।

[१] अहिर्बुध्न्य संहिता में तो पुरुष को पुरुषों के समूह के अर्थ में लिया गया है, जैसेकि मधुमक्खी का पुंज है जो संघ रूप से व्यवहार करता है और पृथक रूप से भी।

—अहिर्बुध्न्य संहिता, ६.३३।

मे अंतराय रूप है। क्योंकि यदि ऐसा होता तो इस ज्ञान की प्राप्ति के लिए योगाभ्यास उपयोगी नहीं होगा। मूल कारण यह है कि हमारा स्थूल पदार्थों के प्रति राग द्वेषात्मक संबंध ही इन दोनों सूक्ष्म तत्वों के विषय में विवेक उत्पन्न करने में बाधक है। स्थूल पदार्थों से हमारा मोह, इनसे दीर्घ काल के इन्द्रिय सम्बन्ध से है। दार्शनिक को, इसलिए स्थूल पदार्थों से विरक्त होने का प्रयत्न करना चाहिए। संसार रचना का मूल हेतु पुरुष को भोग की सामग्री प्रदान करना है, जिस बुद्धि के माध्यम से सुख दुःख, भोग और कष्ट के बदलते अनुभव होते रहते हैं। बुद्धि के असंग होने पर इन अनुभवों का अन्त हो जाता है। ईश्वर वस्तुतः शुद्ध चैतन्य स्वरूप है, यद्यपि उसका ज्ञान मुक्ति प्रदान करता है तो भी, सर्वशक्तिमता सर्वव्यापित्व तथा अन्य गुण ईश्वर को इसलिए दिए जाते हैं कि ईश्वर का महापुरुष के रूप में प्रणिधान करने से ही भक्ति संभव है, और भक्ति तथा प्रेम द्वारा ही सच्चे ज्ञान का उदय हो सकता है। श्रुति में ऐसा कहा गया है कि ईश्वर प्राप्ति तप दान या यज्ञ से नहीं हो सकती, केवल भक्ति से ही होती है।[1] परम भक्ति प्रेमस्वरूपा है। (अत्युतमा भक्ति प्रेमलक्षणा)।

ईश्वर सभी में अन्तर्यामी रूप से विराजमान है और उसके लिए बिना इन्द्रियों के माध्यम के सभी पदार्थ प्रकट हैं। ईश्वर को सर्वव्यापी कहा है क्योंकि वह सभी का कारण है और अन्तर्यामी भी है।

भक्ति भगवान् का नाम श्रवण करने, उनके गुणों का वर्णन करने पूजा करने और अन्त में ध्यान करने में है जिससे सच्चा ज्ञान उत्पन्न होता है। इन सबको भगवत् सेवा कहा है। यह सारा कार्यक्रम प्रेम से करना होता है। भिक्षु, गरुड पुराण का समर्थन देते हुए कहते हैं कि भज शब्द का प्रयोग सेवा के अर्थ में किया गया है। वे भागवत का भी उल्लेख यह बताने के लिए करते हैं कि भक्ति उस भाव से संबंधित है जो आँखों में अश्रु लाती है हृदय को गद्‌गद् करती है और रोमांच उत्पन्न करती है। भक्ति द्वारा भक्त जिस प्रकार गंगा सागर में अपने को लय करती है उसी प्रकार भक्त अपने को विलीन करता है और भगवान् में लय करता है।

उपरोक्त कथन से यह सिद्ध होगा कि भिक्षु प्रेमलक्षणा भक्ति को श्रेष्ठ मार्ग मानते हैं। उनके द्वारा प्रतिपादित दार्शनिक मतों का भगवान् की भक्ति के प्रति अत्यन्त सीमित क्षेत्र है। क्योंकि यदि परम सत्य शुद्ध चैतन्य स्वरूप है तो हम ऐसी

---

[1] अह प्रकृष्ट भक्तितोऽन्य साधने द्रष्टु न
शक्य भक्तिरेव केवला मद्दर्शने साधनम्।
ईश्वर गीता टीका। (हस्त० प० महा० गोपीनाथ कविराज, प्रिंसिपल क्वीन्स कालेज वाराणसी से प्राप्त)।

सत्ता से पारस्परिक सम्बन्ध नहीं जोड़ सकते। प्राप्ति की चरम अवस्था भी परम सत्ता से तादात्म्य होने में ही है जो स्वयं पुरुष रूप नहीं है इसलिए उसके साथ कोई पारस्परिक सम्बन्ध भी शक्य नहीं है। विज्ञानामृत भाष्य ४ १ ३ में भिक्षु कहते हैं कि प्रलय या मुक्ति के समय, जीव का किसी भी ज्ञान के विषय में सम्बन्ध नहीं रहता, इसलिए वे अचेतन होते हैं और लकड़ी या पत्थर जैसी जड़ वस्तु के समान होने से वे सर्वावभासक परमात्मा में इस तरह मिलते हैं जैसे सागर में नदी। पुनः यही परमात्मा, अपने में से, उन्हें आग के स्फुल्लिंग की तरह बाहर फेंकते हैं और उन्हें विविक्त करते हैं और उन्हें कर्म करने की प्रेरणा करते हैं।[1] यह परमात्मा हमारी आत्मा का अन्तर्यामी तथा प्रेरक है। किन्तु यह स्मरण रहना चाहिए कि यह परमात्मा परम सत्य शुद्ध चैतन्य नहीं है, किन्तु शुद्ध चैतन्य के सत्वमय देह के संयोग की अभिव्यक्ति है। इस तरह तात्त्विक दृष्टिकोण से परम सत्य और जीव के बीच कोई पारस्परिक सम्बन्ध नहीं हो सकता। किन्तु फिर भी शुद्ध चैतन्य रूप ईश्वर का दार्शनिक दृष्टिकोण से पारस्परिक सम्बन्ध शक्य न होते हुए भी, भिक्षु ने, आवश्यक दार्शनिक निष्कर्ष के नाते नहीं, किन्तु ईश्वरवादी धारा के कारण इसे यहाँ प्रतिपादित किया है। यह ईश्वरवादी सम्बन्ध रहस्यात्मक रूप में भी विचारा गया है जो प्रेमोन्माद सा है। ईश्वरीय प्रेम का ऐसा विचार, भागवत पुराण में और चैतन्य द्वारा प्रचारित वैष्णव सम्प्रदाय में पाया जाता है। यह रामानुज सिद्धान्त में प्रतिपादित भक्ति के सिद्धान्त से भिन्न है जहाँ भक्ति अनवरत, धारावाहिक समाधि के रूप में मानी गई है। यदि हम भागवत पुराणगत भावात्मक की गणना न करें तो भिक्षु इस प्रकार भावात्मक ईश्वरवाद के प्रवर्तकों में से सर्वप्रथम नहीं तो उनमें से एक अवश्य हैं। आधुनिक यूरोपीय दार्शनिकों के ग्रन्थों में भी ऐसे दृष्टान्त हैं, जहाँ यह कठिन परिस्थिति ईश्वरवादी व्यक्तिगत अनुभव से अभिभूत होकर भाववाद के अनुभवों को न्याययुक्त प्रमाणित नहीं करती, और उदाहरण के तौर पर हम प्रिंगल पेटिसन के ईश्वर सम्बन्धी विचारों का उल्लेख कर सकते हैं। जीव के विचार में भी हम आपाततः विरोध देख सकते हैं। क्योंकि कभी जीव को शुद्ध चैतन्य रूप कहा है, और कभी उसे जडवत् और परमात्मा के पूर्ण नियन्त्रण में बताया गया है। उक्त विरोध यह समझ कर हल किया जा सकता है कि यह जडता केवल आपेक्षिक है

---

[1] तस्मात् प्रलय मोक्षादौ विषय सम्बन्धाभावात् काष्ठ लोष्ठादिवत् जडाः सन्तो जीवा मध्यंदिनादित्यवत्सदा सर्वावभासके परमात्मनि विलीयते समुद्रे नद नद्य इव पुनश्च स एव परमात्मा स्वेच्छयाग्नि विस्फुलिंगवत् तानुपाधिसम्बन्धेन स्वतो विभज्यान्तर्यामी स न प्रेरयति तथा चोक्तम् चक्षुष्मतान्धा इव नीयमाना इति अतः स एव मुख्य आत्मा अन्तर्याम्यमृतः।

—विज्ञानामृत भाष्य, ४ १ ३।

अर्थात् पुरुष स्वयं अक्रिय है, किन्तु कर्म के लिए परमात्मा से प्रेरित है। उन्हें लोष्ट और पत्थर रूप जड़ इसीलिए कहा गया है कि वे अपने आप में निष्क्रिय हैं। किन्तु इस निष्क्रियता को चैतन्य रहितता से एक नहीं करना चाहिए। वे नित्य चैतन्य के स्फुलिंग होने के कारण, सर्वदा चैतन्य स्वरूप हैं। उनकी क्रियाशीलता परमात्मा के कारण तो अवश्य है, जिससे वे आकर्षित हों, नित्य चैतन्य में से बाहर आते हैं और सांसारिक जीवों का नाटक रचते हैं और अन्त में मुक्ति स्थिति में सागर में नदी की तरह, ब्रह्म में विलीन होते हैं। ईश्वर की यह क्रिया नित्य है, यह नित्य रचनात्मक प्रवृत्ति है जो सर्वथा अहैतुकी है (चरम कारणस्य कृते नित्यत्वात्)।[1] यह श्वास प्रश्वास की तरह सहज हो, ईश्वर में से स्वतः स्फुरित आनन्द रूप से उत्पन्न होती है, यहाँ सर्वथा किसी हेतु पूर्ति का आशय नहीं है। व्यास भाष्य में कहा है कि संसार-रचना जीवों के लाभ के हेतु की गई है। किन्तु भिक्षु कोई भी हेतु नहीं मानते। कभी कभी इस अहैतुकी क्रीडा से भी तुलना की गई है। किन्तु भिक्षु कहते हैं कि यदि क्रीडा में अंश मात्र भी हेतु है तो ईश्वर की क्रिया में वह भी नहीं है। यह क्रिया ईश्वर की रचना की इच्छा के साथ सहज ही उत्पन्न होती है जिसके लिए किसी देह या इन्द्रियों की आवश्यकता नहीं रहती है। वह सारे विश्व से एक है इसलिए उसकी क्रिया का लक्ष्य अपने से बाहर कहीं भी नहीं है, जैसाकि साधारण कर्म में होता है। वह ही, जीवों के अनादि कर्म पर आश्रित होकर, उन्हें अच्छे और बुरे कर्म कराता है। कर्म भी, उसकी शक्ति का अंग होने के कारण, और उसकी प्रेरणा की अभिव्यक्ति होने के कारण उसकी स्वतन्त्रता को मर्यादित नहीं कर सकता।[2] कृपा के सिद्धान्त, को समझाने में, राजा सेवकों पर उनकी सेवा के अनुसार, कृपा करता है या नहीं करता है यह उपमा भी सहायक नहीं है। जीवों के कर्मों के अनुरूप फल देने का भगवान् की स्वतन्त्रता से सामंजस्य है। यदि यह तर्क किया जाता है कि भगवान् की रचना प्रवृत्ति नित्य है तो वह किस प्रकार कर्म पर आश्रित है? इसका उत्तर यह दिया जा सकता है कि कर्म सहकारी कारण हैं जो सुख दुःख रूप ईश्वर की रचना प्रवृत्ति को निश्चित करते हैं। पौराणिक पद्धति का अनुसरण करते हुए, भिक्षु, यह सूचित करते हैं कि ईश्वर द्वारा उत्पन्न हिरण्यगर्भ ही कर्म सिद्धान्त का विधायक है, जो ईश्वर की सहज क्रिया के रूप में प्रकट है। इसलिए वही कर्मानुसार दुःखी मानवता के लिए जिम्मेदार है। ईश्वर केवल इस प्रक्रिया को निर्विरोध रूप से चलते रहने में सहायता करता है।[3] दूसरे अनुच्छेद में वे यह कहते हैं कि ईश्वर धर्म-अधर्म से संयुक्त जीव तथा उपाधियों को अपने ही में अपने अंश के रूप में देखता है,

---

[1] देखो विज्ञानामृत भाष्य, २ १ ३२।

[2] देखो विज्ञानामृत भाष्य, २ १ ३३।

[3] वही, २ १ ३३।

जीवों को इन उपाधियों से सम्बन्धित करके, वह उन्हें अपने में से बाहर लाता है। जिस प्रकार कुम्हार घड़ों को रचता है इस प्रकार वह जीवों का निर्माता है।[1]

आत्मा अस्पृश्य और असग है। प्रकृति और पुरुष का संयोग इसलिए, साधारण अर्थ में साक्षात् सम्बन्ध के रूप में नहीं समझना चाहिए किन्तु यह सम्बन्ध उपाधि द्वारा प्रतीत रूप से बिम्बित होना है जिससे शुद्ध आत्मा संसारी की तरह काम करता है। आत्मा को अपने गुण एवं धर्म का ज्ञान नहीं होता, वह स्वयं शुद्ध चैतन्य स्वरूप है, इस शुद्ध चैतन्य का किसी समय भी अवसान नहीं होता, वह गाढ़ निद्रा में भी रहता है। किन्तु गाढ़ निद्रा में कोई ज्ञान नहीं होता क्योंकि वहाँ कोई ज्ञान का विषय नहीं होता, और इसी कारण चैतन्य आत्मा में विद्यमान होते हुए भी उसका भान नहीं करता। अन्तःकरण में रही वासनाएँ शुद्धात्मा को दूषित नहीं कर सकती, क्योंकि उस समय अन्तःकरण का लय हुआ रहता है। बुद्धि की वृत्तियों के प्रतिबिम्ब से ही पदार्थों का ज्ञान सम्भव है। शुद्ध चैतन्य, आत्मा से अभिन्न होने के कारण, ज्ञाता और ज्ञेय रूप द्वैत युक्त आत्म चेतना गाढ़ निद्रा में नहीं हो सकती। शुद्ध चैतन्य वैसा ही बना रहता है और केवल चित्तवृत्तियों के परिणाम के अनुसार, विषयों का ज्ञान आता और जाता है।[2] जीव, इस प्रकार परमात्मा के अनुचिन्तन से उत्पन्न हुआ नहीं माना जाना चाहिए जैसाकि शंकर मतवादी मानते हैं, क्योंकि ऐसी स्थिति में जीव सर्वथा असत् होंगे और बन्धन मुक्ति भी असत कहे जाएँगे।

विज्ञानामृत भाष्य के अनुसार ब्रह्म और जगत्

जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय विकार क्षय और विनाश ईश्वर रूप ब्रह्म से है। वह प्रकृति और पुरुष को निर्मित करने वाली शक्तियों को अपने में धारण करता है और अपने विभिन्न रूपों में व्यक्त करता है, शुद्ध चैतन्य स्वरूप ब्रह्म अपनी सत्ता की उपाधि से संयुक्त होता है जो समस्त सर्जन क्रिया में सत्व गुण-युक्त, माया है, इसलिए उस महान् सत्ता से, जो क्लेश रहित है कर्म तथा फल उत्पन्न होते हैं। ब्रह्म सूत्र २ २ में यह कहा है कि जगत् ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है तथा उसी से धारण किया गया है इससे यह अर्थ निकलता है कि जगत् की जैसी भी अपनी सत्ता है वह परम सत्ता और अव्यक्त की सत्ता के अन्तर्गत एक नित्य तथ्य है। जगत् की उत्पत्ति,

---

[1] ईश्वरो हि स्वांशस्व शरीरांश तुल्यौ जीव तदुपाधि स्वान्तर्गतौ धर्मादि सहितौ साक्षादेव परस्परपरतन्त्र स्व लीलया संयोग विशेष ब्रह्मादीनामपि दुर्विभाव्य कुर्वन् कुम्भकार इव घटम्। —वही, १ १ २३।

[2] विज्ञानामृत भाष्य २-३ ५।

परिणाम और विनाश उसके भासमान पहलू हैं।[1] ब्रह्म को यहाँ अधिष्ठान कारण माना है। इसका अर्थ यह है कि ब्रह्म जगत् का आधार है जिसमें जगत् अविभक्त और अव्यक्त रूप से स्थित है और वह जगत् को धारण भी करता है। ब्रह्म ही एक कारण है जो जगत् के उपादान कारण को धारण करता है जिससे कि वह उस रूप से परिणत हो सके।[2] ब्रह्म चरम कारण का सिद्धान्त है जिससे सभी प्रकार के कारणत्व सम्भव हैं। मूल ब्रह्म में प्रकृति और पुरुष नित्य चैतन्य रूप में रहते हैं और इसलिए दोनों उससे एक होकर रहते हैं। ब्रह्म न तो परिणामी है और न प्रकृति और पुरुष से तद्रूप है। इसी कारण यद्यपि ब्रह्म शुद्ध चैतन्य स्वरूप और अपरिणामी है फिर भी वह जगत से एक रूप और उसका उपादान कारण माना गया है। विकारी कारण और अधिष्ठान कारण को, उपादान कारण की संज्ञा दी गई है। उपादान और अधिष्ठान कारण के अन्तर्गत सिद्धान्त यह है कि कार्य उसमें लय होता हुआ, धारण किया गया है या उससे अविभेद्य है।[3] कार्य से अविभाग या एकात्मकता सामान्य रूप से समझा जाने वाला तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है किन्तु यह एक प्रकार का निस्सबधित सम्बन्ध है एक प्रकार की विलक्षणता है जिसे सम्बद्ध घटकों में अवघटित नहीं किया जा सकता जिससे कि यह सम्बन्ध उन घटकों में फिर से जोड़ा जाय। कहने का तात्पर्य केवल यह है कि जगत् ब्रह्म रूप अधिष्ठान से इस प्रकार अधिष्ठित है कि उसे केवल ब्रह्म का मिथ्याभास या उसे ब्रह्म का परिणाम या विकार ही नहीं माना जा सकता है किन्तु जब ये दो प्रकार के सम्भावित कार्य कारण सम्बन्ध नहीं उपयुक्त होते तो जगत की ब्रह्म के बिना, जो ब्रह्म जगत का आधार है और जो विकास क्रम की सहायता करता है कोई सत्ता महत्व या अर्थ नहीं रहता। आधार-आधेय का सामान्य सम्बन्ध यहाँ अनुपयुक्त ठहरता है क्योंकि इसमें स्वतन्त्र सत्ता का द्वैत बना रहता है, वर्तमान प्रस्ताव में तो, जहाँ ब्रह्म को अधिष्ठान कारण माना गया है वहाँ यह द्वैत भाव नहीं है और जगत् का ब्रह्म से पृथक होना सोचा नहीं जा सकता जो उसका अधिष्ठान है और अपने पररूप से अपरिणामी रहता है। इस प्रकार यद्यपि, यहाँ यह मानना पड़ता है कि सम्बन्ध दो के बीच है किन्तु इसे पर या सर्वातिशायी दृष्टि से समझना चाहिए जिसकी उपमा कहीं भी नहीं मिलती। पानी और

---

[1] अत्र चतद् यत इत्यनुक्त्वा ज मात्यस्य यत इति वचनादव्यक्त रूपेण जगत् नित्य एव इति आचार्याशय।

—विज्ञानामृत भाष्य, १ १ २।

[2] किं पुनरधिष्ठान कारणत्वमुच्यते तदेवाधिष्ठान कारण यत्रविभक्त येनोपष्टब्ध च सदुपादाना कारण कार्याकारेण परिणमते। —वही।

[3] कार्याविभागाधारत्वस्यैवापादान सामान्य लक्षण वात्।

—विज्ञानामृत भाष्य, १ १ २।

दूध के मिश्रण जैसा चित्रवत् उपमा भी इसके अनुरूप नहीं ठहरती।[1] यहाँ जहाँ तक दोनों सम्मिश्र अवस्था में हैं वहाँ तक पानी दूध पर आश्रित है और दोनों को हम एक को दूसरे के बिना सोच नहीं सकते। प्रकृति और पुरुष के धर्म भी शुद्ध चैतन्य मय ईश्वर के स्वरूप से अभिव्यक्त होते हैं द्रव्यगुण और कर्म का कारणत्व भी ईश्वर में अंतर्निहित स्वरूप से है जो सभी पदार्थों में व्याप्त है। समवाय सम्बन्ध का अधिष्ठान में इस विलक्षण अविभाज्य सम्बन्ध से भेद यह है कि समवाय, कार्यों के आपस के अंतरंग गाढ़ सम्बन्ध में होता है और अविभाग सम्बन्ध केवल कार्य का कारण से विशेष प्रकार का सम्बन्ध है, और यह न्याय अपना का, कार्यों के अविच्छेद संयोग रूपी पूर्ण से कोई सम्बन्ध तथ्य नहीं करता। एक जीवित प्राणी के अंगों में आपस में विद्यमान अविभाग सम्बन्ध भी इस कार्य कारण अविभाग सम्बन्ध से भिन्न है। जड़ और जीव युक्त इस जगत के अंग एक दूसरे से अविभाज्य सम्बन्ध में एक हुए माने जा सकते हैं किन्तु यह संबंध आपस में कार्यों के बीच गाढ़ संबंध है और पूर्ण इनके समूह से पृथक कुछ नहीं है। यही समवाय संबंध की विशिष्टता कही जा सकती है। किन्तु अधिष्ठान के अविभाग संबंध में कार्य अधिष्ठान में इस प्रकार समाया हुआ है कि कार्य की कारण से पृथक सत्ता ही नहीं है।[2] ब्रह्म इस मत में आधार या अधिष्ठान है जो पुरुष और प्रकृति के सम्पूर्ण एकत्व का आधार रहता है जिससे कि वह जगत के विभिन्न रूपों से अभिव्यक्त हो।[3] वह इसलिए विकार तथा जगत परिणाम में कोई भाग नहीं लेता किन्तु वह अपने में अभिन्न रूप से रहता है और अपने में स्वस्थित और स्वाश्रित होकर जगत रूप होता है।

विज्ञान भिक्षु कहते हैं कि वैशेषिक मत में ईश्वर को चालक या निमित्त कारण माना है जबकि वे सोचते हैं कि ईश्वर का कारणत्व समवायी असमवायी या निमित्त, इनमें से कोई भी नहीं हो सकता, किन्तु वह तो चौथे ही प्रकार का है जो अधिष्ठान या आधार कारण है।[4] वे इस प्रकार के कारण का अधिष्ठान शब्द से भी वर्णन

---

[1] अविभागश्चा धारतावत् स्वरूप सम्बन्ध विशेषोऽस्यत सम्मिश्रण रूपा दुग्ध जलाद्येकता प्रत्यय नियामक। —विज्ञानामृत भाष्य।

[2] तत्र समवाय सम्बन्धेन यत्राविभाग स्तद् विकारि कारण यत्र च कार्यस्य कारणाविभागेन अविभागस्तदधिष्ठान कारणम्। —वही।

[3] यदि हि परमात्मा देहवत् सर्व कारण नाधितिष्ठेत् तर्हि द्रव्य गुण कर्मादि साधारणाखिल कार्ये इत्य मूलकारणम् न स्यात्।

—ईश्वरगीता भाष्य, हस्त०।

[4] अस्माभिस्तु समवाय्यसमवायिभ्याम् उदासीन निमित्त कारणेभ्यश्च विलक्षणतया चतुर्थमाधार कारणत्वम्। —वही।

करते हैं जिस शब्द से हम शंकर वेदान्त में परिचित हैं। किन्तु इन दोनों अधिष्ठान कारण के प्रत्ययों में महान् भेद है क्योंकि भिक्षु इसे अपरिणामी आधार मानते हैं जो अपनी अविभक्त एकता में परिणाम के सिद्धान्त की निया को धारण करता है शंकराचार्य, जबकि अधिष्ठान को परिणाम का आधार मानते हैं जो वास्तव में असत हैं। भिक्षु के अनुसार तो अपरिणामी व्यापार असत् नहीं है किन्तु वे आधार कारण के साथ अविभक्त एकता में रहने वाले परिणाम सिद्धान्त का विकार मात्र है। जब जगत को सत असत रूप कहते हैं और इसलिए वह असत और मिथ्या है तब शंकर मतवादी बड़ी भूल करते हैं। जगत को सत असत यों कहा है कि वह परिणाम के सिद्धान्त की अभिव्यक्ति है। उसे 'यह' कहा जाता है और नहीं भी क्योंकि वह बदलता है इसलिए उसे 'यह' भी नहीं कहा जा सकता। बदलते व्यापार के भविष्य में होने वाले रूप भी, वर्तमान में असत रूप हैं और वर्तमान रूप भी भविष्य में होने वाले रूपों में नहीं के समान हैं। इस प्रकार उसके कोई भी रूप असत माने जा सकते हैं इसलिए जो वस्तु सदा है और एक ही रूप में बनी रहती है उसकी तुलना में यह मिथ्या है।[1] जगत के सभी पदार्थ जहाँ तक वे भूत भविष्य में हैं वे उनकी वर्तमान दशा से बाधित हैं और इसलिए मिथ्या माने जाते हैं किन्तु जहाँ तक वे अपने वर्तमान से प्रत्यक्ष किए जाते हैं सत्य माने जाते हैं।[2]

जगत तो शुद्ध चैतन्य रूप से नित्य और अविकारी है जिसमें से वह जड़ और जीव युक्त जगत के रूप में पृथक किया गया है। शुद्ध चैतन्य अपने आप में अन्तिम सत्य है जो सर्वदा एकसा है और उसमें किसी प्रकार का परिणाम या विकार नहीं होता। जीव और जड़ जगत का अन्त में ब्रह्म में ही लय होता है जो शुद्ध और परम चैतन्य है। ये इसलिए नित्य अपरिणामी ब्रह्म की तुलना में नाम रूप कहे गए हैं।[3] किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि जीव और यह जड़ जगत नितान्त मिथ्या और माया या भ्रम है। यदि सब जो कुछ दीखता है वह मिथ्या है तो सभी नैतिक मूल्यों का अन्त हो जायगा और बंधन तथा मुक्ति के सभी विचार निरर्थक हो जाएँगे। यदि ब्रह्म के अतिरिक्त सभी वस्तुओं का मिथ्यात्व किसी प्रकार सिद्ध भी कर लिया जाता है

---

[1] एक-धर्मेण सत्व दशायां परिणामि वस्तूनामतीतानागत धर्मेण असत्वात।
—विज्ञानामृत भाष्य, १ १ ३।

[2] घटादयो हि अनागताद्यवस्थासु व्यक्ताद्यवस्थाभि र्बाध्यन्ते इति। घटादयो मिथ्या शब्देन उच्यन्ते विद्यमान धर्मेश्च तदानीं न बाध्यन्ते इति सत्या इत्यपि उच्यन्ते।
—वही।

[3] ज्ञान स्वरूप परमात्मा स एव सत्य जीवाश्चानित्यनित्यैकीभूता अपक्षायमयत्वेन परमात्मापेक्षया तेऽप्यसन्त।
—वही।

तो यह प्रयास स्वयं सिद्ध कर देगा कि इन प्रमाणों में सच्चाई है और इसलिए यह भी कि शुद्ध चैतन्य के अतिरिक्त और भी वस्तु हैं जो सत्य हो सकती हैं। यदि ये प्रमाण असत्य हैं किन्तु वे अन्य वस्तु के विरोध में शुद्ध चैतन्य की प्रमाणता सिद्ध कर सकते हैं तो ये प्रमाण जगत् की अन्य वस्तुओं की सचाई भी सिद्ध कर सकते हैं। यह माना जा सकता है कि जिसे सामान्य मनुष्य सच समझते हैं उन्हें, उन प्रमाणों द्वारा मिथ्या सिद्ध किया जा सकता है जिन्हें वे प्रमाण मानते हैं किन्तु शंकर मतानुसार किसी को भी सत्य नहीं माना गया है, इसलिए जगत् व्यापार को सत्य सिद्ध करने के लिए कोई प्रमाण नहीं मिलते। किन्तु इस मत के विषय में जो उत्तर उपस्थित होता है वह यह है यद्यपि जगत् की सचाई सिद्ध नहीं की जा सकती तो भी इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि जगत् व्यापार असत है क्योंकि यदि उसकी प्रमाणता सिद्ध भी न की जा सके तो भी उसकी सचाई या सत्ता कम से कम शंकास्पद रह सकती है। इसलिए हमारे पास ऐसा कोई प्रमाण नहीं है जिससे हम उसकी सत्यता या मिथ्या के विषय में निष्कर्ष दे सकें। जगत की सच्चाई ब्रह्म जो शुद्ध चैतन्य है उससे किसी दूसरी कोटि की है, जगत की सचाई अर्थक्रियाकारित्व दृष्टि से है। किन्तु जगत की परिणाम अवस्था में जगत की सचाई उसके परिणाम होने में या अर्थक्रियाकारित्व में है तो भी वह अपने आप में परम सत्य भी है क्योंकि जगत की अंतिम सत्ता ब्रह्म से उद्भूत हुई है। जीव और जड युक्त जगत, ब्रह्म में शुद्ध चैतन्य रूप से विद्यमान है और इसलिए उससे एक है। जब वह अपनी शुद्ध चैतन्यावस्था में जीव और जड जगत के रूप में व्यक्त होता है तब हम उसकी सर्जन अवस्था कहते हैं। जब वह ब्रह्म में चैतन्य रूप से फिर लय होता है तब वह प्रलय अवस्था है।[1] जीव जड-जगत को भी अन्त में शुद्ध चैतन्य रूप मानना पडता है और इसलिए वह शुद्ध चैतन्य का अंग है जिसमें वह लय हुआ सा रहता है। परिवर्तनशील दृश्य रूप जगत भी, इस प्रकार का ज्ञान रूप है और केवल अज्ञानी ही उसे केवल विषय (अर्थ) रूप मानते हैं।[2] जब श्रुति, ब्रह्म और जगत की अभिन्नता प्रतिपादन करती है तब वह इस अंतिम अवस्था को लक्ष्य करके कहती है, जिसमें जगत ब्रह्म से एक होकर शुद्ध चैतन्य रूप से रहता है। किन्तु प्रलयावस्था में ही केवल जगत, ब्रह्म से अविभक्तावस्था में ही नहीं रहता, किन्तु सर्जनावस्था में भी वह ब्रह्म से एक होकर रहता है क्योंकि जड वस्तु में पाई जाने वाली जो कुछ भी यान्त्रिक या अन्य प्रकार की शक्तियां हैं वे ईश्वर की ही शक्तियां हैं और क्योंकि शक्ति को शक्तिमान् से अभिन्न माना जाता है

---

[1] प्रलयेहि पु प्रकत्यादिक ज्ञानरूपेणैव रूप्यते न स्वरूपेण अर्थतो व्यंजक व्यापाराभावात। —विज्ञानामृत भाष्य, १ १ ४।

[2] ज्ञान स्वरूपमखिल जगदेतद्बुद्धय। अर्थस्वरूप पश्यन्तो भ्राम्यन्ते मोह सम्प्लवे। —वही।

सामान्य से क्षेत्र बडा होता है इसलिए वह छोटे के सम्बन्ध में ब्रह्म कहलाता है। कार्य का कारण कार्य से वृहत् और अधिक सामान्य होता है इसलिए उसकी तुलना में वह ब्रह्म कहलाता है। इसलिए ब्रह्म के अनेक स्तर है। किन्तु जो इस स्तर से सर्वोपरि है वह महान् या परम सामान्य है और चरम कारण है इसलिए वह पर ब्रह्म कहलाता है। ब्रह्म इस प्रकार महान् और परम सत्य है। जड जगत को निश्चित करने वाले तत्व ब्रह्म में ज्ञान रूप से विद्यमान है। सृष्टि रचना का अर्थ यह है कि ये निश्चित करने वाले तत्व जो अव्यक्त और अक्रिय होकर विद्यमान है वे जगत् रूप से व्यक्त और सक्रिय होते हैं। शुद्ध चैतन्य स्वरूप ईश्वर को इस अव्यक्त प्रकृति के कार्य एवं परिणामों का पूर्ण एवं विस्तृत ज्ञान है जो वास्तविक जगत् रूप से परिणत होता है। प्रकृति के परिणाम का आरम्भ पुरुष का चैतन्य से संयोग के क्षण से होता है। श्रुति कहती है कि ईश्वर ने पुरुष और प्रकृति में प्रवेश किया, सन्तुलन को क्षुब्ध किया और एक दूसरे का संयोग साधा। पुरुष अवश्य ही चैतन्य के स्फुलिंग रूप है और उनमें किसी प्रकार का क्षोभ उत्पन्न करना असम्भव है। क्षोभ इस प्रकार प्रकृति में होता है और इस क्षोभ का प्रभाव पुरुष में भी मान लिया जाता है। पुरुष को ईश्वर का अंश रूप मानना चाहिए और पुरुष और ब्रह्म में सचमुच तादात्म्य हो नहीं सकता। पुरुष और ब्रह्म में तथाकथित तादात्म्य का अर्थ यह है कि वे ईश्वर की सत्ता के विभाग हैं जिस प्रकार पूर्ण के अंश उसके विभाग होते हैं। शंकर मतवादियों का यह कहना कि जीव और ब्रह्म एक ही हैं और भेद केवल अज्ञान की बाह्य उपाधि के कारण या प्रतिबिम्ब के कारण है गलत है। ब्रह्म और जीव के बीच एकता अविभाग रूप है। यदि जीव की सत्ता अस्वीकार की जाती है तो यह नैतिक और धार्मिक मूल्यों और तथा बंधन और मुक्ति को भी अस्वीकार करना होगा।

इस सम्बन्ध में यह भी आग्रह किया जाता है कि जीव ब्रह्म से आग से स्फुल्लिंग की तरह उत्पन्न है या पिता से पुत्र की तरह। जीव, शुद्ध चैतन्य स्वरूप होने से ईश्वर के अनुरूप है। किन्तु यद्यपि वे उससे उत्पन्न हुए है तो भी वे अपना व्यक्तित्व बनाए रखते हैं और अपने नैतिक व्यवहार का क्षेत्र भी बनाए रखते हैं। जीव अपने स्वरूप से स्वतन्त्र और मुक्त हैं वे सब सर्वव्यापी हैं और वे अपने चैतन्य में जगत को धारण करते हैं। इन सबों में वे ब्रह्म के समान है। किन्तु उपाधि से सम्बन्धित होकर वे मर्यादित और सीमित दीखते हैं। जब जीव का सारा जीवन काल, ब्रह्म में अंश रूप से विद्यमान माना जाता है, तथा ब्रह्म में से पृथक् रूप से व्यक्त हुआ माना जाता है और वह उपाधि के संयोग से उत्पन्न जीवन प्रतीत करता है और अन्त में उससे विभक्त होता है और ब्रह्म से अपनी एकता अनुभव करता है तथा कुछ अंश में उससे भिन्न भी है ऐसा अनुभव करता है तब ही सच्चा दार्शनिक ज्ञान हुआ कहा

जाता है और यही अपने स्वरूप की सच्ची अनुभूति है।[1] सांख्य से इस मत का भेद यह है कि सांख्य केवल पुरुष की पृथक्ता और विलक्षणता मानकर ही सन्तुष्ट रहता है किन्तु वेदान्त दृष्टि जो यहाँ प्रतिपादित की गई है वह इस तथ्य की अवहेलना नहीं कर सकता कि वे पृथक् होते हुए भी ब्रह्म से एक रूप हैं और वे उससे उत्पन्न हुए हैं, और यहाँ अपनी विलक्षणतामय नियति को पूरा करके फिर उसी में लय होंगे और सांसारिक जीवन काल में भी वे एक दृष्टि से अविभक्त हैं क्योंकि वे उसकी शक्ति हैं।[2] जीव और ब्रह्म के बीच रहा हुआ भेद उनके सांसारिक जीवन काल में बहुत ही स्पष्ट है। वह इस कारण है कि प्रत्येक जीव में प्रकृति का भान उनकी चेतना में पृथक् रूप से रहता है और प्रत्येक जीव अपने अनुभव से सीमित है। किन्तु प्रलय के समय जब प्रकृति जाकर ब्रह्म में अव्यक्त शक्ति की स्थिति में मिल जाती है तब जीव भी उसमें मिल जाते हैं, और फिर उनके अनुभव का पृथक् क्षेत्र नहीं रहता और उनकी पृथक् सत्ता वर्णित नहीं की जा सकती।

पूर्ण और अंश जैसा सम्बन्ध जो जीव और ब्रह्म के बीच विद्यमान है वह पिता पुत्र जैसा है। पिता पुत्र रूप से फिर जन्म लेता है। जन्म से पहले पुत्र पिता की प्राण शक्ति में अविभक्त रूप से रहता है और जब उससे पृथक् हो जाता है तो माना पिता की ही प्राण शक्ति या जीवन शक्ति एक नए जीवन काल में पुनरारम्भ करती है और अपना पृथक् कार्य क्षेत्र बनाती है। पुनः जब ऐसा कहा है कि जीव ब्रह्म के विभाग हैं तब ऐसा नहीं समझना चाहिए कि वे ईश्वर या सृष्टि रचयिता के रूप में भाग लेते हैं। ईश्वर अपने स्वरूप में एकरस रहता है किन्तु उसमें पृथक्त्वता और विलक्षणता का तत्त्व सर्वदा विद्यमान रहता है। यदि वह एकरस होता तो उसके भागों में विशिष्ट पृथक्ता न होती और वे आकाश के विभाग की तरह एक दूसरे से सदा अविभाज्य रहते। किन्तु ईश्वर में भेद का सिद्धान्त विद्यमान है यह इस बात को स्पष्ट करता है कि जीव ब्रह्म से चैतन्य रूप में ही समान है किन्तु उनका सर्व शक्ति सत्ता और सृष्टि रचना के कार्य में कोई भी दायित्व नहीं है। सांख्यकार यह मानते हैं कि अपने ममत्वमुक्त अनुभव वृत्तियाँ इन्द्रियाँ बुद्धि और देह अलग होने पर ही मुक्ति मिलती है यह जानकर कि आत्मा स्वप्रकाश्य है जिससे सारे अनुभव दृश्य होते हैं और यद्यपि वे उससे सर्वथा भिन्न हैं तो भी वे उसमें (आत्मा) एक रूप से धारण

[1] भेदाभेदौ विभागाविभागरूपौ कालभेदेन अविरुद्धौ अन्योन्या भावश्च जीव-ब्रह्मणो-रात्यन्तिक एव।

—विज्ञानामृत भाष्य १ १ २।

[2] अत इदं ब्रह्मात्म ज्ञानं विविक्त जीव ज्ञानात् सांख्योक्तादपि श्रेष्ठम्।

—वही १ १ २।

किए हुए रहते हैं। किन्तु वेदान्त का अर्थ जो यहाँ पर ग्रहण किया गया है उसके अनुसार शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा के ज्ञान से तथा ईश्वर से वे उत्पन्न हुए हैं, और उसी के द्वारा उनकी स्थिति बनी हुई है और जिसमें वे अन्त में विलीन होंगे और इस ज्ञान से कि ये सब ईश्वर के चैतन्य में उसके अंश रूप से विद्यमान हैं और यह कि आत्मा अनुभव का सच्चा भोक्ता नहीं है किन्तु वह केवल चैतन्य है जिसमें जगत और अनुभव प्रकाशित होते हैं ममत्व का नाश होता है। इस प्रकार यद्यपि सांख्य और वेदान्त में जैसा कि यहाँ समझा गया है, मुक्ति मिथ्या ममत्व के दूर होने से प्राप्त होती है हमारे मत में ममत्व का लय एक भिन्न दार्शनिक विचारानुसार होता है।[1]

चैतन्य एक गुण नहीं है किन्तु आत्मा का स्वरूप है। जिस प्रकार प्रकाश एक द्रव्य है जो दूसरी वस्तुओं को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार चैतन्य भी एक द्रव्य है जो दूसरी वस्तुओं को प्रकाशित करता है। जब कोई कहता है मैं इसे जानता हूँ तब ज्ञान मैं के गुण रूप से प्रतीत होता है जो न तो आत्मा है और न एक रस वस्तु है। मैं इन्द्रियाँ बुद्धि इत्यादि का मिश्रण है जिसमें गुण निवेश किए जा सकते हैं आत्मा कोई मिश्र वस्तु नहीं है किन्तु एकरस अमिश्र वस्तु चैतन्य है। मैं रूप मिश्र वस्तु चैतन्य के प्रकटीकरण द्वारा सभी वस्तुओं को व्यक्त करती है। आनन्द या सुख अवश्य ही, स्वप्रकाश्य पदार्थ नहीं माने जा सकते किन्तु वह दुःख जैसा स्वतन्त्र पदार्थ है जो चैतन्य द्वारा प्रकाशित होता है। इसलिए न तो आत्मा और न ब्रह्म ही को आनन्द या सुख रूप माना जा सकता क्योंकि ये प्रकृति के विकार हैं और इसलिए इन्हें दर्शन नहीं किन्तु दृश्य मानना चाहिए। चैतन्य को विषयों का प्रकाशित करने के लिए बुद्धि व्यापार के माध्यम की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि ऐसा मत प्रश्न को हल किए बिना अनवस्था दोष उत्पन्न करेगा। यह भी सोचना गलत है कि चैतन्य को प्रकाशित होने के लिए कोई व्यापार करना पड़ता है क्योंकि वस्तु अपने आप पर क्रिया नहीं कर सकती (कर्तृ कर्म विरोधात्)। यदि उपरोक्त कारणवश आत्मा को सुख रूप नहीं माना जा सकता तो मुक्ति के समय भी उसमें वह गुण नहीं हो सकता उस समय केवल दुःख का अन्त है या यों कहिए कि सुख और दुःख दोनों का अन्त है जिसे पारिभाषिक शब्दों में सुख कहा है (सुख दुःख सुखात्यय)। मुक्ति के समय बुद्धि व्यापार इत्यादि समस्त उपाधियाँ लय होती हैं और परिणामस्वरूप सुख-दुःख के सभी अनुभव लुप्त हो जाते हैं क्योंकि ये विषयगत हैं जो आत्मा के लिए उपाधिवशात् दृश्य हैं। जब उपनिषद् कहते हैं कि आत्मा सबसे अधिक प्रिय है तो यह मानना आवश्यक नहीं है कि सुख सबसे अधिक प्रिय है क्योंकि आत्मा स्वतः के लिए मूल्यावान् हो सकती है यह भी सोचा जा सकता है कि यहाँ सुख का अर्थ दुःख

---

[1] विज्ञानामृत भाष्य पृ० १६।

का अन्त है।[1] अमरत्व की इच्छा या आत्मा की अनन्त काल तक जीवन की अभिलाषा, हमारा अपने प्रति मोह को उदाहृत करता है। दूसरा मत, कि प्राप्ति का परम हेतु दुःख का अन्त करना है, यह भी आक्षेप पूर्ण नहीं है क्योंकि सुख दुःख आत्मा के धर्म नहीं हैं क्योंकि सुख दुःख का संयोग केवल उनके भोग और क्लेश से सम्बन्ध रखना है और वह आत्मा के मोह के बन्धन के रूप में नहीं है। भोग का अनुभव शब्द द्वारा स्पष्ट रूप से समझने की कोशिश कर सकते हैं, इस शब्द का दो रूप से प्रयोग होना है एक बुद्धि और दूसरा पुरुष में सम्बन्ध रखता है। प्रकृति सुख-दुःख और मोह तत्वों की बनी है और बुद्धि प्रकृति का विकार है इसलिए बुद्धि का जब सुख दुःख से संयोग होता है तब यह संयोग उसे उन्हीं तत्वों से मिलाता है जिनसे वह बनी है इसलिए उसके स्वरूप को धारण तथा बनाए रखता है। किन्तु भोग जब पुरुष से अर्थ रखता है तब अर्थ यह होता है कि सुख और दुःख जो बुद्धि धारण किए हुए है व उस पर प्रतिबिम्बित होते हैं और इसलिए उसका साक्षात्कार होता है। यह पुरुष में प्रतिबिम्ब द्वारा सुख और दुःख का साक्षात्कार ही पुरुष का भोग या अनुभव कहलाता है। बुद्धि को कोई भोग या अनुभव किसी सुदूर अर्थ में भी नहीं हो सकता क्योंकि वह जड़ है। किन्तु यह भली प्रकार तर्क किया जा सकता है कि जबकि पुरुष वास्तव में ग्रह नहीं है तो उसे वास्तविक रूप से कोई सच्चा अनुभव नहीं हो सकता, क्योंकि उसे सचमुच कोई सुख दुःख का अनुभव नहीं हो सकता वह इसके अन्त को अपने लिए मूल्यवान नहीं समझ सकता। ऐसे आक्षेप का उत्तर यह है कि अनुभव कर्त्ता पुरुष के लिए दुःख का अन्त परम मूल्यवान् है इस अनुभव की सच्चाई बुद्धि का अपने विकास मार्ग पर अग्रगामी करती है। यदि ऐसा न होता तो बुद्धि अपने हेतु की ओर आगे न प्रवृत्त होती। इसलिए सुख दुःख पुरुष में नहीं होने पर भी उसके द्वारा अनुभव किए जा सकते हैं और बुद्धि को उसके द्वारा मार्गदर्शन मिल सकता है।

जब उपनिषद् 'तत्वमसि' कहते हैं तो उनके कहने का तात्पर्य यह है कि आत्मा का चित्त की व्यापार बुद्धि से एक नहीं करना चाहिए और न प्रकृति के किसी विकासज से एक करना चाहिए। आत्मा शुद्ध चैतन्य ब्रह्म का विभाग है। जब मनुष्य उपनिषद् से यह जान लेता है या गुरु से यह सुनता है कि वह ब्रह्म का अंश है तब वह ध्यान द्वारा इसे अनुभव करने का प्रयास करने लगता है। सांख्य का वेदान्त से मत भेद यह है कि सांख्य जीव को चरम तत्व रूप से मानता है जबकि वेदान्त ब्रह्म को परम सत्ता मानता है और यह भी कि जीव और जड़ तथा अन्य पदार्थों की सत्ता ब्रह्म पर आश्रित है।

---

[1] आत्मत्वस्यापि प्रेम प्रयोजकत्वान् दुःख निवृत्ति-रूपत्वाधा बोध्यम्।

—वही।

ब्रह्मानुभव और अनुभव

कारण की उपादान कारण के साक्षात् और अव्यवहित प्रत्यक्ष से कारण उत्पत्ति है, ऐसी परिभाषा दी जा सकती है। बुद्धि का कार्य माना है, क्योंकि घड़े और अन्य पदार्थों की तरह, वह उसके उपादान तत्व के साक्षात् और अव्यवहित अनुभूति से उत्पन्न है। इससे स्वाभाविक यह अर्थ निकलता है कि बुद्धि का उपादान द्रव्य है जो किसी सत्ता द्वारा साक्षात अनुभवगम्य है और जिसके प्रति उस सत्ता की सर्जन शक्ति कार्य करती है और वह सत्ता ईश्वर है। ब्रह्म सूत्र में यह कहा है कि, ब्रह्म, श्रुति-प्रमाण द्वारा जाना जा सकता है। किन्तु यह सत्य नहीं हो सकता क्योंकि उपनिषदों में कहा है कि ब्रह्म शब्द द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता और बुद्धि द्वारा अगम्य है। इसका उत्तर यह है कि उक्त पाठों में जो निषेध किया गया है वह इस तथ्य को पुष्ट करता है कि ब्रह्म पूर्ण रूप से तथा विलक्षण रूप से श्रुति से नहीं जाना जा सकता, किन्तु इन पाठों का यह अर्थ नहीं है कि ब्रह्म के स्वरूप का ऐसा सामान्य ज्ञान शक्य नहीं है। हमें जब श्रुति द्वारा ऐसा सामान्य ज्ञान प्राप्त होता है तभी हम इस क्षेत्र में प्रवेश करते हैं जिस पर योगाभ्यास द्वारा आगे से आगे बढ़ते हैं, और अन्त में उसका साक्षात् अपरोक्ष अनुभव करते हैं। ईश्वर विशिष्ट गुण धर्म रहित है इससे यही अर्थ निकलता है कि उसके गुण धर्म अन्य वस्तुओं के गुण धर्मों से सर्वथा भिन्न हैं और *यद्यपि ऐसे गुण धर्म सामान्य प्रत्यक्ष अनुमान इत्यादि प्रमाण द्वारा अनुभव गम्य नहीं* होते किन्तु वह योग ध्यान द्वारा साक्षात अनुभव किए जा सकते हैं, इसमें कोई आक्षेप नहीं हो सकता। कुछ वेदान्ती ऐसा सोचते हैं कि ब्रह्म का साक्षात अनुभव नहीं हो सकता किन्तु वह वृत्ति का विषय होता है। ऐसी वृत्ति अज्ञान को नष्ट करती है और परिणामस्वरूप ब्रह्म प्रकट हो जाता है। किन्तु भिक्षु इस पर आक्षेप करते हैं और कहते हैं कि वृत्ति या बुद्धि व्यापार का चैतन्य या आत्मा से विषय को सम्बन्धित करने के लिए स्वीकारा गया है किन्तु एक बार यह सम्बन्ध हो जाने पर विषय का साक्षात ज्ञान हो जाता है इसलिए ब्रह्म को ज्ञान क्षेत्र में लाने के वास्ते अन्त प्रज्ञात्मक समाकल्पन सम्प्रत्यक्षण इस हेतु पर्याप्त है। यह नहीं माना जा सकता कि जबकि ब्रह्म स्वयं स्वप्रकाश स्वरूप है तो अन्त प्रज्ञात्मक सम्प्रत्यक्षण आवश्यकता नहीं है और यह भी आवश्यक नहीं कि वृत्ति को अज्ञान के विलय के लिए स्वीकारा गया था क्योंकि ब्रह्म शुद्ध चैतन्य होने से केवल अन्त प्रज्ञात्मक सम्प्रत्यक्षण द्वारा ही जाना जा सकता है जो स्वयं ज्ञान स्वरूप है। जबकि सभी अनुभव साक्षात् और अपरोक्ष हैं तो आत्म ज्ञान भी वैसा ही होना चाहिए। ज्ञान के उदय के लिए उपाधि के रूप में अवरोध के सिद्धान्त को मानना किंचित भी आवश्यक नहीं है जिसे फिर निरास करना पड़े। गाढ़ निद्रा की स्थिति में तमस के रूप में अवरोध के सिद्धान्त को यह समझाने के लिए मानना पड़ता है कि वहाँ ज्ञानाभाव है जिससे सभी ज्ञान-व्यापार और व्यवहार का भी अभाव है। प्रतिपक्षी का यह मानना कि ब्रह्म

स्वप्रकाश है उसका किसी मेभी सम्ब ध नही हो सकता क्योकि ब्रह्म वेत्ता और वेद्य दोनो नहीं हो सकता, तो इसका भिक्षु यह उत्तर देते हैं कि स्वप्रकाशता का प्रथ सम्ब ध-रहितता नही ह (प्रमगता), और ब्रह्म और जीव का पूर्ण तादात्म्य भी नही स्वीकारा जा सकता, और यदि स्वीकारा भी जाय तो हम ब्रह्म ज्ञान की प्रक्रिया को उसी प्रकार समझा सकते हैं जिस प्रकार हम हमारी आत्मचेतना या अनुभव को समझा सकते हैं।

भिक्षु सोचते हैं कि जबकि हम ब्रह्म सूत्र में ज्ञान की उत्पत्ति और वृद्धि का वर्णन नही पाते तो साख्य योग प्रतिपादित ज्ञान का वर्णन भली प्रकार स्वीकार सकते हैं क्योकि वेदा त और सांख्य के विचारो म सामान्य समानता है। साख्य योग के अनुसार, पहले इन्द्रियो का विषय से सयोग होता है और परिणामस्वरूप उस समय बुद्धि का दब जाता है तमोगुण और बुद्धि विशुद्ध सत्व स्वरूप से विषय का रूप ग्रहण कर लेती है। बुद्धि की यह अवस्था विषयावस्था है या सवेदना की अवस्था या स्थिति है (सा बुद्ध्यवस्था विषयाकारा बुद्धि वत्तिरित्युच्यते)। स्वप्न और ध्याना-वस्था में बाह्य पदार्थों के चित्र चित्त में उठते हैं और साक्षात् दीखते हैं इसलिए सत्य है। पुरुष का बाह्य पदार्थों से सयोग बुद्धि के माध्यम से होता है। जहाँ तक बुद्धि मलिन रहती है पुरुष विषयो से उसके द्वारा सम्बन्धित नहीं हो सकता। इसी कारण से गाढ निद्रा मे जब बुद्धि तमस मे अभिभूत होती है तो पुरुष चेत य अपने को प्रकट नही कर पाता या अ य विषयो से सम्बन्ध नही जोड पाता। इसी कारण गाढ निद्रा मे जब बुद्धि तमस से आच्छन्न होती है पुरुष चैत य अपनी अभिव्यक्ति नही कर पाता या विषयो के साथ सयुक्त नही हो पाता। ज्योही बुद्धि सवेदनात्मक या प्रतिमा अवस्था में रूपा तरित होती है वह पुरुष म प्रतिबिम्बित होती है जो उस समय अपने को चैतन्यावस्था के प्रकाश की तरह प्रकट करती है। इस प्रकार ही शुद्ध अनन्त चेत य, विषय को परिमित रूप मे व्यक्त कर पाता है। क्योकि बुद्धि का विषय रूप से निरन्तर परिणाम होता रहता है और उन्हें अनादि काल स पुरुष पर उन्हें प्रति बिम्बित करती रहती है इसलिए चेतन अवस्थाओ का निरन्तर प्रवाह लगा रहता है केवल कभी कभी गाढ निद्रा का अन्तराय होता रहता है। पुरुष भी अपनी बारी से बुद्धि मे प्रतिबिम्बित होता है और इस कारण अह का प्रत्यय खडा करता है। इस सम्बन्ध मे भिक्षु वाचस्पति के मत की आलोचना करते हैं कि बुद्धि मे पुरुष का प्रतिबिम्ब ज्ञान के प्रसग को समझाने के लिए पर्याप्त है और कहते हैं कि चेतन्य का प्रतिबिम्ब चेतनावत् नहीं हो सकता इसलिए बुद्धि वत्तियो का चैतन्य रूप से दर्शन वह नहीं समझा सकते। किन्तु बुद्धि की वत्तियाँ चेतन्य म प्रतिबिम्बित होती हैं यह मान्यता चैतन्य के वास्तविक सम्बन्ध को समझाती है। यह कहा जा सकता है कि जबकि केवल प्रतिबिम्ब ही चैतन्य स सम्बन्धित है तो वस्तु यथार्थ रूप से नहीं जानी जाती। ऐसे आक्षेप का उत्तर यह है कि बुद्धि की वृत्तियाँ बाह्य वस्तु की प्रतिकृतियाँ हैं और यदि प्रतिकृतियाँ चेत यवत होती हैं तो हमारे पास इन प्रतिकृतियो के ज्ञान

की सचाई के लिए उनका विषयों पर प्रयोग उनकी गारंटी है। यह पुनः कहा जा सकता है कि जब बुद्धि वत्तियों का चैतन्य में प्रतिबिम्ब उससे एक होकर दीखता है और इसलिए ज्ञान का प्रसंग उत्पन्न करता है तो हम यहाँ इस प्रसंग में चैतन्य की वत्तियों के साथ भ्रमपूर्ण एकता का अनुभव होता है हमारा ज्ञान भ्रमयुक्त होता है। इस आक्षेप का उत्तर यह है कि यदि ज्ञान में भ्रम का अंश विद्यमान है तो वह उन विषयों की सच्चाई का जिन्हें ज्ञान लक्ष्य करता है, स्पर्श नहीं करता। प्रमा, इस प्रकार, पुरुष में बुद्धि के इस प्रतिबिम्ब में है। प्रमाण फल शुद्ध चैतन्य को मिलता है या पुरुष को जो ज्ञाता है यद्यपि वह सभी वस्तुओं से सर्वथा असंग है। वैशेषिक ज्ञान के अनुभव की उत्पत्ति और ज्ञान के रूप में समझते हैं और इसलिए ज्ञान कार्य के अन्योन्य सम्बन्ध से उत्पन्न और ज्ञान होता है ऐसा मानते हैं। पुरुष के समक्ष वत्तियों का प्रतिबिम्बित होने को व आत्मा का ज्ञान के भास के रूप में समझते हैं वेदान्त के अन्तर्गत ज्ञान व्यापार का, जिसमें पुरुष ज्ञाता और भोक्ता दीखता है वे, ज्ञान के अनुव्यवसाय नामक पृथक व्यापार से समझाते हैं।

ईश्वर के इन्द्रियातीत अनुभव को भी सामान्य आनुभविक ज्ञान के आधार पर समझना होगा। श्रुति वाक्यों के ज्ञान से और योगाभ्यास से बुद्धि में मैं ब्रह्म हूँ ऐसा विकार होता है। यह सत्य विकार पुरुष में प्रतिबिम्बित होकर पुरुष में सच्चे आत्म ज्ञान के रूप से प्रकट होता है। सामान्य अनुभव और इस ज्ञान में भेद यह है कि यह अभिमान का नाश करता है। आत्म ज्ञान के ऐसे मत पर यह आक्षेप कि आत्मा, ज्ञाता और ज्ञेय दोनों नहीं हो सकता यह उपयुक्त नहीं है क्योंकि आत्मा जो ज्ञेय है वह पर रूप आत्मा से जो ज्ञाता है स्वरूपतः भिन्न है। अतीत (पर) आत्मा ही ज्ञाता है जबकि उसका बुद्धि में प्रतिबिम्ब उस पर प्रत्यावर्तित होता है वह ज्ञेय रूप आत्मा है।[1] आत्मा का ज्ञान शक्य है यह स्वीकृति आत्मा के स्वप्रकाशता के सिद्धान्त की विरोधी है, यह आक्षेप ठीक नहीं है। आत्मा की स्वप्रकाशता से केवल यह अर्थ है कि वह अपने आप प्रकाशित है और उसे अपने को प्रकट करने के लिए किन्हीं अन्य साधनों की आवश्यकता नहीं है।

स्वप्रकाशता और अज्ञान

चित्सुख स्वप्रकाशता की इस प्रकार व्याख्या करते हैं जो जानी नहीं जा सकती तो भी अपरोक्ष है ऐसी अनुभव की जा सके (अवेद्यत्वे सति अपरोक्ष व्यवहार

---

[1] आत्मापि बिम्बरूपेण ज्ञाता भवति स्वगत स्वप्रतिबिम्ब रूपेण च ज्ञेय।

—विज्ञानामृत भाष्य १ १ ३।

योग्यत्वम्)। भिक्षु तर्क करते हैं कि स्वप्रकाशत्व की ऐसी परिभाषा सर्वथा अमान्य है। उपनिषद् में ऐसी व्याख्या कहीं भी नहीं की गई है, और यह स्वप्रकाशत्व की निरुक्ति से भी समर्थित नहीं है। निरुक्ति से यही अर्थ निकलता है जो 'अपने आप से वेद्य' है। पुन यदि एक वस्तु नहीं ज्ञात होती, तो इसी कारण से उसका हम से कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता, और ऐसा अर्थ श्रुति से विरोध करेगा जो यह प्रतिपादन करता है कि परम सत्य अनुभव गम्य है, बोध्य है। यह कहा जा सकता है कि यद्यपि चित्त की ब्रह्म-स्थिति साक्षात् न जानी जा सकने पर भी पुरुष में अविद्या दूर करेगी। किन्तु इस पर अनेक आक्षेप हो सकते हैं। प्रथमत स्वप्रकाशत्व ज्ञान का प्रमाण है, किन्तु पुरुष में अविद्या दूर करना ही केवल प्रमाण नहीं है। इस सम्बन्ध में यह भी प्रश्न करना योग्य होगा कि अविद्या का अर्थ क्या है। यदि अविद्या भ्रमपूर्ण चित्त वृत्ति है तो वह बुद्धि की अवस्था होगी और उसका नाश बुद्धि से सम्बन्ध रखेगा पुरुष से नहीं। यदि अविद्या से वासना का अर्थ निकाला जाता है जो भूल के कारण है तब भी जबकि वासनाएं प्रकृति के गुणों का धर्म है इसलिए उनका नाश प्रकृति के गुणों का नाश होगा। यदि इसे तमस माना जाता है, जो आत्मा को ढक देता है तो यह मान्यता अस्वीकार्य रहेगी, क्योंकि यदि बुद्धि में वर्तमान तमस हटाया नहीं जाता तो बुद्धि का विषय रूप परिणाम नहीं होगा और यदि बुद्धिगत तमस एक बार इस प्रकार हट जाता है तो उसका पुरुष में प्रतिबिम्ब न पड़ेगा। इस प्रकार ज्ञान माया के आवरण का नाश करता है यह मत प्रमाणित नहीं हो सकता। आवरण का सम्बन्ध केवल ज्ञान के कारण से है जैसेकि आंख और इसलिए उसका शुद्ध चैतन्य से कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। ज्ञान का उदय शुद्ध चैतन्य पर से आवरण के हटने के कारण है यह मत इसलिए पुष्टि नहीं पाता। आत्मा में कोई आवरण हो नहीं सकता। यदि आत्मा शुद्ध चैतन्य स्वरूप है तो उसमें कोई भी अज्ञान का आवरण स्वभावत नहीं हो सकता। क्योंकि ये दोनों मान्यताएँ परस्पर विरोधी हैं। पुन यदि यह माना जाता है कि जगत प्रपंच चित्त में अविद्या के कार्य से है और यदि यह माना जाता है कि सच्चा ज्ञान अविद्या को हटाता है तो हम इस नितान्त अनधिकृत निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जगत ज्ञान से नष्ट हो सकता है या यह कि जब आत्मा सच्चा ज्ञान प्राप्त करती है तो जगत प्रपंच का अन्त हो जाता है या यह कि जब जीवन्मुक्ति होती है तो उसे जगत का अनुभव नहीं होगा। यदि ऐसा माना जाता है कि मुक्ति सन्त में भी अज्ञान का अंश होता है तो ज्ञान अज्ञान को नष्ट करता है इस वाद को त्याग देना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त यदि आत्मा को सभी से सर्वथा असंग माना जाता है तो यह मानना गलत है कि वह अविद्या या अज्ञान से सम्बन्धित होगा। आवरण का सम्बन्ध वृत्तियों से ही हो सकता है शुद्ध नित्य चैतन्य से नहीं हो सकता, क्योंकि हमारे पास ऐसे सादृश्यता का कोई दृष्टान्त नहीं है। पुन यदि यह माना जाता है कि शुद्ध चैतन्य का अविद्या से नैसर्गिक सम्बन्ध है तो ऐसा संयोग कभी तोड़ा नहीं जा सकता।

यदि ऐसा सयोग किसी कारणवशात माना जाता है तो यह भी कहा जा सकता है कि ऐसी कारणावस्था चित्त म रहेगी। कम स कम यह मान्यता प्राथमिक मान्यता से अधिक सरल रहेगी जिसके अनुसार इसका सम्ब ध शुद्ध चतन्य से माना गया है, क्योंकि यहाँ फिर इसके लय के लिए अ य व्यापार मानना पडगा। कम से कम गाढ निद्रा, मूर्छा और जरा में अविद्या का सम्ब ध वत्ति से मानना ही पडेगा। इस प्रकार यदि आवरण का चित्त वृत्ति से ज्ञान के कारण के रूप मे सयोजित मानना पडता है तो आत्मा या शुद्ध चत य से यह सम्ब ध मानना सवथा अनावश्यक है। पातजलि अपने योग सूत्र म, अविद्या को चित्तवत्ति कहते हैं जो अनित्य को नित्य मानती है, अशुचि को शुचि और दु ख को सुख मानती है। इसलिए इस शुद्ध चत य से अपृथक रूप से सम्बंधित एक पदाथ नही मानना चाहिए। इसी प्रकार ज्ञान का अविद्या का अ त कहना ग़लत है जो पुरुष का धम है। चित्त म अविद्या के अ त से पुरुष म ज्ञान का उदय होता है यह कहना मान्य होगा। म ब्रह्म हूँ इस चरम ज्ञान के उदय से प्रकृति की सारी हेतुमत क्रिया जो पुरुष के लिए हो रही थी, पुरुष के प्रति प्रकृति का हेतु सिद्ध हो जाता है और ऐसा होने पर बुद्धि और पुरुष के बीच हेतु युक्त सम्बन्ध टूट जाता है और चित्त या बुद्धि का पुरुष के लिए कोई काय करना बाकी नही रहता। मिथ्या ज्ञान के नाश से पाप पुण्य का भी अ त हो जाता है और इस प्रकार बुद्धि के अंतिम नाश होने पर अतिम मुक्ति होती है। अविद्या अस्मिता राग द्वेष और अभिनिवेश य सभी अविद्या या मिथ्या ज्ञान माने जा सकते हैं जो उनका कारण है और अविद्या को तमस् भी कहा जा सकता है जो उसका कारण है। तमस सत्व के प्रकट होन म अवरोध करता है और इसी कारण मिथ्या ज्ञान होता है। जब तमागुण सत्व गुण द्वारा अभिभून होता है तो सत्व आत्मा द्वारा प्रकट हो जाता है। श्रुति मे ज्ञान और अज्ञान सत्व और तमस का निर्देश करन के लिए प्रयोग किए गए हैं। तमस शब्द अज्ञान के लिए प्रयुक्त किया गया ह और जसाकि शकर मतवादी कहते हैं ऐसा अनिवचनीय जसा अज्ञान कोई नही ह साधारण अनुभव के ज्ञान के उदय के प्रसग म पुरुष के हेतु गुणो की परिणाम शक्ति नष्ट हो जाती ह। सत्व अपने को वत्ति द्वारा प्रकट कर सके उसके पहले, उसे तमस का अभिभूत करना चाहिए जो सात्विक अवस्था को रोक सकता ह। इस प्रकार चित्तवत्ति उदय हो उससे पहले सत्व और तमस को अपने सत्ता विषयक विरोध का अ त कर लेना चाहिए।

भिक्षु के अनुसार वेदान्त और सांख्य मे सम्बन्ध

भिक्षु साचते हैं कि साख्य और याग वेदान्त के साथ घनिष्टता से सम्बन्धित है और उपनिषद् भी ऐसा ही लक्षित करते हैं। इस कारण जब कुछ विषय जसेकि अनुभवात्मक ज्ञान आदि का वेदा त म वणन नहीं किया गया ह तो उन्हें सांख्य और

योग से पूरा करना चाहिए। यदि उनमे कोई विरोध जसा दीखता है तो उन्हें इस प्रकार समझाना चाहिए जिससे उनके विरोध का समाधान हो जाय। किन्तु भिक्षु का यह सुझाव केवल सांख्य और योग के प्रति ही नहीं है अपितु न्याय वैशेषिक और पचरात्र के प्रति भी है। उनके मतानुसार इन सब प्रणालियों का आधार वेद और उपनिषद् हैं और इसलिए इनमे एक आन्तरिक सम्बन्ध है जो बौद्धों म नहीं है। बौद्ध मतवादी ही केवल एक सच्चे विरोधी हैं। इस प्रकार वे सभी आस्तिक प्रणालियों का एक दूसरे के पूरक के रूप मे समाधान करने का प्रयास करते है या इनके भेदों को इस प्रकार प्रतिपादित करते हैं कि यदि इन्हें ठीक दृष्टि से देखा जाय तो समाधान हो सकता है। भिक्षु अपनी सामग्री उपनिषद् और स्मृति मे से इकट्ठी करते हैं और उनके आधार पर बोधाय की पद्धति खड़ी करते हैं। इसलिए, इसे ईश्वरवादी वेदान्त का, कुल मिलाकर प्रमाणित बोधाय माना जा सकता है जो कि पुराण का प्रधान आधार है और जो सामान्य हिन्दू जीवन और धर्म का प्रतिनिधित्व करता है। हिन्दू विचार धारा का सामान्य प्रवाह जो पुराण और स्मृति म वर्णित है और जिन मूल स्रोतों से हिन्दू जीवन ने प्रेरणा प्राप्त की है वे साथ तुलना करते हुए विशुद्ध सांख्य, शंकर वेदान्त, न्याय और मध्व का द्वैतवाद रूढ़िगत दर्शन का तात्विक आकारवाद ही माना जा सकता है। भिक्षु का दर्शन एक प्रकार का भेदाभेदवाद है जो अनेक रूप में भर्तृ प्रपंच, भास्कर रामानुज, निम्बार्क और अन्यों मे मिलता है। इस भेदाभेदवाद का सामान्य दृष्टिकोण यह है कि भेदाभेदवाद मे जगत् की सत्ता, तथा उसकी चिद्रूपता जीवों की पृथकता तथा उनकी ईश्वर के केन्द्र रूप से अभिव्यक्ति, नैतिक स्वतन्त्रता तथा उत्तरदायित्व एवं आध्यात्मिक नियतत्ववाद व्यक्तिगत ईश्वर और उसकी असंग सत्ता परम चैतन्य जिसमें भूत तथा प्रकृति आध्यात्मिकता मे लय होते हैं, जड और जीव के उद्गम तथा आपस के व्यवहार म व्यापक प्रयोजनवाद ईश्वरीय संकल्प की पवित्रता सर्वशक्तिमत्ता तथा सर्वज्ञता ज्ञान और भक्ति की श्रेष्ठता, नैतिक और सामाजिक धर्म की अनिवार्यता तथा उनके त्याग की आवश्यकता आदि उभयपक्षीय सिद्धान्तों की मान्यता स्वीकार की गई है।

सामान्य क्लासिक सांख्य अनीश्वरवादी है और प्रश्न यह उठता है कि ईश्वरवाद और अवतारवाद से इसकी संगति किस प्रकार की जा सकती है। ब्रह्म सूत्र १ १ ५ का बोधाय करते भिक्षु कहते हैं कि जबकि श्रुति कहती है कि उसने देखा या इच्छा की तो ब्रह्म अवश्य ही पुरुष होगा क्योंकि इच्छा या प्रत्यक्षीकरण जड प्रकृति का धर्म नहीं है। शंकर इस सूत्र का अर्थ करते हुए कहते हैं कि इस सूत्र का तात्पर्य यह है कि प्रकृति जगत् का कारण नहीं है क्योंकि प्रकृति या प्रधान का प्रत्यय अवैदिक है। भिक्षु उपनिषद् के कई उद्धरण देकर यह बताते हैं कि यह प्रत्यय अवैदिक नहीं है। उपनिषद् मे प्रकृति को जगत् का कारण और ईश्वर की शक्ति कहा गया है। प्रकृति

को श्वेताश्वतर में माया भी कहा है, और ईश्वर को मायावी या जादूगर कहा गया है जो अपने में माया शक्ति धारण करता है। जादूगर द्वारा अपनी शक्ति न बताने पर भी वह उसमें रहती है (मायाया व्यापार निवृत्तिरेवावगम्यते न नाश)।[1] सामान्य प्रकृति निरंतर परिवर्तन और परिणाम करती रहती है और विशिष्ट सत्व जो ईश्वर से सम्बंधित है, नित्य माना गया है।

एक प्रश्न इस सम्बंध में खड़ा हो सकता है यदि ईश्वर स्वयं अपरिणामी है और सत्व शरीर जिससे वह सदा मुक्त है वह भी सर्वदा अपरिवर्तनशील है तो ईश्वर की एक विशेष समय पर जगत् उत्पन्न करने की इच्छा कैसे हो सकती है? ईश्वर में विशेष सर्जन क्षण में संकल्प का आरोपण करने का एक मात्र स्पष्टीकरण यही हो सकता है कि यहाँ माया का अस्पष्ट प्रयोग किया गया है। इसका यही अर्थ हो सकता है कि जब कारण उपाधियों की योग्य अन्योन्य स्थिति सर्जन क्रम को व्यक्त करने के लिए किसी विशेष क्षण पर तत्पर होती है उसे ईश्वर के संकल्प की अभिव्यक्ति कह दिया गया है। ईश्वर के संकल्प और ज्ञान का काल में आरम्भ होना सोचा नहीं जा सकता।[2] किंतु यदि ईश्वर के संकल्प को प्रकृति की गति का कारण माना जाता है तो प्रकृति की गति पुरुष के हेतु अर्थ अन्तर्निहित प्रयोजन से होता है ऐसा सांख्य मत असमर्थनीय हो जाता है। महत् में सत्व रजस और तमस सांख्य द्वारा अवश्य ही ब्रह्मा विष्णु और महेश्वर तीन जन्येश्वर के रूप में माने गए हैं। किन्तु सांख्य नित्येश्वर के रूप में किसी को भी नहीं मानता। योग के अनुसार महत् का सत्वांश जो नित्य शक्तियों से संयुक्त है वह पुरुष विशेष ईश्वर है। उसका सत्व शरीर अवश्य ही कार्य रूप है क्योंकि वह महत् के सत्वांश से बना है और उसका ज्ञान कालातीत नहीं है।

सांख्य के समर्थन में भिक्षु यह प्रतिपादन करते हैं कि सांख्य द्वारा ईश्वर का अस्वीकार करने का यह अर्थ है कि मुक्ति के लिए ईश्वर को मानने की आवश्यकता नहीं है। मुक्ति आत्म ज्ञान द्वारा भी प्राप्त की जा सकती है। यदि यह क्रम स्वीकारा जाता है तो ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करना सर्वथा अनावश्यक हो जाता है। इस सम्बन्ध में यह सूचित करना अवश्य ही उपयुक्त होगा कि भिक्षु द्वारा ईश्वर के विषय में दिया गया यह स्पष्टीकरण ठीक नहीं है क्योंकि सांख्य सूत्र ईश्वर के बारे में मौन ही नहीं है किन्तु वह ईश्वर के अनस्तित्व को सिद्ध करने का स्पष्ट प्रयत्न भी करता है और ऐसा कोई भी कथन नहीं मिलता जिससे यह सिद्ध नहीं हो सकता कि सांख्य ईश्वरवाद का विरोधी नहीं था। भिक्षु अवश्य ही, पुनरावृत्ति करते हैं कि सांख्य अनीश्वरवादी नहीं था और श्वेताश्वतर उपनिषद् (६ १६) के कथन को लक्ष्य करते

---

[1] विज्ञानामृत भाष्य, १ १ ५।

[2] विज्ञानामृत भाष्य १ १ ५।

हैं कि मुक्ति सांख्य योग के कथनानुसार, मूल कारण के ज्ञान से प्राप्त की जा सकती है, और गीता के कथन को भी इंगित करते हैं जहाँ अनीश्वरवाद को आसुरी दृष्टि कोण कहा है।

योग के सम्बन्ध मे उल्लेख भिक्षु कहते हैं कि यह एक विचित्र बात है कि योग में ईश्वर के अस्तित्व को माना गया तो भी वह पक्षपाती है या निर्दय हो सकता है इसे खण्डन करने का प्रयास नहीं किया गया है और ईश्वर को विश्व में योग्य स्थान देने के बदले स्वाभाविक वाद स्वीकार किया गया है कि प्रकृति को अपने आप ही पुरुषार्थ के प्रति क्रियाशील होती है। पातंजल योग सूत्र में ईश्वर, एक ध्यान का विषय है जो अपने भक्तों तथा अन्य जीवों पर कृपा करता है। भिक्षु तो यह मानते हैं कि ईश्वर का विश्व में जब तक ब्रह्माण्ड के प्रयोजन की आपूर्ति नहीं करता तबतक पुरुष प्रकृति का सयोग ठीक तरह से नहीं समझाया जा सकता।

ईश्वर अपने कर्म के लिए किसी ऐसे तत्व से मर्यादित नहीं है जो रजस या तमस जैसे चचल तत्वों से सम्बन्धित हो किन्तु वह उस तत्व से सम्बन्धित रहता है जो सर्वदा एक है और नित्य ज्ञान, इच्छा और आनन्द से सम्बन्धित है।[1] इसका स्वाभाविक अर्थ यह है कि ईश्वर का सकल्प नित्य और अटल नियम के रूप से कार्य करता है। यह नियम अवश्य ही, ईश्वर का घटक नहीं है किन्तु प्रकृति का घटक है। इस नित्य अटल अंश द्वारा ही, जो ईश्वर की नित्य इच्छा और ज्ञान के रूप से कार्य करती है प्रकृति का परिणामी जगत् क्रम निर्धारित होता है।

गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं कि वह परात्पर पुरुष है और उससे श्रेष्ठ तथा परम और कोई नहीं है। भिक्षु उपरोक्त कथन का जो स्पष्टीकरण देते हैं वह ईश्वर के बारे में उपरोक्त विचार के विरुद्ध है। एक स्पष्टीकरण यह है कि कृष्ण जब अपने को उद्देश्य करके ईश्वर कहते हैं तब यह कथन सापेक्ष है यह जन साधारण दृष्टि से किया गया है जिसका निरूपाधिक परमेश्वर के स्वरूप से कोई सम्बन्ध नहीं है और जो साधारण अनुभव से परे है। दूसरा स्पष्टीकरण यह है कि कृष्ण अपने को ईश्वर से तादात्म्य करके ईश्वर कहते हैं। इस प्रकार कार्य ब्रह्म और परब्रह्म मे भेद है और श्रीकृष्ण कार्य ब्रह्म होते हुए भी जन साधारण की दृष्टि से अपना कारण ब्रह्म के रूप से वर्णन करते हैं। जब अन्य लोग, ब्रह्म से अपना तादात्म्य करते हैं तब यह तादात्म्य कार्यब्रह्म को लक्ष्य करके ही सत्य है, जो श्रीकृष्ण या नारायण है। उन्हें अपने को पर ब्रह्म कहने

---

[1] रजस्तम सम्मिश्रतया मलिन कार्य-तत्व परमेश्वरस्य नोपाधि किन्तु केवल नित्य-ज्ञानेच्छानन्दादिमत्सदैकरूप कारण सत्वम् एव तस्योपाधि ।

—ईश्वर गीता, हस्त०।

का अधिकार नहीं है। अनादि पर ब्रह्म, देवों और सन्तों से भी अज्ञात और अज्ञेय है, नारायण ही उसे अपने सच्चे स्वरूप में जान सकते हैं। नारायण को इसलिए सब जीवों से महाज्ञानी मानना चाहिए।[1] जो लोग अपने पूर्वजन्म में सायुज्य मुक्ति द्वारा ईश्वर से एक हो गए हैं वे वासुदेव व्यूह में वास करते हैं। वासुदेव व्यूह में वासुदेव ही एक नित्य देव हैं दूसरे उनके अंश हैं। दूसरे व्यूह, जैसे कि सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध, वासुदेव विभूति की अभिव्यक्ति मात्र ही हैं और उन्हें ईश्वर का आंशिक सृजन मानना चाहिए या ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र मानना चाहिए। विष्णु या शिव जो निम्न कोटि के देव हैं उनकी शक्ति मर्यादित है क्योंकि वे विश्व के काम के नियमों में परिवर्तन नहीं कर सकते जब वे अपने को परमेश्वर कहते हैं तब वे पर निरुपाधि ब्रह्म से तादात्म्य होकर ही ऐसा कहते हैं। सत्व रजस और तमस युक्त महत्तत्व ब्रह्मा, विष्णु और शिव या सङ्कर्षण प्रद्युम्न और अनिरुद्ध के सूक्ष्म शरीर की रचना करते है। इन तीनों देवों का एक ही शरीर है जो महत् तथा विश्व परिणाम की मूल नींव है। इसीलिए ऐसा कहा गया है कि विश्व उनका शरीर है। ये तीनों देव, कार्य के लिए एक दूसरे पर आश्रित हैं जैसे कि वात पित्त और कफ। इसीलिए वे एक दूसरे से भिन्न एवं एक भी कहे गए हैं।[2] ये तीनों देव महत् से एक रूप हैं जो पुनः पुरुष और प्रकृति की एकता है। इसी कारण ब्रह्मा विष्णु और महेश्वर को ईश्वर की (अंशावतम्) आंशिक अभिव्यक्तियाँ मानना चाहिए व्यक्त अवतार नहीं *मानना चाहिए।*[3]

ईश्वर, प्रधान और पुरुष में अपनी ज्ञान, इच्छा और क्रिया द्वारा प्रवेश करते है और इससे गुणों का क्षोभ करते हैं और महत् उत्पन्न करते हैं। भिक्षु यह बताने का कठिन परिश्रम करते हैं कि भगवान् या परमेश्वर नारायण या विष्णु से भिन्न हैं जो पिता से पुत्रवत् उसकी अभिव्यक्तियाँ हैं। भिक्षु का यहाँ पंचरात्र मत से तथा मध्व, वल्लभ और गौडीय वैष्णवों से मतभेद है जो नारायण विष्णु और कृष्ण को भगवान् से एकरूप मानते हैं। मत्स्य, कूर्म इत्यादि अन्य ऐसे अवतारों को भिक्षु

---

[1] अनादिं तत् परं ब्रह्म न देवा नर्षयो विदुः
एकस्तद् वेद भगवान् धाता नारायणः प्रभुः। —विज्ञानामृतभाष्य १ १ ५।

[2] विज्ञानामृत भाष्य १ १ ५।

[3] इस सम्बन्ध में भिक्षु भागवत का श्लोक उद्धृत करते हैं 'एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् १ १ ५। वे यहाँ कृष्ण से विष्णु अर्थ करते हैं और स्वयं भगवान् को ईश्वर के अंश के अर्थ में ग्रहण करते हैं, जिस प्रकार पुत्र पिता का अंश होता है *'अत्र कृष्णः विष्णुः स्वयं परमेश्वर स्तस्य पुत्रवत् साक्षादंश'* इत्यर्थ —वही। यह अर्थ गौडीय सम्प्रदाय के वैष्णवों से सर्वथा विरुद्ध ठहराता है, जो कृष्ण को परमेश्वर मानते हैं।

विष्णु के लीलावतार मानते हैं और भगवान् के आवश अवतार को भगवान् या परमेश्वर मानते हैं।

माया और प्रधान

शंकर वेदान्त सूत्र १ १ ४ की टीका में अव्यक्त शब्द का अर्थ करते हैं और मानते हैं कि इसका कोई पारिभाषिक अर्थ नहीं है। यह केवल व्यक्त का निषेध वाचक शब्द ही है। वे कहते हैं कि अव्यक्त शब्द व्यक्त और न का समास है। वे यह बताते हैं कि जब अव्यक्त शब्द का केवल व्युत्पत्तिलभ्य ही अर्थ है और वह अनभिव्यक्त तो वह पारिभाषिक अर्थ मे प्रधान के लिए प्रयुक्त होता है यह नहीं मानना चाहिए। अव्यक्त शंकर के मत में सूक्ष्म कारण का अर्थ रखता है किन्तु वे यह नहीं सोचते कि जगत् का प्रधान के रूप मे कोई सूक्ष्म कारण है जैसाकि सांख्य ने माना है।[1] वे मानते हैं कि जगत् की यह प्राक्तनावस्था ईश्वर पर आश्रित है, और वह एक स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। ईश्वर में ऐसी सूक्ष्म शक्ति न मानी जाय तो ईश्वर स्वतन्त्र सत्ता के रूप में स्वीकृत नहीं हो सकता। बिना शक्ति के ईश्वर सर्जन के प्रति क्रियाशील नहीं हो सकता। बीज शक्ति जो अविद्या है वही अव्यक्त है। यह माया की गाढ निद्रा है (माया मयी महा सुप्ति) जो ईश्वर पर आश्रित है। इसमें सभी बिना आत्म जाग्रति के रहते हैं। इस बीज शक्ति का बल मुक्ति जीवों मे, ज्ञान से नष्ट हो जाता है और इसी कारण उनका पुनर्जन्म नहीं होता।[2] वाचस्पति भामती मे इस पर टीका करते हुए कहते हैं कि भिन्न जीवों की भिन्न अविद्याएं हैं। जब कभी एक जीव ज्ञान प्राप्त करता है तब उससे सम्बन्धित अविद्या नष्ट होती है यद्यपि दूसरों से सम्बन्धित अविद्या वैसी ही बनी रहती हैं। इस प्रकार एक अविद्या नष्ट भी हो जाय तो दूसरी अविद्या बनी रह सकती है और जगत् उत्पन्न कर सकती है। सांख्य के अनुसार तो जो केवल एक ही प्रधान को मानते हैं, उसके नाश से सबका नाश होगा। वाचस्पति आगे यह भी कहते हैं कि यदि यह माना जाता है कि प्रधान तो वैसा ही बना रहता है तो भी पुरुष और प्रधान के बीच अविवेक रूप अविद्या बंधन का कारण है तो फिर प्रकृति को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। अविद्या की सत्ता और असत्ता बंधन और मुक्ति के प्रश्न को स्पष्ट कर सकती है।

---

[1] यदि वयं स्वतन्त्रां काचित् प्रागवस्थां जगतः कारणत्वेनाभ्युपगच्छेम प्रसजयेम तदा प्रधान कारणवादम्।

—वेदान्त सूत्र, १ ४ ३।

[2] मुक्तानां च पुनरनुत्पत्तिः कुतः विद्यया तस्या बीजशक्तेर्दाहात्।

—वेदान्त सूत्र, १ ४ ३।

जीवों में भेद अविद्या के कारण है और अविद्या का जीवों के कारण, यह आक्षेप, अप्रमाण है क्योंकि यह क्रम अनादि है। अव्यक्त शब्द अविद्या के प्रसग मे जाति वाचक के रूप मे प्रयुक्त किया गया है जो सभी अविद्याओं को अपने में समावेश करता है। अविद्या जीव में है किन्तु तो भी ईश्वर पर उसके कारक और विषय रूप से अवलम्बित है। अविद्या ब्रह्म के आधार बिना क्रियाशील नहीं हो सकती, यद्यपि जीव का सच्चा स्वरूप ब्रह्म ही है तो भी जहाँ तक वे अविद्या से आवृत हैं वहाँ तक वे अपना सच्चा स्वरूप नहीं जान सकते।

भिक्षु इसके उत्तर मे कहते हैं कि बिना शक्ति के केवल ईश्वर अकेला नाना रूप जगत् उत्पन्न करने में असमर्थ है इसलिए यह मानना पड़ता है कि ईश्वर अपने से भिन्न शक्ति द्वारा ऐसा करता है और यह शक्ति प्रकृति और पुरुष है। यदि ऐसा कहा जाता है कि यह शक्ति अविद्या है, तो भी क्योंकि वह, ब्रह्म से पृथक् द्विरूप सत्व है इसलिए वह अद्वैतवाद का खण्डन कर सकता है और साथ ही साथ प्रकृति और पुरुष की मान्यता की स्वीकृति का भी खण्डन होता है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि प्रलयावस्था में अविद्या का अस्तित्व नहीं रहता, क्योंकि उस प्रसग में केवल ब्रह्म के ही होने से जगत् का केवल ब्रह्म से ही उत्पन्न हुआ मानना पड़ेगा और जीव जो ब्रह्म से अभिन्न और एक होकर विद्यमान हैं मुक्त होते हुए भी, ससार यात्रा करेंगे। यदि ऐसा माना जाता है कि बंधन और मुक्ति कल्पना मात्र हैं, तो कोई कारण नहीं दीखता कि लोग क्यों ऐसी काल्पनिक मुक्ति के लिए इतना कष्ट उठाएँ। यदि ऐसा कहा जाता है कि प्रलय के समय अविद्या की व्यावहारिक सत्ता रहती है और यदि यह विवाद किया जाता है कि ऐसे प्रसग में बंधन और मुक्ति की भी व्यावहारिक सत्ता मानी जा सकती है तो अद्वैतवाद निरपवाद हो जायगा। किन्तु यदि ऐसी अविद्या मानी जाय जिसका केवल व्यावहारिक सत्ता ही हो तो प्रधान के लिए भी ऐसा ही कहा जा सकता है। यदि हम व्यावहारिक शब्द का अर्थ और तात्पर्य समझना चाहें, तो हम यह पाते हैं कि इस शब्द का अर्थ हेतु पूर्ति के साधन और अर्थ की शक्ति तक ही सीमित है। यदि ऐसा है, तो प्रकृति भी इसी प्रकार की सत्ता रखती मानी जा सकती है।[1] यह निस्सदेह सत्य है कि प्रधान को नित्य माना है किन्तु यह नित्यता निरन्तर परिणाम की नित्यता है। वेदान्ती अविद्या को अपारमार्थिक मानते हैं अर्थात् अविद्या परम सत्य नहीं है। परम सत्य के निषेध से यह अर्थ हो सकता है कि वह साक्षात् स्वप्रकाश्य नहीं है या यह कि वह सत्ता के रूप मे प्रकट नहीं हो सकता या यह कि वह सभी काल मे असत् है। किन्तु ये मर्यादाएँ प्रधान के बारे मे भी

---

[1] प्रधानेऽपीद तुल्य प्रधाने अर्थ क्रियाकारित्व रूप व्यावहारिक सत्वस्यवा स्माकमिष्टत्वात्।
—विज्ञानामृतभाष्य १४३।

सत्य हैं। प्रधान परिणामी रूप से नित्य है किन्तु अपने सभी विकारों में वह अनित्य है प्रकृति के सभी विकार नाशवान् हैं जड होने के कारण वे स्वप्रकाश्य नहीं हो सकते। पुन, प्रधान किसी भी रूप मे, किसी भी समय सत्ता रखने वाला माना जा सकता है तो भी वह उस समय, अपने भूत और भविष्य रूप मे असत् है। इस प्रकार व्यावहारिकत्व का अर्थ तुच्छत्व नहीं हो सकता (शश विषाण की तरह) और क्योंकि वह परम सत्ता का अर्थ भी नही रख सकता, वह केवल परिणमाव (परिणामित्व) का ही अर्थ रख सकता है और यह सत्ता प्रधान के विषय मे ठीक बैठती है। इस प्रकार शकर मतवादी प्रधान के सिद्धान्त का खण्डन कर कुछ लाभ नही उठाते, क्योंकि अविद्या को उन्होंने उसी गुण धर्मयुक्त माना है जो प्रकृति मे हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट हैं कि शकर के द्वारा किया गया प्रकृति का खण्डन ईश्वर कृष्ण के अनुसार प्रकृति के मत मे भी प्रयुक्त हो सकता है, किन्तु यह पुराण तगत प्रकृति के विचार का, जिसे भिक्षु ने समझाया है उस पर प्रयुक्त नही होता, जिसके अनुसार प्रकृति का ब्रह्म की शक्ति माना गया है। यदि अविद्या का भी ऐसा ही माना जाता है तो वह प्रकृति के समान हो जाती है। जबकि उसे अव्यक्त रूप से भगवान् मे विद्यमान मानी है तो प्रलय में भी अविद्या के बहुत से गुण धर्म जो उसे परम सत्ता से विभिन्न करते हैं, वे प्रकृति के भी हैं।

भिक्षु द्वारा प्रतिपादित किए गए मतानुसार प्रधान की पृथक और स्वतन्त्र सत्ता नहीं है किन्तु वह भगवान् की शक्ति के रूप मे है।[1]

भिक्षु ब्रह्म सूत्र १ ४ २३ को स्पष्ट करते हुए यह बताते हैं कि ईश्वर की प्रकृति के सिवा और कोई उपाधि नही है। ईश्वर के सभी गुण जबकि आनन्द इत्यादि, प्रकृति से उत्पन्न हैं जैसाकि पातजल सूत्र मे निर्दिष्ट है। प्रकृति को ब्रह्म धर्म मानना चाहिए जो साक्षात् जगत् का उपादान कारण नहीं है किन्तु वह नित्य या अधिष्ठान कारण है और प्रकृति मानो अपना ही भाव है या अग है (स्वीयो भाव पदार्थ उपाधिरित्यर्थ)। उपाधि और प्रकृति म नियामक और नियाम्य का सम्बन्ध है या अधिकारी और अधिकृत का सम्बन्ध है। ईश्वर विचार और सकल्प कर सकता है यह तथ्य इसे प्रमाणित करता है कि ईश्वर को प्रकृति जैसा साधन होना चाहिए जिससे ईश्वर के लिए विचार करना शक्य हो। क्योंकि भगवान् अपने में केवल शुद्ध चैतन्य है। प्रकृति, अवश्य ही ईश्वर की उपाधि का कार्य अपने शुचिपूर्ण नित्य सत्वांश से करती है। काल और अदृष्ट भी प्रकृति के विभाग हैं और इसलिए उन्हें भगवान् की पृथक शक्तियाँ नहीं माना है।

---

[1] प्रकृतस्य तदुपपत्तये प्रधान कारणत्व शरीरत्वा च्छक्ति विधर्यैवो च्यते नस्वातन्त्र्येणे त्य वधायत इत्यर्थ।   –विज्ञानामृत भाष्य, १ ४ ४।

सांख्य और योग की भिक्षु द्वारा आलोचना

ब्रह्म सूत्र २ १ स ३ की टीका करते भिक्षु कहते हैं कि मनु प्रकृति का मूल कारण कहते हैं, और उसी प्रकार सांख्य भी और ये दोनो ही प्राप्त है।[1] कि तु जबकि सांख्य के अनीश्वरवाद का पतजलि और पराशर के मतो से विरोध है फिर भी ब्रह्म सूत्र मत की व्याख्या सांख्य के अनीश्वरवादी सुझाव पर किया जाना सम्भव नही है। यह भी मानना पडता है कि सांख्य के अनीश्वरवाद का न वेदो और पुराणो मे समर्थन मिलता है, और इसलिए, इसे अप्रमाण मानना चाहिए।[2]

यह अवश्य ही सोचना गलत है कि कपिल सचमुच अनीश्वरवाद का प्रतिपादन करना चाहते थे। उन्होने दूसरो के अनीश्वरवादी तर्कों का उद्धरण दिया और यह बताने की कोशिश की है कि यदि ईश्वर का न भी माना जाय तो भी मुक्ति प्रकृति पुरुष के विवेक से प्राप्त हो सकती है। सांख्य भी इस पर बल देता है कि मुक्ति केवल ज्ञान से प्राप्त हो सकती है। कि तु इसका उन उपनिषद् कथनो से विरोध नही समझना चाहिए जिनमें यह कहा है कि मुक्ति केवल भगवान् के सच्चे स्वरूप के ज्ञान से हो सकती है। क्योकि ये इस बात को स्पष्ट करते हैं कि मुक्ति के दो भाग हैं निम्न भाग ज्ञान है जो प्रकृति पुरुष का विवेक है और उच्च भगवान् के सच्चे स्वरूप का ज्ञान है। योग भी मुक्ति के दो भाग बताता है निम्न वह है जो सामान्य योग प्रक्रिया वाला है और उच्च ईश्वर मे सभी कर्मों का त्याग करना और उसकी सच्ची भक्ति करना है। यह मानना गलत है कि सांख्य पारम्परिक रूप से अनीश्वरवादी है, क्योकि महाभारत (शांति पर्व ३१८ ७३) और मत्स्य पुराण (४ २८) मे हम २६वें पदार्थ के विषय मे सुनते है जो ईश्वर है। इसलिए ईश्वरवादी और अनीश्वरवादी सांख्य मे भेद निरूपण का भेद है एक सच्चे सांख्य का निरूपण है और दूसरा उस सांख्य का है जो उन्ह भी मुक्ति का मार्ग बताते है जो ईश्वर को मानना नही चाहते। इस सम्बन्ध मे भिक्षु सांख्य के मत की सम्भावना को मानते हैं एक जो ईश्वर को मानता था और दूसरा जो नही मानता था और केवल दूसरा ही मत वे अप्रमाण समझते हैं।[3] वे कूर्म पुराण का भी उल्लेख करते हैं जिसमे सांख्य के अनुयायियो

---

[1] सांख्य योग पचरात्र वेदा पाशुपत तथा।
परस्पराणि अगान्येतानि हेतुभिन विरोधयेत्।
—विज्ञानामृत भाष्य, २ १ १।

[2] इतश्चेश्वर प्रतिषेधाशे कपिल स्मृते मूलानामनुपलब्धे अप्रत्यक्षत्वात् दुर्बलत्व मित्याह। —वही।

[3] अथवा कपिलक देशस्य प्रामाण्यमस्तु। —विज्ञानामृत भाष्य २ १ २।

और योगियों को अनीश्वरवादी कहा गया है। शंकर सम्प्रदाय का मुख्य दोष यह है कि सांख्य की अप्रमाणता सिद्ध करने के बजाय, शंकर सभी अनीश्वरवादी विचारों को अवैदिक कहकर अस्वीकार करते हैं और इस प्रकार ब्रह्म सूत्र का मिथ्या भाष्य करते हैं। भिक्षु उस प्रश्न का उल्लेख करते हैं जहाँ सांख्य के २३ पदार्थों का वर्णन है केवल प्रकृति का नाम नहीं है। महत् तत्व का स्पष्टतः वर्णन नहीं किया गया है, किन्तु बुद्धि और चित्त का कहा गया है। वहाँ बुद्धि तत्व का चतुर्विध विभाजन, मनस्, बुद्धि, अहंकार, और चित्त के रूप में माना है। गर्भ उपनिषद् में आठ प्रकृति और १६ विकार वर्णित हैं। मैत्रेयोपनिषद् में हम तीन गुणों के विषय में सुनते हैं और उनके क्षोभ के बारे में भी, जिससे सृष्टि रचना होती है। हम पुरुष के बारे में भी चैतन्य रूप है ऐसा सुनते हैं। मैत्री उपनिषद् में (५ २) ऐसा कहा है कि तमस् परम सत्ता द्वारा क्षुब्ध किया जाने पर रजस उत्पन्न करता है और वह सत्व को उत्पन्न करता है।[1] चूलिका उपनिषद् में अद्वैत वेदान्त सिद्धान्त की समानता में सांख्य के पदार्थों का वर्णन है। यह भी कहना है कि सांख्य की अनेक प्रणालियाँ हैं कुछ २६ तत्वों को मानते हैं दूसरे २७ को पुनः और दूसरे केवल २४ को ही मानते हैं। एक तत्ववादी और द्वैतवादी सांख्य का भी वर्णन है जो तीन या पाँच प्रकार से व्यक्त करते हैं। इस प्रकार विज्ञान भिक्षु कहते हैं कि सांख्य का उपनिषद् में समर्थन है।

योग के सम्बन्ध में भी कहा जा सकता है कि योग का वही अंश उपनिषद् के विरोध में कहा जा सकता है जिसमें प्रकृति की सत्ता को ईश्वर से पृथक और स्वतन्त्र माना है। पातंजल सूत्र में यह कहा है कि ईश्वर प्रकृति की गति के अवरोधों को हटाकर ही सहायता करता है जिस प्रकार कि एक कृषक पानी को एक खेत में से दूसरे की ओर ले जाने में सहायता करता है। किन्तु उपनिषद् निश्चित रूप से कहते हैं कि ईश्वर प्रकृति की गति का जनक और प्रकृति का क्षोभक है। वहाँ भगवान् के सत्व शरीर को प्रकृति का कार्य माना है क्योंकि वह प्रकृति से पूर्व सृष्टिचक्र में उसकी इच्छा से जन्य है। ईश्वर का सत्व देह प्रकृति में ईश्वर के संकल्प द्वारा जन्य है जो प्रकृति के विकास क्रम में अवरोधों को हटाने के लिए भगवान् के संकल्प का वाहन है। स्वयं प्रकृति को पतंजलि ने ईश्वर की उपाधि नहीं माना है।[2] भिक्षु योग के इस

---

[1] तमो वा इदमेकमग्रे आसीत् वै रजसस्तत् परे स्यात् तत् परेण रितं विषमत्वं प्रयात्येतद् रूपं तद् रजः स्वल्वीरितं विषमत्वं प्रयात्येतद् वै सत्वस्य रूपं तत्समत्वमेव।
—मैत्री उपनिषद् ५ २।

[2] योगा हीश्वरस्य जगन्निमित्तत्वं प्रकृतित्वं नाभ्युपगच्छन्ति ईश्वरोपाधे सत्व विशेषस्य पूर्व सर्गीय तत्संकल्प वशात् सर्गादौ स्वतन्त्र प्रकृतितः उत्पत्यंगीकारात्।
—विज्ञानामृत भाष्य, २ १ २।

सिद्धान्त को भी उसी प्रकार समझाने का प्रयास करते हैं जैसाकि सांख्य के विषय में अभ्युपगमवाद को स्वीकार करके किया है। वे मानते हैं कि योग की यह धारणा है यदि प्रकृति स्वतन्त्र है और स्वतः ही भगवान् के अनन्त ज्ञान और सकल्प द्वारा निश्चित न होकर भी विकासो मुख होती है और यदि यह भी स्वीकारा जाय कि सन्देह ईश्वर को नित्य ज्ञान और सकल्प नहीं है और प्रकृति की प्रवृत्ति कर्मानुसार आन्तरिक प्रयोजन से है और सग के प्रारम्भ मे प्रकृति भगवान् की सत्वोपाधि बन जाती है तो भी ईश्वर को आत्म समपण करने से कैवल्य प्राप्त हो सकता है। इस प्रकार योग की दृष्टि से ईश्वर की उपाधि एक काय है, जगत् का निमित्त या उपादान कारण नहीं है, जबकि भिक्षु द्वारा प्रतिपादित वेदान्त के अनुसार ईश्वर की उपाधि जगत् का उपादान एव निमित्त कारण दोना ही है उसका काय नहीं है। योग मत के अनुसार ईश्वर नित्य है, किन्तु उसके ज्ञान और सकल्प नित्य नहीं हैं। ज्ञान और सकल्प, प्रकृति के सत्वांश से सयुक्त हैं जो प्रलय के समय उसमे निविष्ट रहते हैं जो नए सग के प्रारम्भ म, भगवान् के पूव सग मे किए हुए, सकल्प की शक्ति के द्वारा प्रकट होते हैं। योग मतानुसार, ईश्वर जगत् का निमित्त एव उपादान कारण नहीं है जैसाकि वेदान्त मानता है। भिक्षु द्वारा मान्य वेदान्त मतानुसार, प्रकृति द्विधा काय करती है, एक भाग से वह ईश्वर के नित्य ज्ञान और सकल्प का नित्य वाहक बनी रहती है और दूसरे भाग द्वारा, वह विकास माग पर आरूढ हो सत्व, रजस और तमस में क्षोभ उत्पन्न करती है। वह सत्व, रजस तमस् की प्रकृति के विकास रूप क्रमिक उत्पत्ति के पौराणिक मत को स्पष्ट करता है जिसके अनुसार गुणो की अन्तिम अवस्था म जगत् का विकास होता है। इस प्रकार प्रकृति जो ईश्वर के ज्ञान और सकल्प के वाहन के रूप म उससे सम्बन्धित बनी रहती है अपरिणामी और नित्य है।[1]

ईश्वर गीता और उसका दर्शन विज्ञान भिक्षु के प्रतिपादनानुसार

कूम पुराण मे उत्तर विभाग के ११ अध्याय ईश्वर गीता के नाम से प्रसिद्ध हैं। इस खण्ड के पहले अध्याय मे सूत व्यासजी से मुक्ति माग के सच्चे ज्ञान के बारे मे पूछते हैं जिसे नारायण ने कूम अवतार धारण करके दिया था। व्यास का कहना है कि बदरिकाश्रम मे सनत्कुमार सनन्दन, सनक अंगिरा भृगु, कणाद कपिल, गग, बलदेव शुक्र और वशिष्ठ इत्यादि ऋषि मुनियों के समक्ष नारायण प्रत्यक्ष हुए और फिर शिव भी आए। शिव ने ऋषियों की प्राथना सुनकर, अन्तिम सत्य ईश्वर और जगत् का निरूपण किया। मूल सवाद दूसरे अध्याय से प्रारम्भ होता है। विज्ञान भिक्षु ने ईश्वर गीता पर टीका लिखी है। उन्होंने सोचा कि ईश्वर गीता म भगवत्

---

[1] विज्ञानामृत भाष्य, पृ० २७१ २७२।

गीता का तात्पर्य समाया हुआ है इसलिए उन्होंने भगवत् गीता पर टीका लिखना अनावश्यक समझा। सांख्य और योग पर ग्रन्थ लिखने के अतिरिक्त उन्होंने ब्रह्म सूत्र, उपनिषद्, ईश्वर गीता और कूर्म पुराण पर टीका लिखी। ब्रह्म सूत्र पर अपनी टीका में वे १३वीं शताब्दी के चित्सुखाचार्य के ग्रन्थ का उद्धरण देते हैं। वे स्वयं सम्भवतः १४वीं शताब्दी में रहे। भिक्षु के अन्य ग्रन्थ, 'सांख्य प्रवचन भाष्य,' योग वार्तिक,' 'योग सूत्र' 'सांख्य सार,' और 'उपदेश रत्नमाला' हैं। ब्रह्म सूत्र और ईश्वर गीता की व्याख्या में वे पुराण में प्रतिपादित वेदान्त मत का अनुसरण करते हैं जिसमें सांख्य, योग और वेदान्त एक सूत्र में बंधे हैं। ईश्वर गीता का दर्शन जिसका यहाँ प्रतिपादन किया गया है वह भिक्षु की टीका पर आधारित है जो प्रस्तुत लेखक को महामहो० पं० गोपीनाथ कविराज, संस्कृत कालेज वाराणसी से हस्तलिखित प्रति के रूप में प्राप्त हुई।

मुनियों ने जो मुख्य प्रश्न पूछे उन पर शिव ने निम्न संवाद दिए (१) सबका कारण क्या है? (२) पुनर्जन्म किसका होता है? (३) आत्मा क्या है? (४) मुक्ति क्या है? (५) पुनर्जन्म का क्या कारण है? (६) पुनर्जन्म का स्वरूप क्या है? (७) किसने उसे स्पष्ट रूप से समझा है? (८) परम सत्य ब्रह्म क्या है? इन सबके उत्तर क्रमवार नहीं दिए गए हैं, किन्तु गुरु शिव को जो महत्वपूर्ण प्रश्न लगे, उनके उत्तर उन्होंने अपने ही क्रम से दिए हैं। इसलिए सबसे पहले आठवें प्रश्न का उत्तर दिया गया। यह उत्तर परमात्मा के स्वरूप के वर्णन से प्रारम्भ होता है।

विज्ञान भिक्षु जीव का परमात्मा में सम्पूर्ण लय का सिद्धान्त नहीं स्वीकारते हैं ऐसा मालूम होता है और उनकी दृष्टि में इस जगत् में रहते हुए भी जीव मात्र द्रष्टा रहता है।

वे कूर्म पुराण २ ४० ७ पृ० ४५३[1] के आठवें प्रश्न के उत्तर में बताते हैं कि आत्मा शब्द से ईश्वर का अर्थ निकलता है, यद्यपि साधारण व्यवहार में यह जीव के लिए प्रयुक्त है और जीव और ब्रह्म की एकता का सूचक करता है। यहाँ उल्लेख प्रत्यगात्मा से है जीवात्मा से नहीं।[2] ईश्वर को सर्वान्तर कहा है क्योंकि उसने सभी के हृदय में प्रवेश (अन्त) किया है और वहाँ वह द्रष्टा होकर रहता है (सर्वेषां स्व-भिन्नानामन्तः साक्षित्वेनानुगत)।[3] साक्षी वह है जो अपने को बिना किसी प्रयत्न के व्यापार द्वारा (व्यापार विनैव) प्रकाशित करता है (स्व प्रतिबिम्बित वस्तु भासक)

---

[1] बिबलियोथेका इण्डिका संस्करण १८९०।

[2] देखो ईश्वर गीता भाष्य हस्त०।

[3] एवं अन्तर्यामी तस्य सम्बन्धनात् चिन्मात्रेऽपि परमात्मशब्दो भवति सर्वान्तरत्वेन सर्वसाक्षित्वविधान सत्ताभेदात्। —वही।

वह अपूर्ण चित् से सम्बन्धित होने के कारण अन्तर्यामी कहलाता है और इसी सम्बन्ध के कारण, जीव, परमात्मा की महानता के भागी बनते हैं।

विज्ञान भिक्षु कहते हैं कि यहाँ पर 'अस्माद् विजायते विश्वम् अत्रैव प्रविलीयते' यह पंक्ति शक्तिमदभेदत्व सिद्धान्त के कारण के रूप में दी गई है जो परमात्मा का अन्तर्यामी कहकर बड़ी चतुराई से रखी गई है और फिर सिद्धान्त के गूढ़ महत्व को या शक्ति शक्तिमदभेदत्व के सिद्धान्त का अधिक स्पष्ट करने के लिए कुछ विशेषण जोड़कर उपरोक्त सिद्धान्त का समझाया है। ऐसा कहा गया है कि परमात्मा से ही विलोम रूप से कार्य उत्पन्न हुए हैं और वे उसी में रहते हैं और उसी में विलीन होते हैं। वह पुरुष और प्रकृति से अभिन्न (या अपृथक्) है क्योंकि वह पुरुष और प्रकृति से लगाकर समस्त विश्व का आधार है, अर्थात् वह पुरुष और प्रकृति से लगाकर और उन्हें समाविष्ट करके सभी कार्यों का आधार है। यदि उसने देहवत् सभी कारणों का अधिष्ठान न किया होता तो द्रव्य, गुण और कर्म इत्यादि कारण स्वतः कार्य नहीं कर सकते थे (यदि हि परमात्मा देहवत् सर्व कारणं नाधिष्ठेत्त द्रव्य गुण कर्मादि साधारणाखिला-र्थाय मूल कारण न स्यादिति)।[1] यदि ऐसा कहा जाता है कि वाक्य दृश्य घटनाओं के सामान्य कारण के विषय में उल्लेख करता है तो पूर्व वाक्य में जो ब्रह्म और जगत की एकता प्रतिपादित की गई थी, वह अस्वीकृत रहेगी।[2]

ब्रह्म जगत् का उपादान कारण है किन्तु यह जगत् ब्रह्म का परिणामी रूप है। इसलिए ब्रह्म परिणामी रूप नहीं है क्योंकि यह उस श्रुति वाक्य का विरोध करेगा जिसमें ब्रह्म को कूटस्थ कहा है। तब विज्ञान भिक्षु कहते हैं कि परमात्मा सभी का परम अधिष्ठान है इसलिए उसी से सभी प्रकार के कारणों के व्यापार को सहायता मिलती है और इसी को परमात्मा का अधिष्ठान कारणता कहा जाता है।

तब वे जीवात्मा परमात्मा के अंश और अंशी के अभेद सिद्धान्त को जीवात्मा परमात्मना रंशादयभेद स मायी मायया बद्ध करोति विविधास्तनू इस पंक्ति से प्रतिपादित करते हैं और आगे कहते हैं कि याज्ञवल्क्य स्मृति और वेदान्त सूत्र भी इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। श्रीमद्भगवत् गीता में यही कहा है। फिर वे इसी विचार का विशदीकरण करते हैं। यहाँ शंकर का उल्लेख उनकी आलोचना के लिए मिलता है।[3] मायावाद को प्रच्छन्न बौद्धवाद कहा है और उसका समर्थन करने के लिए पद्मपुराण का उद्धरण दिया गया है।

---

[1] ईश्वर गीता भाष्य, हस्त०।

[2] वही।

[3] वही।

अधिष्ठान कारण वह है जिसमे सार वस्तु वैसी का वैसी ही बनी रहकर अग्नि मे से स्फुलिंग की तरह नवीन भेद उत्पन्न हो। इसे अशाशिभाव भी कहा है क्योकि यद्यपि निरवयव ब्रह्म मे अश नहीं माने जा सकते फिर भी, सामा य अधिष्ठान मे से भिन्न लक्षणा के उत्पन्न होने के कारण ही भिन्न लक्षणो को अश कहा गया है। यह ध्यान म रखना चाहिए कि विनान भिक्षु इस मत का विराध करत हैं कि ब्रह्म मे परिणाम हाता है। यद्यपि ब्रह्म मे परिणाम नही हाते ता भी उसमे नवीन भेद उत्पन्न हाते हैं। 'स मायी मायया बद्ध इस वाक्य का तात्पय यह है कि स्वय ब्रह्म का अविभक्त अ"श है और उससे भिन्न नही है। माया अ"श रूप है जो अग्नि मे भिन्न नही है।

यद्यपि श्रुति म जीव और ब्रह्म के भद और अभद का बहुधा उल्लख किया गया है ता भी जीव ब्रह्म से भिन्न है इसी ज्ञान स मुक्ति मिल सकती है।[1]

आत्मा शुद्ध चत"य स्वरूप है और किसी भी प्रकार से उसके अनुभवा से बद्ध नही है। शकर का यह कहना कि आत्मा का स्वरूप आन"द या सुखमय है यह भी गलत है क्योकि कोई अपने मे सदा आसक्त नही रह सकता यह तथ्य कि हम प्रत्येक कम म अपनी रुचि खोजते हैं इससे यह अथ नही होना कि आत्मा का स्वरूप आन"द मय है। इसके अतिरिक्त यदि आत्मा शुद्ध चैत य स्वरूप है ता वह एक साथ आन"द स्वरूप नही हो सकता हम जब ज्ञान उत्पन्न होता है तब सदा आन"द का अनुभव नही हाता।[2]

अभिमान भी आत्मा का धम नही है वह सुख दु ख की तरह प्रकृति का गुण है जा गलती स आत्मा पर आरोपित किए जाते हैं।[3] आत्मा का अवश्य ही सुख दु खा के अनुभव का भोक्ता माना है तथा वृत्ति द्वारा उनका प्रतिबिम्ब होना और वृत्ति द्वारा सुख दु ख के ऐसे अनु"यवसाय इत्यादि का अनुभव का साक्षात्कार कहा है। अनुभव का ऐसा भोग इसलिए अनौपाधिक है। सास्य और भगवत् गीता म इसका समथन भी है। अनुभव (भोग) इस प्रकार से प्रकृति का धम नही है (सा त्कार-रूप धमस्य द"य धमत्व सम्भदात्)। जिन पाठो मे ऐसा कहा गया है कि अनुभव पुरुष के धम नही है यह अनुभव सम्बंधित वृत्तियो के परिणामो के बारे में कहा है। इसलिए शकर का आत्मा को अभोक्ता तथा अकर्ता कहना मिथ्या है।

विनान भिक्षु अज्ञान से अ"यथा ज्ञान अथ करते हैं। प्रधान इसलिए कहा है कि वह पुरुष के लिए सभी कम करता है, और वह पुरुष प्रधान स सयोग के दोष स, मिथ्या ज्ञान से सम्बंधित होता है।

---

[1] वही।
[2] वही।
[3] वही।

वह अपूर्ण चित् से सम्बन्धित होने के कारण अ तर्यामी कहलाता है और इसी सम्बन्ध के कारण, जीव, परमात्मा की महानता के भागी बनते ह ।

विज्ञान भिक्षु कहते हैं कि यहाँ पर 'अस्माद् विजायते विश्वम् अत्रैव प्रविलीयते यह पक्ति शक्तिमदभेदत्व सिद्धा त के कारण के रूप में दी गइ है जो परमात्मा को अ तर्यामी कहकर बडी चतुराइ से रखी गइ है और फिर सिद्धा त के गूढ महत्व को या शक्ति शक्तिमदभदत्व के सिद्धा त को अधिक स्पष्ट करने के लिए कुछ विशेषण जोडकर उपरोक्त सिद्धा त को समझाया है। ऐसा कहा गया है कि परमात्मा से ही विलोम रूप से काय उत्पन्न हुए हैं और वे उसी म रहते हैं और उसी मे विलीन होते हैं। वह पुरुष और प्रकृति से अभिन्न (या अपृथक) है क्योकि वह पुरुष और प्रकृति से लगाकर समस्त विश्व का आधार है अर्थात् वह पुरुष और प्रकृति से लगाकर और उन्ह समाविष्ट करके सभी कार्यों का आधार है। यदि उसने देहवत् सभी कारणो का अधिष्ठान न किया होता तो द्रव्य गुण और कम इत्यादि कारण स्वत काय नही कर सकते थ (यदि हि परमात्मा दहवत् सव कारण नाधिष्ठेत् द्रव्य गुण कर्मादि साधारणाखिला-क्रियाथ मूल कारण न स्यादिति)।[1] यदि ऐसा कहा जाता है कि वाक्य दृश्य घटनाओ के सामा य कारण के विषय म उल्लेख करता है तो पूव वाक्य मे जो ब्रह्म और जगत की एकता प्रतिपादित की गइ थी, वह अस्वीकृत रहेगी।[2]

ब्रह्म जगत् का उपादान कारण है कि तु यह जगत् ब्रह्म का परिणामी रूप है। इसलिए ब्रह्म परिणामी रूप नही है क्योकि यह उस श्रुति वाक्य का विरोध करेगा जिसमे ब्रह्म को कूटस्थ कहा है। तब विज्ञान भिक्षु कहते हैं कि परमात्मा सभी का परम अधिष्ठान है इसलिए उसी से सभी प्रकार के कारणो के व्यापार को सहायता मिलती है और इसी को परमात्मा की अधिष्ठान कारणता कहा जाता है।

तब व जीवात्मा परमात्मा के अंश और अंशी के अभेद सिद्धा त को 'जीवात्म-परमात्मना रंशाश्यभेद स मायी मायया बद्ध करोति विविधास्तनू' इस पक्ति स प्रतिपादित करते हैं और आगे कहते हैं कि याज्ञवल्क्य स्मृति और वेदा त सूत्र भी इसी सिद्धा त का प्रतिपादन करते ह। श्रीमद्भगवत् गीता म यही कहा है। फिर वे इसी विचार का विशदीकरण करते हैं। यहाँ शकर का उल्लेख उनकी आलोचना क लिए मिलता है।[3] मायावाद को प्रच्छन्न बौद्धवाद कहा है और उसका समथन करने के लिए पद्मपुराण का उद्धरण दिया गया है।

---

[1] इश्वर गीता भाष्य हस्त०।
[2] वही।
[3] वही।

अधिष्ठान कारण वह है जिसमे सार वस्तु वैसी की वैसी ही बनी रहकर अग्नि मे से स्फुल्लिग की तरह नवीन भेद उत्पन्न हो। इसे अनादिभाव भी कहा है क्योंकि यद्यपि निरवयव ब्रह्म मे अश नही माने जा सकते, फिर भी, सामान्य अधिष्ठान मे से भिन्न लक्षणो के उत्पन्न होने के कारण ही भिन्न लक्षणो को अश कहा गया है। यह ध्यान मे रखना चाहिए कि विज्ञान भिक्षु इस मत का विरोध करते हैं कि ब्रह्म मे परिणाम होता है। यद्यपि ब्रह्म मे परिणाम नही होते तो भी उसमे नवीन भेद उत्पन्न होते हैं। 'स मायी मायया बद्ध' इस वाक्य का तात्पर्य यह है कि स्वय ब्रह्म का अविभक्त अश है और उससे भिन्न नही है। माया अश रूप है जो अग्नि से भिन्न नही है।

यद्यपि श्रुति मे जीव और ब्रह्म के भेद और अभेद का बहुधा उल्लेख किया गया है तो भी जीव ब्रह्म से भिन्न है इसी ज्ञान से मुक्ति मिल सकती है।[1]

आत्मा शुद्ध चैतन्य स्वरूप है और किसी भी प्रकार से उसके अनुभवो से बद्ध नही है। शकर का यह कहना कि आत्मा का स्वरूप आनन्द या सुखमय है यह भी गलत है क्योंकि कोई अपने से सदा आसक्त नहीं रह सकता यह तथ्य कि हम प्रत्येक कर्म मे अपनी रुचि खोजते हैं इससे यह अर्थ नही होता कि आत्मा का स्वरूप आनन्दमय है। इसके अतिरिक्त यदि आत्मा शुद्ध चैतन्य स्वरूप है तो वह एक साथ आनन्द स्वरूप नही हो सकता हम जब ज्ञान उत्पन्न होता है तब सदा आनन्द का अनुभव नही होता।[2]

अभिमान भी आत्मा का धर्म नही है वह सुख दुख की तरह प्रकृति का गुण है जो गलती से आत्मा पर आरोपित किए जाते हैं।[3] आत्मा का अवश्य ही सुख दुखो के अनुभव का भोक्ता माना है तथा वृत्ति द्वारा उनका प्रतिबिम्ब होना और वृत्ति द्वारा, सुख दुख के ऐसे अनुव्यवसाय इत्यादि का अनुभव का साक्षात्कार कहा है। अनुभव का ऐसा भाग इसलिए औपाधिक है। साख्य और भगवत् गीता मे इसका समर्थन भी है। अनुभव (भोग) इस प्रकार से प्रकृति का धर्म नही है (साक्षात्कार-रूप धर्मस्य दृश्य धर्मत्व सम्भवात्)। जिन पाठो मे ऐसा कहा गया है कि अनुभव पुरुष का धर्म नही है, यह अनुभव सम्बन्धित वृत्तियो के परिणामो के बारे मे कहा है। इसलिए शकर का आत्मा को अभोक्ता तथा अकर्ता कहना मिथ्या है।

विज्ञान भिक्षु प्रधान से अन्यथा ज्ञान अर्थ करते हैं। प्रधान इसलिए कहा है कि वह पुरुष के लिए सभी कर्म करता है, और वह पुरुष प्रधान से सयोग के दोष से मिथ्या ज्ञान से सम्बन्धित होता है।

---

[1] वही।
[2] वही।
[3] वही।

आत्मा अपने में कूटस्थ रहता है, और भेद, अनुभव उत्पन्न करने वाले बुद्धि तथा अन्य कर्मों के संयोग के कारण हैं। मुक्तावस्था में जीव ब्रह्म से अभिन्न रहते हैं, प्रकृति पुरुष और काल अन्त में ब्रह्म द्वारा धारण किए जाते हैं फिर भी उससे भिन्न हैं।

दो प्रकार के श्रुति पाठ हैं-एक अद्वैत का और दूसरे द्वैतवाद का प्रतिपादन करते हैं। सच्चे बोधार्थ का द्वैतवादी श्रुति पाठों पर बल देना चाहिए क्योंकि यदि सभी कुछ मिथ्या है तो ऐसा मिथ्यात्व भी असिद्ध और स्वबाधित रहेगा। यदि ऐसा तर्क किया जाता है कि ब्रह्म ज्ञान प्राप्ति तक श्रुति की प्रमाणता को हम स्वीकार लें और जब यह प्राप्त हो जाता है तत्पश्चात् यह मालूम हो कि वे अप्रमाण हैं तो इसका कोई महत्व नहीं है। ऐसे आक्षेप का यह उत्तर है कि जब कभी किसी को यह पता चलता है कि जिन साधनों द्वारा निष्कर्ष निकाला गया है वे अप्रमाण हैं तो वह स्वभावतः ही उन निष्कर्षों पर शंका करने लगता है। इस प्रकार ब्रह्म का ज्ञान भी, उसको शंकास्पद लगेगा जिसे यह पता चल गया कि ज्ञान के साधन दोषयुक्त हैं।

जीव परमात्मा में अभिन्नावस्था में रहते हैं, इससे यह अर्थ निकलता है कि परमात्मा उनका आधार या अधिष्ठान कारण है और श्रुति पाठ जो अद्वैत मत प्रतिपादन करते हैं वे परमात्मा के स्वरूप को अधिष्ठान कारण के रूप में सूचित करते हैं। इसका यह अर्थ नहीं होता कि जीव ब्रह्म से एक ही है।

सुख दुःख आत्मा के धर्म नहीं हैं, वे अन्तःकरण के धर्म हैं, वे आत्मा के अन्तःकरण से सम्बन्धित होने के कारण ही आत्मा पर आरोपित किए जाते हैं। मुक्तावस्था में आत्मा शुद्ध चैतन्य स्वरूप, बिना सुख दुःख के सम्बन्ध से रहता है। अंतिम ध्येय दुःख के भोग की निवृत्ति है। (दुःख-भोग निवृत्ति) दुःख की निवृत्ति नहीं है (न दुःख निवृत्ति) क्योंकि जब कोई दुःख के भोग से निवृत्त हो जाता है, दुःख वर्तमान भी रहे और उसे दूर करने का उद्देश्य दूसरे का होगा। शंकर का यह कहना कि मुक्ति आनन्दावस्था है, गलत है। क्योंकि उस अवस्था में कोई मनो व्यापार नहीं होता जिससे सुख का अनुभव हो सके। यदि आत्मा को आनन्दस्वरूप माना जाय तब भी आत्मा कर्ता एवं आनन्द के भोग का विषय होगा जो असम्भव है। पारिभाषिक शब्दावली में ही मुक्तावस्था में आनन्द का आरोपण किया गया है आनन्द का अर्थ सुख दुःख का अभाव है।

भिक्षु सत्ता के स्तर मानते हैं। वे ऐसा मानते हैं कि जब एक वस्तु दूसरी से अधिक स्थिर है तो वह दूसरी से अधिक सत्य है। जबकि परमात्मा सर्वदा एक सा रहता है और उसमें कोई परिणाम, विकार या प्रलय नहीं होते इसलिए, वह प्रकृति, पुरुष और उनके विकारों से अधिक सत्य है। यह विचार पुराण के मतों में भी प्रदर्शित

किया गया है कि जगत् को अन्ततोगत्वा ज्ञान रूप से सत्य माना है या अन्तिम सत्य है और जो परमात्मा का स्वरूप है। इसी संदर्भ में जगत् पुरुष प्रकृति रूप से नहीं है जो परिवर्तनशील है।

प्रकृति या माया का बहुधा ऐसा वर्णन किया गया है कि उसे सत और असत् दोनों नहीं कहा जा सकता है। शांकर मतवादी इससे यह समझते हैं कि माया मिथ्या है। किन्तु विज्ञान भिक्षु के अनुसार, दूसरा अर्थ यह है कि मूल कारण को अशत सत और असत् इस दृष्टि से माना जा सकता है कि वह अव्यक्त अवस्था में असत् है और परिणाम की गति में सत है (किंचित सद्रूपा किंचिदसद्रूपा च भवति)।

साधना के विषय में कहते हैं कि आगम, अनुमान और ध्यान द्वारा हमें आत्म ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। यह आत्म ज्ञान असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त कराता है, जिससे सभी वासनाएँ निर्मूल हो जाती हैं, यह अज्ञान की निवृत्ति से ही नहीं, किन्तु कर्म के क्षय से भी प्राप्त होती है। वे यह मानते हैं कि शंकर का श्रुति के श्रवण पर आत्म ज्ञान की प्राप्ति के लिए बल देना भी उचित नहीं।

मुक्तावस्था में आत्मा लिंग शरीर से छूट जाने पर ब्रह्म से एक हो जाता है जैसे नदी समुद्र से एक हो जाती है। यह तादात्म्य नहीं है किन्तु अविभागावस्था है (लिंग-शरीरात्मक षोडश कालशून्येन एकतामं विभाग लक्षणाभेदमत्यन्त व्रजेत)। यहाँ मुक्तावस्था में जीव और ब्रह्म के बीच भेदाभेद, नदी और सागर के दृष्टान्त से बताया गया है।

भिक्षु का कहना है कि सांख्य और योग में मुक्ति के विषय में भेद है। सांख्य के अनुयायी केवल प्रारब्ध कर्म का अन्त करके मुक्ति पा सकते हैं। अविद्या के नष्ट हो जाने पर मुक्ति पाने के लिए प्रारब्ध कर्मों के क्षय तक की राह देखनी पड़ती है। योग के अनुयायी जो असम्प्रज्ञात समाधि में जाते हैं, उन्हें प्रारब्ध के फल नहीं भोगने पड़ते, क्योंकि असम्प्रज्ञात समाधि में ज्ञान के कारण उन्हें प्रारब्ध कर्म छू नहीं सकते। इसलिए तुरन्त ही अपनी स्वेच्छा से मुक्तावस्था में प्रवेश कर सकते हैं। भिक्षु के अनुसार, ईश्वर गुणातीत है तो भी शुद्ध सत्वमय शरीर के द्वारा यह रचना कार्य और जगत् व्यापार का नियमन करते रहते हैं। उनका कर्तत्व शुद्ध सत्वमय शरीर रूपी निदर्शन क्रिया द्वारा प्रकट होता है तो भी वह राग द्वेष इत्यादि से रहित होता है।

कूर्म पुराण के तीसरे अध्याय में कहा है कि प्रधान, पुरुष और काल अव्यक्त से उत्पन्न होते हैं और उनसे समस्त विश्व प्रकट हुआ। भिक्षु कहते हैं कि जगत् ब्रह्म से सीधे प्रकट नहीं होता किन्तु प्रधान, पुरुष और काल से होता है। ब्रह्म से सीधे अभिव्यक्ति नहीं है, क्योंकि इससे यह अर्थ होगा कि ब्रह्म अपरिणामी है। साक्षात प्रकटीकरण का यह अर्थ होगा कि पाप और नरक भी ब्रह्म से प्रकट हुए। ब्रह्म से प्रकृति, पुरुष

और काल का प्रकट होना ब्रह्म को इन तीनों का अधिष्ठान कारण मानकर समझाया है (अभिव्यक्ति कारण या आधार कारण)। किन्तु प्रकृति पुरुष और काल का यह परिणाम दूध में से दही परिवर्तन की तरह नहीं है। प्रलयावस्था में प्रकृति और पुरुष किसी कार्य को उत्पन्न नहीं करते इसलिए असत समान माने जा सकते हैं। परमात्मा के संकल्प से पुरुष और प्रकृति को आकर्षित करके आपस में संयुक्त किया जाता है प्रकृति के परिणाम के लिए प्रेरणा बिन्दु का आरम्भ किया जाता है। इस प्रेरणा बिन्दु को काल कहा है। इस रूप में ये तीनों कार्य उत्पन्न करते माने जा सकते हैं और इसलिए सत माने जा सकते हैं। इसी दृष्टि से प्रकृति, पुरुष और काल परमात्मा द्वारा उत्पन्न किए जाते हैं।[1]

अव्यक्त को परमात्मा इसलिए कहा गया है कि वह मनुष्य के ज्ञान से परे है। यह इसलिए ऐसा कहा गया है कि वह अद्वैतावस्था में है जहाँ शक्ति और शक्तिमत का भेद नहीं है और जहां सब कुछ अविभक्तावस्था में है। प्रकृति के रूप में अव्यक्त परिणाम का आधार है या परिणाम मात्र है, और पुरुष ज्ञाता है।

परमात्मा सभी जीवों का आत्मा है। इसका यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि केवल परमात्मा ही है और सारे पदार्थ उसके स्वरूप पर मिथ्या आरोपण मात्र हैं। परमात्मा या परमेश्वर, काल पुरुष और प्रधान से भिन्न और एक भी है। प्रकृति और पुरुष की सत्ता परमेश्वर की सत्ता की अपेक्षा चरम कम है क्योंकि पुरुष और प्रकृति की सत्ता ईश्वर की सत्ता में तुलना में आपेक्षिक है (विकारापेक्षया स्थिरत्वम् अपेक्षकम् एतयास्सत्वम् पृ० ४४)। काल को पुरुष और प्रकृति के संयोग का निमित्त कारण माना है। काल कर्मों का श्रेष्ठ निमित्त कारण है क्योंकि कर्म भी काल द्वारा उत्पन्न होते हैं (कर्मादीनामपि काल जन्यत्वात्) यद्यपि काल अनादि है फिर भी यह स्वीकारना पड़ता है कि काल का प्रत्येक कार्य के साथ विशिष्ट सम्बन्ध रहता है। इसी कारण से प्रलय के समय, काल, महत् इत्यादि कोई विकार उत्पन्न नहीं करता। महत्तत्व स्वयं चेतन है और मूल तत्वों का समाहार है।

पुरुष जब एक वचन में प्रयोग किया जाता है तो इस प्रयोग का यह अर्थ नहीं

---

[1] न तु साक्षादेव ब्रह्मणः अत्र कालादि त्रयस्य ब्रह्म कार्यत्वमभिव्यक्ति रूपमेव विवक्षितम् प्रकृति पुरुषयोश्च महादादि कार्योन्मुखता च परमेश्वर कृतादन्योन्य संयोगादेव भवति एवं कालस्य प्रकृति पुरुष संयोगास्य कार्योन्मुखत्व परमेश्वरेच्छयैव भवति।

—ईश्वर गीता भाष्य, हस्त०।

समझना चाहिए कि इससे अन्य पुरुषों का निषेध किया गया है। पुरुष भी दो प्रकार के हैं अपर और पर, दोनों निर्गुण हैं और शुद्ध चैतन्य रूप हैं। किन्तु पर और अपर पुरुष में यह भेद है कि पर पुरुष का सुख दुःख से कोई सम्बन्ध नहीं होता, जबकि अपर पुरुष कभी कभी सुख दुःख से सम्बन्धित हो जाता है जो उसे उस समय वे अपने है ऐसा अनुभव होता है (अन्ये गुणाभिमानात्सगुणाइव भवति परमात्मा तु गुणाभिमान शून्य पृ० ४६)। यह ध्यान में रखना चाहिए कि सुख दुःख का अनुभव होना पुरुष का अनिवार्य लक्षण नहीं है क्योंकि जीव मुक्तावस्था में पुरुष अपने सुख दुःख के अनुभव से एकत्व नहीं करते हैं, तो भी पुरुष ही रहते है। परमात्मा जो परम पुरुष कहलाता है, कर्म विपाक से होने वाले अनुभवों से सम्बन्ध नहीं रखता जो देशकाल अवस्था से युक्त होते हैं। किन्तु परमेश्वर अपनी विशिष्ट उपाधि से सम्बन्धित हो नित्य आनन्द का भोग करता रहता है (स्वोपाधिस्थ नित्यानद भोक्तृत्व तु परमात्मनोऽपि अस्ति)। जब श्रुति परम पुरुष में सुख दुःख के अनुभवों के भोग का अस्वीकार करती है तब अन्तःस्थित तात्पर्य यह है कि यद्यपि परम पुरुष सभी पुरुषों का आधार है तो भी वह इन अनुभवों से निस्संग रहता है (एकस्मिन्नेव बुद्धावस्थानेन जीव भोगत प्रसक्तस्य परमात्म भोगस्यात्र प्रतिषेध)। इस प्रकार परम पुरुष में अन्य पुरुष के कुछ सामान्य अनुभव विद्यमान रहते हैं। ये शुद्ध नित्य आनन्द के अनुभव स्वयं पुरुष में आनन्द के साक्षात् और अनन्तर प्रतिबिम्ब के कारण है जिससे यह आनन्द साक्षात् और त्वरित ही अनुभव होता है। पुरुष के इस अनुभव से पुरुष परिणाम को पाता है ऐसा नहीं माना जा सकता। उसे सामान्य पुरुषों की मानसिक अवस्थाओं तथा सुख दुःख के अनुभवों का भान उनसे प्रभावित हुए बिना, अवश्य ही रहता है ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि हम बाह्य विषयों का ज्ञान करते हैं। अनुभव का यह भोग परमेश्वर के मन के कारण, प्रतिबिम्ब व्यापार द्वारा होता है।

जब हम देखते हैं कि पुरुष महत् और अहंकार और सभी विकार परमात्मा के स्वरूप में अविभक्त रूप से रहते हैं तब हम ऐसे मत का अद्वैतवाद समझ में आ जाता है। परम पुरुष सभी पुरुषों में और बुद्धि तथा अहंकार में तथा पीछे होने वाले सभी विकारों में, ज्ञाता रूप से अंतर्हित है। इसी कारण से, इस तत्व के व्यापार से हमारे सभी ज्ञानात्मक व्यापार नव्य होते हैं क्योंकि यही तत्व का व्यापार ज्ञान उत्पन्न करने की क्रिया के रूप में कार्य करता है। सुख दुःख के अनुभवों के विषय में भी, यद्यपि ये अन्तःकरण से बाहर रह नहीं सकते और प्रकाशित होने के लिए दूसरे साधन की आवश्यकता न भी रखें तो भी इनके विषय में भी मनस और बुद्धि अन्तःकरण के रूप से कार्य करते हैं। इसलिए यद्यपि सुख और दुःख अज्ञान रूप से अस्तित्व रखते हुए नहीं माने जा सकते हैं तो भी इनके अनुभव भी मनस में प्रतिबिम्ब होने के कारण होते हैं ऐसा माना जाता है।

जब महत् पुरुष से संयुक्त होता है और पुरुष तथा मूल आधार कारण के बीच भेद मालूम नहीं पड़ता, तभी सर्गारम्भ होता है। परमात्मा की महान् चेतना विषयी और अविषयी सिद्धा तो को एक साथ धारण करती है। विषयी प्रकृति और अविषयी के द्र पुरुष दोनों अवि भक्तावस्था में बँधे हुए रहते हैं। यही जीव मोक्ष और बन्धन के सभी अनुभवों को उत्पन्न करता है। यह पूछा जा सकता है कि पुरुष और बुद्धि किस प्रकार इस अवस्था में अभेद रूप से रहते हैं और एक दूसरे से विविक्त क्यों नहीं रहते। उत्तर यह है कि अभेद और भेद, बुद्धि के सम्भावित तत्व हैं और योग का काम ऐसे आपस के अभेद के अनुभव में बाधामा का नष्ट करता है (योगादिना तु प्रतिबधमात्रमपाक्रियते)।

परमात्मा का प्रेम दो स्तर से चलता है। पहला, ईश्वर हमारी उच्चतम आव श्यकताएं संतुष्ट करता है इस विचार से और दूसरा भक्त और भगवान् दोनों एक हैं इस विचार से। ये उच्चतम आवश्यकताएं पहले, मूल्य में विचार में प्रकट होती हैं, जिसका अनुभव संतोष और सुख रूप लगता है दूसरे हम मुक्ति का मूल्य समझने लगते हैं तीसरे हम परमात्मा की महिमा का अनुभव कर संतोष पाते हैं और इस मूल्य को समझने लगते हैं। (प्रेम च अनुराग विशेष परमात्मनि इष्ट साधनता-ज्ञानादात्मव ज्ञानाच्च भवति। इष्ट मपि द्विविध भोगापवर्गो तन्महिमा दर्शनोत्थ-सुखम् च इति तदेव माहात्म्य प्रतिपादनस्य फल प्रेम लक्षणा भक्ति)।

प्रकृति से तादात्म्य प्राप्त माया को द्रव्य पदार्थ मानना चाहिए। प्रकृति में सत्व और तमस दो तत्व हैं। सत्व से ज्ञान या सच्चा ज्ञान उत्पन्न होता है तमस से मिथ्या ज्ञान या मोह उत्पन्न होता है। मिथ्या ज्ञान उत्पन्न करने वाला प्रकृति का पहलू माया कहलाता है। माया को त्रिगुणात्मिका प्रकृति कहा है या तीन गुणयुक्त प्रकृति कहा है। किन्तु यद्यपि माया को प्रकृति से एक रूप माना है तो भी यह अध्यास, प्रकृति का तमो रूप अखंड प्रकृति से पृथक नहीं किया जा सकता इसका कारण है। जब श्रुति में ऐसा कहा है कि परमात्मा योगियों की माया का नाश करता है इससे यह अर्थ नहीं होता कि सारी त्रिगुणात्मिका प्रकृति का नाश होता है किन्तु योगी से सम्बंधित तमो व्यापार का अन्त या नाश होता है। माया का इस प्रकार भी वर्णन किया है, वह जिस पर आधारित है अर्थात् परमात्मा, उसमें भ्रम उत्पन्न नहीं कर सकती किन्तु दूसरों में भ्रम या मिथ्या ज्ञान उत्पन्न कर सकती है (स्वाश्रय व्यामोहक-त्वे सति पर व्यामोहकत्वम्)।

आगे और यह कहा है कि परमात्मा ने त्रिगुण युक्त माया शक्ति से जगत् उत्पन्न किया है। माया का यहाँ ऐसा अर्थ होता है कि पुरुष और प्रकृति में मिथ्या आरोपण से जगत की उत्पत्ति के परिणाम व्यापार तथा जगत् का अनुभव शक्य है।

परमात्मा के सम्बन्ध में माया प्रकृति के लिए व्यवहृत है, जबकि जीव के सम्बन्ध मे उसे मोह उत्पन्न करने वाली अविद्या कहा है।

सच्चा ज्ञान केवल ब्रह्म से अभिन्नता प्राप्त करने मे नहीं है किन्तु ब्रह्म के सपूर्ण ज्ञान से है। इसका तात्पर्य ब्रह्म का ज्ञान प्रधान पुरुष और काल तथा समस्त ब्रह्माण्ड का किस प्रकार विकास होता है उसके द्वारा धारण किया जाता है और अन्त मे उसम विलीन होता है इत्यादि से है तथा जीव का ब्रह्म से व्यक्तिगत सम्बन्ध कैसा है, वह किस प्रकार उन्हे नियन्त्रित करता है और अन्त मे मुक्ति ज्ञान से होती है। काल को पुन उपाधि कहा है जिसके द्वारा परमात्मा प्रकृति और पुरुष का जगत्-रचना क्रम की ओर प्रवृत्त करता है।

एक कठिन समस्या यह है कि परमात्मा जो शुद्ध चैतन्य वस्तु है और इसलिए इच्छा और सकल्प रहित है वह किस प्रकार प्रकृति और पुरुष के महान् सयोग का कारण है। भिक्षु इसका यह उत्तर देते है कि परमात्मा के स्वरूप में ही ऐसी शक्ति है कि जिससे वह अपने म अन्तर्हित प्रकृति और पुरुष का सयुक्त करने की क्रिया तथा विकास क्रम का बनाए रखता है। यद्यपि पुरुष और प्रकृति का जगत् का कारण माना जा सकता है तो भी क्योकि सयोग काल म होता है इसलिए काल को ही प्रधान रूप से गति का कारक मानना चाहिए यह सयोग परमात्मा म निहित उपाधि वशात् शक्य है। (मम स्वीया भाव पदार्थ स्वभाव उपाधि ततस्तस्य प्रेरणात् भगवान् अप्रतिहता महायोगस्य प्रकृति पुरुषादि सयोगस्य ईश्वरस्तत्र समर्थ प्रकृति प्रतिक्षण परिणामानम् एव कालोपाधित्वात्)। चूकि भगवान् पुरुष और प्रकृति को अपनी प्रेरक उपाधि म गतिशील करता है इसलिए जड चेतन युक्त सारा जगत इस दृष्टि में उसका शरीर कहलाते हैं व भगवान् की क्रिया के निष्क्रिय विषय है। ईश्वर प्रकृति और पुरुष रूप से अपनी ही शक्तियो मे नृत्य करता रहता है। यह तर्क किया जा सकता है कि पुरुष नितान्त निष्क्रिय होने से वह किस प्रकार गति उत्पन्न कर सकता है और किस प्रकार प्रकृति से सयोग स्थापित कर सकता है इस सम्बन्ध म यही कहा जा सकता है कि वे विशिष्ट क्रिया म प्रवृत्त कर दिए जाते हैं या प्रवृत्ति से सयुक्त कर दिए जाते हैं। कभी कभी यह भी सूचित किया जाता है प्रकृति पुरुष का उपाधि है और प्रकृति की पुरुष के सयोग में प्रवृत्ति पुरुष की ही प्रवृत्ति है ऐसा समझा जाता है।

ईश्वर गीता के सातवें अध्याय म ब्रह्म का व्यापक कहा गया है। इस प्रकार कोई भी कारण अपने कार्य के सम्बन्ध से ब्रह्म माना जा सकता है। इसलिए ब्रह्म के अनेक स्तर छोटे सामान्य से लेकर बडे सामान्य के रूप मे हो सकते हैं। ब्रह्म की इस प्रकार परिभाषा की गई है 'यद्यस्य कारण तत्तस्य ब्रह्म तदपेक्षया व्यापकत्वात्'

बृहदारण्यक उपनिषद् २ ४ ५ में कहा है कि आत्मा की कामना के लिए सभी वस्तुओं की कामनाएँ हैं। शंकर इससे यह अनुमान लगाते हैं कि हमारी प्रियता मूलत आत्मा में है और जब सभी मोह सुख का मोह है, इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि आत्मा आनन्द या सुख-स्वरूप है। दूसरे पदार्थ की इच्छा केवल तभी होती है जब हम उसे भूल से अपना स्वरूप या अंग मान लेते हैं। भिक्षु इस प्रतिज्ञा को अस्वीकार करते हैं। वे कहते हैं कि प्रथमत यह गलत है कि हमें सर्वदा अपने से मोह है, और इसलिए, यह सत्य नहीं है कि जब हम अन्य पदार्थ की कामना करते हैं तो हम अपनी आत्मा की कामना करते हैं। इसलिए, यह गलत है कि आत्मा आनन्द स्वरूप है। यदि आत्मा शुद्ध चैतन्य स्वरूप है तो वह आनन्द स्वरूप नहीं हो सकता। यदि आनन्द और चैतन्य दोनों एक ही हैं तो सभी ज्ञान आनन्द रूप होगा किन्तु हमारा अनुभव, जितना सुख से सम्बन्धित है उतना ही दुःख से भी है। सुख दुःख और अभिमान ये सब प्रकृति के धर्म हैं या उसके विकार बुद्धि के धर्म हैं और ये वृत्ति द्वारा आत्मा पर स्थानान्तरित होते हैं, जो सचमुच सुख दुःख का भोक्ता है। इसलिए अनुभव प्रकृति का धर्म नहीं है किन्तु आत्मा का है।[1] विषय से इन्द्रिय-सन्निकर्ष के और प्रकाश के व्यापार द्वारा चित्त व्यापार उत्पन्न होता है। इन्हें वृत्तियाँ कहा जाता है जो बुद्धि का धर्म है और इसलिए प्रकृति का किन्तु इसके अनुरूप पुरुष द्वारा वृत्ति साक्षात्कार होता है और यह साक्षात्कार ही पुरुष का खरा अनुभव है। भोग शब्द द्वयर्थी है सन्दिग्धार्थ है। कभी यह वृत्ति को लक्ष्य करता है और कभी वृत्ति साक्षात्कार को। पहले अर्थ में भोग पुरुष में अस्वीकृत है।

अज्ञान, इस प्रणाली में मिथ्या ज्ञान का अर्थ रखता है। जब पुरुष बुद्धि की वृत्ति का साक्षात्कार करता है और उसे अपने पर आरोपित करता है तब मिथ्या ज्ञान उत्पन्न होता है जो बन्धन का कारण होता है। साक्षात्कार स्वयं सत्य है किन्तु आत्मा से साक्षात्कार के गुण का सम्बन्ध मिथ्या है। जब आत्मा वृत्ति से भिन्न अपना स्वरूप जानता है और अपने को ब्रह्म का एक अविभक्त अंग जानता है तब मुक्ति होती है। ब्रह्म से आत्मा की अविभक्तता का सरल अर्थ यही है कि ब्रह्म आधार कारण है और इसलिए यह आधार कारण मूल में शुद्ध चैतन्य स्वरूप है। सारा जगत शुद्ध चैतन्य रूप से ही ब्रह्म में स्थिर है जिसके प्रकृति और पुरुष जिसमें एक सच्चे विकार से परिणाम प्राप्त करने के कारण और दूसरा प्रकृति के व्यापार का अपने पर अध्यारोप द्वारा कार्य माने जा सकते हैं। जगत अन्त में शुद्ध चैतन्य स्वरूप है, किन्तु जड़ तथा उसके परिणाम और अनुभव भी केवल जड़ है और उसमें

---

[1] साक्षात्कार रूप धर्मस्य द्रष्टृ धर्मत्व सम्भवात्।

—ईश्वर गीता पर भिक्षु की टीका, हस्त०।

से बुदबुद की तरह निकलते कालमय रूप हैं। किन्तु जबकि ये कार्य के रूप में ब्रह्म के सच्चे प्रकार हैं इसलिए अद्वैतवाद पर अधिक बल देना गलत रहेगा। सत्ता में अधिष्ठान कारण तथा उद्भूत रूप दोनों ही समाए हुए हैं। शंकर ने यह प्रतिपादन किया है कि अद्वैत में पहुँचने तक ही द्वैत सत्य है। किन्तु भिक्षु इस पर आक्षेप करते कहते हैं कि जबकि अद्वैत सत्य पर पहुँचने के लिए क्रम की मान्यता स्वीकार करनी पड़ती है इसलिए द्वैतवाद का सर्वथा खण्डन अद्वैत का भी खण्डन होगा।

तेइसवाँ अध्याय

कुछ चुने हुए पुराणों के दार्शनिक विचार

जिन पाठकों ने विज्ञान भिक्षु द्वारा व्याख्यात कूर्म पुराणान्तगत ईश्वर गीता तथा ब्रह्म सूत्र की टीका पढ़ी है उन्हें मालूम हुआ होगा कि उनके अनुसार वेदान्त का सम्बन्ध सांख्य और योग से है और इसके समर्थन में उन्होंने बहुत से पुराणों का उल्लेख किया है जो शंकर से पहले वर्तमान थे। विज्ञान भिक्षु इसलिए पुराण के बहुत से उद्धरण देते हैं और रामानुज मध्व वल्लभ जीव गोस्वामी और बलदेव के ग्रन्थों में, हम उनके द्वारा मान्य वेदान्त दर्शन के समर्थन में पुराणों के बहुत से उद्धरण देखते हैं।

यह बहुत ही सम्भव है कि ब्रह्म सूत्र और उपनिषद् के विषय में दर्शन की एक महत्वपूर्ण प्रणाली का मत पुराण की परम्पराओं में सुरक्षित है। उपनिषद् और ब्रह्म सूत्र की शंकर द्वारा की गई व्याख्या पुराण में पाए जाने वाले अर्थ वस्तुवादी अर्थ बोधन से बहुत दूर हट गया है। सम्भवतः इसीलिए शंकर पुराणों का उल्लेख नहीं करते किन्तु जबकि शंकर द्वारा अर्थ बोधन का प्रकार पूर्वगामी पुराणों में नहीं मिलता, और अन्य कारणवशात् कुछ उपनिषद् के प्रति अद्वैतवाद को अन्य कारणों से हल्का कर दिया है तो यह माना जा सकता है कि पुराण और भगवद् गीता में पाया जाने वाला वेदान्त मत कम से कम सामान्य रूप से ब्रह्म सूत्र और उपनिषद् दर्शन का अति प्राचीन दृष्टिकोण है।

इसलिए यह वाञ्छनीय है कि रामानुज और विज्ञान भिक्षु के दर्शन के निरूपण को, कुछ मुख्य पुराणों के दर्शन के संक्षिप्त वर्णन से पूर्ण करना चाहिए। सभी पुराणों में सर्ग और प्रतिसर्ग का वर्णन आवश्यक है और इन्हीं खण्डों में दार्शनिक विचार भी पाए जाते हैं।[1] इस प्रस्तुत खण्ड में कुछ चुने हुए पुराण के सर्ग प्रतिसर्ग में विद्यमान दार्शनिक विचारों को खोजने का प्रयत्न किया जायगा जिससे पाठक पुराण के दर्शन की भास्कर रामानुज, विज्ञान भिक्षु और निम्बार्क के दर्शन से तुलना कर सकें।

विष्णु पुराण के अनुसार ब्रह्म की पहली अभिव्यक्ति पुरुष मानी गयी है फिर

---

[1] सर्गश्च प्रति सर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पंच लक्षणं। —कूर्म पुराण १ १२।

दूसरे व्यक्ताव्यक्त तथा काल का स्थान हैं प्रधान पुरुष, व्यक्त और काल का मूल कारण विष्णु की परम अवस्था का माना गया है। यहाँ हम विष्णु ब्रह्म को पाते हैं।[1]

विष्णु पुराण १ २ ११ म यह कहा है कि परम सत्य शुद्ध सत्ता है, जो केवल नित्य सत्ता की स्थिति ही कही जा सकती है। यह सवत्र है और वह सब कुछ है (यह सर्वेश्वरवाद है) और इसलिए इसे वासुदेव कहा गया है।[2] वह निमल है क्योकि उसम कोई बाह्य वस्तु नही है जिसे फेंक दिया जा सके।[3] वह चार रूप मे स्थित है व्यक्त अव्यक्त पुरुष और काल। अपनी लीला से य चार रूप उत्पन्न हुए हैं।[4] प्रकृति को सदसदात्मिका[5] और त्रिगुणात्मिका कहा गया है।[6] आरम्भ म ये चार तत्व होते हैं, ब्रह्म प्रधान पुरुष और काल[7] य सब त्रिकालिक विष्णु से भिन्न हैं। काल का काय सजन काल मे पुरुष और प्रकृति को एक साथ रखना है और प्रलय मे अलग रखना है। इन्द्रियगम्य वस्तुओ का काल ही कारण है। इस प्रकार काल की सत्तामूलक सयोग और वियोग की क्रियाओ का उल्लेख है।[8] (काल इस ग्रथ म सत्तामूलक है क्योकि वह ज्ञानात्मक पहलू के साधन के रूप मे काय नही करता किन्तु स्वरूप या सता के रूप से काय करता है)। सभी व्यक्त पदाय अन्तिम प्रलय के अन्त मे प्रकृति मे विलीन होते हैं इसलिए प्रकृति को प्रति सचार कहा है।[9] काल अनादि है इसलिए प्रलय के समय भी रहता है वह प्रकृति और पुरुष का सयुक्त किए रहता है और सर्गारम्भ के समय दोनो को विभक्त करता है। उस समय

---

[1] ब्रह्म को सृष्टा भी माना है हरि पाला (रक्षक) और महेश्वर महर्ता के रूप मे माने हैं।

आपोनारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनव ।
अयन तस्य ता पूवम् तेन नारायण स्मृत ।   —मनु० १ १० ।

[2] सवत्रासो समस्त च वसत्यत्रेति व यत ।
तत स वासुदेवति विद्वद्भि परिपठयते ।   —विष्णु पुराण, १ २ १२ ।

[3] हेयाभावाच्च निमलम् ।   —वही, १ २ १३ ।

[4] व्यक्त विष्णुस्तथा व्यक्त पुरुष काल एव च ।
क्रीडतो बालकस्येव चेष्टा तस्य निशामय ।   —वही, १-२ १८ ।

[5] वही १ २ १९ ।

[6] विष्णु पुराण १ २ २१ ।

[7] वही, १ २ २३ ।

[8] विष्णो स्वरूपात्परतो हि तेऽये रूपे प्रधान पुरुषश्च विप्र ।
तस्यैव ते येन घृते वियुक्ते रूपादि यत्तद् द्विज काल सज्ञम् ।   —वही, १ २ २४ ।

[9] वही १ २ २५ ।

परमात्मा अपने संकल्प से प्रकृति और पुरुष में प्रवेश करता है और सर्जन आरम्भ करने वाला क्षोभ उत्पन्न करता है।[1] जब परमात्मा प्रकृति और पुरुष में प्रवेश करता है तब उसका सान्निध्य मात्र ही सर्जन करने वाले क्षोभ के लिए पर्याप्त है, ठीक उसी प्रकार जैसेकि एक सुगंधित पदार्थ अपने सान्निध्य मात्र से मन का परिणाम किए बिना सुगन्ध उत्पन्न करता है।[2] परमात्मा क्षोभ और क्षोभ्य दोनों है और इसी कारण, विरोध और विकास द्वारा सर्ग होता है। यहाँ पर पुनः हम सर्वेश्वरवाद पाते हैं, सभी उसकी अभिव्यक्तियाँ हैं और प्रत्येक में वही समाया हुआ है। अणु से जीवात्मा का भय है।[3] विष्णु या ईश्वर विकार रूप से विद्यमान है अर्थात् वह व्यक्त रूप से है और पुरुष और ब्रह्म रूप से भी।[4] यह स्पष्ट ही सर्वेश्वरवाद है।

टीकाकार कहते हैं कि क्षेत्रज्ञाधिष्ठानात् में क्षेत्रज्ञ शब्द से पुरुष का तात्पर्य है। किन्तु प्रत्यक्षतः सन्दर्भ और न सांख्य मत इसका समर्थन करता है। पाठ का अनुसंधान स्पष्ट ही ईश्वर को लक्ष्य करता है और प्रकृति में प्रवेश द्वारा तथा उसके सान्निध्य द्वारा उसका अधिष्ठातृत्व पहले ही वर्णन किया जा चुका है।[5] प्रधान से महत्तत्व उत्पन्न होता है तब वह प्रधान द्वारा आवृत होता है और इस प्रकार आवृत होकर वह *सात्विक, राजस और तामस महत् के रूप में विभक्त होता है। प्रधान महत् का ठीक* उसी तरह ढकता है जैसे त्वचा बीज को।[6] इस प्रकार आवृत हुए महान् से वैकारिक, तैजस और भूतादि या तमस अहंकार विविध रूप में उत्पन्न होते हैं। इस भूतादि अहंकार से जो महत् द्वारा आवृत है (जैसे महत् प्रधान द्वारा) शब्द तन्मात्र सहज स्वविकार द्वारा उत्पन्न होते हैं और उसी प्रक्रिया द्वारा शब्द तन्मात्र से आकाश भूत तत्व उत्पन्न होता है। पुनः भूतादि शब्द तन्मात्र आकाश को आवृत कर लेता है। आकाश इस प्रकार उपाधि-ग्रस्त हो स्पर्श तन्मात्र को उत्पन्न करता है जो त्वरित ही स्थूल वायु उत्पन्न करता है। भूतादि पुनः आकाश, शब्द तन्मात्र स्पर्श तन्मात्र और विभक्त वायु को आवृत करता है जो पुनः रूप तन्मात्र को उत्पन्न करता है और त्वरित

---

[1] वही १ २ २९।
[2] वही १-२-३०।
[3] विष्णु पुराण १ २ ३१।
वही १ २-३२।
[5] गुण साम्यात् ततस्तस्मात् क्षेत्रज्ञाधिष्ठिता मुने।
गुण व्यंजन सम्भूतिः सर्ग काले द्विजोत्तम।

—वही १ २-३३।

[6] प्रधान तत्वेन समं त्वचा बीजमिवावृतम्।

—विष्णु पुराण, १-२ ३४।

दूसरे व्यक्ताव्यक्त तथा काल का स्थान हैं प्रधान पुरुष व्यक्त और काल का मूल कारण विष्णु की परम अवस्था को माना गया है। यहाँ हम विष्णु ब्रह्म का पाते हैं।[1]

विष्णु पुराण १ २ ११ मे यह कहा है कि परम सत्य शुद्ध सत्ता है जो केवल नित्य सत्ता की स्थिति ही कही जा सकती है। यह सवत्र है और वह सब कुछ है (यह सर्वेश्वरवाद है) और इसलिए इसे वासुदेव कहा गया है।[2] वह निमल है क्योकि उसम कोई बाह्य वस्तु नहीं है जिसे फेंक दिया जा सके।[3] वह चार रूप मे स्थित है व्यक्त अव्यक्त पुरुष और काल। अपनी लीला से य चार रूप उत्पन्न हुए हैं।[4] प्रकृति का सदसदात्मिका[5] और त्रिगुणात्मिका कहा गया है।[6] आरम्भ मे ये चार तत्व होते हैं ब्रह्म प्रधान पुरुष और काल[7] ये सब त्रिकालिक विष्णु से भिन्न हैं। काल का काय सजन काल मे पुरुष और प्रकृति का एक साथ रखना है और प्रलय मे अलग रखना है। इन्द्रियगम्य वस्तुओ का काल ही कारण है। इस प्रकार काल की सत्तामूलक सयोग और वियोग की क्रियाओ का उल्लेख है।[8] (काल इस ग्रथ मे सत्तामूलक है क्योकि वह नानात्मक पहलू के साधन के रूप मे काय नहीं करता किन्तु सद्रूप या सत्ता के रूप से काय करता है)। सभी व्यक्त पदाथ अन्तिम प्रलय के अन्त मे प्रकृति मे विलीन होते हैं इसलिए प्रकृति को प्रति सचार कहा है।[9] काल अनादि है इसलिए प्रलय के समय भी रहता है वह प्रकृति और पुरुष का सयुक्त किए रहता है और सर्गारम्भ के समय दोनो को विभक्त करता है। उस समय

---

[1] ब्रह्म को सृष्टा भी माना है हरि पाता (रक्षक) और महेश्वर सहर्ता के रूप मे माने हैं।

आपोनारा इति प्रोक्ता आपो व नरसूनव ।
अयन तस्य ता पूवम् तेन नारायण स्मृत । —मनु० १ १० ।

[2] सवत्रासो समस्त च वसत्यत्रेति व यत ।
तत स वासुदेवेति विद्वद्भि परिपठयते । —विष्णु पुराण, १ २ १२ ।

[3] हेयाभावाच्च निमलम् । —वही, १ २ १३ ।

[4] व्यक्त विष्णुस्तथा व्यक्त पुरुष काल एव च ।
क्रीडतो बालकस्येव चेष्टा तस्य निशामय । —वही, १ २ १८ ।

[5] वही १ २ १६ ।

[6] विष्णु पुराण, १ २ २१ ।

[7] वही, १ २ २३ ।

[8] विष्णो स्वरूपात्परतो हि तेन्ये रूपे प्रधान पुरुषश्च विप्र ।
तस्यैव ते येन धृते वियुक्ते रूपादि यत्तद् द्विज काल मज्ञाम् । —वही, १-२ २४ ।

[9] वही १ २ २५ ।

परमात्मा अपने सकल्प से प्रकृति और पुरुष में प्रवेश करता है और सजन आरम्भ करने वाला क्षोभ उत्पन्न करता है।[1] जब परमात्मा प्रकृति और पुरुष म प्रवेश करता है तब उसका सान्निध्य मात्र ही सजन करने वाले क्षोभ के लिए पर्याप्त है, ठीक उसी प्रकार जैसेकि एक सुगंधित पदाथ अपने सान्निध्य मात्र से मन का परिणाम किए बिना सुग ध उत्पन्न करता है।[2] परमात्मा क्षोभ और क्षोभ्य दोनों है और इसी कारण, विरोध और विकास द्वारा सग होता है। यहाँ पर पुन हम सर्वेश्वरवाद पाते हैं, सभी उसकी अभिव्यक्तियाँ हैं और प्रत्येक में वही समाया हुआ है। अणु से जीवात्मा का अंश है।[3] विष्णु या ईश्वर विकार रूप से विद्यमान है अर्थात् वह व्यक्त रूप से है और पुरुष और ब्रह्म रूप से भी।[4] यह स्पष्ट ही सर्वेश्वरवाद है।

टीकाकार कहते हैं कि 'क्षेत्रज्ञाधिष्ठानात्' मे क्षेत्रज्ञ शब्द से पुरुष का तात्पय है। *किन्तु प्रत्यक्षत सदर्भ और न सांख्य मत इसका समथन करता है। पाठ का अनुसधान* स्पष्ट ही ईश्वर को लक्ष्य करता है, और प्रकृति म प्रवेश द्वारा तथा उसके सान्निध्य द्वारा उसका अधिष्ठातृत्व पहले ही वणन किया जा चुका है।[5] प्रधान से महत्तत्व उत्पन्न होता है तब वह प्रधान द्वारा आवत होता है और इस प्रकार आवत होकर वह सात्विक, राजस और तामस महत् क रूप म विभक्त होता है। प्रधान महत् का ठीक उसी तरह ढकता है जैसे त्वचा बीज का।[6] इस प्रकार आवृत हुए महान् स, वकारिक, तैजस और भूतादि या तमस अहकार विविध रूप मे उत्पन्न हाते हैं। इस भूतादि अहकार से जो महत् द्वारा आवत है (जसे महत् प्रधान द्वारा) शब्द तन्मात्र सहज स्वविकार द्वारा उत्पन्न होते हैं और उसी प्रक्रिया द्वारा शब्द त मात्र से आकाश भूत तत्व उत्पन्न हाता है। पुन भूतादि शब्द त मात्र आकाश का आवन कर लता है। आकाश इस प्रकार उपाधि-ग्रस्त हो स्पश तन्मात्र को उत्पन्न करता है जा त्वरित ही स्थूल वायु उत्पन्न करता है। भूतादि पुन आकाश, शब्द त मात्र स्पश तन्मात्र और विभक्त वायु को आवत करता है जा पुन रूप तन्मात्र को उत्पन्न करता है और त्वरित

---

[1] वही १ २ २६।

[2] वही, १ २-३०।

[3] विष्णु पुराण १ २ ३१।

वही, १-२ ३२।

[5] गुण साम्यात् ततस्तस्मात् क्षेत्रज्ञाधिष्ठिना मुने।
गुण व्यजन सम्भूति सग काल द्विजात्तम।

—वही १ २-३३।

[6] प्रधान तत्वेन सम त्वचा बीजमिवावतम्।

—विष्णु पुराण, १-२ ३४।

ही ज्योति उत्पन्न करता है।[1] स्पर्श तन्मात्र और वायु रूप तन्मात्र को आवृत करता है। इस प्रकार उपाधि ग्रस्त होकर विभक्त स्थूल ज्योति रस तन्मात्र को उत्पन्न करता है जिसमें से पुनः स्थूल अप उत्पन्न होता है। उसी प्रकार रस तन्मात्र और रूप तन्मात्र आवृत होकर विभक्त स्थूल अप गन्ध तन्मात्र को उत्पन्न करता है जिसमें पुनः स्थूल पृथ्वी उत्पन्न होती है। तन्मात्र गुणों की अव्यक्त उपाधियाँ हैं इसलिए इनमें गुण प्रकट नहीं है। इसलिए इन्हें रूढ़ि प्रणाली में अविशेष कहा है। ये शान्त घोर और मूढ़ त्रिगुण धर्म नहीं प्रकट करते हैं। इस कारण भी इन्हें अविशेष कहा है।[2]

तैजस अहंकार से पंच ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। वैकारिक अहंकार से मनस उत्पन्न होता है।[3] ये तत्व सुसंगति तथा एकता में कार्य करते हैं और तन्मात्र अहंकार और महत् के साथ परमात्मा के परम नियन्त्रण में विश्व की एकता बनाते हैं। जब विश्व वृद्धि पाता है तब वे अण्डाकार रूप में हो जाते हैं जो क्रमशः पानी के बुदबुद की तरह अन्दर से विस्फोट करते हैं और यह विष्णु रूप ब्रह्म का भौतिक शरीर कहलाता है। विश्व बाह्य परिधि पर आप, अग्नि, वायु आकाश और भूतादि से आवृत रहता है और इसके बाद महत और अव्यक्त द्वारा जो पृथ्वी से दस गुने बड़े हैं। इस प्रकार सात आवरण होते हैं। विश्व नारियल के फल के समान है जिसके ऊपर अनेक आवरण हैं। योग्य समय पर पुनः तमस के आधिक्य से परमात्मा विश्व का रुद्र रूप से भक्षण करता है और फिर ब्रह्मा रूप से सर्जन करता है। प्रयोगत्वा अवश्य ही परमात्मा क्योंकि विश्व का अपने में धारण करता है इसलिए वह सर्जक और सर्जन होता हुआ ही रक्षक और संहारक भी है।

यद्यपि ब्रह्म निर्गुण है अमेय और निर्मल है तो भी वह अपनी शक्ति द्वारा, जिन्हें हम जान नहीं सकते सर्जक बन सकता है। वास्तव में शक्ति या बल तथा द्रव्य का सम्बन्ध विचारातीत है। हम यह कभी नहीं समझ सकते कि अग्नि क्या तथा कैसे गर्म है?[4] पृथ्वी हरि की प्रार्थना करती हुई उसका इस प्रकार वर्णन

---

[1] टीकाकार यहाँ कहता है कि जब आकाश स्पर्श तन्मात्र को उत्पन्न करता कहा गया है तो कहने का अर्थ यह नहीं है कि आकाश ऐसा करता है किन्तु भूतादि आकाश रूप से व्यक्त होकर करता है अर्थात् भूतादि के आधिक्य से आकाश स्पर्श तन्मात्र उत्पन्न कर सकता है। "आकाश आकाशमयो भूतादि स्पर्श तन्मात्र ससर्ज।"

[2] श्लोक की टीका देखो विष्णु पुराण १ २ ४४।

[3] टीकाकार कहते हैं कि यहाँ मनस से चतुर्विध काय सहित अन्तःकरण का अर्थ है ये मनस बुद्धि चित्त और अहंकार हैं।

[4] विष्णु पुराण १ ३ १ २।

करती है इस जगत् मे जो भी कुछ दृश्य है तेरी ही अभिव्यक्ति है सामान्य मनुष्य इसे भौतिक जगत् मानने म भूल करता है सारा जगत् ज्ञानरूप है उसे विषय मानना भूल की भूल है। जो ज्ञानी है वे इसे चिद्रूप मानते हैं और परमात्मा का रूप मानते हैं जो शुद्ध ज्ञान रूप है। जगत् को भौतिक मानना और ज्ञान की अभिव्यक्ति न मानना ही भूल है।'[1]

विष्णु पुराण १ ४ ५० ५२ म ऐसा कहा है कि परमात्मा ही एक निमित्त कारण है और उपादान कारण जगत् के पदार्थ की शक्तियाँ है जो उत्पन्न की जाने वाली है। इन शक्तियों के जगत् के रूप मे प्रकट होने के लिए केवल निमित्त कारण की आवश्यकता रहती है। परमात्मा केवल निमित्त मात्र ही है जगत का उपादान कारण जगत के पदार्थों की शक्ति मे विद्यमान है जो परमात्मा के सान्निध्य से प्रभावित है। टीकाकार सूचित करता है कि परमात्मा सान्निध्य मात्र से निमित्त है (सान्निध्य मात्रेणैव)[1]

विष्णु पुराण १ ४ म हम सृष्टि का दूसरा वर्णन पाते हैं। ऐसा कहा गया है कि भगवान् ने सृष्टि रचना का विचार किया और एक जड रूप सृष्टि तमस मोह, महा मोह तामिस्र और अन्ध तामिस्र के रूप म प्रकट हुई। ये पाच प्रकार की अविद्या भगवान् से उत्पन्न हुई। इनसे पाँच प्रकार के रूप हुए जो वृक्ष गुल्म लता विरुत और तृण है (यहाँ पर्वत और गिरि को और जोडना चाहिए) जिनमें अन्त और बाह्य चेतना नही होती इन्हे सर्वनात्मन कहा जा सकता है। इससे सतुष्ट न होकर, उसने पशु और पक्षियों को उत्पन्न किया जो तिर्यक कहलाए। पशु इत्यादि तिर्यक कहलाते है क्योंकि उनका सचार ऊपर न होकर सभी दिशाओं मे होता है। वे तमस से पूर्ण हैं इसलिए अवेदिन कहलाते है। टीकाकार यहाँ आलेखित करते हैं कि अवेदिन् का अर्थ यह है कि पशुओं को भूख प्यास का ही ज्ञान होता है, किन्तु

---

[1] यदेतद्दृश्यते मूर्तम् एतद् ज्ञानात्मनस्तव ।
भ्रान्ति ज्ञानेन पश्यन्ति जगद्रूपमयोगिन ॥ —विष्णु पुराण १ ४ ३९ ।
ज्ञान स्वरूपमखिल जगदेतद् बुद्धय ।
अर्थ स्वरूप पश्य तो भ्राम्यन्ते मोह सम्प्लवे ॥ —वही १ ४ ४० ।
निमित्तमात्रमेवासीत् सृज्यानां सर्ग कर्मणि ।
प्रधान कारणी भूता यतो व सृज्य शक्तय ॥ —वही, १ ४ ५१ ।
निमित्त मात्र मुक्त्वैकम् नान्यत् किंचिदवेक्ष्यते ।
नीयते तपताम् श्रेष्ठ स्वशक्त्या वस्तु वस्तुताम् ॥ —वही, १ ४ ५२ ।
सिसृक्षु शक्ति युक्तोऽसौ सृज्य शक्ति प्रचोदित । —वही, १ ५ ६५ ।
इस पाठ में ईश्वर के सकल्प और सृजन शक्ति को सृष्ट पदार्थों की शक्ति से सहायता मिलती है ऐसा सूचन है ।

सश्लेषणात्मक ज्ञान नहीं होता, अर्थात वे भूत, भविष्य और वतमान का अनुभव एकीकृत रूप से नहीं कर सकते और उन्हें अपने इस जन्म या अन्य जन्म के भाग्य का ज्ञान नही होता तथा वे नैतिक और धार्मिक सज्ञा रहित होते हैं। उन्हें स्वच्छता और खान पान का विवेक नही है, वे अज्ञान को ज्ञान मानकर सतुष्ट हैं, अर्थात वे किसी विशिष्ट प्रकार का ज्ञान पाने की चेष्टा नही करते। वे २८ प्रकार के बाध से सयुक्त हैं।[1] वे अन्तर से सुख दुःख को जानते हैं किन्तु वे एक दूसरे से सवाद नही कर सकते।[2] तब पशु की रचना से असतुष्ट होकर, भगवान् ने देवताओं को बनाया जो सवदा सुखी रहते है और अपने विचार और अन्तर्वेदना तथा वाह्य विषय को जान सकते हैं और परस्पर वार्तालाप भी कर सकते हैं। इस रचना से भी असतुष्ट होकर उसने मनुष्यों को बनाया जिसे अर्वाक स्रोत' कहते हैं, जो देव रचना के ऊर्ध्व स्रोतस् से भिन्न है। मनुष्य में तमस और रजस की प्रचुरता है और इसलिए उनमे दुःख भी बहुत है। इस प्रकार नव प्रकार की रचना है। पहले तीन, जो अबुद्धिपूर्वक कहलाते है वे महत् तन्मात्र और भूतस् शारीरिक इन्द्रियाँ रूपी भौतिक रचनाए है। चौथा सजन जो मुख्य वर्ग कहलाता है वृक्षों का है पाँचवा तियक वर्ग है छठा ऊर्ध्व स्रोतस सातवा अर्वाक स्रोतस या मनुष्य है। आठवी रचना कोई नई प्रकार की दीखती है। सम्भवत इससे पेड पौधे पशु देव और मनुष्य की निर्दिष्ट नियति का अर्थ है। पेड पौधों की नियति अज्ञान है। पशुओं को केवल शारीरिक बल है देवताओं को

---

[1] साख्य कारिका ४६ में २८ बाधाओं का वर्णन है। यहाँ बाधाए साख्य के २८ बाधाओं को आलक्षित करती हैं। इससे यह स्पष्ट है कि विष्णु पुराण के काल में साख्य की बाधाएँ सुपरिचित थी। इसमें यह भी पता चलता है कि विष्णु-पुराण साख्य के विचार से निकटता से सम्बन्धित था जिससे बाध का कवल नाम ही साख्य के बाध को लक्ष्य करने को पर्याप्त था। विष्णु पुराण सम्भवत तीसरी शताब्दी का ग्रन्थ है, और ईश्वर कृष्ण की कारिका भी लगभग उसी काल मे लिखी गई थी। मार्कंडेय पुराण में (वक्टे० प्रेस अ० ४७ ५ २०) हम अष्टाविंशद् विधात्मिका शब्द पाते हैं। क० एम० बेनरजी की १ सस्करण वाले मार्कंडेय पुराण में भी अ० ४७ ५ १० मे यही शब्द पाया जाता है। बाधात्मका शब्द न तो मार्कंडेय और न पद्म पुराण (१३ ६५) में मिलता है। मान्यता इसलिए यह है कि मार्कंडेय में २८ प्रकार साख्य के प्रभाव से, तीसरी शताब्दी में २८ बाधाओं मे परिवर्तित हो गई। मार्कंडेय पुराण ई० पू० दूसरी शताब्दी में लिखा गया माना जाता है। यह पता चलाना कठिन है कि ये २८ प्रकार के पशु कौन हैं जो मार्कंडेय पुराण में कहे गए हैं। किन्तु इन्हें साख्य के २८ बाधाओं से एक करना ठीक नहीं है।

[2] अन्त प्रकाशास्ते सव आवतास्तु परस्परम्। —विष्णु पुराण १ ५ १०।

निमल सतोप है और मनुष्य म हेतुपूर्ति है। यह अनुग्रह सग कहलाता है।[1] तत्पश्चात् नवा सग आता है जो कौमार सग कहलाता है। वह सम्भवत ईश्वर के मानस पुत्र सनत्कुमार इत्यादि के सजन से सम्ब ध रखता है।

प्रलय चार प्रकार के कह गए हैं य नमित्तिक या ब्राह्म प्राकृतिक आत्यतिक और नित्य हैं। *नमित्तिक प्रलय ब्रह्मा की निद्रा है प्राकृतिक प्रलय में विश्व प्रकृति* म विलीन होता है, आत्यतिक परमात्मा के ज्ञान से होता है अर्थात् जब योगी अपने को परमात्मा मे लय करता है और चौथा जो नित्य प्रलय है निरतर विनाश है। *वह प्रतिदिन होता रहता है।*

वायुपुराण मे आत्यतिक सिद्धान्त का उल्लेख है जो परमात्मा की प्रथम कायकारी प्रवृत्ति से है। इसे कारण अप्रमेयम् कहा है, और यह अनेक नाम से विख्यात है जैसे ब्रह्म प्रधान प्रकृति प्रसूति (प्रकृति प्रसूति) आत्मन् गुह योनी, चक्षुष क्षत्र, अमृत अक्षर, शुक्र तपस सत्वम् और अतिप्रकाश। ये दूसरे पुरुष को घेरे हुए हैं। यह दूसरा पुरुष सम्भवत लोक पितामह है। रजस के आधिक्य एव काल के सयोग से क्षेत्रज्ञ से सम्बधित आठ प्रकार के विकार के स्तर उत्पन्न होते हैं।[2] इस सम्ब ध मे वायु पुराण भी प्राकृतिक नमित्तिक और आत्यतिक प्रलय का उल्लेख करता है।[3] वह यह भी कहता है कि पदार्थों का विकास शास्त्र निर्देश तथा बुद्धि

---

[1] वायु पुराण ६ ६८ म इसे निम्न प्रकार से वर्णन किया है।

स्थावरेषु विपर्यासितियग योनिषु शक्तिता।
सिद्धात्मनो मनुष्यास्तुष्टिषु देवेषु कृत्स्नश।

यहाँ छठा सग भूत सग है।

भूतादिका नाम् सत्वाना षष्ठ सग स उच्यते। —वही ६ ५८ ५९।
ते परिग्रहिण सर्वे सविभागरता पुन खादनाश्चाप्य शीला श्च ज्ञेया भूतादिका च ते॥ —वही, ६ ३०।

माकडय पुराण मे अनुग्रह सग पाँचवा सग है।

कूम पुराण मे (७ ११) भूत पाचवाँ सग है कूम पुराण के अनुसार पहला सग महत्सग, दूसरा, भूत सग तीसरा वैकारिकेंद्रिय सग, चौथा मुख्य सग, पाँचवाँ तियक सग है। इस प्रकार यहाँ विरोध है क्योकि उसी अध्याय मे ११वें श्लोक में पाँचवा भूत सग कहा है। इससे यह अनुमान होता है कि कम से कम सातवें *अध्याय को लिखने मे दो व्यक्तियो का योग है।*

[2] वायु पुराण २ ११, अहिर्बुध्न्य सहिता म विस्तृत पचरात्र सिद्धान्त से इसकी तुलना करो।

[3] वायु पुराण, ३ २३।

द्वारा जाना गया है[1] और प्रकृति समस्त सवेद्य गुणो से रहित है। वह त्रिगुणात्मिका है। प्रकृति काल रहित और मशेय है। मूलावस्था मे-गुणो की साम्यावस्था म उसम सभी कुछ तमस से व्याप्त था। सर्ग के समय, क्षेत्रज्ञ से सयुक्त होने से उसम से महत् उत्पन्न होता है। यह महत् सत्त्व की प्रधानता से है और शुद्ध सत्ता का व्यक्त करता है। महत के अनेक नाम है जसेकि मनस महत् मति ब्रह्मा, पुर, बुद्धि, ख्याति, ईश्वर चिति प्रज्ञा स्मृति, सवित् और विपुर।[2] महत्प्रज्ञा, सर्जन की इच्छा से प्रेरित होकर, रचना शुरू करती है और धर्म प्रथम तथा अन्य तत्त्वो को उत्पन्न करती है।[3] क्योकि सभी प्राणियो के स्थूल प्रयत्न महत् म सूक्ष्मावस्था मे रहते हैं इसलिए इसे मनस कहा गया है। यह पहला पदार्थ है जिसका विस्तार अनन्त है और इसीलिए उस महान् कहा गया है। यह अपने सभी सीमित और परिमित तत्त्वो को धारण किए हुए है और क्योकि इसम से सभी भेद उत्पन्न होते है और अनुभव से सर्व्यापत बुद्धि युक्त पुरुष के रूप से दीखते हैं इसलिए इसे मति कहा है। इसे ब्रह्म कहा है क्योकि इससे सभी की वद्धि होती है। आगे सभी पदार्थ इसी मे स अपना द्रव्य लेते हैं इसलिए इसे पुर कहा है। क्योकि पुरुष सभी वस्तुओ को हितकर या एषणीय समझता है और इसी द्रव्य के द्वारा सभी कुछ जाना जा सकता है इसलिए इसे बुद्धि कहा है। सभी अनुभव और अनुभवो का सगठन तथा सभी दु ख और सुख जो ज्ञान से होते हैं वे इसी से उत्पन्न है इसलिए इस ख्याति कहा है। वह सभी को साक्षात् देखता है इसलिए ईश्वर है। सभी प्रत्यक्ष इसी मे उत्पन्न हैं इसलिए इसे प्रज्ञा कहा है। सभी ज्ञानावस्थाएँ और सभी प्रकार के कर्म तथा उनके फल कर्मानुरूप निश्चित होने के लिए इसी मे सगृहीत होते ह इसलिए यह चिति है। क्योकि वह भूतकाल को स्मरण रखता है इसलिए इसे स्मृति कहा है। सभी ज्ञान का आगार होने से उसे महात्मन् कहा है। यह सभी ज्ञानो का ज्ञान है वह सब व्यापी है और सभी पदार्थ इसी मे समाए हुए ह इसलिए यह सम्वित् है। यह ज्ञान रूप होने के कारण ज्ञान है। यह सभी सघर्षात्मक अभीष्ट वस्तुओ के अभाव का कारण ह इसलिए इस विपुर कहा ह। यह जगत् के सभी प्राणियो का पति ह इसलिए ईश्वर ह। वह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ दोनो रूपो मे ज्ञाता ह और एक ह। यह सूक्ष्म शरीर मे रहता ह (पुर्याम् शेते) इसलिए उसे पुरुष कहा है। यह स्वयम्भू भी कहलाता ह क्योकि इसका कोई कारण नही है और यह सर्ग का आदि ह। वह महान् सर्जन की इच्छा से प्रेरित होकर, दो प्रकार की क्रिया द्वारा जगत् मे अभिव्यक्त होता है य क्रियाए सकल्प और

---

[1] इच्छास्त्र युक्तया स्वमनि प्रयत्नात्।
नमस्तमाविष्कृत धी धतिम्य। —वही ३ २४।

[2] वह पाच प्रमाण का उल्लेख करता है। —वही, ४ १६।

[3] वायुपुराण, ४ २५।

अध्यवसाय हैं। यह त्रिगुणात्मक है। रजस के प्राधिक्य से, महत् से अहंकार उत्पन्न हुआ। तमस् के प्राधिक्य से भूतादि भी उत्पन्न होते हैं जिनमें से तन्मात्र उत्पन्न होते हैं। इसमें शून्य रूप आकाश उत्पन्न होता है जिसका शब्द से सम्बन्ध है। भूतादि के परिणाम से शब्द तन्मात्र उत्पन्न हुए हैं। जब भूतादि शब्द तन्मात्र को आवृत कर लेते हैं, तब स्पर्श तन्मात्र उत्पन्न होता है। जब आकाश शब्द तन्मात्र और स्पर्श तन्मात्र को आवृत करता है, तब वायु उत्पन्न होती है। इसी प्रकार अन्य भूत और उनके गुण उत्पन्न होते हैं। तन्मात्राओं को अविशेष भी कहा है। वैकारिक या सात्विक अहंकार से पंच ज्ञानेन्द्रियां पंच कर्मेन्द्रियां और मनस उत्पन्न होते हैं।[1]

ये गुण परस्पर सहकार से कार्य करते हैं और पानी की बुद् बुद की तरह ब्रह्माण्ड को उत्पन्न करते हैं। इस ब्रह्माण्ड से क्षेत्रज्ञ ब्रह्मा या हिरण्यगर्भ (चतुर्मुखी देव) उत्पन्न होता है। परमात्मा प्रत्येक प्रलय के समय अपना शरीर छोड़ता है और नवीन सर्ग के समय नवीन शरीर धारण करता है।[2] ब्रह्माण्ड अप तेज उष्णता वायु आकाश, भूतादि महत् और अव्यक्त से आवृत रहता है। आठ प्रकार की प्रकृति कही गई है और सम्भवतः ब्रह्माण्ड आठवां आवरण है।[3]

आठवें अध्याय में ऐसा कहा है कि रजस सत्व और तमस में प्रवृत्यात्मक तत्व के रूप में विद्यमान है, जैसे तिल में तेल रहता है। आगे यह भी कहा है कि महेश्वर, प्रधान और पुरुष में प्रवेश करता है और रजस की प्रवृत्ति से प्रकृति को साम्यावस्था में क्षोभ पहुँचता है।[4] गुण क्षोभ से तीन देव उत्पन्न होते हैं, रजस से ब्रह्मा, तमस से अग्नि और सत्व से विष्णु। अग्नि का काल से भी एकत्व किया गया है।

वायु पुराण में माहेश्वर योग का वर्णन भी है।[5] यह पांच धर्म का बना है जैसे कि प्राणायाम, ध्यान, प्रत्याहार, धारणा और स्मरण। प्राणायाम तीन प्रकार

---

[1] यह अन्य वर्णनों से भिन्न है। यहाँ रजस अहंकार का कोई कार्य नहीं है जिससे कर्मेन्द्रियां उत्पन्न होती हैं।

[2] वायु पुराण, ४ ६८।

[3] यह पाठ क्लिष्ट है क्योंकि यह समझना कठिन है कि ये आठ प्रकृतियां कौन सी हैं। —वही, ४, ७७ ७८।

[4] यह पहले कहा है कि भौतिक जगत् तामस अहंकार से उत्पन्न होता है और सात्विक अहंकार से ज्ञान कर्मेन्द्रिय पंचक। राजसिक अहंकार से कुछ उत्पत्ति नहीं मानी है, वह केवल साम्यावस्था के क्षोभ का क्षण ही माना है।

—और वायुपुराण, ५ ६ देखो।

[5] वायुपुराण, अ० ११ १५।

के हैं, मद मध्यम और उत्तम। मद १२ मात्रा का मध्यम चौबीस मात्रा का और उत्तम ३६ मात्रा का होता है। जब वायु का अभ्यास क्रम से नियमित किया जाता है तब सभी पाप जल जाते हैं और सभी शारीरिक दोष दूर हो जाते हैं। ध्यान द्वारा भगवान् के गुणों का ध्यान करना चाहिए। प्राणायाम से चार प्रकार के लाभ होते हैं, शांति, प्रशांति, दीप्ति और प्रसाद। शांति का अर्थ माता पिता से पाए दोष तथा दूसरा के संयोग से जनित पाप का हट जाना है। प्रशांति व्यक्तिगत पापों का नाश जैसेकि तृष्णा, अभिमान इत्यादि। दीप्ति का अर्थ उस रहस्यात्मक दृष्टि से है जिससे त्रिकाल अतीत, वर्तमान और भविष्य का ज्ञान होता है और ऋषियों से संयोग होता है जिससे बुद्ध जैसा बन सकते हैं। प्रसाद संतोष है, और इंद्रिय इंद्रियों के विषय, मनस और पंच वायु का शमन है।

आसन से आरम्भ कर प्राणायाम की प्रक्रिया तक का भी वर्णन किया है। प्रत्याहार अपनी इच्छाओं का नियमन है। धर्म मन को नासिका के अग्रभाग अथवा भौहों के मध्य बिन्दु के ऊपर ध्यान केंद्रित करना है। प्रत्याहार द्वारा बाह्य वस्तुओं का प्रभाव हटाया जाता है। ध्यान में हम अपने को सूर्य या चंद्र जैसा देखते हैं अर्थात् इससे हमें अप्रतिहत प्रकाश प्राप्त होता है। अनेक प्रकार की सिद्धि जो योगी को प्राप्त होती है। उन्हें उपसर्ग कहा गया है और इन सिद्धियों से दूर रहने का आग्रह किया गया है। ध्यान के विषय पृथ्वी मनस् और बुद्धि से उत्पन्न तत्व है। योगी को इन प्रत्येक तत्वों को बारी बारी से लेना चाहिए और छोड़ देना चाहिए जिससे वह किसी से भी मोहित न हो जाय। जब वह इन सातों में से संग नहीं करता है और वह सर्वज्ञ संतोष, अनादि ज्ञान स्वातंत्र्य अनवरुद्ध एवं अनंत शक्ति युक्त महेश्वर का ध्यान करता है। इसलिए योग का अंतिम हेतु[1] महेश्वर जैसी ब्रह्म प्राप्ति है जिसे अपवर्ग भी कहते हैं।[2]

मार्कंडेय पुराण में योग को ज्ञान द्वारा अज्ञान की निवृत्ति कहा है जो एक ओर मुक्ति और ब्रह्म से तादात्म्य है और दूसरी ओर प्रकृति के गुणों से वियोग है।[3] सभी दुःख मोह से उत्पन्न होते हैं। *मोह निवृत्ति से ममत्व का भी नाश होता है जो सुख* प्राप्ति कराता है। मुक्ति प्राप्त कराने वाला ज्ञान ही सच्चा ज्ञान है और अन्य सब

---

[1] वायुपुराण के योग में वृत्ति निरोध या कैवल्य का उल्लेख नहीं है।

[2] वायु और मार्कंडेय पुराण में अरिष्ट पर एक अध्याय है जैसाकि जयाख्य संहिता में पाया जाता है जहाँ मृत्यु चिह्न का वर्णन है जिससे योगी मृत्यु समय जानता है, यद्यपि यह वर्णन अन्य दो ग्रन्थों में दिए वर्णनों से सर्वथा भिन्न है।

[3] ज्ञान पूर्वो वियोगो योऽज्ञानेन सह योगिनः।
सामुक्ति ब्रह्मणा चैक्यम् अनक्यम् प्रकृते गुणैः ॥ —मा० पु० ३९.१।

कुछ अज्ञान हैं। धम पालन तथा अ य कत्तव्य पालन द्वारा पाप और पुण्य के फल का अनुभव लेने से अपूव के फल के सग्रह से, और दूसरा क पूए हो जाने से, कम का ब धन होता है। कम से मुक्ति, इसलिए, इसमे विरोधी प्रक्रिया से ही हो सकती है। प्राणायाम से पाप नष्ट होते हैं।[1] अन्तिम स्थिति मे योगी ब्रह्म से एक हो जाता है, जसे पानी म पानी डालने से एक हो जाता है।[2] यहाँ पर योग के चित्तवत्ति निरोध का उल्लेख नहीं किया गया है।

वासुदेव को यहाँ परम ब्रह्म कहा है, जिसने अपनी रचना की इच्छा से, काल की शक्ति द्वारा सभी कुछ रचा है। इसी शक्ति द्वारा पर ब्रह्म ने अपने मे से पुरुष और प्रधान को अलग किया और उनका सयोग किया। इस सजन क्रम म सबसे प्रथम तत्व महत् निकला, जिसम से अहकार इसमे स पुन सत्व, रजस् और तमस उत्पन्न हुए। तमस से पच त मात्र और पचभूत, और रजस से दश इन्द्रियाँ और बुद्धि निकले। सत्व मे से इन्द्रियो के अधिष्ठाता देवता और मनस उत्पन्न हुए।[3] और आगे यह कहा है कि वासुदेव, पुरुष और प्रकृति और सभी विकार मे है, जो इनमे व्याप्त भी है और पृथक भी है अर्थात् वह व्यापक एव अतीत भी है। वह इनम व्याप्त भी है तब भी उनके दोष और मर्यादाए उसे कुछ भी प्रभावित नहीं करतो। सच्चा ज्ञान वह है जो वासुदव से उत्पन्न सभी रूपा का, प्रकृति, पुरुष इत्यादि को समझता है और वासुदेव को भी उसके शुद्ध और पररूप से जानता है।[4]

यहाँ ध्यान रखना चाहिए कि पद्म पुराण में ब्रह्म भक्ति का उल्लेख है जो *कायिक या वाचिक, या मानसिक या लौकिक या वदिको और आध्यात्मिको है।* आध्यात्मिको भक्ति फिर दो प्रकार की कही है साख्य भक्ति और योग भक्ति।[5] चौबीस तत्वा का ज्ञान और इनका परम तत्व पुरुष स भेद, तथा प्रकृति और जीव का ज्ञान साख्य भक्ति है।[6] ब्रह्म पर ध्यान और प्राणायाम का अभ्यास योग भक्ति है।[7] भक्ति यहाँ विशिष्ट अथ म प्रयुक्त की गई है।

नारदीय पुराण मे नारायण को परम सत्य माना है अर्थात् धार्मिक दृष्टि से, यदि इसे देखा जाय तो वह अपने म से सजक ब्रह्मा को रक्षक और पालक विष्णु को

---

[1] प्राणायाम तथा याग की अ य प्रक्रिया वायुपुराण मे वर्णित जैसी ही है।

[2] मार्कंडेय पुराण ४० ४१।

[3] स्कद पुराण २ ६ २४ श्लोक १ १०।

[4] वही, श्लोक ६८ ७४।

[5] पद्म पुराण, १ १५ श्लोक १६४ १७७।

[6] वही, श्लाक १७७ १८६।

[7] वही, श्लाक १८७ १६०।

सहारक रुद्र की रचना है।[1] परम सत्य महाविष्णु कहा गया है।[2] वह अपनी विशिष्ट शक्ति द्वारा सृष्टि रचता है। यह शक्ति दोनों प्रकार की सत् और असत् है दोनो विद्या और अविद्या है।[3] जब जगत महाविष्णु से पृथक देखा जाता है यह दृष्टि अपने मे स्थित अविद्यागत है, जबकि दूसरी ओर, ज्ञाता और ज्ञेय के भेद का ज्ञान नष्ट हो जाता है और केवल एकता का ज्ञान ही रहता है यह विद्या के कारण है (यह विद्या ही है)[4] और जिस प्रकार हरि जगत मे व्याप्त और ओत प्रोत है वसे ही उनकी शक्ति भी ओत प्रोत है।[5] जिस प्रकार उष्णता का धर्म अपने आधार अग्नि मे व्याप्त रहता है वसे ही हरि की शक्ति उससे अलग नहीं रह सकती।[6] शक्ति व्यक्ता व्यक्त रूप से सारे जगत मे व्याप्त है प्रकृति, पुरुष और काल उसकी अभिव्यक्तियाँ है।[7] क्योंकि यह शक्ति महाविष्णु से भिन्न नहीं है ऐसा कहा है कि प्रथम सर्ग के समय महाविष्णु, सर्जन इच्छा रखते हुए पुरुष, प्रकृति और काल का रूप धारण करते हैं। पुरुष के सान्निध्य से क्षुब्ध होकर प्रकृति से महत् प्रकट होता है और महत् से बुद्धि और बुद्धि से अहकार उत्पन्न होता है।[8]

✓अंतिम सत्ता को वासुदेव भी कहा है जो परम ध्येय और परम ज्ञान है।[9]

जगत् मे उत्पन्न हुए सभी जीवो को तीन प्रकार के दुःख भोगने पडते हैं परमात्मा

---

[1] नारदीय पुराण १ ३ ४।

[2] वही श्लोक ६।

[3] वही, श्लोक ७।

[4] वही, १ ३ श्लोक ७ ६।

[5] वही श्लोक १२।

यह ध्यान मे रखना चाहिए कि सर्जन हरि, अपनी अविद्या, उपाधि रूप शक्ति से करता है। यह वर्णन वेदान्त जैसा है। इस पंक्ति पर ध्यान देना आवश्यक है।

अविद्योपाधि योगेन तथदेमखिल जगत्। वही, ३ १२ इस पंक्ति का उपरोक्त के साथ पढना चाहिए। विष्णु शक्ति समुद्भूतमेतत्सर्व चराचरम्। यस्माद् भिन्नमिद सर्व यच्चेग यच नगति। उपाधिभियथाकाशो भिन्नत्वेन प्रतीयते।

—वही, १० ११।

[6] वही श्लोक ११।

[7] वही श्लोक १७।

[8] वही २८ ११।

[9] वही ८०।

की प्राप्ति इन दु खो से छुटकारा पाने का एक उपाय है।[1] परमात्म प्राप्ति के दो उपाय है ज्ञान मार्ग और कर्म मार्ग। ज्ञान शास्त्र के अध्ययन द्वारा विवेक से आता है।[2]

योग का भी वर्णन दूसरे अध्याय मे दिया है। इसे ब्रह्म लय कहा है। मनस् ही बंध और मोक्ष का कारण है। बन्धन विषयो से अनुरक्ति है मुक्ति उनसे असगतता है। जब आत्मा मन को चुम्बक की तरह अन्दर खींच कर उसकी प्रवृत्ति को नीचे की ओर निर्देश करता है और अन्त म ब्रह्म से जोड देता है, यही योग है।[3]

विष्णु की तीन प्रकार की शक्तियाँ हैं, परा जो चरम है, अपरा (जो व्यक्तिगत प्रयत्न से एक है) और तीसरी जो विद्या या कर्म कहलाती हैं।[4] सभी शक्तियाँ विष्णु की हैं और उनकी ही शक्ति से सभी जीव कर्म मे प्रवृत्त होते हैं।[5]

भक्ति को दूसरे अध्याय मे श्रद्धा के अर्थ मे प्रयुक्त किया है और इसे जीवन के सभी कर्मों के लिए आवश्यक समझा गया है।[6]

---

[1] अन्तर्यामी प्रत्यय के लिए अ० ३ का २६वाँ श्लोक देखिए और अ० ३३ का ४८वाँ श्लोक।

[2] नारदीय पुराण श्लोक ४ ८।

उत्पत्ति प्रलय चैव भूतानामगतिं गति।
वत्ति विद्यामविद्या च स वाच्यो भगवान् इति॥
ज्ञान शक्ति बलश्वर्य वीर्य तेजास्यशेषत।
भगवच्छब्द वाच्योऽय विना हेयर्गुणादिभि॥
सर्व हि तत्र भूतानि वसति परमात्मनि।
भूतेषु वस ते सा तर्वासुदेव स्तत स्मृत॥
भूतेषु वसते सो तवस त्यत्र चतानि यत्।
धाताविधाता जगता वासुदव स्तत स्मृत॥

—वही, १ ४६, श्लोक २१ २४।

वासुदेव के गुण निम्न चार श्लोको म वर्णन किए हैं। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि भगवान् का अर्थ वासुदेव है (वही श्लोक १६)।

[3] आत्मा प्रयत्न सापेक्षा विशिष्टा या मनोगति।
तस्या ब्रह्मणि सयोगो योग इत्यभिधीयते।   —ना० पु० ४७ ७।
प्राणायाम यम और नियम का वर्णन ५ ८ से ५ २० तक में दिया है।

[4] वही, ना० पु० १ ४७ श्लोक ३६ ३८।

[5] वही, ४७ ४६।

[6] वही, १ ४।

कूर्म पुराण के अनुसार, परमात्मा पहले अव्यक्त, अनन्त, अज्ञेय और अप्रतिम निर्देशक के रूप से रहता है। किन्तु वह अव्यक्त नित्य और विश्व का कारण भी कहा गया है जो सत् और असत् दोनों है और इसे प्रकृति से एक कहा है। इस रूप में वह परब्रह्म माना गया है जो तीनों गुणों की साम्यावस्था है। इस अवस्था में पुरुष माना उसमें समाया रहता है, और इसे प्रकृति प्रलय की अवस्था भी कहते हैं। परब्रह्म की इस अव्यक्तावस्था से वह ईश्वर के रूप में व्यक्त होने लगता है और वह अपने अन्तरंग संयोग से पुरुष और प्रकृति में प्रवेश करता है। ईश्वर की इस स्थिति की, स्त्री पुरुषों में रही काम वासना से तुलना की जा सकती है, जो उनमें हमेशा रहती हुई केवल सर्जन प्रवृत्ति के रूप में ही अभिव्यक्त होती है। इसी कारण ईश्वर तटस्थ क्षोभ्य और गतिशील क्षोभक दोनों ही माना गया है। इसी कारण यह कहा जाता है कि ईश्वर स्वकुंचन और विस्तार द्वारा प्रकृति का सा व्यवहार करता है। पुरुष और प्रकृति की क्षुब्धावस्था से महत् का बीज उत्पन्न होता है। पुरुष और प्रधान स्वरूप (प्रधानपुरुषात्मकम्) है। इससे महत् की उत्पत्ति होती है जो आत्मन् मति ब्रह्मा प्रबुद्धि, ख्याति, ईश्वर, प्रज्ञा, धृति, स्मृति और संवित् भी कहलाता है। इस महत् से त्रिविध अहंकार उत्पन्न होते हैं, ये वैकारिक तैजस और भूतादि (तामस अहंकार) हैं। इस अहंकार को अभिमान, कर्ता मन्ता और आत्मन् भी कहा है क्योंकि हमारे सभी प्रयत्न यहीं से उत्पन्न होते हैं।

ऐसा कहा है कि विश्व मनस जैसा एक मनस है जो अव्यक्त से अचिरात ही उत्पन्न होता है और इसे पहला विकार माना है जो तामस अहंकार से उत्पन्न कार्यों की अधिनियन्त्रणा करता है।[१] इस मनस को, तेजस और वैकारिक अहंकार से उत्पन्न इन्द्रिय रूप मनस से भिन्न समझना चाहिए।

तन्मात्र और भूत के विकास के प्रकार के दो मत एक के बाद एक यहां दिए हैं, जिससे यह पता चलता है कि कूर्म पुराण का पुनःसंस्करण हुआ होगा और इसका मत जो पहले से विसंगत है उसे आगे जाकर शामिल कर दिया गया है। ये दो मत इस प्रकार हैं —

(१) भूतादि ने अपने विकास में शब्द तन्मात्र को उत्पन्न किया, इससे आकाश हुआ जिसका शब्द गुण है। आकाश ने अपना विकास करते हुए स्पर्श तन्मात्र को उत्पन्न किया, स्पर्श तन्मात्र से वायु उत्पन्न हुई जिसका स्पर्श गुण है। वायु अपनी वृद्धि में रूप तन्मात्र को जन्म देती है जिससे ज्योति (ताप तेज) हुआ, जिसका गुण रूप है। इस ज्योति से अपना विकास करते हुए रस तन्मात्र उत्पन्न हुआ, जिसने

---

[१] मनस्त्वव्यक्तज प्रोक्तं विकारः प्रथमः स्मृतः ।
येनासौ जायते कर्ता भूतादींश्चानुपश्यति ॥ कू० पु० ४।२१।

अप उत्पन्न किया, जिसका गुण रस है। अप विकास करते हुए गंध तन्मात्र उत्पन्न करता है, जिससे संकीर्ण द्रव्य उत्पन्न होता है जिसका गुण गंध है।

(२) शब्द तन्मात्र रूप से आकाश ने स्पर्श तन्मात्र को आवृत किया, और इससे वायु उत्पन्न हुई, इसलिए इसमें दो गुण, शब्द और स्पर्श हैं। यह दोनों गुण शब्द और स्पर्श, रूप तन्मात्र मे प्रविष्ट हुए, जिससे अग्नि उत्पन्न हुई जिसमे तीन गुण हैं शब्द, स्पर्श और रूप। ये गुण, शब्द, स्पर्श और रूप रस तन्मात्र मे प्रविष्ट हुए, जिससे अप उत्पन्न हुआ जिसमे चार गुण हैं शब्द, स्पर्श, रूप और रस। ये चार गुण, गंध तन्मात्र मे प्रविष्ट हुए और उन्होने स्थूल पृथ्वी को उत्पन्न किया जिसमे पाँच गुण हैं, शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध।

महत, अहंकार और पंच तन्मात्र अपने आप व्यवस्थित जगत उत्पन्न करने में असमर्थ हैं, जो पुरुष के अधिनियंत्रण में (पुरुषाधिष्ठितत्वाच्च) और अव्यक्त की सहायता से (अव्यक्तानुग्रहेण) होता है। इस प्रकार उत्पन्न जगत के सात आवरण हैं। जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, और प्रलय भगवान् की स्व लीला है जो भक्तो के हित के लिए होती है।[1]

---

[1] भगवान् नारायण कहा गया है, क्योंकि वह मनुष्यो का अन्तिम आधार है।
नराणामयन यस्मात् तेन नारायण स्मृत। कूर्म पुराण, ४ ६२।

परिशिष्ट

लोकायत, नास्तिक और चार्वाक

लोकायत चार्वाक या बार्हस्पत्य के नाम से प्रसिद्ध भौतिक दर्शन सम्भवतः बहुत प्राचीन विचारधारा है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में अनेक नास्तिकवादी मतों का उल्लेख है जिसमें हम इस सिद्धान्त को पाते हैं, जिसमें, भूत को अन्तिम (मूल) सिद्धान्त माना है। लोकायत नाम अति प्राचीन है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में यह पाया जाता है जहाँ इसे सांख्य और योग के साथ आन्वीक्षिकी कहा है।[1] राइस डेविड्स ने अनेक पाली भाषा के अनेक लेखांश संगृहीत किए हैं जिनमें 'लोकायत' शब्द आता है और इन्हीं लेखांशों का हमने निम्न विवाद में उपयोग किया है।[2] बुद्ध घोष लोकायता को वितण्डावाद सत्थम् कहते हैं।[3] वितण्डा का अर्थ छलपूर्ण विवाद है और न्याय सूत्र १ २ ३ में इस प्रकार परिभाषा दी है वह जल्प में प्रतिपक्षी की प्रतिज्ञा की आलोचना अपना प्रतिपक्ष स्थापित किए बिना की जाती है (सा प्रतिपक्ष स्थापना हीना वितण्डा) और इसलिए इसे वाद से भिन्न समझना चाहिए जो प्रतिज्ञा सिद्ध करने के हेतु न्यायपूर्ण आर्थिक विवाद है। वितण्डा में कोई प्रतिज्ञा सिद्ध करने को नहीं होता किन्तु वह एक प्रकार का जल्प है जो प्रतिपक्षी को जान बूझकर उसके शब्दों और तर्कों का (छल) गलत अर्थ लगाकर गलत तथा सभ्रमात्मक उपमा (जाति) का उपयोग करके हराना चाहता है और व्यामोह का वातावरण पैदा करके उसे मूक कर देना चाहता है या उसे स्वबाध और निग्रह स्थान पर ला देना चाहता है। किन्तु वितण्डा इस प्रकार वाद नहीं हो सकता क्योंकि वाद तार्किक विवाद सत्य के प्रतिपादन के लिए होता है और इस प्रकार वितण्डावाद विरोधपूर्ण शब्द है।

---

[1] कौटिल्य अर्थशास्त्र १ १।

[2] बुद्ध के संवाद ग्र० १ पृ० १६६ हाल ही दो इटली के विद्वानों ने, डा० पिस्क्रा गल्ली और डा० टुच्ची ने नास्तिक चार्वाक लोकायत और Linee di una storia del materialismo Indiano नामक दो ग्रन्थ लिखे हैं जिनमें उन्होंने नास्तिक चार्वाक और लोकायत शब्द के अर्थ को और इनके सिद्धान्त को भी ढूँढने का प्रयास किया है। बहुत से पाली भाषा के लेखांश जिनको इन्होंने समझाने की कोशिश की है व राइस डेविड्स ने संग्रह किए हैं वे ही हैं।

[3] अभिधान दीपिका ५ ११२, बुद्ध घोषों के वाक्यों की पुनरावृत्ति करता है 'वितण्डा सत्थ विण्णेय य त लोकायतम्।

जय त, अवश्य ही इंगित करते हैं कि बौद्ध वाद और वितण्डा म भेद नही करते और दोनों के लिए एक ही शब्द वाद का प्रयोग करत हैं।[1] इससे यह समझ मे आता है कि यद्यपि लोकायत वितण्डा है तो भी बौद्ध ग्रथों मे उसे क्या वाद कहा है? बुद्ध घोष ने उसी टीका में वितण्डा के कुछ उदाहरण लाकाख्यायिका शब्द (शाब्दिक अथ प्रचलित वार्ता है कि तु पी० टी० एस० पाली डिक्सनरी के अनुसार जनसाधारण का ज्ञान है) को समझाने के लिए देते हैं—कौवे सफेद हैं क्योंकि उनकी हड्डियाँ सफेद हैं। बलाका लाल है क्योंकि उनका खून लाल है।[2] ऐसा वितण्डाश्रा की वितण्डा सल्लाप कथा जहाँ सल्लाप और कथा दोना का मिलकर सवाद अथ होता है। सल्लाप शब्द सम् और लप से बना है। न्याय सूत्र २ १८ की परिभाषा के अनुसार य उदाहरण वितण्डा के नहीं किन्तु जाति के हैं अर्थात् गलत सादृश्य से अनुमान, जिसमे योग्य व्याप्ति नही है। व वितण्डा नहीं है जैसाकि ऊपर कहा है। राइस डेविड्स भगवन की सद्धर्मीति (प्रारम्भिक बारहवीं शती) से दूसर पाठ उद्धत करते हैं जो उनके अनुवाद के अनुसार इस प्रकार है 'लोक का अथ है—सामान्य जगत (बाल लोक)।' लोकायत का अथ है—आयतति उस्साहंति वायमंति वादस्सदेनाति अर्थात् वे वाद केवल उससे मिलने वाले आनन्द के द्वारा प्रयत्न करते हैं परिश्रम करत हैं। या शायद यह अथ भी हो सकता है 'जगत उसके लिए कोई यत्न नही करता है (यतति) अर्थात् वह उस पर निर्भर नही है उससे चलती नही है (नयतति न ईहति वा)। क्योंकि सत्ता, उस पुस्तक के कारण (तहि गथ निस्साय)।[3] अपना चित्त नहीं देती (चित्त न उपादेंति)। लोकायत नास्तिकों का ग्रथ है (तित्थिया सत्थय लोके वितण्डा सत्थम् उच्चति) जिसमे एस निम्न निरथक विवाद हैं सभी कुछ अपवित्र है, सभी कुछ अपवित्र नही है कौवा सफद है बलाका काली है और इस या उस कारण से। पुस्तक जो वितण्डा सत्था के नाम से जगत म विख्यात है, जिसके विषय म अद्वितीय नेता बोधिसत्व और पण्डित विधुर ने कहा है लोकायत का अनुसरण न करो इससे पुण्य नही होगा।[4] इस प्रकार उपरोक्त उदाहरण और पाली ग्रथ के

---

[1] इत्युदाहृतमिदं कथात्रय यत् परस्पर विविक्त लक्षणम्।
स्थूलमप्यनवलोक्य कथ्यते वाद एव इति तावय निष्फल।
— न्यायमंजरी पृ० ५९६।

[2] सुमंगल विलासिनी १ ९० ९१।

[3] यह अनुवाद ठीक नही है। पाली पाठ किसी पुस्तक से सम्बन्ध नही बताता पिछले वाक्य मे शब्द वादस्सादन था जिसका अनुवाद 'वाद मे आनन्द लेने का' जबकि शाब्दिक अनुवाद यह होगा लडाई के स्वाद के कारण और यहाँ इसका अथ ग्रन्थ को पीछा करते लोग पुण्य कम की ओर नही झुकते यह होता है।

[4] बुद्ध के सवाद देखो १ १६८ (अनुवाद ठीक नही है)। सब कुछ अपवित्र है सब

अन्य सखाओं से यह निश्चित है कि लोकायत का अर्थ छलयुक्त विवाद है जल्प है, वितण्डा है और हेत्वाभास है जिसका प्रयोग अबौद्ध करते थे। यह कोई उपयोगी निष्कर्ष प्राप्त नहीं कराते इतना ही नहीं सच्चे ज्ञान की वृद्धि भी नहीं करते किन्तु हमें स्वर्ग और मोक्ष से दूर करते हैं। सामान्य जन ऐसे वितण्डा में रुचि रखते हैं और ऐसे विषय पर एक ऐसा शास्त्र भी था (शास्त्र या ग्रन्थ) जिससे बौद्ध घृणा करते थे और उसे वितण्डा सत्थ कहते थे।[1] दीघनिकाय (३ १ ३) में लोकायत को अन्य शास्त्रों के साथ एक शास्त्र कहा गया है वैसा ही अंगुत्तर १-१६३ में है और दिव्यावदान में इसे एक विशिष्ट प्रकार का शास्त्र माना है जिसका अपना भाष्य और प्रवचन है।[2]

लोकायत शब्द के अर्थ के विषय में बहुत ही अनिश्चितता है यह दो शब्दों से बना है लोक आयवत या अयत, आयत शब्द आ+यम्+क्त से सिद्ध माना जा सकता है या आ+यत् (प्रयत्न करना) अ से सिद्ध माना जा सकता है—द्वितीय विभक्ति के अर्थ में या क्रियापद के अर्थ में, और अयत शब्द निषेधात्मक अ तथा यत् (प्रयत्न करना) से उत्पन्न माना जा सकता है। उपरोक्त उल्लिखित अंगवश के पाठ में

कुछ अपवित्र नहीं है यह वाक्य पाली ग्रन्थ में नहीं मिलता। अन्तिम वाक्य जो विदुर पण्डित जातक (फाउस बाल ६ पृ० २८६) में उद्धृत किया है और अति प्राचीन जातक है उसमें यह वाक्य इस प्रकार है न सेवे लोकायतिक न एतम् पञ्ञाय वद्धनम् अज्ञात टीकाकार लोकायितक का इस प्रकार वर्णन करता है, लोकयातिकति अनत्थ निस्सितम् सग्गा मग्गाना अदायक अनिय्याकम् वितडा सल्लाप लोकायतिक-वाद न सेवेय्य 'लोकायत अनिष्ट की ओर ले जाता है न स्वर्ग की ओर न मोक्ष की ओर ले जाता है और वह जल्प है जिसमें सच्चा ज्ञान नहीं बढ़ता।

[1] राइस् डेविडस् ऐसा मालूम होता है विदढवादी विदढ के शब्द को वितण्डा समझते हैं गलत लिखा प्रतीत होता है (बुद्ध के सवाद १-१६७) यह शब्द अत्थसालिनी में ३, ६०, ६२ और २४१ पृ० पर आता है। विदढ शब्द वितण्डा नहीं है किन्तु विदग्धा है जो वितण्डा से बिल्कुल भिन्न है।

[2] लोकायत भाष्य प्रवचन। दिव्यावदान पृ० ६३० तथा और भी स्थान पर यह लिखा है छन्दसि वा व्याकरणे वा लोकायते वा प्रमाण मीमासायाम् वा न चपामूहापोह प्रज्ञायते। —वही पृ० ६३३।

यह सत्य है कि लोकायत शब्द का मान्य तक शास्त्र के अर्थ में प्रयोग नहीं किया गया है, किन्तु कभी कभी व्युत्पत्ति अर्थ में किया गया (अर्थात् जो जन सामान्य है लाकेपु आयतो लोकायत' जैसाकि दिव्यवदान पृ० ६१९ में है वहाँ हम यह पाते हैं 'लोकायत यज्ञ मन्त्रेपु निष्णात।

पहले इस प+यतति (कठिन यत्न करना) से उत्पन्न माना है और इसके 'उत्साहति वायमति', पर्यायवाची शब्द दिए हैं, और दूसरा प+यतति से उत्पन्न माना है अर्थात्, जिससे लोक यत्न करना छोड़ देते हैं (तेन लोका न यतति न ईहति वा लोकायतम)। किन्तु प्रो० टुच्ची बुद्ध घोष की सारत्थ प्रकासिनी से एक अंश उद्धृत करते हैं जहाँ आयत शब्द आयतन (आधार) के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है और इस अर्थ के अनुसार 'मूर्ख और अपवित्र जगत् का आधार होता है। लोकायत का दूसरा अर्थ लोकेषु आयत होगा, अर्थात, जो सामान्य जनता में प्रचलित है और कौवेल ने अपने सर्व दर्शन संग्रह के अनुवाद में इस अर्थ को स्वीकारा है और यह इसकी व्युत्पत्ति आ+यमुक्त (विस्तृत) होगी।' अमर कोष में केवल शब्द ही दिया गया है और वहाँ यह भी कहा है कि इस शब्द का प्रयोग नपुंसक लिंग में होना चाहिए। ऐसा प्रतीत होता है कि दो लोकायत शब्द हैं। एक विशेषण है जिसका अर्थ जगत में या जन साधारण में प्रचलित और दूसरा पारिभाषिक है जिसका अर्थ, 'वितण्डा, जल्प इत्यादि का शास्त्र (वितण्डावाद शास्त्रम)। किन्तु ऐसा कोई प्रमाण नहीं है कि इस शब्द का प्रयोग जगत् विद्या के रूप में किया गया हो, जैसाकि राइस डेविडस और फ्रांके ने सूचित किया है और इसका प्रयोग दण्डनीति के अर्थ में किया गया हो जैसाकि अन्य विद्वानों का कहना है। शुक्र नीति में शास्त्रों और कलाओं का लम्बा वर्णन दिया गया है जो उस समय पढ़े जाते थे और इसमें इस नास्तिक शास्त्र को ऐसा शास्त्र बताते हैं जो तर्क में बड़ा बलवान् है और जो मानता है कि सभी पदार्थ अपने स्वभाव से उत्पन्न हुए हैं और वेद और ईश्वर कोई नहीं हैं।[2] मनु ७-४३ पर टीका करते मेधातिथि भी चार्वाक की तर्क विद्या का उल्लेख करते हैं और पुराने सभी उद्धरण, जिन पर हमने विवेचना की है यह बताते हैं कि लोकायत नाम का शास्त्र था जो न्याय और हेत्वाभास का शास्त्र था। सौभाग्यवश, हमारे पास और भी निश्चयात्मक प्रमाण हैं जो सिद्ध करते हैं कि लोकायत शास्त्र टीका सहित, सुपूर्व कात्यायन के समय में था, अर्थात लगभग ईसा से ३०० वर्ष पूर्व था। ७ ३ ४५ वर्णक तान्तवे उप संख्यानम' के सम्बन्ध में यह वार्तिक नियम है कि वर्णक शब्द स्त्रीलिंग में वर्णिका

---

[1] Linee di una storia del materialismo Indiano पृ० १७ सारत्थ प्रकासिनी (बकोक) २ ८६।

[2] राइस डेविडस लोकायत ब्राह्मणों की विद्या है ऐसा कहते हैं सम्भवत यह जगत् विद्या सुभाषित पहेलियाँ पद्य या वाद है जो रूढ़िगत पाई हैं और जिसका विषय, विश्वोत्पत्ति, तत्व, तारे मौसम, थोड़ी बहुत खगोल प्रारम्भिक भौतिक शास्त्र शरीर व्यवच्छेद विद्या, रत्नमणि का गुणों का ज्ञान और पशु पक्षी और वृक्षों का ज्ञान है। (बुद्ध के संवाद १ १७१) फ्रांके इसे Logische bewisoinde nature taring से अनुवाद किया है। –दीघ० १९।

हो जाता है जिसका अर्थ कम्बल या लपटने का कपड़ा (प्रावरण) होता है और पतंजलि लगभग (१५० ई० पू०) वार्तिक सूत्र का बोधार्थ करते कहते हैं कि वर्णक शब्द के रूप को कपास या ऊनी आवरण के अर्थ में संकुचित करने का हेतु यह है कि दूसरे अर्थ में स्त्रीलिंग का रूप वर्णिका या वर्तिका होगा (जिसका अर्थ टीका होगा) जबकि लोकायत पर भागुरी टीका है—वर्णिका भागुरि लोकायतस्य, वर्तिका भागुरी लोकायतस्य।[1] इस प्रकार यह निश्चित दीखता है कि लोकायत नाम की एक पुस्तक थी जिस पर कम से कम एक टीका ई० पू० १५० वर्ष पूर्व या ३०० वर्ष ईसा पूर्व थी, जो सम्भवतः वार्तिक सूत्र के रचयिता कात्यायन का काल है। सम्भवतः वाद और हेत्वाभास का यह एक प्राचीन ग्रन्थ था, क्योंकि इससे पूर्व कोई ऐसा ग्रन्थ नहीं मिलता जिसमें लोकायत का सम्बन्ध जड़वाद से हो जैसाकि पिछले साहित्य में पाया जाता है, जहाँ चार्वाक और लोकायत को एक ही कहा गया है।[2] कमलशील, जयन्त, प्रभाचन्द्र गुणरत्न इत्यादि की टीकाओं में ७वीं से १४वीं शताब्दी तक में कई सूत्रों का उद्धरण दिया गया है और कुछ का कहना है कि ये चार्वाक के हैं और अन्य का यह कहना है कि ये लोकायत के हैं और गुणरत्न (१४वीं शताब्दी) इन्हें बृहस्पति का बताते हैं।[3] कमलशील इन सूत्रों पर दो टीकाओं का उल्लेख करते हैं। जो कुछ भिन्न दृष्टिकोण से लिखी गई हैं और जो न्यायमंजरी में दिए धूर्त चार्वाक और सुशिक्षित चार्वाक विभागों से मिलती हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट ही प्रतीत होता है। कम से कम लोकायत पर एक टीका जो सम्भवतः पतंजलि और कात्यायन से पूर्व थी और सातवीं शताब्दी तक में लोकायत की कम से कम दो टीकाएं दो भिन्न विचारधाराओं का प्रतिनिधित्व करती लिखी गई थीं। इसके उपरान्त, बृहस्पति रचित एक पद्यमय ग्रन्थ भी था जिसके उद्धरण चार्वाक विचारधारा के निरूपण के लिए सर्वदर्शन संग्रह में, उपयोग में लाए गए हैं। यह कहना, अवश्य ही कठिन है कि कब यह प्राचीन वितण्डा शास्त्र भौतिकवाद तथा प्रतिक्रियात्मक नीति से सम्बन्धित हो गया और बौद्ध, जैन और हिन्दू धर्मों द्वारा घृणित समझा जाने लगा। पहले बौद्ध ही इससे घृणा करते थे जबकि हिन्दू इसे अन्य शास्त्रों के अंग के रूप में अध्ययन करते थे।[4]

---

[1] पाणिनि पर पतंजल महाभाष्य ७, ३ ४५ और उस पर कैयट की टीका।

[2] तन्नामानि चार्वाक लोकायतेत्यादिनी। षड् दर्शन समुच्चय पर गुणरत्न की टीका। पृ० ३००, गुणरत्न के अनुसार लोकायत वह है जो साधारण अविवेकी जन की तरह आचरण करते हैं—लोकानिर्विचारा सामान्या लोकास्तद्वदाचरन्ति स्म इति लोकायता लोकायतिका इत्यपि।

[3] वही, पृ० ३०७ तत्व संग्रह पृ० ५२०।

[4] अनुगीता १ १६३।

यह तो सुविख्यात है कि वाद विवाद की कला का अभ्यास भारत में अतिप्राचीन रहा है। सर्वप्रथम, इसे हम चरक संहिता (ईसवी पहली शताब्दी) में व्यवस्थित रूप से पाते हैं जो इससे पहले ग्रंथ (अग्नि वेश संहिता) का पुनर्संस्करण ही है, इससे यह सूचित होता है कि इस प्रकार का वाद, इससे पूर्व यदि न रहा हो, तो पहली या दूसरी शताब्दी में अवश्य रहा होगा। न्याय सूत्र में इस वितण्डावाद का विवेचन सुविख्यात है। आयुर्वेद तथा न्याय के लोग अपने को प्रतिपक्षियों के आक्रमण से बचाने के लिए, इस विवाद की प्रणाली का अभ्यास किया करते थे। कथावत्थु में भी हम इस वितण्डा कला का व्यावहारिक उपयोग पाया जाता है। यहाँ हम उसे हेतुवाद के नाम से जानते हैं, और महाभारत में इसका पर्याप्त उल्लेख मिलता है।[1] महाभारत के अश्वमेध पर्व में हम पाते हैं कि हेतुवादिन् एक दूसरे को तार्किक वाद में हराने की कोशिश करते थे।[2] सम्भवतः, छांदोग्योपनिषद् में (७ १ २, ७ २ १, ७ ७१) वाको-वाक्य शब्द का अर्थ इसी कला से है। इस प्रकार, यह लगभग निश्चित मालूम होता है कि इस वाद का उपयोग अतिप्राचीन है। इस सम्बन्ध में एक बात और सूचित होती है ऐसा हो सकता है कि शास्त्र सम्मत हिन्दू दर्शन का यह सिद्धांत कि परम सत्य केवल श्रुति प्रमाण से सिद्ध हो सकता है—और जबकि तर्क या अनुमान द्वारा अंतिम निश्चय नहीं निकल सकता, क्योंकि जो एक तार्किक द्वारा सिद्ध किया गया है, वह दूसरे के द्वारा असिद्ध किया जा सकता है—यह वितण्डावादियों के निषेधात्मक प्रभाव से है जो दूसरों के द्वारा असिद्ध किए सत्य को सिद्ध करने में फलीभूत होते थे और इनके सत्य को इनसे अधिक निष्णात तार्किक असिद्ध कर सकते थे।[3] ऐसे भी लोग थे जो आत्मा की अमरता के तथा दूसरे लोक की सत्ता पितर या देवयान् के रूप में, वेद मन्त्र के फल देने की योग्यता का खण्डन करने की कोशिश करते थे और ये हेतुक जो वेदों का उपहास करते थे वे नास्तिक कहलाते थे। इस प्रकार मनु कहते हैं कि जो ब्राह्मण हेतु शास्त्र पर अधिक विश्वास करके वेद और स्मृति को नगण्य मानते हैं वे केवल नास्तिक हैं वे योग्य ब्राह्मण द्वारा बहिष्कार के योग्य हैं।[4] भागवत पुराण

---

[1] महाभारत ३–१३०३४ १३–७२६८–१६८३ इत्यादि।

[2] वही, १४–८८, २७।

[3] ब्रह्मसूत्र 'तर्क प्रतिष्ठानादप्यन्यथानुमानमिति चेदेवमपि अविमोक्ष प्रसंग' २ १ ११ से तुलना करो। शंकर यह भी कहते हैं यस्मान्निरागमाः पुरुषोत्प्रेक्षामात्र निबंधनाः तर्काः अप्रतिष्ठिता भवन्ति उत्प्रेक्षाया निरंकुशत्वात् कैरपि उत्प्रेक्षिता सन्त लालाऽन्यैराभास्यन्ते इति न प्रतिष्ठितत्वं तर्काणां शक्यमाश्रयितुम्।

वाचस्पति मिश्र शंकर की टीका पर टीका करते हुए वाक्य प्रदीप उद्धृत करते हैं 'यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः। अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते।

[4] यो वमन्येतते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद्द्विज।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिंदकः। —मनु २ ११।

मे पुन कहा है किसी को न तो वन्कि धम का अनुसरण करना चाहिए, न पापण्डियो का (पाषण्डी से बौद्ध और जैनो का अर्थ होता है), न हतुको का और किसी को वितण्डा द्वारा किसी का भी पक्ष नही लेना चाहिए।[1] पुन मनु ४ ३० म ऐसा कहते हैं कि किसी को पापडियो से वर्ण प्रथा का अतिक्रमण करने वालो से (विक्रम स्थान) तथा बडालव्रतिक कपटी और हेतुको से बात तक नही करनी चाहिए।[2] ये हतुक सभी प्रकार के विवादो म उतर जाते थे और वेद के सिद्धान्त का खण्डन करते थे। ये नैयायिक नही हो सकते थ या मीमासक भी नही हो सकते जिन्हें भी कभी कभी हेतुक या तर्की कहा जाता था क्योंकि वे वेद सिद्धान्त के अनुसार तक करते थे।[3] इस प्रकार हम अपने विवचन को दूसरी अवस्था पर आते हैं जिसमे हतुक वितण्डा का उपयोग करते थ न केवल अपने ही वाद विवाद म, किन्तु वेद के सिद्धा त के खडन ऐसा करते थे सम्भवत बौद्ध सिद्धा त के लिए भी इसी कारण व वन्वादी एव बौद्ध द्वारा निंदास्पद थे और इस प्रकार वितण्डा और वेद और बौद्ध सिद्धान्तों की आलोचना ब्राह्मणो म बढी और उसका अभ्यास होने लगा। मनु २ ११ म इसे प्रमाणित करते हैं जहाँ ब्राह्मण हतुशास्त्र सीखते हैं ऐसा कहा है और यह अगुत्तर १ १६२ से तथा अन्य बौद्ध ग्रन्थो मे पुष्ट होता है।

कि तु ये नास्तिक कौन थ और क्या व तथा हतुक एक थ ? यह शब्द पाणिनि के नियमानुसार ४ ४६० (अस्ति नास्तिदिष्ट मति) अनियमित रूप से बना है। पतजलि अपनी टीका मे आस्तिक न न का इस प्रकार समझाते हैं आस्तिक वह है जो सोचता है कि वह सत्ता रखता है और नास्तिक वह है जो यह सोचता है कि 'वह सत्ता नही रखता। जयादित्य, अपनी काशिका टीका म उपरोक्त सूत्र पर आस्तिक को इस प्रकार समझाते हैं, जो परलोक के अस्तित्व में विश्वास रखता है, नास्तिक वह है जो इसे नही मानता और दिष्टिक वह है जो केवल न्याय युक्त सिद्धि को ही मानता है।[4] कि तु हम स्वय मनु के शब्दो म नास्तिक की परिभाषा जो वद नि दक

---

[1] वदवादरतो न स्यान्न न पाषण्डिनो हतुक ।
शुष्क वाद विवाद न कचित् पक्ष समाश्रयेत् ॥ —भागवत, ११ १८ ३० ।

[2] मेधातिथि यहा हतुको को नास्तिक कहते हैं या व जो परलोक म या दान म विश्वास नहा रखते। इस प्रकार वे कहते हैं कि हतुका नास्तिक नास्ति परलोको नास्ति दत्तम्, नास्ति हुतमित्येव स्थित प्रज्ञा ।

[3] मनु १२ १११ ।

[4] परलोक अस्तिति यस्य मतिरस्ति स आस्तिक तद्विपरीतो नास्तिक प्रमाणा नुपातिनी यस्य मति स दिष्टिक । काशिका, पाणिनि ४ ४ ६० पर। जयादित्य का काल ७वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे था ।

है[1] ऐसी मिलती है। इस प्रकार नास्तिक शब्द का पहले अर्थ यह है, जो परलोक नहीं मानता और दूसरा, जो वेद निन्दक है। ये दोनों मत अवश्य ही एक दूसरे से सम्बन्धित हैं क्योंकि वेद को न मानना और जीव का पुनर्जन्म न मानना बराबर है तथा यम के सामर्थ्य में यह नास्तिक मत कि इस जन्म के बाद कोई जीवन नहीं है, और मृत्यु के साथ चेतना नष्ट होती है उपनिषद् काल में अच्छी तरह से स्थापित हो गया था और उपनिषद् इसी मत का खंडन करना चाहते थे। इस प्रकार कठोपनिषद् में नचिकेता कहते हैं कि लोगों में इस विषय पर गम्भीर सन्देह है कि मृत्यु के बाद जीवन है या नहीं और वे यम मृत्यु के देवता से इस विषय पर निश्चयात्मक अंतिम उत्तर चाहते थे।[2] आगे यम कहते हैं कि जो तृष्णा में अंधे हो गए हैं और परलोक में नहीं मानते हैं वे इस प्रकार मृत्यु के पाश में निरन्तर पड़ते रहते हैं।[3] पुनः वृहदारण्यक उपनिषद् (२ ४ १२ ४ ५ १३) में एक मत का उल्लेख याज्ञवल्क्य द्वारा दिया गया है कि चेतना मूल से उत्पन्न होती है और उसी के साथ नष्ट होती है और मृत्यु के बाद चेतना नहीं रहती है। जयन्त अपनी न्याय मंजरी में कहते हैं कि उपरोक्त पाठों में वर्णित मत पर लोकायत प्रणाली का आधार था जो केवल प्रतिपक्षी का ही मत था।[4] जयन्त आगे उसी पाठ में कहते हैं कि लोकायता का कोई कर्त्तव्य उपदेश नहीं है, वह तो केवल एक वितण्डावाद है (वैतण्डिक कथैं वासौ) और यह आगम नहीं है।[5]

बौद्ध ग्रन्थों में भी नास्तिकों का उल्लेख मिलता है। पी० टी० एस० शब्द कोष नात्थिक शब्द का अर्थ, वह जो नत्थी (नास्ति) आदेश वाक्य का अनुशीलन करते हैं। यहाँ कुछ नास्तिकवादियों का वर्णन करना वाछनीय होगा जिनका उल्लेख

---

[1] मनु २ ११ मेधातिथि 'नास्तिकाक्रान्तम' (मनु ८ २२) को समझाते हुए नास्तिक और लोकायत को एक कहते हैं जो परलोक नहीं मानते। वे कहते हैं यथा नास्तिक परलोकापवादिभि लोकायतिकाद्यैराक्रान्तम। किन्तु मनु ४ १६३ की दृष्टि में नास्तिक वह है जो वेद को मिथ्या मानता है वेद प्रमाणकानामर्थाना मिथ्यात्वाध्यवसायस्य नास्तिक्य न प्रेत प्रति पादनम।

[2] येयम्प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके। एतद् विद्यामनुशिष्ट स्त्वयाऽहम वराणाम एष वरस्तृतीय। —कठ० १ २०।

[3] विज्ञानघन एव एतेभ्य भूतेभ्यो समुत्थाय तान्येव नुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञा स्तीत्य रे ब्रवीमि। —वृ० २ ४ १२।

[4] तदेव पूर्वपक्ष वचन मूलत्वात् लोकायत शास्त्रमपि न स्वतन्त्रम।
— न्याय मंजरी पृ० २७१ वी० एस सीरीज १८९५।

[5] नहि लोकायत किंचित् कर्त्तव्य मुपदिश्यते वैतण्डिक कथवासौ न पुन कश्चिदागम।
—वही, पृ० २७०।

बौद्ध ग्रन्थों में है और जो किसी न किसी अंश में शून्यवादी या संदेहवादी कहे जा सकते हैं। पहले हम दीघनिकाय २ १६ १७ में दिए गए पूरण कस्सप को देखें। बुद्ध घोष दीघ निकाय १ १ २ की टीका सुमंगला विलासिनी में कहते हैं कि जिस कुटुम्ब में ६६ नोकर थे उसमें कस्सप सौवां था उसने इस प्रकार सौवीं संख्या पूरी की (पूरण) इसलिए उसका नाम मालिक ने पूरण (पूरा करने वाला) रखा, और कस्सप उसका गोत्र था। वह अपने कुटुम्ब से भाग आया था, राह में चोरों ने उसके कपड़े छीन लिए वह किसी प्रकार घास पात लगाकर गांव के अन्दर घुसा। किन्तु गांव वालों ने उसे नग्न देखकर उसे महान् साधु समझा और उसे बड़ा सम्मान दिया। उस समय से वह साधु बन गया और पांच सौ लोग साधु होकर उसका अनुसरण करने लगे। राजा अजातशत्रु एक बार पूरण कस्सप के पास आए और उससे पूछा कि इस संसार में ऐसा कौनसा प्रत्यक्ष फल है जो साधु बनकर मिल सकता है पूरण कस्सप ने इस प्रकार उत्तर दिया, हे राजा जो कर्म करता है या औरों से काम कराता है वह जो अंग खंड करता है या औरों से ऐसा करवाता है वह जो दंड देता है या दूसरों से दंड दिलवाता है, वह जो पीड़ा या शोक पहुँचाता है या, जो घुजता है या दूसरों को घुजाता है वह जो जीव का हनन करता है, वह न दी हुई वस्तु को लेता है, जो घर में चोरी के लिए घुसता है, जो डाका डालता है रास्ते में डाका डालता है, व्यभिचार करता है झूठ बोलता है ऐसे कर्म करने वाले को पाप नहीं लगता। यदि उसके जैसी तीखी धार वाले चक्र से वह सभी जीवों का ढेर कर देता है, मांस का एक ढेर लगा देता है तो भी उसे पाप नहीं लगता पाप की वृद्धि, भी न होगी। यदि वह गंगा के दक्षिण तट पर भिक्षा दे और भिक्षा देने का आदेश दे, यज्ञ करे या दूसरों से यज्ञ करवाए तब उससे कोई पुण्य न होगा न पुण्य में वृद्धि होगी। इस प्रकार प्रभु पूरण कस्सप ने, साधु जीवन से मिलने वाले सुचिर लाभों के विषय में पूछने पर, अपने अकिरियम् सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।[1] यह मत कर्म के सिद्धान्त का खंडन करता है और मानता है कि पाप और पुण्य जैसी कोई वस्तु नहीं है, इस प्रकार कोई भी कर्म किसी फल की प्राप्ति नहीं करा सकते।[2] इसे ही अक्रिया का सिद्धान्त कहते हैं और एक दृष्टि से वह उस प्रश्न का उत्तर है कि साधु बनने से प्रत्यक्ष क्या फल मिलता है। जब पाप और पुण्य शाना ही नहीं है तो कोई भी कर्म धर्म अधर्म उत्पन्न नहीं कर सकता—यह एक प्रकार का नास्तिकवाद है। किन्तु इस अक्रिया के सिद्धान्त[3] को शीलांक द्वारा सूत्र कृतांग सूत्र १ १ १३ की अपनी टीका में

---

[1] बुद्ध के संवाद १, ६६ ७०।

[2] बुद्ध घोषो इस पर टीका करते कहते हैं सब्बथापि पाप पुञ्ञानाम किरियामेव परिखिपति। —सुमंगल विलासिनी, १ १६०।

[3] इसे डा० बरुआ पुराण कस्सप का मत मानते हैं जो स्पष्ट ही एक बड़ी भूल है। बुद्ध से पूर्व हिन्दू दर्शन। कलकत्ता १६२१, पृ० २७६।

बताए ऐसे साहस के प्रकारक सिद्धा त से सकीरा नही करना चाहिए। वह प्रकारक सिद्धात साम्य मत है जिसके अनुसार आत्मा अच्छे बुरे किसी प्रकार के कम मे भागी नही होता।[1]

अब हम दूसरे नू यवादी आचाय का देखें, जो अजित केश कम्बली है। उसके सिद्धात दीघ २ २२ २४ मे सक्षेप से वरान किए गए हैं, अजित कहते हैं, भिक्षा या दान या यज्ञ जैसी कोई वस्तु नही है न कोई फल ही है और न अच्छे बुरे कर्मों का परिणाम है। इह लोक और परलोक जैसी कोई वस्तु नहीं है (नत्थी अय लोको न परलोको)। न बाप है न माता और उनके बिना जन्म जसी भी वस्तु नही है। जगत् मे ब्राह्मण या साधु कोई नही हैं जा अन्तिम सीढी पर पहुँचे हैं जा पूरा आचरण करते हैं और जो अपने अनुभव से इह लोक और परलोक दोना को समझ कर और प्राप्त करके, अपना ज्ञान दूसरा को बताते हैं। मनुष्य चार तत्वो का बना है, जब वह मर जाता है तो उसम रहा पृथ्वी तत्व पृथ्वी मे वापस जाकर उसी मे समा जाता है द्रव तत्व, पानी म ताप अग्नि म प्राण वायु म, और उसकी सज्ञाएँ आकाश मे चली जाती हैं। चार उठाने वाले और पाचवी अर्थी नरीर को ल जाती हैं जब तक वे श्मशान पहुँचाते हैं तब तक उसके गुरा गाते हैं कि तु वहा उसकी हड्डिया काली की जाती है और उसकी भेंट राख स हो जाती है। मूर्खों का मत ही फल या भेंट की बात करता है। यह सब थोथा झूठ है, केवल व्यथ की बातचीत है जब लोग कहते हैं कि इसम लाभ है। मूख और बुद्धिमान दानो दह के गिरने पर, काट दिए जात हैं नष्ट कर दिए जाते हैं और मृत्यु के बाद वे नही रहते हैं।[2] वह अजित केश कम्बली इसलिए कहलाता था कि वह मनुष्य के बाल के कपडे पहनता था जा गर्मी मे गरम रहते थे और सर्दी मे ठडे रहते थे और जा इस प्रकार दुख का स्रोत था।[3] यह स्पष्ट ही है कि अजित केश कम्बली का मत चार्वाक मत क समान है जा हमें उद्धरणो तथा दूसरा द्वारा दिए गए उनके वरान स ज्ञात है। इस प्रकार अजित परलाक नही मानते थे पाप पुण्य नही मानते थ और कम से फल प्राप्ति को भी अस्वीकार करते थे। वह अवश्य ही इस मत को मानते थ कि देह चार तत्वा का बना है और देह से पृथक आत्मा नही है और दह के विनाश के साथ इस जीवन की समाप्ति होती है, और वदिक यज्ञा से कोई लाभ नहीं हाता।

अब हम मक्खलि गाशाल या मक्खलि पुत्त गोशाल या मक्खलि गाशाल के

---

[1] बाले च पण्डिते कायस्सभेदा उच्छिज्जन्ति विनस्सति न होन्ति पर मरणा।'
—दीघ २ २३ बुद्ध के सवाद ७३ ७४।

[2] सुमगल विलासिनी १ १४४।

[3] वही १ १४४।

सिद्धा त की ओर अपना ध्यान दें जो महावीर और बुद्ध के समकालीन थ। बुद्ध घोष कहते हैं कि व गोशाला म उत्पन्न हुए थ। व जब बडे हुए तब वे नौकरी करने लगे, तल लाने के लिए कीचड में जाते हुए देख उ ह उनके मालिक ने पैर न फिसले (मास्वति) इसलिए सावधान किया किन्तु सावधानी रखने पर भी व फिसल गए और अपने मालिक के यहाँ स भाग गए। मालिक न क्रोध म उनका पीछा किया और उनकी धोती का पल्ला खेंच लिया जो उनक हाथ म रह गया और मक्खलि नग्न ही भाग गए। इस प्रकार वे नग्न हुए व पूरण कस्सप की तरह साधु बन गए।[1] भगवती सूत्र १५ १ क अनुसार वा व मक्खलि के पुत्र थे जो एक मख थ (याचक जो घर घर तस्वीरें दिखाकर निर्वाह करते हैं) और उनकी माता का नाम भद्दा था। वे गोशाल मे ज मे थ। उन्होने स्वत ही जवानी म भीख का व्यवसाय स्वीकारा। तेरहवें साल म उनकी महावीर से भेंट हुई दो साल के बाद वे उनके शिष्य बन गए और छ साल तक उनके साथ रहकर तपश्चर्या करते रहे। इसके बाद सम्बन्ध विच्छेद हो गया और मक्खलि गोशाल ने दो साल तक तपस्या करके जिन स्थिति प्राप्त की जबकि महावीर को इसके दो साल बाद जिन स्थिति प्राप्त हुई। इसके बाद व १६ साल तक जिन बने रहे और उसके बाद महावीर उनसे सावत्थी म मिले जहाँ दोनो मे झगडा हुआ और व महावीर के श्राप स ज्वर स मर गए। हूनल उवास ग साओ के मूल और अनुवाद के सस्करण पृ० ११० १११ मे बताते हैं कि महावीर का ४५० ४५१ ई० पू० निर्वाण हुआ जब उनकी आयु ५६ वर्ष की थी। मक्खलि, आजीवक सम्प्रदाय क प्रवर्तक थे। आजीवको का वर्णन, गया के पास बबर पहाडी पर गुफा (जो उनको दी गई थी) म २३६ ई० पू० अशोक के सातवें स्तम्भ लेख म है और नागार्जुनी पर्वत पर मिली म बनी गुफा म भी वर्णन पाया जाता है जो अशोक के उत्तराधिकारी दशरथ के काल का है। इनका उल्लेख वराहमिहिर के बृहज्जातक (१५ १) म भी है जो छठी शताब्दी ईसा के काल का है। शीलांक (६वी शताब्दी) भी सूत्र कृताग सूत्र (१ १ ३।१२ और १ ३ ३ ११) म उल्लेख करते है जिसम त्रैराशिको के साथ आजीवको का भी वर्णन करते हैं कि वे मक्खलि गोशाल क अनुयायी थे।[2] हलायुध भी आजीवको का सामान्य जैन मानते हैं, किन्तु

[1] सुमगल विलासिनी, १ १४३ १४४।

[2] त्रैराशिक सोचते हैं कि आत्मा सत्कर्म द्वारा कर्म म शुद्ध और पवित्र हो जाता है। और मुक्ति पाता है, कि तु अपने सिद्धा त की सफलता देखकर आत्मा खुश हो जाता है और अवगणना देखकर क्रुद्ध हो जाता है, और पुनज म पाकर सत्कर्म द्वारा कर्म स वृद्धि और स्वतन्त्रता पाता है और वह फिर सुख और दुःख से उसी प्रकार जन्मता है। उनकी धर्म पुस्तक २१ सूत्र की है। शीलांक १ ३ ३ ११ पर टीका करते हुए व दिगम्बरो का आजीवको का साथ साथ वर्णन करते हैं किन्तु वे उन्हें

निग्रंथ को दिगम्बर से भिन्न नहीं करते या निग्रम्बरों का आजीवकों से एक करते हैं जैसाकि हर्नले ने आजीवकों पर अपने लेख में किया है। हर्नले उसी लेख में यह बताते हैं कि १३वीं शताब्दी के विरिंचिपुरम के पास पायगा में पेरुमाल के मंदिर की दीवारों के लेख में चोल राजा राजराज ने सन् १२१८, १२१६, १२४३ और १२५६ में आजीवकों पर जो कर नियुक्त किए थे उनका वर्णन है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मक्खलि की आजीवक प्रणाली का ई० पू० पांचवीं शताब्दी में प्रचार हुआ और वह उत्तर भारत में ही नहीं फैला किंतु दक्षिण भारत में भी फैला और उसमें से और प्रणालियों ने भी विकास पाया जैसे कि त्रैराशिक। पाणिनि के व्याकरण में एक नियम (४ १ १५४) है, 'मस्कर मस्करिणौ वेणु परिव्राजकयो,' जिसका तात्पर्य यह है कि मस्कर का अर्थ बांस है और मस्करिन् का अर्थ परिव्राजक है। पाणिनि तो उसकी टीका में कहते हैं कि मस्करिन् वे थे जो कर्म न करने की सलाह देते थे और यह मानते थे कि शांति अधिक श्रेय है (मास्कृत कर्माणि शांतिर्वः श्रेयसी इत्याह अतो मस्करी परिव्राजकः)। इसलिए इस शब्द से आवश्यक रूप से एक दण्डिन् अर्थ नहीं होता या वे जो एक बांस का दण्ड धारण करते हैं। मक्खलि का मस्करिन् से तादात्म्य करना संदेहयुक्त है।[1] यह भी शंका युक्त है कि आजीवकों

हर्नले की तरह एक करते हैं जैसाकि हर्नले ने Encyclopaedia of Religion and Ethics में आजीवक पर लेख में कहा है। शीलांक ठीक ठीक वाक्य ये हैं आजीवकानां परतीर्थकानां दिगम्बराणां च असदाचरणरूपनेया।

[1] Encyclopaedia of Religion and Ethics में आजीवक पर अपने लेख में हर्नले यह कहते हैं, गोशाल,मक्खलि पुत्त या मखलि (मस्करिन्) अर्थात् बांस के दण्ड वाला पुरुष कहलाता है इस तथ्य से यह स्पष्ट है कि मूल में वह एक दण्डिन् वर्ग (एक दण्डिन्) का संन्यासी था और यद्यपि वह महावीर का अनुयायी हो गया था और उनकी प्रणाली स्वीकारी थी तो भी वह अपने सिद्धान्त भी रखता था और उसने अपने विशिष्ट चिह्नों को भी रखा। बांस का दंड यह सब शंकास्पद है, क्योंकि प्रथम तो मख और मस्करिन् का एक नहीं किया जा सकता दूसरा, मख का अर्थ भिखारी है जो अपने हाथ में तस्वीर रखता है। मखश्चित्र फलक-व्यग्र करो भिक्षुको विशेष (भगवती सूत्र, पृ० ६६२ पर अभयदेव सूरी की टीका निर्णय सागर)। और उनका नाम मखलि था जिस पर से गोशाल मक्खलि पुत्र कहलाते थे। याकोबी (जैन सूत्र २ २ ६७ की फुट नोट) और हर्नले (आजीवक Encyclopaedia of Religion and Ethics पृ० २६६) दोनों यहाँ गलत हैं क्योंकि जिसका उल्लेख है वह शीलांक की सूत्र कृतांग सूत्र ३ ३ ११ (आजीविकादीना परतीर्थिकानाम् निग्रम्बराणां च) पर टीका है जिसके वे 'च' को और अर्थ में

और दिगम्बरों को एक ही मानना चाहिए जैसाकि हनले मानते है क्योंकि न वराह और न मोहाल्फर्ल आजीवकों और जैनों को एक मानते हैं और शीलांक इन दोनों को एक न समझ कर, भिन्न मानते हैं। हलायुध भी दिगम्बरों और आजीवकों¹ को एक नहीं मानते। इसलिए, यह अत्यंत सन्देह युक्त है कि आजीवकों को दिगम्बरों से एक माना जाय या यह सम्भवतः इसी कारण हो सकता है कि आगे जाकर दोनों दिगम्बर और आजीवक, नग्न रहते थे इसलिए ये दोनों संकीर्णता से एक मान गए हैं।²

गोशाल का मुख्य सिद्धान्त उवासगडसाओ १ ९७,११५ २,३,१३२ संयुक्त निकाय ३ २१० अंगुत्तर निकाय १ २८६ और दीघ निकाय २ २० में न्यूनाधिक रूप से एक सा ही है। अंतिम कहे गए ग्रंथ में गोशाल अजातशत्रु से ऐसा कहते बताए गए हैं, 'जीवों के लिए दुःख का कोई कारण नहीं है, वे बिना कारण ही पीड़ा पाते हैं जीवों की विशुद्धि का कोई कारण नहीं है वे सब बिना कारण ही शुद्ध हो जाते हैं दूसरों के या अपने कर्मों में कोई शक्ति नहीं है (न अत्थि अत्त कार न 'अत्थि परकारे) या अपने स्वतंत्र प्रयत्न में (परिष्कारे) न कोई शक्ति न बल है न मानवी शक्ति है या पराक्रम है।³ सभी प्राणी सब्ब सत्ता) सभी पशु एक या अधिक इन्द्रिय युक्त हो, (सब्बे पाणा) सभी अण्डज या भ्रूणज (सब्ब भूता) सभी पौधे, बिना बल और क्रिया शक्ति के हैं। वे अपने रूप में अंत स्थित, भाग्य के कारण और स्वभाव से, विभिन्न जीव के रूप में अभिव्यक्त होते हैं (नियति संगति भवपरिणति) और अपने षडविध जीवन स्थिति के अनुसार सुख दुःख पाते हैं। पुनः सूत्र कृतांग सूत्र २ ६ ७ में गोशाल यह कहते बताए गए हैं कि साधु का स्त्रीगमन से कोई पाप नहीं होता।⁴

अनुवाद करते हैं, या अर्थ से नहीं इससे आजीवक दिगम्बर से विविक्त हो जाते हैं।

¹ नग्ना तो दिग्वासा क्षपण श्रमणाश्च जीवको जैना आजीवा मलधारी निर्ग्रन्थ कथ्यते सद्भि। —२ १९०।

² दिव्यावदान पृ० ४२७ में एक प्रसंग का उल्लेख है जहाँ बुद्ध की मूर्ति एक निर्ग्रन्थ ने निन्दित की थी और फलवगात् ८००० आजीवक पुण्ड्रवधन में मारे गए। डा० बरुवा भी अपनी पुस्तक आजीवक में इस प्रसंग का उल्लेख करते हैं।

³ जैसा बुद्ध घोष कहते हैं ये सब पुरिषकार का निर्दिष्ट करते हैं (सर्वेव पुरिषकार विवेचनमेव)। —सुमंगल विलासिनी, २ २०।

⁴ सूत्र कृतांग सूत्र (३ ४ ९) में एक दूसरा पाठ है (एवमेगे उ पासत्था पण्णवंति अनारिया, इत्थिवासम गया बाला जिनसासन पराम्मुहा) जहाँ यह कहा है कि कुछ कुमार्गियों तथा लोग जो जैन हैं जैन सिद्धान्त से विमुख होकर स्त्री के गुलाम हो गए हैं। हनले कहते हैं कि (आजीवक पृ० २६१) यह पाठ गोशाल के अनुयायियों

गोशाल के इस सिद्धान्त के प्रति हमारी रुचि यही तक है कि वे अन्य नास्तिक उपदेशा के समान हैं। किन्तु अन्य नास्तिका से विपरीत, गोशाल पुनजन्म मे विश्वास नही करते थे, किन्तु, उन्होने सजीवन का एक नया सिद्धान्त भी प्रतिपादन किया।[1] दूसरे सिद्धान्त जो दार्शनिक, नैतिक या पुनजन्म की दृष्टि से महत्वपूर्ण नही हैं व दीघ निकाय २ २० और भगवती सूत्र १५ मे दिए गए है, और ये हनले ने आजीवक के लेख मे तथा उवासगदसाओ के अनुवाद म विस्तार से लिए हैं। दो महत्वपूर्ण विषया पर हमे यहा ध्यान देना चाहिए वह यह है कि आजीवक सम्प्रदाय जो एक विशिष्ट सम्प्रदाय था वह कम या सकल्प की शक्ति का नही मानता था और स्त्री सग का साधुओ के लिए निषिद्ध नही मानता था। सूत्र कृताग सूत्र, १ ३ ४ ६ १४ मे अन्य विधर्मिया का

का लक्ष्य करके कहा गया है। किन्तु यदि हम शीलाक की टीका पर विश्वास करें तो उसका कोई प्रमाण नही है। शीलाक 'एग या एके को बौद्ध विशेषा नील पटादय नाथ वादिक मण्डल प्रविष्टा वा शव विशेषा और पसत्थ को सदनुष्ठानात् पार्श्वे तिष्ठन्ति इति पाश्वस्था स्वयूथ्या वा पाश्वस्था वसन्न कुशलादय स्त्री परिग्रह पराजिता। ऐसा अथ करते हैं। इस प्रकार उनके अनुसार यह नील वसन पहनने वाले बौद्धा को नाथवादी शैव और कुछ कुचरित्र जैना का या सामान्य कुत्सित जना का लक्ष्य करता है।

[1] गोशाल मानते थे कि एक व्यक्ति की आत्मा दूसरे मृत शरीर का सजीव कर सकती है। इस प्रकार जब महावीर ने उन्हे आह्वान किया और जो शिष्यो को उनसे कोई सम्पक रखने का निषेध करते थे, तब गोशाल ने यह कहा बताया कि मक्खलि पुत्त गोशाल जो महावीर का शिष्य था वह तो कभी का मर चुका है और उसने देवलोक म जन्म लिया है जबकि वह उदायी कुण्डी यायणीय, वास्तव म है जो सजीवन द्वारा, अपने सातवें और अन्तिम देह परिवतन म गोशाल के देह मे आया है। गोशाल के अनुसार जीव को ८४ हजार महाकल्प समाप्त करने चाहिए जिसमें अन्तगत उस सात बार देव लोक म और सात बार मनुष्य योनि मे सात बार सजीवन होकर सारे कम पूर करना चाहिए। भगवती सूत्र १५ ६७३ निर्णय सागर देखो। हनले का उवासगदसाओ के अनुवाद के दो परिशिष्ट तथा आजीवक निबन्ध जो Encyclopedia of Religion and Ethics के पृ० २६२ पर देखो। एक महाकल्प ३०० ००० सर का और एक सर सात गगा की रेती का (प्रत्येक गगा ५०० योजन या २२५० मील लम्बी २१.४ मील चौडी और ५० धनु या १०० गज गहरी) एक रेती को हटाने के लिए १०० वष लगे इस हिसाब से खतम होने म लगे उतना समय। इसलिए वही तथा राकहिल की बुद्ध की जीवनी का पहला परिशिष्ट।

भी उल्लेख है, जहां ऐसा कहा है कि व भी ऐसे ही आचरण करते थे।[1] ऐसा कहा है, कुछ अयोग्य विधर्मी स्त्री के गुलाम अन्य लोग जो जैन नियम से विरुद्ध हैं ऐसा कहते हैं जैसेकि फोडे या स्फोट को दबाने से थोडे समय के लिए आराम मिलता है, ठीक उसी प्रकार रूपवती स्त्री का भोग है। इसमें पाप क्या हो सकता है? जैसे एक भेड निर्मल पानी पीता है उसी प्रकार रूपवती स्त्री का भोग है। इसमें क्या पाप है? ऐसे कुछ अयोग्य विधर्मी जो झूठे सिद्धान्त मानते है और व जैसे भेड अपने बच्चे के लिए लालसा करती है ऐसे ही वे सुख की लालसा करते हैं। भविष्य का विचार नही करते हैं किन्तु केवल वर्तमान सुख का ही भोगते हैं वे पीछे मृत्यु या युवावस्था के बाद पछताते हैं।[2]

पुन कुछ विधर्मियो (जि हे शीलाक लोकायत से एक करते हैं) का वर्णन सूत्रकृताग सूत्र २ १ ६ १० मे मिलता है जो इस प्रकार उपदेश करते थे पर के तले से ऊपर बाल के सिरे तक और सभी तियक् दिशा म आत्मा चमडी तक है जहां तक शरीर है वहां तक आत्मा है और शरीर से पृथक आत्मा नही है इसलिए आत्मा देह से एक रूप है जब देह मर जाती है आत्मा नही रहती। जब शरीर जला दिया जाता है तब आत्मा नही दीखती और जो कुछ भी दीखता है वह सफेद हड्डियाँ हैं। जब कोई म्यान से तलवार निकालता है हम कह सकते हैं कि पहला दूसरे मे रहता है, किन्तु कोई इसी प्रकार आत्मा के बारे म नही कह सकता कि वह शरीर मे रहता है, वास्तव में आत्मा को शरीर से विविक्त करने का कोई भी रास्ता नही है जिससे कोई यह कह सके कि आत्मा शरीर में रहता है। तृण म से मूञ्ज निकाला जा सकता है और मास म से अस्थि, दही म से मक्खन तिल म से तेल इत्यादि किन्तु शरीर और आत्मा मे इस प्रकार का संबंध दूढ निकालना असम्भव है। आत्मा जैसी कोई पृथक वस्तु नहीं है जो सुख और दुख भोगती है और मृत्यु के पश्चात् परलोक म गमन करती है क्योंकि शरीर के टुकडे टुकडे कर दिए जाय किन्तु आत्मा नही देखी जा सकती जैसेकि घडे के टुकडे टुकडे कर दिए जाए किन्तु घडे मे आत्मा नही दीखती जबकि तलवार म्यान से भिन्न दीखती है जिसम वह रखी जा सकती है। लोकायत इस प्रकार सोचते हैं कि जीव को मारने में कोई दोष नही है क्योंकि हथियार से जीव को मारना जमीन को मारने के बराबर है। ये लोकायत, इसलिए अच्छे बुरे कर्म म विवेक नही कर सकते क्योंकि वे ऐसा सिद्धान्त नही जानते जिसके आधार पर वे ऐसा कर सकें इस प्रकार उनके अनुसार नीति जैसा कोई वस्तु नहीं है। सामान्य नास्तिक और प्रगल्भ नास्तिक म थोडा बहुत भेद किया गया है जो कहते हैं कि यदि आत्मा शरीर से भिन्न

---

[1] शीलाक के अनुसार वे एक बौद्ध सम्प्रदाय था नीला वस्त्र पहनते थे तथा शैव नाथ तथा कुछ अद्भुत जन भी थे।

[2] सूत्र-कृताग सूत्र। याकोबी द्वारा अनूदित देखो। जैन सूत्र २ २७०।

होता जो उसका कोई विशिष्ट रूप स्वाद या जैसा कुछ होता किन्तु ऐसी कोई पृथक वस्तु मिलती नहीं है इसलिए आत्मा पृथक है यह नहीं माना जा सकता। सूत्र कृताग-सूत्र २ १ ६ (पृ० २७७) म प्रारम्भ नास्तिकों के विषय म कहा है कि वे संसार का त्याग मिट्टा न स्वीकार करने के लिए कहते है किन्तु लोकायत कहते है कि लोकायत प्रणाली म दीक्षा जैसा कुछ नहीं है और इसलिए उनमे साधु जैसा कोई नहीं हो सकता, य य ग प्रणाय क साधु नहीं बौद्ध व कभी कभी साधु अवस्था म लोकायत का पन्त है और लोकायत मत परिवर्तित हो जाते हैं और दूसरा को उपदेश देने लगते हैं।[1]

सूत्र कृताग सूत्र म लोकायत नास्तिक मत के प्रतिपादन के पश्चात् सांख्य मत का प्रतिपादन किया गया है। शीलांक इस सम्बन्ध म यह कहते हैं कि सांख्य और लोकायत म कुछ भी फर्क नहीं हैं क्योंकि सांख्य यद्यपि आत्मा को मानते है किन्तु वह नितान्त निष्क्रिय है और सारा काय प्रकृति द्वारा होता है जो अव्यक्त रूप मे स्थूल तत्व ही है। शरीर और तथाकथित मन इसलिए स्थूल तत्वो के सघात से अन्यथा और कुछ नहीं है और उनका पुरुष का पृथक तत्व मानना केवल नाममात्र ही है। जबकि ऐसा आत्मा कुछ भी नहीं कर सकता और निरुपयोगी है (अकिंचित्कर) लोकायत उसे अस्वीकार करते हैं। शीलांक आगे कहते हैं कि लोकायत की तरह सांख्यकार भी जीव की हिंसा को बुरा नहीं मानते क्योंकि अन्त म सभी जीव भौतिक पदार्थ हैं, और तथाकथित आत्मा किसी भी काय मे भाग लेने म असमर्थ है।' इसलिए न तो नास्तिक और न सांख्यवादी अच्छे और बुरे स्वर्ग और नरक के बीच भेद कर सकते हैं और इसलिए वे सभी प्रकार के भोगो मे रत रहते है। लोकायत नास्तिक के विषय मे, सूत्र कृताग सूत्र म यह कहा है इस प्रकार कुछ निलज्ज लोग साधु बनकर अपना ही धम प्रचलित करते है, और दूसरे उसे मानने लगते हैं, और अनुसरण करने लगते हैं (यह कहते हुए) तुम सच कहते हो भो ब्राह्मण (या) भो श्रमण, हम तुम्हें भोजन पेय व्यंजन और मिष्टान्न चोगा भिक्षापात्र झाडू के साथ भेंट करेंगे। कुछ लोगो को उन्हें सम्मान देने पर फुसलाया जाता है, कुछ लोगो ने उनके धम

---

[1] यद्यपि लोकायतिकानां नास्ति दीक्षादिकं तथापि अपरेण शाक्यादिना प्रव्रज्या विधानेन प्रव्रज्या पश्चात् लोकायतिकमधीयानस्य तथाविध परिणति तदेवाभिरुचितम। शीलांक की सूत्र कृताग सूत्र पर टीका पृ० २८० (निण० सा०)।

शीलांक २८० २८१ पृष्ठ पर बताते हैं कि भागवत और अन्य परिव्राजक, स यास के समय अनेक प्रकार के नियम की बाधा लेते हैं किन्तु ज्यों ही व लोकायत मत में परिणत होते हैं त्यों ही व स्वेच्छाचार करने लगते है। तब वे नीला वस्त्र (नील पट) पहनने लगते है।

[2] वही, पृ० २८१, २८३।

परिगता से सम्मान दिलवाया। सघ म प्रवेश होने के पहले उन्होने श्रमण, घरबार रहित, गरीब साधु बनने का निश्चय कर लिया था जिनके पास पुत्र और पशु न होंगे, और व भिक्षान्न ही खाएगे और पाप न करेंगे। सघ मे आने के बाद व पाप करते हुए नही रुकते व स्वय पाप करते हैं और दूसरे पाप करने वाला का साथ देते है। तब वे भोग, विलास और विषय सुख में रत हो जाते हैं वे लोभी, बद्ध, कामी, लालसी और प्रीति और घृणा के दास हैं।'

हम केवल सूत्रकृताग सूत्र मे ही नही कि तु बृहदारण्यक, कठ मे भी लोकायत का उपरोक्त वर्णित उल्लेख पाते हैं और छादोग्य उपनिषद् ७ ७ ८ म जहा दानवो का प्रतिनिधि विरोचन जो प्रजापति के पास आत्म ज्ञान के उपदेश के लिए आया था वह देह ही आत्मा है इस मत से सतुष्ट होकर चला गया। प्रजापति ने इन्द्र और विरोचन दोनो को पानी के कटोरे के पास खडे रहने का कहा और उन्होने अपना प्रतिबिम्ब देखा, प्रजापति ने उनसे कहा कि वह अच्छे वसन और आभरणयुक्त शरीर है यही आत्मा है। विरोचन और इन्द्र दोनो सतुष्ट हो गए, कि तु इन्द्र आगे जाकर असतुष्ट हुए और दूसरे उपदेश के लिए लौटे जबकि विरोचन वापस नहीं आया। छादोग्य उपनिषद् मे यह एक पुरानी वार्ता के रूप म कही गई है और कहा है कि इसी कारण से, जो इस समय केवल ससार के सुखो को ही मानते हैं और जिन्हें विश्वास नही है (कर्म की शक्ति में या आत्मा की अमरता म) और जो यज्ञ नही करते वे असुर कहलाते हैं, और इसलिए वे मृत शरीर को अच्छे कपडो से अच्छे आभूषणो से भूषित करते हैं और खाना देते हैं यह सोचकर कि इससे वे सम्भवत परलोक जीत लेंगे।

छान्दोग्य उपनिषद् का यह पाठ विशेष प्रकार से महत्वपूर्ण है। इससे यह पता चलता है कि आर्यों से भिन्न एक दूसरी जाति थी जिसे असुर कहते थे जो मृत शरीर का अच्छे वस्त्र और आभूषणो से मण्डित करती थी और खाना देता था जिससे कि वे पुनर्जन्म के समय इन वस्त्राभूषणो से परलोक मे उन्नति कर सकें और ये ही लोग ये जो देह को आत्मा मानते थे। पीछे आने वाले लोकायत या चार्वाक भी देह को मानते थ। किन्तु इनम यह भेद था कि छादोग्य म कहे देहात्मवादी परलोक को मानते थे जहाँ से मृत्यु के बाद शरीर जाता है और मृत शरीर को दिए वस्त्राभूषण द्वारा वह उन्नति करता है। इस रीति को असुर रीति कहा है। इसलिए यह सम्भावित है कि लोकायत सिद्धा त का आरम्भ पूर्वगामी सुमेर सस्कृति म हुआ जहाँ यह मा यता थी और मृत शरीर को वस्त्राभूषण से मडित किया जाता था। यह मान्यता आगे जाकर इतनी बदल गई कि ऐसा तक किया जाने लगा कि जब आत्मा और देह दोनो एक है और जबकि शरीर मृत्यु के बाद जला दिया जाता है तो मृत्यु के

' देखो जैन सूत्र याकोबी, २ ३४१ ३४२।

बाद पुनज म नही हो सकता और इसलिए मृत्यु के बाद परलोक भी नही हो सकता। हमें ऐसे लोगो के होन का प्रमाण मिलता है जो मृत्यु के बाद चेतना की सत्ता नहीं मानते थे और मृत्यु के साथ सब कुछ खत्म होता है, एसा मानते थे, और छादोग्य म हम देखते हैं कि विरोचन यह मानता था कि देह ही आत्मा ह और यह रीति आसुरो में प्रचलित थी, एसा खोज से पता चला है।

गीता १६ ७ १८ में आसुरो के सिद्धा तो का ऐसा वणन है, असुर भल बुरे का विवक नही कर सकते वे पवित्र, सत्यवादी नही हैं और योग्य आचरण नहीं करते, वे एसा नही सोचते कि ससार सचाई और सत्ता पर आधारित है व ईश्वर को नहीं मानते और सभी प्राणी काम वासना से और केवल मथुन से उत्पन्न हुए है एसा मानते हैं। ऐसा मानने वाले मूख लोग ससार की बहुत हानि करत है। हिंसक कर्मों को करते हैं और अपन आपका विनाश करते हैं (क्योकि वे परलोक म न विश्वास ही करत हैं, न उसकी प्राप्ति क साधना म)।[1] अतोषणीय इच्छाओ अहकार दप और अभिमान से भरे वे अज्ञान से खोटा माग ग्रहण करते हैं और अशुचि जीवन जीते हैं। वे ऐसा मानते है कि जीवन का मृत्यु म अ त होता है और इस ससार और उसके सुखो के पर कुछ भी नही और इसलिए ससार सुख म रचेपचे रहते हैं। असख्य इच्छा क्रोध और राग म बध, वे कुसाधन से ससार सुख की सामग्री को इकट्ठा करन म लगे रहते हैं, व सबदा अपनी सम्पत्ति का ही ख्याल करने रहत हैं व जो प्रतिदिन कमाते हैं और जिसका व सग्रह करते रहत हैं इससे वे वतमान म अपनी इच्छा तृप्त करते हैं या भविष्य म तृप्त करने की सोचते रहते हैं या व अपने दुश्मनो को मारने की या जिन्हें उ होन मार डाला है उनके विषय म सोचते रहते हैं इस प्रकार, व अपने धन सफलता, सुख शक्ति इत्यादि के विषय म ही सोचते रहत हैं।

लोकायत जसा एक सिद्धा त, रामायण म (२ १०८) जाबालि न प्रचलित किया था जहाँ वह कहता है कि यह कितना दयनीय है कि कुछ लोग ससार की अच्छी वस्तुओ के बजाय परलोक के पुण्य म अधिक रुचि रखते हैं मृत पुरुषो क सतोष के लिए श्राद्ध यन करना भोजन का दुरुपयोग है क्योकि व मृत होन से खा नही सकते। *यदि लोगो द्वारा यहाँ खाया हुआ म नन दूसर शरीरो क लिए उपयोगी हो सकता है* तो जो लोग दूर देश म भ्रमण करते हैं, उनके लिए भोजन का प्रब ध करने के बजाय उनके लिए श्राद्ध करना अधिक अच्छा होगा। यद्यपि बुद्धिमानो ने दान यज्ञ दीक्षा और वैराग्य के पुण्यो की प्रशसा म ग्रन्थ लिखे हैं वास्तव में आँखो म जो दीखता है उससे अधिक और कुछ भी नहीं है।

---

[1] श्रीधर कहते हैं कि यह लोकायतो की चर्चा करता है।

—गीता १६ ९।

विष्णु पुराण में (१ ६,२९ ३१) वर्णन है कि कुछ लोगों का यज्ञ से लाभ होता है ऐसा नहीं मानते हैं और वेद और यज्ञ की निंदा करते हैं और महाभारत में (१२ १८६) ऐसा भारद्वाज ने आग्रह किया है कि जीवन व्यापार भौतिक और शरीर विज्ञान द्वारा समझाया जा सकता है और आत्मा की मान्यता स्वीकारना अनावश्यक है। महाभारत में हेतुकों का भी उल्लेख है जो परलोक को नहीं मानते थे, उनकी मान्यता प्राचीन और दृढ थी (दृढ पूर्वे) जो अपना मत परिवर्तन नहीं कर सकते थे वे बहुश्रुत थे और अन्य शास्त्रों को भी उन्होंने अच्छा जाना था वे भेंट देते थे, यज्ञ करते थे मिथ्या से घृणा करते थे और सभा में बड़े वक्ता थे और लोगों में अपना मत प्रवर्तित करते थे। यह पाठ विचित्र तथ्य उपस्थित करता है कि वैदिकों में भी ऐसे लोग थे जो यज्ञ करते थे भेंट देते थे और प्राचीन ग्रंथों और वेद में निपुण थे जो मिथ्या से घृणा करते थे बड़े तार्किक और वक्ता थे, और तो भी इस संसार और जो कुछ उसमें है उससे किसी अन्य में विश्वास नहीं करते थे (नैतदस्ति इति वादिन)। बौद्ध ग्रन्थों से हम मालूम है कि ब्राह्मण लोकायत सिद्धान्त में प्रवीण थे हम यह भी जानते हैं कि उपनिषद् की मंडली में ऐसे भी लोग थे जो परलोक को नहीं मानते थे, उनका उल्लेख है और उनकी निंदा की गई है और छांदोग्य में उन लोगों का उल्लेख है जो मृतक को आभूषण से मंडित करने का रिवाज पालते थे और जिसके कारण देह को ही आत्मा मानते थे। रामायण में हमें पता है कि जाबालि उस सिद्धान्त का उपदेश करते थे जिसके अनुसार परलोक नहीं है और मृतात्मा के संतोष के लिए दान यज्ञ अनावश्यक है। *गीता में भी ऐसे मतावलम्बियों का वर्णन है जो यज्ञ नाम मात्र ही से करते थे* क्योंकि वे कर्मकाण्ड में श्रद्धा नहीं रखते थे।[1] किन्तु महाभारत में कुछ लोगों का वर्णन है जो बहुश्रुत थे प्राचीन ग्रन्थों में निपुण थे तो भी परलोक और आत्मा की अमरता नहीं मानते थे। इससे यह प्रतीत होता है कि यह शास्त्रविरुद्ध मत (परलोक में अश्रद्धा) वेदानुयायियों की कुछ मंडली में क्रम से प्रचलित हो गया था और उनमें से कुछ अयोग्य पुरुष थे जो सिद्धान्तों का उपयोग विषय भोग के संतोष के लिए करते थे और निम्न स्तर का जीवन व्यतीत करते थे कुछ ऐसे भी थे जो वेद की परिपाटी का पालन करते थे और तो भी आत्मा की अमरता में तथा इस लोक से परे परलोक में विश्वास नहीं करते थे। इस प्रकार एक ओर वैदिक मंडली में, उस प्राचीन समय में बहुत से नैतिक और विद्वान् पुरुष थे जो नास्तिकवाद मानते थे जबकि कुछ अनैतिक और कुत्सित लोग थे जो दोषयुक्त जीवन व्यतीत करते थे और ऐसे नास्तिक मत को प्रकाश या प्रच्छन्न रूप में मानते थे।[2]

---

[1] यजन्ते नाम यज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्। —गीता १६,७१।

मैत्रायण उपनिषद् ८ ८ ६ में लिखा है कि बहुत से निरर्थक तर्क, उदाहरण मिथ्या उपमान भ्रमपूर्ण प्रमाण द्वारा वैदिक आचरण का विरोध करने की इच्छा रखते

हम इस प्रकार जानते है कि लोकायत मत अतिप्राचीन, सम्भवत वद जितना प्राचीन या उससे भी प्राचीन था और आर्यों मे पहले सुमर के लोगों मे प्रचलित था। हम आगे यह भी जानते हैं कि लोकायत पर भागुरी की टीका २०० या ३०० वर्ष ई० पू० सुविख्यात थी किन्तु लोकायत शास्त्र के रचयिता के बारे में कुछ कहना अति कठिन है। यह बृहस्पति या चार्वाक की रचना थी।[1] किन्तु यह कहना कठिन है कि यह बृहस्पति कौन है। एक राज नीति पर बृहस्पति सूत्र डा० एफ० ड ब्लू० थामस द्वारा सम्पादित और अनूदित किया गया है जो लाहौर मे प्रकाशित हुआ है। इस ग्रन्थ मे लोकायत का वर्णन २ ५ ८,१२ १६ २६ तथा ३ १५ मे हुआ है। यहाँ उन्हे चोर कहकर निर्दिष्ट किया है जो धर्म को एक लाभ मानते हैं और जो नरक मे जाने योग्य है। इसलिए यह बिलकुल निश्चित है कि बृहस्पति जो राजनीति के इस शास्त्र के रचयिता थे, वे लोकायत विद्या के रचयिता नही थे। न बृहस्पति उसके विधियुक्त रचयिता हो सकते हैं। कौटिल्य के अर्थशास्त्र मे एक बृहस्पति का राजनीति के रचयिता के रूप म उल्लेख है किन्तु यह एफ० डब्लू थामस द्वारा प्रकाशित बार्हस्पत्य सूत्र से भिन्न होगा।[2] कौटिल्य के अर्थशास्त्र म उल्लिखित बृहस्पति सेनी वाणिज्य, व्यापार (वार्ता) विधि और दड नीति को ही केवल शास्त्र म स्वीकार करते हैं उसी अध्याय के दूसरे पाठ म (विद्यासमुद्देश मे) दड नीति को उशनस द्वारा शिक्षा का विषय कहा है। प्रबोध चन्द्रोदय मे कृष्ण मिश्र चार्वाक विधि और दण्ड नीति को ही विद्या मानते हैं ऐसा बताया है और वार्ता विज्ञान (अर्थात् खेती वाणिज्य व्यापार पशु पालन इत्यादि) इसम समाविष्ट होते हैं ऐसा कहा है। इस ज्ञान के अनुसार चार्वाक दण्डनीति और वार्ता को शास्त्र समझते थ और इस प्रकार इनके मत बृहस्पति

हैं, व आत्मा को नही मानते और चोर की तरह व स्वर्ग कभी न जाएँगे और जिनके साथ कोई सम्पर्क न रखना चाहिए। हम यह भूल जाते हैं कि इन लोगो के सिद्धान्त म कुछ भी नवीनता नही है किन्तु यह एक भिन्न प्रकार की वेद विद्या है (वेद विद्या तरम् तु तत्)। बृहस्पति शुक्र बने और उन्होने असुरों को यह सिद्धान्त सिखाया जिसम वे वैदिक धर्म के प्रति घृणा करने लगे और अच्छाई करना बुरा समझने लगे और बुरे को अच्छा समझने लगे।

[1] मत्रायण बृहस्पति और शुक्र को रचयिता बताते हैं कृष्ण मिश्र के प्रबोध चन्द्रोदय मे कहा है कि व पहले बृहस्पति न रचे और चार्वाक को दिए गए जिन्होने अपने शिष्यों द्वारा लोगो मे प्रचलित किए।

श्री डी० शास्त्री का चार्वाक षष्ठी भी देखो, पृ० ११ १३। जहाँ व अनेक प्राप्त प्रमाण दिए हैं जो इस बृहस्पति की रचना बताते हैं।

[2] अर्थ शास्त्र कौटिल्य पृ० ६ २६,६३,१७७,२६२ मैसूर, १९२४।

और उशनस से मिलते थे और विशेष कर पिछले से। परन्तु इससे हम यह नहीं मान सकते कि कौटिल्य द्वारा उल्लिखित बृहस्पति या उशनस मूल लोकायत के रचयिता हो सकते हैं। लोकायत सूत्र के रचयिता इस प्रकार एक काल्पनिक व्यक्ति दीखते हैं। लोकायत सूत्र के मूल प्रवर्तक के विषय में हमारे पास कोई ज्ञान नहीं है। यह सम्भव है कि मूल लोकायत ग्रन्थ सूत्र रूप से लिखा गया हो और जिसकी कम से कम दो टीकाएं थीं जिसकी पहली टीका कम से कम २०० या ३०० वर्ष ई० पू० पुरानी थी। इस प्रणाली के मुख्य सिद्धान्तों का कम से कम एक पद्यात्मक संस्करण था जिसके कुछ पाठ माधव के सर्वदर्शन संग्रह तथा अन्य स्थान पर उद्धृत हैं।

यह कहना कठिन है कि चार्वाक किसी जीवित पुरुष का नाम था या नहीं। महाभारत १२ ३८ और ३९ में ही सर्वप्रथम इस नाम का उल्लेख मिलता है जहां चार्वाक का त्रिदंडी साधु ब्राह्मण के वेश में राक्षस कहा गया है किन्तु उनके सिद्धान्तों के विषय में कुछ भी उल्लेख नहीं है। बहुत से प्राचीन ग्रन्थों में लोकायत सिद्धान्त का या तो लोकायत मत या बृहस्पति के मत के नाम से वर्णन किया गया है। इस प्रकार पद्म पुराण के सृष्टि खंड १२, ३१८-३४० में कुछ लोकायत सिद्धान्तों को बृहस्पति का उपदेश कहा गया है। आठवीं शताब्दी के कमलशील चार्वाकों को लोकायत सिद्धान्त का अनुयायी बताते हैं, प्रबोध चन्द्रोदय, चार्वाक को एक महान् आचार्य बताते हैं जिन्होंने वाचस्पति द्वारा लिखित लोकायत शास्त्र को अपने शिष्यों तथा शिष्यों के शिष्यों द्वारा प्रचलित किया। माधव अपने 'सर्वदर्शन संग्रह' में उन्हें बृहस्पति के अनुयायी मुख्य नास्तिक बताते हैं (बृहस्पति मतानुसारिणो नास्तिक शिरोमणिना)। गुण रत्न षड्दर्शन समुच्चय में चार्वाक नास्तिक सम्प्रदाय का है ऐसा कहते हैं। ये केवल खाते ही हैं किन्तु पाप पुण्य नहीं मानते और प्रत्यक्ष के सिवाय और किसी प्रमाण को नहीं मानते। वे शराब पीते थे और मांस खाते थे और विषय भोग में रत रहते थे। प्रतिवर्ष वे एक दिवस इकट्ठे होते थे और अबाध स्त्री संग करते थे। वे साधारण लोगों जैसा व्यवहार करते थे और इसी कारण वे लोकायत कहलाते थे और वे बार्हस्पत्य भी कहलाते थे क्योंकि वे बृहस्पति द्वारा प्रवर्तित किए मतों को मानते थे। इस प्रकार यह कहना कठिन है कि चार्वाक किसी सच्चे मनुष्य का नाम है या लोकायत मत में मानने वालों का केवल लाक्षणिक नाम है।

हरिभद्र और माधव दोनों ने लोकायत या चार्वाक दर्शन को एक दर्शन प्रणाली माना है। उनका तर्क नवीन था वे अन्य भारतीय दर्शन के सुमान्य सिद्धान्तों की कड़ी आलोचना करते थे उनका दर्शन भौतिकवादी था और नैतिकता नैतिक उत्तरदायित्व और सभी प्रकार के धर्मों को अस्वीकार करते थे।

इसलिए हम पहले चार्वाक न्याय को सर्वप्रथम देखें। चार्वाक केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते थे। पांच इन्द्रियों द्वारा जो अनुभव होता है उससे अन्य और कुछ

नहीं है। किसी भी प्रकार का अनुमान प्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि अनुमान, हेतु और साध्य के व्याप्ति ज्ञान द्वारा नव्य है और इस हेतु का सम्ब ध पक्ष मे होना चाहिए। (व्याप्ति पक्ष घमताशालि हि लिंग गमकम)। यह याप्ति प्र यथा सिद्ध ही न हानी चाहिए कि तु उसके प्र यथा सिद्धि म शका नही हानी चाहिए। इस व्याप्ति का नान हुए बिना अनुमान नव्य नहीं है। परन्तु वह जाना कैसे जाय? प्रत्यक्ष द्वारा नही क्योंकि व्याप्ति दृश्य वस्तु नही है जिससे इन्द्रिय सन्निकप हा सके। इसके अतिरिक्त, एक वस्तु की दूसरी से व्याप्ति का अथ यह है कि ये भूत भविष्य और वतमान मे आपस म सम्बधित होगी (सर्वोपसहारवत्री व्याप्ति) और भविष्य का सहचार इन्द्रिया का क्षेत्र नही हा सकता और भूतकाल भी नही। यदि ऐसा कहा जाता है कि व्याप्ति साध्य (अग्नि) और हेतु (धुआँ) के सामान्य गोचर मे है तो यह आवश्यक नही है कि हतु साध्य की व्याप्ति इन्द्रियों द्वारा सभी काल मे साक्षात् अनुभूत होनी चाहिए। कि तु यदि व्याप्ति धुए और अग्नि के जाति गुणा म है ता एक अग्नि को धुएँ के सभी प्रसगा के साथ क्या सम्बधित हाना चाहिए? यदि व्याप्ति इन्द्रिय प्रत्यक्ष नहीं है तो वह मनस द्वारा भी नही हो सकती, क्योंकि मन का सम्ब ध बाह्य पदाथ से इन्द्रिया द्वारा ही हो सकता है। व्याप्ति अनुमान द्वारा नही मानी जा सकती क्योंकि वह अनुमान का आधार है। इस प्रकार व्याप्ति के जानने का कोई माग नही है और अनुमान अशक्य हैं। पुन व्याप्ति अनुमान की सिद्धि के लिए निरुपाधिक होनी चाहिए कि तु अनुमान के समय भूत और भविष्य म उपाधिया की अनुपस्थिति का अनुभव नही हा सकता। इसके अतिरिक्त उपाधिया का इस प्रकार व्याख्यायित किया है कि वह जा साध्य क साथ अयुक्त व्याप्ति सम्ब ध मे हैं कि तु हत के साथ एसे ही व्याप्ति सम्ब ध नही है (साधना व्यापकत्वे सति साध्यसम व्याप्ति)।[1]

पुन, एसा कहा है कि अनुमान तभी नव्य है जब हतु (धुआ) प त (पवत) से सम्बधित त्वा गया है कि तु वास्तव मे पवत का धुएँ से कोई सम्बन्ध नहीं है और वह न उसका धम हा सकता है, क्योंकि वह अग्नि का गुण है। धुएँ और पवत के बीच काई सव यापी स्वीकृति नही है जिससे कि हम यह कह सकें कि जहाँ जहाँ पवत है वहाँ वहा धूम है। न ऐसा भी कहा जा सकता है कि जहाँ धुआँ है वहाँ अग्नि और पवत दाना ही हैं। जब कभी धुआँ पहले देखा जाता है तब वह पवत से सम्बधित अग्नि के गुण के रूप से नही देखा जाता, इसलिए यह कहना पर्याप्त नही है कि हतु (धुआ) पक्ष का धम है (पवत) कि तु हतु साध्य से सम्बधित पक्ष के एक विभाग के गुण के रूप म जानना चाहिए।

---

[1] सवदशन सग्रह, १।

सिद्ध अनुमान निम्न दो परिस्थितियों में शक्य है, (१) हेतु और साध्य में नियत अन्यथा सिद्ध व्याप्ति इस प्रकार हो कि जब भी हेतु हो साध्य सभी काल और स्थान में किसी भी प्रभावित करने वाली उपाधि के बिना हो। (२) साध्य के साथ हेतु की ऐसी व्याप्ति पक्ष में वर्तती है ऐसा ज्ञान होना चाहिए, जिसमें साध्य की स्वीकृति की गई है। चार्वाक का यह विवाद है कि ये सारी उपाधियाँ पूर्ण करना शक्य नहीं है इसलिए सिद्ध अनुमान असम्भव है। पहले, व्याप्ति हेतु और साध्य के सम्बन्ध के भूयो दर्शन (अनेक उदाहरणों के) आधार पर सिद्ध की जाती है। किन्तु परिस्थितियाँ, देश और काल के भेद के अनुसार पदार्थ की शक्ति और सामर्थ्य में भी भेद होता है और इस प्रकार जबकि पदार्थ के गुण धर्म सदा एक से नहीं रहते इसलिए दो पदार्थों का सभी परिस्थितियों देश और काल में एक दूसरे से मिले होना असम्भव है।[1] पुनः प्रसंगों के असंख्य अनुभव से भविष्य में सम्भावित सहमति के न मिलने का विलोप नहीं होता। धुएं और अग्नि के सभी प्रसंग प्रत्यक्ष नहीं देखे जा सकते, और सहमति के पतन के अवसर निर्मूल नहीं किए जा सकते और यदि सम्भावित होता तो अनुमान की आवश्यकता ही नहीं रहती।[2] चार्वाक सामान्य को नहीं मानते और इसलिए वे यह नहीं स्वीकारते कि व्याप्ति धूम और अग्नि में नहीं है किन्तु धूमत्व और अग्नित्व में है।[3] पुनः यह भी विश्वास होना कठिन है कि हेतु और साध्य की व्याप्ति से दूषित करने वाली उपाधियाँ है ही नहीं क्योंकि वे अभी न देखने में आवें तो भी वे अदृश्य रह सकती हैं।[4] व्यतिरेक के बिना (अर्थात् जहाँ अग्नि नहीं है वहाँ धूम नहीं है) व्याप्ति की निश्चितता नहीं है। व्यतिरेक के सारे प्रसंग का देख डालना असम्भव है। इस प्रकार जबकि व्यतिरेक और अन्वय के बिना व्याप्ति निश्चित नहीं की

---

[1] देशकाल दशा भेद विचित्रात्मसु वस्तुसु।
अविनाभाव नियमो न शक्यो वस्तुमाह च।

— न्याय मंजरी, पृ० ११६।

[2] न प्रत्यक्षीकृता यावद् धूमाग्नि व्यक्तयोऽखिला।
तावत्स्यादपि धूमोऽसौ योऽनग्नेरिति शक्यते॥
ये तु प्रत्यक्षतो विश्व पश्यति हि भवादृशा।
किं दिव्य चक्षुषा मेषामनुमान प्रयोजनम्॥

—वही।

[3] सामान्य द्वारकोऽप्यस्ति नाविनाभाव निश्चय।
वास्तव हि न सामान्य नाम किंचन विद्यते॥

—वही।

[4] खण्डनखण्ड खाद्य से तुलना करो।

—पृ० ६६३।

व्याघातो यदि शंकास्ति न चेच्छंका ततस्तराम्।
व्याघातावधिराशंका तर्क शंकावधि कुत॥

जा सकती और जबकि यह असम्भव है कि हम व्यतिरेक और अ वय से व्याप्ति का विश्वास कर सकें तो व्याप्ति स्वय निश्चित नहीं हो सकती।[1]

पुर दर चार्वाक के अनुयायी (सम्भवत सातवी शताब्दी), तो सासारिक वस्तुओ को निश्चित करने मे अनुमान की उपयोगिता मानते हैं जहा प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त है कि तु अनुमान परात्पर सत्ता के सिद्धा त की सिद्धि या परलोक या कम के सिद्धा त के लिए अनुपयुक्त है क्योकि ये सामा य प्रत्यक्षानुभव से प्राप्त नहीं है।[2] सामा य जीवन क व्यावहारिक अनुभव म तथा परात्पर सत्य को निश्चय करने मे अनुमान की प्रमाणता म इस भेद को दृढता से धारण करने का मुख्य कारण यह है, कि निग मात्मक सामा यीकरण व्यतिरेक और अ वय के प्रसगा के भूयोदशन के आधार पर किया हाता है और अतीत लोक के विषय मे अ वय का उदाहरण नही मिलता है क्याकि यदि ऐसे लोक हैं भी तो उनका इ द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। इस प्रकार, इ द्रियातीत तथाकथित लोक मे हेतु और साध्य की व्याप्ति का प्रसग नहीं पाया जाता, ता निगमनात्मक सामा यीकरण या व्याप्ति का नियम इस लोक के लिए अनुपयुक्त होगा।[3] इसके उत्तर मे वादिदेव कहते हैं कि ऐसा अभियोग मीमासाका के लिए ठीक होगा जा सामा यीकरण के लिए अ वय व्यतिरेक विधि पर आधार रखते हैं कि तु यह जैन मत के लिए उपयुक्त नही है जा अ यथानुपपत्ति के सिद्धा त को स्वीकार करते हैं (अ यथानुपपत्तावेव तत्स्वरूपत्वेन स्वीकारात्)।

अनुमान की प्रमाणता के विरोध मे और भी निम्न आक्षेप है (१) अनुमान *द्वारा जा सस्कार हाते है व धु धल होते हैं और प्रत्यक्ष जैस जीवित नही होते*

---

[1] नियमश्चानुमानाग गृहीत प्रतिपद्यते।
ग्रहण चास्य ना यत्र नास्तिता निश्चयम् विना॥
दशनादशनाभ्या हि नियमग्रहण यदि
तदप्यसम्नग्नौ हि धूमस्यऽदृष्टमदशनम्
अनग्निश्च कियान्सव जगज्ज्वलन वर्जितम्
तत्र धूमस्य नास्तित्व नव पश्यत्ययोगिन। — याय मजरी, पृ० १२०।

[2] इनका उल्लेख कमलशील की पजिका पृ० ४३१ म है। पुर दरस्त्वाह लोक प्रसिद्धम् अनुमान चार्वाक रपीष्यते, एव, यतु कैश्चित् लौकिक मागमतिक्रम्य अनुमानमुच्यते तन्निषिध्यते। वादिदेव सूरि प्रमाणनय तत्व लोकालकार पर स्याद्वादरत्नाकर नामक अपनी टीका मे पुर दर के सूत्र को उद्धत करते हैं २ १३१। प्रमाणस्य गौणत्वाद् अनुमानादथ निश्चय दुलभात्।

[3] अव्यवभिचारावगमो हि लौकिक हेतूनामनुमेयावगमे निमित्त स नास्ति तत्र सिद्धेषु

(अस्पष्टत्वात्), (२) अनुमान को अपना विषय निश्चित करने के लिए अन्य पदार्थों पर निर्भर रहना पड़ता है (स्वार्थ निश्चये परापेक्षत्वात्), (३) अनुमान प्रत्यक्ष की अपेक्षा है (प्रत्यक्षपूर्वकत्वात्) (४) अनुमित ज्ञान का विषय में साक्षात् नहीं होता (अर्थादनुपजायमानत्वात्) (५) अनुमान वस्तुत नहीं है (अवस्तु विषयत्वात्), (६) यह बहुधा बाधित होता है (बाध्यमानत्वात्), (७) ऐसा कोई प्रमाण नहीं है जो यह सिद्ध करता हो कि जहां हेतु है वहां साध्य है (साध्य साधनयां प्रतिबन्ध साधक प्रमाणाभावाद्वा) ।[1]

जैन सिद्धान्त के अनुसार ये सारे कारण अनुमान को अप्रमाण मानने के लिए पर्याप्त नहीं है। क्योंकि पहले आक्षेप के उत्तर में यह बताया जा सकता है कि स्पष्टता अनुमान की परिभाषा कभी भी नहीं मानी गई है और इसलिए इसकी अनुपस्थिति से अनुमान अप्रमाण नहीं हो सकता, द्विचन्द्र दर्शन रूपी भ्रम प्रत्यक्ष स्पष्ट होता है किन्तु इस कारण उसे प्रमाण नहीं माना जाता। पुन अनुमान सर्वदा प्रत्यक्ष पर आश्रित नहीं है और यदि ऐसा भी है तो वह अपने उपयोग के लिए सामग्री काम में लाता है और इससे अधिक कुछ नहीं करता। प्रत्यक्ष भी विशिष्ट सामग्री से उत्पन्न होता है किन्तु इस कारण वह प्रमाण नहीं माना जाता। अनुमान भी अर्थ से उत्पन्न होता है और प्रत्यक्ष जितना ही स्पष्ट है क्योंकि वह प्रत्यक्ष की तरह सामान्य और विशेष को सन्निवेश करता है। पुन गलत अनुमान अवश्य ही बाधित होते हैं किन्तु यह प्रमाणित अनुमान का अभियोग नहीं हो सकता। हेतु और साध्य का नियत सम्बन्ध तर्क द्वारा भी स्थापित किया जा सकता है।[2]

इस सम्बन्ध में जयन्त बताते हैं कि हेतु और साध्य के बीच अन्वय के सिद्धान्त को स्वीकारना पड़ेगा। क्योंकि अनुमान केवल प्रतिभा के कारण नहीं हो सकता। यदि नियत अनन्यथा सिद्धता का ज्ञान, अनुमान के लिए अनिवार्य नहीं माना जाता है और यदि वह केवल प्रतिभा से ही है तो नारिकेल द्वीप के लोग जो आग जलना नहीं जानते, व अग्नि से धुए का अनुमान निकाल सकते हैं। कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि हेतु और साध्य का नियत सम्बन्ध मानव प्रत्यक्ष द्वारा जाना जाता है। वे ऐसा मानते हैं कि हेतु और साध्य का सहचार तथा दूसरे के अभाव के समय पहले की अनुपस्थिति के देखने में मन धूम और अग्नि के बीच नियत सम्बन्ध समझ लेता है। यह आवश्यक नहीं है कि ऐसे सामान्यीकरण के लिए हमें धूम और अग्नि के सहचार के सभी प्रसंगों को जहां कहीं भी रहते हों देखना चाहिए, क्योंकि धूम और अग्नि के बीच मन जो अन्वय अनुभव करता है वह वास्तव में धूमत्व और वह्नित्व के बीच

---

[1] वादिदेव सूरि कृत स्याद्वाद रत्नाकर, पृ० १३१,१३२ (निर्णय सा० १६१४)।

[2] वादिदेव सूरि कृत स्याद्वादरत्नाकर।

होता है (उपमनत्वादि सामा य पुर सरतया व्याप्ति ग्रहणात्)। इस मत क विरुद्ध आक्षेप यह हो सकता है कि जाति को नही माना जाय जसाकि चार्वाक, बौद्ध और अन्य करते हैं और भी पुन जो यह कहते हैं कि जाति मान ली जाय, तो भी अग्नि क अभाव स धुएँ के अभाव के सम्बन्ध क सभी प्रसगो का सामान्य प्रत्यय हो यह असभव है और एसी अवस्था म, अ वय और व्यतिरेक के सभी प्रसग जहाँ तक ग्रहण नहीं किए जाते वहाँ तक सामान्यीकरण असम्भव है। व इसलिए, मानते हैं कि कोई योगज प्रत्यक्ष (योगि प्रत्यक्ष कल्प) जस ज्ञान द्वारा ही प्रतिबध ग्रहण होता है। दूसरे ऐसा मानते हैं कि अ वय क अनेक प्रसग के साथ व्यतिरेक का एक भी अनुभव नही होना व्याप्ति का विचार उत्पन्न करता है। किन्तु न्याय व्याप्ति के लिए अन्वय और व्यतिरेक दृष्टान्त दोनो पर बल देता है तथा उनकी आवश्यकता को मानता है।[1] चार्वाक तो यहाँ पर कहते हैं कि हतु और साध्य के बीच नियत और अन यथा सिद्ध को निश्चित करने के लिए दृष्ट उपाधियो क अभाव को प्र यक्ष देखना चाहिए, किन्तु अन्वय क विस्तृत अनुभव होन पर भी, अदृष्ट उपाधियो की सत्ता की सम्भावना को निष्कासित नही किया जा सकता, और इस प्रकार हमशा भय बना रहेगा कि हतु और साध्य की व्याप्ति सोपाधिक है या नही, और इस प्रकार सभी अनुमान निश्चित नही परन्तु सम्भावित हो हैं और केवल प्रत्यक्ष समथन द्वारा ही अनुमान प्रमाणित माना जाता है।[2] याय का इस पर यह उत्तर है कि अनुमान अप्रमाण है यह कहना स्वय अनुमान है जो अप्रमाण मानसिक व्यापार के साथ जुडा हुआ अनुमान जसा व्यापार है। किन्तु इसम चार्वाक का यह मत पूर्णतया खडित नहीं होता कि सामा यीकरण सम्भावित ही है और इसलिए (जसा पुरन्दर कहते हैं) व अन्य अनुभव के समथन म कुछ प्रामाण्य पाते हैं और जिस क्षत्र म व प्रत्यक्ष द्वारा समर्थित नही होते वहा इनका कोई बल नही होता।

जबकि चार्वाक अनुमान को सम्भावना स अधिक प्रमाणता नहीं देते इसलिए अन्य प्रकार के प्रमाण भी जसेकि आप्त वाक्य या शास्त्र प्रवचन, उपमान या अर्थापत्ति भी प्रमाण नही मान गए ह। उदयन के कथनानुसार चार्वाक जिन्हे हम नहीं देख सकते उनकी सत्ता का अस्वीकार करते थ और उदयन यह बताते हैं कि यदि इस

---

[1] याय मजरी, पृ० १२२।

[2] यथानुमान न प्रमाण याप्याग्रहाधीना याप्यानुपन धाभाव निश्चयस्याप्ययोगोपाधि शङ्कया व्यभिचार सशयात् अतएव सहचरितयोरपि व्यभिचारोपलम्भेश्च लोके धूमादि दर्शनात् तर वह्न्यादि व्यवहारश्च सम्भावना मात्रात् सम्वादेन च प्रमाण्याभिमानाद्। तत्व चिन्तामणि अनुमित। ऐसे समान मत के लिए ब्रडले की (Thysticisuc and Losic मे कारण क विचार पर देखो।

सिद्धा त का पूर्णतया माना जाय और लाग जि ह व विवाद समय पर नही देख पाते हैं उ हें अस्वीकार करने लगें तो हमारा व्यावहारिक जीवन स्खलित हो जायगा विचलित हो जाएगा।[1] धूत चार्वाक तो अपने सूत्र ग्र थ म अनुमान को ही अस्वीकार नही करते कि तु न्याय सूत्र १ १ १ मे दिए याय पदाथ की आलोचना भी करते ह और इस मत का प्रतिपादन करने का प्रयास करते ह कि पदार्थों की इस प्रकार गणना असंभव है।[2] यह निस्सदेह सत्य है कि चार्वाक प्रत्यक्ष का एक प्रमाण मानत थे कि तु प्रत्यक्ष मे भी भ्रम उत्पन्न होता है इसलिए अ त म सभी प्रमाणो का अनिश्चित माना है।

चार्वाको का एक ओर उन लागा से वाद करना पडता था जा नित्य आत्मा का मानते थे जसेकि जन, नैयायिक साख्य योग और मीमासा, और दूसरी ओर विज्ञान वादी बौद्धो से जो चेतना की स्थायी परम्परा मे विश्वास रखते थे क्योकि चार्वाक मृत्यु के पश्चात् की सभी प्रकार की अवस्थाएँ अस्वीकार करते थ। इस प्रकार व कहत है कि जबकि कोई स्थायी तत्व नही है जो मृत्यु के पश्चात् रहता है, इसलिए परलाक नही है। शरीर बुद्धि और इ द्रिय व्यापार अनवरत बदलते रहते हैं इसलिए मृत्यु के बाद उसकी वैसी स्थिति हो नहीं सकती और इसलिए पृथक आत्मा को स्वीकारा नही जा सकता। कुछ चार्वाका के अनुसार चेतना चार तत्वो से उत्पन्न हाना है (उत्पद्यते) और दूसरा के अनुसार वह सुरा या दही की तरह उनमे से प्रकट होती है (अभि यज्यते)। वायु अप अग्नि और पृथ्वी के अणुओ की रचना और पुन रचना के कारण ही चेतना या ता उत्पन्न होती है या प्रकट होती है और शरीर और इ द्रिया बनती हैं या उत्पन्न होती है। अणु की रचना क अतिरिक्त और कुछ नही है और आग और कोई पृथक पदाथ भा नहीं है।[3]

सुशिक्षित चार्वाक मत वाले यह मानते है कि जहाँ तक शरीर रहता है वहाँ तक एक तत्व सभी अनुभवो का भोक्ता और द्रष्टा के रूप से रहता है। कि तु मृत्यु क बाद ऐसा कोई तत्व नही रहता। यदि कोई स्थायी आत्मा जैसी वस्तु है जो मृत्यु के बाद एक शरीर से दूसरे शरीर म गमन करती है तो उसे पूव ज म की घटनाओ की

---

[1] याय कुसुमाजली, उदयन, ३ ५ ६।

[2] चार्वाक धूतस्तु अथातस्तत्व व्याख्यास्याम इति प्रतिज्ञाय प्रमाण प्रमेय सख्या लक्षण नियमाशक्य करणीयत्व मेव तत्व व्याख्यातवान् प्रमाणसख्या नियमाशक्य करणीयत्व सिद्धये च प्रमिति भेदान् प्रत्यक्षादि प्रमाणानुपज या निदर्शानुपादर्शयत्।

—न्याय मजरी, पृ० ६४।

[3] तत्समुदाये विषयेंद्रिय सज्ञा। चार्वाक सूत्र, कमलशील की पजिका में उल्लिखित पृ० ५२०।

स्मृति रहेगी जैसेकि एक व्यक्ति का अपने बचपन की युवावस्था मे स्मृति रहती है।[1] बौद्ध के इस मत के विरुद्ध तर्क करते हुए कि किसी भी जन्म की चेतना परम्परा मृत्यु से पूर्व-जन्म की अन्तिम विज्ञान के कारण नहीं हो सकती या किसी जन्म की चेतना अवस्था, भविष्य के जन्म की चेतनावस्था का कारण नहीं हो सकती, चार्वाक यह कहते हैं कि भिन्न शरीर की चेतना और भिन्न परम्परा भिन्न शरीर की भिन्न चेतना परम्परा का कारण नहीं हो सकती। भिन्न परम्परा के ज्ञान की तरह, पूर्व शरीर की अन्तिम चेतनावस्था से कोई ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता।[2] पुनः मरता की चरम चेतनावस्था, जबकि पृथक जन्म में अन्य चेतनावस्था को उत्पन्न नहीं कर सकती तो यह विचारना गलत है कि मरते हुए पुरुष की चरम चेतनावस्था नए जन्म मे कोई नए चेतना सन्तान को उत्पन्न कर सकेगी। इसी कारण, चार्वाक गुरु कम्बलाश्वतर कहते हैं कि चेतना शरीर से प्राण, अपान और अन्य जीव क्रिया शक्ति के व्यापार द्वारा उत्पन्न होती है। यह भी सोचना गलत है कि गर्भावस्था की पूर्वावस्थाओं में किसी प्रकार की अव्यक्त चेतना रहती है, क्योंकि चेतना का अर्थ विषय का ज्ञान है और गर्भावस्था मे चेतना नहीं हो सकती जबकि इन्द्रियों का विकास नहीं हुआ होता है इसी प्रकार मूर्च्छा में भी चेतना नहीं होती और यह सोचना गलत है कि इन स्थितियों में भी चेतना अव्यक्त शक्ति के रूप में रहती है, क्योंकि शक्ति अपने अधिष्ठान को पूर्व कल्पित करती है और शरीर से अतिरिक्त चेतना का कोई आधार नहीं है और इसलिए, जब शरीर नष्ट होता है तब उसी के साथ समस्त चेतना का भी अन्त हो जाता है। यह भी स्वीकारा नहीं जा सकता कि मृत्यु के समय चेतना किसी मध्यस्थ शरीर मे स्थानान्तरित होती है, क्योंकि ऐसी कोई देह देखी नहीं जाती और इसलिए इसको स्वीकार नहीं किया जा सकता। दो भिन्न शरीर मे एक ही चेतना-सन्तान नहीं रह सकता, इस प्रकार हाथी की चेतना अवस्था अश्व के शरीर की नहीं हो सकती।

चार्वाकों के इस आक्षेप का बौद्ध यह उत्तर देते हैं। यदि चार्वाक जन्मान्तर अवस्था को त्याग कर, जन्म और पुनर्जन्म करने वाले स्थायी तत्व की सत्ता का खण्डन करना चाहते हैं तो बौद्धों को इस पर कोई आक्षेप नहीं है क्योंकि वे भी ऐसे नित्य स्थायी आत्मा को नहीं मानते। बौद्ध मत यह है कि विज्ञान परम्परा अनादि और अनन्त है जो ७०,८० या सौ की अवधि को लेकर वर्तमान भूत और भविष्य जीवन कहलाता है। चार्वाकों का इस परम्परा को अनादि और अनन्त न मानना गलत है

[1] न्याय मंजरी, पृ० ४६७।

[2] यदि ज्ञान न तद् विवक्षितातीत देह वर्तिचर ज्ञान जन्यम्, ज्ञानत्वात् यथा य सन्तान वर्ति ज्ञानम्।

—कमलशील की पंजिका, पृ० ५२१।

क्योंकि यदि ऐसा स्वीकारा जाता है तो जन्म के समय की अवस्था को प्रथम मानना पडता है और इससे यह अर्थ होगा कि वह अकारण है और इससे नित्य हो जायगी, क्योंकि वह बिना कारण है तो फिर उसका अन्त भी क्या हो। वह किसी नित्य चेतना या ईश्वर द्वारा भी उत्पन्न नहीं की गई होगी, क्योंकि हम ऐसे नित्य तत्व को नहीं मानते उसे स्वत ही नित्य नहीं माना जा सकता वह पृथ्वी, जल इत्यादि के नित्य अणु द्वारा भी उत्पन्न हुई नहीं हो सकती, क्योंकि यह बताया जा सकता है कि कोई भी नित्य तत्व किसी को उत्पन्न नहीं कर सकता। इस प्रकार, अन्तिम विकल्प यह है कि वह चेतना की पूर्व स्थिति से उत्पन्न हुई होगी। यदि अणु को क्षणिक भी माना जाय तो भी यह सिद्ध करना कठिन होगा कि चेतना उनसे उत्पन्न हुई है। जो नियम कारणत्व को निश्चित करता है वह प्रथमत यह है कि कारण वह है जो वर्तमान में रहता हुआ देखने योग्य था किन्तु दीखने के पहले नहीं देखा गया था।[1] दूसरा, जब दो घटनाएँ ऐसी है कि यद्यपि सभी अन्य परिस्थितियां उनमें वैसी ही बनी रहती है तो भी एक नए तत्व के आने से एक में तो नई घटना उत्पन्न हो जाती है जो दूसरे मे उत्पन्न नहीं होती तब वह तत्व ही उस घटना का कारण है।[2] दो उदाहरण, जो इसी बात मे भिन्न हो कि एक मे कार्य हो और दूसरे में न हो यदि वे एक दूसरे से अन्य सभी बातो मे मिलते है सिवाय इसके कि जिसमें कार्य है उनमें एक नवीन घटना उपस्थित हो गयी है जो दूसरे में विद्यमान नहीं है तो केवल ऐसे ही उदाहरण मे वही तत्व उस कार्य का कारण माना जा सकता है। नहीं तो यदि कारण वह है जिसके अभाव मे कार्य का भी अभाव रहता है तो यहाँ एक विकल्प की सम्भावना रहती है जिसमें किसी अन्य तत्व की उपस्थिति जो अनुपस्थित भी था यह सम्भावना रहती है और ऐसा भी हो सकता है कि इस तत्व की अनुपस्थिति के कारण ही कार्य भी अनुपस्थित था। इस प्रकार, दो उदाहरण, जिनमें कार्य रहता है और जिनमे वह नहीं रहता वे ऐसे होने चाहिए कि वे सभी प्रकार के समान हो, सिवाय इसके कि जहाँ कार्य रहता है वहाँ एक तत्व उपस्थित है और दूसरे मे उसका अभाव है। देह और मनस में इस प्रकार की कारणता का सम्बन्ध अन्वय-व्यतिरेक विधि की कठोरता से नहीं स्थापित किया जा सकता। अपने मन और शरीर के बीच सम्बन्ध निश्चित करने के लिए अन्वय विधि का प्रयोग करना अशक्य है क्योंकि शरीर का उसकी पूर्व गर्भावस्था में मन की उत्पत्ति के पहले निरीक्षण करना असम्भव है क्योंकि

---

[1] ये ये पामुपलम्भे सति उपलब्धि लक्षण प्राप्त पूर्व मनुपलब्ध सदुपलभ्यते इत्येवमाश्रयणीयम्। —कमलशील पंजिका पृ० ५२५।

[2] सत्सु तदन्येषु समर्थेषु तद् हेतुषु यस्यैकस्याभावे न भवति इत्येवमाश्रयणीय मन्यथा हि केवल तदभावे न भवतित्युपदर्शने सदिग्धमत्र तस्य सामर्थ्य स्यादन्यस्यापि तत्समर्थस्याभावात्। —कमलशील पंजिका, पृ० ५२६।

बिना मन के निरीक्षण हो नहीं सकता। दूसरों के शरीर में भी मन का प्रत्यक्ष निरीक्षण नहीं किया जा सकता इसलिए यह कहना अशक्य है कि शरीर मन से पहले है। व्यतिरेक विधि का भी उपयोग नहीं किया जा सकता, क्योंकि कोई भी यह निरीक्षण नहीं कर सकता कि देह के अन्त होने पर मन का भी अन्त होता है या नहीं और जबकि दूसरों के मनों का प्रत्यक्ष देखा नहीं जा सकता इसलिए ऐसा निषेधात्मक निरीक्षण दूसरों के बारे में नहीं किया जा सकता और इसलिए यह कहना भी अशक्य है कि दूसरों के शरीर के अन्त के साथ उनके मन का भी अन्त होता है या नहीं। मृत्यु के समय शरीर की अचलता (अक्रियाशीलता) से यह अनुमान निकाला नहीं जा सकता कि मन के अन्त में ऐसा हुआ है क्योंकि वह रह भी सकता है और शरीर में व्यापार न करता रहे। इसके अतिरिक्त, एक विशिष्ट शरीर उससे चालित नहीं होता इसका कारण यह है कि उस शरीर से सम्बन्धित इच्छाएँ तथा मिथ्या विचार जो पहले व्यापार करते थे अब अनुपस्थित हैं।

पुनः और भी कारण है जिससे शरीर मन का कारण नहीं है यह माना जा सकता है क्योंकि यदि सम्पूर्ण शरीर ही मन का कारण होता तो शरीर के थोड़े से भी दोषों (विकृति) ने मन के गुणों को परिवर्तित किया होता या हाथी जैसे बड़े शरीर से सम्बन्धित मन आदमी के मनों से बड़े होते। यदि एक के बदलने पर दूसरे में परिवर्तन न हो, तो वे दोनों कार्य कारण से सम्बन्धित नहीं हो सकते। ऐसा भी नहीं कहा जा सकता कि शरीर अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियों सहित मन का कारण है क्योंकि इस प्रसंग में एक भी इन्द्रिय की क्षति से मनस का धर्म और स्वरूप भी बदल जायगा। किन्तु हम जानते हैं कि ऐसा नहीं होता, और जब अर्धांग वायु से सभी कर्मेन्द्रियाँ व्यापार हीन हो जाती हैं मन बिना शक्ति के ह्रास के उसी प्रकार कार्य करता रह सकता है।[1] पुनः यद्यपि शरीर वैसा ही रहे तो भी प्रकृति व स्वभाव और स्वर पर्याप्त रूप में बदल सकते हैं या आकस्मिक संवेग मन को सहज ही आन्दोलित कर दें, यद्यपि शरीर वैसा ही बना रहे। ऐसे उदाहरण भी यदि मिल जाँय जिससे यह सिद्ध हो जाय कि शरीर की स्थिति मन की स्थिति को प्रभावित करती है तो भी कोई भी कारण नहीं दिया जा सकता कि मन या आत्मा का नाश शरीर के नाश से क्यों हो। यदि शरीर और मन की सह स्थिति के नियम से वे एक दूसरे से कार्य कारण रूप से सम्बन्धित हैं ऐसा कहा जाय, तो जबकि मन शरीर के साथ उतना ही सह स्थिति में है जैसा शरीर मन से है, तो मन भी शरीर का कारण हो सकता है। सह स्थिति

---

[1] प्रसुप्तिकादि रोगादिना कार्येन्द्रियादीनामुपघातेऽपि मनोधिर विकृतैका विकला स्वसत्तामनुभवति।

—कमलशील पंजिका, पृ० ५२७।

कारणता को सिद्ध नहीं करती, क्योंकि सह स्थिति किसी एक तीसरे कारणवशात् भी हो सकती है। गरम किया तांबा गल जाता है, इसी प्रकार, गर्मी से, एक ओर गर्मी के तत्व शरीर का उत्पन्न कर सकते हैं और दूसरी ओर मन या चेतना को। इसलिए मन और शरीर की सह स्थिति आवश्यक रूप से यह अर्थ नहीं रखती कि पहला दूसरे का उपादान कारण है।

ऐसा कहा है कि उत्तर काल की मानसिक स्थिति पूर्वकाल की मानसिक स्थिति से उत्पन्न होती है, तो भी चेतना की प्रथम अभिव्यक्ति का आरम्भ है और वह शरीर से उत्पन्न होती है और इस प्रकार बौद्ध मत कि विज्ञान परम्परा अनादि है यह मिथ्या है। किन्तु यदि मानसिक स्थिति प्रथमतः शरीर द्वारा उत्पन्न होती है तो वे उत्तर काल के प्रसंगों में किसी प्रकार चक्षु या अन्य इन्द्रियों द्वारा उत्पन्न नहीं की जा सकती। यदि यह आग्रह किया जाता है कि शरीर ही ज्ञान के प्रथम उदय का कारण है किन्तु उत्तरावस्था का नहीं है, तो उत्तरकाल की मानसिक स्थितियाँ शरीर पर आधार रखे बिना अपने को उत्पन्न करने में समर्थ होनी चाहिए। यदि ऐसा माना जाता है कि एक मानसिक स्थिति दूसरी मानसिक स्थिति की परम्परा को, शरीर की सहायता में ही उत्पन्न कर सकती है, तो प्रत्येक ऐसी असंख्य परम्परा का उत्पन्न करेगी, किन्तु ऐसी असंख्य परम्पराएं कभी भी अनुभव नहीं की गई हैं। यह भी नहीं कहा जा सकता कि शरीर चेतना को अपनी पहली अवस्था पर ही जन्म देता है और अन्य स्तर पर शरीर सहायक कारण ही रहता है, क्योंकि जो पहले उत्पत्ति कारण रहता है वह फिर सहायक कारण नहीं हो सकता। इस प्रकार भौतिक तत्वों का भी अस्थायी माना जाय तो वे भी कारण नहीं माने जा सकते। यदि मानसिक अवस्थाओं का आरम्भ माना जाता है तो यह पूछा जा सकता है कि मानसिक अवस्था का अर्थ इन्द्रिय ज्ञान से है या विचार प्रत्ययों से है। यह इन्द्रिय ज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि निद्रा, मूर्च्छा और अध्यान की स्थिति में इन्द्रिय ज्ञान नहीं होता, यद्यपि इन्द्रियाँ रहती हैं, इसलिए यह मानना पड़ता है कि ज्ञान की पूर्व स्थिति के रूप में ध्यान का होना आवश्यक है और इन्द्रियाँ तथा इन्द्रिय व्यापार को ज्ञान का पूर्ण कारण नहीं माना जा सकता। मन को भी पूर्ण कारण नहीं माना जा सकता क्योंकि जहाँ तक इन्द्रिय गम्य तत्व या इन्द्रिय विषय इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष नहीं होते वहाँ तक मन उन पर कार्य नहीं कर सकता। यदि मन अपने द्वारा ही विषय जान सकता है तो फिर कोई अंधा या बहरा न होता। तर्क करने के लिए यह मान लिया जाय कि मन ज्ञान उत्पन्न करता है तो यह पूछा जा सकता है यह ज्ञान सविकल्प है या निर्विकल्प, किन्तु निर्विकल्प ज्ञान नाम और विषय (संकेत) के सहचार बिना अशक्य है। यह निर्विकल्प भी नहीं हो सकता क्योंकि निर्विकल्प वस्तु या विषय को स्वलक्षण रूप से प्रकट करता है जो केवल मन द्वारा, इन्द्रियों की सहायता के बिना ग्रहण नहीं हो सकता। यदि यह माना जाता है कि इन्द्रिय तत्व भी मन द्वारा उत्पन्न किए जाते हैं,

तो यह अति आदर्शवाद अपनाना होगा और चार्वाक मत को त्याग देना होगा। इस प्रकार चेतना अवस्था को अनादि और अनुत्पन्न मानना पड़ेगा। उनका विशिष्ट धर्म पूर्व जन्मों के अनुभवों से निश्चित होता है, और इन अनुभवों की स्मृति के रूप में ही नवजात शिशु में स्तन पान की तथा भय की प्रवृत्ति दीखती है।[1] इसलिए यह स्वीकारना पड़ता है कि चेतनावस्था न तो शरीर और न मन द्वारा ही उत्पन्न की जाती है किन्तु वह अनादि है और पूर्व अवस्था द्वारा जनित है और वह फिर पूर्व अवस्था द्वारा इत्यादि। माता पिता की चेतना बच्चा की चेतना का कारण नहीं मानी जा सकती, क्योंकि बच्चा की चेतना समान प्रकृति की नहीं होती और ऐसे भी बहुत से जीव हैं जो माता पिता से नहीं जन्मते। इसलिए यह स्वीकारना पड़ता है कि इस जन्म की चेतनावस्था इससे पूर्वजन्म की चेतनावस्था से उत्पन्न हुई होगी। इस प्रकार भूतकाल की सत्ता सिद्ध होती है और जबकि इस जन्म की चेतनावस्था पूर्वजन्म की चेतनावस्था से निश्चित होती है तो इस जन्म की चेतना अन्य अवस्थाओं को भी निश्चित करेगी और यह भविष्य के जीवन का सिद्ध करती है, यदि वे रागद्वेष क्रोध इत्यादि से सम्बन्धित है। क्योंकि एक चेतनावस्था दूसरी को तभी उत्पन्न कर सकती है जबकि वह राग द्वेषादि से संयुक्त होती है और नवजात की पूर्वजन्म की चेतनावस्था से मिलती है जो इस जन्म के अनुभव को निश्चित करती है। यद्यपि भूतकाल के अनुभव वर्तमान में स्थानान्तरित होते हैं तो भी गर्भावस्था के मध्यवर्ती कड़े सक्षोभ के कारण, वे अनुभव बाल्यकाल में एकाएक नहीं दिखाई देते किन्तु उम्र के साथ धीरे धीरे प्रकट होते हैं। पहले अनुभव किया हुआ हमें हमेशा याद नहीं आता है इस प्रकार स्वप्न और सन्निपात में यद्यपि भूतकाल के अनुभव के अंश वर्तमान में रहते है तो भी वे विकृत रूप से पुनः रचे जाते हैं और स्मृति रूप से नहीं दीखते। इसलिए भूतकाल के अनुभव बालक द्वारा साधारणतः याद नहीं किए जाते, यद्यपि कोई विलक्षण व्यक्ति होते है जो अपने पूर्व जन्म को भी याद कर सकते हैं। यह मानना गलत है कि मन शरीर से आधारित है और उसमें समाविष्ट है क्योंकि मन अरूप है। पुनः, यदि मन का शरीर में समावेश होता और उसी द्रव्य का बना होता जिससे शरीर बना है तो मानसिक अवस्था, चक्षु इन्द्रिय द्वारा ठीक उसी प्रकार दृश्य होती जैसे शरीर होता है। मानसिक स्थिति मन द्वारा ही ग्रहण होती है जिसमें वे होती है किन्तु शरीर एवं मन दूसरों के द्वारा देखा जा सकता है, इसलिए ये दोनों सर्वथा भिन्न गुणवान् हैं इसलिए भिन्न हैं। शरीर अनवरत परिवर्तनशील है और चेतना की एकीकृत सन्तान ही शरीर की एकता का संस्कार उत्पन्न करती है। यद्यपि

[1] तस्मात्पूर्वाभ्यास कृत एवाय बालानामिष्टानिष्टोपादान परित्याग लक्षणो व्यवहार इति सिद्धा बुद्धेरनादिता।

—कमलशील पंजिका पृ० ५३२।

व्यक्तिगत चेतनाएँ क्षणक्षण नष्ट होती हैं, तो भी भूत, भविष्य और वर्तमान काल के जीवन मे, सन्तान निरन्तरता से बनी रहती है। जब सन्तान भिन्न हैं जैसकि गाय और घोड़े मे, या दो भिन्न व्यक्तियो मे एक सन्तान की अवस्था दूसरे की अवस्था को प्रभावित नही कर सकती। सन्तान मे एक एक चेतना स्थिति दूसरी को निश्चित करती स्वीकारी गई है और वह दूसरी को, और इस प्रकार आगे। इस प्रकार यह मानना पडता है कि चेतना अचेतनवस्था म भी है क्योकि यदि ऐसा न होता तो उस समय चेतना का स्खलन होता और इसका अर्थ यह होता कि सन्तान क्रम टूट गया है। चेतना की अवस्थाएँ इन्द्रियो से तथा इन्द्रिय के विषयो से स्वतन्त्र है क्योकि वे पूर्वावस्था से निरूपित होती हैं स्वप्न मे, जब इन्द्रिय व्यापार नही होता और जब इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष नही होता तब भी चेतना अवस्था उत्पन्न होती रहती है और भूत या भविष्य के ज्ञान के प्रसग मे या शश विषाण जैसे तुच्छ वस्तु के ज्ञान मे चेतनावस्था की स्वतन्त्रता स्पष्ट सिद्ध होती है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि चेतना न तो शरीर जनित है न वह किसी भी प्रकार उससे निरूपित या मर्यादित है और वह केवल भूतकाल की अवस्थाओ से निरूपित होती है और वे स्वय भविष्य की अवस्थाओ को निश्चित करती है। इस प्रकार भूत और भविष्य जीवन का अस्तित्व सिद्ध होता है।

चार्वाको के विरुद्ध जैन और नैयायिको के तर्क विज्ञानवादी बौद्धो के तर्क से कुछ भिन्न प्रकार के हैं जिन्हे हम अभी ऊपर उद्धृत कर चुके हैं क्योकि पहले स्थायी आत्मा को मानते हैं और दूसरे नही मानते। इस प्रकार विद्यानन्द अपने तत्वार्थ श्लोक वार्त्तिक' मे कहते हैं कि आत्मा भौतिक तत्वो का कार्य क्यो नही माना जा सकता इसका मुख्य कारण यह है कि चेतना सर्व व्यापी है निरन्तर है निर्विवाद सत्य है जो देश काल से अमर्यादित है। यह नीला है या 'मैं गोरा हूँ' ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञान बाह्य पदार्थ या इन्द्रियो पर आधारित है इसलिए इन्हें स्ववेदना के विशिष्ट उदाहरण नही माना जा सकता। किन्तु मैं सुखी हूँ ऐसे अनुभव जो साक्षात् अहं के स्वानुभव को लक्ष्य करते हैं इन्द्रियादि बाह्य साधनो के व्यापार पर निर्भर नही हैं। यदि यह स्ववेदना स्वतः सिद्ध न होती तो कोई भी सिद्धान्त —चार्वाक मत भी नही जो सभी प्रमाणित मान्यताओ का खण्डन करना चाहता है—प्रतिपादन नही किया जा सकता, क्योंकि सभी प्रतिपादन इस स्ववेदना के कारण ही होते हैं। यदि किसी चेतना को प्रमाणित होने के लिए दूसरी चेतना की आवश्यकता रहती है तो वह अनवस्था स्थिति उत्पन्न करेगी और पहली चेतना को अचेतन मानना पडेगा। इस प्रकार जबकि आत्मा स्वसवेदन मे प्रकट होता है और जबकि शरीर, अन्य भौतिक पदार्थों की तरह इन्द्रिय व्यापार द्वारा प्रत्यक्ष होता है तो पहला दूसरे से सर्वथा भिन्न है और पिछला उत्पन्न नही किया जा सकता, और क्योंकि वह नित्य है इसलिए पिछले को प्रकट भी नहीं किया जा सकता। पुन जबकि चेतना इन्द्रियो के बिना भी रहती

है, और जबकि वह शरीर और इंद्रियों के होते हुए भी न रह (जैसेकि मृत शरीर में) तो चेतना शरीर पर आधारित है ऐसा नहीं माना जा सकता। इस प्रकार आत्मा शरीर में स्वसंवेदना द्वारा, साक्षात् भिन्न प्रतीत होता है। विद्यानंदी के अन्य तर्क विज्ञानवादी बौद्धों की ओर किए गए हैं जो नित्य आत्मा में नहीं मानते किन्तु चेतना की अनादि सन्तान को मानते हैं इस विवाद का यहाँ पर ही अन्त करना योग्य होगा।[1]

न्याय मंजरी में जयन्त यह तर्क करते हैं कि शरीर, बाल्यावस्था से वृद्धावस्था तक में निरंतर बदलता रहता है और इसलिए एक शरीर का अनुभव नवीन शरीर को नहीं हो सकता जो वृद्धि या ह्रास से बना है और इसलिए अहं की एकता और प्रत्यभिज्ञा जो ज्ञान के आवश्यक अंग हैं शरीर के धर्म नहीं हो सकते।[2] यह निस्संदेह ही सत्य है कि अच्छा भोजन और औषध जो शरीर के लिए सहायक हैं वे बुद्धि को सुचारु रूप से कार्य करने में भी सहायक हैं। यह भी सत्य है कि दही, पौधे और भीगा हुआ स्थान तुरंत ही कीट का जन्म देने लगते हैं। किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि भौतिक पदार्थ चेतना को जन्म देता है। आत्मा सर्वव्यापी है और जब भौतिक तत्वों का योग्य परिणाम होता है तब वे उनके द्वारा अपने कर्मानुसार प्रकट होते हैं। पुन, चेतना इन्द्रियों का धर्म नहीं माना जा सकता क्योंकि भिन्न इंद्रिय ज्ञान को छोड़कर, अहं वेदना भी है जो भिन्न इंद्रियों के ज्ञान का सन्निधान कराती है। इस प्रकार, मुझे अनुभव होता है कि जो कुछ भी मैं आँखों से देखता हूँ, उसे हाथ से स्पर्श करता हूँ जो स्पष्ट बताता है कि इंद्रिय ज्ञान को छोड़कर एक व्यक्तिगत अनुभविता है या अहं है जो इन संवेदनाओं का सन्निधान करता है और ऐसे तत्व के बिना भिन्न संवेदनाओं की एकता लाई नहीं जा सकती। सुशिक्षित चार्वाक तो अवश्य ही, यह मानते हैं कि जहाँ तक शरीर है वहाँ तक एक प्रमातृ तत्व रहता है किन्तु यह प्रमातृ तत्व पुनर्जन्म नहीं करता किन्तु शरीर के विनाश के साथ वह भी नष्ट हो जाता है आत्मा इस प्रकार अमर नहीं है और शरीर के नाश के पश्चात् परलोक नहीं है।[3] इसका जयन्त यह उत्तर देते हैं कि आत्मा की स्थिति को इस शरीर की जीवितावस्था तक स्वीकारा जाता है तो जबकि यह आत्मा शरीर से भिन्न है और जबकि वह अखंड और स्वरूप से अभौतिक है, तो उसे कोई भी नष्ट नहीं कर सकता। जिस प्रकार शरीर जलता या पशु या पक्षियों द्वारा टुकड़े टुकड़े किया जाता देखा है ऐसा आत्मा का होता हुआ कभी किसी ने नहीं देखा है। इस प्रकार जब इसे नष्ट होता हुआ नहीं देखा गया है और जबकि इस नष्ट करने वाले कारण का

---

[1] तत्वार्थ श्लोक वार्तिक पृ० २६ ५२।

[2] न्याय मंजरी पृ० ४३९ ४४१।

[3] न्याय मंजरी, पृ० ४६७ ४६८।

अनुमान करना अशक्य है तो इसे अमर मानना पड़ता है। जबकि आत्मा नित्य है और क्योंकि उसका शरीर से भूत और वर्तमान में सम्बन्ध है तो यह सिद्ध करना कठिन नहीं है कि उसका शरीर से भविष्य में भी सम्बन्ध होगा। इस प्रकार, आत्मा न तो शरीर के एक अंग में या पूरे सारे शरीर में वास करता है, किन्तु वह सर्वव्यापी है और उस शरीर के अधिपति की तरह व्यवहार करता है जिससे वह कर्म व धर्म से युक्त है। जयन्त परलोक या पुनर्जन्म या आत्मा का मृत्यु के पश्चात् अन्य शरीरों में सम्बन्ध कहते हैं। पुनर्जन्म के बारे में वे ये प्रमाण देते हैं पहला बालक की स्तन पान की मूल प्रवृत्ति या उसका अकारण हर्ष या शोक का अनुभव करना जो उसके पूर्व जन्म के अनुभवों की स्मृति के कारण माना जा सकता है तथा, दूसरा, शक्ति, बुद्धि प्रकृति चरित्र और आदतों में असमानता से एक ही प्रकार के प्रयत्न से फल पाने में असमानता से है। यह सब अन्य जन्म में किए कर्मके प्रभाव की मान्यता से ही समझाया जा सकता है।[1]

शंकर, ब्रह्म सूत्र ३ ३ ५३ ५४ की टीका में लोकायत के अनात्मवाद का खण्डन करने का प्रयास करते हैं। लोकायतिकों के तर्क के मुख्य विषय जो यहां वर्णित हैं वे ये हैं जबकि चेतना तभी तक है जब तक शरीर है और शरीर के न होते नहीं रहती इसलिए यह चेतना शरीर का कार्य होना चाहिए। जीवन क्रिया, चेतना, स्मृति और अन्य बुद्धि व्यापार भी शरीर के धर्म हैं क्योंकि वे शरीर में ही अनुभव किए जाते हैं और शरीर से बाहर नहीं किए जाते।[2] इस पर शंकर यह उत्तर देते हैं कि प्राण चेष्टा स्मृति इत्यादि शरीर के रहते भी नहीं रहते, (मृत्यु समय) इसलिए वे शरीर के कार्य नहीं हो सकते। शरीर के गुण रूप, आकार इत्यादि प्रत्येक द्वारा दृश्य हैं किन्तु कुछ ऐसे हैं जो स्मृति चेतना इत्यादि को नहीं देख सकते। पुनः यद्यपि ये सब शरीर के रहते ही देखे जाते हैं तो भी कोई ऐसा प्रमाण नहीं है जिससे यह कहा जा सकता है वे शरीर के अन्त पर नहीं रहते। आगे यदि चेतना शरीर का कार्य है वह शरीर को (ग्रहण) पकड़ नहीं सकती, अग्नि अपने को जला नहीं सकती, और नाचने वाला अपने कंधों पर नहीं चढ़ सकता। चेतना सदा एक है और अपरिणामी है और इसलिए उसे अमर आत्मा मानना चाहिए। यद्यपि साधारणतः आत्मा शरीर से सम्बन्धित होकर ही प्रकट होता है, यह इसी बात को

---

[1] न्याय मंजरी, पृ० ४७० ४७३।

[2] यद्धि यस्मिन्सति भवत्यसति च न भवति तत्तद्धर्मत्वेन अध्यवसीयते यथाग्निधर्मौ औष्ण्यप्रकाशौ, प्राणचेष्टा चैतन्य स्मृत्यादयश्चात्मधर्मत्वेनाभिमता आत्मवादिना तऽप्यन्तरेव देहोपलभ्यमाना बहिश्चानुपलभ्यमाना असिद्धे देहव्यतिरिक्ते धर्मिणि देहधर्मा एव भवितुमर्हन्ति तस्मादव्यतिरेको देहादात्मन इति।

—शंकर भाष्य ब्र० सू० ३ ३ ५३।

बताता है कि शरीर उसका साधन है, किन्तु यह सिद्ध नहीं करता कि वह शरीर का कार्य है, जैसाकि चार्वाक कहते हैं, चार्वाकों ने रूढ़िग्रस्त हिन्दुओं की समस्त, सामाजिक नैतिक और धार्मिक मान्यताओं की आलोचना की। इस प्रकार, श्री हर्ष, 'नैषध चरित' में उनके मत का प्रतिनिधित्व करते ऐसा कहते हैं, 'शास्त्र का यह मत कि यज्ञ करने से अनोखे फल प्राप्त हो सकते हैं अनुभव द्वारा साक्षात् बाधित होता है, और वे पत्थर तरते हैं ऐसी पुराण गाथा जैसे ही असत्य हैं। जो बुद्धिहीन हैं और कार्य शक्तिहीन हैं, वे ही वैदिक यज्ञ द्वारा अपना निर्वाह करते हैं या त्रिपुण्ड धारण करते हैं या कपाल पर राख मलते हैं। वर्ण की पवित्रता का कोई निश्चित्य नहीं है क्योंकि पुरुष और स्त्रियों की अनियन्त्रित काम वासना को देखते यह कहना असम्भव है कि कोई भी गोत्र किसी भी कुल में इतिहास में शुद्ध रखा गया है, चाहे फिर मातृपक्ष या पितृ पक्ष हो। मनुष्य अपने को पवित्र और शुद्ध रखने में विशेषतया तत्पर नहीं है और स्त्रियों को हरम में रखने का ईर्ष्या के सिवाय और कोई कारण नहीं है यह सोचना अन्यायपूर्ण है कि अनियन्त्रित स्त्री भोग से पाप होता है, या पाप से दुःख होता है और पुण्य से परलोक में सुख मिलता है क्योंकि जब हम बहुधा देखते हैं कि पापी लोग उन्नति करते हैं और पुण्यशाली पीड़ा पाते हैं तो परलोक में न जाने क्या होगा?'' वेद और स्मृति निरन्तर एक दूसरे के विरोध में आते हैं और टीकाकारों की चालाकी से ही उनमें संगति की जाती है, यदि ऐसा ही है तो फिर कोई ऐसे मत में क्या न आस्था रखे जिसमें स्वच्छाचार मान्य हो? ऐसा माना है कि मह शरीर से सम्बन्धित है किन्तु जब यह देह जल जाता है तो पाप पुण्य का क्या बाकी बचता है और अन्य यह अन्य शरीर द्वारा अनुभव करने के लिए कुछ बाकी भी बचा है, बचता भी है तो वह मुझे पीड़ा नहीं कर सकता। यह मानना हास्यास्पद है कि कोई मृत्यु के बाद कुछ भी स्मरण रखे या यह कि मृत्यु के बाद कर्म फल मिलेंगे या यह कि ब्राह्मणों को मृत्यु के बाद भोजन कराने से तथा कथित मृतात्मा को किसी प्रकार का संतोष होगा। फूलों से प्रतिमा पूजा या पत्थर की पूजा या धार्मिक रीति के तौर पर गंगा स्नान नितान्त हास्यास्पद है। मृतात्मा के लिए श्राद्ध करना निरुपयोगी है क्योंकि यदि भोजन की भेंट मृतात्मा को संतुष्ट कर सकती है तो यात्रियों की भूख भी उनके घर वालों द्वारा घर में ही भोजन की भेंट देने से, संतुष्ट हो सकती है। वास्तव में शरीर की मृत्यु और नाश के साथ सभी कुछ अन्त हो जाता है क्योंकि शरीर के राख हो जाने पर कुछ भी बाकी नहीं बचता। जबकि आत्मा नहीं है पुनर्जन्म नहीं है, ईश्वर और परलोक नहीं है और जबकि शास्त्र, लोगों को धोखा देने में रत पुरोहितों के उपदेश मात्र हैं, और पुराण केवल मिथ्या कपोल कल्पित वर्णन और कल्पित वार्ताएँ हैं, तो हमारे जीवन का एक आदर्श आचरण केवल विषय सुख भोग ही है। पाप और पुण्य का कोई अर्थ नहीं है वे केवल शब्द हो शब्द हैं जिससे डरकर लोग पुरोहितों का स्वार्थ साधने वाले आचरण करने पर बाध्य होते हैं। दर्शन के क्षेत्र में चार्वाक

भौतिकवादी हैं और पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि के द्रव्य अणु और उनके संयोग से परे और किसी को नहीं मानते, तर्क शास्त्र के क्षेत्र में, प्रत्यक्ष के सिवाय किसी प्रमाण को नहीं मानते, वे कर्म, कर्मफल पुनर्जन्म और आत्मा का निषेध करते हैं। एक ही वस्तु जिसमें वे रुचि रखते हैं वह क्षणिक इन्द्रिय सुख है, इन्द्रिय सुखों का अबाध भोग है। वे वर्तमान सुख को भविष्य के सुख के लिए त्यागने में विश्वास नहीं करते थे वे सर्वांगीण सुख की वृद्धि और सम्पूर्ण जीवन के स्वास्थ्य का उद्देश्य नहीं रखते थे जैसाकि हम चरक की प्रणाली में पाते हैं, उनके लिए आज का कपोत कल के मयूर से अधिक मूल्यवान् है आज पास में तांबे का सिक्का होना भविष्य के अनिश्चित मोहर से अधिक अच्छा है।[1] इस प्रकार इसी क्षण के इन्द्रिय सुख को ही वे चाहते थे और वर्तमान सुख का त्याग करने वालों की दूरदर्शिता संयम या अन्य सावधानी के व्यवहार को अबुद्धिमानी और मूर्खता कहते थे। ऐसा नहीं लगता कि उनके सिद्धान्त में निराशावाद था। उनकी नैतिकता, उनके दार्शनिक और तर्क सिद्धान्त से अनुमित होती थी कि इन्द्रिय के विषय और इन्द्रिय सुख ही केवल हैं और अतीन्द्रिय या परात्पर जैसी कोई सत्ता नहीं है और इस प्रकार सुखों में किसी प्रकार गुण दृष्टि से स्तर भेद नहीं है और कोई कारण नहीं है कि हम वृथा अपनी इन्द्रिय सुख की सामान्य प्रवृत्ति पर किसी प्रकार का निरोध रखें।

---

[1] वरमद्य कपोत श्वो मयूरात्
वरम् संशयिकात् निष्कादसंशयिक
कार्षापण इति लोकायतिका। —काम सूत्र, १ २ २९,३०।